2642



# डॉ. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य

# स्मृति-ग्रन्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

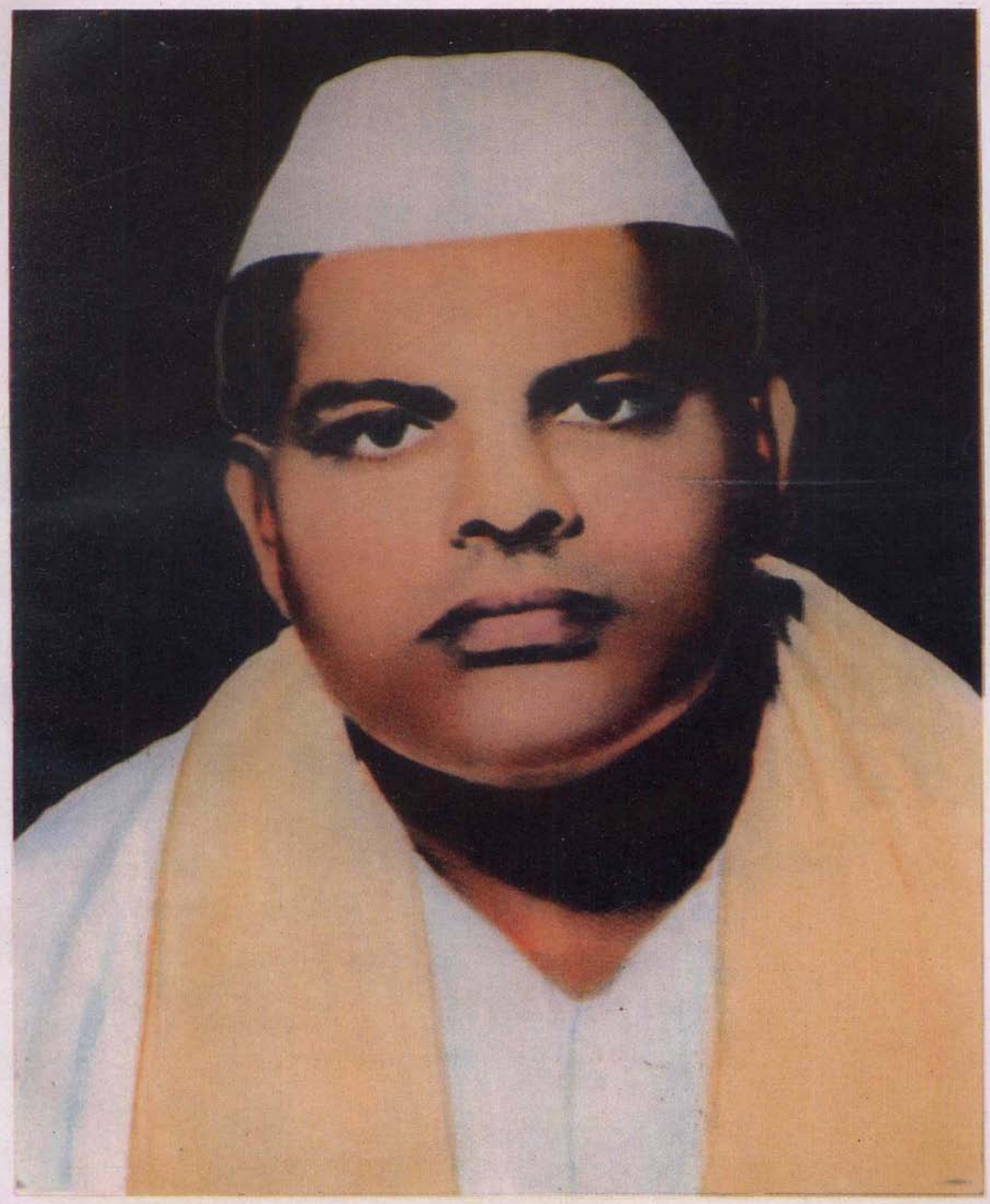


# डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

• • •

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ


प्रधान सम्पादक

**डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य**

सम्पादक

**पण्डित हीरालाल कौशल**

**डॉ० भागचन्द्र 'भागेन्दु'** • **डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल**

**डॉ० सागरमल जैन** • **डॉ० राजाराम जैन**

**डॉ० फूलचन्द्र 'प्रेमी'** • **डॉ० रतन पहाड़ी**

प्रबन्ध सम्पादक

**बाबूलाल जैन फागुल्ल**



प्रकाशक

**डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति**

**दमोह ( मध्यप्रदेश )**



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**प्रकाशक**

● डॉ० महेन्द्रकुमार जैन स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति
कबीर भवन १५२ हाउसिंग बोर्ड, दमोह (म० प्र०)

**प्रेरणा स्रोत**

● परमपूज्य उपाध्याय ज्ञानसागरजी महाराज

● वीर नि० सं० २५२२ सन् १९९६

● मूल्य १५१) रुपये

**मिलने का पता**

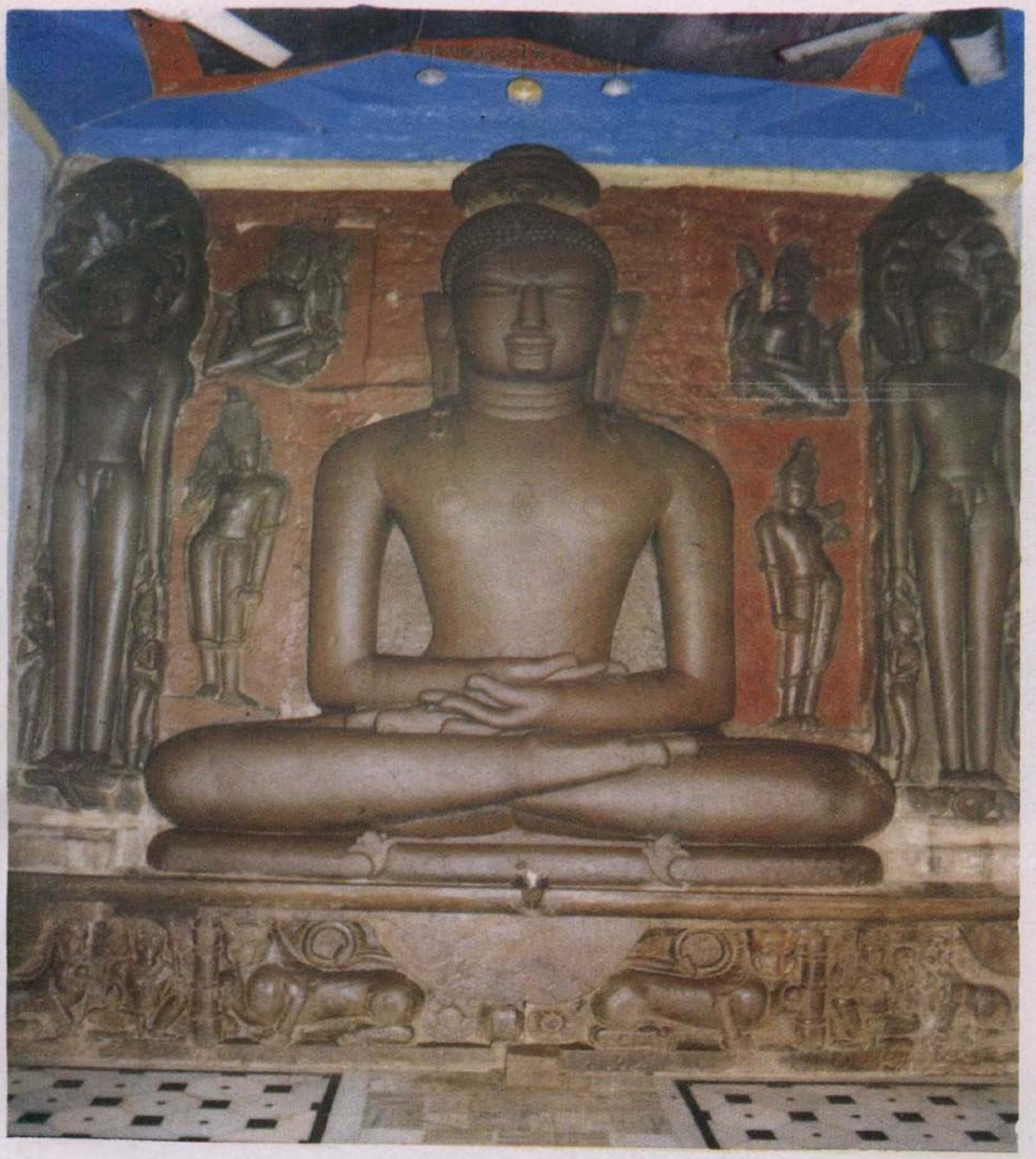
● श्री संतोष भारती
कबीर भवन १५२ हाउसिंग बोर्ड, दमोह (म० प्र०)

**मुद्रक**

● बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी–१०
दूरभाष : ३११८४८

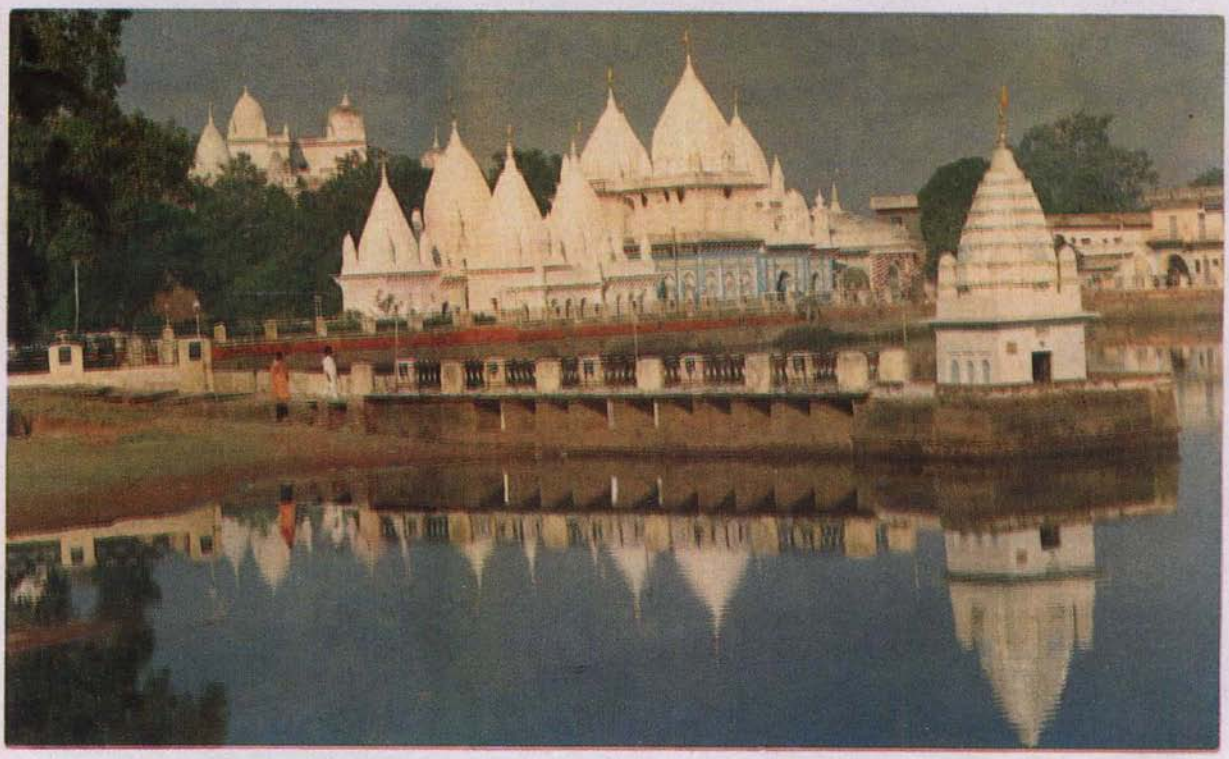
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# ऐतिहासिक युगप्रवर्त्तक आदि तीर्थंकर ऋषभदेव



बड़े बाबा सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर (दमोह)

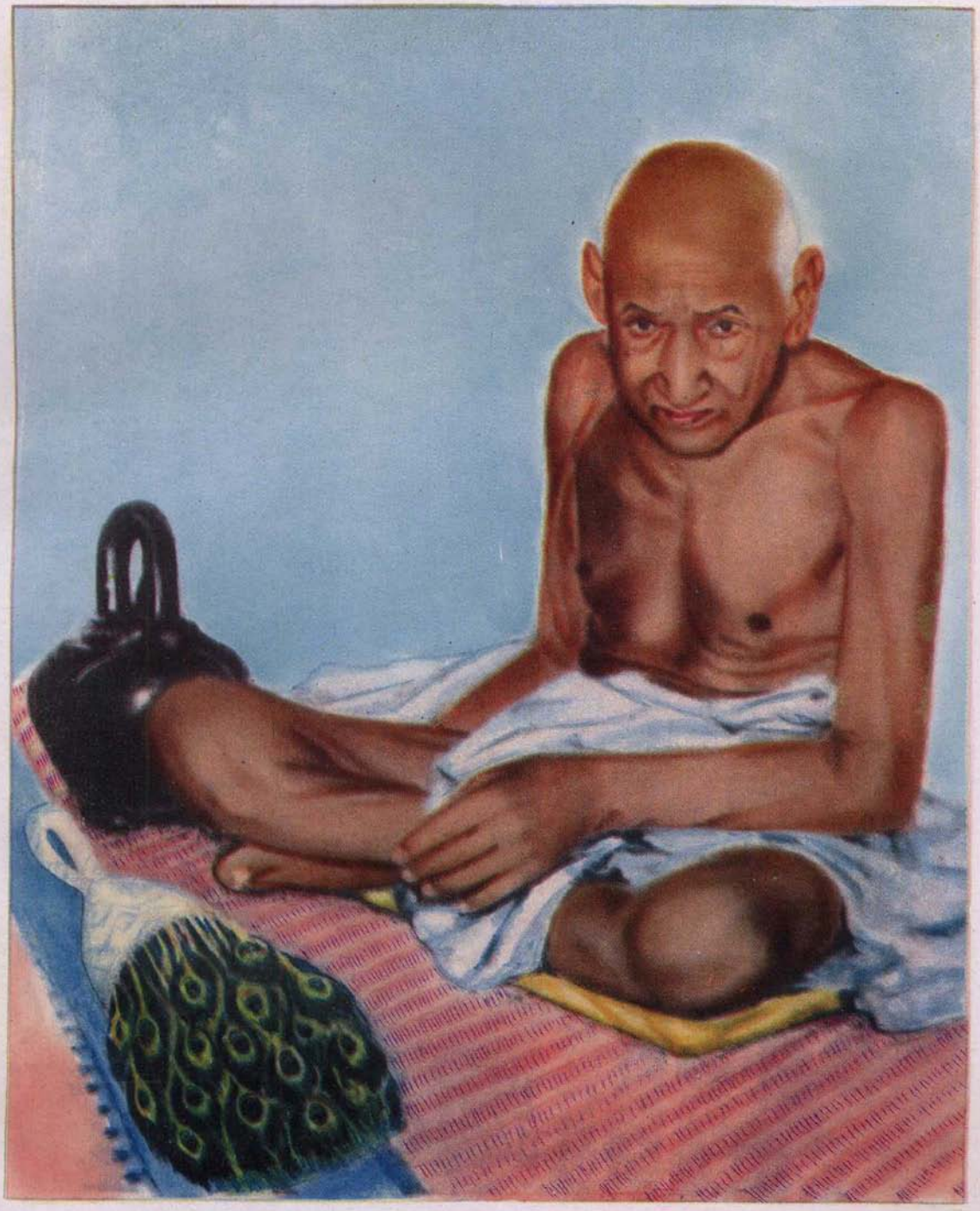
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर के जल-मंदिर का मनोहारी दृश्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

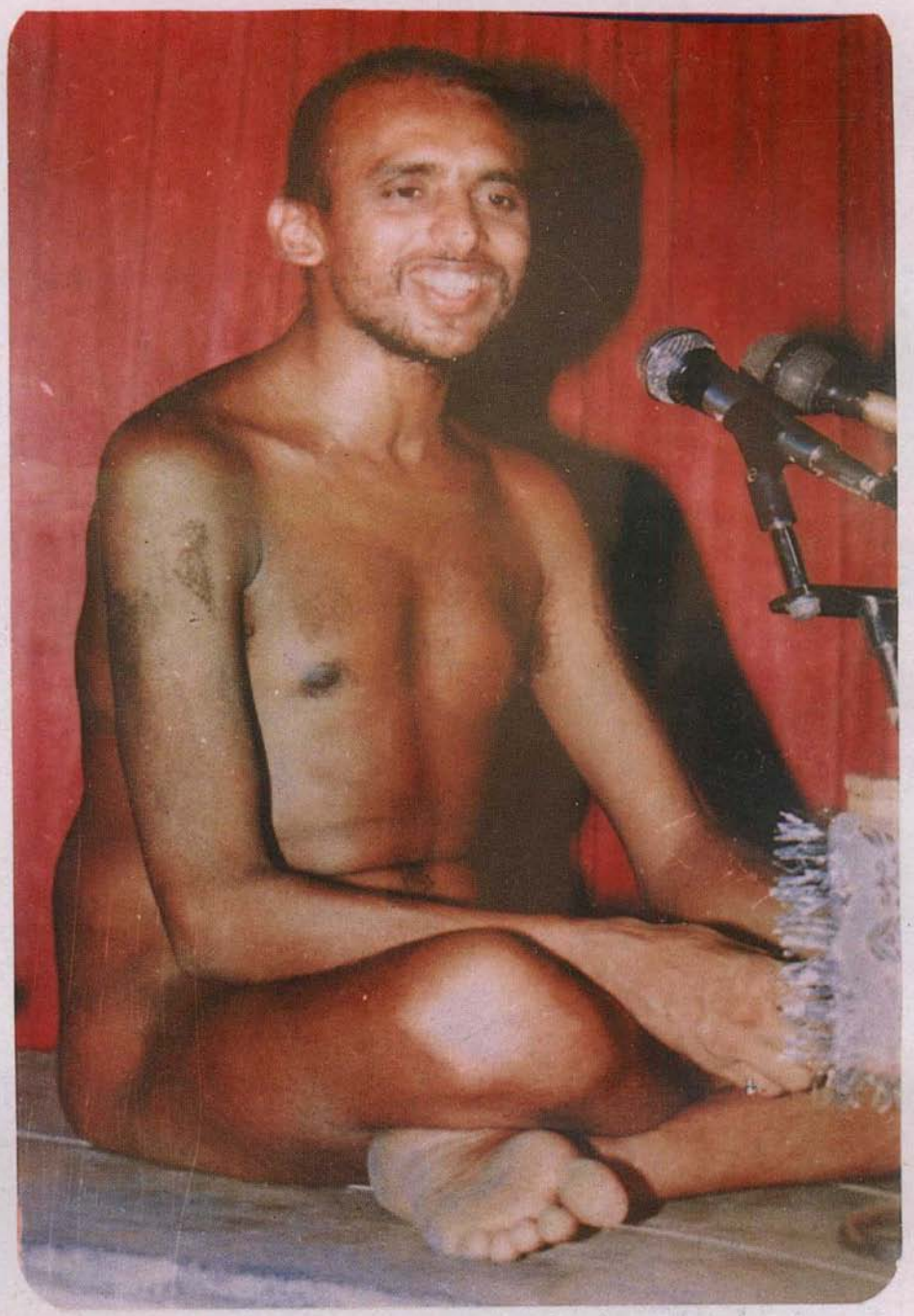
# आध्यात्मिक सन्त



परमपूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# स्मृतिग्रन्थ के प्रेरणास्त्रोत



परमपूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# प्रकाशकीय

राष्ट्र के यशस्वी और मूर्धन्य विद्वान् (स्व०) न्यायाचार्य (डॉ०) पं० महेन्द्रकुमार जी जैन के बहुआयामी कर्मठ जीवन, संघर्षमय जीवन यात्रा के मध्य विकसित अप्रतिम वैदुष्य, अभूतपूर्व श्रुतसेवा, वाङ्मय प्रणयन प्रभृति सद्गुणों के प्रति कृतज्ञता समर्पण हेतु यह "स्मृति ग्रन्थ" प्रकाशित किया गया है। इसे प्रकाशित कर एतदर्थ गठित "स्मृतिग्रन्थ प्रकाशन समिति" वस्तुतः स्वयं कृतार्थ हुई है। भारतीय मनीषा के साधकों/उपासकों/पाठकों को यदि इस ग्रन्थ में कुछ प्रेरक तत्त्व प्राप्त हों तो वह सबका सब पूज्यवर पंडित जी का मानें और जो भी न्यूनताएँ अनुभव हों उन्हें हमारी अज्ञता एवं असावधानी समझकर हमें सूचित करने की कृपा करें।

वस्तुतः इस योजना के प्रमुख सूत्रधार परम पूज्यश्री १०८ उपाध्याय ज्ञानसागर जी मुनि महाराज हैं। पूज्य उपाध्यायश्री आगमनिष्ठ ज्ञान-ध्यान तपोनिष्ठ दुर्द्धर तपस्वी, विद्या व्यसनी, विद्वत् परम्परा के सम्वर्द्धक, परम यशस्वी आध्यात्मिक सन्त हैं।

"सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।"

जैसे आप्तवाक्य को प्रतिपल दृष्टि में रखकर अहर्निश साधनारत इन महाव्रती ने जहाँ श्रमण संस्कृति से विमुख हो रहे लाखों सराक (श्रावक) बन्धुओं को प्रेरित कर उनके उद्धार का वह अनुपम कार्य किया है जिसे पूर्व में ऐसी ही प्रवृत्तियों के धनी सरलता की प्रतिमूर्ति परमपूज्य सन्त श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज ने प्रारंभ किया था, वहीं आर्ष परम्परा की श्रीवृद्धि कर परमपूज्य जैन आचार्यों की वाणी के सार्वजनीन कर्त्ता अबसे लगभग चार दशक पूर्व (सन् १९५९ में) दिवंगत माननीय न्यायाचार्य डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जी के दिव्य योगदान को भारतीय इतिहास के पृष्ठों में अक्षुण्ण बनाने की दृष्टि से एक अभिनव उपक्रम किया। सराकों के उद्धार यात्रा-पथ में पड़ाव था-मध्यप्रदेश के जिला मुख्यालय अम्बिकापुर का। वहाँ के जिनमन्दिर की प्राणप्रतिष्ठा के सन्दर्भ से उपाध्यायश्री की सूक्ष्म पारखी दृष्टि से संस्पर्श हुआ अम्बिकापुर के जिला चिकित्सालय में पदस्थ दम्पती (स्व०) पं० जी के तृतीय जामाता डॉ० अभय चौधरी तथा तृतीय सुपुत्री (सौ०) डॉ० आशा चौथरी से। इस डाक्टर दम्पती को प्रेरितकर उपाध्यायश्री ने सन् १९९४ में १८, १९, २० अप्रैल को स्व० पण्डित जी के योगदान पर एक त्रिदिवसीय अखिल भारतीय विद्वत्संगोष्ठी संयोजित कराई। इस संगोष्ठी के संयोजन में (स्व०) पं० जी के लघु जामाता श्री संतोष भारती दनेह तथा कनिष्ठ पुत्री सौ० आभा भारती की भी भूमिका उल्लेखनीय थी। इस संगोष्ठी में भारत के कोने-कोने से समागत मनीषी विद्वानों, साहित्यकारों तथा समाज ने यह अनुभव किया कि ऐसे दिव्य ललाम व्यक्तित्व की स्मृति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए एक स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित किया जाए। एतदर्थ सम्पादक मण्डल का गठन निम्न भाँति हुआ—

| | | |
|---|---|---|
| प्रधान सम्पादक | - | डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य |
| सम्पादक वृन्द | - | पं० हीरालाल कौशल, डॉ० भागचन्द्र जैन "भागेन्दु" |
| | | डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, डॉ० सागरमल जैन, |
| | | डॉ० राजाराम जैन, डॉ० रतन पहाड़ी, डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संग्रहीत एवं प्राप्त सामग्री को सम्पादित करना एक दुस्तर कार्य था । एतदर्थ सम्पादकमण्डल की बैठकों में पारायण हुआ । इस कार्य में प्रधान सम्पादक परमश्रद्धेय डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया, तथा सम्पादक मण्डल के माननीय सदस्य पं० हीरालाल जी कौशल, डॉ० कस्तूरचन्द्र जी कासलीवाल, डॉ० 'भागेन्दु' जैन, डॉ० फूलचन्द्रजी प्रेमी और प्रबन्धक सम्पादक श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल के सहयोग विशेष उल्लेखनीय हैं । सम्पादकमण्डल के सभी मनीषी सदस्यों की बहुज्ञता का लाभ/सहयोग निरन्तर प्राप्त किया गया है । अतः सभी के प्रति हृदय से आभारी हैं ।

ग्रन्थ प्रकाशन समिति परमपूज्य प्रातः वन्दनीय श्री १०८ उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज को सादर त्रिनमोऽस्तु निवेदित करते हुए इस महनीय ग्रन्थ को उनके शुभाशीष, सत्प्रेरणाओं की फलश्रुति के रूप में आप सभी के समक्ष प्रस्तुत कर रही है ।

स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति के माननीय अध्यक्ष श्रीमन्त सेठ डालचन्द्रजी जैन (सागर) तथा अन्य सभी पदाधिकारी एवं सदस्यगण, परामर्शदातृ मंडल के सदस्यगण, ग्रन्थ हेतु सामग्री प्रदान/प्रेषित करने वाले लेखक और कवि मित्र तथा आर्थिक सहयोग प्रदाताओं—विशेष रूप से डॉ० श्रीमती आशा चौधरी एवं डॉ० अभय चौधरी (भोपाल) तथा श्रीमती मधु जैन एवं श्री अरविन्द जैन (मुंबई) के प्रति "न्यायाचार्य डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जैन स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति" हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती है।

ग्रन्थ का मुद्रण कार्य पर्याप्त दिलचस्पी से करने हेतु - महावीर प्रेस, वाराणसी को हार्दिक साधुवाद अर्पित करता हूँ ।

अन्त में-एक साधक और भगवती श्रुतदेवता के आराधक महामनीषी न्यायाचार्य पं० (डॉ०) महेन्द्रकुमार जी का जीवन और कृतित्व भारतीय मेधा को स्फूर्त करे एवं प्रेरणा का स्रोत बने, इस भावना के साथ यह ग्रन्थ सभी को सादर अर्पित है ।

**भोपाल**
**वीर शासन जयन्ती**
**वी०नि०सं० २५२२**
**३१-७-१९९६**

**विनीत**



**(डॉ० भागचन्द्र जैन "भागेन्दु")**
**मंत्री**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## अम्बिकापुर में परमपूज्य उपाध्याय ज्ञानसागरजी महाराज के सान्निध्य में

# एक ज्ञानाराधक का स्मरण

• श्री निर्मल जैन, सतना

मध्यप्रदेशका आदिवासी अंचल सरगुजा भले ही पिछड़ा इलाका माना जाता हो परन्तु वहाँकी प्राकृतिक और पुरातात्विक सम्पदा उसे महत्त्वपूर्ण बनाती है। सुरम्य पर्वतश्रेणियोंके बीच बसे सरगुजाके जिला मुख्यालय अम्बिकापुरको जब ज्ञानोपासक संत पूज्य उपाध्यायश्री १०८ ज्ञानसागरजी महाराजके पदार्पणका सुयोग मिला तो वहाँ धर्मामृतकी वर्षा स्वाभाविक ही थी।

जिन मन्दिरकी वेदी प्रतिष्ठा वहाँ सम्पन्न हुई, पूज्य उपाध्यायश्री के प्रवचनोंसे शाकाहारका व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ और विगत १८-१९-२० अप्रैल १९९४ को वहाँ एक प्रभावक सार्थक विद्वत् गोष्ठीका आयोजन हुआ जिसके निमित्तसे समाजके अनेक प्रतिष्ठित विद्वानोंका समागम भी अम्बिकापुरमें हुआ।

प्रसंग था ३५ वर्ष पूर्व दिवंगत जैन न्याय एवं दर्शनके प्रकाण्ड विद्वान् पंडित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका पुण्य स्मरण। पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागरजी महाराज अपने ज्ञान ध्यानके साथ ही जहाँ एक ओर सराक उद्धार जैसे गुरुतर कार्यमें प्रेरक बन रहे हैं वहीं सरस्वती पुत्रोंके प्रति उनका स्नेह विद्वानोंके लिए प्रेरणा बनकर जिनवाणीकी सेवा का निमित्त भी बन रहा है।

अभी डेढ़ वर्ष पूर्व पंडित नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्यके महान् ग्रन्थ 'भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" के चारों भागका पुर्नप्रकाशन कराके तथा लेखकके व्यक्तित्व-कृतित्वपर एक सार्थक गोष्ठी का आयोजन कराके उपाध्यायश्रीने एक दिवंगत विद्वान्के गुणानुवादका अवसर समाज को दिया था।

इसी कड़ीमें इस बार 'जैनदर्शन' जैसे मौलिक दार्शनिक ग्रन्थके रचयिता तथा पूर्वाचार्यों द्वारा रचित अनेक न्याय-दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थोंकी टीका/संपादन करने वाले और उनपर महत्त्वपूर्ण लम्बी प्रस्तावनायें लिखने वाले पैंतीस वर्ष पूर्व दिवंगत न्यायाचार्य पंडित महेन्द्रकुमारजीके व्यक्तित्व-कृतित्व पर अम्बिकापुरमें एक प्रभावक गोष्ठी पूज्य उपाध्यायश्री की प्रेरणासे पंडितजीके दामाद डॉ० अभयकुमार चौधरी एवं पुत्री डॉ० आशा चौधरी, अम्बिकापुरकी ओरसे अति उत्साहपूर्वक आयोजित की गई।

१८ अप्रैल ९४ को पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागरजी एवं मुनिश्री वैराग्यसागरजी महाराजके सानिध्यमें समारोहका प्रारम्भ प्रातः आठ बजे अंतरंग वार्ताके रूपमें हुआ। मेरे द्वारा मंगलाचरणसे प्रारम्भ इस बैठकमें संगोष्ठीके संयोजक डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवालने गोष्ठीके उद्देश्य बताये। आगन्तुक विद्वानोंका पंडितजी के परिजनोंसे परिचय कराया गया। जैन समाजके बारह मान्य विद्वान् तथा स्व० पंडित महेन्द्रकुमारजीके अनुज, दो पुत्र, चार पुत्रियाँ एवं दामाद इस अवसर पर वहाँ उपस्थित थे। वयोवृद्ध विद्वान् डा० दरबारीलालजी कोठियाने गोष्ठीके आयोजनपर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए इसे देरसे किया जा रहा आवश्यक कार्य बताया। स्थानीय विद्वान् वयोवृद्ध कवि श्री बाबूलाल 'जलज' ने अपनी एक कविता प्रस्तुत की। पूज्य ज्ञानसागरजी महाराजने अपने उद्बोधनमें दिवंगत विद्वानोंके महत्त्वपूर्ण कार्योंका मूल्यांकन करने की प्रेरणा दी।

मध्याह्न तीन बजेसे गोष्ठीका उद्घाटन सत्र पं० दरबारीलालजी कोठियाकी अध्यक्षतामें प्रारम्भ हुआ। नगरके प्रमुख समाजसेवी अम्बिकापुर राजघरानेके श्री टी० एस० सिंघदेव आयोजनके मुख्य अतिथि थे। विशिष्ट अतिथिके रूपमें जिलाधीश श्री गोयल एवं सत्र न्यायाधीश श्री एस० के० जैन मंच पर थे। प्रतिष्ठित नागरिक श्री गंगासागर सिंह, श्री मदन त्रिपाठी एवं श्रीमती अनुराधा शंकर सिन्हा भी अतिथिके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपमें इस सत्रमें पधारे थे। इस महत्त्वपूर्ण सत्रका संचालन किया मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमीके सचिव डॉ० भागचन्द भागेन्दु ने।

मंगलाचरण, दीप प्रज्वलन एवं पंडितजीके चित्रपर माल्यार्पणके बाद पं० जीके अनुज श्री धन्यकुमार जैन वाराणसी, पुत्र श्री पद्मकुमार तथा अरविन्दकुमार जैन बम्बई, दामाद श्री रतन पहाड़ी, कामठी, श्री लक्ष्मीचन्द एवं सन्तोष भारती, दमोह, डॉ० अभय चौधरी, अम्बिकापुर एवं समाजके पदाधिकारियोंने गोष्ठी में पधारे विद्वानों एवं अतिथियोंका स्वागत किया। डॉ० सत्यप्रकाश दिल्लीने पंडित महेन्द्रकुमारजी का परिचय प्रस्तुत करते हुए उनके जन्म, अध्ययन-अध्यापन, सम्पादन, लेखन आदिकी जानकारी दी।

संयोजक डॉ० कासलीवाल द्वारा प्रारंभिक वक्तव्य दिये जानेके बाद अतिथियोंने अपने उद्बोधनमें पूज्य महाराजजी की प्रेरणासे होनेवाली इस संगोष्ठीपर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा कि इससे नगर गौरवान्वित हो रहा है। सभीने पंडितजीके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की। अध्यक्षके रूपमें बोलते हुए डॉ० दरबारीलालजी कोठिया भाव विह्वल हो गये। उन्होंने पंडितजीके अनेक संस्मरण सुनाते हुए उन्हें एक प्रबुद्ध विचारक, दार्शनिक चिंतक, आदर्श अध्यापक और सफल लेखक-संपादक निरूपित किया। डॉ० कोठियाने बताया कि मैं अध्यापन कार्यमें तो बहुत समय उनके साथ रहा ही, पहले छह महीने तक मैंने उनसे अध्ययन भी किया था।

उद्घाटन सत्रके अन्तमें पूज्य महाराजश्रीने अपने उद्बोधनमें अध्ययन चिंतनकी उपादेयता प्रतिपादित करते हुए पं० महेन्द्रकुमारजी द्वारा की गई जिनवाणी सेवा की प्रशंसा की तथा विद्वानोंसे उनका अनुसरण करनेका आग्रह किया। रात्रिमें एक संस्मरण सभा आयोजित की गई जिसमें पंडितजीके परिजनों विशेष रूप से उनके अनुज, दोनों पुत्रों एवं पुत्रियोंने संस्मरण सुनाये। डॉ० सत्यप्रकाश दिल्ली, निर्मल जैन सतना, डा० राजाराम आरा और फूलचन्द्र प्रेमी वाराणसीने भी पंडितजी का गुणानुवाद किया।

१९ अप्रैलका प्रातःकालीन सत्र डॉ० सुदर्शनलालजी वाराणसीकी अध्यक्षतामें प्रारम्भ हुआ, इस सत्रका संचालन किया डॉ० शीतलचंद्र जैन जयपुर ने। सत्रमें डॉ० रतनचन्द्र जैन भोपाल, श्री निर्मल जैन सतना, डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी, वाराणसी एवं० डॉ० नन्दलाल जैन रीवाने अपने आलेख प्रस्तुत किये जिनमें डॉ० महेन्द्रकुमारजी द्वारा लिखित एवं सम्पादित कृतियोंकी विवेचना की गई थी। अध्यक्षीय उद्बोधनके बाद पूज्य महाराजजीने कहा कि समाजको मार्गदर्शन देनेके लिये विद्वानोंमें ज्ञानके साथ चारित्र होना भी आवश्यक है।

मध्याह्न तीन बजेसे प्रारंभ गोष्ठीके कार्यकारी सत्र की अध्यक्षता की डॉ० रतनचंद्र जैन भोपालने और संचालन किया निर्मल जैन सतना ने। इस सत्रमें डॉ० शीतलचंद्र जैन जयपुर, डॉ० राजारामजी आरा, डॉ० भागचंद्र भास्कर नागपुर, डॉ० भागचंद भागेन्दु, दमोह एवं डॉ० कस्तूरचंद्र कासलीवालने अपने आलेखों का वाचन किया। सभी आलेखों पर संचालक की सटीक टिप्पणियों एवं अंतमें अध्यक्ष महोदय की महत्त्वपूर्ण समीक्षाओंने सत्र को अत्यन्त प्रभावक बना दिया। अंतमें उपाध्यायश्री का मंगल प्रवचन भी हुआ।

रात्रिमें डा० रतनचंद्रजी द्वारा शास्त्र प्रवचनके बाद प्रो० कमलेश जैन अम्बिकापुर का आलेख वाचन हुआ और फिर जिला एवं सत्र न्यायाधीश श्री एस० के० जैन की अध्यक्षतामें एक सरस काव्य गोष्ठी आयोजित की गई। इसका सुरुचिपूर्ण संचालन श्री निर्मल जैन सतनाने किया। गोष्ठीमें स्थानीय कवियित्री श्रीमती उषाकिरन फुसकेले, पं० सुरेश जैन मनेन्द्रगढ़, डॉ० कासलीवाल जयपुर, डॉ० भागचन्द्र भागेन्दु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org




पूज्य उपाध्यायश्री के सानिध्य में अप्रैल ९४ में पं० जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर अम्बिकापुर में आयोजित संगोष्ठी में माइक पर बोलते हुए श्री संतोष भारती अध्यक्षता करते हुए आदरणीय डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया ।




पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागरजी महाराज के सानिध्य में १८ से २० अप्रैल १९९४ में अम्बिकापुर (म०प्र०) में पं० जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर आयोजित विद्वत् संगोष्ठी में उपस्थित विद्वद्गण एवं पं० जी के परिवार के सदस्य । इस संगोष्ठी के अवसर पर प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन की योजना बनी थी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोपाल, श्री सन्तोष भारती, दमोह, डॉ० भागचंद भास्कर, नागपुर, डॉ० रतनचंद्र भोपाल, श्री रतन पहाड़ी कामठी एवं संचालक श्री निर्मल जैन सतना ने देर रात तक काव्यपाठ किया।

२० अप्रैल को प्रातः समापन सत्र आयोजित हुआ इसमें संयोजक डॉ० कासलीवालने संगोष्ठी का ववरण देते हुए इसकी सार्थकता एवं उपयोगिता पर विद्वानोंके अभिमत लिये तथा आगेके कार्यक्रमों पर सुझाव लिये। निर्णय हुआ कि पं० महेन्द्रकुमारजीके कार्यों का लेखा-जोखा सुरक्षित करनेके लिये एक स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जाय एवं उनकी अप्रकाशित सामग्री प्रकाशित की जाय। उनके जन्म दिन बुद्ध पूर्णिमा को प्रतिवर्ष कोई न कोई आयोजन विभिन्न स्थानों पर किया जाय।

आयोजकोंने विद्वानों का आभार मानते हुए उनका सम्मान किया। विद्वानोंने भी संगोष्ठीके प्रभाव-पूर्ण आयोजन, समुचित व्यवस्थाओं एवं स्नेहपूर्ण आतिथ्यके लिये आयोजक डॉ० अभय चौधरी एवं डॉ० आशा चौधरी तथा स्थानीय जैन समाज के सभी सदस्यों को धन्यवाद दिया।

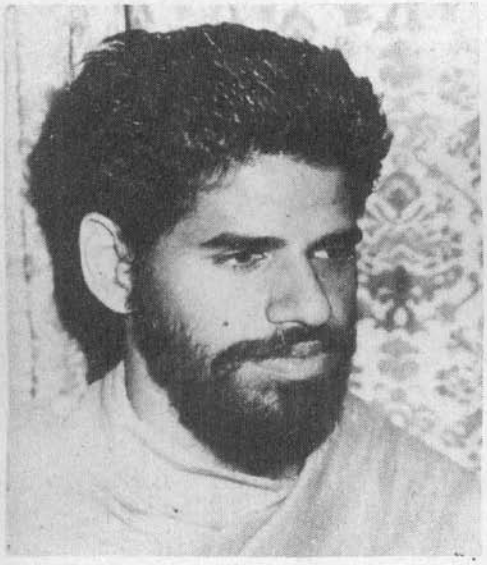
●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

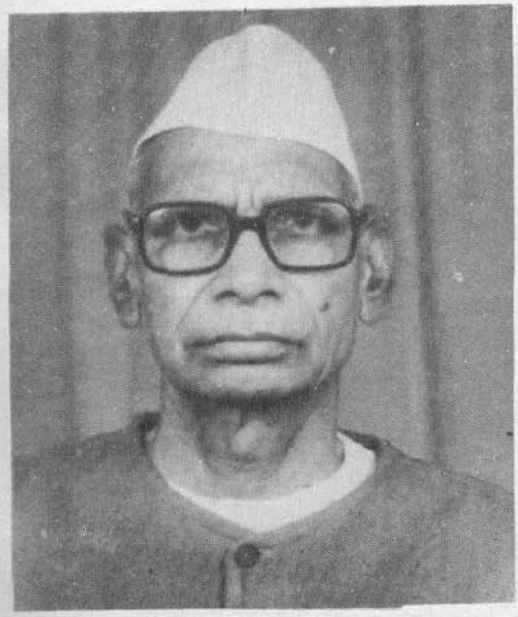
## परम संरक्षक



स्वस्तिश्री कर्मयोगी
भट्टारक चारुकीर्तिजी श्रवणबेलगोला



स्वस्तिश्री ज्ञानयोगी
भट्टारक चारुकीर्तिजी मूड़बिद्री



सिद्धान्ताचार्य
पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य



समाजरत्न
साहू अशोककुमार जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

## संरक्षक मण्डल



श्री देवकुमारसिंह कासलीवाल



श्री निर्मलकुमार सेठी



रायबहादुर हरखचन्द्र जैन

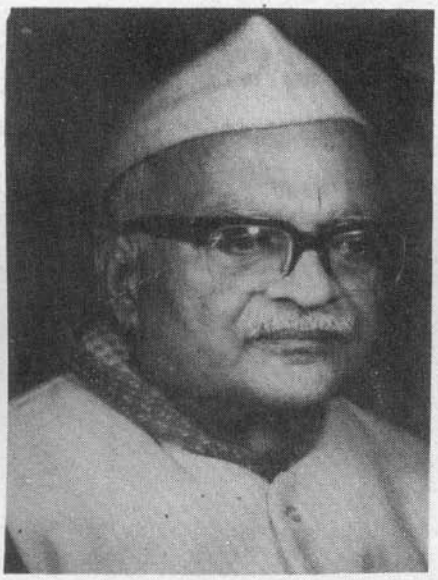


पद्मभूषण बाबूलाल पाटौदी

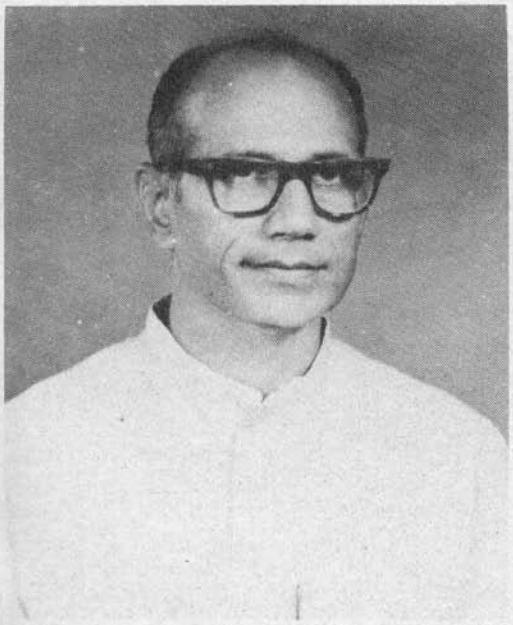
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

## संरक्षक मण्डल



श्री विजयकुमार मलैया



श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका

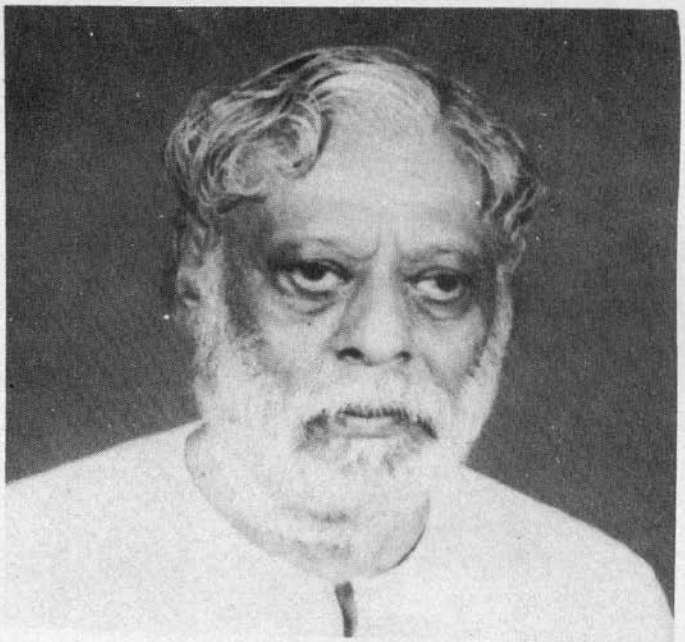


साहू रमेशचन्द्र जैन

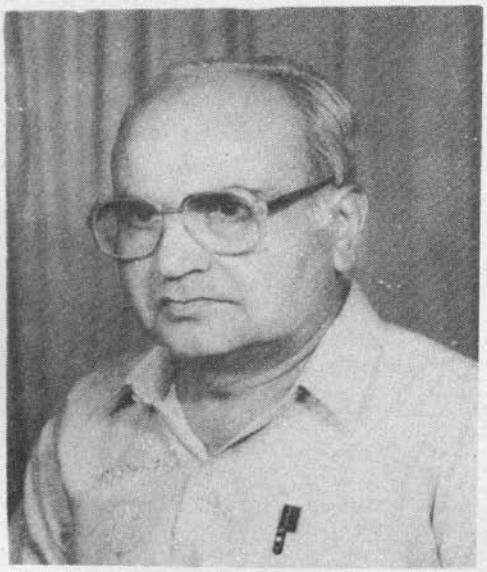
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

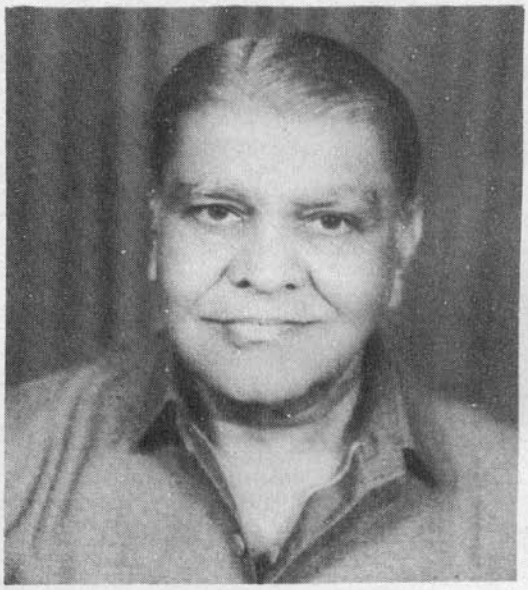
## पदाधिकारी गण



श्रीमंत सेठ डालचन्द्र जैन
**अध्यक्ष**



डॉ० भागचन्द्र भागेन्दु
**मंत्री**



श्री सुरेशचन्द्र चौधरी
**कोषाध्यक्ष**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# सम्पादकीय वक्तव्यः

"न्यायाचार्य डॉ० (पं०) महेन्द्रकुमार जैन स्मृति ग्रन्थ को लोकार्पित करते हुए हमें सातिशय प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है । यतः सुधीजनों, परमपूज्य सन्तों, राष्ट्र नेताओं, सामाजिक कर्णधारों और विविध क्षेत्रों में अपने प्रशस्त कृतित्व से सम्पूर्ण वसुन्धरा एवं चिन्तना को महिमामंडित करने वालों का गुणस्मरण सदैव स्वागतेय है । सुधीजनों के गुणस्मरण की परम्परा सुदूर प्राचीन काल से प्रवर्तमान है । सुप्रसिद्ध चिन्तक और धर्मशास्त्र-विश्लेषक महाराजा मनु ने सम्मानार्हता के पाँच प्रसंगों का उल्लेख कर 'विद्या' को ही सर्वश्रेष्ठ अभिनन्दनीय निरूपित किया है :—

**वित्तं बन्धुर्वयः कर्म, विद्या भवति पञ्चमी ।**
**एतानि मान्यस्थानानि, गरीयो यद यदुत्तरम् ।।**

—मनुस्मृति : २/१३६

और एतदनुसार नीति-मर्मज्ञ का यह कथन भी सुधीजनों के प्रतिनन्दन/गुणस्मरण की ही आशंसा करता है :—

**'स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।'**

सुधीजनों ने राष्ट्र, समाज, अध्यात्म, धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति के विविध पक्षों को सम्वर्धित और सुरक्षित करते हुए उनके सांगोपांग समुन्नयन हेतु भगीरथ प्रयत्न किये हैं ।

प्रत्येक राष्ट्र और राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति उसके दर्शन/चिन्तन/मनन/साहित्य और इनके प्रेणताओं से होती है । युग-युगों से जिन आचार्यों/ऋषियों/मनीषियों ने दृश्य और अदृश्य के प्रति अपनी जिन अनुभूतियों को शब्दों के माध्यम से मूर्तमान किया है और—

**"अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं, स्वल्पं तथाऽऽयुर्बहवश्च विघ्नाः ।**
**सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु, हंसैर्यथाक्षीरमिवाम्बुमध्यात् ।।"**

—पंचतंत्रम् : कथामुखम्, पद्य ९

के विशेषज्ञों ने अपने स्फूर्त और ओजस्वी चिन्तन को आगामी पीढ़ी द्वारा विश्लेषित और आविष्कृत किये जाने हेतु सुरक्षित कर रखा है, विज्ञान के इस तर्कशील और विकासवादी युग में भी उनके चिन्तन तथा निष्पत्तियाँ निश्चित ही प्रकाश-स्तम्भ का कार्य कर रहे हैं । ऐसे सुधीजन समाज, साहित्य, अध्यात्म, दर्शन, न्यायविद्या, संस्कृति और राष्ट्र की धरोहर होते हैं । उनके जीवन-दर्शन, आस्थाओं, नैतिक मूल्यों, साधनाओं और सार्थक कृतित्व से सम्पूर्ण परिवेश-समाज और राष्ट्र दिशाबोध प्राप्त करता है और ऐसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिव्य ललाम सुधीजनों के प्रति उनके जीवन काल में अभिनन्दन/प्रतिनन्दन तथा मरणोपरान्त स्मृति/स्मरण/गुणस्मरण शिष्ट तथा कृतज्ञ समाज का प्राथमिक दायित्व है । जैसा कि आचार्य विद्यानन्दि ने भी लिखा है :—

**"न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ।"**

इस दृष्टि से अभिनन्दन/स्मृति ग्रन्थों की महती उपयोगिता है । विगत साठ वर्षों में यह परम्परा निरन्तर विकास को प्राप्त हुई है, जिसके द्वारा सन्तों, सुधीजनों और राष्ट्रीय तथा सामाजिक क्षेत्र में महनीय व्यक्तित्वों के अभिनन्दन/गुणस्मरण/कृतज्ञता प्रकाश में "अभिनन्दन ग्रन्थ" अथवा "स्मृति ग्रन्थ" प्रकाशित हुए । जैन जगत् में यह परम्परा सन् १९४६ में पं० नाथूराम प्रेमी को समर्पित किये गये अभिनन्दन ग्रन्थ से प्रारम्भ हुई । इस महत्त्वपूर्ण कार्य का सर्वत्र समादर हुआ । इसके उपरान्त अनेक अभिनन्दन/स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनमें राष्ट्र, समाज, धर्म, दर्शन, साहित्य, पुरातत्त्व, विज्ञान, कला, इतिहास और संस्कृति का सार्थक प्रतिपादन हुआ है । यहाँ यह प्रश्न सहज ही समाधेय है कि "अभिनन्दन/स्मृति ग्रन्थों की भीड़ में एक और ग्रन्थ क्यों ?"

## स्मृति ग्रन्थ की आयोजना और उसका इतिहास

डॉ० पण्डित न्यायाचार्य श्री महेन्द्रकुमार जैन बीसवीं शती के भारतीय दर्शनशास्त्र, न्यायविद्या एवं जैन दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् थे । उन्होंने न्यायशास्त्र के दुरूह से दुरूह ग्रन्थों का सम्पादन करके, उनकी शोधपूर्ण विस्तृत भूमिकाएँ लिखकर जैन न्याय साहित्य को एक नया जीवन प्रदान किया । उनके द्वारा सम्पादित एवं प्रणीत ग्रन्थ विश्वविद्यालयों एवं जैन शिक्षा संस्थाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं । देश की प्रतिनिधि प्रकाशन संस्था-भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना एवं उसके प्रारंभिक संचालकों में डॉ० महेन्द्रकुमार जी का योगदान अग्रगण्य है । "ज्ञानोदय" जैसी यशस्वी पत्रिका के वे सम्पादक थे। जब उनकी विशिष्ट प्रतिभा प्रकाश में आयी तभी अकस्मात् उनका स्वर्गवास हो गया और भारतीय धर्म, दर्शन एवं न्याय विषयक क्षेत्र के विकास के कितने ही स्वप्न अधूरे रह गये ।

डॉ० सा० ने अल्प जीवनकाल में ही धर्म, दर्शन—विशेष रूप से जैन न्याय साहित्य, प्राचीन वाङ्मय और राष्ट्र की जो सेवा की वह विरल है । भगवती वाग्देवता के ऐसे यशस्वी वरदपुत्र के कृतित्व के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने हेतु स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित की योजना परमपूज्य युवा मनीषी श्री उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज की प्रेरणा से बनी ।

वस्तुतः यह कार्य चार दशक पूर्व ही हो जाना चाहिए था । किन्तु इस गुरुतर कार्य का शुभ संकल्प २० अप्रैल १९९४ को अम्बिकापुर में लिया गया और तब से अब तक निरन्तर "डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति ग्रन्थ" प्रकाशन योजना के प्रमुख प्रेरणास्रोत परमपूज्य श्री १०८ उपाध्याय ज्ञानसागर जी मुनि महाराज हैं । पूज्य उपाध्यायश्री आगमनिष्ठ ज्ञान-ध्यान-तपोनिष्ठ, दुर्द्धर तपस्वी, विद्याव्यसनी, विद्वत्परम्परा के सम्वर्द्धक, परम यशस्वी आध्यात्मिक सन्त हैं । पूज्य उपाध्यायश्री सराक जाति की उत्थान योजना को हाथ में लिए हुए मध्यप्रदेश के सुदूर अंचल में अवस्थित पिछड़े हुए जिला सरगुजा-अम्बिकापुर १९९४ में पधारे । वहाँ के नवनिर्मित जैन मन्दिर की प्राणप्रतिष्ठा के सन्दर्भ में अम्बिकापुर के जिला

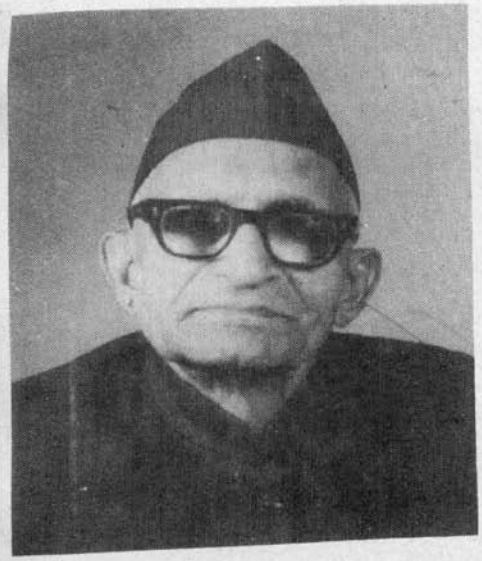
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

## सम्पादक मण्डल



डॉ० दरबारीलाल कोठिया
**प्रधान सम्पादक**



पं० हीरालाल 'कौशल'



डॉ० भागचन्द्र 'भागेन्दु'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति

## सम्पादक मण्डल



डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल



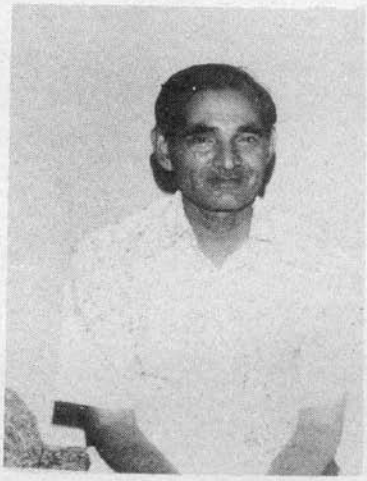
डॉ० सागरमल जैन



डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी



डॉ० राजाराम जैन



डॉ० रतन पहाड़ी



बाबूलाल जैन फागुल्ल

**प्रबन्ध सम्पादक**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिकित्सालय में पदस्थ डॉक्टर दम्पती डॉ० अभय चौधरी और श्रीमती डॉ० आशा चौधरी ने पूज्य उपाध्यायश्री का पावन सान्निध्य प्राप्त किया । उपाध्यायश्री के अध्ययन/मनन/स्वाध्याय में (स्व०) डॉ० महेन्द्रकुमार जी के द्वारा प्रणीत और सम्पादित ग्रन्थ आये थे । मात्र ४७ वर्ष की अल्प जीवन यात्रा में जिस मनीषी ने भगवती जिनवाणी/श्रुत देवता की निष्ठापूर्वक अद्‌भुत सेवा की हो और जो सन् १९५९ में दिवंगत हुआ हो, लगभग चालीस वर्षों के अन्तराल में जिनका व्यापक योगदान ओझल सा हो गया था—उन (स्व०) विद्वद्रत्न डॉ० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के योगदान पर एक प्रभावक त्रि-दिवसीय अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी अम्बिकापुर में १८, १९, व २० अप्रैल १९९४ को पूज्य उपाध्यायश्री की प्रेरणा से सम्पन्न हुई । इस संगोष्ठी के संयोजन में (स्व०) पं० जी के तृतीय जामाता डॉ० अभय चौधरी तथा तृतीय सुपुत्री (सौ०) डॉ० आशा चौधरी एवं लघु जामाता श्री संतोष भारती (दमोह) तथा कनिष्ठ पुत्री सौ० आभा भारती की भूमिका सातिशय महत्त्वपूर्ण थी । इस संगोष्ठी में राष्ट्र के विभिन्न भागों से समागत मनीषी विद्वानों, साहित्यकारों तथा समाज बन्धुओं ने पूज्य उपाध्यायश्री के सान्निध्य में यह निर्णय लिया कि (स्व०) डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य प्रबुद्ध विचारक, दार्शनिक, चिन्तक, आदर्श प्राध्यापक, सफल लेखक और कुशल सम्पादक थे । उनके अप्रतिम योगदान की स्मृति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए एक स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय । एतदर्थ सम्पादक मण्डल और स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति का गठन भी किया गया । समिति के पदाधिकारियों एवं सदस्यों की समग्र सूची इसी ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट में प्रकाशित है । एतदनुसार इसके अध्यक्ष श्रीमन्त सेठ डालचन्द्र जी सागर एवं मन्त्री—डॉ० भागचन्द्र जैन "भागेन्दु" दमोह हैं । समिति का प्रधान कार्यालय १५२, कबीर भवन, दमोह निर्धारित हुआ, इसका संचालक श्री संतोष भारती एवं सौ० आभा भारती ने किया । सम्पादक मण्डल का गठन निम्न भाँति हुआ—

| | | |
|---|---|---|
| प्रधान सम्पादक | - | डॉ० दरबारी लाल कोठिया, न्यायाचार्य |
| सम्पादकगण | - | पं० हीरालाल कौशल, दिल्ली |
| | | डॉ० भागचन्द्र जैन "भागेन्दु", भोपाल |
| | | डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर |
| | | डॉ० सागरमल जैन, वाराणसी |
| | | डॉ० राजाराम जैन, आरा |
| | | डॉ० रतन पहाड़ी, कामठी |
| | | डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी, वाराणसी एवं |
| प्रबन्ध सम्पादक | - | श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल, वाराणसी |

समिति के निर्णयानुसार प्रकाश्य स्मृति ग्रन्थ की पञ्चखण्डीय रूपरेखा तैयार की गयी । इसके अनुरूप ही देश के कोने-कोने से बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हुई । दमोह एवं बीना में इस समिति की तीन बैठकें हुईं, जिसमें प्राप्त सामग्री का वाचन/संशोधन/सम्पादन कर उसे प्रकाशन योग्य बनाया गया। कुछ सामग्री ग्रन्थ तैयार हो जाने तक आती रही, उसका उपयोग नहीं कर सकने हेतु हम माननीय लेखकों से क्षमा प्रार्थी हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ की रूपरेखा और प्रकाशन क्रम स्थिर करते समय प्राच्य विद्या विशारदों के सम्मान की वह विशिष्ट परम्परा निरन्तर ध्यान में रही है जिसके अनुसार डॉ० आर०जी० भांडारकर, डॉ० एम० विण्टरनित्स, डॉ० दरबारीलाल कोठिया, डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य एवं पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य आदि का सम्मान उनके जीवन की आधारभूत प्रवृत्तियों और महत्त्वपूर्ण शोधपरक रचनाओं को ही एक साथ प्रकाशित कर समर्पित करके किया गया था । यह परम्परा वस्तुतः प्रशस्य, अनुकरणीय और अभिनन्दनीय है । अतएव इस स्मृति-ग्रन्थ में माननीय न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जी जैन के प्रति संस्मरण/आदराञ्जलि और उनके जीवन परिचय के साथ-साथ उनके कृतित्व को भी समीक्षा के निकष पर परखा गया है। साथ ही उनके द्वारा विविध विषयों पर लिखित कुछ महत्त्वपूर्ण निबन्धों, आलेखों एवं ग्रन्थों की प्रस्तावनाओं को भी समाविष्ट किया गया है । ऐसा करते समय सम्पादक मण्डल का यह प्रयत्न रहा है कि माननीय (स्व०) महेन्द्रकुमार जी के विचारों/मौलिक उद्भावनाओं और निष्पत्तियों से समाज, सामान्य पाठक, शोधार्थी और मनीषी सभी लाभान्वित हो सकें तथा उनके व्यक्तित्व का एक साथ निदर्शन हो सके ।

एतदनुसार पाँच खण्डों में अन्तर्विभाजित इस स्मृति ग्रन्थ के **प्रथम खण्ड** में—न्यायाचार्य डॉ० महेन्द्रकुमार जी के स्मृति ग्रन्थ हेतु साधु-सन्तों के शुभाशीष, मनीषियों के आदराञ्जलि-पूर्ण संस्मरण, शिष्यों और समाज नेताओं के प्रणाम सन्निविष्ट हैं । शृंखलाबद्ध इन उद्गारों में पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के व्यक्तित्व और अप्रतिम वैदुष्य का मूल्यांकन सहज ही हो उठा है ।

स्मृति-ग्रन्थ के **द्वितीय खण्ड** में—पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य का जीवन परिचय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व रूपायित है ।

स्मृति-ग्रन्थ के **तृतीय खण्ड** में—कृतियों की समीक्षाएँ में डॉ० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य की समग्र सारस्वत साधना पर विश्लेषणात्मक चिन्तन की प्रस्तुति के साथ ही साथ उनके बहुचर्चित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर तत् तत् विषयों के मर्मज्ञ अधिकारी विद्वानों के द्वारा अभिलिखित समीक्षाएँ सन्निविष्ट हैं ।

इस स्मृति-ग्रन्थ का **चतुर्थ खण्ड** : विशिष्ट निबन्ध : (स्व०) पं० न्यायाचार्य जी के कृतित्व/सारस्वत आराधना के पूर्णतः निदर्शक हैं । ये निबन्ध (स्व०) न्यायाचार्य जी के लेखन, जीवन दर्शन और वैदुष्य का सर्वतोभावेन प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनकी उपादेयता आगे आने वाले समय में भी उतनी ही है/रहेगी जितनी आज है अथवा जब उनका सृजन हुआ था । सम्पादक मण्डल यह अनुभव करता है कि—इस सम्पूर्ण चतुर्थ खण्ड में (स्व०) न्यायाचार्य जी का गहन गम्भीर अध्ययन, विषय उपस्थापन—पल्लवन और प्रतिपादन की अद्भुत क्षमता, अन्वेषणात्मक सुतीक्ष्ण दृष्टि, एक दार्शनिक/नैयायिक आचार्य के व्यक्तित्व का गौरव, रोचक शैली, प्राञ्जल-परिष्कृत भाषा और कोमल कान्त पदावली तो निदर्शित है ही, इनमें 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम' का लक्ष्य भी चरितार्थ हुआ है ।

इस स्मृति-ग्रन्थ के **पञ्चम खण्ड** में—जैन न्यायविद्या का विकास और जैन दार्शनिक साहित्य का कालक्रमानुसार दिग्दर्शन कराया गया है । शोधार्थियों के लिए यह खण्ड विशेष उपयोगी है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**और परिशिष्ट :**

स्मृति-ग्रन्थ में परिशिष्ट के रूप में—"डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति" के पदाधिकारियों एवं सदस्यों की नामावलि तथा सम्पादक मण्डल के माननीय सदस्यों का परिचय सन्निविष्ट है ।

**कृतज्ञता :**

इस स्मृति ग्रन्थ के सम्पादन कार्य में अनेक परम पूज्य साधु-सन्तों, शिक्षाशास्त्रियों, समीक्षकों, विद्वानों और लेखक महानुभावों का बहुविध हार्दिक सहयोग एवं मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है । वस्तुतः इस आयोजना के प्रमुख प्रेरक परमपूज्य श्री १०८ उपाध्याय ज्ञानसागर जी मुनि महाराज हैं, उन्हीं के सान्निध्य और पावन प्रेरणा की फलश्रुति यह स्मृति-ग्रन्थ है । उन्हें सादर त्रिनमोऽस्तु तथा ग्रन्थों के समीक्षकों, विद्वान् लेखकों, परामर्शदातृ मण्डल के सदस्यों और स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति के माननीय अध्यक्ष श्रीमन्त सेठ डालचन्द्र जी जैन तथा अन्य सभी पदाधिकारियों और सदस्यों के प्रति सम्पादक मण्डल कृतज्ञता निवेदित करता है ।

अपने व्यस्त जीवन क्षणों में से कुछ समय निकालकर ग्रन्थ में प्रकाशनार्थ शुभाशीष/आदराञ्जलि तथा अन्य सामग्री भेजकर जिन महानुभावों ने आयोजना को मूर्तरूप प्रदान किया है उन सभी के हम आभारी हैं ।

संग्रहीत सामग्री का पारायण कर पाण्डुलिपि तैयार करने के कार्य में प्रधान सम्पादक माननीय डॉ० कोठिया जी एवं सम्पादक मण्डल के माननीय सदस्यों—सर्वश्री पं० हीरालाल जी कौशल, डॉ० कस्तूरचन्द्र जी कासलीवाल, डॉ० 'भागेन्दु' जैन, डॉ० फूलचन्द्र जी प्रेमी और प्रबन्ध सम्पादक श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल के सक्रिय सहयोग नितरां उल्लेखनीय हैं । सम्पादक मण्डल के सभी मनीषी सदस्यों की बहुज्ञता का लाभ निरन्तर प्राप्त किया गया है । अतः सभी के प्रति हृदय से आभारी हैं ।

मानव की शरीर संरचना में जो महत्त्व 'रीढ़ की अस्थि' का है वही इस ग्रन्थ की आयोजना के क्रियान्वयन में श्री अरविन्दकुमार जी जैन (मुंबई), डॉ० अभय चौधरी एवं (सौ०) डॉ० आशा चौधरी, (सम्प्रति भोपाल), श्री संतोष भारती एवं सौ० आभा भारती (दमोह) का है । इस सन्दर्भ में श्री धन्यकुमारजी (वाराणसी), श्री पद्मकुमार जी (वाराणसी), एवं माननीय पं० हीरालाल जी कौशल एवं डॉ० सत्यप्रकाश जी दिल्ली, तथा श्री लक्ष्मीचन्द्र जी एवं सौ० मणिप्रभा सागर का सहयोग भी उल्लेखनीय है । इन सभी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ।

इस ग्रन्थ का मुद्रण संस्कृत वाङ्मय और जैन विद्या ग्रन्थों के यशस्वी मुद्रक श्री महावीर प्रेस, वाराणसी ने अत्यन्त रुचिपूर्वक किया है । अतः यह समिति इस प्रेस के संचालक श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल को हार्दिक धन्यवाद समर्पित करती है ।

अपनी सीमाओं और ग्रन्थ की त्रुटियों/कमियों से हम भली-भांति परिचित हैं । हम जानते हैं कि यह ग्रन्थ (स्व०) डॉ० महेन्द्रकुमार जी जैन न्यायाचार्य जैसे मूर्धन्य विद्वान् के बहुआयामी विराट्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं बन सका है । हमें संकोच है कि इच्छा रहते हुए भी इस ग्रन्थ को सर्वांगपूर्ण नहीं बना सके तथा अपरिहार्य कारणों से इसके प्रकाशन में भी कुछ विलम्ब हुआ है, इसके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं ।

अन्त में-एक साधक और भगवती श्रुतदेवता के यशस्वी आराधक, महामनीषी न्यायाचार्य डॉ० (पं०) (स्व०) महेन्द्रकुमार जी का जीवन और कृतित्व भारतीय मेधा को स्फूर्त करे एवं प्रेरणा का स्रोत बने, इस भावना के साथ यह ग्रन्थ सादर लोकार्पित है ।

**मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी,**
**संस्कृति भवन, भोपाल (म०प्र०)**
**वीर शासन जयन्ती**
**वीर निर्वाण संवत् २५५२**
**दिनांक ३१-७-१९९६**

**विदुषां वशंवदः**
**प्रधान सम्पादक डॉ० दरबारीलाल कोठिया**
**तथा समस्त सम्पादक मण्डल की ओर से**

**(डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु')**
**सम्पादक**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# विषयानुक्रमणिका

## खण्ड : १ : संस्मरण / आदराञ्जलि


| | | |
|---|---|---|
| राष्ट्र के सारस्वत जगत् के अग्रणी | आचार्य विद्यानन्दजी महाराज | १ |
| माँ सरस्वती के वरदपुत्र | आचार्य श्री भरतसागरजी महाराज | २ |
| अपूर्व साहित्य सेवी | उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराज | ३ |
| पूर्वाग्रह मुक्त विचार के धनी | मुनि श्री जिनविजयजी | ४ |
| स्याद्वाद विद्या के प्रकाशस्तम्भ | आर्यिका स्याद्वादमती माताजी | ४ |
| परम्परा और आधुनिकता के संगम | मुनि श्री सुधासागरजी महाराज | ५ |
| आशीर्वाद | मुनि श्री क्षमासागरजी महाराज | ५ |
| साहित्य के मेरु शिखर | स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी, मूडबिद्री | ६ |
| दर्शनशास्त्र के महान् विद्वान् | सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री | ७ |
| सम्पादन कला के आचार्य | सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री | ७ |
| दार्शनिक चिन्तन के मनीषी | प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल संघवी | ७ |
| एक प्रकाशमान नक्षत्र | पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री | ८ |
| सृजनात्मक प्रतिभा के धनी | पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य | १० |
| परिनिष्ठित विद्वान् | डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री | १० |
| अद्वितीय विद्वान् | पं० दलसुख मालवाणिया | १० |
| वे सदा चिरस्मरणीय रहेंगे | स्वामी सत्यभक्त | ११ |
| उनकी विद्वत्ता विरल थी | श्री यशपाल जैन | ११ |
| हार्दिक कामना | डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री | ११ |
| विनोदप्रिय महेन्द्रकुमार जी | पं० नाथूलाल शास्त्री | १२ |
| सन्देश | D. Veerendra Heggade | १२ |
| सहाध्यायी और जैन न्याय-विद्यागुरु | डॉ० दरबारीलाल कोठिया | १३ |
| उत्कृष्ट क्षयोपशम के धनी | डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य | १४ |
| प्रगतिशील विचारधारा के पोषक | पं० बलभद्र जैन | १५ |
| हार्दिक शुभकामना | पद्मश्री बाबूलाल पाटोदी | १५ |
| शुभकामना | श्री देवकुमारसिंह कासलीवाल | १६ |
| शुभकामना | श्री निर्मलकुमार जैन सेठी | १६ |
| असाधारण विद्वान् | श्री डालचन्द्र जैन, ( पूर्व सांसद ) | १६ |
| भारतीय दर्शन के तलस्पर्शी विद्वान् | श्री ज्ञानचन्द खिन्दूका | १६ |
| बहुमुखी प्रतिभाके धनी | समाजरत्न साहु अशोककुमार जैन | १७ |
| सरस्वती के महान् उपासक | साहु रमेशचन्द्र जैन | १८ |
| असाधारण व्यक्तित्व के धनी | श्री सुबोधकुमार जैन | १९ |
| अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व | प्रो० उदयचन्द्र जैन, सर्वदर्शनाचार्य | १९ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | |
|---|---|---|
| उत्कट मनीषा के धनी | श्री नीरज जैन | २१ |
| वे उद्भट विद्वान् थे | पं० प्रकाश हितैषी शास्त्री | २२ |
| अटूट तेजस्वी व्यक्तित्व | डॉ० भागचन्द्र जैन "भास्कर" | २२ |
| प्रखर प्रतिभाशाली | डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी | २३ |
| महान् दार्शनिक मनीषी | श्री जवाहरलाल जैन एवं श्रीमती कैलाश जैन | २४ |
| वरिष्ठ एवं गरिष्ठ साहित्यसेवी | श्री शिवचरनलाल जैन | २५ |
| निर्लिप्त साधक संत | श्री सत्यंधरकुमार सेठी | २५ |
| उनका गुणगान ही वास्तविक श्रुत-आराधना | पं० बालचन्द्र काव्यतीर्थ | २६ |
| न्याय-जगत्के जाज्वल्यमान नक्षत्र | डॉ० सुदीप जैन | २६ |
| जो सदा चमकते रहेंगे ? | पं० सागरमल जैन | २७ |
| न्यायशास्त्र के अद्वितीय विद्वान् | सिंघई सुमेरचन्द्र | २७ |
| सादा जीवन और उच्च विचार के धनी | श्री महेन्द्रकुमार मानव | २७ |
| इस शताब्दी के महान् विद्वान् | श्री राजकुमार सेठी | २८ |
| शुभकामना | डॉ० शशिकान्त जैन | २८ |
| महान् विभूति को शत-शत नमन | श्री सुभाष जैन | २८ |
| सरस्वती के उज्ज्वल प्रकाशमान पुञ्ज | पं० गुलाबचन्द्र 'पुष्प' प्रतिष्ठाचार्य | २८ |
| उच्चकोटि के विद्वान् | श्री चेतनलाल जैन | २९ |
| बीसवीं शताब्दी के प्रकाण्ड जैन दार्शनिक | डॉ० लालचन्द्र जैन | २९ |
| आशावादी बुद्धिवाद के जनक पण्डितजी | डॉ० नन्दलाल जैन | ३० |
| शुभकामना | पं० मल्लिनाथ जैन शास्त्री | ३० |
| श्रद्धा सुमन | डॉ० दयाचन्द्र साहित्याचार्य | ३१ |
| मेरी श्रद्धाके दर्पण | सि० पं० जम्बूप्रसाद जैन शास्त्री | ३१ |
| न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् | पं० पूर्णचन्द्र जैन शास्त्री | ३१ |
| अगाध पाडित्य के धनी | पं० रविचन्द्र शास्त्री | ३२ |
| बुन्देलभूमि का अद्भुत् लाल | डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' | ३२ |
| शुभकामना | डॉ० कपूरचन्द्र जैन | ३२ |
| प्रखर चेतना और लेखनी के धनी | डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी | ३३ |
| जैनदर्शन साहित्य के अनन्य सेवक | शशिप्रभा जैन "शशांक" | ३३ |
| जिनवाणी माँ के अनन्य उपासक | डॉ० रमेशचन्द्र जैन | ३४ |
| असाधारण व्यक्तित्व के धनी | डॉ० कमलेशकुमार जैन | ३४ |
| मार्गदर्शक दार्शनिक न्यायाचार्यजी | डॉ० नीलम जैन | ३५ |
| हमारी आस्था के सुमेरु न्यायाचार्य | प्रतिष्ठाचार्य पं० विमलकुमार जैन सोंरया | ३६ |
| शत् शत् नमन | डॉ० राजमति दिवाकर | ३६ |
| न्याय-शास्त्र के उदीयमान नक्षत्र | पं० कमलकुमार शास्त्री | ३७ |
| शुभकामना | पं० नन्हेंलाल जैन | ३७ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | |
|---|---|---|
| शुभ कामना | पं० लक्ष्मणप्रसाद शास्त्री | ३७ |
| श्रद्धाञ्जलि | स० सि पं० रतनचन्द जैन शास्त्री | ३७ |
| स्याद्वाद-शासन के सजग-आदर्श प्रहरी | श्री अभिनंदनकुमार दिवाकर, एडवोकेट | ३८ |
| देखा तो नहीं, पर देख रहा हूँ उनको | श्री पवनकुमार शास्त्री, दीवान | ३८ |
| अनोखा व्यक्तित्व | डॉ० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार | ३९ |
| पण्डितजी स्वतंत्र चिन्तक थे | श्री जमनालाल जैन | ३९ |
| जैनदर्शन के आधुनिक मेरु | डॉ० सुरेशचन्द्र जैन | ४० |
| डॉ० कोठिया जी से जो सुना; जो गुना | प्राचार्य निहालचंद जैन | ४० |
| मेरे विद्यागुरु | पं० अमृतलाल शास्त्री | ४१ |
| गम्भीर अध्येता | आयुर्वेदाचार्य भैया शास्त्री एवं शास्त्री परिवार | ४२ |
| विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् | डॉ० कमलेशकुमार जैन चौधरी | ४२ |
| बचपन की कुछ यादें | सौ० आभा भारती | ४३ |
| न्यायशास्त्र के तलस्पर्शी ज्ञाता | श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल | ४४ |
| स्मृति-पत्राञ्जलि | श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन | ४५ |
| असाधारण विद्वत्ताके धनी | डॉ० रतन पहाड़ी | ४६ |


## खण्ड : २ : जीवन परिचय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व


| | | |
|---|---|---|
| पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य : एक परिचय | पं० हीरालाल जैन कौशल | १ |
| उन्हें वर्णीजी का परामर्श प्राप्त था | श्री नीरज जैन | ३ |
| न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जैन | महापण्डित राहुल सांकृत्यायन | ७ |
| डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य का बहु आयामी व्यक्तित्व एवं वैदुष्य | डॉ० राजाराम जैन | १२ |
| पं० महेन्द्रकुमारजीकी मृत्यु पर 'जैनसन्देश' का सम्पादकीय | पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री | २६ |
| डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा प्रतिपादित नियतिवाद एक समीक्षा | प्रो० रतनचन्द जैन | २९ |


## खण्ड : ३ : कृतियों की समीक्षाएँ


| | | |
|---|---|---|
| तत्त्वार्थवृत्ति : एक अध्ययन | प्रो० उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य | १ |
| आचार्य अनन्तवीर्य की सिद्धिविनिश्चय टीका का वैदुष्यपूर्ण सम्पादन : एक समीक्षा | डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य | १० |
| पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के द्वारा सम्पादित एवं अनूदित षड्दर्शनसमुच्चय की समीक्षा | डॉ० सागरमल जैन | १५ |
| प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का सम्पादन : एक समीक्षा | डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी | १९ |
| डॉ० महेन्द्रकुमारजी द्वारा सम्पादित न्यायकुमुदचन्द्र | डॉ० जयकुमार जैन | २३ |
| न्यायकुमुदचन्द्र और उसके सम्पादन की विशेषताएँ | डॉ० सुदर्शनलाल जैन | २५ |
| न्यायविनिश्चयविवरण : एक मूल्यांकन | डॉ० शीतलचन्द्र जैन | २८ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | |
|---|---|---|
| अकलंकदेव विरचित तत्त्वार्थवार्तिक का सम्पादन कार्य : एक समीक्षा | डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी | ३० |
| अकलंक ग्रन्थत्रय : एक अनुचिन्तन | डॉ० कमलेशकुमार जैन | ३४ |
| विविध तीर्थकल्प एक समीक्षात्मक अध्ययन | डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल | ३८ |
| जैनदर्शन : एक मौलिक चिन्तन | श्री निर्मल जैन | ४३ |


## खण्ड : ४ : विशिष्ट निबन्ध


| | | |
|---|---|---|
| अकलंकग्रन्थत्रय और उसके कर्ता | ( अकलंकग्रन्थत्रय की प्रस्तावना ) वी० नि० २४६५ | १ |
| न्यायविनिश्चय और उसका विवेचन | ( न्यायविनिश्चयविवरण की प्रस्तावना ) वी० नि० २४७५ | ७४ |
| आचार्य प्रभाचन्द्र और उसका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड | ( प्रमेयकमलमार्त्तण्ड की प्रस्तावना ) वी० नि० २४६५ | १२६ |
| तत्त्वार्थवृत्ति और श्रुतसागरसूरि | ( तत्त्वार्थवृत्ति की प्रस्तावना ) वी० नि० २४७५ | १८५ |
| जैनदर्शन और विश्वशान्ति | ( जैन दर्शन ) | २५५ |
| तत्त्वनिरूपण | ( जैन दर्शन ) | २५८ |
| षड्द्रव्य विवेचन | ( जैन दर्शन ) | २८३ |
| नय-विचार | ( जैन दर्शन ) | ३१२ |
| अनेकान्तदर्शन की पृष्ठभूमि | ( ज्ञानोदय नवम्बर १९५० ) | ३३३ |
| अनेकान्तदर्शन का सांस्कृतिक आधार | ( ज्ञानोदय जुलाई १९४९ ) | ३३८ |
| क्या स्याद्वाद अनिश्चयवाद है ? | ( ज्ञानोदय जुलाई १९५० ) | ३४४ |
| जैन अध्यात्म | ( अनेकान्त वर्ष ९ किरण ९ ) | ३५३ |
| निश्चयनय सर्वज्ञता और अध्यात्म भावना | ( जैन सन्देश २७ मार्च १९५८ ) | ३६० |
| प्राचीन नवीन या समीचीन ? | ( ज्ञानोदय सितम्बर १९४९ ) | ३७२ |
| जैन अनुसंधान का दृष्टिकोण | ( श्रमण मई-जून १९५३ ) | ३७४ |
| सर्वोदय की साधना | ( ज्ञानोदय दिसम्बर १९४९ ) | ३७६ |
| नियतिवादी सद्दालपुत्त | ( ज्ञानोदय अगस्त १९४९ ) | ३७९ |
| श्रमण प्रभाचन्द्र | ( ज्ञानोदय सितम्बर १९४९ ) | ३८३ |
| अमृतदर्शन | ( ज्ञानोदय नवम्बर १९५० ) | ३८७ |
| जटिल मुनि | ( ज्ञानोदय अक्टूबर १९४९ ) | ३९० |
| तीर्थंकर महावीर | ( श्रमण अप्रैल १९५७ ) | ३९३ |


## खण्ड : ५ : जैनन्याय विद्या का विकास : जैनदार्शनिक साहित्य


| | | |
|---|---|---|
| जैन न्यायविद्याका विकास | डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य | १ |
| जैनदार्शनिक साहित्य | डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य | १४ |
| परिशिष्ट—स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति के पदाधिकारी | | २२ |
| सम्पादक मण्डलका परिचय | | २५ |

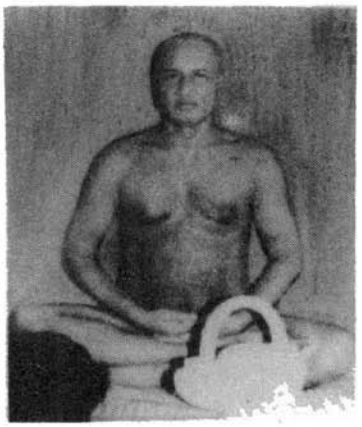

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड : १

# संस्मरण : आदरांजलि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



# राष्ट्र के सारस्वत जगत् के अग्रणी

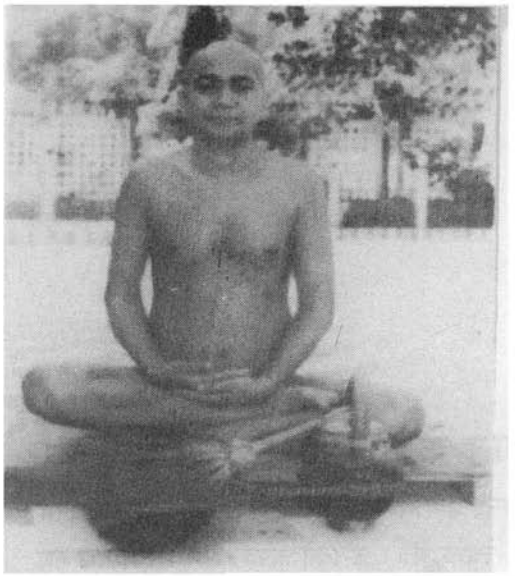
डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य प्रामाणिक विद्वान्, प्रभावी वक्ता एवं सफल लेखक तो थे ही; उनका व्यक्तित्व भी अत्यन्त सरल, निश्छल एवं सात्त्विक था। उनकी सादगी एवं विद्वत्ता का ही यह प्रकृष्ट प्रभाव था कि विरोधी विचारधारा वाले विद्वान् भी उनका प्रभूत आदर करते थे।

पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य नामके साथ स्वर्गीय शब्दकी संगति अनुचित लगती है। वे अपने क्रान्तिकारी विचारों और उच्च रचनाओंसे आज भी जीवित हैं और सदा जीवित रहेंगे। हम सन् १९४८ में तीर्थराज श्री सम्मेदशिखरजीसे लौटते हुए वाराणसी उतरे थे। हम उस समय क्षुल्लक थे। हमारे साथ कोल्हापुरके महास्वामी लक्ष्मीसेन भट्टारकजी थे। उस समय हमारा समयसार-कलशका स्वाध्याय चल रहा था। स्वाध्यायमें पं० महेन्द्रकुमारजी भी सम्मिलित होते थे। लगभग पन्द्रह दिन तक हमें उनका सान्निध्य मिला था। इस कालमें हमें उनके विविध विषयक वैदुष्य और क्रान्तिदर्शी विचारोंका जो परिचय प्राप्त हुआ, उससे हमें यह विश्वास हो गया था कि ये राष्ट्रके सारस्वत् जगतमें अपना उचित स्थान बनायेंगे और उन्होंने अपनी प्रज्ञासे हमारे इस विश्वासको सत्य सिद्ध कर दिया। यदि वे कुछ वर्ष और जीवित रहते, तो इसमें सन्देह नहीं है कि उनकी प्रज्ञाका सौरभ राष्ट्रकी सीमाओं का अतिक्रमण करके सुदूर विदेशोंमें पहुँचा होता। उनमें ऐसे गट्स थे, उनमें ऐसी प्रतिभा थी।

ऐसे महामनीषीकी स्मृतियोंको संजोकर उनके गुणों, विद्वत्ता एवं गरिमापूर्ण कार्योंसे समाज एवं राष्ट्रको परिचित करानेका जो पावन संकल्प आप लोगों ने लिया है; तदर्थ हमारा बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद है।

**आचार्य विद्यानन्दजी महाराज**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



# माँ सरस्वती के वरदपुत्र

कोटि जन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिनमांहि, त्रिगुप्ति ते सहज टरैं ते॥

विद्वद्वर्य्य श्री महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यका स्मृति ग्रन्थ प्रकाशनका समाचार श्री बाबूलालजी फागुल्लसे ज्ञात होते ही दिमागमें एक लहर सी उठ आई, आखिर यह क्यों ? सोचा इसमें गलत है ही क्या ? ज्ञानी, जिनवाणीका अनुरागी उसका स्मरण अरहंतदेवकी दिव्यदेशनाका स्मरण है। अतः यह तो होना ही चाहिये। माँ सरस्वतीके पुत्र श्री महेन्द्रकुमारजी ने अपनी आयुके अल्पवर्षोंमें ही न्याय जैसे जटिल विषयके ग्रन्थोंका सम्पादन कर जैनदर्शनकी महत्ताको गौरवान्वित किया है। स्मृति-ग्रन्थके माध्यमसे आपकी जैनदर्शनके प्रति समर्पणकी भावना युग-युग तक स्मरणीय बनेगी। और स्वाध्याय प्रेमियोंके लिये उनका अद्भुत श्रम अनुकरणीय बनेगा। स्मृति-ग्रन्थके प्रधान सम्पादक श्री दरबारीलालजी कोठिया एवं समस्त सम्पादक मण्डलको मेरा आशीर्वाद है। आगे भी इसी प्रकार ज्ञानियोंका स्मरण करते हुए जिनागमकी प्रभावना करते रहें।

**आचार्य श्री भरतसागरजी महाराज**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



# अपूर्व साहित्य सेवी

डॉ० महेन्द्रकुमारजीका अध्ययन बहुत गम्भीर और विशद था, अपनी प्रखर प्रतिभा और अप्रतिहत मेधाके बल पर उन्होंने जो पाण्डित्य अधिगत किया था, वह वस्तुतः आदर की वस्तु है, सभी अध्येताओंके लिए महान् आदर्श है, भारतीय धर्म, दर्शन, न्याय शास्त्रोंके आप प्रकाण्ड विद्वान् थे, प्राकृत, संस्कृत जैसी प्राचीन भाषाओं पर आपका असाधारण अधिकार था। आपने अपने छोटे-से जीवनकालका प्रतिक्षण ज्ञानकी आराधना हेतु उपयोग किया है। ज्ञानकी गम्भीरता, विषयकी विशदता और भाषाकी सहज सुबोधता डॉ० सा० की साहित्य साधनाके त्रिभुज हैं,। आपके ग्रन्थ, आलेख, सम्पादित रचनाएँ आज भी अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। उनके कार्यको आगे बढ़ाने वाले अभी भी दुर्लभ ही है। उनकी समर्पित सरस्वती आराधना आज भी समाजको विकास एवं प्रगतिकी प्रेरणा दे रही है। उनकी साहित्य सेवा अनुपम है। ऐसे मनीषीकी स्मृतिमें प्रकाशित स्मृति-ग्रन्थ ज्ञान प्रदीप बन अन्य साहित्याराधकों एवं वाणी साधकोंका पथ आलोकित करेगा। सम्पादक मण्डल एवं प्रकाशन समितिको हमारा शुभाशीष है।

**उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराज**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## पूर्वाग्रह मुक्त विचार के धनी

पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य अपने विषयके आचार्य हैं और तदुपरान्त खूब परिश्रम-शील और अध्ययनरत अध्यापक हैं। आधुनिक अन्वेषणात्मक और तुलनात्मक दृष्टिसे विषयों और पदार्थोंका परिशीलन करनेमें यथेष्ट प्रवीण हैं। दार्शनिक, सांप्रदायिक और वैयक्तिक पूर्वाग्रहोंका पक्षपात न रखकर तत्त्व विचार करनेकी शैलीके अनुगामी है।

श्रावणशुक्ला पंचमी सं० १९९६

**मुनि श्री जिनविजयजी**



## स्याद्वाद विद्या के प्रकाशस्तम्भ

डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके स्मृति-ग्रन्थके प्रकाशनके समाचार से प्रसन्नता होना स्वाभाविक है। वस्तुतः यह कार्य बहुत पहले हो जाना चाहिए था। जैनधर्म, दर्शन, न्याय जैसे विषय तथा इनके दुर्लभ और कठिन साहित्यको सहज, सरल और बोधगम्य आधुनिक वैज्ञानिक शैलीमें प्रस्तुत करके डॉ० सा० ने भारतीय साहित्य और संस्कृतिकी महत्त्वपूर्ण विधाकी सेवा की है। उनके द्वारा सम्पादित एवं मौलिक ग्रन्थ ऐसे कीर्ति स्तम्भ हैं जो युगों-युगों तक उनकी स्मृति-का यशोगान कराते रहेंगे। स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति और सम्पादक मण्डलको हमारा इस कार्य के लिए शुभ-आशीर्वाद है, क्योंकि उन्होंने डॉ० सा० की साहित्य साधनाके योगदानके मूल्यां-कनका सुअवसर साहित्य जगत्को दिया।

**आर्यिका स्याद्वादमती माताजी**

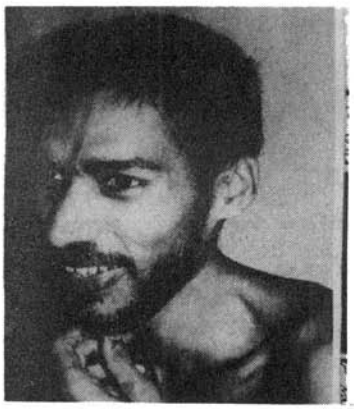
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



## परम्परा और आधुनिकता के संगम

पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके साहित्य और आलेखोंके अध्ययनसे ऐसा लगता है कि वे सदा समसामयिक हैं। उन्होंने जहाँ जैनधर्म और दर्शनके महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थोंका उत्कृष्ट सम्पादन करके परम्पराकी रक्षा की है वहीं उन्होंने अपने सम्पादकीय और समसामयिक आलेखों द्वारा जैनधर्म दर्शनको वैज्ञानिक शैलीमें प्रस्तुत करके आधुनिकताका भी परिचय दिया है और अनेक पीढ़ियोंको उस अमृतज्ञान से लाभान्वित किया है। मेरी यही भावना है कि जैन समाजमें ऐसे अनेक विद्वान् हों ताकि जैनधर्म-दर्शनके महत्त्वसे सम्पूर्ण जगत् परिचित हो सके। मेरा शुभाशीष आप सभीके सदा साथ है।

**मुनि श्री सुधासागरजी महाराज**



## आशीर्वाद

न्यायशास्त्रके प्रसिद्ध विद्वान् पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यका स्मृति-ग्रन्थ निकल रहा है। यह उत्तम कार्य है। उनके द्वारा तत्त्वार्थवार्तिक आदि कई ग्रन्थोंका नई शैली एवं वैज्ञानिक पद्धतिसे सम्पादन हुआ है। उनके साथ अनुसन्धान पूर्ण प्रस्तावना, परिशिष्ट-आदिका संयोजन कार्य भी किया गया है, जो अनुसन्धित्सु पाठकों के लिए बड़ा ही उपयोगी है।

इस सार्थक प्रयत्नके लिए हमारा आप सबको आशीष है।

**मुनि श्री क्षमासागरजी महाराज**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



# साहित्य के मेरु शिखर

अज्ञानतिमिराच्छन्न संसारको अपनी ज्ञानगरिमाके द्वारा आलोकित करने वाले महामनीषी विद्वद्वर्य पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य के समान जैनजगत्में विरले ही विद्वान् हुए हैं। प्राचीन परिपाटीके चिरन्तन सत्यान्वेषणके अनुपम तत्त्वानुसंधान में तत्पर पं० जी के व्यक्तित्व व कृतित्व से कौन सहृदय व्यक्ति आकृष्ट एवं सश्रद्ध नतमस्तक नहीं होगा।

पं० जी जैनदर्शन, न्याय, धर्म व साहित्यके अद्वितीय 'मेरुशिखर' थे। उनका पांडित्य प्रभावपूर्ण व तलस्पर्शी ज्ञानसे ओतप्रोत था। उनका संपूर्ण जीवन ही माँ जिनवाणी सरस्वतीकी सेवामें समर्पित हुआ। जैनदर्शन, धर्म तथा संस्कृतिके उत्थानमें पं० जी का जो 'न भूतो न भविष्यति' वाला अनुपम योगदान है, वह श्रमण-संस्कृति के इतिहासमें सदा अमर रहेगा।

॥ इति भद्रं भूयात् ॥ वर्धतां जिनशासनं ॥

**स्वास्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी, मूडबिद्री**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# दर्शनशास्त्र के महान् विद्वान्

• सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री

न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीके विषयमें हम क्या लिखें। इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि जैन समाजमें दर्शनशास्त्रके जो भी इने-गिने विद्वान् हैं उनमें ये प्रथम हैं। इन्होंने जैनदर्शनके साथ सब भारतीय दर्शनोंका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया है। इन्होंने ही बड़े परिश्रम और अध्ययनपूर्वक स्वतन्त्र कृतिके रूपमें जैनदर्शन ग्रन्थका निर्माण किया है। एक ऐसी मौलिक कृतिकी आवश्यकता तो थी ही, जिसमें जैनदर्शनके सभी दार्शनिक मन्तव्योंका ऊहापोहके साथ विचार किया गया हो। हम समझते हैं कि इस सर्वांगपूर्ण कृति द्वारा उस आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। अतएव पं० महेन्द्रकुमारजी का जितना आभार मानें, थोड़ा है।
–जैनदर्शन ( अपनी बात ) १९५५

# सम्पादन कला के आचार्य

• सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

पण्डित महेन्द्रकुमारजी अपने विद्यार्थी जीवन से ही बड़े प्रतिभाशाली थे।

जैन न्यायका आज उन जैसा अधिकारी विद्वान् कोई दृष्टिगोचर नहीं होता जो उनका भार संभालने की योग्यता रखता हो। दर्शनके प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थोंका उन्होंने पारायण कर डाला था। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, बौद्ध सभी दर्शनोंके ग्रंथ उनके दृष्टिपथसे निकल चुके थे और सम्पादन कलामें तो वह आचार्य हो गये थे। दिगम्बर जैन समाजमें आज उन जैसा न कोई दार्शनिक है और न संपादक।

प्रत्येक व्यक्तिमें गुण भी होते हैं और दोष भी। पं० महेन्द्रकुमारजी में दोनों थे, किन्तु उन जैसा अध्यवसायी, उनके जैसा कर्मठ और उनके जैसा धुनका पक्का व्यक्ति होना कठिन है। उनके जीवनका एकमात्र लक्ष्य था—"स्वकार्यं साधयेत् धीमान्" बुद्धिमानका कर्त्तव्य है कि अपने कार्यको सिद्ध करे। यही उनका मूल मंत्र था। उन्होंने अपने इस मूल मंत्रके सामने आपत्तियों/विपत्तियों की कभी परवाह नहीं की।
–जैनसन्देश २८ मई १९५९

# दार्शनिक चिन्तन के मनीषी

• प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी संघवी

"पं० महेन्द्रकुमारजीके साथ मेरा परिचय छह सालका है। इतना ही नहीं बल्कि इतने अरसेके दार्शनिक चिन्तनके अखाड़ेमें हम लोग समशील साधक हैं। इससे मैं पूरा तटस्थ्य रखकर भी निःसंकोच कह सकता हूँ कि पं० महेन्द्रकुमारजीका विद्याव्यायाम कम-से-कम जैन परम्पराके लिए तो सत्कारास्पद ही नहीं अनुकरणीय भी है। प्रस्तुत ग्रन्थका बहुश्रुतसम्पादन उक्त कथन का साक्षी है। प्रस्तावनामें विद्वान् संपादकने अकलंकदेवके समयके बारेमें जो विचार प्रकट किया है, मेरी समझमें अन्य समर्थ प्रमाणोंके अभावमें वही विचार आन्तरिक यथार्थ तुलनामूलक होनेसे सत्यके विशेष निकट है। समयविचारमें संपादकने जो सूक्ष्म और विस्तृत तुलना की है, वह तत्त्वज्ञान तथा इतिहासके रसिकोंके लिए बहुमूल्य भोजन है।''' मैं पंडितजी की प्रस्तुत गवेषणापूर्ण और श्रमसाधित सत्कृतिका सच्चे हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ, और साथ ही जैन समाज, खासकर दिगम्बर समाजके विद्वानों और श्रीमानोंसे भी अभिनन्दन करनेका अनुरोध करता हूँ। विद्वान् तो पंडितजीकी सभी कृतियोंका उदारभावसे अध्ययन-अध्यापन करके अभिनन्दन कर सकते हैं।

( दर्शन और चिंतन पृ० 481, 475 से )

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# एक प्रकाशमान नक्षत्र

• पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री

मैं अपनी शिक्षा समाप्त करके, कटनीके दिगम्बर जैन विद्यालयमें प्राध्यापकके पद पर नियुक्त होकर कार्य करने लगा था। एक बार पर्यूषण पर्वमें मैं खुरई समाजके द्वारा आमंत्रित था। खुरईमें एक सरकारी कन्याशालाके प्रधानाध्यापक मास्टर कन्छेदीलालजी अच्छे अनुभवी विद्वान् थे। मेरे पिताजीके साथ उनके सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध थे, उन्होंने यह परिचय कराया कि एक बालक बीनाके जैन विद्यालयमें अध्ययन करने वाला यहाँ आया है, और वह आपसे मिलना चाहता है।

वह आया। उसके मिलनेके बाद मुझे यह पता चला कि इनका नाम महेन्द्रकुमार जैन है, और ये इस समय जैन न्याय मध्यमाकी परीक्षाकी तैयारी कर रहे हैं। मुझे उनसे दो-चार प्रश्नोंके उत्तर मालूम कर संतोष हुआ कि यह बालक बहुत होनहार और बुद्धिमान् है।

कालक्रमसे ये अपने अध्ययनके लिए काशी गए और वहाँ न्यायशास्त्रमें आचार्य परीक्षा पास की। सम्भवतः ये प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने न्यायशास्त्रकी आचार्य परीक्षाके पूर्व छः खण्डोंको उत्तीर्ण किया था। मेरे साथ उनका सम्पर्क बराबर बना हुआ था। मैं उन्हें हमेशा प्रोत्साहन देता था और उनकी विद्योन्नति देखकर मुझे बड़ा हर्ष होता था।

पूज्य पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी भी जैन समाजमें अग्रगण्य चारित्रधारी महापुरुष थे। कालान्तरमें पूज्यवर्णी जीके नामसे एक ग्रन्थ प्रकाशिनी संस्थाका जन्म हुआ। उसके अध्यक्ष हमारे विद्या गुरु पण्डित बंशीधरजी न्यायालंकार थे और मैं उपाध्यक्ष था। उन दिनों पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने "जैन दर्शन" नामसे एक विस्तृत ग्रन्थ करीब ६०० पृष्ठका लिखकर तैयार किया था। वर्णी ग्रंथमालासे उस ग्रन्थको प्रकाशन करनेकी योजना बनाई थी।

पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य बीना, ग्रन्थमालाके मंत्री थे। अतः मंत्रीजीके और मेरे बीचमें यह प्रश्न खड़ा था। परन्तु ग्रन्थमालाकी आर्थिक स्थिति कुछ कमजोर थी फिर भी हम लोगोंने यह निर्णय किया कि ग्रन्थमालाकी मूलनिधि भी खर्च हो जाय तो कोई चिन्ताकी बात नहीं परन्तु इस अपूर्व कृतिका ग्रन्थमालासे प्रकाशन अवश्य होना चाहिए। इस निर्णयानुसार ग्रन्थमाला समितिने अक्टूबर १९५५ में इसका प्रकाशन किया। इस ग्रंथका सम्पादन तत्कालीन सुयोग्य विद्वान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने किया।

ऐतिहासिक दृष्टिसे भारतवर्षमें जब बौद्धोंका प्रभुत्व था और उनके तर्कपूर्ण प्रहारोंसे न्यायशास्त्रके विद्वानोंमें खलबली मच गई थी उस समय जैनदर्शनके विद्वानोंमें आचार्य समन्तभद्र और आचार्य सिद्धसेन दो समर्थ आचार्य इस प्रकारके आचार्य हुए जिन्होंने इस युगमें आनेवाले जैनधर्मके प्रति आक्षेपोंका तर्क पूर्ण भाषामें अनेकान्त शैलीमें उत्तर दिया और आक्षेपोंका निराकरण करते हुए जैनदर्शनके प्रमाण और प्रमेय तत्त्वोंकी तर्क पूर्णभाषामें स्थापना की थी।

आचार्य समन्तभद्रके जीवन कालकी यह घटना उनके आर्हत मतकी दृढ़ श्रद्धाकी परिचायिका है। जब उन्हें भस्मक व्याधि उत्पन्न हुई। तो उस समय उन्होंने अपने मुनि पदकी मर्यादाको भी गौण कर कृत्रिम रूपमें "शिवपूजक" बनकर अपने रोगका शमन किया। जब शिवजीको लगने वाली सम्पूर्ण भोग सामग्रीको वे रोग क्रमशः शांति होने पर पूरा नहीं खा सके तब उनकी कपट-स्थिति उस समयके शासकके सामने प्रकट हो गई और आदेश दिया कि तुम अपने अपराधके प्रायश्चित्त स्वरूप महादेवजीकी वन्दना करो।

आचार्य समन्तभद्रने अपने सम्यक्दर्शनकी प्रभुताके आधार पर उन्हें उत्तर दिया कि मेरा नमस्कार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरी यह मूर्ति सहन नहीं कर सकेगी। और जब उन्होंने चौबीस तीर्थंकरोंकी भक्तिमें विभोर होकर स्वयंभू-स्तोत्र" की रचना की और भगवान् चन्द्रप्रभकी भक्ति पढ़ते हुए उस मूर्तिको नमस्कार किया तो वह महादेवजीकी पिण्डी ऊपरसे फट गई और उसमेंसे उनकी जिनभक्तिकी दृढ़ताके प्रभावसे चन्द्रप्रभ भगवान्की मूर्ति प्रकट हुई। जो उनके नमस्कारको झेल सकी। इस प्रकार उनकी इस बनावटी दशामें भी उनके सम्यक्त्व-की दृढ़ताके आधार पर होनेवाली यह घटना सर्वत्र प्रकाशित हुई और लोगोंने जैनधर्मको ग्रहण किया।

यह घटना केवल कपोल कल्पना नहीं है। किन्तु यथार्थ सत्य है जिसके प्रमाण स्वरूप काशीमें आज भी वह मूर्ति "फटे महादेव" के नामसे स्थित है और बादमें यह कल्पना उसके बादके लोगोंने कर ली कि ये पहले "स्फटिकमणि" के रहे होंगे। परन्तु कालान्तरमें शब्द बोलते वे फटे महादेवके नामसे शब्दोंमें कहे जाने लगे। परन्तु यह कल्पना ही मिथ्या है। जिसका प्रमाण उस महादेवजीकी पिंडीका फटा हुआ भाग घटनाकी यथार्थ सत्यताको स्वयं प्रकट करता है।

इस प्रकार स्वामी समन्तभद्रने अपने युगमें अपनी श्रद्धा और आचरण तथा बुद्धिगत तर्क विद्याके आधार पर न केवल जैन सिद्धान्त को बल्कि उसके आचार की भी प्रतिष्ठा की। आचार्य समन्तभद्र तथा जिनभद्रगणी की सेवाओंसे उस समय जैनधर्मकी प्रतिष्ठा हुई थी।

इस युगमें काशी नगरी नैयायिकों की सुप्रसिद्ध नगरी है जहाँ पर दर्शनशास्त्रके विभिन्न मतोंके विद्वान् रहते हैं उनके परस्पर शास्त्रार्थ चला करते हैं। इस युगमें जैन विद्वानोंमें पं० महेन्द्रकुमारजी जैसे विद्वान् "प्रकाशमय नक्षत्र"के रूपमें आये जिन्होंने सभी दर्शनोंका गहरा अध्ययन किया और जैनधर्म पर किये जाने वाले विविध विद्वानोंके आक्षेपोंको अनेकान्त शैलीसे निराकरण किया। जैनतत्वकी प्रतिष्ठापना विद्वत् समाजमें की।

'जैनदर्शन' ग्रन्थमें बारह अधिकार हैं इनमें से प्रथम अधिकारमें ग्रन्थकी पृष्ठभूमि लिखी गई तथा दूसरे अधिकारमें विषय परिचय दिया गया। तीसरे अधिकारमें जैनदर्शनने भारतीय दर्शनको अनेकान्त दर्शनका परिचय कराया।

प्रत्येक धर्ममें लोक व्यवस्था तत्व, व्यवस्था अपने-अपने ढंगकी पायी जाती है साथ ही उस तत्वोंकी सिद्धिके लिए प्रमाण व्यवस्था भी सुनिश्चित रूपसे की जाती है इसलिए ग्रन्थमें भी जैनमतके अनुसार लोक व्यवस्था तथा उसमें पाये जाने वाले द्रव्यों तथा तत्वोंकी व्यवस्थाका वर्णन चार-पाँच-छः-सात अध्यायमें किया गया है। इन सबका विवेचन करने वाले प्रमाणों और नयोंका विचार आठ, नौ और दस अध्यायमें किया गया है।

इन अध्यायोंमें आर्हत मतकी मान्यताके अनुसार प्रमाणोंके आधार पर उक्त व्यवस्थाएँ तो सिद्ध की ही गई है साथ ही अन्य दर्शनोंमें की गई लोक और तत्त्व व्यवस्थाका परीक्षण भी किया गया है।

जैनदर्शनकी भारतीय संस्कृतिको यह बहुत बड़ी देन है कि इसने वस्तुके विशाल स्वरूपकी विविध दृष्टिकोणोंसे [ नयोंकी दृष्टिसे ] देखने की प्रेरणा दी है। इसलिए ग्रन्थके अन्तमें ११ और १२ अध्यायमें विश्वशांति और जैनदर्शनका सम्बन्ध स्थापित करते हुए जैन दार्शनिक साहित्यका भी परिचय दिया है।

वस्तुतः अपने छोटेसे जीवनमें पं० महेन्द्रकुमारजीने इतना बड़ा कार्य किया है। वे दार्शनिकोंकी शृंखलामें एक प्रकाशमान नक्षत्रकी तरह उदित हुए, पर शीघ्र ही अस्त हो गए इस बातका दुःख सदा रहेगा।

—कटनी, अप्रैल १९९५

१–२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## सृजनात्मक प्रतिभा के धनी

• पं० बंशीधर व्याकरणचार्य, बीना

पं० महेन्द्रकुमारजी पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने क्रमबद्ध पर्यायकी मान्यताको कल्पित कहा था। प्रत्येक वस्तुकी स्व-प्रत्यय पर्यायें क्रमबद्ध होते हुए भी स्व-परप्रत्यय पर्यायें निमित्तानुसार ही होती हैं और निमित्त एवं निमित्तोंका बदलाव क्रम तथा अक्रम दोनों प्रकारसे प्राप्त होता है। जैसे जीवकी अनादि कालसे जो स्व-पर प्रत्यय पर्यायें होती हैं वे निमित्तके अनुसार भी होती हैं और निमित्तोंके बदलावके कारण भी होती हैं।

पं० महेन्द्रकुमारजी नये चिन्तनके पण्डित थे, वे परम्परा पण्डित नहीं थे। उन्होंने १९३० में इन्दौर से न्यायतीर्थ ( दि० ) किया था और स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसीमें जैनदर्शनके अध्यापक हो गये थे। यह उनके गौरवकी बात थी। स्याद्वाद महाविद्यालयमें अध्यापक होना गौरव समझा जाता था।

उस समय विद्यालयमें शास्त्री और आचार्य कक्षाओंमें पढ़नेवाले बड़े-बड़े छात्र थे। उन्होंने भी प्राचीन न्याय लेकर न्यायाचार्य किया।

यहाँके अध्ययन-अध्यापन और सम्पादनके वातावरणको देखकर वे भी ग्रन्थ-सम्पादनके कार्यमें जुट गये। फलतः तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति, न्यायकुमुदचन्द्र, अकलंकग्रन्थत्रय, न्यायविनिश्चय-विवरण आदि ग्रन्थोंका उन्होंने वैज्ञानिक एवं नव्य पद्धतिसे सम्पादन किया। 'जैनदर्शन' जैसी स्वतन्त्र एवं मौलिक कृतिका सर्जन भी किया। अनेक शोध-खोजके आलेख भी 'अनेकान्त' आदि पत्र-पत्रिकाओंमें लिखे।

वास्तवमें पं० महेन्द्रकुमारजी एक सृजनात्मक प्रतिभाके अद्भुत धनी थे।

## परिनिष्ठित विद्वान्

• डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री

न्यायाचार्य आदि पदवियोंसे विभूषित प्रो० महेन्द्रकुमारजी अपने विषयके परिनिष्ठित विद्वान् हैं। जैनदर्शनके साथ तात्त्विक दृष्टिसे अन्य दर्शनोंका तुलनात्मक अध्ययन भी उनका एक महान् वैशिष्ट्य है। अनेक प्राचीन दुरूह दार्शनिक ग्रन्थोंका उन्होंने बड़ी योग्यतासे सम्पादन किया है। ऐसे अधिकारी विद्वान् का कृतित्व 'जैनदर्शन' राष्ट्रभाषा हिन्दीके लिए एक बहुमूल्य देन है। हम हृदयसे उनका अभिनन्दन करते हैं।

—जैनदर्शन ( प्राक्कथन ) २०-१०-५५

## अद्वितीय विद्वान्

• पं० दलसुख मालवणिया, अहमदाबाद

पण्डित श्री महेन्द्रकुमार अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने अकलङ्कग्रन्थत्रयसे प्रारम्भ करके अकलङ्कके मूलग्रन्थोंका टीकाके साथ जो सम्पादन किया है वह उन्हें अमर बनाने वाला है।

बनारस यूनिवर्सिटीमें मेरी जैनदर्शनके प्राध्यापक रूपमें नियुक्ति हुई। जब शास्त्रीके पाठ्य क्रममें जैन और बौद्ध ग्रन्थोंका अभाव सा था। अतएव मैंने यूनिवर्सिटीको निवेदन किया कि जैनदर्शनके लिए मेरी नियुक्ति है तो बौद्ध ग्रन्थोंको पढ़ानेके लिए अन्य विद्वान्की नियुक्ति जरूरी है। तब यूनिवर्सिटीमें पं० महेन्द्रकुमारजीको बौद्धदर्शनके प्राध्यापक पर नियुक्ति हुई। और हम दोनों साथी बन गए।

पं० महेन्द्रकुमारजी बड़े उत्साही थे। अतएव यूनिवर्सिटीके सब प्रकारसे संगठनोंमें उनका मार्गदर्शन अनुपम रहा है। और उनकी आकस्मिक मृत्यु भी उनके ऐसे संगठनोंमें भाग लेने पर हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# वे सदा चिरस्मरणीय रहेंगे

• स्वामी सत्यभक्त, वर्धा

डॉ० महेन्द्रकुमारजीका मुझसे घनिष्ठ परिचय था। बनारस और इन्दौरके विद्यालयोंकी सर्विस छोड़ कर जब मैं दूसरी जगह चला गया तब ये उन विद्यालयोंमें पढ़ने गये। इसके बाद मिलनेका और पत्र व्यवहारके बहुत अवसर आये। वे मुझे एक तरहसे गुरुका सम्मान देते थे। और मेरे द्वारा लिखित बहुत-सा साहित्य भी उनने पढ़ा है।

इसमें सन्देह नहीं कि महेन्द्रकुमारजी बहुश्रुत और विविध विषयोंके अच्छे विद्वान् थे। यह दुर्भाग्य है कि वे जल्दी चले गये अन्यथा समाजको उनकी बहुत जरूरत थी।

४ वर्षकी उम्रके बाद मैं दमोह निवासी बन गया। और गर्मियोंकी छुट्टीमें हर वर्ष दमोह आया करता था। इस प्रकार दमोह मेरा घर ही था। सन् १९३६ में जब मेरे पिताजीका देहान्त हुआ उसके बाद घरके रूपमें दमोहका स्थान छूट गया।

यह प्रसन्नताकी बात है कि महेन्द्रकुमारजीका सम्बन्ध दमोहसे कई तरहसे आया है। उनके जानेसे मुझे काफी दुःख हुआ है। फिर भी अपने थोड़ेसे जीवनमें जो उनने असाधारण साहित्य सेवा और समाज सेवा की है उससे वे सदा चिरस्मरणीय रहेंगे।

# उनकी विद्वत्ता विरल थी

• श्री यशपाल जैन, दिल्ली

पण्डितजीने जैन समाज तथा जैनधर्म और दर्शनकी जो सेवा की है, वह सराहनीय है। उनकी विद्वत्ता विरल थी। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व अत्यन्त यशस्वी था। वह एक ऐसे साधक थे, जिनका स्थान सदा अक्षुण्ण रहेगा।

मुझे पण्डितजीके सम्पर्कमें आनेका विशेष अवसर मिला था। उनकी सौम्यता और सादगीकी मेरे मनपर बड़ी गहरी छाप है। सच यह है कि इतने विद्वान् होते हुए भी उन्हें कभी अपनी विद्वत्ताका गर्व नहीं हुआ। वह अत्यन्त सरल और निश्छल थे। सेवा उनका धर्म था। उन्हें स्मृति-ग्रन्थ अर्पित करके भारतीय समाज उपकृत होगा।

# हार्दिक कामना

• डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री, भोपाल

पं० महेन्द्रकुमारजी मेरे निकट मित्रोंमें थे और जो कुछ भी लिखते या प्रकाशित कराते थे उसकी एक प्रति वह मुझे अवश्य भेजते थे। उनके द्वारा भेंट की हुई उनकी पुस्तक "जैनदर्शन" मेरे पास सुरक्षित है। वह न केवल जैनदर्शन, अपितु भारतीय दर्शनकी अन्य शाखाओंमें भी निष्णात थे। अनेक वर्षों तक मेरे और उनके बीच भाईचारा रहा।

आपका आयोजन सफल हो, यह मेरी हार्दिक कामना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# विनोदप्रिय महेन्द्रकुमार जी

• पं० नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर

श्री महेन्द्रकुमारजी मेरे सहपाठी थे। यह सन् १९२७ से १९२९ तक तीन वर्ष शास्त्री कक्षामें श्री महेन्द्र सिंहजी ( प्रसिद्ध आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी ) श्री वर्धमानजी शोलापुर, दक्षिणके जिनराजजी एवं नागराजजी आदि जैन बोर्डिंगमें रहकर वहीं सर हुकमचंद संस्कृत महाविद्यालय जँवरीबाग, इन्दौरमें श्री न्यायालंकार पं० वंशीधरजी, श्री पं० जीवंधरजी न्यायतीर्थ एवं श्री व्याकरणाचार्य पं० शंभुनाथजी त्रिपाठीके पास क्रमशः जैनसिद्धांत, जैन न्याय और जैन साहित्यका अध्ययन करते थे। महेन्द्रकुमारजी अत्यंत विनोदप्रिय थे। और परस्पर हासपरिहाससे तंग आकर जब कोई सहपाठी गुरुजीके पास शिकायत ले जाता तो गुरुजी का उत्तर था कि—

स्वकार्यं साधयतः नृत्यतोऽपिदोषाभावात्।

हम क्या करें महेन्द्रकुमार मेधावी और व्युत्पन्न पात्र है। उसका हम कोई अपराध नहीं मानते—

'जिन्दगी जिन्दादिलीका नाम है'।

यह उक्ति उसपर घटती है।

हमलोग प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और अष्टसहस्री आदि उच्चतम ग्रन्थोंका पंक्तिशः अर्थ लगाते थे। 'त्रिलोकसार' अलौकिक गणितका ग्रन्थ भी हमने साथ ही पढ़ा है। सर्व ग्रंथोंमें महेन्द्रकुमारजी का विशेष प्रवेश था। सन् १९२८ में बैरिस्टर चंपतरायजीने विदेशसे आकर एक माह तक हमें जैनधर्मके नोट्स लिखाये थे और परीक्षा भी ली थी, उसमें महेन्द्रकुमारजी प्रथम आए थे।

हम व्यायामशाला, जिनेन्द्रपूजा और हाकी, फुटबाल आदिमें साथ ही रहते थे। श्री मंत सरसेठ हुकमचंदजी वर्षमें दो बार व्यायामशालामें आकर हमारी कुश्ती देखते थे और हमें पारितोषिक देते थे। प्रतिदिन वायुसेवन या अन्य समय दो घण्टा संस्कृत भाषामें ही हम वार्तालाप करते थे। महेन्द्रकुमारजी सदृश महान् विद्वान्को भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्का अध्यक्ष बनाकर परिषद्को गौरवान्वित होना चाहिए था। परन्तु परिषद्के कार्यकर्ताओंने इस ओर ध्यान नहीं दिया। मुझे दुःख है कि बहुत कम उम्रमें उनका देहावसान हुआ। उसका कारण यह है कि वे अहर्निश बिना विश्राम साहित्य सेवामें संलग्न रहते थे। वे रोगोंके इलाजकी चिन्ता नहीं करते थे।

अध्ययनके बाद जब वे खुरईमें थे, मैं उनसे मिलने गया था। दूसरी बार भी मैं मेरे मित्र पंचरत्न-जोके विवाहमें उनके साथ रहा था। पत्रमें मुझे, वे भवदीयके स्थानमें अनुकारक लिखा करते थे। वाराणसी के विद्वानोंमें बड़ा प्रभाव था।

उनके प्रति मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

# सन्देश

• D. VEERENDRA HEGGADE. Dharmasthala

I am happy to note that you will bring out a commemorative Volume on Dr. Mahendra Kumar Jain. Hope it will highlight his activities and achievements.

I wish your venture all success.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# सहाध्यायी और जैन न्याय-विद्यागुरु

• डॉ० दरबारीलाल कोठिया, बीना

दि० जैन संस्कृत विद्यालय साहूमल ( ललितपुर ) में तीन वर्ष अध्ययन करके मैं वाराणसीके विश्रुत स्याद्वाद महाविद्यालयमें उच्च अध्ययनार्थ पहुँचा और वहाँ विशारद द्वितीय खण्ड एवं न्यायमध्यमा प्रथम खण्डमें प्रविष्ट हुआ। यह ई० १९२९ की बात है।

वहाँ जैनदर्शन एवं जैन न्यायका कोई अध्यापक नहीं था। दूसरे वर्ष १९३० में स्वर्गीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थकी नियुक्ति ला० मुसद्दीलालजी अमृतसरके ३०) मासिक आर्थिक सहयोगसे हो गयी। वे नये-नये थे, छात्रों पर उनका प्रभाव कम था। आप्तपरीक्षा पढ़ाते थे। उनके अध्यापनमें स्खलन रहता था, इससे हम लोग चुपचाप उनका मजाक उड़ाते थे। हम न्यायमध्यमा द्वितीय खण्ड भी पढ़ते थे, जिसमें वैशेषिक-नैयायिक दर्शनोंके सिद्धान्त थे और आप्तपरीक्षाके आरम्भमें भी वे थे। अतएव उनके स्खलन पकड़में आ जाते थे। फलतः उन्होंने १९३२ में सम्पूर्ण साहित्य-मध्यमा उत्तीर्ण कर १९३३ में प्राचीन न्याय लेकर न्यायाचार्यके प्रथम खण्डमें प्रवेश लिया। उधर हमने भी नव्य-न्याय मध्यमाके क्रमशः चारों खण्ड प्रथम श्रेणीमें १९३२ में उत्तीर्ण किये और १९३३ में प्राचीन न्याय लेकर न्यायाचार्यके पहले खण्डमें प्रवेश लिया। यद्यपि हमने पहले नव्य न्याय लिया था, पर जैन दार्शनिक ग्रन्थोंमें उसके न होने तथा प्राचीन न्याय होनेसे उसे ही अध्ययनका विषय बनाया।

इस तरह पण्डितजी और हम चार खण्ड साथ-साथ पढ़े। पपौरा विद्यालयमें अध्यापनार्थ चले जानेसे साथ न रह सका और एक वर्षका अन्तराल पड़ गया। पण्डितजी लगातार परीक्षा देते रहे और १९३९ में न्यायाचार्य हो गये और हम १९४० में हुए। इस प्रकार हम और पं० जी सहाध्यायी रहे। निःसन्देह वे प्रतिभा सम्पन्न थे।

इसके साथ हम उनके पास जैनदर्शन पढ़ते थे। जैन न्यायमध्यमा और दि० जैन न्यायतीर्थकी परीक्षाएँ उन्हींके पास पढ़कर दीं एवं प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्णता प्राप्त की। अतः पण्डितजी मेरे गुरु भी थे।

हमें उन दिनोंका स्मरण आता है, जब हम दोनों शीतकालमें ३ बजे रातमें उदयनाचार्यकृत न्यायकुसुमाञ्जलिके अध्ययनके लिए हनुमान घाटमें स्थित एक दक्षिणी नैयायिकके यहाँ जाते थे। वे बहुत योग्य विद्वान् थे। ४ बजे तक एक घण्टा पढ़ाते थे। बादमें दूसरे छात्र पढ़नेको आ जाते थे।

जब पण्डितजी स्याद्वाद महाविद्यालयको छोड़कर महावीर विद्यालय बम्बई पहुँचे, तो कुछ दिनों बाद उन्होंने हमें एक पत्र लिखा कि 'अपनी दुकान होती, तो मैं उसका मालिक होता।' यह पत्र मैंने श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारको दिखाया। उन्होंने उत्तर देनेको कहा। मैंने उन्हें लिखा कि 'आप वीर-सेवा-मन्दिर में आ जाइए।' उनकी स्वीकृति भी आ गयी। पर संयोगवश नहीं आ पाये।' मैं उन दिनों वीर-सेवा मंदिर, सरसावा ( सहारनपुर ) में कार्यरत था। यह १९४४ की बात है।

तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणको लेकर मेरे और उनके बीच 'अनेकान्त' में लेख-प्रतिलेख लिखे गये। किन्तु मन भेद नहीं हुआ। अन्तमें तो उसे उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण स्वीकार कर लिया था।

जैन न्यायके उच्चतम ग्रन्थोंका सम्पादन कर जो वैज्ञानिक सम्पादनकी कला प्रदर्शित की वह अद्वितीय और असाधारण है। आज वे नहीं हैं, किन्तु उनकी सम्पादित यशस्वी कृतियाँ उनके यश और प्रतिभाका गुणगान कर रही हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खतौलीमें एक संगोष्ठीमें हम दोनों पहुँचे थे। वहाँ उन्होंने एक द्रावक घटना सुनाई। बोले—'कोठियाजी, दैवकी कैसी विचित्रता है कि मसहरीके लिए एक बाँस खरीदकर लाया था। पर वह बाँस मसहरीके काम तो नहीं आया, किन्तु पत्नीकी अर्थीके हेतु वह आया। इससे लगा कि कभी-कभी पुरुषार्थ दैवके आगे घुटने टेक देता है। पंडितजीको अन्तिम समयमें डॉक्टरेट और प्रोफेसरके पदोंकी उपलब्धि हुई थी। पर वे दोनोंका उपभोग नहीं कर सके। यह दैवकी ही विचित्रता है।

## उत्कृष्ट क्षयोपशम के धनी

• डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, सागर

प्रतिभाशाली एवं उत्कृष्ट-क्षयोपशमके धनी पं० श्री महेन्द्रकुमारजीने वाराणसी पहुँचनेका अच्छा उपयोग किया। अध्ययन करने वाले छात्रोंको वाराणसी सर्वोत्तम स्थान है। यहाँ रहकर उन्होंने न्याय-शास्त्रका सर्वाङ्गीण अध्ययन कर न्यायाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। श्री सुखलालजी संघवीके सम्पर्कमें रहकर सम्पादन कलाका अनुभव प्राप्त किया और उसके फलस्वरूप सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्डका एक सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित कराया। एम. ए. परीक्षा पासकर डॉ० की उपाधि प्राप्त की।

भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना भी उसी समय हुई थी। उसके आप प्रमुख सम्पादक हुए और अपने कार्य-कालमें अनेकों ग्रन्थ सम्पादित कर तथा अन्य विद्वानोंसे सम्पादित कराकर मूर्तिदेवी ग्रन्थमालासे प्रकाशित कराये। साहित्याचार्यकी परीक्षा देनेके लिये मैं वाराणसी जाता था तब आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता होती थी।

एक बार सागरमें मध्य प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनका अधिवेशन था। उसकी दर्शन-परिषद्में विद्वानोंको आमन्त्रित करनेका दायित्व मुझपर था। उसमें पं० महेन्द्रकुमारजी को भी मैंने आमन्त्रित किया था। उसी समय मैंने भगवज्जिनसेनाचार्य विरचित आदिपुराणका अनुवाद पूर्ण किया था। भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित करानेके लिये मैंने चर्चा की तो उन्होंने स्वीकृति देते हुए कहा कि आप पाण्डुलिपि लेकर कुछ दिनोंके लिये वाराणसी आ जाइये। प्राचीन प्रतियोंसे पाठभेद लेकर आधुनिक रीतिसे सम्पादित करा देंगे। उनके कहे अनुसार मैं १८ दिन वाराणसी रहा। उस समय ज्ञानपीठका कार्यालय दुर्गाकुण्ड वाराणसीमें था। वहाँ आदिपुराणकी १२ प्रतियाँ एकत्रित थीं। अनेक विद्वानोंके साथ बैठकर मैंने पाठभेद लिये। पंडितजीने सब प्रकारकी सुविधा प्रदान की। उनकी सम्मतिसे भारतीय ज्ञानपीठने दो भागोंमें आदिपुराण प्रकाशित किया। फिर सम्पर्क बढ़नेसे मेरे अन्य ग्रन्थ—उत्तरपुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, गद्यचिन्तामणि, पुरुदेवचम्पू, जीवन्धरचम्पू, धर्मशर्माभ्युदय आदि प्रकाशित हुए। मेरा शोध प्रबन्ध "महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन" भी वहींसे प्रकाशित हुआ।

मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने मुझे सम्पादन कला सिखाकर इस दिशामें आगे बढ़ाया। पं० महेन्द्रकुमारजीके द्वारा सम्पादित राजवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति आदि अनेक ग्रन्थ दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समाजोंमें श्रद्धाके साथ पढ़े जाते हैं। वे स्पष्ट वक्ता थे। सत्य बातको कहनेमें कभी चूकते नहीं थे। अल्प आयुमें ही उनका जीवन समाप्त हो गया यह दुःख की बात रही।

उनका अभिनन्दन उनके जीवनमें नहीं हो सका। जब वे थे तब विद्वानोंके अभिनन्दनकी परम्परा नहीं चली थी। जब परम्परा चालू हुई तब तक जनता उन्हें भूल गयी। हर्षकी बात है कि पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागरजी महाराजका इस ओर लक्ष्य गया और उन्होंने जनताको सम्बोधित कर स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशनकी योजना बनवाई। इस सन्दर्भमें मेरी विनयाञ्जलि समर्पित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# प्रगतिशील विचारधारा के पोषक

• पं० बलभद्र जैन, दिल्ली

डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका स्मरण आते ही आँखोंके आगे एक भारी भरकम व्यक्तित्व उभर उठता है, जिसने कट्टर ब्राह्मण विद्वानोंको संस्कृतकी कथित नगरी वाराणसीमें अपनी प्रज्ञा और वैदुष्यसे मुग्ध और प्रभावित कर लिया था। एक बार विख्यात विद्वान् राहुल सांकृत्यायनने जैन दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाणका खण्डन कर दिया, तब न्यायाचार्यजी ने युक्ति और प्रमाणों द्वारा उसका जो उत्तर दिया, दार्शनिक जगतमें उसकी बड़ी सराहना हुई थी और राहुलजीने प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी संघवी से कहा था कि अगर यह युवा विद्वान् यूरोपमें हुआ होता तो इसे नोबिल पुरस्कार प्राप्त हुआ होता। इसकी युक्तियोंमें प्रौढ़ता है, इसके तर्कोंमें पैनापन है और इसकी विषय-प्रतिपादनकी शैली प्रभावक है।

इस घटनाके बाद तो विद्वज्जगत्में न्यायाचार्यजीने बहुत उच्च स्थान बना लिया। पं० सुखलालजी संघवी अपने समयके शीर्षस्थ जैन विद्वान् थे। उनके दो शिष्य ऐसे थे, जो प्रथम पंक्तिके विद्वानोंमें गिने जाते थे—उसमें एक थे प्रो० दलसुख मालवणिया और दूसरे थे प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य। ये दोनों ही विद्वान् बड़े उदार थे, व्यवहार कुशल थे, प्रगतिशील विचारधाराके थे, गुण-ग्राही भी थे। संभवतः इसी कारण न्यायाचार्यजी की ख्यातिसे ईर्ष्या करनेवाले कुछ लोगोंने यह उड़ा दिया कि न्यायाचार्यजी दूसरे कैम्पमें चले गये हैं, उन्होंने भी संघवीजी के व्यक्तित्वसे प्रभावित होकर अपनी मान्यता छोड़ दी है। एकबार डॉ० हीरालालजी के सम्बन्धमें भी ऐसी ही हवा चली थी। किन्तु दोनों ही बार यह मिथ्या निकला। दोनों ही विद्वान् जीवन भर निष्ठा पूर्वक प्राचीन आर्ष ग्रन्थों पर काम करते रहे। और दुरूह ग्रन्थोंको सरल और सुबोध बनानेका सतत प्रयत्न करते रहे। न्यायाचार्यजी का यह स्मृति ग्रन्थ भले ही विलम्ब से ही सही, कृतज्ञ समाजकी कृतज्ञताका सही प्रमाण है।

हमें यह गौरव अनुभव करनेका अधिकार है कि न्यायाचार्यजी हमारे जीवन-कालमें हुए और उन्होंने अपनी प्रतिभासे जैनदर्शनको चिरजीवी बना दिया।

# हार्दिक शुभकामना

• पद्मश्री बाबूलाल पाटोदी, इन्दौर

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन एक ऐसे प्रतिष्ठित विद्वान् थे कि उनकी कृतियोंका आज भी कोई मुकाबला नहीं है। आदरणीय डॉक्टर सा० ने न सिर्फ जैन वाङ्मयका अपितु बौद्ध धर्मपर भी अनुसंधान एवं शोध करके उस साहित्यका भी पूरा आलोड़न किया। अपने छोटेसे यशस्वी जीवनमें समाजने उनको परखा नहीं, वे तो ऐसे रत्न थे, जो सदियोंमें एक होते हैं। मुझे स्मरण है राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानंदजी महाराज का वर्षायोग इन्दौरमें हो रहा था, उनके प्रवचनके मध्य जब यह दुःखद समाचार आया कि श्री महेन्द्रकुमार जी नहीं रहे, कुछ क्षणोंके लिए वे अवाक् रह गये। पश्चात् करीब ४० मिनट डॉक्टर सा० की बहुमूल्य कृतियोंपर ही उन्होंने सारभूत प्रकाश डाला। मुझे आज भी याद है कि उनके शब्द थे—"जैन वाङ्मयका उदित हो रहा सूर्य राहुके द्वारा असमय डस लिया गया।"

किसी भी महान् विद्वान्के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना समाजका धर्म है। उनकी स्मृतिमें जो ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है वह पंडितजीके कृतित्वको पुनः समाजके सामने लावेगा।

मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## शुभकामना

• श्री देवकुमारसिंह कासलीवाल, इन्दौर

डॉ० महेन्द्रकुमारजी जैन न्यायाचार्य स्मृति ग्रन्थका प्रकाशन किया जा रहा है उससे अत्यंत प्रसन्नता है। डॉ० महेन्द्रकुमारजी जैन ने धर्म, समाज एवं साहित्यके क्षेत्रमें जो अपनी सेवाएं प्रदान की हैं वह प्रशंसनीय एवं सराहनीय हैं, इस अवसर पर मेरी अनेकानेक शुभकामनाएँ एवं बधाइयाँ।

## शुभकामना

• श्री निर्मलकुमार जैन सेठी

पूज्य श्री महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य जैन न्यायशास्त्रके एक उच्चकोटिके विद्वान् थे और उन्होंने जैन संस्कृतिके संवर्धनमें अपनी बहुमूल्य सेवायें अर्पित की हैं। उनकी जैन साहित्य साधनाके योगदानकी जानकारी हेतु स्मृति ग्रन्थके प्रकाशनके इस प्रयास की मैं सराहना करता हूँ।

## असाधारण विद्वान्

श्री डालचन्द्र जैन, सागर ( पूर्व सांसद )

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य समाजके उद्भट विद्वान् थे जिन्होंने माँ सरस्वतीकी अपूर्व सेवा की है। जैन साहित्य, धर्म एवं दर्शनके असाधारण विद्वान् थे। विद्वत्ताके दर्पसे वे किसी प्रकार आक्रान्त नहीं हुये। अपनी अगाध ज्ञान राशिको विविध रूपोंमें वितरित कर उन्होंने अपना बौद्धिक जीवन सार्थक किया। उन्होंने अपनी कृतियोंमें पांडित्यके साथ, उस व्यापक दृष्टिकोणको अपनाया है जो समभाव तथा अनेकान्त-का परिचायक है। न्याय एवं दर्शनके वे अधिकारी विद्वान् थे। उन्होंने सरस-सरल भाषामें जैनदर्शनके मूल सिद्धान्तोंपर अनेकों पुस्तकें लिखी हैं।

उनको अभी समाजके बीजमें और रहना था। छोटी आयुमें संसार छोड़कर चले गये जो समाज की अपूरणीय क्षति है।

ऐसे मूर्धन्य विद्वान्को मेरी सम्मानाञ्जलि समर्पित है।

## भारतीय दर्शन के तलस्पर्शी विद्वान्

• श्री ज्ञानचन्द खिन्दूका, जयपुर

डॉ० महेन्द्रकुमारजी जैन न्यायाचार्यकी गणना इस शताब्दीके मूर्धन्य विद्वानोंमें आती है। वे जैन-दर्शनके ही नहीं अपितु समस्त भारतीय दर्शनोंके तल-स्पर्शी विद्वान् थे। जैन न्याय साहित्य पर सम्पादित उनकी कृतियोंमें इसका स्पष्ट आभास मिलता है। "जैनदर्शन" नामकी उनकी मौलिक कृति उनकी असा-धारण योग्यता व विषयकी पकड़ की परिचायक है। चालीस वर्ष पूर्व लिखित इस कृतिमें इस विषयपर बड़ी गम्भीरतापूर्वक ऊहापोह किया गया है जिसकी समानतामें आधुनिक अनेक कृतियाँ उस स्तर की नहीं बन पाई हैं।

यह समाजका दुर्भाग्य ही समझिये कि ऐसी असाधारण प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् अल्पायुमें ही काल-कवलित हो गया। उन द्वारा छोड़ा गया साहित्य आनेवाली पीढ़ीको मार्गदर्शन व प्रेरणा देता रहेगा। ऐसे विद्वान्को मैं विनयपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

जिन महानुभावोंने कृतज्ञतावश स्मृति-ग्रन्थके प्रकाशनका संकल्प किया है वे साधुवादके पात्र हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# बहुमुखी प्रतिभाके धनी

• समाजरत्न साहु अशोककुमार जैन, दिल्ली
अध्यक्ष भारतवर्षीय तीर्थ क्षेत्र कमेटी

डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यकी पुण्य स्मृतिमें ग्रन्थ प्रकाशित करनेके लिए पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजीकी प्रेरणाको कार्यरूप देने पर मैं आपको बधाई देता हूँ। अपने विद्वानोंको समादृत करना भारतीय संस्कृतिकी परम्परा है। वास्तवमें हम इस रूपमें अपने उन गुरुजनोंके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं जो अपने गहन ज्ञान, चिन्तन, मनन और साहित्य-सर्जनसे मानव-समुदायका कल्याण करते हैं। आदरणीय डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य भी ऐसे ही एक सुप्रतिष्ठित मनीषी विद्वान् थे जिन्होंने अपने यशस्वी कृतित्व से धर्म, दर्शन और समाजकी भरपूर सेवा की। उनके इस उपकारको समाज कभी नहीं भुला पाएगी।

आपने लिखा है कि आदरणीय पण्डितजीके बारेमें मैं भी कुछ लिखूँ। लेकिन यह सब कुछ बहुत सहज नहीं। जो आत्मीय-जन हो और श्रद्धाका पात्र हो उसके प्रति भाव शब्दोंसे कम भक्तिसे अधिक व्यक्त होते हैं। पण्डितजीका व्यक्तित्व मेरे लिए ऐसा ही था। मैं शायद तब १०-११ वर्षका ही था जब उनके सम्पर्कमें आया और उनके उदार विचारों तथा मूढ़ विषयोंको भी सरल, सुबोध भाषामें समझानेकी तर्क संगत शैलीका कायल हो गया। मेरे बाल-मन पर उनकी जो पहली छवि अंकित हुई उसमें आश्चर्य मिश्रित श्रद्धा-भक्तिका पुट था। वे अन्य विद्वानोंसे कुछ हट कर थे।

मैं कलकत्ता कालेजमें पढ़ने चला गया। विज्ञानको विषय चुना। हर पर्युषणमें बाबूजी विद्वानोंको धर्म-चर्चाके लिए घर आमन्त्रित करते थे। मुझे भी कई वर्ष तक पण्डितजीको सुननेका सौभाग्य मिला। जैनधर्मके विषयमें उनका दृष्टिकोण अन्य पण्डितोंकी अपेक्षा उदारवादी तथा विषयोंकी विवेचना-शैली हृदय-ग्राही थी। मैं विज्ञानका छात्र था। धर्ममें तो आस्था प्रधान होती है पर विज्ञान तो हर बातको तर्ककी कसौटी पर कसता है। मेरे मनमें भी अनेक शंकाएँ थीं-विज्ञान पर आधारित। पण्डितजीने न केवल उनका समाधान किया। अपितु मेरे जिज्ञासु-मनमें यह बात बैठा दी कि जैनधर्म अत्यन्त वैज्ञानिक धर्म है।

मैं चकित था कि आइन्स्टीनने जिस "काल" को सबसे पहले अलग "आयाम" के रूपमें माना उसका उल्लेख हमारे जैनाचार्य हजार वर्ष पहले कर चुके थे और उसे उन्होंने पृथक "द्रव्य" के रूपमें माना था। आचार्य कह चुके थे कि किसी भी कार्यकी सिद्धिमें काल भी आवश्यक निमित्त कारण है। यही बात "धर्म" और "अधर्म" के बारेमें थी। न्यूटनने इनके बारेमें जो बातें प्रतिपादित कीं वे सब जैन-सिद्धान्तोंमें पहलेसे ही परिभाषित हैं। ये सारी बातें मुझे पं० महेन्द्रकुमारजीके माध्यमसे समझनेका मौका मिला जिससे एक विज्ञानका विद्यार्थी होनेके नाते जैनधर्ममें मेरी आस्था बढ़ी।

मेरी कई शंकाएँ पुरुषार्थ और भाग्य जैसे विषयोंसे सम्बन्ध रखती थीं। उन्होंने जैनदर्शनकी अनेकान्त शैलीसे तथ्योंको समझनेकी बात मुझे समझायी कि किस प्रकार परस्पर विरोधी दिखनेवाली बातोंमें भी समन्वय हो सकता है। वे शुद्ध शास्त्रीय भाषामें न कह कर सुलभ ढंगसे हमें समझाते थे। आज ऐसे विद्वानों की बहुत कमी है जो वर्तमान युवा पीढ़ी व बच्चोंको जैनधर्मके बारेमें समझा सकें। हमलोग समझते हैं कि हर प्राणीको शुभ और अशुभ दोनों कर्मोंका फल भुगतना पड़ेगा। इसलिए जो कर्म हो चुके हैं उनके बारेमें कुछ नहीं किया जा सकता और उनका फल भुगतना ही पड़ेगा। पर पण्डितजीने समझाया कि यह बात केवल अंशतः सत्य है। वास्तवमें जैनधर्ममें कर्म भाव प्रधान है और यदि भाव प्रबल है तो पिछले अशुभ



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मोंको शुभ कर्मोंमें बदला जा सकता है। पुरुषार्थमें इतनी शक्ति है कि वह भाग्यको भी बदल सकता है। यह नई दृष्टि मेरे लिए बहुत प्रेरणादायक रही।

पण्डितजी अल्पायुमें ही चले गए। उनके बारेमें पूज्य पिताजी और माताजीसे बराबर सुनता था कि उनके असामयिक निधनसे समाज और जैनदर्शनकी अपूरणीय क्षति हुई है। उनके उदार दृष्टिकोणसे मेरे माता-पिता बहुत प्रभावित थे। प्राचीन और विलुप्तप्राय जैन ग्रन्थोंके प्रकाशनके लिए बाबूजी व माताजीने जब भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना की थी तो पण्डितजीको ही उसका कार्य भार सौंपा था। वे यद्यपि कुछ ही वर्षों तक ज्ञानपीठसे जुड़े रहे पर अपनी प्रतिभा और ज्ञानसे उन्होंने ज्ञानपीठको शीर्ष साहित्यिक संस्था बनानेमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

पण्डितजी अब नहीं हैं, बस उनकी स्मृतियाँ शेष हैं पर आज भी मुझे पण्डितजी सबसे हटकर उदार विचारोंके विद्वान् प्रतीत होते हैं जिनकी बातोंसे मेरे जीवनको बहुत लाभ हुआ।

वास्तवमें पं० महेन्द्रकुमारजी का सम्पूर्ण जीवन ही ज्ञानके संचय और उसके वितरणकी प्रवाहमान मन्दाकिनीकी तरह था। इसमें जो भी नहाया, अज्ञानके कल्मषसे मुक्ति पा गया। जैन समाजकी प्रतिष्ठाको बढ़ाने वाले ऐसे ज्ञान-गौरवके प्रति मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि। उनकी स्मृतिमें प्रकाशित होने वाले ग्रन्थके पीछे उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराजकी प्रेरणा है। गुरुका आशीर्वाद सदैव कल्याणकारी होता है। मुझे विश्वास है कि बहुमुखी प्रतिभाके धनी डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यके जीवनको उद्घाटित करनेवाला यह ग्रन्थ समाजको विशेषकर युवा एवं ज्ञान-पिपासु वर्ग को निरन्तर प्रेरणा देता रहेगा।

मैं आपके इस प्रयासकी सफलताकी कामना करता हूँ।

## सरस्वती के महान् उपासक

• साहु रमेशचन्द्र जैन, दिल्ली
कार्यकारी निदेशक–टाइम्स आफ इण्डिया, दिल्ली

सोचता हूँ, विचारता हूँ कि एक फूल हर सिंगार का, बस रात भरका जीवन, संध्याके धुँधलकेमें चन्द्रोदयकी प्रथम किरणके साथ अठखेलियाँ करते हुए खिला और ऊषाकी गुदगुदाहटके साथ झर गया, पर मात्र एक रातके जीवनमें आस-पासके सारे वातावरणको सुवासित कर गया। डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यका जीवन भी कुछ ऐसा ही था। केवल ४७ वर्षकी अल्पायुमें उनकी साहित्यिक-प्रतिभाकी सुरभिने सुधी जगत्को एक छोरसे दूसरे छोर तक अपने आगोशमें ले लिया। वह सुगन्ध आज भी व्याप्त है और दर्शन तथा न्याय-शास्त्रके प्रेमियोंके मन-मस्तिष्कको सराबोर कर रही है।

मैं परम पूज्य युवा मनीषी उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराजके चरणोंमें सादर वन्दन करता हूँ कि उन्होंने एक ऐसे साहित्य-सृष्टा और दृष्टाकी पावन स्मृतिको ग्रन्थबद्ध करनेकी प्रेरणा दी और आपको बधाई देता हूँ कि आप उस उपक्रमको फलीभूत कर रहे हैं।

डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य इस शताब्दीके जैन-दर्शन और न्याय-शास्त्रके महान् विद्वान् थे। वे विलक्षण और बहुमुखी प्रतिभाके धनी थे। ज्ञान-पिपासु और विद्याके व्यसनी इस व्यक्तिका सम्पूर्ण जीवन ही ज्ञान-गरिमाकी कहानी है। पंडितजीने अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन किया, दार्शनिक ग्रन्थोंकी सरल, सुबोध भाषामें टीकाएँ कीं और मौलिक ग्रन्थोंका सर्जन कर सरस्वतीके भण्डारकी श्रीवृद्धि की। उनकी दृष्टि खोजी थी। वाराणसीके प्रख्यात स्याद्वाद महाविद्यालयमें न्यायशास्त्रके प्राध्यापकके रूपमें पंडित महेन्द्रकुमारजी को उस समयके जैनदर्शनके महान् विद्वान् पं० कैलाशचन्दजी शास्त्रीका सानिध्य मिला। सोनेमें सुगन्धकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह विद्या-व्यसनी जीवन पर अध्ययन-अध्यापनकी धार चढ़ गई और प्रतिभा निरन्तर पैनोसे पैनी होती गई। फिर तो अज्ञान-तिमिरकी न जाने कितनी परतें इस ज्ञानदीपने भेद डालीं और ज्ञान पिपासुओंका मार्ग प्रशस्त कर दिया। साहित्यके क्षेत्रमें अग्रणी संस्था भारतीय ज्ञानपीठसे पंडितजी जब जुड़े तो अपनी कुशलता और बौद्धिक प्रतिभासे उसकी कीर्तिको चार चाँद लगा दिए।

न केवल जैन समाज बल्कि सम्पूर्ण साहित्य जगत् इस विद्वान् मनीषीको उसके अमर कृतित्वसे सदैव याद रखेगा। आपका स्मृति ग्रन्थ उन सब व्यक्तियोंके जीवनको प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्रदान करेगा जो माँ सरस्वतीकी वीणाके तारोंसे झंकृत है। आपके इस सुप्रयासके लिए मेरी समस्त शुभकामनाएँ हैं। अन्तमें इस वन्दनीय व्यक्तित्वके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए ज्ञान-सूर्यको पुनः प्रणाम करता हूँ।

## असाधारण व्यक्तित्व के धनी

• श्री सुबोधकुमार जैन, आरा

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य स्मृति ग्रन्थका प्रकाशन, एक ऐसे कर्मठ और विद्वत्वर व्यक्तिकी स्मृतिको संजोकर रखनेका निर्णय है, जिसका जैन समाज ही नहीं अपितु भारतवर्षके विद्वत् समाजमें भरपूर स्वागत होगा।

इनकी मौलिक रचनाएँ और भारतीय ज्ञानपीठके उदयकालमें इनके द्वारा भारतीय ज्ञानपीठकी नींव को मजबूत बनानेका प्रयास कभी भुलाया नहीं जा सकेगा।

४७ वर्षके अल्पायुमें इतना कुछ कर जाना साधारण बात नहीं है। वे सचमुच असाधारण व्यक्तित्व-के धनी थे।

मैं उनकी स्मृतिमें अपनी सादर श्रद्धांजलि प्रेषित कर रहा हूँ।

## अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व

• प्रो० उदयचन्द्र जैन, सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी

आदरणीय डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न और विद्वज्जगतके जाज्वल्य-मान नक्षत्र थे। आपने अपनी प्रतिभा और ज्ञानका जो विकास किया वह अनुपम तथा सबको आश्चर्य-चकित करनेवाला है। आप विद्याव्यसनी तथा सम्पादन कलामें प्रवीण थे। आपने स्याद्वाद महाविद्यालय काशीमें न्यायाध्यापक पद पर रहते हुए न्यायाचार्य परीक्षा सफलतापूर्वक उत्तीर्ण की, तथा श्री पं० कैलाश-चन्द्रजी शास्त्री, श्री पं० सुखलालजी संघवी, श्री पं० दलसुखजी मालवणिया आदि उच्चकोटिके विद्वानोंके साथ घनिष्ठ सम्पर्क होनेके कारण सम्पादन कलामें अच्छी प्रवीणता प्राप्त कर ली। भारतीय ज्ञानपीठमें जाने के पहले ही आपके द्वारा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, अकलंकग्रन्थत्रय और प्रमाणमीमांसाका संपादन और प्रकाशन हो चुका था। इससे जैन समाज तथा विद्वज्जगत्में आपकी अच्छी ख्याति हो गई थी।

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि श्रीमान् साहु शान्तिप्रसादजी तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमारानीजीने अप्रकाशित जैन वाङ्मयके संरक्षण, संशोधन, सम्पादन और प्रकाशनके लिए सन् १९४४ में काशीमें भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना की थी। और उस समय ज्ञानपीठके सफल संचालनके लिए एक योग्य संचालककी आवश्यकता थी। तब पं० जीकी योग्यता और विद्वत्तासे प्रभावित होकर साहुजी-ने पं० जीको ज्ञानपीठके संचालक पदपर नियुक्त किया था। इसके साथ ही मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमालाका सम्पा-दक तथा नियामक भी बनाया था। ज्ञानपीठमें आ जानेपर पं० जीने ज्ञानपीठकी प्रगतिके लिए बहुत परिश्रम किया और थोड़े ही समयमें ज्ञानपीठके कार्यको बहुत आगे बढ़ा दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानपीठमें पं० जी ने ही सर्वप्रथम सम्पादन कार्य प्रारम्भ किया था। आपने अपनी उच्च प्रतिभाके बलपर जैनदर्शन और जैन न्यायके अनेक दुरूह ग्रन्थोंका आधुनिक शोधपूर्ण शैलीमें विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है। आपके द्वारा सम्पादित ग्रन्थोंमें आपकी उच्चकोटिकी प्रतिभा स्पष्ट झलकती है। पं० जीके द्वारा सम्पादित ग्रन्थोंसे तथा उन ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाओंसे अनेक मौलिक तथ्योंका उद्घाटन होता है। अतः आपके द्वारा लिखित वैदुष्यपूर्ण प्रस्तावनाएँ विशेष रूपसे पठनीय, चिन्तनीय और मननीय हैं। आपके द्वारा सम्पादित ग्रन्थोंमें अधिकांश ग्रन्थ जैन न्यायके प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव प्रणीत हैं। और पं० जीके द्वारा सम्पादित अधिकांश ग्रन्थोंका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा हुआ है। जैनदर्शन तथा न्यायके अनेक उच्चकोटिके ग्रन्थोंके सम्पादनके अतिरिक्त पं० जीकी एक मौलिक कृति भी है जिसका नाम है—जैनदर्शन। इस कृतिमें जैनदर्शनके अनेक मौलिक तत्त्वोंका प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

उच्चकोटिके प्रतिभाशाली विद्वान्को अपने बीचमें पाकर जैन समाज गौरवान्वित हुई। किन्तु यह दुर्भाग्यकी ही बात है कि क्रूरकालने ४८ वर्षकी अल्प अवस्थामें ही पं०जी को जैन समाजसे छीन लिया। यदि पं०जी २०-२५ वर्ष और जीवित रहते तो आगेके जीवनमें वे अपने सम्पादन और लेखन द्वारा और भी अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक तथा सामाजिक कार्य सम्पन्न करते किन्तु सन् १९५९ में उनके असामयिक निधनसे जैन समाजको और विशेषरूपसे विद्वत्समाजकी जो महती क्षति हुई है उसकी पूर्ति ३६ वर्षका समय बीत जाने पर भी आज तक नहीं हो सकी है और न निकट भविष्यमें होने की सम्भावना है।

आदरणीय पं०जी मेरे गुरुजी तथा पथप्रदर्शक रहे हैं। मैं श्री वीर दि० जैन विद्यालय पपौरासे व्याकरण मध्यमा उत्तीर्ण करके सन् १९४० में स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीमें अध्ययनार्थ आया था। उस समय मेरे लिये यह बात विचारणीय थी कि शास्त्रीमें कौन सा विषय लिया जाय। तब पं०जीने अपनी दूरदृष्टिसे मुझे सुझाव दिया था कि किसी नवीन विषयको लेना ठीक रहेगा। अतः उनके परामर्शसे मैंने बौद्धदर्शन विषय ले लिया। और क्रमशः बौद्धदर्शन शास्त्री तथा आचार्य करनेके बाद मैंने सर्वदर्शनाचार्य भी उत्तीर्ण कर लिया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पं०जीसे मेरा घर जैसा निकटका सम्बन्ध रहा है। यही कारण है कि जब आप स्याद्वाद महाविद्यालय छोड़कर भारतीय ज्ञानपीठमें चले गये थे तब भी आवश्यकतानुसार घर पर मेरे अध्ययनमें सहर्ष सहयोग देते रहे। आपने मुझसे कह दिया था कि जब भी कुछ समझना या पूछना हो तब निःसंकोच घर आ जाया करो। इससे मुझे बौद्धदर्शनके अध्ययनमें विशेष कठिनाई नहीं हुई।

यहाँ यह भी ज्ञापनीय है कि आदरणीय पं०जी मुझसे विशेष स्नेह रखते थे और चाहते थे कि मैं उनके मार्गदर्शनमें सम्पादन कार्यका प्रशिक्षण प्राप्त करूँ। अतः पं०जीने सम्पादन कार्य सीखनेके लिए मुझे भारतीय ज्ञानपीठसे विशेषवृत्ति दिलवाई थी। उस समय पं०जी तत्त्वार्थवृत्तिका सम्पादन कर रहे थे और मैंने पं०जीके निर्देशानुसार तत्त्वार्थवृत्तिके सम्पादन कार्यमें पं०जीको सहयोग दिया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मैंने सम्पादनके समय तत्त्वार्थवृत्तिका हिन्दी सार लिखा था जो मूलग्रन्थके साथ १८३ पृष्ठोंमें मुद्रित है। इस हिन्दी सारमें तत्त्वार्थसूत्र पर श्रुतसागरसूरिका जो विवेचन है वह प्रायः पूरा संगृहीत है और संस्कृत न जानने वालोंके लिए यह बहुत ही उपयोगी है। तदनन्तर भारतीय ज्ञानपीठसे तत्त्वार्थवृत्तिका प्रकाशन होने पर उसके मुख पृष्ठपर पं०जीने अपने नामके साथ मेरा नाम भी सहायकके रूपमें दिया है। ऐसी थी पं०जी की उदारता और सदाशयता।

स्मृति ग्रन्थके प्रकाशनसे पं०जी की विद्वत्ता और कार्योंमें प्रेरणा प्राप्त होगी।

पूज्य पं०जीके चरणोंमें अपने श्रद्धासुमन समर्पित करता हुआ उनको शत-शत वन्दन करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# उत्कट मनीषा के धनी

• श्री नीरज जैन, सतना

भारतीय ज्ञानपीठके माध्यमसे जैन आगम या पुराण-ग्रन्थोंका प्रकाशन प्रारम्भ हो चुका था। ज्ञानोदय भी इस दिशामें नियमित प्रगति कर रहा था। उस समय श्रीमान् साहु शान्तिप्रसादजीने जैन पुरा-विद्याके प्रचार-प्रसारके बारेमें कोई योजना बनानेके लिये परामर्शके विचारसे कुछ विद्वानोंको कलकत्ते बुलाया था। तब भारतीय ज्ञानपीठ बनारससे ही संचालित होती थी। मैंने बनारस होकर ही कलकत्ता गया था। उस यात्रामें पं० महेन्द्रकुमारजीसे मेरा कुछ निकट परिचय हुआ। इसके पूर्व सागरमें उनसे मिलनेका और उनके अगम ज्ञानकी बानगी देखनेका अवसर मिल चुका था, परन्तु निकटता उनसे नहीं हुई थी।

तीन-चार दिनोंके समागममें अनेक विषयोंपर बहुत सी चर्चाएँ होती रहीं। साहुजी और उनके सहयोगी श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीयने एक रूपरेखा बनाकर उससे सबद्ध कुछ प्रश्न चुन रखे थे। उन्हींपर चर्चा होती रही। मूल अभिप्राय यह था कि स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रित पाण्डुलिपियोंके क्षेत्रमें दिगम्बर परम्पराकी कलाकी पृथक पहिचान दिलानेका क्या उपाय हो सकता है।

तब मैंने पहली बार पं० महेन्द्रकुमारजीके गहन पाण्डित्यकी यथार्थ झलक पहली बार देखी। कहना कठिन था कि उनकी विशेषज्ञता किस विषयमें है। वैसे तो वे जैन-न्यायके पारंगत विद्वान्‌के रूपमें जाने जाते थे, परन्तु उस यात्रामें मैंने देखा कि चर्चा चाहे साहित्य पर हो, या कला हमारी वार्ताका विषय हो, न्यायका गहन प्रकरण हो या भक्तिका सरल-सा संदर्भ हो, महेन्द्रकुमारजी उसपर अत्यन्त सटीक टिप्पणी करते थे। उनकी दृष्टि उदार थी और उन्हें देश-कालका अच्छा अध्ययन था। वे वैचारिक सहिष्णुताके पक्षधर तो थे, पर सिद्धान्तोंके प्रति उनमें कोई लचीलापन नहीं था। सिद्धान्त-रक्षाको वे जीवन-रक्षाकी तरह आवश्यक और महत्वपूर्ण मानते थे और उसपर टससे मस होनेको तैयार नहीं थे। उनमें अपनी दृढ़ मान्यताओं को, असहमत व्यक्तियोंके समक्ष, नम्रतापूर्वक कहनेकी सहज सामर्थ्य थी। "मनभेद" रहित "मतभेद" पर अडिग बने रहना शायद उनके व्यक्तित्वका सबसे चमकदार पहलू उन दिनों मैंने लक्ष्य किया।

कुछ समय बाद गुरुवर पूज्य न्यायाचार्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजके चरण-सान्निध्यमें उनके साथ कुछ समय बितानेका अवसर प्राप्त हुआ। शायद दो दिन तक अकलंकदेवके अवदानके बारेमें दोनों न्यायाचार्योंमें गहन चर्चा होती रही। न्यायका विषय मेरे लिये आज भी दुरूह है, उन दिनों तो उसका तात्पर्य समझना भी मेरे लिए कठिन था, पर, मुझे उस चर्चामें जो आनन्द आया और पण्डित महेन्द्रकुमारजी की ज्ञान-निधिकी जो चमक मैंने उन दो दिनोंमें देखी उसने मुझे बहुत प्रभावित किया। उन्होंने मेरे साथ भाई जैसा ही स्नेहपूर्ण व्यवहार किया परन्तु मेरे लिए आदरणीय और एक विलक्षण प्रतिभावाले विद्वान्‌के रूपमें मान्य रहे। बादमें प्रसंगवश दो बार मेरे घरपर भी उन्होंने आतिथ्य ग्रहण किया।

उनके द्वारा अनूदित विशाल-विशाल ग्रन्थोंकी शोधपूर्ण प्रस्तावनाओंमें जहाँ उनके तलस्पर्शी आगम-ज्ञानका परिचय मिलता है वहीं दूसरी ओर उनकी अमर मौलिक कृति "जैनदर्शन" में उनकी पैनी दृष्टि तथा देव-शास्त्र-गुरुके प्रति उनकी अडिग आस्था दिखाई देती है। मेरी ऐसी कुछ मान्यता है कि न्याय-ग्रन्थों का अनुवाद और सम्पादन महेन्द्रकुमारजीके मस्तिष्ककी सम्पन्नताका परिचायक है परन्तु "जैनदर्शन" में उनका हृदय ही धड़कता है। वह ग्रन्थ उनके ज्ञानमें से नहीं, उनकी आस्थामें से सृजित हुआ है। वह उनकी कालजयी रचना है और यदि उसका प्रचार-प्रसार युगानुरूप होता रहा तो वही कृति महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यको दीर्घकाल तक जैन-जन-मानसमें जीवित रखेगी।

बस, यही शब्द-सुमन समर्पित करके मैं उनकी स्मृतियोंको प्रणाम करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# वे उद्भट विद्वान् थे

• पं० प्रकाश हितैषी शास्त्री, देहली

डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य एक विशिष्ट विद्वान् थे। अध्ययन-मनन-लेखन एवं सम्पादन कार्यमें आपकी विशेष रुचि थी। अधिक समय तक पारिवारिक सुख साधनके अभावमें भी आपका लेखन कार्य चलता रहता था। न्याय विषयमें तो पूर्ण पारंगत विद्वान् थे। उन्होंने न्यायकुमुद, अकलंकग्रन्थत्रय, प्रमाण-मीमांसा, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, तत्त्वार्थवृत्ति, न्यायविनिश्चयविवरण, राजवार्तिक-सिद्धिविनिश्चय जैसे न्यायके उच्चकोटिके ग्रन्थोंका सम्पादन एवं हिन्दी टीका, प्रस्तावना आदि लिखकर अपनी अपूर्व ज्ञान प्रतिभाका महान् परिचय दिया था एवं जैनदर्शन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर द्वादशांगका सार उसमें आपने भर दिया था। वे चतुर्मुखी प्रतिभाके धनी थे। अनेक महत्त्वपूर्ण पदोंपर रहकर उनका विद्वत्तापूर्ण निर्वाह किया। भारतीय ज्ञानपीठके संचालक रहकर एक उच्चस्तरीय साहित्यिक पत्रिका ज्ञानोदयका सम्पादन भी किया। इस प्रकार वे देश, धर्म, समाजकी सेवामें अग्रणी रहे हैं। विद्वानोंके लिए प्रेरणा स्रोत रहे हैं।

# अटूट तेजस्वी व्यक्तित्व

• डॉ० भागचन्द्र जैन "भास्कर", नागपुर

पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य एक अटूट तेजस्वी व्यक्तित्वके धनी महाविद्वान् थे। उनका स्वाभिमान भरा पाण्डित्य, पारम्परिक विद्वत्ता भरा अगाध वैदुष्य, प्रतिभा और चिन्तनसे आपूर लेखन तथा सहयोगी मीठा व्यवहार सहाध्यायियों और समधर्मियोंके बीच ईर्ष्याका कारण बना गया था। दूरदराज खुरई (सागर, म० प्र०) में जन्मे पं० जीने अपने ही अध्यवसाय और श्रमसे जो प्रतिष्ठा पाई वह आज भी अन्य किसीके लिए दुर्लभ रही है। उन्होंने अपने संघर्ष भरे जीवनमें सिद्धान्तोंसे कभी समझौता नहीं किया। यह उनके व्यक्तित्वकी बड़ी भारी विशेषता थी।

मुझे पं० जीके पास बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयीय संस्कृत महाविद्यालयमें शास्त्राचार्यके कतिपय प्राचीन जैन-बौद्ध-न्यायके ग्रन्थोंको पढ़नेका अवसर मिला। उनकी अध्यापन शैली बड़ी आकर्षक और स्नेहिल थी। न्यायके गूढ़ पारिभाषिक शब्दोंको वे इतनी सरल शैलीमें समझा देते थे कि छात्रकी परीक्षाकी तैयारी स्वतः हो जाती थी। दुरूह विषयको सुगम बना देना उनकी अध्यापन पद्धति की अन्यतम विशेषता थी।

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओंके वे कुशल दार्शनिक अध्येता थे। उनके लेखनमें तुलनात्मक अध्ययन झलकता था। सिद्धिविनिश्चय टीका आदि जिन ग्रन्थोंका भी उन्होंने सम्पादन किया वे आज भी सम्पादन कलाके लिए मानदण्ड सिद्ध हो रहे हैं। उनकी सम्पादन शैली अनुकरणीय थी। चाहता था, इस विषयपर कुछ लिखूं पर समयाभावके कारण लिख नहीं सका। हाँ, मैंने अपने अनेक व्याख्यानोंमें इस तथ्यको उनके सम्पादित ग्रन्थोंसे उद्धरण देकर स्पष्ट अवश्य किया है कि प्राचीन ग्रन्थोंका सम्पादन किस प्रकार किया जाना चाहिए। पाठ निर्धारण तथा काल निर्णय की उनकी क्षमता बेजोड़ थी।

पं० जीके अवसान हुए लगभग पैंतीस वर्ष गुजर चुके, पर आज भी उनसे रिक्त जगह सूनी पड़ी हुई है। इस अपूरणीय क्षतिके जिम्मेदार कदाचित् हम लोग ही हैं। पण्डित परम्पराकी अक्षुण्णताका प्रश्न जिस बेरहमीसे हमारे सामने खड़ा हुआ है, उसने पं० जीके व्यक्तित्वसे कुछ सीखनेके लिए हमें मजबूर कर दिया है। काश, उनकी विद्वत्ताका कुछ अंश भी हमारी पीढ़ी ग्रहण कर लेती तो तुलनात्मक अध्ययन तथा प्राचीन ग्रन्थोंके सम्पादनमें हममेंसे अनेक लोग उनके शेष कार्यको किसी सीमा तक पूरा कर चुके होते।

उन्हें विनम्र प्रणाम कर मैं अपनी आदरांजलि व्यक्त करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# प्रखर प्रतिभाशाली

• डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

प्रोफेसर महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यका नाम स्मृति पटलपर आते ही उस साहित्यिक-दार्शनिक व्यक्तित्वकी छवि मूर्त होती है जिसने बौद्धिक जगत्में जैनधर्म और दर्शनके सम्बन्धमें प्रचलित भ्रान्तियोंका निवारण कर उसकी महनीय देनको विद्वद्जगत्के सम्मुख प्रस्तुत किया। प्रखर प्रतिभाके धनी डॉ० जैनने अपने अल्पकालीन जीवनमें धर्म, दर्शन, साहित्य, समाज और देशकी जो सेवा की है वह अनुपम है। उनका साहित्यिक अवदान सश्रद्ध अभिनन्दनीय है।

न्यायाचार्य, न्यायदिवाकर आदि पदवियोंसे विभूषित प्रोफेसर जैन अपने विषयके परिनिष्ठित विद्वान् थे। अनेक प्राचीन दुरूह दार्शनिक ग्रन्थोंका उन्होंने बड़ी कुशलतासे सम्पादन किया। न्यायविनिश्चय विवरण, प्रमेयकमलमार्तण्ड, तत्त्वार्थवृत्ति, तत्त्वार्थवार्तिक आदि गम्भीर एवं क्लिष्ट कृतियोंका सम्पादन उनके गहन अध्ययन, विषय-मर्मज्ञता और सम्पादन-कुशलताका साक्षात्कार कराता है।

महापण्डितों, दार्शनिकों और विद्वानोंके अनेकान्त और स्याद्वाद विषयक भ्रान्त विचारों की उन्होंने तीव्र आलोचना की और उनकी भ्रान्त धारणाओंको निर्मूल सिद्ध किया। उनकी पीड़ा थी कि प्रायः लोग जैनधर्म और दर्शनको साम्प्रदायिक दृष्टिसे ऊपर उठकर नहीं देखते। यह दूषित दृष्टि है। उनकी मान्यता थी कि "दर्शनके क्षेत्रमें दृष्टिकोणोंका भेद तो स्वाभाविक है, परन्तु जब वे मतभेद साम्प्रदायिक वृत्तियोंकी जड़में चले जाते हैं, तब वे दर्शनको तो दूषित कर ही देते हैं, साथ ही स्वस्थ समाजके निर्माणमें बाधक बन देशकी एकताको छिन्न-भिन्न कर विश्वशान्तिके विघातक हो जाते हैं।"

जैनदर्शन और धर्मके सम्बन्धमें प्रचलित साम्प्रदायिक संकीर्ण विचार सदैव उनकी चिन्ताके विषय रहे। अपनी सम्पादित कृतियोंकी विस्तृत प्रस्तावनाओंमें उन्होंने इनका निराकरण करनेका भरसक प्रयास किया और फिर इसी क्रममें महापण्डित राहुल सांकृत्यायनके उलाहनेसे प्रेरणा प्राप्त कर उन्होंने 'जैनदर्शन' नाम की महत्त्वपूर्ण रचना का सृजन किया। व्यापक और तुलनात्मक दृष्टिसे जैनदर्शनके स्वरूपको स्पष्ट करने वाली यह कृति अपनेमें मौलिक, परिपूर्ण और अनूठी है।

समाजमें नियतिवादके एकान्तसे प्रसारित होने वाली पुरुषार्थहीनता भी उनकी गहन चिन्ताका विषय थी। उन्होंने अपनी सबल लेखनीसे नियतिवादको दृष्टिविष कहते हुए इस मिथ्या एकान्त धारणाका प्रबल शब्दोंमें खण्डन किया। मैं उनके शब्दोंको यहाँ उद्धृत करनेका लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। 'तत्त्वार्थ-वृत्ति' की प्रस्तावनामें उन्होंने लिखा—

"यह नियतिवादका कालकूट 'ईश्वरवाद'से भी भयंकर है। ईश्वरवादमें इतना अवकाश है कि यदि ईश्वरकी भक्ति की जाय या सत्कार्य किया जाय तो ईश्वरके विधानमें हेरफेर हो जाता है। ईश्वर भी हमारे सत्कर्म और दुष्कर्मोंके अनुसार ही फलका विधान करता है। पर यह नियतिवाद अभेद्य है। आश्चर्य तो यह है कि इसे 'अनन्त पुरुषार्थ' का नाम दिया जाता है। यह कालकूट कुन्दकुन्द, अध्यात्म, सर्वज्ञ, सम्यग्दर्शन और धर्मकी शक्करमें लपेट कर दिया जा रहा है। ईश्वरवादी साँपके जहरका एक उपाय (ईश्वर) तो है पर इस नियतिवादी कालकूटका, इसी भीषण दृष्टिविषका कोई उपाय नहीं है क्योंकि हर एक द्रव्यकी हर समयकी पर्याय नियत है।

"मर्मान्त वेदना तो तब होती है जब इस मिथ्या एकान्तविषको अनेकान्त अमृतके नामसे कोमलमति नयी पीढ़ीको पिलाकर उन्हें अनन्त पुरुषार्थी कहकर सदाके लिए पुरुषार्थ विमुख किया जा रहा है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वज्ञ प्रोफेसर सा० की पीड़ा सर्वथा चिन्तनीय है कि विश्वके सम्मुख 'अनेकान्त'का आदर्श प्रस्तुत करने वाले जैनदर्शनसे ये कैसे एकान्तके स्वर उठ रहे हैं और इनसे कैसी और कितनी हानि होने वाली है, इसका किसीको अनुमान नहीं है। मर्मान्ति वेदनासे आहत होकर प्रो० जैन इन शब्दोंमें अपना 'विनम्र निवेदन' प्रस्तुत करते हैं—

"मेरा यही निवेदन है कि हम सब समन्तभद्रादि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उभयमुखी तत्त्व-व्यवस्थाको समझें। कुन्दकुन्दके अध्यात्मसे अहंकार और पर-कर्तृत्व भावको नष्ट करें, कार्तिकेयकी भावनासे निर्भयता प्राप्त करें और अनेकान्त दृष्टि और अहिंसाके पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र ही आत्मोन्नतिके असीम पुरुषार्थमें जुटें। भविष्यको हम बनायेंगे, वह हमारे हाथमें है। कर्मोंके उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, संक्रमण, उद्वेलन आदि सभी हम अपने भावोंके अनुसार कर सकते हैं और इसी परम स्वपुरुषार्थकी घोषणा हमें इस छन्दमें सुनाई देती है—

"कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानीके छिनमांहि, त्रिगुप्ति तैं सहज टरें ते॥ ४। ४॥

—पं० दौलतरामकृत छहढाला

भारतीय दर्शनोंके गम्भीर अध्येता, अनेकान्त और स्याद्वादके प्रबल पक्षधर, निर्भीक लेखक, प्रवीण सम्पादक, प्रखर दृष्टि और अद्भुत प्रतिभाके धनी उस महनीय व्यक्तित्वको मैं सश्रद्ध नमन करता हूँ।

# महान् दार्शनिक मनीषी

• श्री जवाहरलाल जैन एवं श्रीमती कैलाश जैन, भींडर

परम आगमभक्त श्रीमान् अप्राप्तवार्धक्य, महान् दार्शनिक, न्यायनिपुण, अजातशत्रु श्री पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, प्राचीन न्यायतीर्थको कौन नहीं जानता? हमने उनके दर्शन करनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त किया तथापि उस सत्पुरुषके प्रति हमारा श्रेष्ठ हार्दिक (न कि शाब्दिक) सम्मान है। क्योंकि जब जयधवला जैसे ग्रन्थराजकी पहली पुस्तक हम खोलते हैं उस महामानवका स्मरण हो आता है। इन्होंने ही तो जयधवलाजी की आद्य पुस्तकके सम्पादक होनेका सौभाग्य प्राप्त किया था। उसमें लगाये हुए न्यायशास्त्रीय बहुसंख्यक टिप्पण आपके ही हैं। गुरुजी पंडित फूलचन्द्रजी कहते थे—"मैं जयधवलाका अनुवाद करता जाता था साथ ही साथ पं० कैलाशचन्द्रजी उसे देखते जाते थे और पं० महेन्द्रकुमारजी टिप्पण लगाते जाते थे।" प्रथम पुस्तक न्यायशास्त्रीय प्रकरणसे संभृत-आपूर्ण है।

स्याद्वाद सम्बन्धी प्रकरणोंको ढूँढनेके सिलसिलेमें हमने आपका "जैनदर्शन" देखा तो आपके न्याय शास्त्रीय तलस्पर्शी ज्ञानसे हमें सम्पर्क हुआ। आप वस्तुतः अपने कालके—इस शतीके श्रेष्ठ न्यायज्ञ गिने जाने योग्य हैं। आपके सम्पादनमें कोई भी विद्वान् प्रश्नचिह्न नहीं लगाता। पूज्य १०५ महाविदुषी सुपार्श्वमतिमाताजीने राजवार्तिकका अनुवाद किया तो राजवार्तिक मूलके महेन्द्रकुमारीय सम्पादनको ही प्रामाणिकतम माना।

आपने सदा ही आर्ष कथनको ही मुख्यता दी।

हम दिवंगत प्राज्ञके प्रति "अपनी स्नेह-स्मृति-पटलकी मंजुल रेखाओं पर आपका नाम सदैव लिखे रखेंगे", यही श्रद्धाञ्जलि सम्प्रेषित करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# वरिष्ठ एवं गरिष्ठ साहित्यसेवी

• श्री शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी

डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य जैनदर्शन जगत्की महानतम विभूतियोंमें एक थे। कथितरूप से वर्तमान लौकिक अन्यायपूर्ण युगमें न्याय-दर्शन तो न्यूनतम रूपसे आध्यात्मिक क्षेत्रमें विद्यमान है ही। इस न्याय दीपके प्रकाशमें जीवनपथके लिए संबल मिलता है। जैन-न्याय-दीपकी भूमिकामें पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने बत्तीके रूपमें कार्य किया। बत्तीकी तरह वे सरस्वती माँके वैभव-प्रसारके लिए जले, तीव्र गतिसे चले और मात्र ४७ वर्षकी अल्पायुमें इस नश्वर विश्वसे चले गये। इतना काम कर गये कि न्यायका रूक्ष और सूक्ष्म विषय भी मेधावी जन-समुदायको आकर्षित करने लगा। जैनेतर दार्शनिक वर्तमान जगत्में जैन-दर्शनको यथोचित सम्मान दिलानेका उन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया। जैन-बौद्ध विद्याका एकाकी संगम यह महान् विद्याशरीरी पुरोधा युगों-युगों तक स्मरणीय रहेगा।

विश्वविद्यालयीय क्षेत्रोंमें वे अग्रणी कार्यरत रहे। न्याय एवं दर्शनके तुलनात्मक अध्ययनके वे प्रचारक-प्रसारक विद्यापुंज थे। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। लेखन, सम्पादन, अध्ययन, अध्यापन, टीका-टिप्पण आदि सभी क्षेत्रोंमें उनकी पैठ थी। 'जैनदर्शन' उनकी अमर मौलिक कृति है। पं० कैलाशचन्द्रजी का जैन-न्याय और इनका 'जैनदर्शन' दोनों चन्द्र-सूर्य की भाँति दार्शनिक आकाशमें जाज्वल्यमान प्रकाश पुंज हैं।

मुझे उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ किन्तु ऐसा लगता है कि अपनी अमर कृतियोंके माध्यमसे 'कृति शरीर' रूपमें मेरे सामने विद्यमान हैं। उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि यह होगी कि हम भी उनके समान ही परिश्रम कर उच्चसे उच्च ज्ञान-पद प्राप्त करें।

# निर्लिप्त साधक संत

• श्री सत्यंधरकुमार सेठी, उज्जैन

मैं आरम्भसे ही माननीय डॉ० साहबके जीवनसे और उनकी महान् साहित्यिक सेवाओंसे प्रभावित हूँ। कई बार मैंने उनके प्रत्यक्ष दर्शन भी किये हैं। उनके विचारोंमें जैनदर्शन और साहित्यके प्रति उच्च कोटिकी भावनाएँ थीं जिनको सुनकर मानव एक क्षणमें जैन जीवनके प्रति आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता था। वे एक उच्च कोटिके आदर्श अध्येता विद्वान् थे। जिसका स्पष्ट उदाहरण है उनके छोटेसे जीवनमें की गई माँ जिनवाणीकी सेवायें। वे न्याय शास्त्रके तो अद्वितीय विद्वान् थे ही लेकिन जैनदर्शनके अन्य विषयोंपर भी उनके अध्ययन पर गहरा अधिकार था। जिसका स्पष्ट उदाहरण है उनके द्वारा सम्पादित-मौलिक कृतियाँ।

माननीय डॉ० साहब साहित्य सेवामें जितने संलग्न थे इसका स्पष्ट प्रमाण यही है कि छोटेसे जीवनमें उन्होंने अनेक ग्रन्थोंका संपादन करके अपने व्यक्तित्वका परिचय दिया। सच कहा जाय तो वे गृहस्थ जीवनमें भी एक साधक पुरुष की तरह उनका जीवन था। उनके जीवनमें कई बाधाएँ आईं। फिर भी वे एक अटल साधककी तरह साहित्यिक सेवामें जुटे रहे। उनका जीवन निर्लिप्त साधक संतकी तरह था। ऐसे महामानव एवं आदर्श विद्वान्के प्रति हम जो भी श्रद्धा सुमन अर्पित करें। वे भी अति अल्प हैं। मेरी तो यही भावना है कि उन महाविद्वान्के पथपर चलते हुए हम भी उन्हींके अनुरूप जैनधर्म और जैन साहित्यके प्रचार और प्रसारमें अपना जीवन अर्पित करते रहें।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## उनका गुणगान ही वास्तविक श्रुत-आराधना

• पं० बालचन्द्र काव्यतीर्थ, नवापाराराजिम

आदरणीय पूज्य डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यको आज स्मरण करते हुए बरबस ही हृदय अकथनीय श्रद्धासे भर उठता है। डॉ० साहब ऐसे जाज्वल्यमान रत्न थे जिनने जैन न्याय-दर्शनको देश, विदेशमें अपनी लेखनी द्वारा पुनः स्थापित किया। उनके द्वारा जटिल एवं दुरूह ग्रन्थोंका जो सम्पादन एवं उन ग्रन्थोंकी प्रस्तावना लिखी गई हैं उससे आज सामान्य जन भी दुरूह विषयको सरलतासे समझ लेते हैं।

यह उनकी प्रतिभा की देन है कि आज वे दुरूह गम्भीर विषय पाठ्यक्रमोंमें स्थान पा सके हैं। यह डॉ० साहबके श्रमका ही फल है कि हमें आज पूज्य आचार्य अकलंकदेवकी महिमाका बोध इनकी सम्पादित टीकाओंसे हुआ। जैनधर्मके जिज्ञासुओंके लिए उनकी कृति "जैनधर्म" ही पर्याप्त है।

समाजके नवयुवकोंके लिए डॉ० सा०का जीवन एक ज्वलंत उदाहरण है कि व्यक्ति युवा अवस्थामें 'जो ठानें लें' वह बन जाता है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि उस दिशामें उसकी लगन और पुरुषार्थ बराबर बनी रहे।

सरस्वती पुत्रका स्मृति ग्रंथके प्रकाशनसे अपने आपको गौरान्वित अनुभव कर रहे हैं। उनका गुणगान ही हमारी वास्तविक श्रुत आराधना है।

## न्याय-जगत्के जाज्वल्यमान नक्षत्र

• डॉ० सुदीप जैन, दिल्ली

स्वनामधन्य विद्वद्वर्य डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका 'स्मृति ग्रंथ' प्रकाशित होने जा रहा है, यह उस महान् व्यक्तित्वके अगाध पाण्डित्य एवं उज्ज्वल कृतित्वके प्रति एक विनम्र श्रद्धाञ्जलि होगी। विलम्बसे ही सही, किन्तु जैन विद्वज्जगत्ने उनकी सुध ली है—यह हर्ष का विषय है।

आप जैसे वर्तमान जगत्के विश्रुत न्यायवेत्ता मनीषीके द्वारा आदरणीय डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य सदृश बीसवीं सदीके न्यायजगत्के जाज्वल्यमान नक्षत्रके प्रति जो निष्ठा एवं सूक्ष्म परख पूर्वक उनके प्रति जो भी प्रकाशन किया जायेगा, वह अपने आपमें तथ्यपरक एवं अधिक सार्थक होगा—ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

भट्टाकलंकदेव प्रणीत 'सिद्धिविनिश्चय' एवं 'न्यायविनिश्चय' जैसे गूढ़ एवं गम्भीर न्याय ग्रंथोंका हार्द डॉ० महेन्द्रकुमारजी की विशद प्रस्तावनाओंके अध्ययन के बिना समझ पाना अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होता है। सम्पूर्ण जैनजगत् कि वे अमूल्यनिधि थे। यद्यपि मुझे डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके प्रत्यक्ष दर्शनोंका सौभाग्य कभी नहीं मिला, किन्तु उनके गरिमामयी कृतित्वके अवलोकनसे उनके आक्षितिजविस्तीर्ण व्यक्तित्व एवं ज्ञानगरिमाका भलीभाँति बोध होता है।

वर्तमान प्रसंगमें उन जैसे महान् विद्वान्के प्रति वास्तविक विनयांजलि यही होगी कि हम उनके अनुपलब्ध प्रायः कृतियोंको, तथा यदि कोई उनके द्वारा लिखित/संपादित/अनूदित कृति हो, तो उसको भी प्रामाणिक रूपसे डॉ० साहबकी गरिमाके अनुरूप प्रकाशित कराया जाय एवं उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्वका विशद अनुशीलनपूर्वक उसे भी पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाये।

इस सुअवसर पर मैं भी उन महान् न्यायविद् विद्वद्वरेण्यके प्रति अपनी विनम्र प्रणामाञ्जलि प्रस्तुत करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# जो सदा चमकते रहेंगे ?

• पं० सागरमल जैन, विदिशा

जैन साहित्य, इतिहासकी श्रीवृद्धि करनेवाले भी अपने पीछे जो छोड़ गये वह धरोहर आज उन्हें जीवित रखे हुए है, उन्हींमें से एक हैं डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य। ४७ वर्षके जीवन कालमें जितना दे गये उस धरोहरको ये समाज-शास्त्र भण्डार इतिहासके रूपमें सदा स्मरण करती रहेगी, पूज्य उमास्वामी एवं अकलंकदेवके श्रीचरणोंमें जिनने भी श्रद्धा सुमन अर्पित किये हैं, वे स्वयं ही अमर हो गये। इस शताब्दीमें जैनदर्शन पर जितना शोधपूर्ण साहित्य जिनके द्वारा दिया गया है उनमें प्रमुखतासे न्यायाचार्य डा० महेन्द्र-कुमारजी का नाम सर्वोपरि है। इस खोये हुये महा विद्वान्को पुनः समाजमें लानेका श्रेय परमपूज्य उपाध्याय मुनिवर ज्ञानसागरजी महाराजश्री को है।

मैं अपने जीवनकालमें उनके दर्शन नहीं कर पाया किन्तु उनके द्वारा दिये गये दर्शन शास्त्रोंका सरलतासे अध्ययन करनेका अवसर अवश्य मिला। ऐसे महामानवके प्रति श्रद्धा सुमन अर्पित करते समय मैं अपनेको धन्य मान रहा हूँ।

# न्यायशास्त्र के अद्वितीय विद्वान्

• सिंघई सुमेरचन्द्र, जबलपुर

पं०जी बुंदेलखण्डकी महान् विभूति थे। उन्होंने न्यायविद्याके विषयपर पाण्डित्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था और अपनी लेखनीसे जिन ग्रंथोंका सम्पादन किया था वह अभूतपूर्व था। उनकी तर्कणा शक्ति इतनी प्रबल थी कि बड़े-बड़े विद्वान् भी लोहा मानते थे। ऐसे मनीषीके प्रति अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

# सादा जीवन और उच्च विचार के धनी

• श्री महेन्द्रकुमार मानव, छतरपुर

यह मेरा सौभाग्य रहा है कि मुझे अपने जीवनमें विद्वानों, महापुरुषों, राजनेताओं, त्यागियों एवं तपस्वियोंसे मिलनेका अवसर मिला है। पं० महेन्द्रकुमारजीसे भेंट वाराणसीमें उनके घर पर ही हुई थी। जैन न्यायपर पंडितजीके अवदानकी तुलना किसी अन्यसे नहीं की जा सकती। वह अतुलनीय है। जैन न्याय-पर पण्डितजी ने जिन ग्रन्थोंकी रचना की हैं उन्हें देखकर यह सहज विश्वास नहीं होता कि यह समग्र एक विद्वान्का कृतित्व है। प्रत्येक व्यक्तिके साथ घर गृहस्थीकी झंझटें तो रहती ही हैं इन सबके बावजूद पण्डित जीने जैन न्यायके अनुशीलनके लिए कितने रात्रि जागरण किए होंगे इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। जैन विद्याके अध्ययनके लिए पूज्य वर्णीजीने वाराणसीमें स्याद्वाद विद्यालय न खोला होता तो इधर वर्षोंमें जैन विद्याकी जितनी प्रगति हुई है वह न हुई होती। जैन विद्याको आगे बढ़ानेमें बुन्देलखण्डके छात्रोंने जो योगदान किया है वह भी स्मरणीय है। पूरे भारतकी जैन समाजके लिए बुन्देलखण्डने जितने जैन पण्डित दिए हैं उनकी संख्या प्रचुर है। उनमें पं० महेन्द्रकुमारका नाम शीर्षपर है।

विद्वत्ताके साथ पण्डितजी की विनम्रता स्पृहणीय थी। अपनी मिट्टीसे उनको बहुत लगाव था। बुन्देलखण्डका कोई शोधार्थी उनके पास पहुँच जाता तो पण्डितजी अपने स्नेहसे उसे अभिसिंचित कर देते। पण्डितजी सादा जीवन उच्च विचारमें विश्वास रखते थे। ऐसे महामनाके प्रति विनम्र श्रद्धाञ्जलि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## इस शताब्दी के महान् विद्वान्

• श्री राजकुमार सेठी, कलकत्ता

डॉ० महेन्द्रकुमार जैनने न्यायशास्त्रमें दुरूहसे दुरूह ग्रन्थोंका सम्पादन कर जो महान् कार्य किया है उसके लिए उनके प्रति जितनी भी कृतज्ञता ज्ञापित की जाय वह कम ही होगी। वे इस शताब्दीके महान् विद्वानमें से थे। ऐसे विद्वान्को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके स्मृति ग्रन्थकी सफलताके लिए कामना करता हूँ।

## शुभकामना

• डॉ० शशिकान्त जैन, लखनऊ

डॉ० महेन्द्रकुमारजी पिताजी ( डॉ० ज्योतिप्रसादजी जैन ) के मित्र थे और उन्हें गुरुवत् सम्मान एवं श्रद्धा देते थे। उसी माध्यमसे मेरा भी उनसे अप्रत्यक्ष परिचय था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैन-दर्शनके प्राध्यापकके रूपमें उन्होंने विशेष ख्याति प्राप्त की थी। उनकी अध्ययनशीलता और सरलताने मुझे आकर्षित किया था। ग्रन्थके सफल प्रकाशनके लिए मेरी शुभकामना है।

## महान् विभूति को शत-शत नमन

• श्री सुभाष जैन, दिल्ली

डॉ० महेन्द्रकुमारजीके दर्शनोंका सौभाग्य मुझे नहीं मिला, किन्तु उनके कार्यसे उनकी प्रतिभाका अनुमान लगाया जा सकता है। डाक्टर साहब इस पीढ़ीके ऐसे विद्वान् थे जिनके समक्ष चिन्तन और रचना-के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं था। उन्होंने जो भी कार्य किया वह समर्पित भावनासे किया।

आजके युगमें जब आगमको लेकर तरह-तरहकी भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं इस प्रकारकी सभी धारणाओंका निवारण उन्होंने किया है। समाजको उनके सान्निध्यकी अधिक आवश्यकता थी, किन्तु क्रूर कालने हमसे वह प्रतिभा असमय ही छीन ली। उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी कि विद्वत् वर्ग उनके अधूरे कार्योंको पूरा करे। इस महान् विभूतिको शत-शत नमन।

## सरस्वती के उज्ज्वल प्रकाशमान पुञ्ज

• पं० गुलाबचन्द्र 'पुष्प' प्रतिष्ठाचार्य, टीकमगढ़

कौन विश्वास कर सकता था कि इस महान् व्यक्तिका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली, प्रज्ञापारगामी होगा। चरितार्थ है "होनहार विरवानके होत चीकने पात" आपने अकथ परिश्रम, श्रद्धा, लगनके साथ अध्ययन कर न्यायाचार्यकी परीक्षामें उत्तीर्णता प्राप्त की तथा न्यायशास्त्र एवं जैनदर्शनके अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन किया जो श्लाघनीय है।

आप अनेक प्रतिभाके धनी, समाजके गौरव थे। संभवतया आप दीर्घायु पाते तो जैनदर्शनका आपसे बहुत प्रसार प्रचार होता। फिर भी आपने समाजको बहुत दिया और समाज आपका चिरऋणी रहेगा। आप सरस्वती माताके प्रकाशमान पुञ्ज एवं चलते फिरते सचेतन न्यायालय थे। हम विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

सूरतसे कीरत बड़ी बिना पंख उड़ जाय।
सूरत तो जाती रहे पर कीरत कभी न जाय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# उच्चकोटि के विद्वान्

• श्री चेतनलाल जैन, डालमियानगर

ई० सन् १९३०में करीब १६ वर्षकी आयुमें संस्कृत अध्ययन हेतु मैं स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयमें पहुँचा। सब कुछ अनजान एवं अपरिचित होनेसे मन बड़ा विकल था। घरसे चल तो दिया पर तरह-तरहके विकल्प मनमें आ रहे थे। परिवारजनोंने इतनी दूर जानेसे बहुत रोका, पर संस्कृत पढ़नेकी धुनमें किसी की नहीं सुनी और अकेला ही बनारस विद्यालयमें पहुँच गया, संस्कृत शिक्षा प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषाका कारण था जैन आगमका ज्ञान प्राप्त करना जो कि संस्कृत भाषाके जाने बिना सम्भव नहीं था, ऐसी मेरी मान्यता रही। विद्यालय पहुँचने पर वहाँके अध्यापकों, अधिकारियों एवं छात्रोंका व्यवहार देखकर सब विकल्प शान्त हो गये। जहाँ तक याद है उस समय विद्यालयमें श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी धर्माध्यापक, पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाध्यापक, पं० मुकुन्दजी शास्त्री साहित्याध्यापक एवं पं० सदाशिवजी व्याकरणाध्यापक रहे।

प्रथमामें प्रवेश मिला और आदरणीय गुरुजनोंसे अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। सभी गुरुजनोंका व्यवहार छात्रोंके प्रति सौहार्दपूर्ण था अतः शीघ्र ही वहाँके जीवनमें रच-पच गया, जो कि मेरे जीवनका स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

अपने ६ वर्ष ( १९३० से १९३६ ) के विद्यालय निवासमें अध्ययन तो अधिक नहीं केवल न्याय प्रथमा, धर्म विशारद एवं गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज काशीकी साहित्यमध्यमा तक ही शिक्षा अर्जित कर सका। परन्तु गुरुजनोंकी कृपासे वहाँ रहकर जो संस्कार अर्जित किए वे जीवनके कंटाकीर्ण मार्गमें आज भी प्रकाश-स्तम्भके समान मार्गदर्शन कर रहे हैं।

प्रत्येक व्यक्तिमें अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं जो उसे अन्योंसे भिन्न करती हैं। आदरणीय पं० महेन्द्रकुमारजीमें सरलता, निरभिमानता एवं जीवन्तता थी। वे छात्रोंके साथ निःसंकोच खेल-कूद, तैराकी इत्यादिमें हमेशा भाग लेते रहे। उन्होंने कभी छात्रोंको ऐसा आभास नहीं होने दिया कि वे उनके गुरु हैं। वे अपने विषयके उच्चकोटिके विद्वान् थे एवं अध्यापन, लेखन एवं सम्पादनादि कार्योंमें भी उनकी अबाध-गति थी।

असमयमें ही उनके निधनसे जैन समाजको जो क्षति हुई वह अपूरणीय है। वे हमेशा मेरे श्रद्धास्पद रहे। उनके चरणोंमें मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

# बीसवीं शताब्दी के प्रकाण्ड जैन दार्शनिक

• डॉ० लालचन्द्र जैन, वैशाली

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यका जैनदर्शनके क्षेत्रमें वही स्थान है जो भट्ट अकलंकदेव का है। डॉ० साहबने जैन न्याय-दर्शनके गम्भीर शास्त्रोंका गहन अध्ययन कर उनकी सरल-सुबोध और सर्वगम्य भाषामें विवेचन कर सभीका ध्यान सम्बन्धित ग्रन्थोंकी ओर आकर्षित किया। न्यायविनिश्चयविवरण और सिद्धिविनिश्चयविवरणकी प्रस्तावनाके अध्ययनसे सम्पूर्ण भारतीय दर्शनका ज्ञान हो जाता है। उक्त ग्रंथोंकी प्रस्तावना उपन्यासकी तरह सरस, सरल, सुबोध है। 'जैनदर्शन' नामक ग्रन्थ लिख कर उन्होंने जैनदर्शन जगत् का मस्तक ऊँचा किया है। अतः उनके प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि प्रेषित कर रहा हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आशावादी बुद्धिवाद के जनक पण्डितजी

• डॉ० नन्दलाल जैन, रीवाँ

पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य मेरे स्याद्वाद महाविद्यालयीन छात्र जीवनमें साक्षात् गुरु रहे हैं। उन्होंने मुझे प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द पढ़ाये हैं। इन न्याय ग्रन्थोंके सामान्य अध्ययनसे भी व्यक्तिमें श्रद्धावादकी तुलनामें बुद्धिवाद और आगमवादकी तुलनामें हेतुवादकी मनोवृत्ति सहज हो पनपती है। पण्डितजीके 'जैनदर्शन' में और उनकी अनेक प्रस्तावनाओंमें उनमें इस मनोवृत्तिकी प्रखरताके स्पष्ट दर्शन होते हैं।

पण्डितजीने प्राचीनता और नवीनताके द्वंद्वको समाप्त करनेके लिए समन्तभद्रके 'समीचीनता' की मनोवृत्तिका नारा उद्घोषित किया है। उनके द्वारा प्रसारित बुद्धिवाद परीक्षा प्रधानी एवं विवेक जागर है। वह श्रद्धाको बलवती बनानेका एक अमोघ उपाय है।

यही नहीं, उनका बुद्धिवाद जीवनके प्रति आशावादी और उत्थानवादी दृष्टिको भी प्रेरित करता है।

हमें मानव और पशु जीवन इस योग्य बनानेका प्रयत्न करना चाहिए कि यदि हम उत्तर जीवनमें वहाँ जावें, तो हमें अनुकूल सामग्री और सुन्दर वातावरण मिले। फलतः परलोक सुधारनेका अर्थ मानव-समाजको सुधारना है। जैनोंके सम्यग्दर्शनका अर्थ यही है कि मानव तथा पशु समाजमें आये हुए दोषोंको निकालकर इन्हें सद्गुणी एवं सद्भावी बनाया जावे। इस दृश्य परलोकके सुधारके लिए उत्तम सर्वोदयकारणी व्यवस्था विकसित हो जिससे हमें स्वर्गके सुख भी न मोह सकें। यह व्यवस्था 'समीचीन' धर्मके सिद्धान्तोंके परिपालनसे ही संभव है। परलोकका अर्थ केवल व्यक्ति का मरणोत्तर जीवन ही नहीं है, हमारी संतति और शिष्य परम्परा भी परोक्ष रूपमें इसके रूप हैं। इन्हें सुसंस्कारित कर हम अपना ही नहीं, भावी पीढ़ीको भी सुखमय बना सकते हैं। पण्डितजीका प्रचण्ड आशावादी स्वरूप उनके बुद्धिवाद की ही देन है।

उनके स्वतन्त्रचेताके स्वरूपके कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। वे नयी पीढ़ीको परम्पराचेताके बदले स्वतन्त्रचेता देखना चाहते हैं। यही जैन संस्कृतिकी परम्पराको अक्षुण्णरूपसे विकसित बने रहने में सहायक होगा।

उनके अनेक आल्हादकारी और अनुकरणीय रूप अनेक व्यक्तियों द्वारा प्रकट किये गये हैं। हम सभी उनके विचारोंके अनुरूप अपने-अपने क्षेत्रोंमें आशावादी, बुद्धिवादकी मशाल जलाये रखनेमें समर्थ हों, यही परोक्ष आशीर्वाद उनसे अभीप्सित है। उनके चरणोंमें शत शत वंदन।

# शुभकामना

• पं० मल्लिनाथ जैन शास्त्री, मद्रास

यशस्वी एवं महाविद्वान् डॉ० महेन्द्रकुमारजी जैन न्यायाचार्य ऊँचे दर्जेके विद्वान् थे। वे न्यायशास्त्रके अप्रतिम प्रतिभाशाली तो थे ही। साथ ही साथ संस्कृत, प्राकृत आदि कई भाषाओंके ज्ञाता भी थे। उन्होंने अपने जीवन कालमें कठिनसे कठिन ग्रन्थोंका सम्पादन कर अपनी विद्वत्ताका परिचय दिया है।

हमारी शुभकामना यही है कि हम उनके बताये हुए मार्गपर चलें। यही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## श्रद्धा सुमन

• डॉ० दयाचन्द्र साहित्याचार्य, सागर

डॉ० श्री महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य जैनदर्शनके प्रकाण्ड विद्वान्, लेखक, प्रवचनकर्ता और प्रतिभाशाली प्रवीण प्राध्यापक थे। आपने स्वकीय कुशाग्र बुद्धिसे न्यायशास्त्रकी ग्रन्थियोंको सरलतासे विकसित कर दिया। अपनी विलक्षण शिक्षण कलासे छात्रोंके हृदयोंको प्रफुल्लित कर दिया था। आपने गृहस्थ जीवनकी कठिनाईयोंको साहस और ज्ञानबलसे पार किया। आपकी साहित्यिक, सामाजिक और शैक्षणिक सेवाएँ अनुपम एवं उल्लेखनीयके साथ ही अनुकरणीय हैं।

हम आपके प्रति कृतज्ञतापूर्वक श्रद्धासुमन समर्पित करते हैं।

## मेरी श्रद्धा के दर्पण

• सि० पं० जम्बूप्रसाद जैन शास्त्री, मड़ावरा

आदरणीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य हमारे साथी समकालीन विद्वान् थे। यद्यपि वह मुझसे उम्रमें ४।५ वर्ष ज्येष्ठ थे। उम्रमें ही नहीं ज्ञानके क्षयोपशममें भी उन्नत थे। पूतके लक्षण पालनेमें दिखाई देते हैं कि उक्ति श्री महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य जीके जीवनमें परिलक्षित होती है। आरम्भिक बालपनसे ही वह प्रतिभाशाली रहे। ज्ञानका इतना अच्छा क्षयोपशम था कि जिस वस्तु या प्रकरणको उन्होंने एक बार देख लिया जीवन भर उनके मन-मस्तिष्कमें स्मृत रूप बना रहता था। उनके जीवनके ऐसे अनेकों प्रसंग हैं जो उनकी विलक्षण प्रतिभाके प्रतीक स्मृत रूप रह गए। उन्होंने जो भी लेखन, सम्पादनका कार्य किया वह इतनी उन्नत एवं लोकोत्तर रूपमें हुआ जिससे आगे आनेवाली लाखों पीढ़ियाँ स्मृत कर कृतज्ञताका अर्घ चढ़ाती रहेंगी। मैंने आदरणीय न्यायाचार्य जीके प्रायः सभी टीका ग्रन्थोंका अध्ययन किया। पढ़ते समय मुझे अपार प्रसन्नता होती थी जब इन्होंने इसकी टीकापर अक्षरशः आचार्योंके प्रतिपाद्य विषयको सुस्पष्ट रूपमें भाषान्तर कर अपनी विशेष व्याख्यासे उसे साधित किया। यह उनके विलक्षण अपार ज्ञानकी क्षमता का प्रतीक है।

मैं महान् आत्माको अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

## न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान्

• पं० पूर्णचन्द्र जैन शास्त्री

डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य न्यायशास्त्रके प्रकाण्ड पण्डित थे। उनके द्वारा भारतीय न्याय-विद्या-विधाको एक नवीन दिशा प्रदान की गई। जैन-दर्शनमें समुपलब्ध जैन-न्यायशास्त्रके समस्त ग्रन्थोंका पारायण कर उनके सम्पादन एवं संशोधनकी अनूठी प्रक्रिया, हिन्दी भाषामें "जैन-दर्शन" नामक ग्रंथकी रचना कर प्रारम्भ की गई थी। संस्कृत एवं प्राकृतसे अनभिज्ञ न्यायशास्त्रके जिज्ञासुओंका इस महान् ग्रंथ के माध्यमसे महान उपकार किया है। उनकी अमरकृति "जैनदर्शन" नामक ग्रंथ "गागरमें सागर" की उक्तिको चरितार्थ करता है।

पं० जीके प्रथम दर्शन मैंने बनारस हिन्दू वि० वि० में बौद्धदर्शन विभागके अध्यक्षके रूपमें किए थे। मैं सन् १९५८ से १९६० तक बनारस हिन्दू वि० वि० का स्नातक छात्र रहा हूँ। पं० जी की सौम्य छविमें आत्मीयता एवं स्नेहशीलताका अपूर्व सम्मिश्रण परिलक्षित होता था। दर्शक अपरिचित छोटे-बड़े व्यक्तिको उनकी स्निग्ध-दृष्टि सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी।

उनके श्री चरणोंमें मैं अपनी विनम्र श्रद्धांजलि प्रस्तुत करता हुआ अपनेको गौरवान्वित मानता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## अगाध पाण्डित्य के धनी

• पं० रविचन्द्र शास्त्री, दमोह

पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य एक शान्त स्वभावी, निरभिमानी, उदार हृदय तथा अगाध पांडित्य के धनी थे।

अनूठी प्रतिभाके धनी, प्रभावशाली व्यक्तित्व सम्पन्न पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यसे मेरा प्रथम परिचय तब हुआ था जब मैं श्री गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय सागरसे प्रथमाकी परीक्षा उत्तीर्ण कर स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीमें अध्ययन हेतु प्रविष्ट हुआ था। पण्डितजीने मुझे न्यायदीपिका, प्रमेयरत्न-माला आदि दर्शन ग्रन्थोंका अध्ययन कराया था। इनकी शिक्षण पद्धति अत्यधिक सरस एवं सरल थी। दर्शन एवं न्याय सरीखे शुष्क तथा नीरस विषयको प्रेमपूर्वक शिष्योंके मस्तिष्कमें स्थापित कर देनेकी अद्भुत कला थी उनमें। ऐसे अगाध पाण्डित्यके धनी विद्वान्का असमयमें निधन जैन जगत की अपूरणीय क्षति हुई है। उनका अभिनन्दन बहुत पहले हो जाना चाहिए था। पर 'देर आयत् दुरुस्त आयत्' की उक्ति को चरितार्थ करनेका जो उपक्रम किया जा रहा है वह श्रेयस्कर है।

उनकी स्मृतिमें प्रकाशित स्मृति ग्रंथके लिए मेरी शुभकामनाएँ हैं।

## बुन्देलभूमि का अद्भुत् लाल

• डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' श्रीमहावीरजी

भारत वसुन्धरामें बुन्देलभूमिका अपना एक विशेष स्थान रहा है। धर्म और दर्शन, कला और स्थापत्यके क्षेत्रमें इसकी आन, बान-शान निराली ही है।

इस वसुन्धरा पर जो लाल उत्पन्न हुए हैं उनमें न केवल वीरोंने अपितु ऐसे शिक्षा प्रेमी सरस्वती-पुत्रोंने भी जन्म लिया है जिन्होंने धर्म, दर्शनके समुन्नयनमें अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया। परमपूज्य न्यायाचार्य गणेशप्रसाद वर्णी ( मुनि गणेशकीर्ति ) ऐसे ही साधु थे। उन्हींकी प्रेरणा स्वरूप अनेक विद्वानोंने इस धरतीको गौरवान्वित किया।

संस्कृत शिक्षाके क्षेत्रमें संस्कृत साहित्यको पढ़कर अनेक जैन विद्वान् हुए किन्तु न्याय-विषयकी ओर बहुत कम विद्वानोंका ध्यान गया है। जिन गणमान्य विद्वानोंने न्यायको गले लगाया उनमें सरस्वती-साधक डॉ० महेन्द्रकुमारजी जैनका नाम उल्लेखनीय है। आप पूज्य वर्णीजीके परम अनुयायी रहे। अपने अध्ययन और चिन्तनसे ऐसे ग्रन्थोंका आपने सम्पादन और अनुवाद किया है जिनपर आज हमें विशेष गौरव है। उनकी मौलिक रचना "जैनदर्शन" तो जैनदर्शनको जानने-समझनेके लिए बहुत उपयोगी ग्रन्थ है। बुन्देलभूमिका यह लाल आज भी जन-जनके हृदयमें विराजमान है और रहेगा। धन्य है यह आत्मा। मेरा उसे सविनय प्रणाम है।

## शुभकामना

• डॉ० कपूरचन्द्र जैन, टीकमगढ़

आदरणीय डॉ० महेन्द्रकुमारजी ने अपने अल्प जीवनकालमें अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन कर धर्म, समाज और देशकी जो सेवा की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी। मैं श्री डॉ० साहबके प्रति अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# प्रखर चेतना और लेखनी के धनी

• डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी, वाराणसी

पं० महेन्द्रकुमार जीसे कभी मिलनेका अवसर नहीं मिला किन्तु उनके बहुआयामी कृतित्वसे अत्यन्त प्रभावित हूँ। विविध जैन दार्शनिक ग्रन्थोंका जिस तरह वैज्ञानिक विधिसे जो सम्पादन कार्य उनके द्वारा किया गया वह अद्भुत ही नहीं अपितु भारतीय वाङ्मयको उनका बहुमूल्य योगदान है। यद्यपि आ० प्रभाचन्द्र आदिके ग्रन्थोंका भी सम्पादन कार्य पं० जीने किया है, किन्तु आचार्य अकलंकके ग्रन्थोंसे भारतीय मनीषाको उन्होंने परिचित कराया वह अपने आपमें अभूतपूर्व ही है। मुख्यतः पं० जीके द्वारा सम्पादित कृतियों और उनके जैनदर्शन ग्रन्थको देख-पढ़कर ही जैनेतर दार्शनिकोंने जैनधर्म-दर्शनकी महत्ता एवं महानताको स्वीकार किया। और इसीलिए इन ग्रन्थोंका विश्वविद्यालयीय स्तर पर पठन-पाठन भी सुलभ हो सका।

वे मात्र प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थोंके लेखक ही नहीं अपितु ज्ञानपीठ संस्था एवं ज्ञानोदय जैसी पत्रिकाको प्रतिष्ठापकोंमेंसे एक थे। उनके द्वारा धर्मयुग, ज्ञानोदय तथा अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित लेखोंके अध्ययनसे राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतनाका उनका स्वरूप भी सामने आता है। प्रखर चेतना और निर्भीक लेखनीके माध्यमसे पं० जीने जैनदर्शनके क्षेत्रमें जैन आचार्योंकी अनेक मौलिक उद्भावनायें प्रस्तुत कीं। यथार्थवादी विवेचन और स्वाभाविक ऊर्जाके कारण उनकी प्रसिद्धि अधिक रही। उनके अप्रकाशित कार्यको भी मुझे देखनेका अवसर मिला है। उसे प्रकाशमें लाना भी हम सभीका दायित्व है।

इस तरह पं० जीने जैनधर्म-दर्शन जगत्को जो कुछ भी दिया उसका मूल्य आँक पाना आसान नहीं है। क्योंकि इतने अल्प जीवनमें इतनी बड़ी साहित्यिक साधना उनकी अद्भुत मेधा, क्षमता और लगनकी द्योतक है। ऐसे महान् व्यक्तित्व और कृतित्वसे सम्पन्न मनीषीको मेरा शतशः प्रणाम।

# जैनदर्शन साहित्य के अनन्य सेवक

• शशिप्रभा जैन "शशांक"

डॉ० श्री महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य उद्भट विद्वान, अपूर्व व्याख्याता, जैनदर्शन साहित्यके अनन्य सेवक हैं उनकी विचारशैली और लेखनीका लोहा अनकेशः विद्वान् मानते रहे हैं और मानते हैं। उनकी सम्पादित कृतियों, साहित्योत्कर्षका अभिनन्दन करना स्तुत्य है। १९११ में श्रीयुत जवाहरलालजी पिताश्री और माता सुंदरबाई खुरईकी पुनीत कूँखसे जन्में डा० महेन्द्रजी समाजके अनमोल रत्न रहे हैं उनसे समाज और धर्मके प्रति गौरव है। व्यक्तित्व और स्वस्थ निरोगी काया जीवनका परमसुख है और इसे पाया था महेन्द्र भ्राताश्रीने।

पं० महेन्द्रकुमारजी द्वारा लब्ध प्रतिष्ठित संस्था भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापनामें उसके सर्वाङ्गीण-विकासार्थ बहुत श्रम किया तथा उसके संजाने संवारने, सर्वोपयोगी बनानेमें जो महत्वपूर्ण योगदान दिया है वह अभिनन्दनीय है इस संस्थासे प्रकाशित ज्ञानोदय पत्रिकाके सम्पादनमें जो कर्तव्य दायित्व आपने अपने साहित्य दर्शन प्रेमसे, प्रतिभा सम्पन्नतासे, श्रमसे, आत्मिक लग्न एकाग्रतासे दर्शाया है, वह अनुकरणीय है, स्तुत्य है।

ऐसे महामनीषीके प्रति श्रद्धा-सुमन समर्पित करके गौरवका अनुभव करती हूँ।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# जिनवाणी माँ के अनन्य उपासक

• डॉ० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

मैंने श्रद्धेय पण्डित महेन्द्रकुमारजीके प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किये हैं; क्योंकि मेरे बनारसमें छात्र-जीवन प्रवेशसे पूर्व ही वे दिवंगत हो चुके थे, किन्तु उस समय बनारसमें जैनाजैन विद्वत्मण्डली जो कि पण्डितजीके परिचयमें या सान्निध्यमें आयी थी, उससे मैंने पण्डितजी की प्रशंसा खूब सुनी है। उनका गुणगान करते हुए लोग अघाते नहीं थे। जैन, बौद्ध और भारतीय न्याय साहित्य के तलस्पर्शी, मर्मज्ञ और अद्भुत विद्वान् थे। यद्यपि वे दीर्घजीवी नहीं हुए, किन्तु अपने जीवनके अल्पकालमें ही सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, तत्त्वार्थ-वार्तिक, न्यायकुमुदचन्द्र जैसे अनेक ग्रन्थोंके जो प्रामाणिक संस्करण निकाले, वे समाज और विद्वद्वर्गकी अमूल्य धरोहर बन गए। वे अद्वितीय प्रतिभाके धनी और जिनवाणी माँ के अनन्य उपासक थे। यदि वे अधिक समय जीवित रहते तो माँ जिनवाणीकी कितनी अमूल्य निधियोंका उद्धार करते, इस बातकी अब कल्पना भी नहीं की जा सकती है। उनके बाद उन जैसा न्यायशास्त्रका विद्वान् आज तक उत्पन्न नहीं हुआ। विद्वानोंको और समाजको ऐसी महान् विभूति पर गर्व है।

मैं पूज्य पण्डितजीके प्रति अपने हार्दिक श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ।

# असाधारण व्यक्तित्व के धनी

• डॉ० कमलेशकुमार जैन, वाराणसी

असाधारण व्यक्तित्वके धनी, स्वनामधन्य पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य अपनी अनूठी प्रतिभा एवं सूझबूझके कारण न केवल जैन नैयायिकोंमें प्रतिष्ठित थे, अपितु अपनी विद्वत्ता एवं सम्पादन-कलाके कारण वे प्राच्यविद्याके अग्रगण्य मनीषियोंमें भी लब्धप्रतिष्ठ थे। उनकी लौह लेखनीसे प्रसूत 'जैनदर्शन' जैसी मौलिक कृतियाँ आज भी उनके गुण-गौरवको प्रकट करती हैं।

प्राचीन ग्रन्थोंके सम्पादन एवं समीक्षामें उनकी गहरी पैठ थी। उनके द्वारा निर्णीत ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तथ्य उनकी शोध-खोजके जीवन्त प्रतीक हैं।

न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जैन अपने जीवनके प्रारम्भमें स्याद्वाद महाविद्यालय काशीमें न्यायाध्यापक थे। वहाँ जैन न्यायके अध्ययन-अध्यापन एवं मनन-चिन्तनके कारण उनकी प्रतिभा दिन-प्रतिदिन निखरती गई और पूर्वपक्षके रूपमें आये हुये विभिन्न दर्शनोंके अध्ययन-अध्यापनसे उनकी प्रतिभामें चार-चाँद लग गये। वे समस्त भारतीय दर्शनों, विशेषकर जैन और बौद्धदर्शनोंके विशिष्ट ज्ञाता थे। साथ ही उक्त दर्शनों-का निरन्तर आलोडन-विलोडन करनेके कारण वे उसीमें रच-पच गये थे।

भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी स्थापनामें उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जहाँ उनकी तरुणाईका लाभ भारतीय ज्ञानपीठको मिला है, वहीं उनके व्यक्तित्वको सजाने-सँवारनेमें भारतीय ज्ञानपीठका भी महनीय योगदान रहा है। दोनोंने परस्पर एक दूसरेका पर्याप्त लाभ लिया है।

प्राचीन ग्रन्थोंके सम्पादनकी दृष्टि उन्हें आधुनिक जैनदर्शनके भीष्मपितामह पद्मश्री पं० सुखलालजी संघवीसे प्राप्त हुई थी, जिसका सदुपयोग करते हुए उन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड जैसे जैन न्यायके दुरूह ग्रन्थोंका सम्पादन एवं विवेचन किया है। इस दुरूह कार्यके सम्पादनमें उनकी नैसर्गिक प्रतिभाके पदे-पदे दर्शन होते हैं। उनका यह सम्पादन कार्य आधुनिक जैनविद्याके मनीषियोंके लिये आदर्शके रूपमें चिरकाल तक मार्गदर्शन करता रहेगा।

ऐसे विद्वान्के प्रति मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# मार्गदर्शक दार्शनिक न्यायाचार्यजी

• डॉ० नीलम जैन, सहारनपुर

डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य उन विरल स्रष्टाओंमें से हैं। जिन्होंने अपने जीवनका एक-एक क्षण साहित्यकी साधना और आराधनामें व्यतीत किया। ४७ वर्षीय जीवनकालमें अपनी प्रतिभा व लगनसे अपने चिन्तनको नये ढंगसे संस्कारित किया। स्वाभाविक, प्रभावशाली एवं द्वादशांग रत्नाकरकी अतल गहराइयोंसे न्याय, दर्शन एवं प्रमाणके जो रत्न प्रदान किए आज भी वह अद्वितीय हैं।

डॉ० महेन्द्रकुमारजी का साधनाकाल देशकी विषम एवं दुःसंक्रमित परिस्थितियोंके मध्य रहा, यह वह समय था जब पश्चिमकी साम्यवादी अवधारणाओंने तथा दासताकालकी त्रासदियोंने मानवकी अन्तर्चेतना-व्यक्तिवादी वर्चस्वको स्थापित कर रखा था, तत्कालीन देशके कर्णधारोंने तो सारी धर्म एवं साहित्य संरचना एक ही धार्मिक अवधारणा मानकर चिन्तन प्रक्रियासे परे सरका दी थी, उस समय डॉ० जैन जैसे ही अध्यवसायी थे जिन्होंने सभी दर्शनोंको परिभाषित करते हुए जैनदर्शनको सर्वथा नूतन और मौलिक पहचान देकर हिन्दुत्वसे पृथक् रखते हुए जैनदर्शनकी सरल, स्पष्ट एवं सर्वग्राह्य व्याख्या की, अनेकान्त, स्याद्वाद, छः द्रव्य एवं सात तत्त्व, नौ पदार्थोंको 'जैनदर्शन' पुस्तकमें अभूतपूर्व ढंगसे प्रस्तुत किया। इस नयी पुस्तकसे एक नये युगका प्रारम्भ हुआ। कहना न होगा, यह एक ऐसी प्रथम पुस्तक थी जिसकी भाषाकी बुनावट एवं शैली की कसावट तथा विषय वस्तुकी सटीकतासे कोई भी पाठक अप्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। यह पुस्तक अद्वितीय है इसमें वह सब कुछ है जो वर्तमान युगके सामाजिक चिन्तनको एक सर्वविध समृद्धिशाली उच्चकोटिको कैनवास प्रदान करती है, "विश्व शान्ति में जैनधर्मका योगदान" एवं अनेकान्त स्याद्वाद जैसे लेख न्याय, स्वतन्त्रता, समानता एवं विश्व बन्धुत्व स्थापित करनेमें सक्षम है। जैन साहित्यके अन्तरंग में व्यापक सर्वांगीण व्यवस्थाओंके अनन्तर भी उससे स्वाध्यायीको सोचने समझने और ग्रहण करनेकी ऊर्जा शक्ति नहीं प्राप्त हो सकी, जिस समय न्याय जैसे शुष्क एवं नीरस विषय पर डा० साहब ने लेखनी उठाई थी उस समय तो संभवतः किसी ने सोचा भी न होगा कि न्यायका अभिलेखके रूपमें स्थायी और सार्वजनीन बनानेकी यह पगडंडी राजमार्गमें बदल जाएगी और ये ग्रन्थ और वाक्य प्रभुसत्ता में बदल जायेंगे तथा समस्त वाङ्मयको अनुशासित करनेकी भूमिका भी निभाने लग जायेंगे, आज तो उनका साहित्य न्यायाधीश सरीखा बन गया है।

विडम्बनाकी बात यह है कि प्रारम्भ में इन साहित्य साधकों एवं इनकी साधनाके प्रति सम्मानका भाव प्रायः न्यून ही रहा। चन्द ही ऐसे व्यक्ति थे जो देवपूजा की भाँति इस कार्यको महत्त्व देते हैं इसी कारण ऐसे प्रयासके परिणाम इतने उत्साहवर्द्धक नहीं रहे। प्रत्येक मोर्चे पर घरसे बाहर तक गार्हस्थिक एवं आर्थिक समस्याओं से जूझता विद्वान् कितनी साधना कर पायेगा यह प्रच्छन्न नहीं है। अपने जीवनके कुरुक्षेत्रमें ऐसे रण बांकुरे इसलिए विरल रहे हैं।

डॉ० महेन्द्रकुमार ध्येयनिष्ठ रचनाकार थे, जो साहित्यको सोद्देश्य और सामाजिक प्रयोजन प्रेरित मानते थे। उनकी प्रगतिशीलताके स्रोत बहुमुखी थे। अपने धर्मके प्रति, राष्ट्रके प्रति, समाजके प्रति उनका अनवरत लगाव उन्हें उसकी बेहतरी, सुख, समृद्धि अभय आलोकके प्रत्येक कोणको मौलिक दृष्टिकोणसे खींचता है, इसीलिए न्यायके अतिरिक्त जब भी आलेख उन्होंने लिखे हैं जो "जैनदर्शन" पुस्तकके अन्तमें हैं उसमें उनकी अभिव्यक्ति प्रत्येक लघुखण्ड आशयको समाजके संघटित बृहत्तर आशयसे जोड़ता है उनके आदर्शवाद में वर्ण्य विषयका इतना घुला-मिलापन है जो उनकी रचनाओंको सर्वजन सुलभ बनाकर सच्ची

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानवीयताका संदेश देता है, यह संदेश है जीवनकी क्रांतिमुखी मर्यादाका, आत्मोत्सर्ग पूर्ण निष्ठाका और पीड़ित मानवताके प्रति गहरी करुणाका। ऐसे साहित्यकी रचनाका जो आचरिक और नैतिक मूल्यों पर आधारित हो, जीवनमें भी वे न्यायके प्रति संघर्षरत रहे।

दुर्लभ ग्रन्थोंका प्रणयन, भारतीय ज्ञानपीठ जैसी संस्थाओंकी संस्थापना उनकी जीवन्त जीवटताकी प्रतीक हैं। साहित्यका दीपक प्रज्वलित कर प्राचीनतम ग्रन्थोंका जीर्णोद्धार, ज्ञानोदयके माध्यमसे जनसामान्यसे उनका परिचय कराना कुछ ऐसे विशिष्ट योजनाबद्ध कार्यक्रम रहे जो आज तक भी उतने ही प्रांसगिक हैं।

जैन जागरणके अग्रदूत बनकर डॉ० महेन्द्रने सचमुच नये युगका सूत्रपात किया। जैन साहित्यके मध्य स्तम्भ डॉ० महेन्द्रको कृतज्ञता पूर्वक स्मरण।

## हमारी आस्था के सुमेरु न्यायाचार्य

• प्रतिष्ठाचार्य पं० विमलकुमार जैन सोंरया, टीकमगढ़

पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजके बाद न्याय शास्त्रका महान् अध्येता कोई विद्वान् हुआ है तो वह हैं पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य हैं जिन्होंने न्यायशास्त्रका तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर न्यायशास्त्रोंकी बहुमुखी टीका कर अपनी श्रेष्ठ प्रतिभाका परिचय दिया। न्यायशास्त्रके अध्ययनका द्वार आपके द्वारा अनुवादित ग्रन्थोंके बाद ही खुला है न्यायशास्त्र जैसे नीरस दुरूह ग्रन्थोंकी सरस और सरलतम टीका कर नई परम्परामें अध्येताओंको अभिरुचि देनेका प्रथमतः श्रेय आपको देनेका कारण बनी है। जैन संस्कृतिके अभ्युत्थानमें पूज्य वर्णीजीको दायां और महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यजीको बांया हाथ कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं है। भारतीय ज्ञानपीठ जैसी उन्नत आगम प्रकाशन संस्थाकी संवृद्धि और लोकोत्तरता प्रदान करनेका वर्णमाला गत श्रेय महेन्द्रकुमारजीको ही है। जैनागमके जो भी शास्त्र दुरूह, क्लिष्ट अथवा पठन-पाठनकी दिशामें परोक्षवत थे। ऐसे महान् ग्रन्थोंकी टीका करनेका प्रशंसनीय श्रेय श्री महेन्द्रकुमारजीको ही है।

महान् विद्वानोंकी यह भावनाएँ आदरणीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यकी विलक्षण प्रतिभा, अगाध पाण्डित्य और बहुमुखी विद्वत्तापूर्ण प्रतिभाकी द्योतक हैं। आपने अपने ४८ वर्षीय जीवनकालमें जितना लोकोत्तर कार्य किया है। कई वर्षोंमें अनेकों विद्वान् ऐसा कार्यकर सकनेमें समर्थ नहीं हो पाते। बीसवीं शताब्दीका यह प्रथम विद्वान है जिनका अभिनन्दन राष्ट्र स्तरपर सर्वप्रथम होना चाहिये था। लेकिन प्रसन्नता की बात है कि जैन समाजने अपने इस महान् विद्वान्की सम्मान स्मृतिमें इस ग्रन्थका प्रकाशन कर कृतज्ञताका अर्घ चढ़ाया है।

## शत् शत् नमन

• डॉ० राजमति दिवाकर, सागर

प्रतिभा नवनवोन्मेष शालिनी होती है जो समयके पार माप लेती है अपने यश को; ऐसे ही यशःकाय न्यायतीर्थ, न्यायदिवाकर, न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारजी अपनी विशिष्ट प्रतिभाके धनी थे जिन्होंने ४८ वर्ष की कम आयुमें अपने समयसे कई गुना आगेकी जमीं पार कर ली थी। जैनधर्म एवं दर्शनकी वैज्ञानिक दृष्टि को सहजता और सरल ढंगसे सम्पूर्ण मानव-समाजके बीच प्रस्तुत करना अपने आपमें बहुत उल्लेखनीय कार्य है।

निश्चय ही प्रो० डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य अपने प्रदेयसे जैनधर्म एवं दर्शनके असाधारण हस्ताक्षर हैं। ऐसे जैनदर्शनके अपूर्व ज्ञाताको मेरा शत् शत् नमन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## न्याय-शास्त्र के उदीयमान नक्षत्र

• पं० कमलकुमार शास्त्री, टीकमगढ़

मेरी जीवन कलीने जब आँखें ही नहीं खोली थीं उसके पूर्व ही डॉ० महेन्द्रकुमारजी अपना प्रकाश समस्त जैन जगतमें फैला चुके थे। मैंने तो उनके दर्शन एक दो बार ही कर पाये हैं उन दिनों मैं पढ़ रहा था और डॉ० सा० अनेक संस्थाओंमें कार्य करते हुए प्रकाशमान नक्षत्र की तरह चमक रहे थे कि अचानक राहुने उन्हें असमयमें ही ग्रस लिया। उन दिनों डॉ० सा०के द्वारा न्याय विषय पर खोजपूर्ण लेख लोगोंको विस्मयमें डाल देते थे।

लम्बा कद, भरा हुआ गठीला वदन, गोल चेहरे पर चमकता हुआ ओज, सफेद खादीका कुर्ता और चौड़ी पट्टीकी टोपी सहज ही पं० जीके व्यक्तित्वको शालीनता प्रदान कर रहे थे।

मैंने एक दो बार ही दर्शन किए होंगे किन्तु आज भी आपका चेहरा हृदयमें अंकित है। एक बार उन्होंने सिद्धोंके केवलज्ञानकी एक नई चर्चा विद्वानोंके समक्ष रखी। मुझे जहाँ तक याद है वह काफी चर्चा-का विषय बनी थी। उनका कहना था कि केवलज्ञानी केवल अपनी आत्माको ही जानता है और देखता है उसे संसारके पदार्थोंसे क्या मतलब है। आत्माका लक्षण उपयोगमयी है और उनका उपयोग आत्मरूप ही रहता है। क्या बताऊँ अगर कुछ दिनों और संसारमें रहते तो न्याय-शास्त्र एवं समाजका काफी ज्ञान विकासोन्मुख हो सकता था।

मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

## शुभकामना

• पं० नन्हेंलाल जैन, एरौरा

अकलंकके सदृश वर्तमानमें श्रद्धेय डॉ० महेन्द्रकुमारजी जैन प्रौढ़ विद्वानोंमें प्रथम थे। बौद्ध दर्शन-जैन न्यायके ज्ञाताके रूपमें डॉ० साहबके सदृश ज्ञानी विद्वानोंकी जरूरत है ताकि देश समाजको लाभान्वित कर सकें। मेरा उन्हें शत् शत् नमन है।

## शुभकामना

• पं० लक्ष्मणप्रसाद शास्त्री, मडावरा

सरस्वतीपुत्र डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य अपने विषयके अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने अकलंकदेवके ग्रन्थोंका सम्पादन कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

आप स्वभावतः शान्त, सरल, मृदुभाषी और उच्च विचारोंके धनी थे।

स्मृति ग्रन्थ प्रकाशनके प्रकुशलके अवसर मेरी श्रद्धांजलि उन्हें समर्पित है।

## श्रद्धाञ्जलि

• स० सि० पं० रतनचन्द जैन शास्त्री बामौरकला

न्यायाचार्य डॉ० महेन्द्रकुमारजी विद्यालय बीनामें मेरे सहपाठी रहे हैं। उनका मेरे ऊपर अपार प्रेम था। आत्मप्रिय मैत्री भुलाई नहीं जा सकती।

उन्होंने समाजको जो दिया वह विस्मरणीय नहीं है। उनके सम्मानमें प्रकाशित स्मृति ग्रंथ अमर कीर्ति-मान स्थापित करता रहेगा। मेरी श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# स्याद्वाद-शासन के सजग-आदर्श प्रहरी

• श्री अभिनंदन कुमार दिवाकर एडवोकेट, सिवनी

नय विधाके अप्रतिम मनीषी निष्णात विद्वान् डॉ० पंडित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने प्रमाण-नय संबंधी जिनागमके महान् उपकारी संरक्षक न्यायवेत्ता आचार्य भट्टाकलंक, आचार्य उमास्वामी आदि आचार्योंके क्लिष्ट ग्रंथोंका संपादन सरल, सुबोध, हृदयग्राही भाषा शैलीमें कर समाजका महान् उपकार किया है। पंडितजी की "जैनदर्शन" कृति अत्यंत सामयिक महत्वपूर्ण है। इसे पंडितजी की "कालजयी कृति" कहना अतिशयोक्ति नहीं है। जैनदर्शनके विविध पक्षोंका तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विश्लेषण इसमें संबद्ध है, समाजकी एकांतवादसे ग्रसित कई कथित-विद्वानों द्वारा अपने क्षुद्र स्वार्थोंके वशीभूत होने अथवा अल्पज्ञताके कारण क्रमबद्ध पर्याय, निमित्त-उपादान, व्यवहार-निश्चयनय सदृश आदि बहुचर्चित विषयों पर, जो दिग्भ्रमित किया गया है एवं किया जा रहा है, उसका निराकरण पंडितजी ने जो इस ग्रन्थमें किया है वह मुमुक्षुओं द्वारा विशेषरूपसे पठनीय है। पं० जी द्वारा विश्लेषण अज्ञान तिमिरांधोंके लिये ज्ञानांजनशलाका के रूप है।

स्मृति ग्रंथका प्रकाशन स्तुत्य हो। किन्तु किसी भी महापुरुषका सम्मान, मात्र उसकी मौखिक प्रशंसा नहीं। पंडितजी द्वारा सृजित साहित्य जिनागमके अध्यवसायियोंके लिये मार्गदर्शक है। नयोंका ज्ञान अर्जित करनेके अभिलाषी मुमुक्ष युगों-युगों तक उनकी रचनाओंसे लाभान्वित होंगे। जिनागममें विरोधाभासका किंचित् स्थान नहीं। नयविधाके ज्ञानाभावके कारण अनेकांतदृष्टिको ओझल कर एकांत रूपमें आचार्योंकी वाणीको प्रस्तुत करना जिनवाणीकी अवमानना है एवं स्व-पर-हित घातक है, इस तथ्यको पवित्र बुद्धिसे हृदयंगम कर तदनुसार आचरण करना पंडितजी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

# देखा तो नहीं, पर देख रहा हूँ उनको

• श्री पवनकुमार शास्त्री, दीवान, मोरेना

आजसे लगभग ८ वर्ष पूर्व जब मेरे गृहनगर ललितपुरमें पू० क्षुल्लक श्री १०५ गुणसागरजी महाराज (सम्प्रति उपाध्यायश्री १०८ ज्ञानसागरजी) की प्रेरणा एवं उनके ही सानिध्यमें सर्वप्रथम "जैन न्याय विद्या वाचना समारोह" का आयोजन किया गया था। उद्घाटन सत्र की वेलामें जब प्रथम बार पं० दरबारीलालजी कोठियाके द्वारा न्यायाचार्योंकी श्रृंखलामें न्यायाचार्य श्री डॉ० महेन्द्रकुमारजी का नाम सुना तो कुछ नयापन सा प्रतीत हुआ, उनके अलावा भी अन्य वयोवृद्ध विद्वानोंसे भी जब श्री न्यायाचार्य जीके संस्मरण सुने तो सहज ही एक प्रबलेच्छा होती कि काश यदि आज उनसे प्रत्यक्ष भेंट कर पाता तो धन्य हो जाता, लेकिन आज स्मृति ग्रन्थकी इस मंगलबेलामें उनके फोल्डरपर प्रकाशित चित्रको प्रथम बार देखकर एवं उनकी अल्पकालीन सशक्त श्रुतसेवा रूप व्यक्तित्वको देखकर यही लगता है कि वह हमसे दूर नहीं, हमारे समक्ष ही हैं।

प्रतिवर्ष एक या दो परीक्षा उत्तीर्ण करनेवाला विशिष्ट ज्ञानावरण क्षयोपशम वाला ही होता है। न्याय जैसे जटिल विषयमें इतनी दक्षता प्राप्ति सहज संभव नहीं है। परन्तु अल्पायु होनेसे श्रुतसेवामें संलग्न रहते हुये जिनका जीवन समर्पित हो गया हो, उनके बारेमें अपनी विनम्र कुसुमांजलि अर्पित करते हुए यह कहना गलत नहीं होगा, कि उन्हें देखा तो नहीं, (चर्म चक्षुओंसे) पर देख रहा हूँ उनको (चिन्तन चक्षुओंसे)।

स्मृति ग्रन्थकी इस मंगलबेलामें पुनश्च शत-शत नमन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनोखा व्यक्तित्व

• डॉ० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार, वैशाली

पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके विषयमें कुछ भी लिखना सूर्यको दीपक दिखाना है। मुझे उनके दर्शनका भी मौका नहीं मिला, क्योंकि मेरे जन्मके पूर्व ही उनका देहावसान हो चुका था। फिर भी श्रद्धेय बाबूलालजी फागुल्लके स्नेहिल अनुरोधको स्वीकारते हुए दो शब्द लिखनेका साहस कर रहा हूँ। सर्वप्रथम मेरा उस जिनवाणी सेवक सरस्वती पुत्रके चरणोंमें शत-शत नमन।

पण्डित महेन्द्रकुमारजी बचपनसे ही प्रतिभा सम्पन्न थे। अध्ययनके उपरान्त जब वे कार्यक्षेत्रमें उतरे तो उन्हें पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीका सान्निध्य मिला। पश्चात् वे पं० नाथूराम प्रेमी और पं० सुखलाल संघवी जैसे प्रकाण्ड विद्वानोंके सम्पर्कमें आये। अनन्तर परस्पर आदान-प्रदान एवं सहयोगसे आपकी प्रतिभाको पल्लवित-पुष्पित होनेका भरपूर अवसर मिला। न्यायाचार्यजीको उच्चतर अध्ययन-अनुसन्धानकी विशेष प्रेरणा पं० नाथूराम प्रेमीसे प्राप्त हुई। पं० सुखलालजी की प्रज्ञादृष्टिसे प्रेरित होकर वे साहित्य साधना एवं अध्ययन-अनुसन्धानमें आकण्ठ डूब गये। उन्होंने अनेक दुरूह ग्रन्थोंका सम्पादन करके जैनदार्शनिक साहित्य-की श्रीवृद्धि की तथा भविष्यके अनुसन्धाताओंको एक नयी दृष्टि प्रदान की। यह विशेष रूपसे उल्लेखनीय है।

न्यायाचार्यजी ने एक-एक ग्रन्थके टिप्पण तैयार करनेमें शताधिक ग्रन्थोंका अध्ययन-मनन किया। तब कहीं तुलनात्मक टिप्पण या अन्य टिप्पणियाँ तैयार हो पायीं। उन्होंने दार्शनिक ग्रन्थोंके सम्पादनमें समालोचनात्मक पद्धति का प्रायः पहली बार प्रयोग किया, जो पश्चात्वर्ती विद्वानोंके लिए मार्गदर्शक बना। उन्होंने कई ग्रन्थोंका तो मूलपाठ भी टीकाओंसे संजोकर तैयार किया। सम्पादन कार्यको पूर्णतः प्रदान करने हेतु पं० जी को अनेकों यात्राएँ करनी पड़ीं तथा महीनों बाहर रहना पड़ा। उनकी प्रतिभा लगन और कार्य करनेकी क्षमता उत्तरवर्ती विद्वानोंके लिए निःसन्देह प्रेरणास्पद है। उन्हें शत-शत नमन।

पंडितजी द्वारा सम्पादित ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाएँ शोधके क्षेत्रमें विशेष महत्वपूर्ण हैं।

# पण्डितजी स्वतंत्र चिंतक थे

• श्री जमनालाल जैन, सारनाथ

स्व० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यसे मेरा पहला परिचय सन् १९५० में हुआ और फिर तो बनारसमें उनसे अनेक बार मिलनेका अवसर मिला। मैं उनसे बहुत प्रभावित रहा।

एक दिन पता नहीं किसी मूडमें पंडितजीने मुझसे कहा कि 'तुम तो सर्वोदयी बन गये, अपने बेटे-को सर्वोदयी मत बना देना!' मैं विचारमें पड़ गया! आखिर यह बात उन्होंने क्यों कही? कौन-सी कस-मसाहट है इसके पीछे? क्या पंडितके पुत्रको पंडित नहीं बनना चाहिए? फिर दार्शनिक प्रणालियाँ क्या कहती हैं? कौन किसका निर्माण करता है? क्या सभी लोग अपनी अपनी नियति, कर्मफल भोग, भाग्य या संस्कार संप्रभावित होकर विभिन्न रास्तों पर नहीं चल पड़ते हैं? पंडितका बेटा इंजीनियर बन जाता है, शराबीका बेटा संत बन जाता है। पारिवारिक, सामाजिक एवं सांस्कारिक, शैक्षणिक परिस्थितियाँ आदमी-को कहींका कहीं पहुँचा देती हैं! लेकिन पंडित महेन्द्रकुमारजीके कहनेका तात्पर्य शायद यह था कि किसीको भी अपनी सन्तानको अभाव पूर्ण जीवनकी ओर नहीं धकेल देना चाहिए। उनका अपना अनुभव भी शायद प्रारंभिक दिनोंका यही रहा होगा कि समाजमें बड़े से बड़े विद्वान्का भी कोई आदर-सम्मान नहीं होता। समाज पंडित वर्गसे ज्ञानदानकी, ज्ञान चर्चा की अपेक्षाएँ तो रखता है, पर आर्थिक दृष्टिसे उन्हें अपना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाकर ही समझता रहता है ! सत्य ज्ञान और व्यवहार-कुशलताका यह अन्तर्विरोध जगह-जगह, बार-बार देखा गया है। आज भी खुली आँखों देखा जा सकता है !

पंडितजीने अपने जीवनमें विपुल साहित्य-साधना की। यह साधना पहाड़ खोदने जैसी कठिन रही है। इसीके कारण शायद उन्हें ब्रेन-हेमरेज हो गया और वे अचानक छीन लिये गये। उनके जानेसे न केवल वाराणसी की अपूर्व क्षति हुई, बल्कि सम्पूर्ण भारत वर्षके जैन समाजको क्षति हुई है और स्वतंत्र चिंतन तथा निर्भीक विचारधाराके एक प्रकांड मनीषी की पावन धारा ही सूख गयी !

लगभग ३५ वर्ष बाद उनकी स्मृति में कुछ भावना प्रधान स्नेहीजन स्मृति ग्रंथका प्रकाशन करके विनयांजलि अर्पण कर रहे हैं—यह शुभ है ! आशा है हमारी नयी तरुण पीढ़ी डाक्टर महेन्द्रकुमारजी के प्रशस्त किये गये स्वतंत्र मनीषाके पथ पर अपनी प्रतिभा का आलोक फैलानेमें समर्थ होंगे।

## जैनदर्शन के आधुनिक मेरु

• डॉ० सुरेशचन्द्र जैन, वाराणसी

पूज्य सन्त श्री गणेशप्रसादजी वर्णीके सत्प्रयत्नोंसे ज्ञानदीपकी शृंखलामें डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके योगदानको जैन दार्शनिक क्षेत्रमें महान् तार्किक भट्टाकलंकदेवसे किसी दृष्टिसे न्यून नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके जैन न्यायके गूढ़ रहस्योंका सम्पादन एवं पादटिप्पणके माध्यमसे जिस रूपमें अल्पतम समयमें व्याख्यायित किया है, वह स्तुत्य, स्पृहनीय और अनुकरणीय है।

यद्यपि विद्यमान युवा पीढ़ी उनके साक्षात् सानिध्यसे वंचित रही है, तथापि उनकी कृतियाँ, उनकी गहन चिन्तन पद्धति, गवेषणापरक विधा एवं सम्पादनकी नयी दिशाका सहज बोध कराती हैं। ऐसे मनीषी अन्यतम दार्शनिक मेरुके प्रति अपनी हार्दिक विनयांजलि अर्पित करता हूँ !

## डॉ० कोठिया जी से जो सुना; जो गुना

• प्राचार्य निहालचंद जैन, बीना

डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य अपने युगके न्याय-वाङ्मयके एक कालजयी हस्ताक्षर जिन्हें बुद्धिका वरदान माँ ( श्रीमती ) सुन्दरबाई जी से मिला था। बुन्देलखण्ड खुरई ( सागर ) की माटीमें केवल श्रेष्ठ गुणवत्ताका गेहूँ ही नहीं उपजाया, बल्कि ज्ञानकी फसलोंको भी उपजाया है। खुरईको ऐसे सरस्वतीके वरदपुत्रको रूपायित करनेका सौभाग्य मिला जिन्होंने न्यायशास्त्रके क्लिष्टसे क्लिष्ट ग्रन्थोंका सम्पादन करके जैन साहित्यको अपने अक्षय अवदान द्वारा समृद्ध किया।

बीसवीं शताब्दीके जैन-विद्वानों/पण्डितोंकी सूची तैयार की जावे, तो उस सूचीके अधिकतर पन्नोंमें बुन्देलखण्डका गौरव यशोगान अंकित होगा।

डॉ० दरबारीलाल कोठिया-न्यायाचार्य उनके समकालीन पण्डित आज विद्यमान हैं, जिनके पास बैठकर इन पंक्तियोंके लेखकने डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यकी असाधारण बुद्धि और ज्ञान-प्रतिभाके अनेक किस्से/संस्मरण सुने और अनुभव किया कि ऐसे यशस्वी व्यक्तित्व-जैन समाजको, सरस्वतीको विशेष अनुकम्पासे ही सुलभ होते हैं।

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" की भावनासे अनुप्राणित होकर अपनी जन्मभूमि बुन्देलखण्डकी माटीका अल्पांश ऋण चुकानेके लिए पण्डित महेन्द्रकुमारजीने अपनी सेवाका श्रीगणेश-खुरईके जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यालयसे किया। लेकिन सरिता भला सरोवरकी सीमाओंमें बँधकर कैसे रह सकती है। अस्तु। १९३० में वे "स्याद्वाद-महाविद्यालय" वाराणसीमें अध्यापन हेतु चले गए। बनारसके कंकर कंकरमें व्याप्त शंकरका यह वरदान है कि जो भी शिक्षार्थी-'ज्ञान' को जीवन-साधनाका लक्ष्य बना कर वहाँ जाता है, वह उद्भट विद्वान् बनकर सम्पूर्ण देशमें विख्यात हो जाता है। ऐसा ही वरदान डॉ० महेन्द्रकुमारजी को प्राप्त हुआ।

आज डॉ० महेन्द्रकुमारजी का भौतिक शरीर हमारे बीच विद्यमान नहीं है, परन्तु न्यायशास्त्रके ग्रन्थोंके कुशल सम्पादन व उनकी विस्तृत प्रस्तावनाओंके रूपमें आपका ज्ञान व यश शरीर आज भी अविद्यमान है।

ऐसी महान् प्रणम्य आत्माको ये कुछ पंक्तियाँ-पूजाकी थालमें अक्षत ( चावल ) के कुछ धवल-कण ही हैं जिन्हें समर्पित कर उस प्रज्ञा पुरुषको लेखकका विनम्र प्रणाम है।

# मेरे विद्या-गुरु

• पं० अमृतलाल जैन शास्त्री, वाराणसी

मैं स्वयं को इस दृष्टि से सौभाग्यशाली समझता हूँ कि स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय काशी में रहकर मैंने परम श्रद्धेय डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य से जैनदर्शन का आचार्य अन्तिम खण्ड तक अध्ययन किया था। आप केवल जैन और जैनेतर दर्शनों के ही मनीषी विद्वान् नहीं थे प्रत्युत सिद्धान्त और साहित्यके भी प्रौढ़ विद्वान् थे। पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्यने आपके सहयोगसे गोम्मटसार कर्मकाण्डका अथ से इति तक पारायण किया था। मैंने दार्शनिक ग्रन्थोंके अतिरिक्त यशस्तिलकचम्पू उत्तरार्ध-के दुरूह पद्योंका आपसे अध्ययन किया था।

आपने अध्ययन कालमें घोर परिश्रम किया था। फलतः दिगम्बर एवं श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ आपको प्रायः कण्ठस्थ थे। प्रमेयकमलमार्तण्ड और अष्टसहस्री जैसे ग्रन्थ हम छात्रोंके सामने रहते थे और आप गद्दी पर बैठे-बैठे किसी भी पंक्तिको जरा सा देखकर आगेकी पंक्तियाँ स्वयं बोलते जाते थे और फिर उनका विस्तृत विवेचन भी करते जाते थे। दिगम्बर ग्रन्थोंकी भाँति श्वेताम्बर ग्रन्थोंका भी आपने गहन अध्ययन किया था। परीक्षाके दिनोंमें जब मैं परीक्ष्य ग्रन्थको लेकर आपके पास पहुँचता था तो आप ग्रन्थ खोलकर प्रत्येक पृष्ठ की शंकाओं और उनके समाधान स्पष्ट बता दिया करते थे और लगभग एक घंटेमें सम्पूर्ण ग्रन्थकी सारगर्भित बातें हमें स्पष्ट हो जाती थीं।

जैन और जैनेतर दर्शनोंके अतिरिक्त बौद्धदर्शनका भी आपका गहन अध्ययन था। काशी हिन्दु विश्वविद्यालयके संस्कृत कॉलेजमें आप बौद्धदर्शन ही पढ़ाते थे। समय-समय पर अनेक बौद्ध भिक्षु आपके पास बौद्ध दर्शनके ग्रन्थोंके अध्ययन हेतु आया करते थे। मैंने बौद्ध भिक्षुओंको प्रमाणवार्तिक आदि ग्रंथों-का आपसे अध्ययन करते देखा है।

ऐसे प्रतिभाशाली विद्वान् को मेरा शतशः नमन।

# विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्

• डॉ० कमलेशकुमार जैन 'चौधरी' वाराणसी

अप्रैल १९९४ के प्रारम्भमें बी० एल० इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डालॉजी, दिल्लीमें शोध-अध्येताके पद पर नियुक्त हुआ। और 'जैन संस्कृत टीकाओंमें उद्धरण' विषयक प्रोजेक्टमें कार्य करना शुरु किया तो



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पं० महेन्द्रकुमारजी द्वारा सम्पादित-अनुवादित (मूल) और स्वतंत्र रूपसे लिखी गयी उनकी प्रायः सभी कृतियों-को अत्यधिक नज़दीकसे देखने-पढ़नेका मौका मिला। इस प्रसंगमें उनके द्वारा सम्पादित लगभग सभी मूल-ग्रन्थोंका एक-एक पन्ना पलटा है और कभी-कभी पंक्ति-पंक्तिको देखा है, पढ़ा है। उस सबको देखकर-अनुभव कर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। उनकी सम्पादन पद्धति आधुनिकताके साथ प्राचीनताको भी साथमें लिए है, जो कि अपने आपमें अनूठी एवं बेजोड़ है।

जैन और जैनेतर ( वैदिक, बौद्ध, सांख्य, योगादि ) शास्त्रीय सन्दर्भों-प्रसंगोंकी उनको जो स्मृति, उपस्थिति और जानकारी रही है, उससे पंडितजीकी जन्मजात प्रतिभा, अथक अध्यवसाय, स्तुत्य स्मरण-शीलता, अगाध विद्वत्ता और प्रखर दार्शनिकताका सहज पता चलता है। आधुनिक सम्पादनपद्धति और तुलनात्मक अध्ययनकी दृष्टिका पंडितजीने यथासम्भव बखूबी उपयोग किया है।

पं० महेन्द्रकुमार जीकी उपर्युक्त विद्वत्ता, प्रतिभा, अध्ययन-अध्यापन क्षमता, स्मरणशीलता, अथक अध्यवसाय आदिको देखकर मैं उन्हें महान् दार्शनिक आद्य शंकराचार्यके नज़दीक देखता हूँ।

प्रो० महेन्द्रकुमार जीने अल्प आयुमें ही जो-जो कार्य कर दिये, वे कार्य शायद अनेक विद्वानोंकी टीमसे भी संभव न हो पाते। उनके द्वारा लिखी गयी ग्रन्थोंकी तुलनात्मक-समीक्षात्मक एक-एक प्रस्तावना अलग-अलग पी-एच० डी० की उपाधि की योग्यता और समकक्षता रखती हैं। यह उनका कृतित्व ही है जो पण्डितजीकी अमर गाथा गाता रहेगा। उन्होंने भारतीय दर्शन विशेषतः जैनदर्शनकी जो सेवा की है, वह असाधारण एवं आश्चर्य पैदा करनेवाला है। जैन-धर्म-दर्शनके प्राचीन क्लिष्ट, दुरूह, महनीय एवं विशाल दर्शनपरक शास्त्रोंका उन्होंने जो असाधारण योग्यता-विद्वत्ता और कठिन परिश्रमसे सम्पादनादि-अनुवादादि कार्य किया है, तुलनात्मक तथा चिन्तनपूर्ण प्रस्तावनाएँ लिखीं हैं वह शायद पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के ही वशकी बात रही है।

इस महान् विद्वान्, दार्शनिक और लेखक के प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए गौरव का अनुभव करता हूँ।

## गम्भीर अध्येता

• आयुर्वेदाचार्य भैया शास्त्री, शिवपुरी एवं समस्त शास्त्री परिवार

जैन सिद्धान्त एवं न्यायदर्शनके चिंतन मननशील गम्भीर-अध्येता समस्त ज्ञानके भण्डार वर्णीजीके पश्चात् सर्वप्रथम न्यायाचार्य बननेवाले डॉ० महेन्द्रकुमारजी की सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। प्रायः अच्छी वस्तुका संयोग थोड़े ही दिन रहता है, पं० जीसे बड़ी भारी आशायें थीं कि डॉ० सा० जैनधर्मका प्रचार-प्रसार बड़ी द्रुत गतिसे करेंगे किन्तु असमयमें ही हमारे बीचसे उठ गये।

इतने अल्पसमयमें जो भी पं० जी०ने किया वह थोड़ा नहीं है, उनके द्वारा सम्पादित, अनूदित दार्शनिक ग्रन्थ, टीका ग्रन्थ, मौलिक रचनाएँ आगामी पीढ़ीके शोधार्थी विद्वानोंको ज्ञानाराधन करानेके मार्गदर्शन देकर पर्याप्त सहायक होंगे।

स्मृति-ग्रन्थ द्वारा दिया गया सम्मान चिरस्मरणीय रहेगा, हम सभी शास्त्री परिवार जन उनके प्रति कृतज्ञता प्रस्तुत करते हुए अपने अनन्त श्रद्धा सुमन समर्पण करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# बचपन की कुछ यादें

• सौ० आभा भारती, दमोह ( सुपुत्री स्व० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य )

क्या भूलूँ क्या याद करूँ,
क्या लिखूँ क्या ना लिखूँ,
का यहाँ सवाल ही नहीं ।
याद ही है चन्द बातें, चन्द घटनाएँ,
और कुछ लम्हों का लड़कपन ।

मैं मात्र पाँच वर्ष की थी जब मेरे पिताजी नहीं रहे थे । पिताजीको हम सब दादा कहते थे । दो वर्ष की थी तभी माँ स्वर्ग सिधार गयी थीं। मानस पटलपर आती है एक तस्वीर हर रात दादाके सीनेसे बन्दर समान चिपक कर सोनेकी । चौकीदारकी आवाज 'जागते रहो' सुनकर और सट जाने की । बड़ी भयावह आवाज लगती थी वह ।

एक दूसरी तस्वीर उभरती है दादासे एक पल की असहनीय जुदाईसे सम्बन्धित । अलगावके भयसे लम्बा-लम्बा स्कूलसे गोल मारना । भाई-बहनोंके उलाहनेपर, कि अब तुम्हारा नाम स्कूलसे कटने वाला है, स्कूल जाना और आधी छुट्टीमें भाग आना । घरपर दादाको न पाकर रोना-चिल्लाना । मिलनेपर पुनः गोदमें सवार हो जाना । हाँ, एक बात और याद आती है, स्कूल जाते समय हम सबको इकन्नी ( एक आना ) मिला करती थी, उसके बावजूद नहीं जाना तो नहीं जाना । इसी कारण पहलीमें एक साल फेल हो गयी मैं । एक बार अपनी एकन्नी मुँहमें दबाए मस्त सोफे पर लेती थी मैं । एकन्नी गलेमें फँसते हुए पेटमें सरक गयी । घरमें बेचारी बूढ़ी दादी ! अकेली क्या करती । कालेजसे पिताजी घर आये और साईकिल पर बैठा डाक्टरके पास ले गये । पहली बार एक्सरे-कक्ष देखा और मेरा एक्सरे हुआ । सलाह दी गयी चिकने पदार्थ हलुआ, केला आदि खिलाने की । रोज सुबहसे हलुआ मिलने लगा । मैं सबसे कहती तुम भी एकन्नी गुटक जाओ हलुआ खानेको मिलेगा । यह सुनकर भाई-बहन चिढ़ाते, पर दादा हँस देते थे ।

एक अन्य तस्वीर माँ के अभावमें पिता ही हम चारों भाई-बहनोंको भोरसे नहला-धुला तैयार कर देते थे । स्कूल जानेके वक्त मैं हमेशाकी तरह रोते-चिल्लाते न जानेकी जिद्दपर अड़ी थी । इतनेमें पहली और अन्तिम बार तड़ाकसे सैन्डिल पहनाते-पहनाते एक चांटा गाल पर दादाने जड़ दिया । मेजपर बैठे-बैठे ही मेरे कपड़े गीले हो गये । पिताजी असीम दुःखमें डूब गये । मैं ना जाने कब तक रोती रही, याद ही नहीं ।

फिर आये वे दिन, जिनकी भयानकता पता नहीं थी तब । पर आज तक प्रभावित करती रही । काल मँडरा रहा था आस-पास । पिताका बाँया सम्पूर्ण अंग लकवा ग्रस्त हो गया था । न बोल सकते थे, न चल फिर और न ही हिल-डुल सकते थे । बिस्तरपर लेटे, नाकमें नली लगी थी । मैं पाँच साल की थी तब । आँगनमें खेलनेमें मस्त । पिताने इशारेसे पास बुलवाया । दाँया हाथ सिरपर फेरा । उनके गालों पर आँसू की कुछ बूँदे ढुलक पड़ीं । यही है वह जीवित अंतिम दृश्य मेरी तिजोरी में । पूँजी बन बैठा है । सिर-पर उनका वह दाँया हाथ आज तक बना है ।

फिर याद आता है दो-चार दिन बाद हा-हाकार करती बेहिसाब भीड़ । काशी हिन्दू विश्वविद्यालय-का विशाल घर छोटा पड़ गया था । सामने डाक्टर राजबली पाण्डे रहते थे । जो बादमें जबलपुर विश्व-विद्यालयके कुलपति हुए । उन्होंने ही सब बच्चोंको अपने घर बुलवा लिया था । अर्थीका दृश्य भी हमें नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिखाया गया। शायद इसीलिए मैं आज तक अपने दादाको खोजती रही। समझ ही नहीं सकी कि वे अब इस लोकमें नहीं रहे। वे मुझे कभी छोड़ सकते हैं यह बात मेरे लिए कल्पनातीत थी। वे मेरे और मैं उनकी थी। होश सँभालनेपर जहाँ-तहाँ, जाने-अनजाने विद्वानोंसे पूछती रही कि आप मेरे पिता पं० महेन्द्रकुमार जैनको जानते हैं। उत्तर मिलता हाँ कौन नहीं जानता। पर कोई नहीं बताता कहाँ हैं वे। सब कहते, वे प्रकाण्ड पण्डित थे, उनके लेखन, उदारता, वात्सल्य की बात जरूर बताते। और बता भी क्या सकते थे।

कालचक्र आगे बढ़ता गया। पिताका वही दाँया हाथ, वरदहस्त बन हम सब अबोध भाई-बहनोंपर आशीर्वादकी अदृश्य बरसात करता रहा। पिता-प्रदत्त सारगर्भित नामोंके साथ हम घनघोर अभावमें बड़े हुए। बड़ी दो बहनें मणिप्रभा और प्रभादेवीके विवाह दादा ही ने सम्पन्न कर दिये थे। बड़े भाई पदम और अरविन्द जो उस समय मात्र १६ वर्ष और ९ वर्षके थे, आज अपने-अपने क्षेत्रके प्रतिष्ठित इन्जीनियर हैं। तब मात्र ७ वर्षकी बहन आशा आज प्रसिद्ध स्त्री-रोग-विशेषज्ञ है। लगता है पिताको पता था कि आशा ही उनके जीवनकी आशा बनेगी। तभी तो उसीके निमित्त स्मृति-ग्रन्थका यह दुरूह, महान् कार्य आरम्भ हुआ और सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ जा रहा है। महाराज श्री ज्ञान-सागरजी की प्रेरणा रंग लायी। पिताजी की मृत्युके लगभग साढ़े तीन दशक बाद यह स्वप्निल आशा साकार हो रही है। इस अपूर्व कार्यमें आशाको पति अभयजी का अभयदान मिला और मुझे अपने पति संतोषजी द्वारा संतोष। मध्यप्रदेशके आदिवासी जिले सरगुजासे शुरू हुई शुरुआत समाप्त हो रही है। साथ ही पिताको ढूँढनेकी हमारी अनवरत खोज भी। आज हम सब भाई-बहनोंको सबके सहयोगसे हमारे दादा मिल गये।

## न्यायशास्त्र के तलस्पर्शी ज्ञाता

• श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल, वाराणसी

मई सन् १९४९ को भारतीय ज्ञानपीठके प्रांगणमें श्रद्धेय पं० महेन्द्रकुमारजीसे जो आत्मीयता मिली थी वह आज भी ताजी है। उनका असीम प्रेम हमें ज्ञानपीठके कार्यकर्ता होनेके नाते ऐसा मिला था कि उसे भुलाया नहीं जा सकता।

वे अद्वितीय प्रतिभाके धनी थे। अगाध पाण्डित्य पूर्ण प्रतिभा उन्हें विरासतमें मिली थी। न्यायशास्त्र-का तलस्पर्शी ज्ञान इतना विशाल था कि उसकी तुलना नहीं की जा सकती। उनकी लौह लेखनीसे जिन ग्रंथोंका सम्पादन हुआ है वह उनकी प्रतिभा, अध्यवसाय, लगन और कर्मठताका परिचायक है। सहज रूपमें बड़ीसे बड़ी गुत्थीको सुलझानेकी उनकी तीक्ष्णबुद्धिका काम था। बड़े-बड़े विद्वान् उनके सामने नतमस्तक हो जाते थे। उनका मौलिक चिन्तन अद्वितीय था।

भारतीय ज्ञानपीठकी प्रतिष्ठा बढ़ाने तथा उसे समुन्नत बनानेके लिये महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है और अन्तिम समय तक वे उसके प्रति समर्पित बने रहे।

ऐसे महामनीषीके प्रति अपने श्रद्धासुमन समर्पित करते हुए गौरवका अनुभव कर रहा हूँ।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# स्मृति-पत्राञ्जलि

• श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, दिल्ली

स्नेही भाई,

कैसी विडम्बना है कि जो पत्र आप कभी मेरे विषयमें लिखते, वैसा पत्र आपकी स्मृतिमें मैं लिखनेके लिए रह गया हूँ। आप थोड़ी आयुमें ही इतना कुछ कर गये। वाग्देवीके यशस्वी एक पुत्रके रूपमें उनकी वेदी पर इतने सुरभित चिर-अम्लान कमलपुंज चढ़ा गये कि पीढ़ियाँ उनकी सुवाससे माँके मन्दिरको महकता पाकर अपनी साँस-साँसको धन्य कर लेंगी। यह जो स्मृति ग्रन्थ फागुल्लजीने मेरे वरिष्ठ स्नेही मित्रोंके सहयोगसे प्रस्तुत किया है वह आद्यन्त आपके आगमिक और साहित्यिक अवदानकी गाथासे भरा-पूरा है। इस सम्बन्ध में मैं अब क्या कहूँ। भारतीय ज्ञानपीठके माध्यमसे, उसके बहुविध कार्यकलापके माध्यमसे और समाजके अनेक अनेक सांस्कृतिक आयोजनोंसे हम दोनों भागीदार रहे और विकासके वे आह्लादकारी क्षण—वर्ष कर्तव्य-निष्ठाके आत्म-तोषसे परितृप्त बिताये—ऐसे गुरुजनों और बन्धुओंके बीच जो युगके शलाका पुरुष थे—प्रातः स्मरणीय वर्णीजीने अपने पावन प्रयत्नसे जिस कल्पवृक्षको स्थापित किया, उसकी शाखाओं-प्रशाखाओंने, परितृप्त हृदयोंको ज्ञानकी छाया और विद्याके विकासके आश्रय-स्थल प्रदान कर दिए। प्रिय भाई महेन्द्रजी, आपने पूज्य वर्णीजीके ज्योति कलशके जलसे अनेक संस्थाओंको सींचा और आलोकसे उद्भासित किया। कैसे सौभाग्यके वे दिन थे जब डाक्टर हीरालालजी, डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचन्दजी, सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्दजी आदिके साथ हम दोनों बैठकर न केवल उन्हीं विद्वानोंसे मार्गदर्शन प्राप्त करते थे, अपितु उनके स्नेहसे आश्वस्त होकर उनके साथ विचार-विनिमय करते थे, तथा नीति-निर्धारणमें सहयोगी बनते थे, हम दोनों कितनी-कितनी बार माननीय साहू शान्तिप्रसादजीके अद्भुत् गुणोंसे प्रभावित होकर नयी-नयी योजनायें बनाया करते थे और श्रीमती रमा जैन भारतीय ज्ञानपीठकी सहृदया अध्यक्षाके तत्वावधानमें कठिनाईयोंको सहजतासे हल कर लिया करते थे। आप ज्ञानपीठसे सम्बन्धित तो बहुत वर्षों तक रहे, किन्तु ज्ञानपीठके सम्पादक और वाराणसी कार्यालयके अधिकारीके रूपमें कुछ ही वर्षों तक काम कर पाये। हमने कितने उतार-चढ़ाव—कहना चाहिए चढ़ाव-उतार देखे। बहुत ही उन्नत कल्पनाओंसे आप आविभूत होकर ऊँचेसे ऊँचे शिखर छू लेना चाहते थे और ज्ञानपीठ को उन शिखरों तक ले जाना चाहते थे। जो हो सका, बहुत हुआ। जो नहीं हो सका उसे सोचकर मन खिन्न हो जाता है। अनेक द्रावक क्षणोंमें आप अपने मनकी बात मुझसे कहते थे और जब पाते थे कि व्यवस्था आपके मनके अनुकूल नहीं हो पा रही है तो निराशासे भर उठते थे। श्रीमती रमा जैनके अनेकों पत्र अभी-अभी मैंने देखे जब उन्होंने बड़ी शालीनता और कुशलतासे प्रयत्न किया कि वैयक्तिक मत-भेद या दृष्टिकोण ज्ञानपीठकी प्रगतिमें बाधक न बने तथा संस्थामें सामञ्जस्य का वातावरण दृढ़ हो। वास्तवमें वे दिन ज्ञानपीठके प्रारम्भिक विकास के थे। उस समय, कहना चाहिये, ज्ञानपीठका अस्तित्व था ही नहीं। संस्थाकी स्थापनाकी प्रारंभिक कल्पना 'जैन ज्ञानपीठ' की थी। उसी नामसे पहला संकल्प-पत्र प्रकाशित हुआ और ज्ञानपीठका पहला प्रकाशन भी जैन ज्ञानपीठकी पताकाके अन्तर्गत हुआ। वह प्रकाशन था 'आधुनिक जैन कवि' जिसके संपादनका दायित्व रमाजीको साहू शान्तिप्रसादजीने दिगम्बर जैन परिषद्के कानपुरके खुले अधिवेशनमें कवि सम्मेलनकी परिसमाप्ति पर घोषित किया था। उससे कुछ समय पहले ही मैं साहूजीके सचिवके रूपमें डालमियानगरमें नियुक्त हुआ था और जैन ज्ञानपीठ की स्थापनाकी प्रारंभिक चर्चा चली थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रिय भाई,

बात करते-करते मैं कहाँसे कहाँ पहुँच गया। ज्ञानपीठका विस्तार होता रहा—डालमियानगर, कलकत्ता और दिल्लीके बीच, किन्तु आप और पंडित फूलचन्दजी, उस समयके निकट सहयोगियोंके साथ जैन वाङ्मयकी सेवामें जुटे रहे और ज्ञानपीठको जैन ग्रन्थोंके प्रकाशनके यशका भागीदार बनाते रहे। ज्ञानपीठने ज्ञानोदयका प्रकाशन प्रारंभ किया तो आपने और पंडित फूलचन्दजीने जैन विद्याके क्षेत्रमें नया प्रकाश-स्तम्भ स्थापित कर दिया। ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित ज्ञानोदय तीर्थंकरोंकी उदार छाप और मानव कल्याणकी भावनाका पक्षधर बना। सामाजिक चेतनाका यही विश्व-कल्याणकारक रूप ज्ञानोदयमें उभरा। हरिजन मंदिर प्रवेश, अछूतोद्धार, सामाजिक क्षेत्रमें विभिन्न जातियों-उपजातियोंके संपर्कको दृढ़ करनेकी प्रतिज्ञा आदि सारे विकासोन्मुखी प्रश्न ज्ञानोदयमें प्रतिबिम्बित हुए हैं।

जैन शास्त्रोंका विपुल भण्डार जो ज्ञानपीठमें आपके व्यवस्था-संचालनके समय आया और उसने समाज की अनेक प्रतिभाओंको उत्साहित किया वह ज्ञानपीठके इतिहासका समृद्ध और समुज्ज्वल समय था।

आप निरन्तर साथ रहे, और जब अन्ततोगत्वा आप विश्वविद्यालयमें चले गये तो भी जैन ग्रन्थोंका संपादन करते रहे और ज्ञानपीठकी प्रतिष्ठाको चमकाते रहे।

एक पूरा इतिहास है। जीवनके वे उभरते-उठते अमूल्य क्षण उत्तेजक, प्रेरक दिन स्मृतिमें बसे हुए हैं। आप इतनी जल्दी क्यों चले गये? और मैं हूँ कि आज भी बैठा हूँ। लेकिन कितने दिन?

हृदय की समस्त कुण्ठा और प्रेमसे आपको स्मरण किया है।

स्वीकार करें यह पत्राञ्जलि यह विनयाञ्जलि।

# असाधारण विद्वत्ताके धनी

• डॉ० रतन पहाड़ी, कामठी

वदनं प्रसाद सदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः॥

प्रसन्नतासे युक्त ही जिनका मुखमंडल है दयासे पूर्ण जिनका हृदय है—परोपकार ही जिनका कृत्य है। ऐसे पुरुष किनके द्वारा वन्दनीय नहीं होते हैं?

डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका व्यक्तित्व जब स्मृतिपटल पर घूमता है तो ऐसे ही गुणोंसे युक्त उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व, कृतित्व दृष्टिगोचर होता है।

आज उन्हें बिछुड़े ३ दशकसे अधिक हो गए। साधारण व्यक्तित्व होता तो जनमानस जिसकी प्रवृत्ति विस्मरणशील होती है, भुला दिया जाता किन्तु असाधारण विद्वत्ता तथा असाधारण लेखनी और असाधारण अमूल्य ग्रन्थोंके प्रणेताकी स्मृतिको सजीव करनेका श्रेय एक उपाध्यायश्रीको मिलेगा यह कभी स्वप्नमें भी कल्पना नहीं की गई थी। उपाध्यायश्री ज्ञानसागरजी महाराजने उनपर गोष्ठीका आयोजन करके तथा उनके स्मृति ग्रन्थकी रूपरेखा हेतु पुरस्कर्ताके रूपमें प्रेरणास्रोत बनकर स्मृतिको पावन रूप देनेका स्तुत्य कार्य किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पं० महेन्द्रकुमारजीके ग्रन्थोंके सम्बन्धमें, उनकी विद्वत्ताके सम्बन्धमें, उनके असाधारण व्यक्तित्वके सम्बन्धमें इसी स्मृति ग्रन्थमें पर्याप्त प्रकाश डालकर उन्हें अक्षुण्ण अजर-अमर बनानेमें तथा उनपर शोध करके दुर्लभ सामग्री प्रस्तुत करके एक उपेक्षित महान् विद्वान्की स्मृतिको देरसे ही सही प्रस्तुत करने का कृतज्ञ कार्य किया है।

मैं पं० महेन्द्रकुमारजीका बड़ा दामाद हूँ। दामादको दशम ग्रहकी संज्ञा दी जाती है। दामाद कभी असन्तोष कभी सन्तोष तथा अनेक पारिवारिक हिन्डोलोंमें झूलता है।

पं० जीका मैं १९४० में स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयका विद्यार्थी भी रहा और १९४२ में जेल गया इस कारण पं० जीका आकर्षण मेरे प्रति मेरे काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें अध्ययन कालसे ही बढ़ता गया। और न चाहते हुए भी अनेक स्रोतोंसे दबाव डालकर उनका दामाद बन गया।

पं० जी वैसे तो ज्ञानपीठमें अपनी टेबुल पर बैठकर बड़े सबेरेसे काममें जुट जाते थे लेकिन साहित्यिक और साहित्य सृष्टा की जो गति होती है—उसके उदाहरण देशके साहित्यिकोंके लोगोंके सामने हैं पं० महेन्द्र-कुमारजी न्यायाचार्य इस दृष्टिसे तथा पारिवारिक जिम्मेदारियोंको निभानेकी दृष्टिसे अगर मुँह खोलकर कहा जाय तो स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि इस व्यक्तिने सदैव ही अपनेको ग्रन्थ प्रणयनमें खपा दिया, अपने परिवार हेतु साधन जुटानेकी ओर ही खपा दिया—उसका फल भोगनेका जब समय कभी आया और ख्यातिकी चरमसीमा जब छूनेको आई तो पं० जी को कालने अपने आगोशमें छिपा लिया।

एक बारका प्रसंग मुझे याद आ रहा है। पं० जी काशी छोड़कर बम्बई सर्विस हेतु जा रहे थे। स्याद्वाद विद्यालयमें विदाई समारोह मनाया जा रहा था उस समय पं० जीकी असमंजस स्थिति तथा आर्थिक स्थितिकी स्पष्ट रूपरेखा उनकी मुखाकृति पर स्पष्ट देखी जा सकती थी। पं० कैलाशचन्द्रजीने उनकी विदाई पर जो मार्मिक उद्गार प्रकट किए थे वे आज भी मुझे याद हैं—उन्होंने कहा था कि साइकिलकी गतिको वशमें करनेके लिए ब्रेक लगाया जाता है—वह ब्रेक अपने काबूमें व्यक्तिको रखना होता है पं० जी बम्बई तो जा रहे हैं—मगर लगता है परिस्थितियोंने उन्हें ब्रेक हाथसे छोड़ने पर मजबूर कर दिया है।"

और वही हुआ कि पत्नी अथवा घरकी स्थितियोंमें पं० जी ऐसे घिरे कि उन्हें बम्बई छोड़ना ही पड़ा और पुनः काशी वापस आना पड़ा।

एक इतना बड़ा विद्वान् जिसने सबसे पहले न्यायाचार्य होनेका गौरव प्राप्त किया हो, एक इतना बड़ा विद्वान् जिसकी टीका पर सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन् जैसे विश्वविख्यात उपकुलपति भी प्रभावित हुए हों और डाक्टरेट भी उसी टीका पर मिली हो—ऐसे महामनीषीका इतना करुण अन्त और अन्तमें जो स्थिति आई उसका स्मरण हो आता है तो शरीरमें कांटे उठ आते हैं—भला इतना हो क्यों ? इससे भी भयानक स्थितिका सामना पं० जी के जीवनमें पं० जीने किया है।

पं० जीके घरमें रेडियोके वायर लगाने के लिए बाँस लाए थे—बाँस लगने में थोड़ा समय लग गया पं० जीकी दूसरी पत्नीकी इसी अन्तरालमें मृत्यु हो गई—और वे बाँस चिता सजानेके काममें आए। ऐसा जीवन जीने वाला व्यक्तित्व कितना सहनशील होगा—इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इतना ही नहीं श्मशानघाटसे पं० जी आकर घर में बैठे हैं हमारे एक मित्र श्री मूलचंदजी बडजात्या पं० जीसे मिलने भाग्यसे पहुँचे। उन्हें कुछ भी घटनाका आभास नहीं था—मगर वातावरण उदासी का था। और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पं० जी सहजभावसे बात कर रहे हैं—हालचाल पूछ रहे हैं और बात के दौरान बता रहे हैं कि पत्नीका निधन हो गया है—अभी वहींसे आ रहे हैं।

पं० जी में एक खासियत थी—वे किसीके भी कार्यके लिए दौड़ पड़ते थे। यही सबके लिए दौड़ पड़ना उनके स्वास्थ्यके लिए विशेषकर अन्तिम समयमें दुखद बनकर उनकी मृत्युका कारण भी बना यह एक कटु सत्य है जिसका उल्लेख बस इतना ही करना समीचीन होगा।

आजके पंडित वर्गकी तुलना में—पुस्तकों पर पुरस्कारोंकी बौछार होनेकी तुलना में—पारिश्रमिक की दृष्टिसे आजमें और तबमें जमीन आसमानका अन्तर है। आज पाँचों उगलियाँ घीमें हैं अगर कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी और पहले पंडित वर्गका जीवन पिसता था और उसमेंसे विद्वत्ता निखर-निखर कर आती थी क्योंकि तब यही नीति थी—

जीर्णमङ्गे सुभाषितम्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड : २

# जीवन परिचय व्यक्तित्व एवं कृतित्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

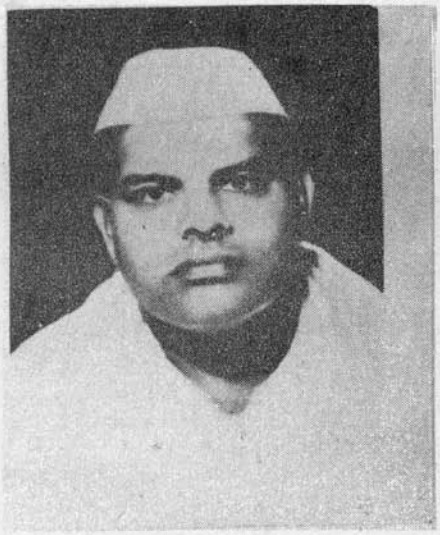
❄❄❄

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# न्यायाचार्य डॉ० महेन्द्रकुमार जी का जीवन : चित्रमय प्रस्तुति



डॉ० महेन्द्रकुमार जी की पूज्यनीया माँ
श्रीमती सुन्दरबाई



डॉ० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य



श्रीमती नर्मदा बाई
(धर्मपत्नी न्यायाचार्य जी)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के अकलंक सरस्वती भवन के कक्ष में न्यायाचार्यजी



डॉ० न्यायाचार्य जी लेखन और चिन्तन की मुद्रा में



न्यायाचार्य जी धर्मपत्नी के साथ

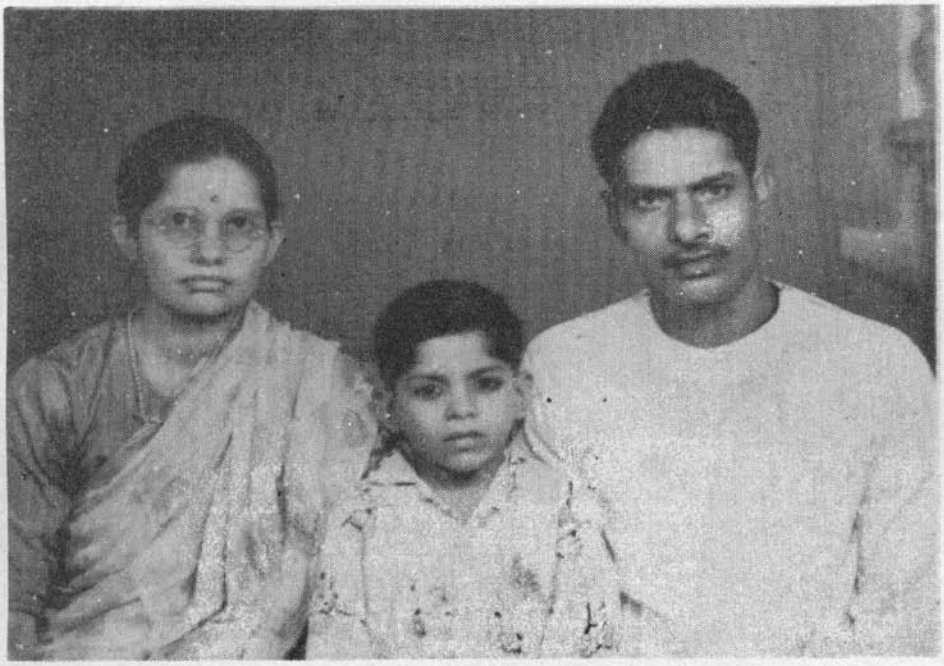


न्यायाचार्य जी अपनी धर्मपत्नी एवं बच्चों के साथ



बहनोई श्री लक्ष्मीचन्द्रजी तथा हीरालाल जी एवं अन्य परिवार के साथ न्यायाचार्य जी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

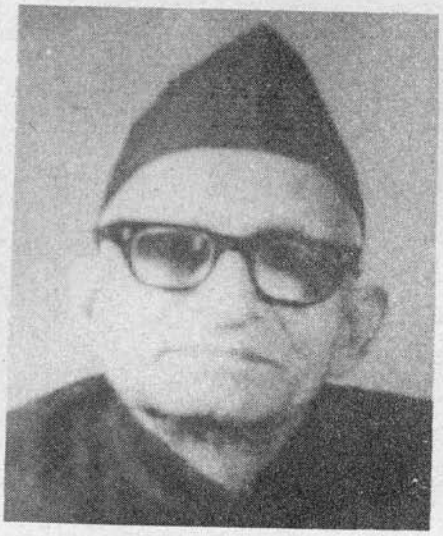


न्यायाचार्य जी के भ्राता श्री मंगलजीत जैन एवं धर्मपत्नी श्रीमती गजराबाई



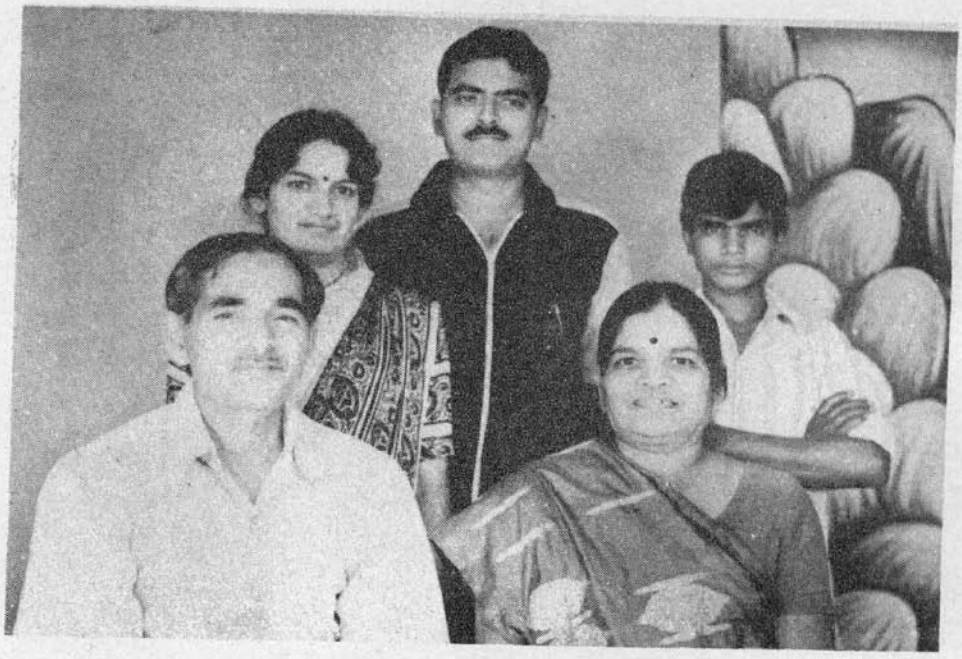
न्यायाचार्य जी के भ्राता श्री धन्यकुमार जैन एवं धर्मपत्नी श्रीमती सीतादेवी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



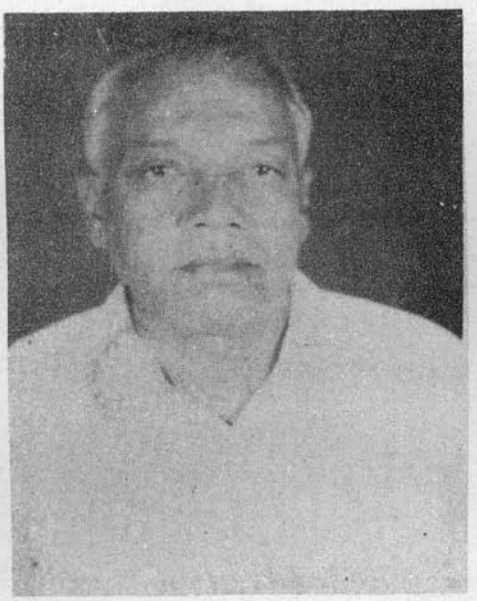


न्यायाचार्य जी के बहनोई पं० हीरालाल जी एवं धर्मपत्नी श्रीमती कान्ता देवी



न्यायाचार्य जी की प्रथम पुत्री श्रीमती प्रभा जैन
एवं दामाद डॉ० रतन पहाड़ी एवं उनका परिवार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org




न्यायाचार्य जी की द्वितीय पुत्री श्रीमती मणिदेवी जैन
एवं दामाद श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन



न्यायाचार्य जी के प्रथम पुत्र श्री पद्मकुमार जैन
धर्मपत्नी श्रीमती विमलादेवी जैन एवं उनका परिवार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



न्यायाचार्य जी के द्वितीय पुत्र श्री अरविन्द कुमार जैन
एवं धर्मपत्नी श्रीमती मधु जैन एवं उनका परिवार

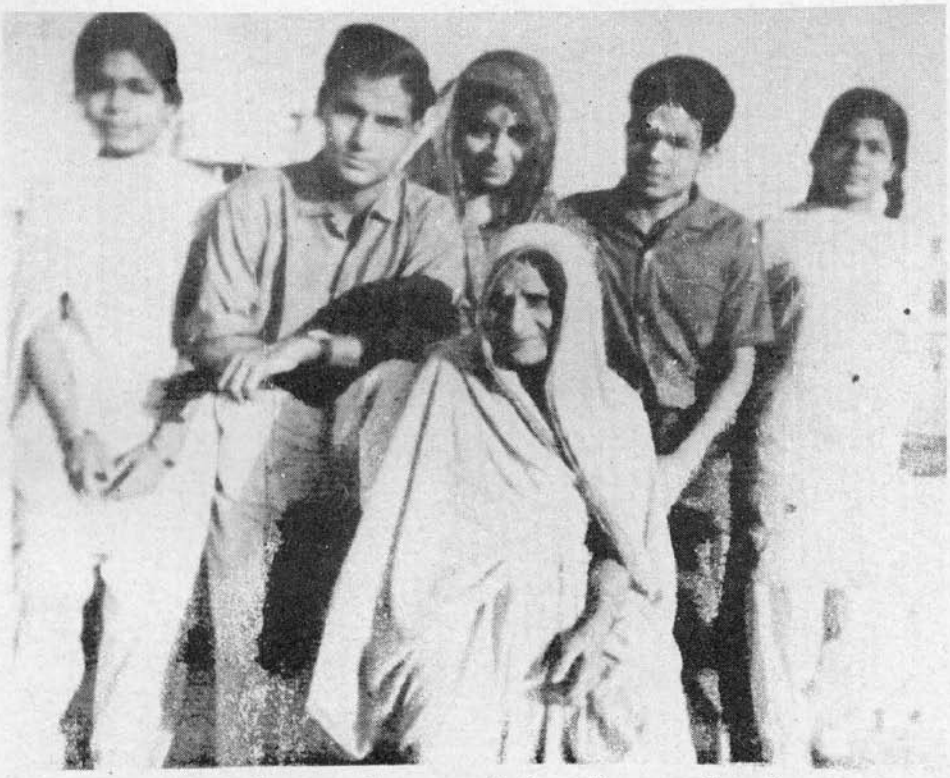


न्यायाचार्य जी की तृतीय पुत्री डॉ० आशा चौधरी
एवं दामाद डॉ० अभय चौधरी एवं उनका परिवार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



न्यायाचार्य जी की चतुर्थ पुत्री श्रीमती आभा जैन
एवं दामाद श्री संतोष भारती एवं उनके पुत्र श्री अनुपम भारती

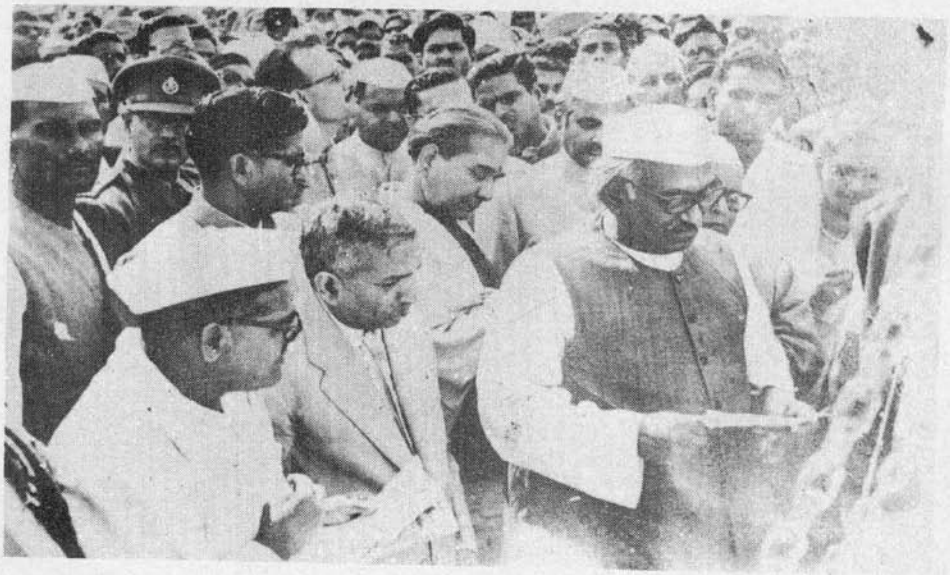


डॉ० महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य की पूज्यनीया माता जी अपने
पोता-पोतियों के बीच

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

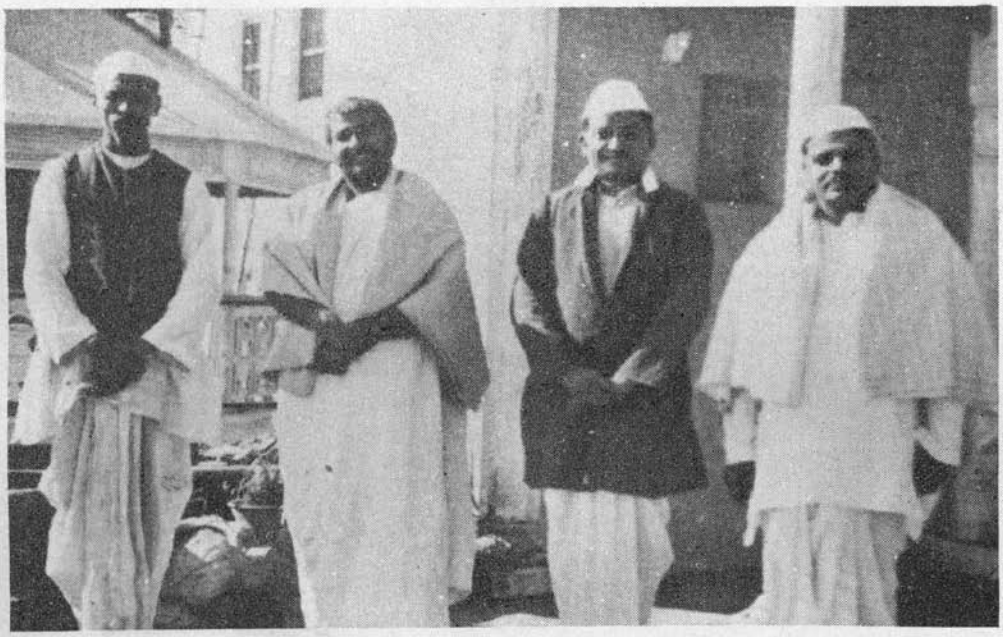


समाजरत्न साहु शान्तिप्रसाद जी और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन की सुपुत्री सुश्री अलका जैन के जैन पद्धति से वैवाहिक धार्मिक कार्यक्रम में मन्त्रोच्चारण करते हुए पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य

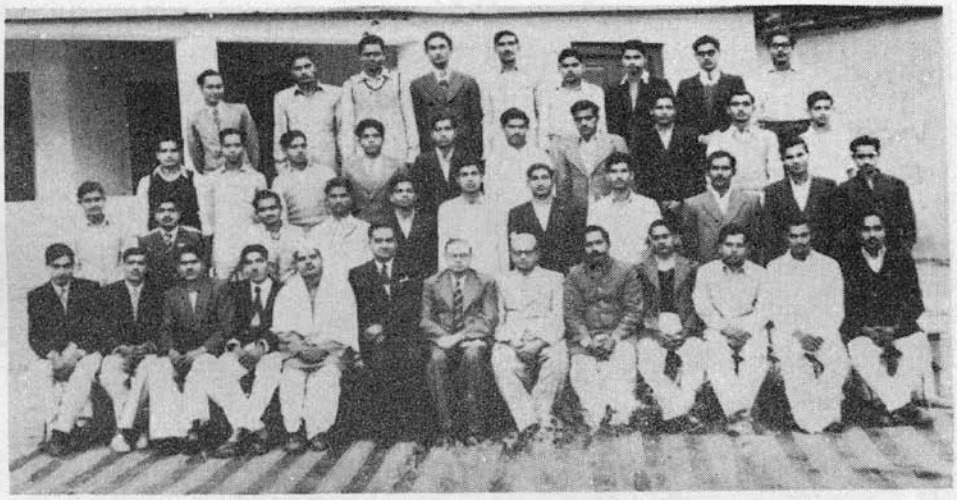


साहु शान्तिप्रसाद जी, पं० कमलापति त्रिपाठी तथा तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द जी एवं श्रीमती रमा जैन आदि अनेक गणमान्यों के साथ न्यायाचार्य जी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

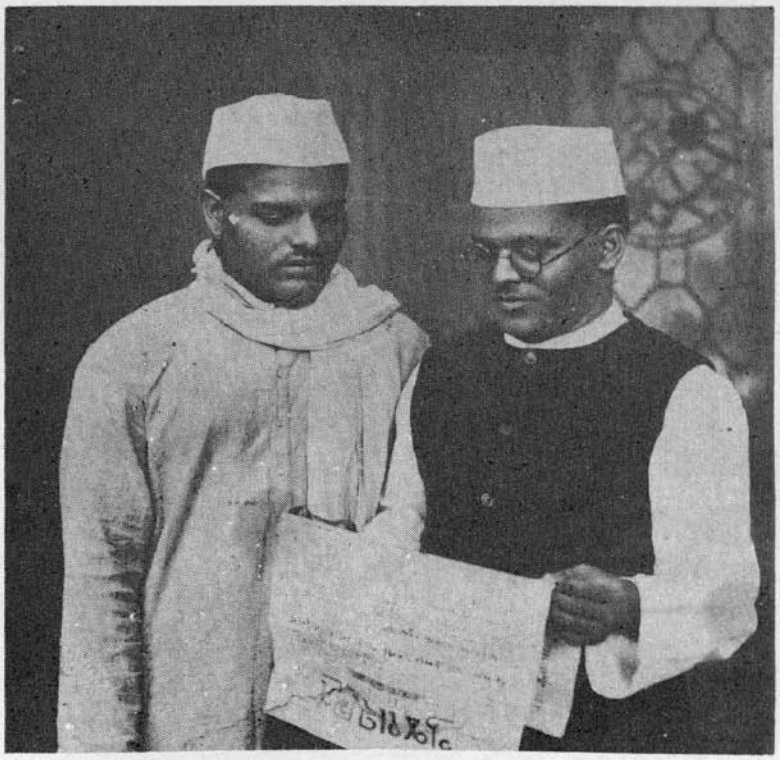


ज्ञानोदय के सम्पादक—श्री मुनि कान्तिसागर जी एवं पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री तथा ज्ञानपीठ के मंत्री श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय के साथ न्यायाचार्य डॉ० महेन्द्रकुमारजी



वाराणसी में नरिया स्थित श्री सन्मति जैन निकेतन (जैन लॉज) संगठन एवं काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय के प्रमुखों के साथ सन् १९५२-५३ में प्रथम पंक्ति में बायें से दायें पांचवें क्रम में बैठे हुए डॉ० न्यायाचार्य जी साथ में हैं चौथे क्रम में हटा के डॉ० शिखर चन्द जी जैन तथा प्रो० एस० जी० दास गुप्ता, डॉ० ए० बी० मिश्र (कुलसचिव), डॉ० एम० एस० वर्मा, प्रो० एस० एम० तिवारी आदि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अभिन्न मित्र पं० परमेष्ठीदास के साथ पं० महेन्द्रकुमार जी



दिनांक १८.८.९५ से २०.८.९५ तक सम्पादक मण्डल की बैठक में
सम्पादक मण्डल स्मृति ग्रन्थ के वाचना में व्यस्त ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# पण्डित महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य : एक-परिचय

• पं० हीरालाल जैन 'कौशल', दिल्ली

आपका जन्म जैन नगरी खुरई ( सागर ) म० प्र० में श्री जवाहरलालजी जैनके यहाँ उनकी पत्नी श्रीमती सुन्दरबाईके कोखसे दि० ११ मई १९११ तदनुसार वैशाख शुक्ला पूर्णिमा वि० सं० १९६८ को हुआ था। बुद्धपूर्णिमाका दिन था। संयोगकी बात है कि हिन्दू विश्वविद्यालयमें बौद्धदर्शनके ही प्राध्यापक पद पर आपकी नियुक्ति हुई। पूर्णमासीको जन्म होनेके कारण आपका नाम पूर्णचन्द्र रखा गया था। खुरईमें प्रारम्भिक शिक्षाके पश्चात् बीनाकी पाठशालासे विशारद तककी पढ़ाई शीघ्र पूरी कर ली। आपका नाम भी महेन्द्रकुमार हो गया। फिर सर हुकुमचन्द महाविद्यालय, इन्दौरमें प्रविष्ट होकर धुरन्धर विद्वान् पं० वंशीधरजी न्यायालंकारसे सिद्धान्तशास्त्र, दर्शनशास्त्रके सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० जीवन्धरजीसे दर्शनशास्त्र तथा पं० शम्भुनाथजी त्रिपाठी व्याकरणाचार्यसे साहित्यका गम्भीर अध्ययन किया। सन् १९२१ में प्रथमश्रेणीमें न्यायतीर्थ तथा अगले वर्ष शास्त्रीकी पदवी प्राप्त की तथा १९ वर्षकी आयुमें शास्त्री-विद्वान् बन गये।

खुरई आ जाने पर वहाँ श्रीमन्त सेठ मोहनलालजी द्वारा संचालित जैन पाठशालामें अध्यापक हो गये। उसी वर्ष दमोहके सिंघई रामलालजीकी सुपुत्री कु० चम्पाबाईसे आपका विवाह हो गया। सन् १९३० में ही स्याद्वाद महाविद्यालय, बनारसमें दर्शनाध्यापकके पद पर आपकी नियुक्ति हो गयी। अपने अध्ययनको जारी रखते हुए बनारस पहुँचने पर न्यायाचार्यकी परीक्षा उत्तीर्ण की। १३ वर्ष तक कार्य करनेके पश्चात् सन् १९४३ में आप श्री महावीर जैन विद्यालयमें अध्यापक बनकर बम्बई चले गये। वहाँ प्रख्यात पुरातत्त्व प्रेमी माननीय नाथूरामजी प्रेमीके सम्पर्कमें प्राचीन ग्रन्थोंकी खोज शोध की। बम्बईमें आप बहुत समय नहीं रह सके। उन्हीं दिनों आपकी पत्नी श्रीमती चम्पाबाईका निधन हो गया। ये अपने पीछे दो पुत्रियाँ प्रभा एवं मणिप्रभा तथा एक पुत्र पदमकुमारको छोड़ गयीं।

स्वनामधन्य साहू शान्तिप्रसादजी तथा उनकी पत्नी श्रीमती रमारानी जैनने प्राचीन ग्रन्थोंकी शोध, खोज, सम्पादन तथा प्रकाशन हेतु भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना की और उसके संचालन और व्यवस्थाके लिए श्री महेन्द्रकुमारजीको बनारस बुलाया गया। आपके अथक प्रयासोंसे संस्थाकी चहुँमुखी उन्नति हुई। संस्थाकी ओरसे आपने 'ज्ञानोदय' नामक पत्र निकाला एवं 'लोकोदय' ग्रन्थमालाकी स्थापना की।

सन् १९४७ में बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटीमें बौद्धदर्शनके प्राध्यापकके रूपमें आपकी नियुक्ति हो गयी। इसी वर्ष आपका दूसरा विवाह कु० नर्मदाबाईसे हुआ। यह भी सात वर्ष बाद १९५४ में एक पुत्र अरविन्द-कुमार तथा दो पुत्रियाँ कु० आशा और कु० आभाको छोड़कर चल बसीं। आप पर गृहस्थीका सारा उत्तर-दायित्व आ पड़ा जिसे आपने बड़ी सावधानीसे निभाया। आप पक्के देशभक्त तथा गांधीवादी विचारधाराके पोषक थे। दिगम्बर जैन परिषद तथा समाजके अन्य बड़े अधिवेशनोंमें आपकी उपस्थिति अवश्य हुआ करती थी।

डॉ० महेन्द्रकुमारजीके दो भाई और हैं श्री मंगलजीतजी एवं धन्यकुमारजी। एवं दो बहनें हैं बड़ी श्रीमती कस्तूरीबाई जो लक्ष्मीचन्द्रजी शास्त्रीको ब्याही थीं एवं दूसरी बहिन श्रीमती कान्तादेवी जो विद्वत्वर्य पं० हीरालाल जैन 'कौशल' को विवाही हैं जो शिक्षाके क्षेत्रमें देशके शिक्षा मंत्री द्वारा राजकीय पुरस्कारसे सम्मानित, महावीर निर्वाण पच्चीस सौवें महोत्सव पर राष्ट्रसंत आचार्य विद्यानन्दजीके सानिध्यमें महामहिम



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपराष्ट्रपति द्वारा 'विद्वत्रत्न' की उपाधि द्वारा सम्मानित विद्वान् हैं। आपके पुत्र डॉ० सत्यप्रकाश जैन समाजसेवी व लेखक हैं।

मेरी रुचिको देखकर श्री महेन्द्रकुमारजीका मुझ पर कुछ विशेष स्नेह था और वे मुझे निरन्तर आगे बढ़ता देखना चाहते थे। इसलिए छुट्टियोंमें प्रायः मुझे अपने पास बुला लेते थे। गर्मीके दिनोंमें शामको माननीय पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, पं० महेन्द्रकुमारजी तथा मैं दुर्गाकुण्डके पार्कमें जाकर बैठते थे। विविध विषयों पर गम्भीर चर्चा होती थी। मैं सभी बातोंको ध्यानसे सुनकर अनेक नई जानकारियाँ ग्रहण करता था और यही उनका उद्देश्य था।

सन् १९५९ में उनका आग्रह था कि मैं गर्मीकी छुट्टीमें बनारस आ जाऊँ। वहाँ दोनों जैनधर्म पर एक पुस्तक लिखेंगे। पर छुट्टी होने पर मैं वहाँ पहुँचता, इसके पूर्व ही २० मईको उनका स्वर्गवास हो गया और वह विचार यों ही रह गया।

वे वास्तवमें महान् थे। उनमें अनेक विशेष गुण थे जिनके कारण वे सर्व सम्मान प्राप्त करते थे। जीवनके सभी क्षेत्रोंमें वे रुचिपूर्वक भाग लेते तथा नाम व यश प्राप्त करते थे। उनका निधन साहित्य और समाजके साथ परिवार एवं सम्बन्धियोंके लिए अपूरणीय क्षति थी।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# उन्हें वर्णीजी का परामर्श प्राप्त था

• श्री नीरज जैन, सतना

विद्वानोंके प्रति पूज्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णीकी ममता सर्व-प्रसिद्ध थी। विशेषकर जिस विद्वान्में जैन विद्याओंके अनुरागके साथ चारित्रिक निष्ठा हो उसके लिये तो बाबाजीके मनमें मातृत्व ही छलकता रहता था। उसके भरण-पोषणके लिये, और उसके मानसिक पोषणके लिये वे सदा चिन्तित रहते थे। यथा-सम्भव उसकी सहायताका भी प्रयत्न करते रहते थे।

पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य एक ऐसे ही "जैन-विद्यानुरागी" तथा "चारित्र-निष्ठ" विद्वान् थे, अतः समय-समय पर उन्हें भी पूज्य वर्णीजीका सत्परामर्श और मार्गदर्शन प्राप्त होता रहता था। जब-जब पण्डितजीके सामने कोई कठिन समय आया, तब-तब बाबाजीने उन्हें अपनी अमृतवाणीसे कभी दिशा-दर्शन कराया, कभी ढाढस बँधाया और कभी प्रेरणा प्रदान की। पण्डितजी भी समय-समय पर अपनी मनो-दशा, या अपनी समस्या बाबाजीके सामने उसी प्रकार बेहिचक रखते थे जैसे कोई पुत्र, अपना अधिकार मानकर अपनी बात पिताके सामने रख देता है। वर्णीजीके पास चर्चामें कई बार उनके बारेमें हमें सुननेको मिलता था। उनके पास वर्णीजीके अनेक पत्र भी थे जिनसे इन स्नेह-सम्बन्धोंका सहज अनुमान होता है।

सन् १९४४ में साहु शान्तिप्रसादने जिन दो-चार विद्वानोंके परामर्शसे भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना की थी, उन विद्वानोंमें पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका नाम शीर्षस्थ था। इतना ही नहीं, साहुजीके अनुरोधपर पण्डितजीने बनारस विद्यालयमें अपनी तेरह वर्षकी नौकरी छोड़कर भारतीय ज्ञानपीठमें अपनी नियुक्ति स्वीकार कर ली और ज्ञानपीठको साहु दम्पतिके सपनोंके अनुरूप आकार प्रदान किया। वह पण्डितजीका युवाकाल था। वर्णीजीने उन्हें ब्रह्मचर्यकी प्रेरणा दी जो उनके जीवन-निर्माणमें बहुत सहायक सिद्ध हुई। वर्णीजीका वह पत्र मैं यहाँ अविकल प्रस्तुत कर रहा हूँ—

श्रीमान् महाशय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य,
योग्य दर्शनविशुद्धि।

एक व्रत हमारी सम्मतिसे पालन करना। इसमें आपका हित है। इन दिनोंमें ब्रह्मचर्यसे रहना—

१–अष्टमी चतुर्दशी।
२–वर्षमें तीन बार दसलक्षण पर्व।
३–वर्षमें तीन बार अष्टाह्निका पर्व।
४–स्त्रीके गर्भमें बालक आने पर, जब तक बालक दो वर्षका न हो जाये, ब्रह्मचर्यसे रहना। इसकी अवहेलना न करना।

विशेष—पं० शिखरचन्द्र जो ईसरीमें है, योग्य है। उसे आप अपने कार्यमें बुला लो। ७५/- और मकान देनेसे वह प्रायः आ जायेगा।

कुवाँर वदी ११, सं० २००१

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

मैं सोचता हूँ एक सदगृहस्थको अपना जीवन सार्थक बनानेके लिये यह परामर्श क्या पूरी जीवन-यात्राका पर्याप्त पाथेय नहीं है ? ऐसी होती थी बाबाजीकी कृपा अपने कृपापात्र विद्वानों पर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके कुछ समय बाद पण्डितजीको इष्ट-वियोगका वह दारुण दुःख झेलना पड़ा जो किसी भी भावुक व्यक्तिको विक्षिप्त करनेके लिये पर्याप्त होता है। पूज्य वर्णीजीने उस दशामें पण्डितजीको इन शब्दों-के द्वारा संवेदना और सान्त्वना प्रदान की—

श्रीयुत पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य,
योग्य दर्शनविशुद्धि।

मैंने श्री पं० गुलाबचन्द्रजी द्वारा आपके इष्ट-वियोगको जानकर कुछ खेदका अनुभव किया। इसका मूल कारण आपसे स्नेह ही है। यहाँ—संसारमें—यही होता है। आपको अब सर्वथा यही उचित है जो इस जालसे अपनेको रक्षित रखें, और स्व-परोपकारमें अपना शेष जीवन पूर्ण करें। यदि यह न हो सके तो जो होना है, वही होगा। संसारमें ज्ञानार्जन उतना कठिन नहीं, जितना उसका सदुपयोग करना कठिन है। "सदुपयोग" से तात्पर्य निवृत्ति मार्गकी प्राप्तिसे है। विशेष क्या लिखें। " × × आप सहसा कोई कार्य मत करना और न गजटोंमें कुछ छपवाना। कुछ दिन बाद जब चित्त स्थिर हो जाये तब अपनी हार्दिक भावनाको प्रगट करना।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

शिक्षा-प्रसार तो बाबाजीका जीवन व्रत ही था। अपने विश्वस्त और समर्पित जनोंसे वे उसमें सहा-यक होनेके लिये भी कहते थे। पं० महेन्द्रकुमारजी उनके प्रति समर्पित तो थे ही, समाज पर भी उनका अच्छा प्रभाव था। जब खुरईमें गुरुकुलकी स्थापना हुई तब, वर्णीजीने पण्डितजीको एक ऐसा ही काम सौंपा था जो उनके ऊपर वर्णीजीके विश्वासका प्रतीक है।

× × ×—"एक बार मैं सागर जाऊँगा। खुरईमें जो गुरुकुलका उद्योग हुआ है, उत्तम है। परन्तु जो मूल द्रव्य है वह बहुत ही न्यून है। गुरहाजीको उचित तो यह था जो दो लाख रुपया देकर कुछ लाभ लेते। श्री सेठजी तो अभी बालक ही हैं, उन्होंने जो दान दिया है वह तो "न" के तुल्य है। गुरहा जी तो अब बार्धक्यका अनुभव कर रहे हैं। सच्चे रूपमें कार्य करें। आजकल बीस हजारमें तो एक चटशाला भी नहीं चल सकती। जब आप खुरई जावें, हमारा उनसे यह सन्देश कह देना।"

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

ज्ञानका फल चारित्र ही है, अन्य कुछ नहीं, यह वर्णीजीकी अटल धारणा थी। वे सदा सबमें ज्ञान-के अनुरूप अनासक्ति और संयमकी परिणति देखना चाहते थे। अधिकांश विद्वान् ऐसा कर नहीं पाते इस बातको लेकर बाबाजी चिन्तित भी रहते थे और अफसोस भी जाहिर करते रहते थे। कुछ ऐसे ही मनो-भाव उन्होंने अपने एक पत्रके माध्यमसे न्यायाचार्यजीपर व्यक्त किये हैं। यह उन दोनों न्यायाचार्योंकी निकटताका भी प्रतीक है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीयुत महाशय महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य,

योग्य दर्शनविशुद्धि।

आदिपुराण यदि पूर्ण छप गया हो तो बाबू रामस्वरूप बरुवासागरके नामसे भेज देना। हम कार्तिक सुदी पूर्णिमा तक सोनागिरि पहुँच जावेंगे। विशेष क्या लिखें।

धर्मका मर्म जिसके ज्ञानमें आ गया उसके शत्रु-मित्र समान हैं।

अभी तो कतिपय मनुष्योंकी प्रवृत्ति है कि "अपनी शान रह जावे, दूसरा कोई चाहे गर्तमें जाये।" मेरी सम्मति तो यह है कि आपने ज्ञान पाया है तब स्वप्नमें भी किसीको शत्रु न समझना।

जिस चिन्तनासे संक्लेश हो वह चिन्तना किस काम की ?

ज्ञानका फल "उपेक्षा" भी है।

अज्ञान-निवृत्तिकी अपेक्षा उपेक्षा बहुत मूल्य रखती है।

क्या कहें, जन्म बीत गया परन्तु शान्तिका उदय न आया।

इसमें किसीका अपराध नहीं।

हमारी मोहकी बलवत्ता है जो अद्यावधि शान्तिको तरसते हैं।

अस्तु, जिसमें आपको शान्ति मिले वही कार्य करना।

फाल्गुन सुदी ६, सं० २००७

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

ऐसा लगता है कि पण्डितजीका जीवन सुगम नहीं रहा। उनके सामने अवश्य कोई ऐसी परिस्थिति आई होगी जिससे उनके मनमें अस्थिरताका अँधेरा व्याप्त हुआ होगा। शायद ऐसी ही किसी बेलामें वर्णी-जीने बहुत हिम्मत दिलानेवाला एक पत्र अपने इस प्रिय शिष्यको लिखा।

श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य,

दर्शनविशुद्धि।

पत्र आया, वृत्त जाने। हमको कोई चिन्ता नहीं। चिन्ता यह रहती है कि विद्वान् लोग निश्चिन्त रहें क्योंकि जगत्का सद्व्यवहार इनके ऊपर रहता है। आप निश्चिन्त रहिये।

वह वस्तु आपको मिली है जो असंख्य द्रव्यसे नहीं मिलती।

पण्डित लोग एक मत हों यह असम्भव है।

जिस चक्रमें जगत् रहता है, वे भी उसीमें हैं। मात्र ज्ञान अधिक है।

इनके ज्ञान है, किसीके धन है। किसीके अज्ञान है।

मूल वस्तुके सद्भावमें तीनों ही कल्याणके पात्र हैं।

हम क्या लिखें ? हम भी अपनी गणना इसी चक्रमें मानते हैं।

अतः आप आनन्दसे जीवनयापन करो।

जैन साहित्यका विकास इन महानुभाव पण्डितोंसे होना दुर्लभ नहीं, परन्तु इनकी आभ्यंतर दृष्टि ही नहीं है। खेद इस बातका है कि कूपमें ही भाँग पड़ी है। किसे दोष दें ?

गया, भाद्रपद वदी २, सं० २०१०

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवत् २०१२ के भादों-क्वाँरके ये वह दिन थे जब पूज्य बाबाजी बुन्देलखण्ड छोड़कर पारस प्रभुके पादमूलमें अपनी सल्लेखना-साधनाके लिये जा रहे थे। मार्गमें गयामें उनका १९५३ का चातुर्मास हुआ। वहींसे उपरोक्त पत्र लिखा गया। वहींसे लिखा हुआ एक और पत्र पण्डितजीके नामका प्राप्त हुआ है।

उन दिनों पं० महेन्द्रकुमारजी भारतीय ज्ञानपीठ छोड़कर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें आ चुके थे। जैनदर्शनको उद्योतित करनेवाली अपनी अमर कृतिका सृजन वे कर चुके थे, परन्तु शायद उसके प्रकाशनमें कुछ बाधा उनके सामने रही होगी। कहीं किसीने इस बारेमें उन्हें निराश किया होगा। उधर स्याद्वाद विद्यालयके अधिष्ठाता-पदसे भी, जातिवादके जहरके कारण, वे उपराम हो चुके थे। उनकी ऐसी मनस्थितिमें उन्हें वर्णीजीने इन शब्दोंमें साहस दिलाया—

श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य
योग्य दर्शनविशुद्धि

आपकी कृति जो दर्शन-शास्त्र, जिसके लिखनेमें आपने अथक परिश्रम किया है, समय पाकर चन्द्रवत प्रकाशित होगी। मनमें अणुमात्र भी पश्चाताप न करना। जो, कोई भी आदर करने वाला नहीं। सर्व कार्य समय पाकर ही होते हैं।

आपके चित्तमें जो हो सो करना। यदि अधिष्ठाता-पदसे ग्लानि है तो छोड़ देना, परन्तु सामान्य उपद्रव हों तब मत त्यागना। अथवा आपको जो रुचे सो करना। हम उसके रोकने वाले कौन? आजकल एक अभिप्राय होना कठिन है। पंचम काल है। असंख्यात लोक प्रमाण कषाय हैं।

हमारी भावना तो आप लोगोंके उत्कर्षकी रहती है। इसके सिवाय कर ही क्या सकते हैं? परमार्थसे तो कर ही नहीं सकते, किन्तु व्यवहारसे कभी करनेमें असमर्थ हैं। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी जो मैंने सर्व संस्थाओंसे त्यागपत्र दे दिया है।

आ० सुदी ५, सं० २०१०

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

इस प्रकार पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके जीवनको, यदि हम पूज्य वर्णीजीके उपर्युक्त पत्रोंके संदर्भमें देखें तो सहज ही सिद्ध होगा कि न्यायाचार्यजी एक उत्कृष्ट और धर्मानुकूल, सरल व्यक्तित्वके धनी थे। पूज्य श्री गणेशप्रसादजी जैसे युग-पुरुष महात्माका इतना विश्वास, ऐसा स्नेह जिसे प्राप्त रहा हो वह निश्चित ही एक प्रामाणिक श्रावक होना चाहिये। बाबाजीके ये पत्र महेन्द्रकुमारजीकी श्रेष्ठताके प्रमाण-पत्र हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्रकुमार

• महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन

आचार्य महेन्द्रकुमारके नामके साथ "स्वर्गीय" लगाने में हृदयमें असह्य वेदना होती है, ऐसी वेदना किसी आत्मीयके निधनपर भी नहीं हुई थी। हमारे लोग प्रतिभाओंकी कितनी कदर करते हैं, यह इसीसे मालूम होगा कि वाराणसी जैसे बड़े शहरमें इस महापुरुषकी जीवन समाप्तिकी सूचना किसी प्रमुख दैनिक पत्रने नहीं दी। मसूरीमें उनके स्वजनने सूचना न दी होती, तो इतने ही समय तक मैं यही समझता रहता कि महेन्द्रजी "सिद्धिविनिश्चय" के उद्धारमें लगे हुए हैं। बहुत पीछे एक साधारण साप्ताहिकने छापा—"दिनांक २० मई; सायंकाल ७ बजे लकवाकी बीमारीमें पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यका स्वर्गवास हो गया। १४ मईको करीब १२ बजे हिन्दू यूनिवर्सिटीमें अपने ही घरपर उन्हें बायें अंगमें लकवा लग गया था। दो दिनके बाद स्थिति कुछ सुधरने लगी थी, किन्तु पाँचवें दिन जब फिरसे लकवेका जोर पड़ा, तो सारा शरीर लकवाग्रस्त हो गया। इस स्थितिमें डॉक्टर लोग सँभाल नहीं सके और अन्तमें २० मईको सायंकाल वे इस नश्वर शरीरको छोड़कर चले गये।"—( जैनभारती ३१-५-५९ )

महेन्द्रजीका जन्म ११ मई १९११ को हुआ था, अर्थात् वह मुश्किल से ४८ वर्षके हो पाये थे। यही नहीं, अभी वह अपनी साधनाओंको दिनों-दिन बढ़ा रहे थे। एक ही वर्ष पहले उन्होंने पेकिंगमें मेरे पास लिखा था, कि मैं तिब्बती भाषा पढ़ने और साथ ही धर्मकीर्तिके "प्रमाणविनिश्चय" को फिरसे तिब्बती अनुवादके सहारे संस्कृतमें करनेमें लगा हूँ। उस वक्त मुझे कितनी प्रसन्नता हुई थी। धर्मकीर्तिको यूरोपके मूर्धन्य विद्वान् भारतका कान्ट कहते हैं। उन्होंने बुद्धिवाद और वस्तुवादी प्रमाणशास्त्र पर लेखनी उठाई, और सात अमूल्य ग्रंथ लिखे। उनमें से सिर्फ एक छोटा-सा ग्रंथ "न्यायबिन्दु" मूल संस्कृत में रह गया था। इन पंक्तियोंके लेखककी तिब्बत यात्राओंके फलस्वरूप "प्रमाणवार्तिक", "हेतुबिन्दु", "वादन्याय", "संबंध-परीक्षा" चार ग्रंथ मूल संस्कृतमें मिलकर प्रकाशमें आये। "सन्तानान्तरसिद्धि" छोटा ग्रंथ होनेसे किसी समय भी तिब्बती अनुवादसे संस्कृतमें किया जा सकता था, पर "प्रमाणविनिश्चय", "प्रमाणवार्तिक" जैसा ही बड़ा ग्रंथ था, उसे ही महेन्द्रजी संस्कृतमें कर रहे थे। पर चिरंजीवी पद्मकुमारके पत्रके अनुसार "पूज्य" पिताजी ने 'प्रमाणविनिश्चय' का काम प्रारंभ कर दिया था, किन्तु वह पूरा न हो सका और बीचमें ही हमें छोड़कर चले गये।

ऊपरकी पंक्तियोंसे उस क्षतिका पूरा ज्ञान नहीं हो सकता जो कि आचार्य महेन्द्रके अवसान से हुआ है। भारत परतंत्रताके अन्धकारमें सात शताब्दियों तक भटकता और गिरावटकी ओर जाता रहा। उसकी बहुत सी अनमोल निधियाँ नष्ट हो गयीं, जिनमें अनमोल ग्रंथ भी थे। तो भी विद्याके लिए विदेह बने पंडितों ने संस्कृतके भंडारको रक्षा की, शास्त्रोंके अध्ययन और अध्यापनमें जीवन बिताया। पर, इस सारे समयमें एक बड़ी क्षति यह हुई, कि हमारे प्राचीन शास्त्रोंमें से कितनोंकी पढ़ाई छूट गयी। वाराणसी, नव-द्वीप, पूणा, कुम्भाकोणम्के दिग्गज विद्वान् प्राचीन न्यायकी ओर हाथ बढ़ानेको भी क्षमता नहीं रखते थे। प्रथम विश्वयुद्धकी समाप्तिके समय तक यही हालत रही। वाराणसीमें पंडित अम्बादास शास्त्री किसी तरह "न्यायकुसुमांजलि" को पढ़ा दिया करते थे। नयी पीढ़ीके पंडितोंको इससे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने उस संस्कृतपर अधिकार प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न आरंभ किया, जिसके बिना जैन, बौद्ध, ब्राह्मणिक आदि प्राचीन दर्शन ग्रंथ बन्द पोथी बने हुए थे। अपने समयके सर्वश्रेष्ठ काशीके विद्वान् महामहोपाध्याय पं० बालकृष्ण शर्माने एक बार अपनी लिखी कापियाँ दिखलायी थीं, जिनमें वात्स्यायन, उद्योतकर, कुमारिल, वाचस्पति, जयन्त, श्रीहर्ष आदिकी कृतियों से बौद्धोंके पक्षको जमा करके उन्हें समझने की कोशिश की गयी थी। आजके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुलभ कितने ही महत्त्वपूर्ण बौद्ध-ग्रंथ उस समय सदाके लिए लुप्त समझे जाते थे। हमारे पंडितोंने अपनी खो-सी गयी निधिको इस प्रकार प्राप्त करनेमें बहुत कुछ सफलता पायी। महेन्द्रजी उन्हींमें से अन्यतम थे। उन्होंने प्राचीन ब्राह्मण दर्शन ग्रंथोंका गंभीर अध्ययन किया, बौद्ध-दर्शनका अवगाहन किया और जैनदर्शन-पर अधिकार प्राप्त किया। हिन्दू विश्वविद्यालयमें बौद्ध दर्शनके अध्यापक हुए। इसीसे उनकी इस योग्यताका पता लगेगा। हाल ही में वह उसी विश्वविद्यालयमें "जैन धर्म-दर्शन और प्राकृत विभाग" के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे, पर कार्यभार सँभालने से पहले ही महाप्रस्थान कर गये।

आचार्य महेन्द्र अथक परिश्रमी थे, तभी तो उन्होंने इतनी थोड़ी आयुमें दर्जनों संस्कृतके प्रौढ़ दर्शन ग्रंथोंकी विशाल भूमिका लिखी तथा उनका अनुवाद या वैज्ञानिक दृष्टिसे सम्पादन किया। वे ग्रन्थ यह हैं—(१) 'न्यायकुमुदचन्द्र' (२) 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' (३) 'अकलंकग्रंथत्रय' (४) 'न्यायविनिश्चय' (५) 'तत्त्वार्थ-वार्तिक' (६) 'सिद्धिविनिश्चय' (७) 'तत्त्वार्थवृत्ति' (८) 'जयधवल' ( प्रथमपुस्तक ) (९) 'प्रमाणमीमांसा' (१०) 'जैनतर्क भाषा, जैनदर्शन'। (११) साढ़े छः सौ पृष्ठोंका 'जैनदर्शन' उनके दार्शनिक ज्ञानकी परि-पक्वताका परिचायक रहेगा। उनके निम्न ग्रंथ प्रकाशनार्थ तैयार हैं—(१) 'षड्दर्शनसमुच्चय' (२) 'सत्य-शासनपरीक्षा' (३) 'विश्वतत्त्वप्रकाश' (४) 'प्रमाणप्रमेयकलिका' (५) 'युक्त्यनुशासन' (६) 'आत्मानुशासन' (७) 'विविधतीर्थकल्प' (८) 'प्रभावकचरित्र'।

वह अपनी पूरी क्षमताका उपयोग नहीं कर सके वह अपने वर्तमान से संतुष्ट नहीं थे, इसीलिए अपनी साधनामें सतत तत्पर थे, और इस आयुमें समर्थ पंडित बननेके बाद भी तिब्बती भाषा पर अधिकार करनेमें लगे हुए थे। वह जानते थे, दो लाख श्लोकों से अधिक संस्कृत दर्शन ग्रंथ तिब्बती अनुवादोंमें ही सुरक्षित हैं, उनके बिना भारतीय दर्शनका अध्ययन पूरा नहीं समझा जा सकता। उन्होंने मुझे तिब्बत जाते देख कहा था मेरी आवश्यकता हो, तो अवश्य मुझे बुलाइयेगा। एक जैन वातावरणमें पले-पोसे विद्वान्के लिए तिब्बत अनु-कूल स्थान नहीं हो सकता। पर जिसने विद्याव्रत धारण किया है, वह किसी भी बाधासे हिचक नहीं सकता।

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये" की तरह आजके हजारों संस्कृतके साधकों में महेन्द्रजी एक सिद्धिप्राप्त थे। उतने ही से सन्तुष्ट न रह अपनी साधनाको बढ़ा रहे थे। भावी पीढ़ी से मैं निराश नहीं हूँ। महेन्द्रका स्थान उन्हें भरना होगा, पर वह कितना कठिन है, इसे समझना कठिन नहीं है।

हमारे देशमें संस्कृतकी रक्षा और प्रचारके लिए बहुत चर्चा सुनी जाती है। उसके लिए भारत-सरकारने आयोग भी नियुक्त किया था। उसने अपने सुझाव भी उपस्थित कर दिये हैं, पर जान पड़ता है, उनका ध्यान अधिकतर संस्कृतके प्रचार पर ही है। संस्कृतके प्रचार पर मत्था-पच्ची करने की वस्तुतः आवश्यकता नहीं है। हमारी सभी भाषाएँ संस्कृतके अवलंब से विकसित और समृद्ध हुई हैं। उनपर अच्छा अधिकार पानेके लिए संस्कृतकी बड़ी आवश्यकता है, इसे सभी समझते हैं, और उसीके अनुसार असमिया, बँगला, उड़िया, मराठी, हिन्दी, गुजराती, नेपाली ही नहीं तेलुगू, कन्नड, मलयालमके क्षेत्रमें भी संस्कृतका प्रचार बढ़ रहा है। वस्तुतः समस्या संस्कृतके प्रचार की नहीं है, बल्कि यह है कि संस्कृतके गंभीर पांडित्यकी रक्षा कैसे की जाय? उन्नीसवीं सदीके अन्त तक नहीं बल्कि बीसवीं सदीके मध्य तक बढ़े आते पांडित्य की—जिसके प्रतिनिधि आचार्य महेन्द्र थे—रक्षा कैसे की जाये। आजका शिक्षित पुरुष अध्ययन जल्दी समाप्त कर अधिक वेतनवाली नौकरी प्राप्तकर निश्चिन्त सुखका जीवन बिताना चाहता है। वह ४८ या ५० वर्ष तक विद्यार्थी रहकर तपस्वी और अकिंचनका जीवन बिताना नहीं चाहता है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मेधावी तरुण संस्कृतके गंभीर विद्वान् बनने के लिए प्रयास करें, तो उन्हें निश्चिन्त सुखपूर्वक जीवन पानेकी सुविधा करनी होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महेन्द्रजी मध्यप्रदेशके एक छोटे-से गाँव खुरईमें एक अति साधारण जैन घरमें पैदा हुए थे। अपनी विद्याकी उत्कट भूखको तृप्त करनेके लिए आजसे पौन सदी पहले वह वाराणसी आये। प्रायः उसी समयसे मेरा उनसे सम्पर्क हुआ। उनकी रुचि दर्शन जैसे गम्भीर विषयकी ओर हुई। कलकत्तासे "न्यायतीर्थ" और काशी संस्कृत विद्यालय (अब संस्कृत विश्वविद्यालय) की न्याधाचार्य परीक्षा पास की। कितने ही वर्षों तक काशीके स्याद्वाद विद्यालयमें अध्यापक रहे। फिर हिन्दू विश्वविद्यालयमें गये। दुर्लभ ग्रन्थोंको प्रकाशमें लानेवाली महती संस्था "भारतीय ज्ञानपीठ" को अस्तित्वमें लानेमें उनका बड़ा हाथ था। उसके बहुत-से ग्रन्थोंका उन्होंने सम्पादन किया। अप्रतिम जैन नैयायिक अकलंककी महत्त्वपूर्ण कृति 'सिद्धिविनिश्चय' लुप्त हो गई थी। इस ग्रन्थकी मूल कारिकापर ग्रन्थकारने स्वयं टीका लिखी थी, वह भी अप्राप्य थी। इनपर लिखी अनन्तवीर्यकी टीका मिली थी सो भी अशुद्ध। महेन्द्रजी इस प्रयासके बारेमें लिखते हैं--"जब १९४४ में भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना हुई तो उसके कार्यक्रममें आचार्य अकलंकके ग्रन्थों एवं प्रकाशनको प्राथमिकता दी गयी। इस समय तक धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक, वादन्याय, हेतुबिन्दु, प्रज्ञाकरगुप्तका प्रमाणवार्तिकालंकार, अर्चटकी हेतुबिन्दुटीका, जयसिंह भट्टका तत्त्वोपप्लव, कर्णगोमीका प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्तिकी टीका आदि अमूल्य दार्शनिक साहित्य प्रकाशमें आया था। सिद्धिविनिश्चय टीकाका बहुभाग इन्हीं ग्रन्थोंके खंडनसे भरा हुआ है अतः कुछ उत्साह इस अशुद्धिपुंज सिद्धिविनिश्चय टीकाके संपादन-का भी हुआ और ज्ञानपीठसे मुक्त होते ही इस कार्यमें पूरी तरह जुट गये। लगभग ५ वर्ष तक सतत साधनाके बाद सिद्धिविनिश्चय टीका तथा उससे उद्धृत सिद्धिविनिश्चय मूल एवं उसकी स्ववृत्ति इस अवस्थामें आ गये कि उनके सम्पादन और प्रकाशनके विचारको प्रोत्साहन मिला। प्रयत्न करने पर भी अभी तक न तो सिद्धिविनिश्चयमूल और उसकी स्ववृत्तिकी ही दूसरी प्रति मिली और न सिद्धिविनिश्चय टीकाकी दूसरी प्रति।"

यही उनका सबसे अन्तिम प्रकाशित ग्रंथ है, और उसीकी विद्वत्तापूर्ण ११६ पृष्ठोंकी भूमिका पर आचार्यको हिन्दू विश्वविद्यालयने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

महेन्द्रजी संस्कृत और प्राकृतके ही महान् विद्वान् नहीं थे, बल्कि हिन्दीके सुलेखक और प्रेमी होनेके नाते हिन्दीकी जननी अपभ्रंश भाषाके भी सतर्क गवेषक थे। आज यह विडंबना मालूम होती है, पर आजसे दो ही पीढ़ी पहले हमारे दिग्गज विद्वान् भी नहीं जानते थे, कि हमारी आजकी भाषाओंकी जननी, एक समृद्ध भाषा अपभ्रंश थी, जिसने सातवींसे बारहवीं शताब्दी तक उत्तरी भारत पर अक्षुण्ण प्रभुत्व रखा था। छठी सदी उसका अपनी जननी प्राकृतके साथका और तेरहवीं सदी अपनी पुत्रियों--आजकी हिन्दी आदि भाषाओं--के साथका संधिकाल था। संस्कृतके पंडित अपभ्रंशका नाम आने पर तुरन्त पतंजलिके महाभाष्यकी पंक्तियाँ यादकर उसे ईसापूर्व दूसरी सदीके गावी-गोणी-गोपोतलिका आदि शब्दोंवाली भाषासे जोड़ देते थे। आज तो अपभ्रंशके दर्जनों बड़े-बड़े ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। उसकी समृद्धिकी धाक स्वयंभूके "रामायण", "महाभारत" जैसे महाकाव्यों द्वारा स्थापित हो चुकी है। मेरी तरह आचार्य महेन्द्रकुमार भी अपभ्रंशकी नयी-नयी कृतियोंकी खोजमें थे। अपभ्रंशके पद्य ग्रंथ बहुत मिले थे, जिनमें से थोड़े ही प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु, अपभ्रंश गद्य देखनेमें ही नहीं आया था। एक दिन, वाराणसीमें मुलाकात होनेपर, उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ एक जीर्ण-शीर्ण पांडुलिपि दिखाते हुए कहा--यह अपभ्रंश गद्य है, कोई व्रत-कथा है। महेन्द्रजी सदा स्मितपूर्वाभिभाषी थे। उनकी हृदयस्थ उदारता मुस्कुराहटके रूपमें सदा मुँह पर नाचा करती थी। उन्होंने बतलाया--यह पुस्तक बतला रही है कि छोटे-मोटे जैन भंडारोंमें ढूंढ़नेपर अपभ्रंश-



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के और भी गद्य ग्रंथ मिल सकते हैं। जहाँ वह "प्रमाणविनिश्चय" को तिब्बतीसे उद्धार करनेमें लगे हुए थे, वहाँ अपभ्रंशकी ओर भी ध्यान रखते थे।

अनुदार अर्थमें वह जैन नहीं थे। वह भलीभाँति समझते थे कि जैन धरोहरके रूपमें भारतीय संस्कृतिकी ऐसी अनमोल निधियाँ सुरक्षित हैं, जो जैनोंके अभावमें सदाके लिए विलुप्त हो जातीं। विद्वान् जानते हैं, हमारे देशमें हमारीभाषाओंका रूप वैदिक भाषा से पालि, प्राकृतों, अपभ्रंशोंके रूपमें होते-होते आजकी भाषाओंमें विकसित हुआ। ब्राह्मणोंके वाङ्मयको देखने से मालूम होता है कि केवल संस्कृत ही सर्वदा सर्वेसर्वा रही। उन्होंने बीचकी लोक भाषाओंके लोक या शिष्ट-साहित्यकी रक्षा नहीं की। अभी हाल तक संस्कृत-पंडित मंडली उन्हें "भाखा" कहकर तिरस्कृत करती थी। ब्राह्मण भाषा-कवियोंने अपने समयमें प्राकृत और अपभ्रंशमें भी रामायण और महाभारतको भाषानिबद्ध किया होगा, तीर्थोंके एकादशी आदिके माहात्म्य बनाये होंगे। पर उन्हें ब्राह्मण पुरोहितों और पंडितोंने भाषाके साथ मर जाने दिया। क्यों? इसी-लिए कि वह संस्कृतके सामने किसीकी सत्ता नहीं स्वीकार करते थे। जैन और बौद्ध भी इसके बारेमें दूसरा ही भाव रखते थे। उनके लिए प्राकृत या अपभ्रंश संस्कृत से कम महत्त्व नहीं रखती थी। तीर्थंकर महावीर के उपदेशोंको वह पालि-काल ( ६००-१ ई० पू० ) में लिपि-बद्ध नहीं कर सके थे, जैसा कि बौद्धोंके प्राचीनतम सम्प्रदाय ने किया। प्राकृत-कालमें लिपिबद्ध होनेसे श्रमण महावीरकी वाणी प्राकृत रूपमें ही हमारे सामने मौजूद है। उसके अतिरिक्त और भी विषयों पर प्राकृतमें ग्रंथ और पुस्तिकायें, व्रतकथायें भी बनीं। सबको सुरक्षित रखना संभव नहीं, पर कितनों को उन्होंने सुरक्षित रक्खा।

जब सुबन्धु और दंडी के समय अपभ्रंश भाषाका आरंभ हुआ तो जन-साधारणके लिए उसमें ग्रंथ लिखे जाने लगे। बारहवीं-तेरहवीं सदीमें अपभ्रंशके समाप्त होनेपर उनका उपयोग साधारण जनताके लिए नहीं रह गया, तो भी जैन उपाश्रयों और भंडारों से उनको बाहर नहीं फेंका गया। आज वह हमारे लिए बहुमुल्य निधि है, भाषा और तत्कालीन संस्कृतिके समझनेके लिए अनुपम साधन हैं। ऐसी निधि जिस संप्रदाय ( जैन ) ने सुरक्षित की, उसके महत्त्व से कैसे इन्कार किया जा सकता है। संस्कृतिमें सांप्रदायिकता का स्थान नहीं है। वस्तुतः संस्कृति ही क्षण-क्षण परिवर्तित, परिवर्द्धित होते हुए भी स्थायी और मूल्यवान् वस्तु है। वही हमें बाँधे हुए है। पर, अब भी हमारेमें से कितनोंका दृष्टिकोण उदार नहीं है। तभी तो हमारे हिन्दी साहित्यके इतिहासकार सैकड़ों सुन्दर जैन काव्योंमें से किसीका उल्लेख नहीं करते। हालमें बौद्धोंके प्रति वह संकीर्णता बहुत हद तक दूर हुई है। अब चौरासी सिद्धों और उनकी कृतियोंकी चर्चा हर एक हिन्दीके विद्वान्के मुख पर है।

राजस्थान और गुजरातके पुस्तक-संग्रहालयोंके अनुसंधानने बतलाया है, कि वहाँकी साहित्यिक परंपरा आज तक अक्षुण्ण चली आई है और वह जैनोंके प्रयासमें ही। बुन्देलखंडमें जैन बराबरके निवासी रहे, और अपनी जीविकाके कारण साक्षर होते रहे। अपभ्रंश से अक्षुण्ण सम्बन्ध स्थापित करनेवाली कड़ी—बुंदेली साहित्य—वहाँके जैन मंदिरों और समाजमें जरूर मिलना चाहिए। महेन्द्रजीसे इसके बारेमें बात हुई थी। महेन्द्रजी इसके महत्त्वको भली-भाँति समझते थे। अपभ्रंशके साथ हमारी आजकी भाषाओंमें बहुत कम अविच्छिन्न सम्बन्ध मिलता है। हिन्दी क्षेत्रमें राजस्थानीके बाद केवल मैथिली ऐसी है, जिसके यशस्वी कवि विद्यापति ने दोनोंमें कविता की है। विस्तृत गवेषणा करनेपर जैन ग्रंथों द्वारा बुन्देलीका भी ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाये, तो कोई अचरज नहीं।

जो अपभ्रंश आज साहित्यिक रूपमें प्राप्य है, वह अधिकतर कन्यदेशीया ( कन्नोजिया ) अपभ्रंश है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन उपनिषदों—बृहदारण्यक, छांदोग्य की भाषा उस समयकी कौरवी भाषा थी, जिसे कौरवी संस्कृत कह लीजिये। उसकी प्राकृत और अपभ्रंशका क्या रूप था, यह कहा नहीं जा सकता। आज हमारी हिन्दी उसीका साहित्यिक रूप है। इसका प्राचीनतम रूप कुछ रूपमें दक्खिनी-हिन्दीके गद्य-पद्यमें पंद्रहवीं सदी तक जाता है। कौरवीका विशाल क्षेत्र बिजनौर से फीरोजपुर तक फैला हुआ है। वहाँ बड़े गाँवों तकमें परम्परागत परिवार मिलते हैं, कस्बों तकमें जैन मंदिर होते हैं, जिनमें कुछ न कुछ हस्तलिखित ग्रंथ रहते हैं। उनका अभी अनुसंधान नहीं हुआ है, उन्हें अगरचन्द नाहटा जैसे धुन पक्के पुरुष से वास्ता नहीं पड़ा। इस क्षेत्रमें कौरवी प्राचीन गद्य-पद्य जैन ग्रंथोंके रूपमें मिल सकते हैं।

जैन जीवित परम्पराके रूपमें हमारे पास कितनी समृद्ध सामग्री मौजूद है, इसे हम संकीर्ण सांप्रदायिक दृष्टिसे नहीं देख सकते। आचार्य महेन्द्रके अभावका भी मूल्यांकन वह दृष्टि नहीं होने देगी। हिन्दू शब्दका आजका प्रयोग भी इस संकीर्णताका एक कारण है। हिन्दू शब्द कभी एक धार्मिक सम्प्रदायके लिए हमारे यहाँ प्रयुक्त नहीं होता था। यह हमारे विशाल देशके लोगों और उनकी संस्कृतिके लिए प्रयुक्त होता था। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन सभी 'हिन्दू' कहे जाते थे। आज भी चीन या जापानमें भारतीय बौद्ध इन्दो ( हिन्दू ) हैं। रूसमें सभी भारतीयोंको इन्दुस' कहा जाता है। यह सांस्कृतिक एकता हमारे भेद-भावको मिटाने के लिए उद्यत है। श्रमण-ब्राह्मण परंपरा हमारी संस्कृति की पूरक है।

महेन्द्रजी दिगंबर जैन-कुलमें पैदा हुए थे, पर यह श्वेतांबर-दिगंबरकी लीक पीटनेवाले नहीं थे; एक सच्चे विद्वान्‌की तरह नाना रूपोंमें प्रवाहित हमारी कृतियों तथा सुकृतियोंके साथ ममत्व रखते थे। कुछ ही दिनों पहले उन्होंने श्रमण संस्कृतिपर एक विचारपूर्ण लेख लिखा था।

तिब्बतकी यात्राओं से लौटकर आते समय महेन्द्रजी से मेरा संपर्क स्थापित हुआ। मेरे सामने ही उनका स्पृहणीय विकास होता रहा, उनके सपने साकार रूप धारण करते गये। उसके साथ उनकी जिज्ञासा और योग्यताका कलेवर बढ़ता गया। उनसे बहुत आशा थी। शरीर देखनेमें स्वस्थ मालूम होता था, इसलिए कभी मनमें कल्पना भी नहीं हुई थी कि ७०-८० से पहले वह अपने काम से उपराम लेंगे। उस आयु तक पहुँचकर वह कितना काम करनेमें सफल होते। पर, मनचेती मनमें ही रह गयी। महेन्द्र बिना पूरी तरह खिले ही मुर्झा गये।

( सरस्वती इलाहाबाद १९५९ से साभार )

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

## का

# बहुआयामी व्यक्तित्व एवं वैदुष्य

• प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन, आरा

श्रद्धेय पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका नाम व्यक्तिवाची नहीं बल्कि वह जैनन्याय-दर्शनका एक पर्यायवाची नाम बन गया है। १९वीं सदीके अन्तिम चरणसे ही जैन-न्यायके शास्त्रीय-विद्वानोंका अभाव खटकने लगा था। इतः पूर्व यद्यपि तद्विषयक अनेक शास्त्रीय ग्रन्थोंका प्रणयन तो हो चुका था, किन्तु ऐसी रिक्तिताका अनुभव भी किया जाने लगा था कि नवशास्त्र-लेखनकी बात तो दूर, उसके अध्येता एवं विश्लेषणकर्त्ता विद्वानोंका भी अभाव हो गया था। यह घोर चिन्ताका विषय तो था ही, जैन न्यायशास्त्रके प्रगति-पथ तथा उसके प्रचार-प्रसारका जबर्दस्त अवरोधक भी बन रहा था।

जब मुरैना एवं बनारसमें जैन महाविद्यालयोंकी स्थापना हुई, तो पं० गोपालदासजी बरैया ( सन् १८६६-१९१७ ) प्रभृति गुरुजनोंको बड़ी चिन्ता हुई कि जैन न्यायके क्षेत्रमें कोई भी उपाधिधारी प्रकाण्ड विद्वान् तैयार नहीं हो रहे हैं। कहते हैं कि एक बार जब वेदान्तशास्त्रके विश्लेषक विद्वानोंका अभाव होने लगा, तो दक्षिण भारतकी एक संवेदनशील महिला बड़ी ही दुःखी रहने लगी। उसने एक बार मन्दिरमें प्रार्थना करते हुए वेदान्तशास्त्रके उद्धारकके शीघ्र जन्म लेनेकी कामना की। तब वहाँ आकाशवाणीमें किसीने उत्तरमें उससे कहा कि—"हे माता, जहाँ तुम जैसी संवेदनशील प्रबुद्ध माता पृथिवीमण्डलपर उपस्थित हो और वेदान्तशास्त्रके उद्धारकके लिए चिन्तित होकर मन्दिरमें उसके ( उद्धारकके ) अवतरण हेतु मंगल-प्रार्थना कर रही हो, तो अब तुम्हारी मंगल कामना अवश्य और शीघ्र ही पूर्ण होगी और उस उद्धारका जन्म केरलपुत्रकी पुण्यधरा पर होगा।" वह आकाशवाणी सत्य निकली। केरलमें शंकराचार्यका जन्म हुआ और वेदान्तशास्त्रके प्रकाण्ड चिन्तक, लेखक, विद्वान् एवं टीकाकारके रूपमें वे जगद्विख्यात हुए।

मुझे यह तो स्मरण नहीं आता कि किसी जैन माताने जैन नैयायिकके अभावकी पूर्ति हेतु किसी मन्दिरमें जाकर कोई प्रार्थना की हो। किन्तु सम्भवतः जिनवाणी-माता जैन-न्यायके ग्रन्थोंकी दुर्दशा देखकर अवश्य ही चिन्तित हुई होगी और जैन विद्याके सौभाग्यसे अगले ४ दशकोंमें चार सपूतोंने क्रमशः जन्म लिया—श्री पं० गणेशप्रसादजी वर्णी, पं० माणिकचन्द्रजी, पं० महेन्द्रकुमारजी एवं पं० दरबारीलालजी कोठिया। ये चारों प्रथम श्रेणीके न्यायाचार्य रहे और उन्होंने अपने शोधपरक उच्च कार्योंसे अपनी उपाधियोंकी सार्थकता सिद्ध की।

सन् १९१४ ई० में एक जैनेतर युवक कुण्डलपुर ( दमोह ) में जैनधर्ममें दीक्षित हुआ। समर्पित-भावसे उसने जैनदर्शनका अध्ययन किया और न्याय-विषयके साथ वह प्रथम न्यायाचार्य बना। इसी व्यक्तित्व का नाम था स्वनामधन्य पं० गणेशप्रसाद ( सन् १८७४-१९५४ ), जो सप्तम प्रतिमाधारी बनकर पं० गणेशप्रसादजी वर्णीके नामसे प्रसिद्ध हुए। तत्पश्चात् पं० माणिकचन्द्रजी दूसरे न्यायाचार्य ( सन् १८८६-१९७० ई० ) हुए, और तीसरे क्रममें न्यायाचार्य थे हमारे पूज्यपाद पं० महेन्द्रकुमारजी।

इनमेंसे वर्णीजी तो महान् व्रतधारी साधक सन्त महापुरुष बने। उन्होंने जैनधर्मका गहन अध्ययनकर आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारका गहन अध्ययन किया और उनके सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें उतारनेका आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया।

श्रद्धेय पं० माणिकचन्द्रजीने जैनन्याय शास्त्रके अत्यन्त कठिन १८ सहस्र श्लोक प्रमाण आचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यानन्द कृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका अलंकार नामक हिन्दी-भाष्य लिखकर अपनी उत्कृष्ट प्रतिभाका परिचय दिया।

फिर भी, जैन न्यायशास्त्रके अनेक कठिन ग्रन्थ अभी तक अछूते ही पड़े थे। उनकी दुरूहता और जटिलताके कारण वे पठन-पाठनसे भी बाहर होते जा रहे थे। यह सौभाग्यभरा संयोग ही था कि पं० महेन्द्रकुमारजी अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्तकर, श्री० पं० घनश्यामदासजी न्यायतीर्थके सम्पर्कमें आए और उनकी घनीभूत प्रेरणासे उन्होंने जैनन्यायशास्त्रके अध्ययनमें विशेष अभिरुचि जागृत की। उन्होंने नाभिनन्दन दि० जैन विद्यालय, बीना (मध्यप्रदेश) तथा सरसेठ हुकुमचन्द्र दि० जैन महाविद्यालय, इन्दौरमें पं० वंशीधरजी एवं पं० जीवन्धरजी न्यायतीर्थके पादमूलमें बैठकर उनसे जैनधर्म एवं न्यायग्रन्थोंका विशेष अध्ययन किया।

पण्डितजी प्रारम्भसे ही कठोर परिश्रमी, दृढ़-संकल्पी एवं जैन-न्यायके ग्रन्थोंके उद्धारके प्रति समर्पित भावनासे ओतप्रोत रहे। उन्होंने साधनाभावों एवं आर्थिक विपन्नतासे कभी भी हार नहीं मानी बल्कि उन्होंने अपने अध्यवसायसे अपनी आर्थिक दरिद्रताको वरदानमें बदलनेके साहसभरे प्रयत्न किए। पं० नाथूराम प्रेमी, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, पं० सुखलाल जी संघवी, महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज, डॉ० मंगलदेव शास्त्री, पं० गणेशप्रसादजी वर्णी, डॉ० हीरालाल जैन आदिके सान्निध्यने उन्हें निरन्तर ही प्रेरित एवं उत्साहित रखा। यही कारण है कि विभिन्न विघ्न-बाधाओंके बीच भी उन्होंने अपनी साहित्य-साधनाको अक्षुण्ण बनाए रखा और एदयुगीन नैयायिकों तथा दार्शनिकोंकी अपेक्षा उन्होंने गुण एवं परिमाण दोनों ही दृष्टियोंसे श्रेष्ठ कार्य किए। जैन न्यायशास्त्रके क्षेत्रमें उनके निम्न ऐतिहासिक शोध-कार्य अगली पीढ़ीको निरन्तर प्रेरित करते रहेंगे।

| | | |
|---|---|---|
| १–न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र) (१-२ भा०) पृ० ९४१ | माणिकचन्द्र सीरीज, बम्बई (ग्रन्थांक ३८-३९) | १९३८, ४१ |
| २–अकलंकग्रन्थत्रयम् (अकलंक) पृ० २८८ | सिंघी जैन सीरीज, बम्बई (ग्रन्थांक १२) | १९३९ |
| ३–प्रमाणमीमांसा (हेमचन्द्र) पृ० ३२४ | सिंघी जैन सीरीज, बम्बई (ग्रन्थांक ९) | १९३९ |
| ४–प्रमेयकमलमार्तण्ड (प्रभाचन्द्र) पृ० ९१० | निर्णयसागर प्रेस, बम्बई | १९४१ |
| ५–तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरसूरि) पृ० ६५५ | भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (ग्रन्थांक १३) | १९४९ |
| ६–न्यायविनिश्चयविवरणम् (अकलंक) पृ० १०१८ | भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (ग्रन्थांक ३, १३) | १९४९, ५४ |
| ७–तत्त्वार्थराजवार्तिक (अकलंक) पृ० ९५० | भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (ग्रन्थांक १९-२०) | १९५७ |
| ८-सिद्धिविनिश्चय टीका (अकलंक) पृ० २१५ | भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (ग्रन्थांक २२-२३) | १९५९ |
| ९-जैनदर्शन (हिन्दी) पृ० ६८३ | वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी (ग्रन्थांक २) | १९५५ |
| १०–षड्दर्शन समुच्चय (हरिभद्र) | भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली | |

इसके अतिरिक्त जैन न्याय-दर्शन तथा इतिहास एवं साहित्यपर कई योजनापूर्ण निबन्ध, कहानियाँ, कविताएँ भी लिखीं।

उनके द्वारा लिखित एवं सम्पादित साहित्यके वैशिष्ट्यका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

**१–न्यायकुमुदचन्द्र**

प्रस्तुत ग्रन्थ भट्टाकलंकदेव विरचित स्वविवृत्ति सहित लघीयस्त्रय नामक ग्रन्थपर आचार्य प्रभाचन्द्र कृत विस्तृत टीका है, जिसका प्रकाशन माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रंथमाला, बम्बईसे क्रमशः सन् १९३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं १९४१ में हुआ। प्रथम भागमें उसके सम्पादक पं० महेन्द्रकुमारजीने उपलब्ध मूल प्रतियाँ तथा अन्य साधन सामग्रियोंका परिचय देकर ग्रन्थ-विषयके महत्त्वपर प्रकाश डाला है। श्री० पं० कैलाशचन्द्रजी द्वारा लिखित १२६ पृष्ठ प्रमाण प्रस्तावनामें अकलंक-साहित्यका परिचय विविध जैनेतर न्यायशास्त्रके विद्वानोंके साथ उनकी तुलना, जैन-न्यायकी विशेषताएँ, अकलंकके पूर्वकालीन, समकालीन एवं परवर्ती कुछ विद्वानोंका परिचय एवं प्रभाचन्द्रके कालनिर्धारणके विविध साक्ष्य, प्रभाचन्द्रकी कृतियों—प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्याय-कुमुदचन्द्र, तत्त्वार्थवृत्ति, शाकटायनन्यास, शब्दाम्भोजभास्कर ( जैनेन्द्रव्याकरमहान्यास ), प्रवचनसारसरोज-भास्कर ( प्रवचनसारटीका ), गद्यकथाकोष, महापुराण-टिप्पण आदिका संक्षिप्त परिचय, प्रभाचन्द्रके कृतित्व एवं व्यक्तित्वपर विस्तृत प्रकाश तथा उनके बहुश्रुतत्व आदि विषयोंपर गम्भीर विवेचना की है। प्रस्तुत प्रथम खण्डमें दो परिच्छेद प्रस्तुत किए गये हैं, जिसमें कुल ४०२ पृष्ठ हैं।

द्वितीय खण्डमें अवशिष्ट मूलपाठ ५२७ पृष्ठोंमें उसके अतिरिक्त प्रस्तावना आदि ९२ पृष्ठोंमें प्रस्तुत है। अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना पं० महेन्द्रकुमारजी द्वारा लिखित है, जिसमें प्रभाचन्द्रका विविध साक्ष्योंके आधार पर काल-निर्णय, वैदिक विचारधारा यथा—वेद, उपनिषद्, स्मृति एवं पुराणोंसे प्रभाचन्द्रका परि-चय, व्यास, पतंजलि, भर्तृहरि, व्यासभाष्यकार, ईश्वरकृष्ण, माठराचार्य, प्रशस्तपाद व्योमशिव, श्रीधर, वात्स्यायन, उद्योतकर, भट्टजयन्त, वाचस्पति मिश्र, शबरऋषि, कुमारिल, मंडनमिश्र, शालिकनाथ, शंकराचार्य, सुरेश्वर, भामह, बाणभट्ट, माघ बौद्धाचार्योंमें –अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित, कमलशील, अर्चट, धर्मोत्तर, ज्ञानश्री, जयसिंहराशिभट्ट तथा जैनाचार्योंमें—कुन्दकुन्द, वट्टकेर, समन्तभद्र, पूज्यपाद, धनंजय, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, अनन्तकीर्ति, शाकटायन, अभयनन्दि, वादिराजसूरि, नेमिचन्द्र, देवसेन, श्रुतकीर्ति, सिद्धसेन, धर्मदासगणि, हरिभद्र, सिद्धर्षि, देवभद्र, मल्लिषेण, गुणरत्न, यशोविजय आदिका परिचय देते हुए प्रभाचन्द्रके साहित्यके साथ उनके पारस्परिक प्रभाव अथवा आदान-प्रदानकी चर्चा की गई है।

पण्डितजीने विविध साक्ष्योंके आधारपर प्रभाचन्द्रका समय सन् ९८० से १०६५ ई० के मध्य निर्धारित किया है। प्रभाचन्द्रके बहुआयामी व्यक्तित्वकी चर्चा करते हुए उन्हें आयुर्वेदका ज्ञाता भी बत-लाया है।

न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादनसे पण्डित महेन्द्रकुमारजीका एक शोधार्थीके रूपमें जीवन प्रारम्भ हुआ। इस कृति ने उनके प्रच्छन्न पाण्डित्यको मुखर किया तथा उस दृष्टिसे यह ग्रन्थ उनके लिए एक शुभ शकुन-का सूचक सिद्ध हुआ। पारिवारिक जीवन में उन्हें उसके पुरस्कार स्वरूप एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई, जिसका नाम उन्होंने शुभस्मृतिके प्रतीक स्वरूप "कुमुदचन्द्र" रखा। किन्तु दुर्भाग्यसे वह उनका साथ अधिक समय तक न दे सका और बीचमें ही चल बसा। उस समय पण्डितजी कितने व्यथित हुए होंगे, इसका आभास उनके इस कथनमें मिल सकता है—"मैंने न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादन-कालमें जात अपने ज्येष्ठ पुत्रका नाम स्मृति-स्वरूप "कुमुदचन्द्र" रखा था। कालकी गति विचित्र है। अब तो यह सम्पादित ग्रन्थ ही उसका पुण्य-स्मारक हो गया है। मैं तो इसे अपने साहित्य-यज्ञकी आहुति ही मानता हूँ।"

पं० महेन्द्रकुमारजी के शास्त्रीय पद्धतिसे लिखित प्राचीन जैन न्यायके मूल ग्रन्थोंकी सम्पादन-कलाके विषयमें पं० नाथूरामजी "प्रेमी" ने ( माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित "न्यायकुमुदचन्द्र" ( द्वितीय भाग ) के अपने प्रकाशकीय निवेदनमें ) कहा है कि—"पूर्वार्धके समान इस उत्तरार्धका भी सर्वांग-सुन्दर पद्धतिसे सम्पादन और संशोधन किया गया है पण्डितजीका यह परिश्रम और अध्यवसाय दूसरे विद्वानोंके लिए ग्रन्थ-सम्पादनके कार्यमें मार्गदर्शकका काम देगा।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी संघवीने इस ग्रन्थके प्राक्कथनमें भारतीय दर्शनके अध्येताओंका ध्यान ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययनकी ओर आकर्षित करते हुए कहा है—"न्यायकुमुदचन्द्र" के सम्पादक पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने मूलग्रन्थके नीचे एक-एक छोटे बड़े मुद्दे पर जो बहुश्रुतत्त्वपूर्ण टिप्पण दिये हैं और "प्रस्तावनामें जो अनेक सम्प्रदायोंके आचार्योंके ज्ञानमें एक दूसरेसे लेन-देनका ऐतिहासिक पर्यालोचन किया है, उन सबकी सार्थकता उपर्युक्त दृष्टिसे अध्ययन करने-करानेमें ही है। सारे "न्यायकुमुदचन्द्र" के टिप्पण तथा "प्रस्तावका ममांश अगर कार्यसाधक है तो सर्वप्रथम अध्यापकके लिए, चाहे वह जैन हो या जैनेतर, सच्चा जिज्ञासु इसमेंसे बहुत कुछ पा सकता है। अध्यापकोंकी दृष्टि एक बार साफ हुई, उनका अवलोकन-प्रदेश एक बार विस्तृत हुआ, तो फिर यह सुवास विद्यार्थियों तथा अपढ़ अनुयायियोंमें भी अपने-आप फैलने लगती है। इसी भावी लाभ को, निश्चित आशासे देखा जाय, तो मुझे यह कहनेमें लेशमात्र भी संकोच नहीं होता कि सम्पादकका टिप्पण तथा प्रस्तावना-विषयक श्रम, दार्शनिक अध्ययन-क्षेत्रमें साम्प्रदायिकताकी संकुचित मनोवृत्ति दूर करनेमें बहुत कारगर सिद्ध होगा।"

### २-अकलंकग्रंथत्रयम्

प्रस्तुत ग्रन्थमें ज्योतिर्धर आचार्य भट्ट अकलंक कृत तीन ग्रन्थोंका एक साथ संग्रह किया गया है—लघीयस्त्रयम्, न्यायविनिश्चय एवं प्रमाणसंग्रह। जैनतर्कशास्त्रके क्षेत्रमें अकलंकको जैन सिद्धांतों तथा पदार्थोंकी प्रमाणपरिष्कृत व्याख्या और तर्कसम्मत प्रतिष्ठाको प्रदान करानेमें प्रमुख स्थान प्राप्त है। मुनि जिनविजयजीके शब्दोंमें "स्वामी समन्तभद्र तथा सिद्धसेन दिवाकर, जहाँ जैन तर्क शास्त्रके क्षेत्रमें आविष्कारक कोटिमें आते हैं, वहीं भट्ट अकलंक उस क्षेत्रमें समुच्चायक एवं प्रसारक कोटिमें आते हैं।" इस प्रकार अकलंक समन्तभद्रके उपज्ञ सिद्धान्तोंके उपस्थापक, समर्थक, विवेचक एवं प्रसारक माने गये हैं। समन्तभद्रने जिन मूलभूत तात्त्विक विचारों और तर्क-संवादोंका उद्बोधन अथवा आविर्भाव किया उन्हींका अकलंकने अनेक प्रकारसे उपबृंहण, विश्लेषण, संचयन, समुपस्थापन, संकलन एवं प्रसारण किया।"[1]

जैसा कि पूर्वमें लिखा गया है, प्रस्तुत ग्रंथमें अकलंकके पूर्वोक्त तीन ग्रंथोंका संकलन एवं सम्पादन किया गया है।

पण्डितजीने अपनी पाण्डित्यपूर्ण प्रस्तावनामें उपर्युक्त ग्रन्थोंका मूल्यांकन करते हुए ग्रन्थकारके व्यक्तित्वपर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है।

### ३-प्रमाणमीमांसा

आचार्य हेमचन्द्र ( १३वीं सदी ) कृत उक्त प्रमाणमीमांसाका प्रकाशन सिंघी जैन सीरीज ( ग्रन्थांक ९ ) ( अहमदाबाद, कलकत्ता ) से सन् १९३९ में हुआ। इसके मुख्य सम्पादक पं० सुखलालजी संघवी तथा उनके सहायक-सम्पादकके रूपमें पं० महेन्द्रकुमारजी तथा पं० दलसुखभाई मालवणिया थे। इसमें पण्डितजीने ग्रंथगत अवतरणोंके मूल स्थानोंके खोजने तथा उनकी तुलना और भाषा-टिप्पणके लिखनेमें उपयोगी स्थलोंको जैन एवं जैनेतर ग्रन्थोंसे संग्रह करनेका विशेष कार्य किया। मूलपाठके साथ-साथ प्रस्तुत ग्रन्थ भूमिका, विषय-निरूपण, भाषा-टिप्पण अनुक्रमणी आदिके साथ कुल लगभग ३२४ पृष्ठोंमें विस्तृत है।

### ४-प्रमेयकमलमार्त्तण्ड

प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रकृत टीका-ग्रंथ है, जिसका प्रकाशन सन् १९४१ में निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे हुआ। इसके पूर्व भी ग्रन्थका प्रकाशन हुआ था, किन्तु

१. प्रमाणमीमांसा, सिंघी सीरीज, प्रास्ताविक पृ० १

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह त्रुटिपूर्ण था तथा उसमें संशोधनकी आवश्यकताका अनुभवकर पं० कुन्दनलालजी, पं० सुखलालजी संघवी, पं० वंशीधरजी, शोलापुर तथा पं० नाथूरामजी प्रेमीके विशेष अनुरोधपर पं० महेन्द्रकुमारजीने इसके सम्पादनका भार स्वीकार किया।

पं० महेन्द्रकुमारजीके अनुसार उन्होंने प्रस्तुत संस्करणमें निम्नलिखित सुधार किए—(१) सूत्र-योजना अर्थात् परीक्षामुखके सूत्रोंका, जिनपर कि उक्त ग्रन्थमें टीका लिखी गई और इसी कारण उसका अपरनाम परीक्षामुखालंकार भी है, उसमें सूत्रोंका यथास्थान विनिवेश किया गया है, जिससे प्रत्येक सूत्रकी व्याख्याका पृथक्करण हो जाय। सुविधाके लिए सूत्रांक भी उक्त ग्रन्थके प्रत्येक पृष्ठपर दिए गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—(२) पाठ-संशोधन (३) अवतरण-निर्देश (४) विस्तृत-विषय-सूची (५) पाठान्तर (६) परिशिष्ट एवं (७) परीक्षामुख-प्रस्तावना।

अपनी ७८ पृष्ठोंकी पाण्डित्यपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनामें पण्डितजीने सूत्रकार माणिक्यनन्दि तथा टीकाकार प्रभाचन्द्रके कृतित्व एवं व्यक्तित्वपर प्रकाश डालते हुए आचार्य प्रभाचन्द्रकी जैन एवं जैनेतर आचार्योंसे तुलना करते हुए उनकी ( प्रभाचन्द्रकी ) अन्य उपलब्ध कृतियोंका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है।

इसका विषयानुक्रम इतने विशद रूपमें ( ७२ पृष्ठोंमें ) तैयार किया गया है कि मूल-ग्रन्थके हिन्दी-अनुवादके अभावमें भी अध्येता स्वेच्छित आवश्यक प्रकरण अथवा विषयको खोज सरलतापूर्वक कर सकता है।

मूल विषय ६ परिच्छेदोंमें विभक्त है। मूल पाठ ६९४ पृष्ठोंमें तथा अन्तमें आठ परिशिष्टोंमेंसे प्रथम परिशिष्टमें परीक्षामुख सूत्र-पाठ तथा द्वितीय परिशिष्टमें प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उपलब्ध जैन एवं जैनेतर अवतरणोंको अकारादिक्रमसे प्रस्तुत किया गया है, जो आगामी शोध-कार्योंके लिए मार्गदर्शक है।

## ५–तत्त्वार्थवृत्ति

आचार्य गृद्धपिच्छ द्वारा विरचित; ज्ञान-विज्ञानके लिए विश्वकोषके समान माने जानेवाले तत्त्वार्थ-सूत्रपर अनेक ग्रन्थोंके लेखक तथा टीकाकार आचार्य श्रुतसागरसूरि ( १६वीं सदी ) द्वारा १० अध्यायोंमें विभक्त उक्त ग्रन्थका सर्वप्रथम सम्पादन अत्याधुनिक दृष्टिसे अनेक प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियोंके आधारपर पं० महेन्द्रकुमारजीने किया है, जिसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा मार्च १९४९ में किया गया। अतः पूर्व इस ग्रन्थका संस्करण अशुद्धि पुंजके रूपमें घोषित था। प्रस्तुत नवीन संस्करणमें मूलग्रन्थका भावानुवाद प्रस्तुत कर उसके गुण-दोषोंकी चर्चा विस्तृत प्रस्तावनामें की गई है।

पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीके अनुसार मूल टीकाकारने पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धिके आधारपर उक्त टीका लिखी है। उनके अनुसार तत्त्वार्थवृत्तिका अन्तःपरीक्षण करने पर प्रस्तुत टीका-ग्रन्थमें अनेक सिद्धान्त-विरुद्ध तथ्य दृष्टिगोचर हुए हैं। पं० महेन्द्रकुमारजी स्वयं भी उनसे सहमत रहे तथा उनकी चर्चा उन्होंने अपनी प्रस्तावनामें की है।

ग्रंथकी १०१ पृष्ठोंकी तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक प्रस्तावनामें स्याद्वाद, सप्तभंगी, नय, तत्त्व आदि प्रकरणोंका नवीन दृष्टि तथा आधुनिक शैलीसे व्याख्या प्रस्तुत की गई है, जो एक ओर तो विचारोत्तेजक तथा नवीन सामग्री प्रस्तुत करती है और दूसरी ओर सर्वगामी मिथ्यात्व पर परिणामकारी प्रहार भी करती है।

प्रस्तुत कृतिमें सर्वप्रथम भगवान् महावीरके समकालीन छह अन्य तीर्थंकरोंके विचारोंकी समीक्षा की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गई है, जो बौद्ध और जैनागमोंके आधारसे लिखित है। इससे पाठकोंको यह समझ पानेमें सुविधा मिलती है कि महावीर-कालमें किस प्रकार वेदबाह्य विचारधाराएँ प्रवाहित थीं। इसके अतिरिक्त यह जानकारी भी मिलती है कि उनका जैन तत्त्वज्ञानके साथ किस प्रकारसे समन्वय किया गया।

इसके आगे जैन तत्त्वज्ञानके विविध अंगोंकी चर्चा करते हुए सम्यग्दर्शनके विषयमें जो कुछ भी लिखा है, वह पाठकोंका ध्यान अपनी ओर सहज ही आकर्षित कर लेता है। पंडितजी ने धर्म और कर्म जैसे महत्त्व-पूर्ण विषयों पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। आज का मनुष्य-समाज तो परिभाषाओंसे जकड़ा हुआ है। वह उनके भीतर छिपे हुए तत्त्वज्ञानके रहस्यों की ओर रंचमात्र भी ध्यान नहीं देता और प्रकारान्तरसे मिथ्यात्व का ही पोषण करता रहता है। पण्डितजीने सम्यग्दर्शन आदि विविध प्रकरण लिखकर उसी मिथ्यात्वके भ्रामक जाल को दूर करने का प्रयत्न किया है।

स्याद्वाद की चर्चा करते हुए पं० महेन्द्रकुमारजीने विभिन्न वैचारिक भ्रमों का जो सयुक्तिक निरा-करण किया है, वह प्रशंसनीय है। वस्तुतः स्थिति यह रही है, कि जैनेतर विद्वानोंने जैन तत्त्वज्ञान का तलस्पर्शी अध्ययन किए बिना ही युगों-युगोंसे उस पर विविध भ्रमात्मक आक्षेप किए हैं। यहाँ तक कि स्वामी शंकराचार्य भी उस दोषसे मुक्त न रह सके। अतः यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है कि जैन न्याय-शास्त्रके अध्येता विद्वान् आगे आवें और पंडितजीके समान ही निर्भीकतापूर्वक चले आ रहे भ्रमात्मक तथ्यों को दूर कर सिद्धान्तों की यथार्थतासे सभी को परिचित करावें।

यह तथ्य ध्यानमें रखने की महती आवश्यकता है कि जैनदर्शन यथार्थ की परिधि का उल्लंघन न कर चिन्तक को उसी परिधि तक सीमित रखता है। कल्पना की उड़ानों का उसमें कोई स्थान नहीं। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, पं० बलदेव उपाध्याय, डॉ० दत्ता, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० देवराज, डॉ० हनुमन्तराव आदि की दार्शनिक समीक्षाएँ भी अनेकान्त, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी न्यायके सिद्धान्तों की गहराई तक पहुँच पानेमें असमर्थ रही हैं।

## ६-न्यायविनिश्चयविवरण ( प्रथम भाग )

सुप्रसिद्ध वाग्मी एवं तार्किकके रूपमें प्रतिष्ठित आचार्य अकलंक (सन् ७२०–७८० ई०) कृत ४८१½ कारिका प्रमाण "न्यायविनिश्चय" नामक सम्पूर्ण ग्रन्थ पर षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वादविद्यापति तथा जगदेक-मल्लवादी आदि उपाधियोंके धारी, शाब्दिक, तार्किक तथा महाकविके रूपमें सुप्रसिद्ध वादिराजसूरि ( रचनाकाल सन् १०२५ ई० ) द्वारा लिखित विस्तृत टीका ही उक्त न्यायविनिश्चयविवरणके नामसे प्रसिद्ध है। इसका प्रकाशन दो भागोंमें काशी स्थित भारतीय ज्ञानपीठसे फरवरी १९४९ ई० में हुआ। प्रथम खण्ड प्रत्यक्षप्रस्तावनात्मक है, जिसमें ६४ पृष्ठों की विस्तृत भूमिकामें ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारसे सम्बन्ध रखने वाली सामग्री तथा आगत सन्दर्भों पर गहराईके साथ विचार किया गया है। उसमें कुछ प्रमेयों पर भी नवीन दृष्टिसे विचार किया गया है। साथ ही स्याद्वाद एवं सप्तभंगीके विषयमें युगों-युगोंसे प्रचलित भ्रामक धारणाओं की भी समीक्षा इसमें भी की गई है।

उसके प्रथम खण्डमें प्रत्यक्ष का लक्षण, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का लक्षण, प्रमाणसम्प्लवसूचन, चक्षुरादि बुद्धियों का व्यवसायात्मकत्व, विकल्पके अभिलापवत्व आदि लक्षणों का खण्डन, ज्ञान को परोक्ष मानने का निराकरण, ज्ञानके स्वसंवेदन की सिद्धि, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिरास, अचेतनज्ञाननिरास, निराकारज्ञानसिद्धि, संवेदनाद्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, बहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञानखण्डन, परमाणुरूप-बहिरर्थ का निराकरण, अवयवोंसे भिन्न अवयवी का खण्डन, द्रव्य का लक्षण, गुण और पर्याय का स्वरूप,



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्य का स्वरूप, अर्थके उत्पादादित्रयात्मकत्व का समर्थन, अपोहरूप सामान्य का निरास, व्यक्ति से भिन्न सामान्य का खण्डन, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन, बौद्धकल्पित स्वसंवेदन–योगि–मानस–प्रत्यक्षनिरास, सांख्यकल्पित प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन, नैयायिक के प्रत्यक्ष का समालोचन, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का लक्षण आदि विषयों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार इस भागमें प्रत्यक्ष प्रमाण का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

## ७–न्यायविनिश्चयविवरण ( द्वितीय भाग )

प्रस्तुत भाग का प्रकाशन भी काशी स्थित भारतीय ज्ञानपीठसे सितम्बर १९५४ ई० में किया गया। इस खण्डमें अनुमान-प्रवचन-प्रस्तावों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

इस खण्डमें ४० पृष्ठों की तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक प्रस्तावना, भट्टाकलंक द्वारा विरचित न्यायविनिश्चय की संशोधित कारिकाएँ तथा उनकी क्रम संख्या का निर्धारण ( प्रथम प्रत्यक्ष प्रस्ताव से सम्बन्धित १६८½ कारिकाएँ, द्वितीय-अनुमानके प्रस्तावसे सम्बन्धित २१७½ कारिकाएँ तथा तृतीय प्रवचन प्रस्तावसे सम्बन्धित ९५½ कारिकाएँ ), २५ पृष्ठों तथा मूल भाग आदिके कुल मिलाकर ४५७ पृष्ठोंमें विस्तृत यह भाग विशेष महत्वपूर्ण है। क्योंकि जैनन्याय-दर्शन की उत्पत्ति तथा इतर दार्शनिक विचारधाराओंसे उसके वैशिष्ट्य का निदर्शन प्रस्तावनामें विशेष रूपसे किया गया है।

इस संस्करण की विद्वत्जगत् में मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की गई। डॉ० हीरालाल जैनने लिखा है कि—"भारतीय न्याय-साहित्यमें अकलंकके ग्रन्थों का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके अब तक जिन ग्रन्थों का पता चला है, उनमें निम्नलिखित ग्रन्थ पूर्णतया न्याय-विषय के हैं—(१) लघीयस्त्रय, (२) प्रमाणसंग्रह, (३) न्यायविनिश्चय एवं (४) सिद्धिविनिश्चय। इन सभी ग्रन्थों का आधुनिक ढंग से पं० महेन्द्रकुमारजीने सम्पादन किया है। इनके सम्पादनमें उन्होंने जितना श्रम किया है तथा अभिरुचिपूर्वक विद्वत्ताका परिचय दिया है।"

भारतीय दर्शनशास्त्रके धुरीण विद्वान् डॉ० सातकरी मुखर्जीने उक्त ग्रन्थके अपने फोरवर्डमें इसके सम्पादन-कार्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

इस विषयमें पं० दलसुरा भाई मालवणियाँके ये विचार भी पठनीय हैं—उनके अनुसार जैन दार्शनिक साहित्य की ही नहीं, किन्तु भारतीय दार्शनिक साहित्य की दृष्टिसे आचार्य अकलंक की कृतियों की विवेचना आवश्यक है। तथा इनकी कृतियोंका पं० महेन्द्रकुमारजीके सम्पादन-कार्यकी भी इन्होंने बहुत प्रशंसा की है।

धर्मकीर्तिके मन्तव्यों का खण्डन व्योमशिव, जयन्त, वाचस्पति, शालिकनाथ आदिने किया है और विज्ञानवादके विरुद्ध वास्तववाद को पुनः प्रस्थापित करने का प्रयत्न भी किया है किन्तु आचार्य अकलंकने वास्तववाद को सिद्ध करनेके लिए धर्मकीर्त्ति का जो खण्डन किया है, वह पूर्ववर्ति सभी आचार्योंसे अधिक मार्मिक और तर्कपूर्ण होनेके साथ ही दूसरोंकी तरह पूर्वपक्ष की कुछ ही दलीलों तक सीमित न रहकर धर्मकीर्तिके समयके दर्शन को व्याप्त कर लेता है। इस दृष्टिसे कहना होगा कि भारतीय दार्शनिकोंमें धर्मकीर्ति का समर्थ प्रतिस्पर्धी यदि कोई है, तो वह अकलंकदेव ही हैं। अतएव भारतीय दर्शनके क्रमिक-विकास में धर्मकीर्तिके समान अकलंक भी युग-विधाता हैं। इस दृष्टिसे अकलंकके ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है और उनका अत्याधुनिक शैलीसे प्रकाशन वांछनीय है।

धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें प्रज्ञाकरका अद्वितीय स्थान है। न्यायविनिश्चयके विवरणमें वादिराजने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसी को मुख्य रूपसे अपने तर्कबाणों का लक्ष्य बनाया है। प्रज्ञाकरकृत। प्रमाणवार्तिक भाष्य प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशन तक अप्रकाशित था किन्तु पं० महेन्द्रकुमारने अपने सम्पादनमें उसको पण्डित राहुल सांकृत्यायन प्रदत्त तिब्बतीय हस्तलिखित प्रति का पूरा उपयोग किया है और प्रमाणवार्तिकके भाष्यके सम्पादन का मार्ग और भी प्रशस्त कर दिया है।

पंडितजीने प्रस्तुत ग्रन्थके प्रारम्भमें लम्बी प्रस्तावना लिखी है। उसमें दर्शनकी व्याख्या करते हुए ज्ञान और दर्शनकी जो विवेचना की है, वह विद्वानोंके लिए पठनीय है। विषय-परिचयमें पंडितजीने ग्रन्थ-प्रतिपाद्य विषयोंका संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित तुलनात्मक विवेचन किया है। उसमें श्री राहुलजी द्वारा समर्थित प्रतीत्यसमुत्पादवादकी भी परीक्षा की गई है।

## ८-तत्त्वार्थवार्तिक

*आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र* का जैन-साहित्यमें वही स्थान है, जो हिन्दुओंमें गीता, बौद्धोंमें धम्मपद, इस्लाममें कुरान, क्रिश्चियनमें बाइबिल तथा पारसियोंमें जैन्दावेस्ताका है। जैनधर्मका सम्पूर्ण-सार उसमें समाहित है।

इसका महत्त्व इसीसे समझा जा सकता है कि यह ग्रन्थ कुछ परिवर्तनोंके साथ दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें समान रूपसे मान्य है।

ग्रन्थकी गरिमाको देखते हुए उस पर विभिन्न कालोंमें युगानुरूप विस्तृत टीकाएँ एवं भाष्य लिखे गए, जिनमें सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार तथा तत्त्वार्थवार्तिक आदि प्रमुख हैं।

तत्त्वार्थवार्तिकका प्रकाशन जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ताकी ओरसे यद्यपि बहुत पहले ही हो चुका था। इसकी दो हिन्दी टीकाएँ भी उपलब्ध होती हैं। एक टीका पं० पन्नालालजी दूनीवालोंकी है और दूसरी पण्डित मक्खनलालजी न्यायालंकार की। वह भी मुद्रित हो चुकी है। फिर भी इसका आधुनिक शैलीसे सम्पादित होकर उसका प्रकाशन अत्यावश्यक था। इसीके फलस्वरूप भारतीय ज्ञानपीठने सन् १९५७ में इसका प्रकाशन दो खण्डोंमें किया।

उक्त दोनों खण्डोंमें कुल मिलाकर लगभग ९०० पृष्ठ हैं। प्रथम भागमें प्रथम चार अध्यायके साथ अन्तमें उनका हिन्दी सारांश तथा द्वितीय भागमें अन्तिम छह तथा उनका हिन्दी सारांश ग्रथित है।

वर्तमानमें उक्त ग्रन्थ "तत्त्वार्थराजवार्तिक" के नामसे ही अधिक प्रसिद्ध है। जबकि इसका पूरा नाम तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य अथवा तत्त्वार्थवार्तिकालंकार है। क्योंकि उसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें इसका उक्त नामसे उल्लेख किया गया है और संक्षिप्त नाम तत्त्वार्थवार्तिक कहा गया है। इस नामका उल्लेख वार्तिक-कारने आद्य मंगल श्लोकमें भी किया है।

जैसा कि पूर्वमें कहा जा चुका है, इसके कई शताब्दियों पूर्व तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थ-वृत्ति) नामक प्रसिद्ध टीका लिखी जा चुकी थी। उक्त तत्त्वार्थवार्तिक इस टीकाको भी सामने रखकर लिखा गया है। वार्तिककारने सर्वार्थसिद्धिके वाक्योंको कहीं वार्तिक रूपसे और कहीं टीकाका अंग बनाकर अपनी विशद् व्याख्याएँ लिखी हैं।

यह बहुत ही स्पष्ट है कि तत्त्वार्थवार्तिककारके सामने तत्त्वार्थभाष्य और उसमें स्वीकृत सूत्रपाठ भी उपस्थित था। तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाके कारता पर प्रकाश डालनेवाली एक सर्वार्थसिद्धि-मान्य और दूसरी तत्त्वार्थभाष्यमान्य ये दो परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं। भट्ट अकलंकदेवने अपनी उत्थानिकामें इन दोनोंको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समानरूपसे स्थान दिया है। साथ ही उन्होंने अनेक सूत्रोंकी व्याख्या करते समय तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठका भी उल्लेख किया है और इस तरह उन्होंने तत्त्वार्थवार्तिकके रचनाकालके पूर्व तक तत्त्वार्थसूत्र पर जो कुछ लिखा जा चुका था, उसको भी आत्मसात् करते हुए इसे सर्वांगपूर्ण बनाया है।

डॉ० हीरालाल जैनके शब्दोंमें "प्रस्तुत ग्रन्थकी शैली न्याय-प्रचुर है—अधिकांश अतिप्रसन्न और कहीं-कहीं जटिल। इसके रचयिताने अपनेसे पूर्वकी सिद्धान्त और न्याय सम्बन्धी सामग्री तथा परम्पराका अच्छा उपयोग किया है और उनसे पीछेके रचयिताओं पर इस रचनाका गम्भीर प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार जैन संस्कृतिकी अपार काल-परम्पराके बीच यह ग्रन्थ दोनों ओर अपनी भुजाओंका प्रसार किए हुए सुमेरुके समान अचल खड़ा है।"

## ९-सिद्धिविनिश्चय टीका

आचार्य अकलंक द्वारा प्रणीत सिद्धिविनिश्चय तथा उसकी स्ववृत्ति पर आचार्य अनन्तवीर्य द्वारा लिखित टीकाका नाम "सिद्धिविनिश्चय टीका है" जो जैन-न्याय तथा तर्कशास्त्रका उच्चकोटिका ग्रन्थ है।

सिद्धिविनिश्चय तथा उसकी लेखकीय वृत्तिकी मूल प्रति लुप्त और विस्मृत हो चुकी थी। किन्तु संयोगसे आचार्य अनन्तवीर्य कृत उक्त ग्रंथकी टीका पर लिखित व्याख्यामूलक टीका उपलब्ध हुई। अर्थात् यह माना जाय कि सिद्धिविनिश्चयकी टीका पर अन्य दूसरे आचार्य द्वारा लिखित एक टीका-ग्रन्थ मिला, जिसके आधार पर सिद्धिविनिश्चयके मूलभागका ग्रन्थन करना जितना दुरूह कार्य था, उसे उसी मार्गका निष्ठावान पथिक विद्वान् ही अनुभव कर सकता है। किन्तु धन्य है पं० महेन्द्रकुमारजीका बहुआयामी पाण्डित्य, असीम धैर्य एवं कुशल-प्रतिभा, जिसके कारण उन्होंने असम्भवको भी सम्भव बनाकर पाण्डुलिपियों के उद्धार, सम्पादन एवं समीक्षाके क्षेत्रमें एक नया प्रतिमान स्थापित कर दिया।

सिद्धिविनिश्चयटीकाके प्रकाशनसे विद्वज्जगत्में मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की गई। जर्मनीके प्राच्यविद्याविद् प्रो० (डॉ०) आल्सडॉर्फ, महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराय, डॉ० सम्पूर्णानन्द, प्रो० (डॉ०) हीरालाल जैन, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके संस्कृत-विभागाध्यक्ष डॉ० सूर्यकान्त आदिने पण्डित महेन्द्रकुमारजीके उक्त श्रमसाध्य शोधकार्यके लिए अनेक बधाइयाँ भेजीं। योगी सम्राट् महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथजी कविराजने उसके प्राक्कथनमें उक्त ग्रन्थको भारतीय न्यायशास्त्रकी उत्कृष्ट कृति बतलाते हुए तथा न्यायाचार्यजीकी विलक्षण प्रतिभाकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए कहा—"पं० महेन्द्रकुमारजीने प्रमुख जैन तार्किक आचार्य अकलंकके लुप्त ग्रन्थ 'सिद्धिविनिश्चय' और उसकी स्ववृत्तिका उद्धार तथा आचार्य अनन्तवीर्यकी टीकाके साथ उसका समालोचनात्मक सम्पादन करके न केवल जैन-दर्शनकी महती सेवा की है, अपितु, मध्यकालीन समग्र भारतीय दर्शनका भी बड़ा उपकार किया है। अकलंकदेवका मूल सिद्धिविनिश्चय एवं उसकी स्ववृत्ति अप्राप्य है, केवल उसकी परवर्ती टीकाकी एक दुर्लभ पाण्डुलिपिके आधार पर डॉ० जैनने इस अमूल्य ग्रन्थका उद्धार किया है, यत्र-तत्र अन्य साधनोंका भी उपयोग किया है। इस कार्यके सम्पादनमें जो महान् प्रयत्न एवं परिश्रम निहित है, उसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है।"

प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन काशी स्थित भारतीय ज्ञानपीठसे दो खण्डोंमें फरवरी १९५९में हुआ। प्रथम खण्डमें कुल मिलाकर २९० पृष्ठोंकी अंग्रेजी प्रस्तावना एवं उसका हिन्दी अनुवाद तथा अन्य ३७० पृष्ठोंमें सिद्धिविनिश्चयटीकाका सम्पादित मूलपाठ प्रस्तुत है जिससे जल्पसिद्धि पर्यन्त पाँच प्रस्ताव ग्रथित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके द्वितीय खण्डमें केवल मूलपाठके ४३८ पृष्ठ हैं, जिसमें अवशिष्ट-हेतु-लक्षणसिद्धि आदि ७ प्रस्ताव प्रस्तुत हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थके विषय-विवेचन, लुप्त-विलुप्त मूल ग्रन्थकी इतर साधनोंसे श्रमसाध्य खोज, उसका उद्धार एवं सम्पादन, उसकी विषयवस्तुका तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक गम्भीर अध्ययन आदिसे प्रभावित होकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके तत्कालीन संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० (डॉ०) सूर्यकान्तने उस पर उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान करने हेतु अनुशंसा करनेसे महापण्डित न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारजीका गौरव तो बढ़ा ही, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्वयं भी गौरवान्वित हुआ था।

## १०—जैन दर्शन

प्रस्तुत ग्रन्थ पं० महेन्द्रकुमारजीके मौलिक चिन्तनका प्रतिफल है, जिसमें जैनदर्शनके विविध पक्षों पर उन्होंने तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विस्तृत अध्ययन किया है। एकद्विषयक ग्रन्थोंमें सम्भवतः यह प्रथम ग्रन्थ है, जो विद्यार्थियों, शोधार्थियों तथा जिज्ञासु स्वाध्यायार्थियोंमें समान रूपसे लोकप्रिय है तथा भारतीय विश्वविद्यालयोंके विविध पाठ्यक्रमोंमें स्वीकृत है।

इसका प्रथम प्रकाशन सन् १९५५ में श्रीगणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशीसे हुआ।

इस ग्रन्थका मूल विषय १२ प्रकरणोंमें विभक्त तथा ६५१ पृष्ठोंमें विस्तृत है। इनमें क्रमशः पृष्ठ-भूमि एवं सामान्यावलोकन, विषय-प्रवेश, भारतीय दर्शनको जैनदर्शनकी देन, लोक-व्यवस्था, पदार्थ-स्वरूप, षट्द्रव्यविवेचन, सप्ततत्त्व-निरूपण, प्रमाणमीमांसा, नयविचार, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी, जैनदर्शन एवं विश्व-शान्ति तथा अन्तमें जैन दार्शनिक साहित्य प्रमुख हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थका प्राक्कथन डॉ० मंगलदेव शास्त्रीने लिखा है, जिन्होंने जैनदर्शनके भारतीय संस्कृतिके विकासमें महत्त्वपूर्ण योगदानकी चर्चा करते हुए उक्त ग्रन्थको राष्ट्रभाषा हिन्दीके गौरव ग्रन्थोंमें गणना की है।

## एक सिद्धहस्त कहानीकारके रूपमें

पं० महेन्द्रकुमारजीका व्यक्तित्व बहुआयामी था। वह केवल जटिल न्यायग्रन्थोंके सम्पादन-समीक्षा तक ही सीमित न था बल्कि एक सिद्धहस्त कहानीकार, निबन्धकार, पत्रकार एवं कविके रूपमें भी उन्होंने अपनी कुशल-प्रतिभाका परिचय दिया। कहानीकारका उनका रूप, उस समय प्रकाशमें आया जब उनकी सम्भवतः प्रथम कहानी "अमृतदर्शन" का अक्टूबर १९५० में प्रकाशन हुआ। यह कहानी पौराणिक है, जिसमें भरत-चक्रवर्त्ती मूल नायकके रूपमें चित्रित हैं। कहानीकारने इसमें उस घटनाका मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, जब भरत चक्रवर्त्ती एक प्रभावकारी चक्रवर्त्ती-सम्राट् होकर भी राज्यके सभी सुख-भोगों एवं ऐश्वर्य-विलासोंके प्रति अनासक्त थे। राज्य-वैभव और आत्मदर्शन परस्पर-विरोधी होने पर भरतके चरित्र-में वे दोनों ही विरोध-भावसे दूर थे। क्योंकि कहानीकारके ही शब्दोंमें—"वैराग्य और उदासीनता तो अन्तरकी परिणति है और विभूति तथा वैभव बाह्य-पदार्थ। मात्र दृष्टि-परिवर्तनसे ही उनका विरोधभाव दूर हो जाता है।"

उक्त कहानीमें सोमदत्त एवं यज्ञदत्त नामक दो पात्रोंके संवादोंके माध्यमसे कथाकारने उक्त सैद्धान्तिक-तत्त्वका विश्लेषण किया है। पात्र-चयन, कथा-गठन, संवाद-योजना तथा मुहावरेदार भाषाके प्रयोग आदिकी दृष्टिसे यह कथा उत्कृष्ट श्रेणी की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनकी दूसरी कहानी "बहुरूपिया" है, जो जनवरी १९५१ में प्रकाशित हुई। यह कहानी ऐतिहासिक है। इसमें कथाकारने उत्तरमध्यकालीन महान् विचारक एवं निर्भीक व्यक्तित्व वाले महाकवि पं० ब्रह्मगुलालके जीवनसे सम्बन्धित कुछ घटनाओंका चित्रण किया है, जो बड़ी ही रोमांचक, मनोरंजक, प्रेरक एवं नवीन पीढ़ीके मनमें गौरवको जागृत करने वाली है।

यह ध्यातव्य है कि पं० ब्रह्मगुलाल चन्द्रवाड़पट्टन राज्यान्तर्गत फीरोजाबादके निवासी थे तथा उनकी समाधि फीरोजाबाद स्थित दि० जैन कॉलिज प्रांगणमें आज भी प्रतिष्ठित एवं दर्शनीय है।

पं० ब्रह्मगुलाल स्थानीय राज-दरबारके एक सम्मानित सदस्य थे। उनकी कुशल-प्रतिभा, स्वाभाविक अभिनय एवं बढ़ती हुई लोकप्रियतासे अन्य सभासद ईर्ष्यासे धधकते रहते थे और अवसर पाकर वे राजाकी दृष्टिमें उन्हें गिराना चाहते थे।

ब्रह्मगुलाल बहुरुपियाका स्वांग भरनेमें बड़े निपुण थे। ईर्ष्यालुओंने उसीके माध्यमसे उन्हें क्षतिग्रस्त अथवा अपमानित करनेका विचार किया। एक दिन उन्होंने राजाको उकसाया। अवसर पाकर राजाने ब्रह्मगुलालको एक दिन गाय तथा अन्य दूसरे दिन शेरका स्वांग रच कर दरबारमें प्रदर्शन करनेके अनुरोध किये। तदनुसार ब्रह्मगुलालने भी बहुत ही सुन्दर एवं स्वाभाविक स्वांग रचकर दरबारमें सभीको प्रभावित कर दिया। राजा द्वारा ब्रह्मगुलालको पुरस्कृत देखकर ईर्ष्यालुओंके मनमें विद्वेषकी द्विगुणित भावना भड़क उठती है। अतः वे अन्तिम रूपमें प्रेरित कर दिगम्बर जैनका स्वांगका आग्रह कराते हैं। ब्रह्मगुलाल उस स्वांगके प्रदर्शित करनेमें भी वैसा उत्साह दिखाते हैं और ॐ नमः सिद्धेभ्यः" कहकर वस्त्राभूषण त्यागकर पंचमुष्टि केशलोंच कर निर्ग्रन्थ मुनिपद धारण कर लेते हैं। राजा अभिनयसे प्रभावित होकर उन्हें श्रेष्ठतम पुरस्कार देना चाहता है किन्तु मुनि ब्रह्मगुलाल कहते हैं कि—"राजन्, श्रमणवेशका कोई भी पुरस्कार नहीं होता, क्योंकि वह तो स्वयंमें ही एक श्रेष्ठतम पुरस्कार है। यह स्वयं साधन है, और साध्य, मंगल है और मंगलका कारण है। वह स्वयं एक धर्म है। राजन्, आपने मुझे मानव-जीवनके चरम पुरुषार्थकी साधनाके द्वार पर पहुँचा दिया, जो मेरे लिए बड़ा उपकारी सिद्ध हुआ है।

मुनि ब्रह्मगुलालका कथन सुनकर राजा अवाक् रह गया। वह क्षमाश्रमणके चरणों पर गिर पड़ा।

क्षमाश्रमण ब्रह्मगुलालने अभयमुद्रामें उसे "धर्मलाभ" कहा और वे स्वयं महामैत्रीके पुण्य कणोंको बिखेरते हुए तपोवनकी ओर चल पड़े।"

कथाशिल्पकी दृष्टिसे उक्त कहानी सफल एवं श्रेष्ठ है। इसी प्रकार पण्डित जीकी कहानियोंमें परावलम्बनसे हटाकर स्वावलम्बनकी सीख प्रदान करने वाली नियतिवादी सद्दालपुत्त तथा जटिलमुनि और कोशा-गणिका आदि भी हैं, जो कहानी कला तथा नैतिक मूल्योंके प्रचार-प्रसारकी दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

### गम्भीर निबन्धकारके रूपमें

दार्शनिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं सर्वोदय विषयक चिन्तनपूर्ण निबन्धोंके लेखनके रूपमें भी पण्डितजीकी लेखनीने अपनी प्रौढ़ताका परिचय दिया है। उनके ऐसे गम्भीर निबन्धोंमेंसे अनेकान्त-दर्शनका सांस्कृतिक आधार (१९४९ ई०), सर्वोदयकी साधना (१९४९ ई०) विश्वशान्तिके मूल आधार (१९५० ई०), आध्यात्मिक-संस्कृति (१९५० ई०) 'स्यात्' एक प्रहरी (सन् १९५१) तथा अनेकान्तः स्वयं ही एक न्यायाधीश आदि प्रमुख हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**संस्कृत कविके रूपमें पण्डितजी**

बहुत कम लोग जानते हैं कि पं० महेन्द्रकुमारजी संस्कृतमें कविता भी करते थे। भले ही वे कवि-मंचोंसे उनका प्रसारण नहीं करते थे किन्तु अपने ग्रंथ-सम्पादन-कालमें जब वे प्रसंग प्राप्त ग्रन्थका सम्पादनादि कार्य समाप्त करते थे, तब भावविभोर होकर वे अपने विद्या गुरुओंका स्मरण कर उन्हें आदराञ्जलि प्रदान करते थे। उनकी वही भावना संस्कृत-कविताके विविध छन्दोंमें स्फुरायमान हो उठती थी।

पण्डितजी अपने गुरुतुल्य श्रीमान् पं० गणेशप्रसादजी वर्णी, गुरुवर पं० जीवन्धरजी शास्त्री, इन्दौर एवं पं० वंशीधरजी शास्त्री, इन्दौर, ज्येष्ठभ्रातृके समान पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई तथा साहित्यरसिक सेठ मुसद्दीलालजीके प्रति वे सदैव विनयावनत रहते थे। अतः इनके सहायता कार्योंके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु उन्होंने संस्कृतके विविध छन्दोंमें कुछ श्लोकोंका प्रणयन किया था। यथा—

"श्रीजैनसिद्धान्तमहोदधिर्मे समग्रसिद्धान्तगुरुश्चकास्ति।
वंशीधरो जैनकुलावतंसी हंसीयतो न्यायनये जनोऽयम्॥

स न्यायालंकारश्चंचत्स्याद्वादवारिधिर्धीमान्।
वाग्देवीनर्मज्ञो मर्मज्ञः कर्मकाण्डस्य॥

तस्याद्य वरिवस्यायामुपहारधिया मया।
सम्पाद्य न्यायकुमुदोत्तरार्धनिदमर्प्यते॥

(न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भा०)

**सम्पादक प्रशस्तिः**

भजति सागरमण्डलमुद्धुरे सुकृतिभिः 'खुरई' विकसत्पुरे।
सुपरवार जवाहरलालतः समजनिष्टः 'महेन्द्रकुमारकः'॥ १॥

कवीनाश्रितबीनाख्यनगरे धर्मदासतः।
नाभिनन्दनसद्विद्यालये संस्कृतशिक्षणम्॥ २॥

प्रारम्भिकमुपादाय विशेषाधिजिगीसया।
विद्वत्सुन्दरमिन्दूरविद्यालयमवाप्तवान्॥ ३॥

वंशोधरात् धर्ममधीत्य 'जीवन्धराच्च' तर्कं श्रमतः सतर्कम्।
स्याद्वादविद्यालयमेत्य तस्मिन्नश्रान्तमश्राम्यमहं चिराय॥ ४॥

न्यायमध्यापयन्नन्तेवासिनोऽपि निरन्तरम्।
अभूवमुत्तमश्रेण्यां न्यायाचार्यस्ततः परम्॥ ५॥

गवेषणापूर्णधियेह टिप्पणीतिहाससम्यक्तुलना मया श्रमाम्।
विलिख्य तत्रानवधानदूषणं सुधीजनः शोधयितेत्युपेक्ष्यते॥ ६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रसरसयुगनेत्रे (वी० नि० २४६६) वीरनिर्वाणवर्षे,
प्रथमदलनवम्यां भौमवारान्वितायाम् ।
कृतिरियमगमन्मे पूर्णतां मासि भाद्रे,
गुरुचरणकृपौघेनान्तरेणान्तरायम् ॥ ७ ॥

( न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीय भाग के अन्त में अंकित )

विभाति सद्वृत्तवपुर्गणेशप्रसादवर्णी गुरुरस्मदीयः ।
प्रसादतो यस्य निरस्य विघ्नं करोमि निघ्नं सकलेप्सितार्थम् ॥

मंजुलजैनहितैषोत्याख्यं पत्रं प्रचारयन् प्रथित ।
पूर्णंगवेषणमभितः संचितजैनेतिहासश्च ॥

नाथुरामप्रेमी सन्ततमुत्साहयन्नतिप्रेम्णा ।
न्यायकुमुदसम्पादनलग्नं चेतो ममाकार्षीत् ॥

श्रीजैनवाणीप्रणयी मुसद्दीलालः स्वधर्मस्य निषेवकोऽसि ।
यस्यानुकम्पाभिरहं चिराय स्याद्वादविद्यालयमाश्रयामि ॥

तेनोदाहृतनाम्नां सतां त्रयाणां करारविन्देषु ।
अमलाकलंकशास्त्रत्रयं क्रमादर्प्यते मोदात् ॥

( अकलंक ग्रन्थत्रयम् में अंकित समर्पण पत्र )

**निर्भीक पत्रकार के रूप में**

पण्डितजी भारतीय ज्ञानपीठके स्थापनाकाल सन् १९४४ से ही उसके संस्थापक-व्यवस्थापक तथा मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके सर्वप्रथम सम्मान्य नियामक एवं सम्पादक थे। जुलाई १९४९ से उन्होंने ज्ञानपीठ की शोध पत्रिकाके रूपमें 'ज्ञानोदय' मासिक का प्रकाशन किया, जिसके सम्पादकमण्डलमें उनके साथ-साथ मुनि कान्तिसागरजी तथा पं० फूलचन्द्रजी सि० शा० थे। शोध-पत्रिका जगत्में अल्पावधिमें भी इसने अपन उच्च स्थान बना लिया था। इसके सम्पादकीय लेख बड़े ही विचारपूर्ण, निर्भीक, सामयिक समस्याओंके विश्लेषक, समीक्षक तथा सुझावपूर्ण होते थे। ऐसे सम्पादकीय वक्तव्योंमें हरिजनोद्धार, वर्णभेद एवं वर्गभेद-समाप्ति, गांधीवादी विचारधारा का प्रचार-प्रसार, समत्वयोग, विश्वशान्ति, शिक्षामें आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता, नारी-जागरण, अर्थसंकट एवं विपन्नावस्था-ग्रस्त प्रतिभाशाली छात्रोंके लिए छात्रवृत्ति प्रदान करने सम्बन्धी विषयों पर उनकी लेखनी प्रभावकारी ढंगसे कार्य करती रही।

इस प्रकार पं०/डॉ० महेन्द्रकुमारजीके बहुआयामी व्यक्तित्वके प्रति आज समस्त प्राच्य विद्या जगत् श्रद्धावनत है। इन्होंने साहित्य साधना का जो प्रशस्त मार्ग दिखलाया, वह साहित्यिक इतिहासमें स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। पूजनीय व्यक्तियों की पूजासे ही समाज यशस्वी बनकर प्रगति कर सकता है। यह एक दुःखद प्रसंग है कि जैन विद्याके क्षेत्रमें आज जैन लोग नगण्य हैं, जैनेतर विद्वान् उत्साहवर्धक उच्चस्तरीय कार्य कर अपनी प्रगति कर रहे हैं। जैन समाजके नवयुवकों को उनसे शिक्षा लेकर आगे आना चाहिए और पूज्य पंडितजीके मार्ग का अनुकरण करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्वत्ताके लिए वस्तुतः कठोर परिश्रम, उत्कट अभिलाषा, दृढ़ संकल्प और असीम धैर्य की आवश्यकता होती है, साथ ही उसे आवश्यक है सामाजिक-सम्मान, पुरस्कार एवं प्रेरक उत्साहवर्धन। यदि जैन समाज अपना भविष्य उज्ज्वल बनाना चाहता है, तो उसे जैन विद्याके साधकों को प्रतिष्ठा एवं सम्मान देना होगा। इस दिशामें उन्हें मध्यकालीन जैन समाज की जिनवाणी-भक्ति एवं विद्वज्जन-सेवासे सबक सीखना होगा। जैन-विद्या एवं विद्वानोंके प्रति उसे अपने मनमें श्रद्धाका गुण जागृत करना होगा।

विद्वानों की गहन साधना एवं उनके गुणों की उपेक्षा नहीं होना चाहिए। क्योंकि एक गुणका आदर हजार गुणों को उत्पन्न करता है। विद्वान् का आदर करनेसे समस्त गुणों का स्वतः ही आदर हो जाता है। इसीसे समाज का तथा उसकी भावी पीढ़ी का कल्याण हो सकता है।

अब समय आ गया है। पूज्य पंडितजीके शोध कार्योंका निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किए जाने की आवश्यकता है। इसके बिना न तो एक मूक साधक विद्वान्के समर्पित जीवनके प्रति सामाजिक न्याय होगा और न ही जैन विद्याके प्रति समाज की श्रद्धा-भक्ति की अभिव्यक्ति ही। भले ही पूज्य पंडित महेन्द्रकुमारजीकी आर्थिक विपन्नता उनकी कुशल न्याय-प्रतिभा की अवरोधक नहीं बन सकी, किन्तु यह सत्य है कि जिस समाजके उत्थानके लिए वे जिए और मरे और अपनी अन्तिम आहुति भी दे डाली उस समाजने उनका साथ नहीं दिया, यहाँ तक कि उनकी मृत्युके बाद अल्पावधिमें उन्हें सर्वथा भुला दिया। जैन विद्या, विशेषतया जैन न्यायशास्त्र को उन्होंने आलोक प्रदान किया किन्तु उन्हें आलोकमें लाने का किसीने प्रयत्न नहीं किया। वे अपनी साधनाके आलोकसे स्वयं आलोकित हुए। किन्तु हमें हर्ष है कि उनकी मृत्युके बाद इस स्मृतिग्रन्थके माध्यमसे उनका स्मरण किया जा रहा है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# पण्डित महेन्द्रकुमारजीकी मृत्यु पर 'जैन संदेश' का सम्पादकीय

• पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

हमने कभी स्वप्नमें भी यह कल्पना न की थी कि हमें अपने परम सुहृद और तीस वर्षके सहयोगी पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके स्वर्गवास पर उनकी स्मृतिमें अपनी हतभाग्य लेखनी चलानी पड़ेगी। यह हमसे आठ वर्ष छोटे थे और अभी उनकी उम्र केवल ४७ वर्ष की थी।

आजसे लगभग तीस वर्ष पूर्व वह श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, काशीमें न्यायाध्यापक होकर आये थे। और इस पद पर उन्हें प्रतिष्ठित कराने वाले थे अमृतसरके जिनवाणीभक्त लाला मुसद्दीलालजी। लालाजी बम्बई परीक्षालय का परीक्षाफल देखकर जो विद्यार्थी सबसे अधिक अंक प्राप्त करता था, उसे छात्रवृत्ति दिया करते थे। पं० महेन्द्रकुमारजी अपने विद्यार्थी जीवनसे ही बड़े प्रतिभावान थे। सदा उच्चश्रेणीमें उत्तीर्ण होते थे। लालाजी की दृष्टिमें वह चढ़ गये। उन्होंने उन्हें छात्रवृत्ति दी। और जब वह शिक्षा समाप्त करके खुरई की जैनपाठशालामें अध्यापकी करने लगे तो लालाजीने स्याद्वाद महाविद्यालयके अधिकारियों पर जोर डालकर उन्हें जैनन्याय का अध्यापक बनवाया और कुछ समय तक ३०) मासिक वेतन अपनी ओरसे दिया।

लालाजी की इस दूरदर्शी दृष्टि ने जैनसमाज को एक ऐसा हीरा दिया जो यद्यपि पैदा हुआ था मध्यप्रदेशके खुरई नामक ग्राममें किन्तु विद्वानों की खान वाराणसीमें आकर चमक उठा। उनके उच्च अध्ययनका क्रम वाराणसीमें चालू हुआ। यहाँ उन्होंने अपना अध्ययन चालू रखा। गवर्नमेंट कीन्स कॉलिज, बनारस की मध्यमा परीक्षा पास की और फिर एक-एक खण्ड करके छहों खण्ड पास किये। वह जैन समाज के प्रथम न्यायाचार्य थे।

इसी बीचमें प्रकाण्ड पं० सुखलालजी हिन्दू विश्वविद्यालयमें स्थापित जैन चेयरके अध्यापक नियुक्त होकर आये। और पं० महेन्द्रकुमारजीसे उनका परिचय हुआ। और उन्होंने उनसे ग्रन्थ संपादन कलाका शिक्षण लेना आरंभ किया। उनका सबसे प्रथम सम्पादित ग्रन्थ था 'न्यायकुमुदचन्द्र' जो जैनन्याय का एक अपूर्व ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सेठ माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, बम्बई की ओरसे हुआ। इस ग्रन्थके सम्पादनमें हम लोगोंने कई वर्ष तक श्रम किया। उसके बाद न्यायाचार्यजीने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का सम्पादन किया। और पं० सुखलालजीके साथ भी कई ग्रन्थों का सम्पादन किया। सिंघी जैन सिरीज से उनके द्वारा सम्पादित अकलंकग्रन्थत्रय का प्रकाशन हुआ। उसकी प्रस्तावनासे उनकी विद्वत्ता चमक उठी।

बारह वर्ष तक श्री स्याद्वाद महाविद्यालयमें न्यायाध्यापक रहकर पंडितजी बम्बईके महावीर जैन-विद्यालयमें चले गये। वहाँ वह साहू श्रेयांसप्रसादजीके परिचयमें आये। साहू शान्तिप्रसादजीसे तो वह पहले ही परिचित हो चुके थे। इस परिचयके फलस्वरूप सन् '४४ में साहूजी की ओरसे भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना वाराणसीमें हुई और पंडितजी पुनः बनारस लौट आये। ज्ञानपीठ की स्थापना का और उसके द्वारा स्थापित मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमालाके द्वारा अनेकों बहुमूल्य जैन ग्रन्थोंके प्रकाशमें लाने का बहुत कुछ श्रेय पं० महेन्द्रकुमारजीको है। वह ज्ञानपीठ को एक केन्द्रीय जैनसंस्था बनाने का प्रयत्न बराबर करते रहे। उसीके फलस्वरूप 'ज्ञानोदय' नामक पत्र का जन्म हुआ जिसके वह सम्पादक रहे और उसके द्वारा उन्होंने अपनी स्वतन्त्र विचारधारा को सर्वसाधारणमें फैलाने का प्रयत्न किया। पीछे उनका ज्ञानपीठसे कार्यकर्ता का सम्बन्ध टूट गया और वह हिन्दू विश्वविद्यालयमें ही बौद्धदर्शनके अध्यापक होकर रहने लगे।

यहाँ रहते हुए उन्होंने एम० ए० पास किया। और अकलंकदेवके अपूर्व ग्रन्थ सिद्धिविनिश्चय का संपादन किया। इसमें सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थके सम्पादनमें उन्होंने जी-तोड़ श्रम किया और सिद्धि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनिश्चयटीका अकलंकदेवके मूल ग्रन्थ सिद्धिविनिश्चयका उद्धार किया। उसी परसे उन्हें पिछले ही दिनों हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। और इस तरह जैन विद्वानोंमें वह प्रथम डॉक्टर हुए। आगामी जुलाई मासमें उनकी नियुक्ति संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसीमें जैनदर्शन और प्राकृतके अध्यक्ष पद पर होनेवाली थी। आजकल वह उसी की तैयारीमें व्यस्त थे। हिन्दू विश्वविद्यालय छोड़ने पर नये निवासस्थान की व्यवस्था करना आवश्यक था। उसीके सम्बन्धमें १४ मई को दिनके १० बजे शहरमें एक मकान देखकर लौटे और ११ बजेके लगभग पक्षाघात का आक्रमण हो गया।

पक्षाघातसे पीड़ित अनेक रोगी हमारे सामने ही अच्छे हुए हैं और आज मजेमें हैं। हमें आशा थी कि वह भी स्वस्थ हो जायेंगे किंतु दूसरे आक्रमणने उन्हें हमसे सदाके लिये छीन लिया। यह उनके कुटुम्ब पर और जैनसमाज पर अनभ्र वज्रपात है। कल तक उनके जो बच्चे सनाथ थे आज वे अनाथ जैसे हो गये हैं। माता वृद्धा है—एक लड़का और दो लड़कियाँ दस वर्ष की अवस्थासे अन्दरके एकदम शिशु हैं। एक बड़ा लड़का इस साल इंजीनियरिंगमें प्रवेश लेगा। किंतु आज उन सबके सम्मुख घोर अंधकार जैसा उपस्थित है, क्योंकि पं० महेन्द्रकुमारजी कोई धनी पंडित नहीं थे। हाँ, आगे अब यह आशा थी किंतु वह आशा तो उनके साथ ही चली गई। यह तो उनके कुटुम्ब की दशा है।

उधर जैनन्याय का आज उनके जैसा अधिकारी विद्वान् कोई दृष्टिगोचर नहीं होता जो उनका भार सम्भालने की योग्यता रखता हो। दर्शनके प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों का उन्होंने पारायण कर डाला था। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, बौद्ध सभी दर्शनोंके ग्रन्थ उनके दृष्टिपथसे निकल चुके थे। और संपादनकलाके तो वह आचार्य हो गये थे। दि० जैनसमाजमें आज न वैसा कोई दार्शनिक नहीं है और न सम्पादक। उनकी विशेषताएँ उनके साथ चली गईं। विद्यानन्दिस्वामी की अष्टसहस्री और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसे महान् दार्शनिक ग्रन्थ सिद्धिविनिश्चयके ढंग पर प्रकाशन की प्रतीक्षामें हैं। हम सोचा करते थे कि महेन्द्रकुमारजीके द्वारा एक-एक करके इन सबका उद्धार हो जायेगा। किंतु हमारा सोचना भी उनके साथ ही चला गया। आज जैनसमाज लाख रुपया भी खर्च करे तो दूसरा पं० महेन्द्रकुमार पैदा नहीं कर सकता। आजके युगमें जब संस्कृत पढ़नेवाले भी दर्शन की ओरसे मुख मोड़ रहे हैं तब ऐसे विद्वान्के उत्पन्न होने का स्वप्न देखना भी नासमझी है। इसलिये रह-रह कर क्रूर काल पर क्रोध आता है और आता है अपनी बेबसी पर रोना। कहाँसे लायें हम पं० महेन्द्रकुमार जैसा विद्वान्।

प्रत्येक व्यक्तिमें गुण भी होते हैं और दोष भी। पं० महेन्द्रकुमारजीमें भी दोनों ही थे। किंतु उनके जैसा अध्यवसायी, उनके जैसा कर्मठ और उनके जैसा धुन का पक्का व्यक्ति होना कठिन है। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था—'स्वकार्यं साधयेत् धीमान्' 'बुद्धिमान का कर्त्तव्य है कि अपने कार्य की सिद्धि करे।' यही उनका मूलमन्त्र था। उन्होंने अपने इस मूलमन्त्र के सामने आपत्ति-विपत्तियों की कभी भी परवाह नहीं की, बुराई-भलाइयों की ओरसे आँखें मूँद लीं। जब जहाँ जैसे भी अपने कार्य में सफलता मिले तब वहाँ तैसे उसे प्राप्त करके ही वह शान्त होते थे। और किसीके साथ बुराई पैदा होने पर भी उससे अपना संबंधसे विच्छेद नहीं करते थे। समय पर उससे मिलने जाने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता था। और इस तरह मिलते थे, मानो कोई बात ही नहीं है।

उनके जीवनमें जो उतार-चढ़ाव आये वह मेरी स्मृतिमें आज भी मौजूद हैं। और उन्होंने अपने मूलमन्त्र को दृष्टिमें रखते हुए विष को अमृत की तरह पी लिया, यह भी मैं जानता हूँ। उनके विचार बहुत उदार थे। किन्तु सामाजिक सम्बन्धों के प्रति भी उनकी आस्था थी। और सामाजिक सम्बन्धके महत्त्व को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह मानते थे। फिर भी अपने भाषणों और लेखोंके द्वारा वह अपने विचार बराबर प्रकट करते रहते थे और अवसर पर चूकते नहीं थे। उनकी धार्मिक श्रद्धा कोई गहरी नहीं थी किन्तु जिनवाणीके उद्धार और जैन-संस्कृतिके अभ्युत्थानके प्रति उनकी अभिरुचि अत्यन्त गम्भीर थी।

पिछले दिनों वाराणसीमें सर्व वेदशाखा सम्मेलन का आयोजन हुआ था। और उसमें वेदविरोधी विद्वानोंको भी बोलनेके लिये आमन्त्रित किया था। प्रवाससे लौटने पर मुझे ज्ञात हुआ कि पं० महेन्द्रकुमार-जीने वेदके अपौरुषेयत्वके विरोधमें उसमें संस्कृतमें बोला। संस्कृत विश्वविद्यालयमें उनके पहुँच जानेसे जैन संस्कृतिको अवश्य ही बल मिलता इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु दुःख यही है कि असमयमें ही और वह भी अचानक ही उनका हमसे सदाके लिये वियोग हो गया।

आज हमारे लिये वाराणसी सूनी हो गई है। मिले हुए बहुत दिन हो जाते थे तो मिलनेकी प्रतीक्षा करते थे। अब इस प्रतीक्षाका कभी अन्त होने वाला नहीं है। अपनी इन्हीं आँखोंके सामने उन्हें चितामें जलते देखा है फिर भी हृदय चाहता कि यह मूर्ति एक बार किसी तरहसे देखनेको मिल जाये। मिलने पर इधर-उधरकी समाजकी कितनी बातें और विचार-विमर्श होता था। अब वह सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं होगा।

ऐसे वियोगके समयमें विवेक ज्ञान भी साथ नहीं देता। मनुष्य यह सोचकर अधीर हो उठता है कि जो चला गया वह अब कभी भी देखनेको नहीं मिलेगा। जब हम मित्रोंकी यह दशा है तो उनके कुटुम्बियों-की खास करके उनकी वृद्धा माता और समझदार बड़े पुत्रके दुःखकी तो थाह ही नहीं मिल सकती। हम उनसे हार्दिक समवेदना प्रकट करते हुए भगवान् जिनेन्द्रदेवसे यही प्रार्थना करते हैं कि महेन्द्रकुमारजी अपने सद्गुणोंको लेकर पुनः जैनकुलमें जन्म लें और अपने इस जीवनके शेष बचे कार्योंको पूर्ण करें।

दि० २८ मई १९५९ के 'जैन संदेश'से साभार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा प्रतिपादित नियतिवाद : एक समीक्षा

• प्रो० रतनचन्द्र जैन, भोपाल

माननीय डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य प्रथम जैन पण्डित थे जिन्होंने जैन पाठशालाओं और महाविद्यालयोंकी सीमासे बाहर जाकर विश्वविद्यालयमें प्राध्यापकका पद सुशोभित किया और जैनदर्शनके अध्ययन-मनन और शोधको विश्वविद्यालयीन आयाम दिया। न्यायाचार्यजी जैन न्यायशास्त्रके पारंगत विद्वान् थे। उन्होंने प्रायः सभी प्रमुख जैन न्यायग्रन्थों जैसे न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चयविवरण, अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और सिद्धिविनिश्चयटीकाके सम्पादन एवं प्रस्तावनालेखनका यशस्कर कार्य किया है। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थवृत्तिको भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना एवं हिन्दीसार द्वारा अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। 'जैनदर्शन' उनकी वह यशस्वी कृति है जो हिन्दीमें सर्वप्रथम लिखी गई और जिसमें जैनइतिहास, जैनसिद्धान्त, जैनन्याय और जैनाचारका सरल भाषामें संक्षिप्त एवं उच्चस्तरीय प्रतिपादन किया गया है। डॉक्टर साहबकी यह कृति जैन एवं जैनेतर जिज्ञासुओंके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

न्यायविद्यामें न्यायाचार्यजीको आधुनिक युगका अकलंक कहें तो अत्युक्ति न होगी। वर्तमान कालमें डॉ० राधाकृष्णन्, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, प्रो० बलदेव उपाध्याय आदि अनेक जैनेतर विद्वानोंने स्याद्वादकी अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याएँ की थीं। न्यायाचार्यजीने उन सबका युक्तिपूर्वक खण्डन कर स्याद्वाद की समीचीनता स्थापित करनेका सराहनीय कार्य किया। इतना ही नहीं, कालदोषसे जैनसमुदायमें भी कुछ ऐसे विद्वान् अस्तित्वमें आये जिनके मस्तिष्कने सर्वज्ञोपदेशके विपरीत एकान्तवादी मान्यताओंका अन्धकार उगला। इससे न्यायाचार्यजी अत्यन्त पीड़ित हुए और उन्होंने अमोघ युक्तियों तथा ज्वलन्त आगम प्रमाणोंसे इन विपरीत मान्यताओंका जोरदार खण्डन किया जिसके दर्शन तत्त्वार्थवृत्तिकी प्रस्तावनामें किये जा सकते हैं।

कुछ विद्वानोंने नियति-अनियति, निमित्त-उपादान, व्यवहारधर्मकी हेयोपादेयता, व्यवहारनयकी भूतार्थता-अभूतार्थता आदि अनेक सिद्धान्तोंके विषयमें एकान्तवादी मान्यताएँ प्रचलित की हैं। तत्त्वार्थवृत्तिकी प्रस्तावनामें इन सबकी शवपरीक्षा की गई है। जीवकी समस्त पर्यायोंको क्रमबद्ध या नियत माननेकी जो एकान्तवादी मान्यता प्रचलित की गई है उसकी न्यायाचार्यजीने विस्तारसे परीक्षा की है। वह बतलाती है कि यह मान्यता कितनी पथभ्रष्ट करनेवाली है। न्यायाचार्यजीने अपने निष्कर्षमें लिखा है कि नियतिवाद ईश्वरवादसे भी ज्यादा खतरनाक है। ईश्वरवादमें कर्मोंका फल ईश्वरके अधीन है, किन्तु अच्छे-बुरे कर्म करना मनुष्यके अधीन हैं। नियतिवादमें तो 'अच्छे-बुरे' कर्म भी मनुष्यके अधीन नहीं हैं, क्योंकि वे क्रमबद्ध हैं, पूर्वनियत हैं ( पृष्ठ ४८ )।

न्यायाचार्यजीने क्रमबद्ध पर्यायवादकी जो शवपरीक्षा की है उसका मैंने भी गहराईसे अनुचिन्तन किया है और मुझे न्यायाचार्यजीका कथन शतप्रतिशत समीचीन प्रतीत हुआ है। इस मान्यतासे श्रद्धा कितनी विपरीत और जीवन कितना अकर्मण्य हो जाता है तथा यह सर्वज्ञोपदेशके कितने खिलाफ है इसका मैंने जो चिन्तन किया है उस पर संक्षेपमें प्रकाश डाल रहा हूँ।

क्रमबद्धपर्यायवाद प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक द्रव्यकी सभी पर्यायें क्रमबद्ध हैं। अर्थात् किस द्रव्यकी कब क्या अवस्था होती है यह पूर्वनिर्धारित है। उसका स्थान भी निर्धारित है, काल भी निर्धारित है, साधन-सामग्री भी निर्धारित है, पुरुषार्थ भी निर्धारित है। अतः जिस द्रव्यकी, जिस स्थानमें, जिस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समयमें, जिस साधनसे जो अवस्था होनी है, उस द्रव्यकी वही अवस्था, उसी स्थानमें, उसी समयमें, उसी साधनसे होती है। इस नियमका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। दूसरे शब्दोंमें, जो होना है वही होगा, जब होना है तभी होगा, जहाँ होना है वहीं होगा, जिस रीतिसे होना है उसी रीतिसे होगा, जिस साधनसे होना है उसी साधनसे होगा, जिस क्रमसे होना है उसी क्रमसे होगा। अतः जो क्रमबद्ध है, पूर्वनियत है वही होता है। होनेवाले कार्यके लिये तदनुरूप बुद्धि और पुरुषार्थ अपने आप होते हैं, निमित्त भी अपने आप मिल जाते हैं। होनी कोई टाल नहीं सकता, अनहोनी कोई कर नहीं सकता। क्रमबद्धपर्यायवादी अपने मन्तव्यको इस उक्ति द्वारा स्पष्ट करते हैं—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः।
सहायास्तादृशा एव यादृशो भवितव्यता॥

जैसी होनहार होती है वैसी बुद्धि हो जाती है, वैसा ही प्रयत्न होने लगता है, वैसे ही सहायक मिल जाते हैं।

क्रमबद्धपर्यायका यह सिद्धान्त एकान्तनियतिवादका दूसरा नाम है। एकान्तनियतिवादमें प्रत्येक कार्य, उसके होनेका काल, निमित्त एवं पुरुषार्थ होते हैं, क्रमबद्धपर्यायवादमें भी नियत होते हैं।

इस सिद्धान्तका समर्थन इस तर्क द्वारा किया जाता है कि सर्वज्ञके ज्ञानमें समस्त द्रव्योंकी (भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालोंकी पर्यायें झलकती हैं जिसका तात्पर्य यह है कि वे यह जानते हैं कि भविष्यमें किस द्रव्यकी क्या-क्या अवस्था होनेवाली है। इसी आधार पर वे कहते हैं—

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहुँ नहीं होसी काहे होत अधीरा रे॥

किन्तु यह सिद्धान्त समस्त जिनोपदेश और मोक्षमार्गके नियमों पर पानी फेर देता है क्योंकि इससे निम्नलिखित बातें सिद्ध होती हैं—

१—जीव पापसे बचनेके लिए स्वतंत्र नहीं है क्योंकि क्रमबद्ध या नियत होनेके कारण ही पाप होते हैं और जो नियत है उसे कोई टाल नहीं सकता।

२—जीव मोक्षकी साधना करनेके लिये स्वतंत्र नहीं है क्योंकि यदि वह नियत नहीं है तो वैसा करनेकी बुद्धि भी जीवमें उत्पन्न नहीं हो सकती।

३—पाप होता है तो उससे डरनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि यदि स्वर्ग और मोक्ष नियत है तो पाप करनेके बावजूद वे होकर रहेंगे। ('काहे होत अधीरा रे?')

४—मोक्षके लिये परेशान होनेकी जरूरत नहीं है क्योंकि यदि वह नियत है तो जब उसका क्रम आयेगा तब उसे करनेकी बुद्धि जीवमें अपने आप उत्पन्न होगी।

५—उपदेश देने और सुननेकी भी जरूरत नहीं है क्योंकि जो कार्य क्रमबद्ध नहीं है उसे करनेका विचार उपदेश देने पर भी नहीं आ सकता और जो क्रमबद्ध है उसको करनेकी बुद्धि समय आने पर अपने आप उत्पन्न हो जायेगी। कहा भी है—'तादृशी जायते बुद्धि....।'

इस प्रकार इस सिद्धान्तके अनुसार जीवमें स्वच्छन्दता (असंयम) एवं अकर्मण्यता (मोक्षमार्गसे विमुखता) आ जानेसे भी कोई हानि सिद्ध नहीं होती, जबकि सर्वज्ञके उपदेशके अनुसार उन्हींके कारण जीव अनन्तकाल तक संसारमें भटकता है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड : ३

# कृतियों की समीक्षाएँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तत्त्वार्थवृत्ति : एक अध्ययन

• प्रो० उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी

आचार्य गृद्धपिच्छ अपरनाम उमास्वामी द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र जैनपरम्पराका आद्य सूत्र ग्रन्थ है जो दश अध्यायोंमें विभक्त है। इस पर सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि अनेक संस्कृत टीकाओंका निर्माण हुआ है। उनमें श्री श्रुतसागरसूरि विरचित तत्त्वार्थवृत्ति भी तत्त्वार्थसूत्रकी एक विशाल और उपयोगी टीका है। यह टीका पहले अप्रकाशित थी। सम्पादनकला विशेषज्ञ स्व० डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने इसका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सन् १९४९ में ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमालाके अन्तर्गत इसका प्रकाशन हुआ।

## ग्रन्थ नाम

इस टीकाका नाम तत्त्वार्थवृत्ति है। श्रुतसागरसूरिने ग्रन्थके प्रारम्भमें "वक्ष्ये तत्त्वार्थवृत्तिं निज-विभवतयाऽहं श्रुतोदन्वदाख्यः।" ऐसा लिखकर स्पष्ट कर दिया है कि इस ग्रन्थका नाम तत्त्वार्थवृत्ति है। इसके प्रथम अध्यायके अन्तमें आगत पुष्पिका वाक्यमें—"तत्त्वार्थटीकायां प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।" ऐसा लिखा है। द्वितीय अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका वाक्य है उसमें लिखा है—"तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ द्वितीयः पादः समाप्तः।" ऐसा लिखा है। इसी प्रकार तृतीय आदि अध्यायोंके अन्तमें भी "तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ" ऐसा उल्लेख मिलता है उपरिलिखित पुष्पिका वाक्योंसे ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थवृत्तिके दो नाम और हैं—'तत्त्वार्थटीका' और तात्पर्य"। किन्तु श्रुतसागरसूरिको इसका नाम तत्त्वार्थवृत्ति ही अभीष्ट है। इसी कारण उन्होंने ग्रन्थके प्रारंभमें तथा अन्तमें इसका तत्त्वार्थवृत्ति नाम ही लिखा है। ग्रन्थके अन्तका उल्लेख इस प्रकार है—"एषा तत्त्वार्थवृत्तिः यैर्विचार्यते।" तत्त्वार्थसूत्रकी टीका होनेके कारण इसका तत्त्वार्थ-टीका यह एक साधारण नाम है। तत्त्वार्थसूत्रके तात्पर्यको स्पष्ट करनेके कारण इसको तात्पर्य संज्ञक तत्त्वार्थ-वृत्ति भी कह सकते हैं। फिर भी इसका वास्तविक नाम तत्त्वार्थवृत्ति ही है।

यहाँ एक बात विचारणीय है कि श्रुतसागरसूरिने प्रथम अध्यायके अन्तमें 'प्रथमोऽध्यायः समाप्तः' ऐसा लिखा है। किन्तु द्वितीय आदि नौ अध्यायोंके अन्तमें 'द्वितीयः पादः समाप्तः', 'तृतीयः पादः समाप्तः' इस प्रकार लिखा है। यहाँ यह विचारणीय है कि लेखकने अध्यायके स्थानमें पाद शब्दका प्रयोग क्यों किया है। क्योंकि सब अध्यायोंके अन्तमें एकसा प्रयोग होना चाहिए। फिर जब दश अध्याय प्रारंभसे ही प्रचलित हैं तब अध्यायको पाद लिखना अटपटासा लगता है। न्यायसूत्र, वैशेषिक सूत्र आदि अन्य दर्शनोंके सूत्र ग्रन्थोंमें एक अध्यायमें कई पाद होते हैं। अतः वहाँ 'प्रथमेऽध्याये प्रथमः पादः,' 'द्वितीयः पादः' इत्यादि प्रकारसे उल्लेख किया गया है जो ठीक है। इससे यही सिद्ध होता है कि अध्याय और पाद अलग-अलग हैं। इसलिए अध्यायको पाद लिखना ठीक प्रतीत नहीं होता है। फिर भी इतना निश्चित है कि तत्त्वार्थवृत्तिके लेखकको पाद शब्दसे अध्याय ही इष्ट है।

## ग्रन्थकारका व्यक्तित्व एवं कृतित्व

तत्त्वार्थवृत्तिके कर्ताका नाम श्रुतसागरसूरि है। ये दिगम्बर जैन मुनि होनेके साथ ही बहुश्रुत विद्वान् थे। यथार्थमें वे श्रुतके सागर थे। वे तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार, साहित्यशास्त्र, धर्मशास्त्र आदिके ज्ञाता होनेके साथ ही सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री आदि जैनदर्शनके तथा न्याय-वैशेषिक आदि इतर दार्शनिक ग्रन्थोंके प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान कितना व्यापक था इसका पता तत्त्वार्थवृत्तिमें उद्धृत वाक्योंसे चलता है। तत्त्वार्थवृत्तिमें जिन अनेक ग्रन्थोंके श्लोक, गाथा तथा गद्यात्मक वाक्य उद्धृत हैं उनमेंसे कई उद्धरण ऐसे हैं जिनके मूलग्रन्थोंका पता विद्वान् सम्पादकको भी नहीं चल सका है। इससे ज्ञात होता है कि उनका अध्ययन और ज्ञान कितना विशाल था।

श्रुतसागरसूरि मूलसंघके बलात्कारगणमें विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीमें हुए हैं। इनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था। श्रुतसागरसूरिने अपनेको कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम, व्याकरणकमलमार्तण्ड, तार्किक-शिरोमणि, परमागमप्रवीण, नवनवतिमहा-महावादि विजेता आदि विशेषणोंसे अलंकृत किया है। इन्होंने तत्त्वार्थवृत्तिके अतिरिक्त जिन सहस्रनामटीका, औदार्य चिन्तामणि, व्रतकथाकोश, तत्त्वत्रय-प्रकाशिका आदि अन्य कई ग्रन्थोंकी रचना की थी।

## तत्त्वार्थवृत्तिकी विशेषता

तत्त्वार्थवृत्ति तत्त्वार्थसूत्रके तात्पर्यको स्पष्ट करनेवाली एक विस्तृत टीका है जो परिमाणमें सर्वार्थ-सिद्धिसे भी बड़ी है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह सर्वार्थसिद्धिकी व्याख्या हो। इसमें पूज्यपादकृत सर्वार्थ-सिद्धि ग्रन्थ पूराका पूरा समाविष्ट हो गया है। इसमें सर्वार्थसिद्धिके अनेक पदोंकी व्याख्या, सार्थकता, विशेषार्थ आदि विपुल मात्रामें उपलब्ध होते हैं। इसके साथ ही इसमें सर्वार्थसिद्धिके सूत्रात्मक वाक्योंके अभिप्रायको अच्छी तरहसे उद्घाटित किया गया है। अतः सर्वार्थसिद्धिको समझनेमें इससे बहुत सहायता मिलती है।

यद्यपि श्रुतसागरसूरि अनेक शास्त्रोंके प्रकाण्ड पण्डित थे फिर भी 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे' इस सूक्तिके अनुसार उन्होंने भी तत्त्वार्थवृत्तिमें कुछ गलतियाँ की हैं और इन गलतियोंका उद्घाटन विद्वान् सम्पादकने प्रस्तावनामें किया है। जैसे सूत्र संख्या ९/५ की वृत्तिमें आदाननिक्षेपसमितिका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

धर्मोपकरणग्रहणविसर्जने सम्यगवलोक्य मयूरवर्हेण तदभावे वस्त्रादिना प्रतिलिख्य स्वीकरणं विसर्जनञ्च सम्यगादाननिक्षेपसमितिर्भवति।

अर्थात् धर्मके उपकरणोंको मोरकी पीछी से, पीछीके अभावमें वस्त्र आदिसे अच्छी तरह झाड़ पोंछ-कर उठाना और रखना सम्यक् आदाननिक्षेपसमिति है।

यहाँ श्रुतसागरसूरिने मयूरपिच्छके अभावमें वस्त्रादिके द्वारा धर्मोपकरणोंके प्रतिलेखनका जो विधान किया है वह दिगम्बर परम्पराके अनुकूल नहीं है।

इसी प्रकार सूत्र संख्या ९/४७ में आगत लिंग शब्दकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

लिङ्गं द्विप्रकारं द्रव्यभावभेदात्। तत्र पञ्चप्रकारा अपि निर्ग्रन्था भावलिङ्गिनो भवन्ति। द्रव्यलिङ्गं तु भाज्यम्। तत्किम्? केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलशब्दवाच्यं कौशेयादिकं गृह्णन्ति, न तत् प्रक्षालयन्ति, न सीव्यन्ति, न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति, अपरकाले परिहरन्ति। केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषा लज्जितत्वात् तथा कुर्वन्तीति व्याख्यानमाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यम्।

अर्थात् लिंगके दो भेद हैं—द्रव्यलिंग और भावलिंग। पाँचों प्रकारके मुनियोंमें भावलिंग समानरूपसे पाया जाता है। द्रव्यलिंगकी अपेक्षासे उनमें कुछ भेद पाया जाता है। कोई असमर्थ मुनि शीतकाल आदिमें कम्बल आदि वस्त्रोंको ग्रहण कर लेते हैं। लेकिन उस वस्त्रको न धोते हैं और फट जाने पर न सीते हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा कुछ समय बाद उसको छोड़ देते हैं। कोई मुनि शरीरमें विकार उत्पन्न हो जानेसे लज्जाके कारण वस्त्रोंको ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकारका व्याख्यान भगवती आराधनामें अपवादरूपसे बतलाया है।

इस प्रकरणमें विद्वान् सम्पादकने लिखा है कि भगवती आराधनाकी अपराजित सूरिकृत विजयोदया टीकामें यह अपवाद मार्ग स्वीकार किया गया है। क्योंकि अपराजितसूरि यापनीय संघके आचार्य थे और यापनीय आगमोंको प्रमाण मानते थे। परन्तु श्रुतसागरसूरि तो कट्टर दिगम्बर थे। वे कैसे इस चक्करमें आ गये।

इसी प्रकार सूत्र संख्या ५/४१, ८/२, ८/११, ९/१ इत्यादि सूत्रोंकी वृत्तियोंमें भी कुछ गलतियाँ विद्यमान हैं। फिर भी तत्त्वार्थवृत्ति अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण और बहुत ही उपयोगी बृहदाकार रचना है। इसका परिमाण ९००० श्लोक प्रमाण है। सुपर रायल साइजके ३२८ पृष्ठोंमें इसका मुद्रण हुआ है। संस्कृत टीकाके बाद १८३ पृष्ठोंमें इसका हिन्दी सार भी मुद्रित है जिसे श्री उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्यने लिखा है। इसमें तत्त्वार्थसूत्र पर श्रुतसागरसूरिका जो विवेचन है वह प्रायः पूरा संगृहीत है और संस्कृत न जानने वालोंके लिए यह हिन्दी सार बहुत ही उपयोगी है। ग्रन्थके अन्तमें ६५ पृष्ठोंमें ६ उपयोगी परिशिष्ट दिये गये हैं। इस प्रकार सुपर रायल साइजमें मुद्रित तत्त्वार्थवृत्तिकी कुल पृष्ठ संख्या ६५० है।

अब यहाँ "भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्।" ३/२७। इस सूत्रकी व्याख्यामें उल्लिखित कुछ विशेष बातों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

श्रुतसागरसूरिने अवसर्पिणी कालके वर्णनमें कुछ विशेष बातें बतलाई हैं जो इस प्रकार हैं—

अवसर्पिण्यास्तृतीयकाले पल्यस्याष्टम भागे स्थिते सति षोडशकुलकरा उत्पद्यन्ते। तत्र षोडशकुलकरेषु मध्ये पञ्चदशकुलकराणामष्टम एव भागे विपत्तिर्भवति। षोडशस्तु कुलकरः उत्पद्यते अष्टम एव भागे विनाशस्तु तस्य चतुर्थकाले भवति। पञ्चदश कुलकरस्तीर्थंकरः। तत्पुत्रः षोडशकुलकरश्चक्रवर्ती भवति। तौ द्वावपि चतुरशीतिलक्षपूर्वजीवितौ। चतुर्थकाले त्रयोविंशतिस्तीर्थंकरा उत्पद्यन्ते निर्वान्ति च।

एकादश चक्रवर्तिनः नव बलभद्राः नव वासुदेवाः नव प्रतिवासुदेवा उत्पद्यन्ते। एकादशरुद्रा नव नारदाश्च उत्पद्यन्ते। अर्थात् अवसर्पिणीके तृतीयकालमें आठवां भाग शेष रहने पर १६ कुलकर उत्पन्न होते हैं। १६ कुलकरोंमें से १५ की आठवें भागमें ही मृत्यु हो जाती है। सोलहवां कुलकर आठवें भागमें ही उत्पन्न होता है किन्तु उसकी मृत्यु चतुर्थकालमें होती है। पन्द्रहवां कुलकर तीर्थंकर होता है और सोलहवां कुलकर उसका पुत्र चक्रवर्ती होता है। उन दोनोंकी आयु चौरासी लाख पूर्वकी होती है। चौथे कालमें तेईस तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और निर्वाणको प्राप्त होते हैं। चतुर्थकालमें ११ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव उत्पन्न होते हैं। ११ रुद्र और ९ नारद भी इस कालमें उत्पन्न होते हैं।

अब उत्सर्पिणी कालकी जिन विशेषताओंको श्रुतसागरसूरिने बतलाया है उनको देखिए—

उत्सर्पिण्याः द्वितीयस्य कालस्यान्ते वर्षसहस्रावशेषे स्थिते सति चतुर्दशकुलकरा उत्पद्यन्ते। तद्वर्षसहस्रमध्ये त्रयोदशानां विनाशो भवति। चतुर्दश कुलकर उत्पद्यते। तद्वर्षसहस्रमध्ये विपद्यते तु तृतीयकालमध्ये। तस्य चतुर्दशस्य कुलकरस्य पुत्रस्तीर्थंकरो भवति। तस्य तीर्थंकरस्य पुत्रश्चक्रवर्ती भवति। तद्द्वयस्याप्युत्पत्तिस्तृतीयकाले भवति। अस्मिन्नेवकाले शलाकाः पुरुषा उत्पद्यन्ते।

अर्थात् उत्सर्पिणीके द्वितीय कालके अन्तमें एक हजार शेष रहने पर चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं। तेरह कुलकर द्वितीय कालमें ही उत्पन्न होते हैं और मरते भी द्वितीय कालमें ही हैं। लेकिन चौदहवां कुलकर उत्पन्न तो द्वितीय कालमें ही होता है किन्तु मरता तृतीय कालमें है। चौदहवें कुलकर का पुत्र तीर्थंकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है और उस तीर्थंकर का पुत्र चक्रवर्ती होता है इन दोनोंकी उत्पत्ति तृतीय कालमें होती है। इसी कालमें ६३ शलाका पुरुष उत्पन्न होते हैं। २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण, और ९ प्रति-नारायण ये ६३ शलाका पुरुष कहलाते हैं।

अब मुझे यहाँ उपर्युक्त कथनके आधारसे चार बातों पर विचार करना है। उनमेंसे पहली विचारणीय बात यह है कि श्रुतसागरसूरिके अनुसार अवसर्पिणी कालमें १६ कुलकर होते हैं और उत्सर्पिणी कालमें १४ कुलकर होते हैं। ऐसा क्यों होता है। दोनों कालोंमें कुलकरोंकी संख्या एक समान होना चाहिये। जैसे कि तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों आदिकी संख्या सदा एक समान रहती है। प्रत्येक कालमें तीर्थंकर २४ ही होते हैं। कभी २३ हों और कभी २५ हों ऐसा नहीं होता है। आदिपुराण, पद्मपुराण आदि ग्रन्थोंमें भी इस अवसर्पिणी कालमें कुलकर १४ ही बतलाये गये हैं। और चौदहवें तथा अन्तिम कुलकर नाभिराय थे। यहाँ यह विचारणीय है कि अवसर्पिणी कालमें १६ कुलकरोंकी मान्यता श्रुतसागरसूरिकी अपनी है या उसका कोई आधार रहा है।

द्वितीय विचारणीय बात यह है कि अवसर्पिणी कालमें प्रथम तीर्थंकरकी उत्पत्ति किस कालमें होती है? तृतीय कालमें या चतुर्थ कालमें? श्रुतसागरसूरिके कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक अवसर्पिणीके तृतीय कालमें प्रथम तीर्थंकरका जन्म होता है। यदि उनकी ऐसा मान्यता है तो वह गलत है। सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक अवसर्पिणी कालके चतुर्थ कालमें २४ तीर्थंकर होते हैं और प्रत्येक उत्सर्पिणी कालके तृतीय कालमें २४ तीर्थंकर होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी काल इसका अपवाद अवश्य है। इस अवसर्पिणी कालके तृतीय कालमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथका जन्म अवश्य हुआ है, किन्तु सदा ऐसा नहीं होता है। इस बार ऐसा क्यों हुआ इसका विशेष कारण है और वह कारण है हुण्डावसर्पिणी काल। यह कालका एक दोष है। इस दोषके कारण कभी कुछ ऐसी बातें होती हैं जो सामान्यरूपसे सदा नहीं होतीं। जैसे इस अवसर्पिणी कालके तृतीय कालके अन्तमें प्रथम तीर्थंकरका जन्म होना। तीर्थंकरके पुत्रीका जन्म नहीं होता है। किन्तु काल दोषके कारण ऋषभनाथके दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी हुईं। यह सब हुण्डावसर्पिणी कालका प्रभाव है। हुण्डावसर्पिणी कालमें कौन-कौनसी विशेष बातें होती हैं इसका वर्णन तिलोयपण्णत्तीके चतुर्थ अध्यायमें किया गया है। किन्तु श्रुतसागरसूरिने हुण्डावसर्पिणी कालका उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंके बीत जाने पर एक बार हुण्डावसर्पिणी काल आता है।

यहाँ तीसरी विचारणीय बात यह है कि श्रुतसागरसूरिने अवसर्पिणी कालके प्रथम तीर्थंकरको कुलकर माना है किन्तु उत्सर्पिणी कालके प्रथम तीर्थंकरको कुलकर नहीं माना। ऐसा क्यों माना है यह समझमें नहीं आ रहा है। अवसर्पिणी कालके प्रथम तीर्थंकरको कुलकर माननेका क्या हेतु है? कुलकर तो एक प्रकारके राजा सदृश होते हैं। कहाँ तीर्थंकरपना? और कहाँ कुलकरपना? दोनोंमें बड़ा अन्तर है।

चौथी विचारणीय बात यह है कि श्रुतसागरसूरिने अवसर्पिणी कालमें ६३ शलाका पुरुषोंके अतिरिक्त ९ नारद तथा ११ रुद्र भी माने हैं। किन्तु उत्सर्पिणी कालमें केवल ६३ शलाका पुरुष माने हैं। इस कालमें ९ नारद तथा ११ रुद्रोंको नहीं माना है। उन्होंने ऐसा अपने मनसे माना है या इस मान्यताका भी कुछ आधार रहा है। मैं यहाँ एक और बात पर विचार करना चाहता हूँ। ध्यान दें—

तृतीय अध्यायके पूर्वोक्त सूत्रकी वृत्तिको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे ज्ञात होता है कि वर्तमान अवसर्पिणी कालके ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरोंके बाद आगे उत्सर्पिणी कालमें जो चौबीस तीर्थंकर होंगे वे ८४ हजार वर्षके बाद होंगे। ८४ हजार वर्षकी गणना इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवसर्पिणीका पंचमकाल ( २१ हजार वर्ष ) छठा काल ( २१ हजार वर्ष ) फिर उत्सर्पिणीका प्रथम काल ( २१ हजार वर्ष ) द्वितीयकाल ( २१ हजार वर्ष ) अतः २१ + २१ + २१ + २१ = ८४ हजार वर्ष हुए। इतना काल बीत जानेपर उत्सर्पिणीके तृतीय कालमें २४ तीर्थंकर होंगे।

अब अवसर्पिणी कालके २४ तीर्थंकर कितने कालके बाद होंगे इसपर विचार कीजिए। उत्सर्पिणीका चतुर्थकाल ( २ कोड़ाकोड़ी सागर ) पंचम काल ( ३ कोड़ाकोड़ी सागर ) छठा काल ( ४ कोड़ाकोड़ी सागर )। फिर अवसर्पिणीका प्रथम काल ( ४ कोड़ाकोड़ी सागर ) द्वितीय काल ( ३ कोड़ाकोड़ी सागर ) तृतीय काल ( २ कोड़ाकोड़ी सागर ) इस प्रकार २ + ३ + ४ + ४ + ३ + २ = १८ कोड़ाकोड़ी सागर हुए। अतः १८ कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण काल बीत जानेपर अवसर्पिणी कालके चतुर्थकालमें २४ तीर्थंकर होंगे।

उक्त विवरणसे यह सिद्ध होता है कि उत्सर्पिणी कालके तृतीय कालमें होनेवाले तीर्थंकर अल्पकाल ( केवल ८४ हजार वर्ष ) के बाद होते हैं किन्तु अवसर्पिणी कालके चतुर्थ कालमें होने वाले २४ तीर्थंकर बहुत काल ( १८ कोड़ाकोड़ी सागर ) के बाद होते हैं। अर्थात् प्रत्येक उत्सर्पिणीके तृतीय कालमें होनेवाली चौबीसी ८४ हजार वर्ष बाद और प्रत्येक अवसर्पिणीके चतुर्थ कालमें होनेवाली चौबीसी १८ कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण कालके बाद होती है। यहाँ यह समझमें नहीं आ रहा है कि एक चौबीसीके बाद दूसरी चौबीसी के होनेमें कभी बहुत कम कालका अन्तर और कभी बहुत अधिक कालका अन्तर क्यों होता है ? इस विषयमें शायद यह उत्तर दिया जा सकता है वस्तु स्थिति अथवा काल व्यवस्थाके कारण ऐसा होता है। फिर भी दो चौबीसीके बीचमें कालका कहीं बहुत कम और कहीं बहुत अधिक अन्तराल कुछ विचित्रसा लगता है। कहाँ ८४ हजार वर्ष ? और कहाँ १८ कोड़ाकोड़ी सागर ? इन दोनोंमें कितना महान् अन्तर है।

## सम्पादन की विशेषता

तत्त्वार्थवृत्तिके सम्पादक डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य जैनदर्शन, बौद्धदर्शन तथा अन्य दर्शनोंके प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने सर्वश्री पं० सुखलाल संघवी, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री तथा दलसुखजी मालवणिया आदि उच्चकोटिके विद्वानोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण सम्पादन कार्यमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। यही कारण है कि उन्होंने सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, तत्त्वार्थराजवार्तिक, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, षड्दर्शनसमुच्चय आदि अनेक ग्रन्थोंका शोधपूर्ण सम्पादन किया है। यह तो सम्पादक ही जानता है कि शोधपूर्ण सम्पादन करनेमें उसे कितना परिश्रम करना पड़ता है।

विद्वान् सम्पादकने तत्त्वार्थवृत्तिका सम्पादन चार कागजकी तथा एक ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियोंके आधारपर किया है। इसमें बनारस, आरा और दिल्लीसे प्राप्त प्राचीन कागजकी चार पाण्डुलिपियों ( प्रतियों ) का उपयोग किया गया है। किन्तु मूडबिद्रीसे प्राप्त ताड़पत्रीय प्रतिके आधारसे ही तत्त्वार्थवृत्तिका शुद्ध संस्करण सम्पादित हो सका है। यहाँ यह स्मरणीय है कि दिगम्बर वाङ्मयके शुद्ध सम्पादनमें ताड़पत्रीय प्रतियाँ बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इस प्रकार उक्त पाँच प्रतियोंके आधारसे तत्त्वार्थवृत्तिका सम्पादन किया गया है। मूडबिद्री जैन मठकी प्रति कन्नड़ लिपिमें है और शुद्ध है। तथा उसमें कुछ टिप्पण भी उपलब्ध हुए हैं। उन टिप्पणोंको 'ता० टि०' के साथ छपाया गया है। कुछ अर्थबोधक टिप्पण भी लिखे गये हैं।

## प्रस्तावना

सम्पादित ग्रन्थकी प्रस्तावना सम्पादनका ही अंग होती है। यथार्थमें प्रस्तावनाके द्वारा ही सम्पादक की विद्वत्ता, विचारशैली, ग्रन्थ समीक्षा आदिका परिचय मिलता है। विद्वान् सम्पादकने ९३ पृष्ठोंकी विस्तृत प्रस्तावना लिखी है जो पठनीय और मननीय है। कुछ गम्भीर विषयोंपर अपने स्वतन्त्र, तर्कपूर्ण और निर्भीक विचार प्रस्तुत करनेमें भी उन्होंने कोई संकोच नहीं किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावनामें सर्वप्रथम भगवान् महावीरके समकालीन ६ प्रमुख तीर्थनायकोंके मतोंपर विचार किया गया है। उनके नाम तथा मत इस प्रकार हैं—(१) अजितकेशकम्बलि ( भौतिकवाद, उच्छेदवाद ) (२) मक्खलिगोशाल ( नियतवाद ) (३) पूरणकश्यप ( अक्रियावाद (४) प्रक्रुधकात्यायन ( कूटस्थ नित्यवाद ) (५) संजयबेलट्ठिपुत्त ( संशयवाद ) ( ६ ) गौतमबुद्ध ( अव्याकृतवाद, अनात्मवाद )।

इसके बाद सम्पादकने भगवान् महावीरके विषयमें बतलाया है कि वे न तो अनिश्चयवादी थे, न अव्याकृतवादी और न भूतवादी। यथार्थमें वे अनेकान्तवादी और स्याद्वादी थे। उन्होंने बतलाया था कि न तो कोई द्रव्य नया उत्पन्न होता है और न उसका सर्वथा विनाश होता है। किन्तु प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिक्षण परिवर्तन अवश्य होता रहता है। क्योंकि उसका यही स्वभाव है। महावीरने कहा था—"उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा"—अर्थात् प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है, विनष्ट होता है और ध्रुव है। इसके अतिरिक्त महावीरने प्रत्येक वस्तुको अनन्तधर्मात्मक बतलाया है।

तदनन्तर भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका विस्तारसे विवेचन किया गया है। इस सात तत्त्वोंका श्रद्धान और ज्ञान मुमुक्षुके लिए आवश्यक है। इसी प्रकरणमें बुद्धके अनात्मवादका युक्तिपूर्वक निराकरण करके जैनदर्शन सम्मत आत्माका स्वरूप उसके भेद आदिके विषयमें अच्छा प्रकाश डाला गया है।

सात तत्त्वोंके विवेचनके बाद सम्पादकने सम्यग्दर्शनके विषयमें अनेक शीर्षकोंके विस्तारसे विचार किया है। यथा—

### सम्यग्दर्शनका सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शनका यर्थार्थ स्वरूप बतलानेके बाद सम्पादकने लिखा है—

सम्यग्दर्शनके अन्तरंग स्वरूपकी जगह आज बाहरी पूजा-पाठने ले ली है। जो महावीर और पद्मप्रभु वीतरागताके प्रतीक थे आज उनकी पूजा व्यापार-लाभ, पुत्रप्राप्ति, भूतबाधा शान्ति जैसी क्षुद्रकामनाओंकी पूर्तिके लिए ही की जाने लगी है। इनके मन्दिरोंमें शासना देवता स्थापित हुए हैं और उनकी पूजा और भक्तिने ही मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया है। और यह सब हो रहा है सम्यग्दर्शनके पवित्र नाम पर।

### परम्पराका सम्यग्दर्शन

यहाँ बतलाया गया है कि प्राचीन होनेसे ही कोई विचार अच्छा या नवीन होनेसे ही कोई विचार बुरा नहीं कहा जा सकता। किन्तु जो समीचीन हो वही ग्राह्य होता है। सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नहीं हो सकता है। अतः बुद्धिमान् लोग परीक्षा करके उनमेंसे जो समीचीन होता है उसको ग्रहण कर लेते हैं। अतः प्राचीनताके मोहको छोड़कर समीचीनताकी ओर दृष्टि रखना आवश्यक है। क्योंकि इस प्राचीनताके मोहने अनेक अन्धविश्वासों और कुरूढ़ियोंको जन्म दिया है।

### संस्कृतिका सम्यग्दर्शन

इसमें बतलाया गया है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। बच्चा जब उत्पन्न होता है उस समय वह बहुत कम संस्कारोंको लेकर आता है और उसका ९९ प्रतिशत विकास माता-पिताके संस्कारोंके अनुसार होता है। यदि किसी चाण्डालका बालक ब्राह्मणके यहाँ पले तो उसमें बहुत कुछ संस्कार ब्राह्मणोंके आ जाते हैं। तात्पर्य यह है कि नूतन पीढ़ी के लिए माता-पिता ही बहुत कुछ उत्तरदायी होते हैं। आज संस्कृतिकी रक्षाके नामपर लोग समाजमें अनेक प्रकारके अनर्थ करते रहते हैं। अतः सबसे पहले जैन संस्कृतिके स्वरूप को जानना आवश्यक है। क्योंकि जैन संस्कृतिने आत्माके अधिकार और स्वरूपकी ओर हमारा ध्यान दिलाया है और कहा है कि संस्कृतिका सम्यग्दर्शन हुए बिना आत्मा कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### अध्यात्म और नियतिवादका सम्यग्दर्शन

इसमें बतलाया गया है कि जगत्में जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नहीं हो सकता और सर्वथा नये किसी असत्का सद्रूपमें उत्पाद नहीं हो सकता। जीव, पुद्गल आदि जो छह मौलिक द्रव्य हैं इनमेंसे न तो कोई द्रव्य कम हो सकता है और न कोई नया द्रव्य उत्पन्न होकर इसकी संख्यामें वृद्धि कर सकता है। प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य है। द्रव्यगत मूल स्वभावकी अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यके अपने परिणमन नियत हैं। जैनदर्शनकी दृष्टिसे द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं, पर उनके प्रतिक्षणके परिणमन अनियत हैं।

इस प्रकरणमें सम्पादकने नियतिवादका निर्भयतापूर्वक खण्डन किया है। वे लिखते हैं—"जो होना होगा वह होगा ही, इसमें हमारा कुछ भी पुरुषार्थ काम नहीं करता है।" इस प्रकारके नियतिवाद सम्बन्धी विचार जैनतत्त्वस्थितिके प्रतिकूल हैं। नियतिवाद दृष्टिविष है। 'ईश्वरकी मर्जी', 'विधिका विधान' इत्यादि प्रकारके शब्दोंका प्रयोग पुरुषार्थकी महत्ताको कम कर देते हैं। नियतिवादका कालकूट ईश्वरवादसे भी भयंकर है। नियतिवादमें पुण्य और पापकी व्यवस्था भी नहीं बन सकती है। जब प्रत्येक जीवका प्रति समयका परिणमन निश्चित है तब क्या पुण्य और क्या पाप। ऐसा क्यों हुआ? नियतिवादमें इस प्रश्नका एक ही उत्तर है—ऐसा ही होना था, जो होना होगा सो होगा ही।" नियतिवादमें पुरुषार्थका कोई स्थान नहीं है। इत्यादि प्रकारसे संपादकने नियतिवादके सम्बन्धमें विस्तारसे जो प्रतिपादन किया है वह चिन्तनके योग्य है।

### निश्चय और व्यवहारका सम्यग्दर्शन

यहाँ बतलाया गया है कि निश्चयनय परनिरपेक्ष आत्मस्वरूपको बतलाता है। उसकी दृष्टि वीतरागतापर रहती है। निश्चयनय जहाँ मूल द्रव्य स्वभावको विषय करता है वहाँ व्यवहारनय परसापेक्ष पर्याय को विषय करता है। निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। मूल द्रव्यदृष्टिसे सभी आत्माओं की स्थिति एक प्रकार की है। शुद्ध द्रव्यस्वरूप उपादेय है यही निश्चयनय की भूतार्थता है। व्यवहारनयकी अभूतार्थता इतनी ही है कि वह जिन विभाव पर्यायोंको विषय करता है वे विभाव पर्यायें हेय हैं, उपादेय नहीं। परनिरपेक्ष द्रव्यस्वरूप और परनिरपेक्ष पर्यायें निश्चयनयके विषय हैं और परसापेक्ष परिणमन व्यवहारनयके विषय हैं।

### परलोकका सम्यग्दर्शन

यहाँ बतलाया गया है कि जब आत्मा एक स्थूल शरीरको छोड़कर अन्य स्थूल शरीरको धारण करता है तो वह परलोक कहलाता है। परलोकका अर्थ मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति और देवगति इन चार गतियोंसे है। नरक अत्यन्त दुःखके स्थान हैं और स्वर्ग सांसारिक अभ्युदयके स्थान हैं। इनमें मनुष्य कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता है किन्तु मनुष्यके लिए मरकर उत्पन्न होनेके दो स्थान तो ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य इसी जन्ममें सुधार सकता है। ये स्थान हैं मनुष्ययोनि और पशुयोनि। अतः आधे परलोकका सुधारना हमारे हाथमें है। हमें मनुष्य समाज और पशु समाजको इस योग्य बना लेना चाहिए कि यदि इनमें पुनः जन्म लेना पड़े तो अनुकूल वातावरण तो मिल जाय। परलोकका अर्थ दूसरे लोग भी होता है। अतः परलोकके सुधारका अर्थ मानव समाजका सुधार भी होता है। इसके अतिरिक्त परलोकका अर्थ हमारी सन्तति और शिष्य परम्परा भी हो सकता है। इसलिए परलोक सुधारनेका अर्थ है अपनी सन्तान और शिष्य परम्पराको सुधारना। इस प्रकार परलोकके सुधारके लिए हमें परलोकके सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता है।

### कर्म सिद्धान्तका सम्यग्दर्शन

यहाँ यह बतलाया गया है कि जैनदर्शनके अनुसार प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है। और वह स्वयं अपने भाग्यका विधाता है। अपने कर्मका कर्ता और उसके फलका भोक्ता भी वही है। किन्तु अनादि से कर्म पर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तन्त्र होनेके कारण वह अपने स्वभावको भूला हुआ है। इस कारण वह किसी आपत्तिके आनेपर 'करमगति टाली नाहिं टलै', 'विधिका विधान ऐसा ही है', 'भवितव्यता दुर्निवार है' इत्यादि वाक्योंका प्रयोग करता है। यह तो वही हुआ कि जब जैनदर्शनने ईश्वरकी दासतासे मुक्ति दिलाई तो कर्मकी दासता स्वीकार कर ली। यथार्थमें कर्मकी गति अटल नहीं है। उसे हम अपने पुरुषार्थसे टाल सकते हैं। उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि कर्मकी विविध अवस्थायें हमारे पुरुषार्थके अधीन हैं। अतः कर्मका सम्यग्दर्शन करके हमें अपने अनुकूल सत्पुरुषार्थमें लग जाना चाहिए। वही पुरुषार्थ सत् कहलाता है जो आत्मकल्याणका साधक होता है।

### शास्त्रका सम्यग्दर्शन

इस प्रकरणमें यह बतलाया गया है कि वैदिक परम्परा धर्म और अधर्मकी व्यवस्थाके लिए वेदको प्रमाण मानती है तथा धर्मका ज्ञान केवल वेदके द्वारा ही मानती है। किन्तु जैन परम्पराने केवल शास्त्र होनेके कारण ही किसी शास्त्रकी प्रमाणता स्वीकार नहीं की है। यहाँ तो उसी शास्त्रको प्रमाण माना गया है जिसका प्रणयन सर्वज्ञ और वीतराग पुरुष द्वारा हुआ हो। वर्तमान में अनेक ऐसे शास्त्र प्रचलित हैं जिनका मूल-परम्परा से मेल नहीं खाता है। वही शास्त्र प्रमाण हैं जिसमें हमारी मूलपरम्परासे विरोध न आता हो। अतः हमें यह विवेक तो करना ही होगा कि इस शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय मूलपरम्पराके अनुसार है या नहीं। तात्पर्य यह है कि मात्र शास्त्र होनेके कारण ही कोई ग्रन्थ प्रमाण नहीं माना जा सकता है। इसप्रकार शास्त्र विषयक सम्यग्दर्शनके द्वारा हमें यह जानना चाहिए कि इस शास्त्रमें किस युगमें किस पात्रके लिए किस विवक्षासे क्या बात लिखी गई है। यही शास्त्रका सम्यग्दर्शन है।

### तत्त्वाधिगमके उपाय

इस प्रकरणमें प्रमाण, नय और निक्षेपका अच्छी तरहसे स्वरूप, भेद आदि समझाकर जैनदर्शन सम्मत स्याद्वादके विषयमें विस्तारसे विचार किया गया है। यह द्रष्टव्य है कि स्याद्वादमें जो 'स्यात्' शब्द है वह एक निश्चित अवस्थाको बतलाता है। स्यात्का अर्थ न तो संशय है, न संभावना, न अनिश्चय और न कदाचित्। शंकराचार्यने शांकरभाष्यमें स्याद्वादको संशयरूप लिखा है। इसीके अनुसार वर्तमानमें अनेक विद्वान् स्याद्वादको संशयादिरूप मानते हैं। अतः विद्वान् सम्पादकने महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० देवराज आदि विद्वानोंके स्याद्वाद सम्बन्धी मन्तव्योंकी युक्तिपूर्वक समीक्षा करके जैनदर्शन सम्मत स्याद्वादके स्वरूपको पूर्णरूपसे स्पष्ट किया है और उसमें संशय, विरोध आदि दोषोंका निराकरण भी किया है।

### लोकवर्णन और भूगोल

इस प्रकरणमें यह बतलाया गया है कि जिसप्रकार अपने सिद्धान्तों और तत्त्वोंके स्वतन्त्र प्रतिपादनके कारण जैनधर्म और जैनदर्शनका भारतवर्षमें स्वतन्त्र स्थान है उस प्रकार जैन भूगोल और जैन खगोलका स्वतन्त्र स्थान नहीं है। यथार्थ बात यह है कि भूगोल कभी स्थिर नहीं रहता है। वह तो कई कारणोंसे कालक्रमसे बदलता रहता है। जैन शास्त्रोंमें भूगोल और खगोलका जो वर्णन मिलता है उसकी परम्परा लगभग तीन हजार वर्ष पुरानी है। प्रायः यही परम्परा अन्य सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें भी पाई जाती है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओंके भूगोल और खगोल सम्बन्धी वर्णन लगभग एक जैसे हैं।' सबमें जम्बूद्वीप, विदेह, देवकुरु, उत्तरकुरु, सुमेरु आदि नाम पाये जाते हैं और लाखों योजनकी गिनती भी पायी जाती है। निष्कर्ष यह है कि भूगोल और खगोलकी जो परम्परा परिपाटीसे जैनाचार्योंको मिली उसे उन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रोंमें लिख दिया है। जैन परम्पराको तत्त्वार्थसूत्रके तृतीय और चतुर्थ अध्यायमें निबद्ध किया गया है।

## बौद्ध परम्परा

भूगोल और खगोलके सम्बन्धमें जो बौद्ध परम्परा है, अभिधर्मकोशके आधारसे उसका विवरण इस प्रकार है—

बौद्ध परम्परामें चार द्वीप हैं—जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय और उत्तरकुरु। चारों द्वीपोंके मध्यमें देह, विदेह आठ अन्तर द्वीप हैं। यहाँ अवीचि, प्रतापन, तपन, महारौरव, रौरव, संघात, कालसूत्र और संजीवक ये आठ नरक हैं। स्वर्गलोकमें महाराजिक, त्रायस्त्रिंश आदि कई प्रकारके देव बतलाये गये हैं। महाराजिक और त्रायस्त्रिंश जातिके देव मनुष्योंके समान कामसेवन करते हैं। यामदेव आलिंगनसे, तुषित देव पाणिसंयोगसे, निर्माणरति देव हास्यसे और परिनिर्मितवशवर्ती देव अवलोकनसे काम सुखका अनुभव करते हैं। इस काम सेवनकी तुलना तत्त्वार्थसूत्रके निम्नलिखित सूत्रोंसे कीजिए—कायप्रवीचारा आ ऐशानात्। ४/७ शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः। ४/८।

## वैदिकपरम्परा

यहाँ भूगोल और खगोल सम्बन्धी परम्पराका तीन आधारोंसे वर्णन किया गया है। एक आधार है योगदर्शनका व्यास भाष्य, दूसरा आधार है विष्णुपुराण और तीसरा आधार है श्रीमद्भागवत पुराण। इन तीनोंमें प्रायः एक समान वर्णन है। कहीं कुछ भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। इस परम्परामें भूलोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्गलोक, पाताललोक आदि सात लोक हैं। भूलोकपर जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर ये सात द्वीप हैं। ये द्वीप लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और जल इन सात समुद्रोंसे घिरे हुए हैं। जम्बूद्वीपके मध्यमें सुवर्णमय मेरुपर्वत है जो ८४ हजार योजन ऊँचा है। मेरुके दक्षिणमें भारत, किम्पुरुष और हरिवर्ष ये तीन क्षेत्र हैं। तथा उत्तरमें रम्यक, हिरण्मय और उत्तरकुरु ये तीन क्षेत्र हैं। समुद्रके उत्तरमें तथा हिमालयके दक्षिणमें भारत क्षेत्र है। पुष्करद्वीपके बीचमें मानुषोत्तर पर्वत स्थित है। इस द्वीपमें महावीर और धातकीखण्ड ये दो क्षेत्र हैं। वैदिक परम्परामें स्वर्गलोकके माहेन्द्रलोक, ब्रह्मलोक आदि पाँच भेद हैं। योगदर्शनके अनुसार अवीचि, महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र और अन्धतामिस्र ये सात नरक हैं। किन्तु श्रीमद्भागवतपुराणके अनुसार तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव महारौरव, कालसूत्र, अन्धकूप, कुंभपीक आदि अट्ठाईस नरक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक—इन तीनों परम्पराओंमें द्वीपों, समुद्रों, स्वर्गों और नरकोंका वर्णन पाया जाता है। इनकी संख्यामें अवश्य भेद है। किन्तु जैनदर्शनकी परम्पराने ही असंख्यात द्वीप और समुद्र माने हैं; अन्य किसी परम्पराने नहीं। इसका कारण क्या है यह विचारणीय विषय है। यह सभीने माना है कि सूर्य और चन्द्रमा निरन्तर मेरुकी प्रदक्षिणा करते रहते हैं। संभवतः इस मान्यताका आधार प्राचीन परम्परा है। परन्तु आधुनिक विज्ञानके अनुसार इस परम्पराका कोई मेल नहीं बैठता है। फिर भी जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों परम्पराओंके भूगोल और खगोलके तुलनात्मक अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि आजसे लगभग तीन हजार वर्ष पहले भूगोल और खगोलके सम्बन्धमें लगभग एक जैसी अनुश्रुतियाँ प्रचलित थीं।

प्रस्तावनाके अन्तमें विद्वान् सम्पादक महोदयने ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें विस्तारसे समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आचार्य अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीकाका वैदुष्यपूर्ण संपादन : एक समीक्षा

• डॉ० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य, बीना

## पूर्ववृत्त

लगभग ४९ वर्ष पूर्व ईस्वी सन् १९४६ में 'आचार्य अनन्तवीर्य और उनकी सिद्धिविनिश्चय टीका' शीर्षकसे एक शोधपूर्ण आलेख 'अनेकान्त' मासिक पत्रमें हमने लिखा था। उस समय यह टीका प्रकाशित नहीं हुई थी। उसके कोई १२ वर्ष बाद स्वर्गीय डॉ० पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्यके सुयोग्य सम्पादकत्वमें भारतीय ज्ञानपीठसे ई० १९५८ में प्रकाशित हुई। यह विशाल टीका दो भागोंमें प्रकट हुई है। इसके प्रथम भागके साथ सम्पादककी विद्वत्तापूर्ण अति महत्त्वकी १६४ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना भी सम्बद्ध है। आज यही ग्रन्थ हमारी समीक्षाका विषय है।

मूलग्रन्थ 'सिद्धि-विनिश्चय' है, जिसके रचयिता आचार्य अकलंकदेव हैं। अन्य न्यायविनिश्चयादि तर्क-ग्रन्थोंकी तरह इस पर भी उनकी स्वोपज्ञवृत्ति है और मूल तथा स्वोपज्ञवृत्ति दोनों ही अत्यन्त दुरुह एवं दुरवगम्य हैं। अतएव दोनों पर आचार्य अनन्तवीर्यने विशाल टीका लिखी है, जिसका नाम 'सिद्धि-विनिश्चयटीका' है।

उपलब्ध जैन साहित्यमें अनन्तवीर्य नामके अनेक आचार्य हुए हैं। पर उनमें दो अनन्तवीर्य अधिक विश्रुत हैं। एक वे हैं जिन्होंने आ० माणिक्यनन्दिके 'परीक्षामुख' पर 'परीक्षामुखपञ्जिका' नामक वृत्ति लिखी है[1] और जिसे 'प्रमेयरत्नमाला' नामसे अभिहित किया जाता है।[2] ये अनन्तवीर्य परीक्षामुखालंकार प्रभाचन्द्रसे उत्तरकालीन हैं और लघु अनन्तवीर्य कहे जाते हैं। इन्होंने स्वयं प्रमेयरत्नमालाके आरम्भमें प्रभाचन्द्र और उनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( परीक्षामुखालंकार ) का उल्लेख किया है।[3] इनका समय १२वीं शती है।

दूसरे अनन्तवीर्य वे हैं, जिन्होंने प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयटीका लिखी है और जिन्हें बृहदनन्तवीर्य कहा जाता है। ये अकलंकदेवके प्रौढ़ और सम्भवतः आद्य व्याख्याकार हैं। प्रभाचन्द्र और वादिराज इन दोनों व्याख्याकारों द्वारा ये बड़े सम्मान एवं आदरके साथ अपने पथप्रदर्शकके रूपमें स्मरण किये गये हैं। प्रभाचन्द्र लिखते हैं कि अकलंकदेवकी संक्षिप्त, गहन और दुर्गम पद्धतिको अनन्तवीर्यके व्याख्यानों परसे सैकड़ों बार सम्यक् अभ्यास करके तथा विवेचन करके बड़े पुण्योदयसे प्राप्त ( ज्ञात ) कर पाया हूँ।[4] इससे यह प्रकट है कि जहाँ ये अनन्तवीर्य प्रभाचन्द्र ( ११वीं शती ) से पूर्ववर्ती हैं वहाँ वे उनकी असाधारण विद्वत्ताको भी मानते हैं और अकलंकदेवकी दुरुह कथन शैलीका मर्मोद्घाटक एवं स्पष्ट करनेवाला प्रतिभाशाली सारस्वत भी बतलाते हैं।

स्याद्वाद विद्यापति वादिराज ( ई० १०२५ ) कहते हैं कि अकलंकदेवके गूढ़ पदोंका अर्थ अनन्तवीर्यके वचन-प्रदीप द्वारा ही मैं अवलोकित कर सका[5]। यही वादिराज एक दूसरे स्थानपर अनन्तवीर्यको

१. प्रमेयरत्न पृ० २। २. वही, प्रशस्ति, पृ० २१०।
३. वही, पृ० २, श्लोक ३।
४. न्यायकुमुद० द्वि० भा० ५-३०, पृ० ६०५।
५. न्यायवि० विव०, भाग २, १-३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वन्दना करते हुए लिखते हैं कि मैं अनन्तवीर्यरूपी मेघको वन्दन करता हूँ, जिन्होंने अपनी वचनामृत वर्षाके द्वारा जगतको ध्वंस करनेवाली शून्यवादरूपी अग्निको बुझाया[1]। अतः ये अनन्तवीर्य इन दोनों ( प्रभाचन्द्र और वादिराज ( १०२५ ) व्याख्याकारोंसे पूर्ववर्ती हैं। तथा विद्यानन्द ( ७७५-८४० ) के समकालीन हैं, क्योंकि दोनोंमें किसीने किसीका उल्लेख नहीं किया। अतः अनन्तवीर्यका समय विद्यानन्दका समय ( ८वीं-९वीं शती ) जान पड़ता है।[2]

## सिद्धिविनिश्चय-टीका

ऊपर हम कह आये हैं कि यह टीका अकलंकदेवके स्वोपज्ञवृत्ति सहित सिद्धिविनिश्चय की है। अकलंकदेवके जितने तर्कग्रन्थ हैं वे सभी दुरवगाह, दुरधिगम्य हैं। टीकाकार अनन्तवीर्य उनकी गहनता प्रकट करते हुए स्वयं कहते हैं—

देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥ ३ ॥

अर्थात्—मैं अनन्तवीर्य होकर भी अकलंकदेवके पदोंको पूर्णतः व्यक्त करना नहीं जानता। इस लोकमें यह बड़ा आश्चर्य है।

उस समय ऐसे गहन और संक्षिप्त प्रकरणोंका रचयिता बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिको माना जाता था। अनन्तवीर्य उनकी अकलंकके साथ तुलना करते हुए लिखते हैं—

सर्वधर्मस्य नैरात्म्यं कथयन्नपि सर्वथा।
धर्मकीर्तिः कथं गच्छेदाकलङ्कं पदं ननु ॥ ५ ॥

अर्थात्—सर्व धर्मकी निरात्मकताका कथन करनेवाला धर्मकीर्ति भी अकलङ्कके पदकी-समानताको कैसे प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् नहीं।

इससे प्रकट है कि अकलंककी रचनाएँ बेजोड़ और अत्यन्त दुरूह हैं।

इनकी दो तरहकी रचनाएँ हैं—(१) टीकात्मक और (२) मौलिक। टीकात्मक दो हैं—(१) तत्त्वार्थ-वार्तिक ( स्वोपज्ञभाष्य सहित ) और (२) अष्टशती ( देवागम-विवृति-देवागमभाष्य )। तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य आ० गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रकी विस्तृत व्याख्या है और अष्टशती स्वामी समन्तभद्रके देवागम ( आप्त-मीमांसा ) की विवृति/भाष्य है।

मौलिक ग्रन्थ निम्न हैं—

१. लघीयस्त्रय ( प्रमाण, नय और निक्षेप इन तीन प्रकरणोंका समुच्चय ), २. न्यायविनिश्चय ( स्वोपज्ञवृत्तियुत ) ३. सिद्धिविनिश्चय ( स्वोपज्ञवृत्तिसहित ) और ४. प्रमाणसंग्रह ( स्वोपज्ञवृत्तियुक्त ) ये सब संक्षिप्त और सूत्ररूप हैं।

अष्टशतीको वेष्टित करके विद्यानन्दने देवागम पर अपनी विद्वत्तापूर्ण अष्टसहस्री ( देवागमालंकार टीका ) लिखी है। लघीयस्त्रय और उसकी स्वोपज्ञवृत्तिपर प्रभाचन्द्रने 'लघीयस्त्रयालंकार' अपरनाम 'न्याय-कुमुदचन्द्र' नामकी विशाल व्याख्या रची है। 'न्यायविनिश्चय' पर मात्र उसकी कारिकाओंको लेकर वादि-

१. पार्श्व० च०।

२. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० २५०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजने 'न्यायविनिश्चयविवरण' अथवा 'न्यायविनिश्चयालंकार' नामक वैदुष्यपूर्ण वृहद् व्याख्या लिखी है। उसकी स्वोपज्ञवृत्ति को उन्होंने छोड़ दिया है, इसीसे उन्होंने सन्धि वाक्योंमें 'कारिका विवरण' शब्दका प्रयोग किया है। फलतः वह आज अनुपलब्ध है। 'सिद्धिविनिश्चय' और प्रमाणसंग्रह तथा इनकी स्वोपज्ञवृत्तियोंपर अनन्तवीर्यने अपनी महान् व्याख्याएँ—सिद्धिविनिश्चयटीका और प्रमाणसंग्रहभाष्य लिखी हैं। अकलंकके इन व्याख्याकारोंमें अनन्तवीर्यका उन्नत स्थान है और संभवतः वे ही अकलंकके आद्य व्याख्याकार हैं। यदि विद्यानन्द अनन्तवीर्यसे पूर्ववर्ती हैं तो वे अकलंकके प्रथम व्याख्याकार है, क्योंकि उनकी अष्टशतीपर अष्टसहस्री लिखनेवाले विद्यानन्द हैं। यद्यपि विद्यानन्दने अष्टसहस्री अष्टशतीपर न लिखकर देवागम ( आप्तमीमांसा ) पर लिखी है। किन्तु अष्टशती लिखी जानेके बाद अष्टसहस्री लिखी गयी है क्योंकि विद्यानन्दने अष्टशती को अष्टसहस्रीमें ऐसा आवेष्टित किया है, मानो वह अष्टसहस्रीका ही अपना आत्मीय अंश है।

अनन्तवीर्यने प्रभाचन्द और वादिराजकी तरह दार्शनिक एवं तार्किक चर्चाओं को न देकर अकलंक के पदोंके साकांक्ष हार्दको ही पूर्णतः व्यक्त करनेका प्रयत्न किया है और वे अपने इस प्रयत्नमें सफल भी हुए हैं। वे अकलंकके प्रत्येक पद, वाक्यादिका समासादि द्वारा योग्यतापूर्ण सुस्पष्ट व्याख्यान करते हैं। कहीं-कहीं दो-दो, तीन-तीन व्याख्यान करते हुए पाये जाते हैं। अनन्तवीर्यको हम प्रज्ञाकरकी तरह परपक्षके निराकरणमें मुख्य पाते हैं, स्वपक्ष साधन तो उनके लिए उतना ही है, जितना मूलसे ध्वनित होता है। अकलंककी चोट यदि धर्मकीर्तिपर है तो अनन्तवीर्यकी उनके प्रधान टीकाकार प्रज्ञाकर पर है। अपनी इस टीकामें उन्होंने प्रज्ञाकरका बीसियों जगह नामोल्लेख करके उनके मतका कदर्थन किया है। उनके प्रमाणवार्तिकालंकारके तो अनेक स्थलोंको उद्धृत करके उसका सर्वाधिक समालोचन किया है। हमारा अनुमान है कि अनन्तवीर्यने जो प्रमाणसंग्रहालंकार/प्रमाणसंग्रहभाष्य लिखा था, जिसका उल्लेख स्वयं उन्होंने सिद्धिविनिश्चयालंकारमें किया है और जो आज अनुपलब्ध है वह प्रज्ञाकरके प्रमाणवार्तिकालंकारके जवाबमें ही लिखा होगा। दोनोंका नाम साम्य भी यही प्रकट करता है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि अनन्तवीर्यने सबसे ज्यादा प्रज्ञाकरका ही खण्डन किया है, जैसे अकलंकने धर्मकीर्तिका। अतः जैन साहित्यमें अकलंकके टीकाकारोंमें अनन्तवीर्यका वही गौरवपूर्ण स्थान है जो बौद्ध न्याय-साहित्यमें धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें प्रधान टीकाकार प्रज्ञाकरको प्राप्त है और इसलिए अनन्तवीर्यको जैन साहित्यका प्रज्ञाकर कहा जा सकता है।

इनका व्यक्तित्व और वैदुष्य इसीसे जाना जा सकता है कि उत्तरवर्ती प्रभाचन्द्र, वादिराज जैसे टीकाकारोंने उनके प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा और सम्मान प्रकट किया है तथा अकलंक पदोंका उन्हें तलस्पर्शी एवं मर्मज्ञ व्याख्याकार कहा है। अकलंककी न्यायकृतियोंमें वस्तुतः सबसे अधिक क्लिष्ट और दुर्बोध प्रमाणसंग्रह और सिद्धिविनिश्चय हैं। अनन्तवीर्यने इनपर ही अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं। यद्यपि उनके सामने अकलंकके न्यायविनिश्चय और लघीयस्त्रय ग्रन्थ भी थे और जो अपेक्षाकृत उनसे सरल हैं। किन्तु उनपर व्याख्याएँ नहीं लिखीं। इससे अनन्तवीर्यकी योग्यता, बुद्धि वैभव और अदम्य साहस प्रतीत होते हैं। इसीसे ये अनन्तवीर्य 'बृहदनन्तवीर्य' कहे जाते हैं।

## अनन्तवीर्यकी गुरु परम्परा

अनन्तवीर्यने अपनी इस टीकामें प्रत्येक प्रस्तावके अन्तमें केवल अपने साक्षात् गुरुका नाम 'रविभद्र' दिया है और अपनेको उनका पादोपजीवी—शिष्य बतलाया है। ये रविभद्र कौन थे ? इस सम्बन्धमें न टीकाकारने कुछ परिचय दिया और न अन्य साधनोंसे कुछ अवगत होता है। इतना ही ज्ञात होता है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे उस समयके विशिष्ट विद्वानाचार्य थे, जिनके चरणोंमें बैठकर अनन्तवीर्यने शिक्षण प्राप्त किया होगा। एक बात यह भी प्रकट होती है कि इन अनन्तवीर्यके पूर्व या समसमयमें अनन्तवीर्य नामके दूसरे भी विद्वान् होंगे, जिनसे व्यावृत्त करनेके लिए ये अपनेको 'रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्य बतलाते हैं।

अनन्तवीर्यने जो ग्रन्थ रचे हैं वे व्याख्या ग्रन्थ हैं। सम्भव है इन्होंने मौलिक ग्रंथ भी रचा हो, जो आज उपलब्ध नहीं है। व्याख्या ग्रन्थ उनके निम्न दो हैं—(१) प्रमाणसंग्रहभाष्य और (२) सिद्धिविनिश्चयटीका। प्रमाणसंग्रहभाष्य अनुपलब्ध है, केवल इसके सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनेक जगह उल्लेख आये हैं। इससे मालूम होता है कि वह महत्त्वपूर्ण और एक विशाल व्याख्या ग्रन्थ है। सिद्धिविनिश्चयटीका प्रस्तुत है, जिसका परिचय यहाँ अंकित है।

सिद्धिविनिश्चयटीकाकी उपलब्धिका दिलचस्प और दुःखपूर्ण इतिहास / परिचय श्रद्धेय इतिहासविद् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने 'अनेकान्त' वर्ष १, किरण ३ में 'पुरानी बातोंकी खोज' शीर्षक लेखमें दिया है, जिसमें उन्होंने बताया है कि यह टीका एक श्वेताम्बर जैनशास्त्र भण्डारमें सुरक्षित थी, वहाँसे यह प्राप्त हुई। जिनदास गणि महत्तरने 'निशीथचूर्णि और श्रीचन्द्रसूरिने 'जीतकल्पचूर्णि' में सिद्धिविनिश्चयको दर्शन प्रभावक शास्त्र बतलाया है। इससे अकलंकके 'सिद्धिविनिश्चय' की गरिमा और माहात्म्य प्रकट होता है।

अनन्तवीर्यने मंगलाचरणके बाद टीका आरम्भ करते हुए अकलंकके वचनों को अति दुर्लभ निरूपित किया है—

अकलंकवचः काले कलौ न कलयाऽपि यत्।
नृषु लभ्यं क्वचिल्लब्ध्वा तत्रैवास्तु मतिर्मम ॥ २ ॥

'अकलंकके वचनोंकी एक कला / अंश भी मनुष्यों को अलभ्य है। कहीं प्राप्त हो जाये तो मेरी बुद्धि उसीमें लीन रहे।'

इसके आगे एक अन्य पद्य द्वारा अकलंकके वाङ्मयको सद्रत्नाकर—समुद्र बतलाया है और उसके सूक्त-रत्नोंको अनेकों द्वारा यथेच्छ ग्रहण किये जानेपर उसके कम न होनेपर भी उसे सद्रत्नाकर ही प्रकट किया है। वह सुन्दर और प्रिय पद्य इस प्रकार है —

अकलंक वचोम्भोधेः सूक्त-रत्नानि यद्यपि।
गृह्यन्ते बहुभिः स्वैरं सद्रत्नाकर एव सः ॥ ४ ॥

इसमें अकलंकने बारह (१२) प्रस्ताव रखे हैं। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकमें परिच्छेद नाम चुना है और अकलंकने परिच्छेदार्थक 'प्रस्ताव' नाम दिया है। वे बारह प्रस्ताव निम्न प्रकार हैं—१. प्रत्यक्षसिद्धि, २. सविकल्पकसिद्धि, ३. प्रमाणान्तरसिद्धि, ४. जीवसिद्धि, ५. जल्पसिद्धि. ६. हेतुलक्षणसिद्धि, ७. शास्त्रसिद्धि, ८. सर्वज्ञसिद्धि, ९. शब्दसिद्धि, १०, अर्थनयसिद्धि, ११. शब्दनयसिद्धि और १२. निरक्षेपसिद्धि। प्रस्तावोंमें विषयका वर्णन उनके नामोंसे ही अवगत हो जाता है।

टीकामें मूलभाग उस प्रकारसे अन्तर्निहित नहीं है जिस प्रकार प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें लघीयस्त्रय और उसकी स्वोपज्ञवृत्ति है। किन्तु कारिका और उसकी वृत्तिके आदि अक्षरोंके प्रतीक मात्र दिये गये हैं। इससे यह जानना बड़ा कठिन है कि यह मूल कारिका-भाग है और यह उसकी वृत्ति है। टीकासे अलग मूलकारिका भाग तथा वृत्तिभाग अन्यत्र उपलब्ध नहीं, जिसकी सहायतासे उसे टीका परसे अलग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जा सके। निःसन्देह इसके लिये बड़े परिश्रम की आवश्यकता है। स्व० पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने इस दिशामें कुछ प्रयत्न करके निम्न मंगलाचरण कारिकाको उद्धृत किया था—

सर्वज्ञं सर्वतत्त्वार्थस्याद्वादन्यायदेशिनम्।
श्रीवर्द्धमानमभ्यर्च्य वक्ष्ये सिद्धिविनिश्चयम्॥

हमने भी एक कारिकाको उद्धृत किया है वह यह है—

समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः।
पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्ग प्रभावना॥

—हस्त-लि० प्रति पृ० ७३५ ( प्रस्ता० ५ )।

## सम्पादकका स्तुत्य प्रयत्न

स्व० डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने बहु प्रयास करके उन दोनोंको टीका परसे उद्धृत किया है। इस दुष्कर कार्यमें उन्हें पाँच वर्ष लगे थे। यह उनका अदम्य साहस था। टीकाका योग्यतापूर्ण सम्पादन किया है। ग्रन्थके साथ १६४ पृष्ठकी महत्त्वपूर्ण एवं असाधारण परिश्रमसे लिखी गयी प्रस्तावना भी निबद्ध की गयी है, जिसमें ग्रन्थकार, ग्रन्थ और सम्पादन सामग्रीकी योजना पर विस्तृत विमर्श किया गया है। ग्रन्थकार-भागमें जैन न्यायके ग्रन्थकारोंका विस्तारसे शोधपूर्ण परिचय दिया गया है। ग्रन्थ-भागमें प्रमाण, नय, निक्षेप, सर्वज्ञ, स्याद्वाद, अनेकान्त, सप्तभंगी प्रभृति विषयों पर सूक्ष्म प्रकाश डाला गया है।

भारतीय दर्शनोंके विशेषज्ञ डॉ० गोपीनाथ कविराज और तत्कालीन उत्तर प्रदेशके मुख्यमंत्री श्री सम्पूर्णानन्दके प्राक्कथन भी ग्रन्थके आरम्भमें दिये गये हैं।

सबसे बड़े आश्चर्यकी बात यह है कि इस ग्रन्थके सम्पादनमें शतशः ग्रन्थोंका अनुशीलन सम्पादकके घोर परिश्रम और अध्ययनको सूचित करता है। पण्डितजीको इसपर काशी हिन्दू विश्वविद्यालयने पी०-एच० डी० की उपाधि प्रदान कर उनके पाण्डित्यका सम्मान भी किया।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके द्वारा संपादित एवं अनूदित 'षड्दर्शनसमुच्चय' की समीक्षा

• डॉ० सागरमल जैन, वाराणसी

पं० महेन्द्रकुमारजी 'न्यायाचार्य' के वैदुष्यको समझना हो, उनकी प्रतिभा एवं व्यक्तित्वका मूल्यांकन करना हो तो हमें उनकी सम्पादित एवं अनूदित कृतियोंका अवलोकन करना होगा। जिनमें एक समदर्शी आचार्य हरिभद्रका 'षड्दर्शनसमुच्चय' और उसकी गुणरत्नकी टीकाका सम्पादन-अनुवाद है। उनकी यह कृति भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ( वर्तमानमें देहली ) से सन् १९६९ में उनके स्वर्गवासके दस वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुई है। उनकी इस कृति पर उनके अभिन्न मित्र एवं साथीकी विस्तृत भूमिका है। प्रस्तुत समीक्षामें मैंने उन पक्षों पर जिनपर पं० दलसुखभाईकी भूमिकामें उल्लेख हुआ है, चर्चा नहीं करते हुए मुख्यतः उनकी अनुवाद शैलीको ही समीक्षाका आधार बनाया है।

यदि हम भारतीय दर्शनके इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनोंके सिद्धान्तोंको एक ही ग्रन्थमें पूरी प्रामाणिकताके साथ प्रस्तुत करने हेतु किए गये प्रयत्नोंको देखते हैं तो हमारी दृष्टिमें हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने समयके सभी प्रमुख सभी भारतीय दर्शनोंको निष्पक्ष रूपसे एक ही ग्रन्थमें प्रस्तुत किया है। हरिभद्रके 'षड्दर्शनसमुच्चय' की कोटिका कोई अन्य दर्शन संग्राहक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि हरिभद्रके पूर्व और हरिभद्रके पश्चात् भी अपने-अपने ग्रन्थोंमें विविध दार्शनिक सिद्धान्तोंको प्रस्तुत करनेका कार्य अनेक जैन एवं जैनेतर आचार्योंने किया है, किन्तु उन सबका उद्देश्य अन्य दर्शनोंकी समीक्षा कर अपने दर्शनकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करना ही रहा है। चाहे फिर वह मल्लवादीका द्वादशार-नयचक्र हो या शंकरका सर्वसिद्धान्तसंग्रह हो या माधवाचार्यका सर्वदर्शनसंग्रह हो। इन ग्रन्थोंमें पूर्वदर्शनका उन्हीं दर्शनोंके द्वारा निराकरण करते हुए अंतमें अपने सिद्धान्तकी सर्वोपरिता या श्रेष्ठताकी स्थापना की गई है। इसी प्रकारका एक प्रयत्न जैनदर्शनमें हरिभद्रके लगभग तीन वर्ष पूर्व पाँचवीं शताब्दीमें मल्लवादीके नयचक्रमें भी देखा जाता है। उसमें भी एकदर्शनके द्वारा दूसरे दर्शनका खण्डन कराते हुए अन्तिम दर्शनका खण्डन प्रथम दर्शनसे करवाकर एक चक्रकी स्थापना की गई है। यद्यपि नयचक्र स्पष्टरूपसे जैनदर्शनकी सर्वोपरिताको प्रस्तुत नहीं करता किन्तु उसकी दृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवादके मण्डन और परपक्षके खण्डनकी ही रही है। यही स्थिति सर्वसिद्धान्तसंग्रह और सर्वदर्शनसंग्रहकी भी है। उनमें भी स्वपक्षके मण्डनकी प्रवृत्ति रही है। अतः वे जैन दार्शनिक हों या जैनेतर दार्शनिक, सभीके दर्शन संग्राहक ग्रन्थोंमें मूल उद्देश्य तो अपने दर्शनकी सर्वोपरिताकी प्रतिस्थापना ही रही है। हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयकी जो विशेषता है वह जैन और जैनेतर परम्पराके अन्यदर्शन संग्राहक ग्रंथोंमें नहीं मिलती। यह हरिभद्रकी उदार और व्यापक दृष्टि थी, जिसके कारण उनके द्वारा सम्प्रदायनिरपेक्ष षड्दर्शनसमुच्चयकी रचना हो पाई। उनके षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चय इन दोनोंमें अन्य दर्शनोंके प्रति पूर्ण प्रामाणिकता और आदरका तत्त्व देखा जाता है। उन्होंने षड्दर्शनसमुच्च में अन्य दर्शनोंको अपने यथार्थरूपमें प्रस्तुत किया है।

हरिभद्रके इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर गुणरत्नसूरिकृत टीका है। किन्तु ज्ञातव्य है कि टीकामें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस उदार दृष्टिका निर्वाह नहीं देखा जाता जो मूल ग्रन्थकार की है क्योंकि टीकामें चतुर्थ अधिकारमें जैनमतके प्रस्तुतीकरणके साथ अन्य मतोंकी समीक्षा भी की गई है जब कि हरिभद्रकी कारिकाओंमें इस प्रकारका कोई भी संकेत नहीं मिलता है। इस टीकामें जैनदर्शनकी प्रतिस्थापनाका प्रयत्न अतिविस्तारसे हुआ। टीकाका आधे से अधिक भाग तो मात्र जैनदर्शनसे सम्बन्धित है, अतः टीकाके विवेचनमें वह सन्तुलन नहीं है जो हरिभद्रके मूल ग्रन्थमें है।

हरिभद्रका यह मूलग्रन्थ और उसकी टीका यद्यपि अनेक भंडारोंमें हस्तप्रतियोंके रूपमें उपलब्ध थे किन्तु जहाँ तक हमारी जानकारी है गुजराती टीकाके साथ हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयका सर्वप्रथम प्रकाशन एसियाटिक सोसायटी, कलकत्तासे १९०५ में हुआ था। इसी प्रकार मणिभद्रकी लघुवृत्तिके साथ इसका प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसीके द्वारा १९२० में हुआ। इस प्रकार षड्दर्शनसमुच्चय मूलका-टीकाके साथ प्रकाशन उसके पूर्व भी हुआ था किन्तु वैज्ञानिक रीतिसे सम्पादन और हिन्दी अनुवाद अपेक्षित था। इस ग्रंथका वैज्ञानिक रीतिसे सम्पादन और हिन्दी अनुवादका यह महत्त्वपूर्ण कार्य पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके द्वारा किया गया। सम्भवतः उनके पूर्व और उनके पश्चात् भी इस ग्रन्थका ऐसा अन्य कोई प्रामाणिक संस्करण आज तक नहीं प्रकाशित हो पाया है।

अनेक प्रतियोंसे पाठोंका मिलान करके और जिस ढंगसे मूलग्रन्थको सम्पादित किया गया था वह निश्चित ही एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य रहा होगा जिसमें पंडितजी को अनेक कष्ट उठाने पड़े होंगे। दुर्भाग्यसे इस ग्रन्थ पर उनकी अपनी भूमिका न हो पानेके कारण हम यह नहीं समझ पा रहे हैं कि मूल प्रतियोंको प्राप्त करके अथवा एक प्रकाशित संस्करणके आधार पर इस ग्रन्थको सम्पादित करनेमें किन-किन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा होगा। इस ग्रन्थके संदर्भमें अपने पांडुलिपिसे जो सूचना मिलती है इससे मात्र इतना ज्ञात होता है कि उन्होंने षड्दर्शनसमुच्चय मूल और गुणरत्न टीकाका अनुवाद २५/६।४० को ४ बजे पूर्ण किया था किन्तु उनके संशोधन उसपर टिप्पण लिखनेका कार्य वे अपनी मृत्यु जून १९५९ के पूर्व तक करते रहे। इससे यह स्पष्ट पता चलता है कि उन्होंने इस ग्रन्थको अन्तिम रूप देनेमें पर्याप्त परिश्रम किया है। खेद तो यह भी है कि वे अपने जीवनकालमें न तो इसकी भूमिका लिख पाए न इसे प्रकाशित रूपमें ही देख पाये।

भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित होकर यह ग्रन्थ जिस रूपमें हमारे सामने आया और उनके श्रम एवं उनकी प्रतिभाका अनुमान किया जा सकता है। यह तो एक सुनिश्चित तथ्य है कि संस्कृतकी अधिकांश टीकाएँ मूलग्रन्थसे भी अधिक दुष्कर हो जाती हैं और उन्हें पढ़कर समझ पाना मूलग्रन्थकी अपेक्षा भी कठिन होता है। अनेक संस्कृत ग्रन्थोंकी टीकाओं विशेषरूपसे जैनदर्शनसे सम्बन्धित ग्रन्थोंकी संस्कृत टीकाओंके अध्ययनसे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि टीकाओंका अनुवाद करना अत्यन्त दुरूह कार्य है। सामान्यतया यह देखा जाता है विद्वज्जन अनुवादमें ग्रन्थके मूलशब्दोंको यथावत् रखकर अपना काम चला लेते हैं किन्तु इससे विषयकी स्पष्टतामें कठिनाई उत्पन्न होती है। 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' रखकर अनुवाद तो किया जा सकता है किन्तु वह पाठकोंके लिए बोधगम्य और सरल नहीं होता। पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यकी अनुवाद शैलीका यह वैशिष्टय है कि इनका अनुवाद मूलग्रन्थ और उसकी टीकाकी अपेक्षा अत्यन्त सरल और सुबोध है। दर्शनके ग्रन्थको सरल और सुबोध ढंगसे प्रस्तुत करना केवल उसी व्यक्तिके लिए संभव होता है जो उन ग्रन्थोंको आत्मसात् कर प्रस्तुतीकरणकी क्षमता रखता हो। जिसे विषय ज्ञान न हो वह चाहे कैसा ही भाषाविद हो सफल अनुवादक नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवादके क्षेत्रमें पं० महेन्द्रकुमारजी ने मूल टीकाकी अपेक्षा भी अर्थमें विस्तार किया है किन्तु इस विस्तारके कारण उनकी शैलीमें जो स्पष्टता और सुबोधता आई है वह निश्चय ही ग्रन्थको सरलतापूर्वक समझानेमें सहायक होती है। उदाहरणके रूपमें ईश्वरके सृष्टिकर्तृत्वकी सरल शब्दोंमें समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं—अच्छा यह भी बताओ कि ईश्वर संसारको क्यों बनाता है ? क्या वह अपनी रुचिसे जगत्को गढ़ने बैठ जाता है ? अथवा हम लोगोंके पुण्य-पापके अधीन होकर इस जगत्की सृष्टि करता है या दयाके कारण यह जगत् बनाता है या उसने क्रीड़ाके लिए यह खेल-खिलौना बनाया है। किंवा शिष्टोंकी भलाई और दुष्टों को दण्ड देनेके लिए यह जगत्-जाल बिछाया है या उसका यह स्वभाव ही है कि वह बैठे ठाले कुछ न कुछ किया ही करे। यदि हम उनकी इस व्याख्या को मूलके साथ मिलान करके देखते हैं तो यह पाते हैं कि मूल टीका मात्र दो पंक्तियोंमें है जबकि अनुवाद विस्तृत है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यह अनुवाद शब्दानुसारी न होकर विषयको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे ही हुआ है। पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके इस अनुवाद शैलीकी विशेषता यह है कि वे इसमें किसी दुरूह शब्दावलीका प्रयोग न करके ऐसे शब्दों की योजना करते हैं जिससे सामान्य पाठक भी विषयको सरलतापूर्वक समझ सके। इस अनुवादसे ऐसा लगता है कि इसमें पंडितजीका उद्देश्य अपने वैदुष्य का प्रदर्शन करना नहीं है, अपितु सामान्य पाठकको विषयका बोध कराना है। यही कारण है कि उन्होंने मूल टीकासे हटकर भी विषयको स्पष्ट करनेके लिए अपने ढंगसे उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

पं० महेन्द्रकुमारजीके इस अनुवादकी दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी व्याख्यामें जनसामान्य की परिचित शब्दावलीका ही उपयोग किया है। उदाहरणके रूपमें जैनदृष्टिसे ईश्वरके सृष्टिकर्ता होनेकी समीक्षाके प्रसंगमें वे लिखते हैं कि यदि ईश्वर हम लोगोंके पाप-पुण्यके आधारपर ही जगत्की सृष्टि करता है तो उसकी स्वतन्त्रता कहाँ रही। वह काहेका ईश्वर। वह तो हमारे कर्मोंके हुकुमको बजानेवाला एक मैनेजर सरीखा ही हुआ। यदि ईश्वर कृपा करके इस जगत्को रचता है तो संसारमें कोई दुःखी प्राणी नहीं रहना चाहिए, खुशहाल और सुखी ही सुखी उत्पन्न हो। इस शब्दावलीमें हम स्पष्ट अनुमान कर सकते हैं कि पंडितजीने दर्शन जैसे दुरूह विषयको कितना सरस और सुबोध बना दिया है। यह कार्य सामान्य पंडित का नहीं अपितु एक अधिकारी विद्वान् का ही हो सकता है।

वस्तुतः यदि इसे अनुवाद कहना हो तो मात्र इस प्रकारका कहा जा सकता है कि उन्होंने टीकाके मूल तर्कों और विषयोंका अनुसरण किया है किन्तु यथार्थमें तो यह टीकापर आधारित एक स्वतन्त्र व्याख्या ही है। दर्शन जैसे दुरूह विषयके तार्किक ग्रन्थोंकी ऐसी सरल और सुबोध व्याख्या हमें अत्यन्त कम ही देखने को मिलती है। यह उनकी लेखनीका ही कमाल है कि वे बात-बातमें ही दर्शनकी दुरूह समस्याओंको हल कर देते हैं। हरिभद्रके ही एक ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चयकी टीका अनुवाद सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयके पूर्व कुलपति स्व० पं० बद्रीनाथ शुक्लने किया है किन्तु उनका यह अनुवाद इतना जटिल है कि अनुवादकी अपेक्षा मूलग्रन्थसे विषयको समझ लेना अधिक आसान है। यही स्थिति प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, अष्टसहस्री आदि जैनदार्शनिक ग्रन्थोंके हिन्दी अनुवाद की है। वस्तुतः किसी व्यक्तिका वैदुष्य इस बात में नहीं झलकता कि पाठकको विषय अस्पष्ट बना रहे, वैदुष्य तो इसीमें है कि पाठक ग्रन्थको सहज और सरल रूपमें समझ सके। पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यकी यही एक ऐसी विशेषता उन्हें उन विद्वानोंकी उस कोटिमें लाकर खड़ी कर देती है जो गम्भीर विषयको भी स्पष्टताके साथ समझने और समझानेमें सक्षम हैं।

सामान्यतया संस्कृतके ग्रन्थोंके व्याख्याताओं या अनुवादकोंको यह समझनेमें एक कठिनाई यह होती



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि मूलग्रन्थ या टीकाओंमें पूर्वपक्ष कहाँ समाप्त होता है और उत्तरपक्ष कहाँसे प्रारम्भ होता है किन्तु पं० महेन्द्रकुमारजीने अपने अनुवादमें ईश्वरवादी जैन अथवा शंका-समाधान ऐसे छोटे-छोटे शीर्षक देकरके बहुत ही स्पष्टताके साथ पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षको अलग-अलग रख दिया ताकि पाठक दोनों पक्षोंको अलग-अलग ढंगसे समझ सके।

भाषाकी दृष्टिसे पंडितजीके अनुवादकी भाषा अत्यन्त सरल है। उन्होंने दुरूह संस्कृतनिष्ठ वाक्यों की अपेक्षा जनसाधारणमें प्रचलित शब्दावलीका ही प्रयोग किया है। यही नहीं, यथास्थान उर्दू और अंग्रेजी शब्दोंका भी निःसंकोच प्रयोग किया है। उनके अनुवादमें प्रयुक्त कुछ पदावलियों और शब्दोंका प्रयोग देखें—"यह जगत् जाल बिछाया है।" "कर्मोंके हुकुमको बजानेवाला मैनेजर"; "बैठे-ठाले"; "हाइड्रोजन में जब आक्सीजन" अमुक मात्रामें मिलता है तो स्वभावसे ही जल बन जाता है; "इसके बीचके ऐजेन्ट ईश्वर की क्या आवश्यकता है", बिना जोते हुए अपनेसे ही उगनेवाली जंगली घास; "प्रत्यक्षसे कर्ताका अभाव निश्चित है।" ( देखें पृ० १०२-१०३ ) आदि। वस्तुतः ऐसी शब्द योजना सामान्य पाठकके लिए विषयको समझनेमें अधिक कारगर होती है।

जहाँ तक पं० महेन्द्रकुमारजीके वैदुष्यका प्रश्न है, इस ग्रन्थकी व्याख्यासे वह अपने आप ही स्पष्ट हो जाता है क्योंकि जब तक व्यक्ति षड्दर्शनों एवं मात्र इतना ही नहीं उनके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षका सम्यक् ज्ञाता न हो तब तक वह उनकी टीका नहीं लिख सकता। यद्यपि प्रस्तुत टीकामें जैनदर्शनके पूर्वपक्ष एवं पूर्वपक्षको विस्तार दिया है किन्तु अन्य दर्शनोंके भी पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष तो अपनी जगह उपस्थित हुए ही हैं। अतः षड्दर्शनसमुच्चय जैसे ग्रन्थकी टीकापर एक नवीन व्याख्या लिख देना केवल उसी व्यक्तिके लिए सम्भव है जो किसी एक दर्शनका अधिकारी विद्वान् न होकर समस्त दर्शनोंका अधिकारी विद्वान् हो। पं० महेन्द्रकुमारजीकी यह प्रतिभा है कि वे इस ग्रन्थकी सरल और सहज हिन्दी व्याख्या कर सके। दार्शनिक जगत् उनके इस अवदानको कभी भी नहीं भुला पाएगा। वस्तुतः उनका यह अनुवाद, अनुवाद न होकर एक स्वतन्त्र व्याख्या ही है।

उनकी वैज्ञानिक सम्पादन पद्धतिका यह प्रमाण है कि उन्होंने प्रत्येक विषयके संदर्भमें अनेक जैन एवं जैनेतर ग्रन्थोंसे प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। संदर्भ ग्रन्थोंकी यह संख्या सम्भवतः सौसे भी अधिक होगी जिनके प्रमाण टिप्पणीके रूपमें तुलना अथवा पक्ष समर्थनकी दृष्टिसे प्रस्तुत किए गए हैं। ये टिप्पण पं० महेन्द्रकुमारजीके व्यापक एवं बहुमुखी प्रतिभाके परिचायक हैं। यदि उन्हें इन सब ग्रन्थोंका विस्तृत अवबोध नहीं होता तो यह सम्भव नहीं था कि वे इन सब ग्रन्थोंसे टिप्पण दे पाते। परिशिष्टोंके रूपमें षड्दर्शनसमुच्चयकी मणिभद्रकृत लघुवृत्ति, अज्ञातकर्तृक अवचूर्णिके साथ-साथ कारिका, शब्दानुक्रमिका, उद्धृत वाक्य, अनुक्रमणिका, संकेत विवरण आदिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पं० महेन्द्रकुमारजी केवल परम्परागत विद्वान् ही नहीं थे अपितु वे वैज्ञानिक रीतिसे सम्पादन-कलामें भी निष्णात थे। वस्तुतः उनकी प्रतिभा बहुमुखी और बहुआयामी थी, जिसका आकलन उनकी कृतियोंके सम्यक् अनुशीलनमें ही पूर्ण हो सकता है। षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नकी टीकापर उनकी यह हिन्दी व्याख्या वस्तुतः भारतीय दर्शन जगत्को उनका महत्त्वपूर्ण अवदान है जिसके लिए वे विद्वज्जगत्में सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# प्रमेयकमलमार्तण्डका सम्पादन : एक समीक्षा

• डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी, वाराणसी

किसी भी प्राचीन ग्रन्थका उद्धार करके उसका साङ्गोपाङ्ग सम्पादन और प्रकाशन अति दुष्कर कार्य है। किन्तु जिस विद्वान्ने विविध कठिनाइयोंके बाद भी अनेक प्राचीन दार्शनिक दुर्लभ एवं जटिल बृहद् ग्रन्थोंका सम्पादन-कार्य किया हो उसके अद्भुत वैदुष्य, प्रतिभा, श्रम-साधना और अदम्य उत्साहके विषयमें जितना लिखा जाए, कम ही होगा। ऐसे विरले ही साहित्य-साधक होते हैं जिन्होंने अपने अल्प जीवनकालमें ही इतने विस्तृत, विपुल एवं कठिन अनेक जैन दार्शनिक ग्रन्थोंको सुसम्पादित करके जैन साहित्यकी सेवामें अपनेको समर्पित कर दें। किन्तु डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने यही सब करके स्वयंको जैन दार्शनिकोंकी गौरवशाली परम्परामें सम्मिलित कर लिया है। आपके द्वारा सम्पादित अनेक ग्रन्थोंकी शृंखलामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थके सम्पादन-कार्यकी समीक्षा प्रस्तुत है—

समृद्ध भारतीय मनीषाकी प्रत्येक परम्परामें उपलब्ध प्राचीन सूत्रग्रन्थोंपर अनेकानेक व्याख्यायें प्राप्त होती हैं। जैन परम्पराके आद्य संस्कृत सूत्रग्रन्थकी तरह जैनन्यायके आद्य सूत्रग्रन्थ आचार्य माणिक्यनन्दि ( आठवीं शती ) प्रणीत "परीक्षामुखसूत्र" पर भी अनेक टीकायें लिखीं गईं। किन्तु इन सभी टीकाओंकी यह एक अन्यतम विशेषता है कि ये सभी अपने आपमें स्वतंत्र ग्रन्थ प्रतीत होते हैं। इन सब टीकाओंके नाम भी अलग-अलग हैं। इनमें से कुछ तो प्रकाशित होनेके कारण प्रसिद्ध हैं तो कुछ टीकाग्रन्थ अब तक इसीलिए प्रसिद्ध नहीं हो सके क्योंकि वे अभी तक अप्रकाशित हैं। सर्वप्रथम इन सबका उल्लेख आवश्यक है।

## प्रकाशित टीका-ग्रन्थ

इनके अन्तर्गत (१) आचार्य प्रभाचंद्र ( ११वीं शती ) विरचित प्रमेयकमलमार्तण्ड अपरनाम परीक्षामुखालङ्कार, (२) आचार्य लघु अनंतवीर्य ( १२वीं शतीका पूर्वार्द्ध ) विरचित प्रमेयरत्नमाला ( चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी द्वारा सन् १९६४ में प्रकाशित ), (३) भट्टारक अभिनव चारुकीर्ति ( १९वीं शती ) द्वारा प्रणीत प्रमेयरत्नमालालंकार ( मैसूर युनिवर्सिटी द्वारा सन् १९४८ में प्रकाशित ) तथा शान्ति वर्णी विरचित प्रमेयकण्ठिका ( भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित ) प्रमुख हैं।

## अप्रकाशित टीका-ग्रन्थ

(१) भट्टारक अजितसेन ( वि० सं० १९८० ) प्रणीत न्यायमणिदीपिका, (२) विजयचन्द्र विरचित प्रमेयरत्नमाला अर्थप्रकाशिका, (३) पं० जयचन्दजी छावडा ( वि० सं० १९वीं शती ) प्रणीत प्रमेयरत्नमाला-परीक्षामुख भाषा वचनिका प्रमुख हैं। इनमें से प्रायः सभी प्रकाशित-अप्रकाशित टीकाग्रन्थोंकी हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ आरा ( बिहार ) के सुविख्यात जैन सिद्धान्त भवनमें सुरक्षित हैं।

प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्डका सर्वप्रथम प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे पं० बंशीधर जी शास्त्री, सोलापुरके सम्पादकत्वमें हुआ था। इसके बाद यहींसे सन् १९४१ में द्वितीय संस्करणके रूपमें मूलग्रन्थ अनेक टिप्पणियों एवं ८३ पृष्ठीय विस्तृत सम्पादकीय वक्तव्यमें विविध दार्शनिकों एवं उनकी कृतियोंसे तुलनात्मक विवेचन, बृहद् प्रस्तावना और लगभग पचास पृष्ठीय अनेक परिशिष्टोंसे युक्त सांगोपांग प्रकाशन डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके सम्पादकत्वमें हुआ। यह उस समयके प्रकाशनोंमें सम्पादित आदर्श

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृति है और आज भी सम्पादनके आदर्शका एक अनुपम उदाहरण है। आचार्य प्रभाचन्द्रकी यह दार्शनिक कृति संस्कृत गद्यका भी उत्कृष्ट उदाहरण है। यह कृति अभी तक मूलग्रन्थके रूपमें ही प्रकाशित होनेसे सामान्य पाठक इसके हार्दको समझनेमें कठिनाईका सामना करते थे। किन्तु यह प्रसन्नताका विषय है कि न्यायाचार्यजी द्वारा सुसम्पादित प्रस्तुत मूलग्रन्थके आधार पर ही इसके प्रकाशनके लगभग चार दशक बाद विदुषी आर्यिका जिनमती माताजी द्वारा हिन्दी अनुवाद विशेष विवेचनयुक्त भावार्थके साथ तीन भागोंमें प्रकाशित हो जानेसे जन साधारणको इस ग्रन्थका हार्द समझना तथा विविध विश्वविद्यालयों और शिक्षण संस्थानोंके पाठ्यक्रममें अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसंधानका मार्ग सुगम हो गया है। इतने कठिन ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद भी पं० महेन्द्रकुमारजी द्वारा सुसम्पादित प्रस्तुत कृतिके आधार पर ही सम्भव हो सका। हिन्दी अनुवाद सहित इन तीन खण्डोंका प्रकाशन वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला, हस्तिनापुरके माध्यमसे सन् १९७० से १९८६ के मध्य अलग-अलग श्रद्धालु दातारों द्वारा हुआ है।

## ग्रन्थ-परिचय

आचार्य माणिक्यनन्दि प्रणीत जैनन्यायके सूत्रग्रन्थ "परीक्षामुख सूत्र" पर बारह हजार श्लोक प्रमाण "प्रमेयकमलमार्तण्ड" नामसे बृहद् टीका लिखकर आ० प्रभाचन्द्रने ग्रन्थगत मूलसूत्रोंके विषयको स्पष्ट और विस्तृत विवेचित तो किया ही, अपनी अनेक मौलिक उद्भावनाओंके साथ तत्कालीन प्रचलित उन सभी भारतीय दार्शनिकों और न्यायशास्त्रियोंके पक्षों एवं चर्चित विषयोंको पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्तुत करके अनेकान्तमय प्रबल प्रमाणों द्वारा खण्डनात्मक अकाट्य उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हुए जैनन्यायको गौरव प्रदान किया और उसके विकासका मार्ग प्रशस्त बनाया। इसीलिए यह ग्रन्थ मात्र टीका ग्रन्थ ही न रहकर आरम्भसे ही मौलिक ग्रन्थके रूपमें भी इसकी अधिक ख्याति रही। यह ग्रन्थ अपने नामको सार्थक करते हुए प्रमेयरूपी कमलोंको उद्भासित करनेके लिए मार्त्तण्ड ( सूर्य ) के समान है तथा मिथ्या-अभिनिवेशरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए भी मार्तण्ड ( सूर्य ) के सदृश होनेसे भी यह ग्रन्थ अपने नामको सार्थक करता है। वस्तुतः जैसे सूर्य कमलोंको विकसित करता है, वैसे ही यह ग्रन्थ समस्त प्रमेयोंको प्रदर्शित करता है।

आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ और प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि बारह ग्रन्थ प्रणीत होनेके उल्लेख मिलते हैं किन्तु इनको ख्याति मुख्यतः इन्हीं दो न्याय ग्रन्थोंके कारण ही विशेष है। इन दोनों ग्रन्थोंमें ही सम्पूर्ण भारतीय दर्शनोंकी प्रायः सभी शाखाओंकी प्रमुख मान्यताओंको उनके विविध मूलभूत प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थोंके आधारपर आ० प्रभाचन्द्रने गहन अध्ययन एवं मंथन करके ही उन्हें पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्तुत किया। प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रन्थ ही इतना सर्वाङ्ग परिपूर्ण है कि मात्र अकेले इस ग्रन्थके आधारपर ही सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय दर्शनोंको समझा जा सकता है। जबकि इस ग्रन्थका प्रमुख उद्देश्य मुख्यतः प्रमाण-तत्त्वका विवेचन है।

## सम्पादन-कार्यकी विशेषतायें

डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित प्रमेयकमलमार्तण्डका प्रस्तुत संस्करण श्रेष्ठ एवं आदर्श सम्पादनकलाका एक कीर्तिमान उदाहरण है। पं० जी द्वारा सम्पादित प्रस्तुत ग्रन्थका जिसने भी अध्ययन किया, पं० जी के अगाध पाण्डित्य एवं अपूर्व श्रम तथा साहित्यसाधनाकी उसने भरपूर प्रशंसा की। सर्वाङ्गीण तुलनात्मक अध्ययनकी दिशामें इस ग्रन्थकी महत्ता तो प्रत्येक पृष्ठपर उल्लिखित भरपूर पाद-टिप्पणियोंके आधारसे ही सिद्ध है। जो विद्वान् इस प्रकारके सम्पादन-कार्यमें गहरी रुचि रखते हैं, इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकारके कार्योंको ईमानदारीसे सम्पादित करनेमें ही विश्वास रखते हैं वे पं० महेन्द्रकुमारजीकी सारस्वत साधनासे प्रसूत इस अप्रतिम कृतिका एक आदर्श कृतिके रूपमें मूल्यांकन किये बिना नहीं रह सकता। पं० जीने स्वयं इसके सम्पादकीय आद्य वक्तव्यमें प्रस्तुत संस्करणकी विशेषताओंका उल्लेख करते हुए लिखा है—

जब न्यायकुमुदचन्द्रका सम्पादन चल रहा था तब श्रीयुत कुन्दनलालजी जैन तथा पं० सुखलालजी संघवीके आग्रहसे मुझे प्रमेयकमलमार्त्तण्डके पुनः सम्पादनका भी भार लेना पड़ा। इसके प्रथम संस्करणके संपादक पं० बंशीधरजी शास्त्री, सोलापुर थे। मैंने उन्हींके द्वारा सम्पादित प्रतिके आधारसे ही इस संस्करणका सम्पादन किया है। मैंने मूलपाठका शोधन, विषय वर्गीकरण, अवतरण निर्देश तथा विरामचिह्न आदिका उपयोगकर इसे कुछ सुन्दर बनानेका प्रयत्न किया है। प्रथम तो यही विचार था कि न्यायकुमुदचन्द्रकी ही तरह इसे तुलनात्मक तथा अर्थबोधक टिप्पणोंसे पूर्ण समृद्ध बनाया जाय, और इसी संकल्पके अनुसार प्रथम अध्यायमें कुछ टिप्पण भी दिये गए हैं। ये टिप्पण अंग्रेजी अंकोंके साथ चालू टिप्पणके नीचे पृथक् मुद्रित कराए हैं। परन्तु प्रकाशककी मर्यादा, प्रेसकी दूरी आदि कारणोंसे उस संकल्पका दूसरा परिच्छेद प्रारम्भ नहीं हो सका और यह प्रथम परिच्छेदके साथ ही समाप्त हो गया। आगे तो यथासंभव पाठशुद्धि करके ही इसका संपादन किया है।

संपादक न्यायाचार्यजीके उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट है कि वे इसे और भी अनेक टिप्पणों, पाठभेदों आदिसे युक्त प्रकाशित करानेके इच्छुक थे किन्तु अनेक कठिनाइयोंके कारण वे ऐसा नहीं कर सके। फिर भी पं० बंशीधरजी, सोलापुर द्वारा सम्पादित प्रथम संस्करणकी अपेक्षा न्यायाचार्यजी द्वारा सम्पादित इस द्वितीय संस्करणमें अनेक विशेषतायें हैं। इनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—प्रस्तुत ग्रन्थका सम्पादन वैज्ञानिक विधि से अर्थात् स्पष्ट और विस्तृत विषयसूची दी गई है, अनेक परिशिष्ट दिये गये है और शब्दानुक्रमणिका भी है। इनसे पाठकको इतने बृहद् मूलग्रन्थमें भी सम्बद्ध विषयको खोजनेमें कठिनाई नहीं होती।

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थका दूसरा नाम परीक्षामुखालङ्कार भी है अतः तदनुरूप प्रस्तुत संस्करणमें मूलग्रन्थ परीक्षामुखके सूत्रोंको उसकी वृत्तिके पूर्व यथास्थान रखकर व्यवस्थित किया है। इससे तद-तद् सूत्रकी व्याख्याका पृथक्करण हो गया, अन्यथा कुछ पाठकोंको पता ही नहीं चल पाता था कि किस सूत्रकी व्याख्या कहाँसे प्रारम्भ है और कहाँ समाप्त है। इसी तरह प्रकरण और अर्थकी दृष्टिसे अशुद्धियोंका संशोधन भी किया गया है। यद्यपि प्रथम संस्करणमें मुद्रित टिप्पण एक ही हस्तलिखित प्रतिसे लिये गये थे। अतः उनमें कुछ-कुछ अस्तव्यस्तता और अशुद्धियाँ दिखलाई पड़ती थीं किन्तु प्राचीन टिप्पणोंको मौलिकताके संरक्षणके उद्देश्यसे न्यायाचार्यजीने उन्हें इस अपने संस्करणमें भी यथावत् रहने दिया किन्तु साथ ही कुछ अन्य प्रतियोंके और भी टिप्पण साथमें दे दिये हैं।

प्रस्तुत संस्करणको और भी अधिक उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण बनानेके लिए न्यायाचार्यजीने जो बहुत ही श्रमसाध्य कठिन कार्य किया है, वह है विविध जैन और जैनेतर मूलग्रन्थोंके अनेकों अवतरण, जिन्हें आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रतिपाद्य विषयकी पुष्टि हेतु अपने इस ग्रन्थमें उद्धृत किया था और हस्तलिखित ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँ करते समय लिपिकारोंने लगभग उन्हें मूलग्रन्थमें ही सम्मिलित कर लिया था। न्यायाचार्यजीने उन अवतरणोंको अलग दिखलानेकी दृष्टिसे उन उद्धरणोंको इनवर्टेड कामा ( "....." ) में रख कर प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं, जिन-जिन ग्रन्थोंके ये उद्धरण हैं, उन्हें उन-उन ग्रन्थोंमें खोजकर पृष्ठ सहित उन ग्रन्थोंके नामोल्लेख भी कोष्ठकमें कर दिये गये हैं। अज्ञात अवतरणोंके बाद खाली ब्रेकेट छोड़

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिये गये ताकि किसी विद्वान् पाठकको उस अवतरणके सही ग्रन्थ और ग्रन्थकारका नाम पता हो तो वहाँ उसे लिख सके और सम्पादकको भी सूचित कर सके ताकि आगेके संस्करणोंमें उन्हें सम्मिलित किया जा सके।

इन ग्रन्थकी ७८ पृष्ठीय विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनामें पं० जीने जहाँ मूलग्रन्थकार आ० माणिक्यनन्दि एवं आ० प्रभाचन्द्रके व्यक्तित्व एवं कृतित्वपर व्यापक रूपमें प्रकाश डाला है वहीं जैनेतर एवं जैन पूर्ववर्ती एवं परवर्ती अनेक भारतीय दार्शनिकों एवं उनके ग्रंथोंसे प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रतिपाद्य विषयकी जो तुलना, प्रभाव एवं समीक्षा प्रस्तुत की है वह अपने आपमें तुलनात्मक अध्ययन एवं अनुसंधानकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, महाभारत, गीता, पतञ्जलि, भर्तृहरि, व्यासभाष्य आदि ग्रन्थोंके जिन अंशोंको आ० प्रभाचन्द्रने उद्धृत किया है, उन सन्दर्भोंको तथा सांख्य आदि दार्शनिकोंके सन्दर्भोंको भी सम्पादकजीने उद्धृत किया है। इस कार्यसे अनेक ऐसे ग्रन्थ, ग्रन्थकार एवं ऐसे सन्दर्भ प्रकाशमें आये हैं जो अब उपलब्ध नहीं होते। जैसे प्रशस्तपाद (कणादसूत्र भाष्यकार—ई० पाँचवीं शती) के ईश्वरवादके पूर्वपक्षमें प्रमेयकमलमार्त्तण्डके पृ० २७० पर 'प्रशस्तमतिना च" लिखकर "सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारो" इत्यादि अनुमान उद्धृत किया है। किन्तु यह अनुमान प्रशस्तपादभाष्यमें नहीं है। इसी तरह आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें सांख्यदर्शनके कुछ ऐसे वाक्य और कारिकाएँ उद्धृत की हैं जो उपलब्ध ग्रन्थोंमें प्राप्त नहीं होतीं।

प्रशस्तपादभाष्यके पुरातन टीकाकार आ० व्योमशिवकी व्योमवती टीकामें प्रतिपाद्य अनेक मतोंका आ० प्रभाचन्द्रने खण्डन किया है। आ० प्रभाचन्द्रके इन उल्लेखोंसे व्योमशिवके सही काल-निर्धारणमें बहुत सहायता प्राप्त हुई है। इसी तरह उद्योतकर, जयन्तभट्ट, वाचस्पति, शबरऋषि, कुमारिल, मण्डनमिश्र, प्रभाकर, शङ्कराचार्य, सुरेश्वर आदि वैदिक दार्शनिकों तथा अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रभाकर गुप्त, शान्तरक्षित, कमलशील, अर्चट, धर्मोत्तर और ज्ञानश्री जैसे बौद्धदार्शनिकों तथा दिगम्बर एवं श्वेताम्बर जैन परम्पराओंके पचाससे भी अधिक ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारोंसे आ० प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित एवं उद्धृत ग्रन्थगत विषयकी महत्त्वपूर्ण समीक्षा की गई है। यह बृहद् प्रस्तावना फाल्गुन शुक्ला द्वादशी वीर निर्वाण संवत् २४६७ के आष्टाह्निक पर्वमें पूर्ण हुई।

इस महत्वपूर्ण प्रस्तावनाके बाद न्यायप्रवेश, न्यायबिन्दु, न्यायविनिश्चय, न्यायसार, न्यायावतार, प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, प्रमाणपरीक्षा, प्रमाणमीमांसा, प्रमाणसंग्रह, लघीयस्त्रय स्ववृत्ति इत्यादि अनेक ग्रन्थोंसे परीक्षामुख सूत्रोंकी तुलना प्रस्तुत की गई है। इससे इन ग्रन्थगत सूत्रोंके बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावका स्पष्ट बोध होता है।

ग्रन्थके अन्तमें परीक्षामुख सूत्रपाठ, प्रमेयकमलमार्त्तण्डगत अवतरणों, परीक्षामुख एवं प्रमेयकमलमार्त्तण्डके लाक्षणिक शब्दों, उल्लिखित ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों, विशिष्ट शब्दोंकी सूची और सबसे अन्तमें आरा के जैन सिद्धान्त भवनकी हस्तलिखित प्रतिके पाठान्तर—ये सब शोधपूर्ण परिशिष्ट प्रस्तुत किये गये हैं।

६९४ पृष्ठीय मूलग्रन्थमें प्रत्येक सूत्रका जिस तरह विषयका स्पष्ट प्रतिपादन और पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्षके विविध प्रमाण उद्धृत करते हुए उनका विशद विवेचन, साथ ही सन्दर्भ और कठिन शब्दोंको स्पष्ट करनेके लिए जो टिप्पण दिये गये हैं—ये सब विषयको समझनेका मार्ग प्रशस्त करते हैं।

इस प्रकार प्रमेयकमलमार्त्तण्डके उत्कृष्ट सम्पादन-कार्यसे जहाँ इस ग्रन्थकी महत्ता और उपयोगिता प्रकाशमें आई है, वहीं सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक क्षेत्रने भी इसका बहुमानपूर्वक मूल्यांकन किया। इस कार्य से डा० महेन्द्रकुमारजीमें भी विद्वत्ता, सम्पादन-पटुता, अन्यान्य दर्शनोंका गहन अध्ययन एवं उनके प्रति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समादर दृष्टि और तुलनात्मक अध्ययन एवं अनुसंधानकी व्यापकता, विशेषताओंका सागर हिलोरें लेता दिखलाई पड़ता है जो किसी भी विद्वान्‌के मनमें उनके प्रति गौरव और आदरके भाव उत्पन्न करनेके लिए पर्याप्त है। वस्तुतः प्रस्तुत ग्रन्थ तथा अन्य अनेक ग्रन्थोंके सम्पादन कार्य, मौलिक चिन्तन और लेखन कार्यों के मूल्यांकनने श्रेष्ठ भारतीय दार्शनिकोंकी पंक्तिमें सम्मिलित न्यायाचार्य जी एक प्रकाशमान नक्षत्रकी तरह दिखलाई देते रहेंगे।

●

# डॉ० महेन्द्रकुमारजी द्वारा सम्पादित न्यायकुमुदचन्द्र

• डॉ० जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर

पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य प्राचीन संस्कृत ग्रंथोंके सम्पादन-कार्यमें निपुण थे। उनके द्वारा प्राचीन आचार्योंकी हस्तलिखित जैन न्याय विषयक अनेक कृतियोंका उद्धार हुआ है। उन्हींमें-से आचार्य अकलंकदेव द्वारा रचित लघीयस्त्रयकी कारिकाओंपर आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा रचित लगभग बीस सहस्र पद्य प्रमाण न्यायकुमुदचन्द्र नामक टीकाका सम्पादन एवं संशोधन उनके जैन एवं जैनेतर न्याय विषयक ज्ञान का उद्‌घोष करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बईसे सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० नाथूराम जी प्रेमीके मन्त्रित्व कालमें सन् १९३८ एवं १९४१ में क्रमशः दो भागोंमें ३८वें एवं ३९वें पुष्पके रूपमें प्रकाशित हुआ है।

न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादन एवं संशोधनमें आदरणीय पण्डितजीके द्वारा जैन एवं जैनेतर ग्रन्थोंसे लिये गये विविध टिप्पण सम्पादनका मूल हार्द हैं। इन टिप्पणोंके माध्यमसे अनेक दार्शनिक एवं ऐतिहासिक गुत्थियोंका स्पष्टीकरण तो हुआ ही है, साथ ही समालोचनात्मक अध्ययन करनेवाले शोधी-खोजी विद्वानों के लिए बहुमूल्य शोधात्मक सामग्री प्रस्तुत की गई है। इन टिप्पणोंसे एक अन्य लाभ यह हुआ है कि अनेक आचार्योंके काल निर्धारणमें पर्याप्त सहायता मिली है और लेखन शैली तथा विद्वानों/आचार्यों द्वारा परस्पर आदान-प्रदान की गई सामग्रीका आकलन हुआ है।

मूल ग्रन्थमें अनेक आचार्योंके नामोल्लेखपूर्वक आये हुये उद्धरणोंके माध्यमसे अनेक विलुप्त ग्रन्थों एवं उनके लेखक आचार्योंका पता चला है। इस प्रकार न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादनके व्याजसे समस्त दर्शनों एवं न्याय विषयक विविध प्रस्थानोंका एक ही स्थानपर अच्छा मेल हुआ है। अतः इस ग्रन्थका टिप्पणों सहित अध्ययन करनेसे समग्र भारतीय दर्शनों एवं न्याय विषयक मान्यताओंकी अच्छी जानकारी मिलती है।

सम्पादनकी प्रामाणिकताके लिए आदरणीय पण्डितजीने हस्तलिखित मूल ग्रन्थके एक पृष्ठकी फोटो प्रति भी ग्रन्थमें मुद्रित कराई है।

उपर्युक्त विशेषताओंके अतिरिक्त इस ग्रन्थके प्रारम्भमें प्रथम भागमें स्याद्वाद महाविद्यालय, काशीके पूर्व प्राचार्य एवं जैन जगत्‌के विश्रुत विद्वान् पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीके द्वारा लिखित प्रस्तावनामें सिद्धि-विनिश्चय एवं प्रमाणसंग्रहका परिचय तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी इतर दर्शनोंके ग्रंथोंके साथ तुलना जैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

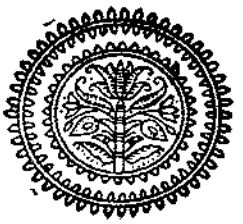
प्रकरण, जो कि पं० महेन्द्रकुमारजीकी लेखनीसे ही प्रसूत हैं और आचार्य प्रभाचन्द्रके काल निर्धारणमें पर्याप्त सहयोग किया है। साथ ही प्रस्तावनागत ( पृ० १२६ ) अन्य विषयोंके लेखनमें भी पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीको सहायता की है। इस प्रकार न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथम भागकी प्रस्तावनाके लेखनमें पं० महेन्द्रकुमारजीका अनन्य सहयोग रहा है।

न्यायकुमुदचन्द्रके द्वितीय भागकी प्रस्तावना पं० महेन्द्रकुमारजीने स्वतन्त्र रूपसे लिखी है, जिसमें उन्होंने लघीयस्त्रयके रचयिता भट्टाकलंकदेव एवं उसपर न्यायकुमुदचन्द्र नामक टीकाके लेखक आचार्य प्रभाचन्द्रके समयपर पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रभाचन्द्रकी इतर वैदिक एवं अवैदिक आचार्योंसे जो उन्होंने तुलना की है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रभाचन्द्रके अन्य ग्रंथोंका परिचय भी उसी प्रस्तावनाका एक अंग है, जिसमें प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंका परिचय देकर उन ग्रन्थोंके प्रभाचन्द्रकृत होनेका सतर्क उल्लेख किया है। इससे प्रस्तावनाका महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। मूलग्रन्थका दोहन करके लिखी गई यह प्रस्तावना मन्दिरके ऊपर रखे गये कलशकी भाँति सुशोभित है और सटिप्पण मूलग्रन्थका संशोधन एवं सम्पादन तो उनकी प्रतिभाका निदर्शन है ही।

उपर्युक्तके अतिरिक्त इस प्रस्तावनामें आचार्य प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंका आन्तरिक परीक्षण करके उनके समय आदिपर पूर्वापर दृष्टिसे विचार करते हुये विविध युक्तियों एवं तर्कोंका उल्लेख किया है। इस क्रममें आदरणीय पण्डितजीने आचार्य प्रभाचन्द्रके समय आदिपर जो प्रकाश डाला है वह न केवल इतःपूर्व चिन्तित विद्वानोंके मतोंकी समीक्षा ही करता है, अपितु पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री द्वारा स्थापित शंकाओंको बल देता हुआ उनके मतकी पुष्टि भी करता है।

अनेकान्तवादको विविध भारतीय दर्शनोंमें महत्त्वपूर्ण स्थान मिल सके, इसके लिये तर्क और युक्तियों से परिपूर्ण वाक्योंका प्रयोग अपेक्षित है। जैनदर्शनका यह अनेकान्तवाद सिद्धान्त मूल रूपसे अहिंसावादको ही दूसरे प्रकारसे पुष्ट करता है। इस सन्दर्भमें गवर्नमेन्ट संस्कृत कॉलेज, बनारसके तत्कालीन प्रिन्सिपल डॉ० मङ्गलदेव शास्त्रीके निम्नाङ्कित विचार ( न्यायकुमुदचन्द्र भाग २, आदिवचन पृ० १० ) ध्यातव्य हैं। वे लिखते हैं कि जैनधर्मकी भारतीय संस्कृतिको बड़ी भारी देन अहिंसावाद है, जो कि वास्तवमें दार्शनिक भित्तिपर स्थापित अनेकान्तवादका ही नैतिकशास्त्रकी दृष्टिसे अनुवाद कहा जा सकता है।

उपर्युक्त उल्लिखित विविध बिन्दुओंपर विचार करनेपर हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यकी प्रतिभा अद्भुत् थी।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# न्यायकुमुदचन्द्र और उसके सम्पादन की विशेषतायें

• डॉ० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी

## ग्रन्थ परिचय

भट्टाकलङ्कदेवकृत लघीयस्त्रय और उसकी स्वोपज्ञविवृत्तिकी विस्तृत व्याख्याका नाम है 'न्यायकुमुदचन्द्र'। न्यायकुमुदचन्द्र एक व्याख्या ग्रन्थ होकर भी अपनी महत्ताके कारण स्वतन्त्र ग्रन्थ ही है। इसमें भारतीय दर्शनके समग्र तर्क-साहित्य एवं प्रमेय-साहित्यका आलोडन करके नवनीत प्रस्तुत किया गया है। तार्किक-शिरोमणि प्रभाचन्द्राचार्यने निष्पक्षभावसे वात्स्यायन, उद्योतकर आदि वैदिक तार्किकोंके और धर्मकीर्ति आदि बौद्धतार्किकोंके मतोंका विवेचन उनके ही ग्रन्थोंका आधार लेकर उतनी ही निष्पक्षतासे किया है जितना कि जैनाचार्योंके मन्तव्योंका प्रस्तुतीकरण किया है। जैन सिद्धान्तोंके संदर्भमें उठने वाली सूक्ष्मसे सूक्ष्म समस्याओंको उठाकर उनका तार्किक शैलीमें विशद समाधान प्रस्तुत किया है।

तर्कशास्त्र वह शास्त्र है जो अतीत, अनागत, दूरवर्ती, सूक्ष्म और व्यवहित अर्थोंका ज्ञान कराता है। तर्कशास्त्रका विशेषतः सम्बन्ध अनुमान प्रमाणसे है। परन्तु कभी-कभी इन्द्रियप्रत्यक्ष और आगमकी प्रमाणतामें संदेह होनेपर तर्कके द्वारा ही उस संदेहका निवारण किया जाता है। इस शैलीका आश्रय लेकर परवादियोंके प्रायः सभी सिद्धान्तोंकी समीक्षा न्यायकुमुदचन्द्रमें की गई है। जिस प्रकार प्रभाचन्द्राचार्यकृत प्रमेयकमलमार्तण्ड—प्रमेयरूपी कमलोंका विकास करनेके लिए मार्तण्ड ( सूर्य ) है उसी प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र भी न्यायरूपी कुमुदोंका विकास करनेके लिए चन्द्रमा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि न्यायकुमुदचन्द्र भट्टाकलङ्ककृत लघीयस्त्रय और उसकी स्वोपज्ञविवृतिकी व्याख्या है। लघीयस्त्रय प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश इन तीन छोटे-छोटे प्रकरणोंका संग्रह है। प्रमाणप्रवेशमें चार परिच्छेद हैं, नयप्रवेशमें एक तथा प्रवचनप्रवेशमें दो। इस तरह लघीयस्त्रयमें कुल सात परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदके प्रारम्भकी दो कारिकाओं पर, पञ्चम परिच्छेदकी अंतिम दो कारिकाओं पर, षष्ठ परिच्छेदकी प्रथम कारिका पर और सप्तम परिच्छेदकी अंतिम दो कारिकाओं पर विवृति नहीं है, शेष पर है। विवृतिमें दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, वार्षगण्य और सिद्धसेनके ग्रन्थोंसे वाक्य या वाक्यांश लिए गए हैं।[1]

जैनदर्शनमें स्वामी समन्तभद्र ( ई० २री शता० ) को जैन तर्क विद्याकी नींवका प्रतिष्ठापक माना जाता है। पश्चात् सिद्धसेन दिवाकर ( वि० सं० ६२५ के आसपास )का जैन तर्कका अवतरण कराने वाला और आचार्य भट्टाकलङ्क ( ई०-७-८ शता० ) को जैन तर्कके भव्यप्रासादको संस्थापित करनेवाला माना जाता है। अकलङ्क द्वारा संस्थापित सिद्धान्तोंका आश्रय लेकर परवर्ती जैन न्यायके ग्रन्थ लिखे गए। आचार्य विद्यानंद ( ई० ९वीं शता० ) ने इस तर्कविद्याको प्रौढ़ता प्रदान की और आचार्य प्रभाचन्द्र ( ई० ९८०-१०६५ ) ने जैन तर्कविद्याकी दुरूहताको बोधगम्य बनाया। प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती, न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, न्यायमंजरी, शाबरभाष्य, श्लोकवार्तिक, बृहती, प्रमाणवार्तिकालङ्कार, तत्त्वसंग्रह आदि जैनेतर प्रौढ़तर्क ग्रन्थोंका गहन अध्ययन करके आचार्य प्रभाचन्द्रने उनकी ही शैलीमें प्रबलयुक्तियोंसे उनके सिद्धान्तोंका परिमार्जन किया है। इस तरह जैन तर्क शास्त्रमें नवीन शैलीको जन्म देकर न्यायकुमुदचन्द्र आदि द्वारा व्योमवती जैसे प्रौढ ग्रन्थोंकी कमीको पूरा किया है।

१. न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भा०, प्रस्तावना, पृ० ५-७।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## संपादन और प्रकाशन योजना

माणिकचंद्र दि० जैन ग्रन्थमालाके मंत्री पं० नाथूराम जी 'प्रेमी' की इच्छासे प्रेरित होकर न्यायाचार्य, न्यायदिवाकर, जैनप्राचीन न्यायतीर्थ आदि उपाधियोंसे विभूषित पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री जो श्री स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय, काशीमें जैन न्यायके अध्यापक थे, ने पं० सुखलाल संघवी द्वारा संपादित सन्मतितर्ककी शैलीमें न्यायकुमुदचन्द्रका सम्पादन प्रारम्भ किया। यह पं० महेन्द्रकुमारजी का इस क्षेत्रमें प्रथम प्रयास था। इसके सम्पादनमें पं० सुखलाल संघवी और पं० कैलाशचन्द्रजी का बहुमूल्य सहयोग रहा है। सम्पादनोपयोगी साहित्योपलब्धि करानेमें पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णीका औदार्यपूर्ण सहयोग मिला। इसके सम्पादनमें पाँच प्रमुख प्रतियोंसे सहायता ली गई थी। और उन प्रतियोंके आधार पर जो या तो अशुद्ध थीं या अधूरी थीं, प्रस्तुत संस्करणका सम्पादन कितना कठिन कार्य है, यह अनुभवी सम्पादक ही समझ सकता है। सम्पादन करते समय जिन-जिन बातोंका ध्यान रखना चाहिए उन सभीका ध्यान रखा गया है। प्रस्तुत संस्करण माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बईसे ई० सन् १९३८ तथा १९४१ में क्रमशः दो भागोंमें प्रकाशित हुआ है। छपाईमें मूलपाठ, विवृत्ति, व्याख्यान, टिप्पण, पाठान्तर, विरामचिह्नों आदिका समुचित प्रयोग किया गया है। विषयकी सुबोधता तथा शोधार्थियोंके उपयोगके लिए द्वितीय भागमें निम्न १२ परिशिष्ट दिए गए हैं—

(१) लघीयस्त्रय–कारिकानुक्रमणिका, (२) लघीयस्त्रय और उसकी स्वविवृतिमें आगत अवतरण-वाक्योंकी सूची, (३) लघीयस्त्रय और स्वविवृतिके विशेष शब्दोंकी सूची, (४) अन्य आचार्यों द्वारा उद्धृत लघीयस्त्रय कारिकायें एवं विवृति अंशोंकी तुलना, (५) न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत ग्रन्थान्तरोंके अवतरण, (६) न्यायकुमुदचन्द्रमें निर्दिष्ट न्यायवाक्य, (७) न्यायकुमुदचन्द्रमें आगत ऐतिहासिक और भौगोलिक नामोंकी सूची, (८) न्यायकुमुदचन्द्रमें उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंकी सूची, (९) न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गत लाक्षणिक शब्दोंकी सूची, (१०) न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गत कुछ विशिष्ट शब्द, (११) न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गत दार्शनिक शब्दोंकी सूची, (१२) मूल ग्रन्थ तथा टिप्पणीमें प्रयुक्त ग्रन्थ संकेत सूची ( पृष्ठ संकेतके साथ )।

## पं० महेन्द्रकुमारजीका वैदुष्य

पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य जिन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तंड, अकलङ्कग्रन्थत्रय आदि महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर ग्रन्थोंका सटिप्पण सुन्दर सम्पादन किया है, उनकी बराबरीका आज दूसरा कोई संपादक नहीं दिखलाई पड़ रहा है। आप जैनविद्याके प्रकाण्ड मनीषी तो थे ही, साथ ही जैनेतर न्यायशास्त्र-में भी गहरी पैठ थी। न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पण तथा द्वितीय भागकी ६३ पृष्ठोंकी विस्तृत प्रस्तावना आपके वैदुष्यको प्रकट करती है। प्रथम भागकी १२६ पृष्ठोंकी प्रस्तावना पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री द्वारा लिखित है। इसके बाद भी आपने द्वितीय भागमें प्रभाचन्द्रकी वैदिक और अवैदिक इतर आचार्योंसे तुलना करते हुए अभिनव तथ्योंको प्रकट करनेवाली प्रस्तावना लिखी है। ग्रन्थ संकेत सूची, शुद्धिपत्रक आदिके साथ विस्तृत विषयसूची दोनों भागोंमें दी गई है जिससे विषयकी दुर्बोधता समाप्त हो गई है।

## संपादनकी प्रमुख विशेषताएँ

पं० महेन्द्रकुमार जीके वैदुष्यको तथा सम्पादन कलाकी वैज्ञानिकता को प्रकट करनेवाली प्रस्तुत न्यायकुमुदचन्द्रके संस्करणकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—

१–आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से संपादन किया गया है। ग्रन्थसंकेतसूची, विस्तृत विषयसूची, परिशिष्ट, प्रस्तावना, शुद्धिपत्रक, सहायक ग्रन्थसूची, विराम चिह्नों का समुचित प्रयोग, टिप्पण, पाठान्तर, तुलना आदि सभी सुव्यवस्थित और प्रामाणिक हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२–टिप्पणी और द्वितीय भागकी प्रस्तावना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसमें सम्पादकने अथक श्रम किया है। ऐतिहासिकताके बीजोंको उद्घाटित करते हुए तुलनात्मक दृष्टि अपनाई गई है। विषय विवेचनमें संकीर्णता नहीं अपनाई गई है।

३–कुछ टिप्पणियाँ ग्रन्थकारके आशयको स्पष्ट करनेके लिए तथा कुछ पाठशुद्धिके लिए भी दी गई हैं।

४–प्रत्येक विषयके अन्तमें पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष संबंधी ग्रन्थोंकी विस्तृत सूची दी गई है जिससे उस विषयके पर्यालोचनमें और अधिक सहायता मिलती है।

५–प्रस्तावनामें आचार्य अकलंक और प्रभाचन्द्रके संबंधमें ज्ञातव्य अनेक ऐतिहासिक और दार्शनिक मन्तव्योंका विवेचन किया गया है। प्रसङ्गतः जैन एवं जैनेतर ग्रन्थकारोंकी तुलना करते हुए बहुत-सी बातोंके रहस्य खोले गए हैं। इसे यदि जैनतर्क युगके इतिहासकी रूपरेखा कही जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अतः ऐतिहासिकोंके लिए यह प्रस्तावना बहुत उपयोगी है।

६–जो पाठ अशुद्ध थे उनको सुधारनेका प्रयत्न किया गया है। संपादकने इस बातको इंगित करनेके लिए उस कल्पित शुद्धपाठको ( ) ऐसे ब्रेकिटमें दिया है। इसके अतिरिक्त जो शब्द मूलमें त्रुटित थे या नहीं थे उनकी जगह संपादकने जिनशब्दोंको अपनी ओरसे रखा है उसे [ ] ऐसे ब्रेक्रिटके द्वारा प्रदर्शित किया है।

७–इसके संपादनमें ईडर भण्डारकी ( आ० संज्ञक ) प्रतिको आदर्श माना गया है। शेष अन्य चार प्रतियोंका यथास्थान उपयोग किया गया है। विवृतिकी पूर्णता आ० प्रतिके अतिरिक्त जयपुरकी प्रतिसे की गई है।

इस तरह न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जीका यह प्रथम संपादन कार्य इतना महत्त्वपूर्ण और आदर्श-दीपक हुआ कि कालान्तरमें इन्हें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि ग्रन्थोंके संपादनका उत्तरदायित्व सौंपा गया जिसे इन्होंने उसी लगन और ईमानदारीसे पूर्ण किया। न्यायकुमुदचन्द्रका इनपर इतना प्रभाव था कि इन्होंने इसके संपादन कालमें उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्रका नाम स्मृतिनिमित्त 'कुमुदचन्द्र' रखा जो कालकी गतिका निशाना बन गया और संपादित यह ग्रन्थ ही उसका पुण्यस्मारक बना जिसे पं० जीने अपने साहित्ययज्ञकी आहुति माना। ऐसे स्वनामधन्य पं० महेन्द्रकुमार जीकी प्रतिभा जो प्रभाचन्द्राचार्यवत् थी को शतशत वन्दन करते हुए उनके द्वारा प्रदर्शित मार्गपर चलनेकी कामना करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# न्यायविनिश्चय-विवरण : एक मूल्यांकन

• डॉ० शीतलचन्द जैन, जयपुर

भारतीय दर्शनमें जैनदर्शनका एक विशिष्ट स्थान है और जैनदर्शनके क्षेत्रमें आचार्य श्रीमद्भट्टाकलंकदेव द्वारा लिखित न्यायविनिश्चय अद्वितीय ग्रन्थरत्न है। इस ग्रन्थके पद्य भागपर प्रबल तार्किक स्याद्वादविद्यापति वादिराजसूरिकृत तात्पर्य विद्योतिनी व्याख्यान रत्नमाला उपलब्ध है जिसका नाम न्यायविनिश्चय-विवरण है। जैसा कि वादिराजकृत श्लोकसे प्रकट है—

प्रणिपत्य स्थिरभक्त्या गुरून् पदानप्युदारबुद्धिगुणान्।
न्यायविनिश्चयविवरणमभिरमणीयं मया क्रियते॥

उक्त श्लोकसे स्पष्ट है कि इसका नाम न्यायविनिश्चय विवरण ही है, अलंकार नहीं। इस विषय पर विद्वान् संपादकने काफी महत्त्वपूर्ण प्रमाण उपस्थित कर विमर्श किया है। ग्रन्थका संपादन २०वीं शताब्दिके प्रसिद्ध मूर्धन्य दार्शनिक विद्वान् पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा किया गया है। पं० जी की जो संपादित कृतियाँ हैं उनमें आचार्य भट्टाकलंकदेव द्वारा रचित ग्रंथ प्रमुख हैं। आपकी संपादकीय एवं प्रस्तावनाओंको पढ़कर ग्रंथका रहस्य सुगमतासे समझमें आ जाता है। वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थोंमें दार्शनिक ग्रन्थोंका सम्पादन अति दुसाध्य कार्य है। इस कार्यके लिये निष्ठा, समय, शक्तिके साथ विद्वत्ता अत्यन्त अपेक्षित है। क्योंकि दार्शनिक ग्रन्थोंमें ग्रन्थान्तरोंके अवतरण पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनोंमें प्रचुर मात्रामें आते हैं उन सबका स्थान खोजना तथा उपयुक्त टिप्पणियोंका संकलन आदि सभी कार्य धैर्य और स्थिरताके बिना नहीं सध सकते विशेषकर उन ग्रन्थोंके सम्पादनमें जिनका मूल भाग उपलब्ध न हो और विवरणकी प्रतियाँ अशुद्धियोंका पुञ्ज हों ऐसी स्थितिमें सम्पादककी प्रतिभाकी समीक्षा विद्वान् ही कर सकते हैं। हम जैसे अल्पबुद्धि वाले तो उनकी सम्पादित कृतियोंका मूल्यांकन ही कर सकेंगे।

प्रस्तुत कृति न्यायविनिश्चयविवरण दो भागोंमें विभक्त है। इसमें कुल तीन प्रस्ताव हैं जिसमें प्रथम भागके प्रथम प्रस्तावमें प्रत्यक्षकी विवेचना है और द्वितीय भागके द्वितीय एवं तृतीय प्रस्तावमें क्रमशः अनुमान एवं प्रवचनकी विवेचना है। ग्रन्थकारने सर्वप्रथम न्यायके विनिश्चय करनेकी प्रतिज्ञा की है। वे न्याय अर्थात् स्याद्वादमुद्रांकित आम्नायको कलिकाल दोषसे गुणद्वेषी व्यक्तियों द्वारा मलिन किया हुआ देखकर विचलित हो उठते हैं और भव्य पुरुषोंकी हितकामना से सम्यग्ज्ञान-वचन रूपी जलसे उस न्याय पर आये हुए मलको दूर करके उसको निर्मल बनानेके लिए कृतसंकल्प होते हैं। जिसके द्वारा वस्तु स्वरूपका निर्णय किया जाय उसे न्याय कहते हैं। अर्थात् न्याय उन उपायोंको कहते हैं जिनसे वस्तु तत्त्वका निश्चय हो। ऐसे उपाय तत्त्वार्थसूत्रमें प्रमाण और नय दो तथा इनके भेद-प्रभेद ही निर्दिष्ट हैं।

विद्वान् सम्पादकने अपने मन्तव्यमें लिखा है कि दार्शनिक क्षेत्रमें दर्शनकी व्याख्या बदली है और वह चैतन्याकारकी परिधिको लाँघकर पदार्थोंके सामान्यावलोकन तक जा पहुँची परन्तु सिद्धान्त ग्रन्थोंमें दर्शनका अनुपयुक्त दर्शन तत्रवत ही वर्णन है।

विद्वान् सम्पादकने अकलंकके ज्ञानकी साकारता विषयक विवेचनमें धवला-जयधवलाका आधार लेते हुए न्यायविनिश्चय-विवरणका युक्तिसंगत तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तावनामें प्रस्तुत किया है। इस प्रस्तावना को पढ़कर ग्रन्थकी कारिकाओंके हृदयको समझनेमें कठिनाई नहीं होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ सामान्य विशेषात्मक और द्रव्य पर्यायात्मक है, के विवेचन प्रसंगमें सुयोग्य विद्वान्ने ग्रन्थको आधार बनाते हुये इतर भारतीय दार्शनिकोंकी समालोचना करते हुए राहुल सांकृत्यायनके विचारोंको विस्तारसे उल्लेख करके समीक्षा की है और जैनदर्शनकी दृष्टिसे पदार्थकी कैसी व्यवस्था है इसको सूक्ष्मातिसूक्ष्म तर्कोंके माध्यमसे विषयको समझाया है।

इसी तरह विद्वान् सम्पादकने प्रत्यक्षके भेदोंके विमर्शमें आचार्य अकलंक द्वारा मान्य भेद और उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य भेदोंको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अकलंक देवने प्रत्यक्षके तीन भेद किये हैं :—१–इन्द्रिय प्रत्यक्ष २–अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष ३–अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष।

चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रूपादिकका स्पष्ट ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। मनके द्वारा सुख आदिकी अनुभूति मानस प्रत्यक्ष है। अकलंकदेवने लघीयस्त्रयस्ववृत्तिमें स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधको अतिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि–मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध ये सब मतिज्ञान हैं, मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे इनकी उत्पत्ति होती है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है। इन्द्रियजन्य मतिज्ञानको जब संव्यवहारमें प्रत्यक्ष रूपसे प्रसिद्धि होनेके कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष मान लिया तब उसी तरह मनोमति रूप स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमानको भी प्रत्यक्ष ही कहना चाहिये। परन्तु संव्यवहार इन्द्रियजन्य मतिको तो प्रत्यक्ष मानता है पर स्मरण आदि को नहीं। अतः अकलंककी स्मरण आदिको अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माननेकी व्याख्या उन्हीं तक सीमित रही। वे शब्दयोजनाके पहिले स्मरण आदिको मतिज्ञान और शब्दयोजनाके बाद इन्हींको श्रुतज्ञान भी कहते हैं। पर उत्तरकालमें असंकीर्ण प्रमाण विभागके लिए—"इन्द्रियमति और मनोमतिको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति आदिको परोक्ष, श्रुतको परोक्ष और अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान ये तीन ज्ञान परमार्थ प्रत्यक्ष" यही व्यवस्था सर्वस्वीकृत हुई।

न्यायविनिश्चयविवरणके द्वितीय भागकी विस्तृत प्रस्तावनामें प्रमाण विभागकी चर्चा करते हुए विद्वान् सम्पादकने लिखा है कि द्वितीय भागके दो प्रस्तावोंमें परोक्ष प्रमाणके विषयमें आचार्य अकलंकदेवने जैनदार्शनिक क्षेत्रमें एक नई व्यवस्था दी। अकलंकदेवने पाँच इंद्रिय और मनसे होनेवाले ज्ञानको जो कि आगमिक परिभाषामें परोक्ष था, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कोटिमें लिया और स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, आभिनिबोधिक और श्रुत इन पाँचोंको आगमानुसार परोक्ष प्रमाण कहा है।

प्रवचन प्रस्तावमें सर्वज्ञताके विषयमें पर्याप्त ऊहापोह किया है। विद्वान् लेखकने अकलंकके अभिप्राय को समझानेके लिए सर्वज्ञताका इतिहास बताते हुए लिखा है कि—

सर्वज्ञताके विकासका एक अपना इतिहास भी है। भारतवर्षकी परम्पराके अनुसार सर्वज्ञताका सम्बन्ध भी मोक्षसे था। मुमुक्षुओंके विचारका मुख्य विषय यह था कि मोक्षके उपाय, मोक्षका आधार, संसार और उसके कारणोंका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं। विशेषतः मोक्ष प्राप्तिके उपायोंका अर्थात् उन धर्मानुष्ठानोंका जिनसे आत्मा बन्धनोंसे मुक्त होता है, किसीने स्वयं अनुभव करके उपदेश दिया है या नहीं? वैदिक परम्पराओंके एक भागका इस सम्बन्धमें विचार है कि धर्मका साक्षात्कार किसी एक व्यक्तिको नहीं हो सकता, चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु या महेश्वर जैसा महान् भी क्यों न हो? धर्म तो केवल अपौरुषेय वेदसे ही जाना जा सकता है। वेदका धर्मसे निर्बाध और अन्तिम अधिकार है। उसमें जो लिखा है वही धर्म है। मनुष्य प्रायः रागादि द्वेषोंसे दूषित होते हैं और अल्पज्ञ भी। यह सम्भव ही नहीं है कि कोई भी मनुष्य किसी भी सम्पूर्ण निर्दोष या सर्वज्ञ बनकर धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार कर सके।

विद्वान् सम्पादकने न्यायविनिश्चयविवरणके दोनों भागोंकी प्रस्तावनाओंमें जो चिन्तनपूर्ण प्रमेय दिया है वह बिल्कुल मौलिक, महत्त्वपूर्ण एवं नया है। जो दार्शनिक विद्वानोंके लिए अत्यन्त अनुकरणीय, विचारणीय एवं दिशाबोध देने वाला है। ●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अकलंकदेव विरचित तत्त्वार्थवार्तिक का सम्पादन-कार्य : एक समीक्षा

• डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी, वाराणसी

सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मयकी गौरववृद्धिमें जहाँ जैन वाङ्मयका अप्रतिम योगदान है, वहीं इस महत्त्वपूर्ण अपूर्व विशाल जैन साहित्यके सृजनमें सहस्रों आचार्यों, विद्वानों आदि मनीषियोंकी दीर्घकालसे चली आ रही लम्बी परम्पराका जब स्मरण करते हैं, तो हमारा हृदय उनके प्रति कृतज्ञतासे गद्गद हो जाता है। उस समयकी विविध कठिन, प्रतिकूल परिस्थितियाँ, अनेक उपसर्गों, विपुल कष्टोंका सद्भाव और आज जैसी सुख-सुविधाओं, अनुकूलताओंका उस समय सर्वथा अभाव होनेके बावजूद इतने विशाल सृजनात्मक साहित्य-निर्माणके महान् उद्देश्यको देखते हैं तो अनुभव होता है कि उन्हें मात्र इस देशकी ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्वके कल्याणकी कितनी उत्कट अभिलाषाने उन्हें साहित्य-सृजनकी प्रेरणा दी होगी।

प्रस्तुत प्रसंगमें हम यहाँ उस लंबी परम्पराकी नहीं, अपितु बीसवीं शतीके मात्र उस महान् सपूतके कृतित्वकी चर्चा कर रहे हैं जिसने बुन्देलखण्डकी खुरई ( सागर जिला ) नगरीमें सन् १९११ में जन्म लेकर २० मई १९५९ तकके मात्र ४८ वर्षोंके जीवनमें जैनधर्म-दर्शन, न्याय तथा अन्यान्य विधाओंके ऐसे अनेक प्राचीन, दुरूह, दुर्लभ और क्लिष्ट ग्रन्थोंका सम्पादन करके उद्धार किया, जिनमें सम्पूर्ण भारतीय मनीषाके तथ्य समाहित हैं। ऐसे वे महामनीषी विद्यानगरी वाराणसीके स्व० डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, जिन्होंने सातवीं शतीके महान् जैन तार्किक आचार्य अकलंकदेवके प्रायः सम्पूर्ण वाङ्मय और उसपर लिखित व्याख्या साहित्यका वैज्ञानिक ढंगसे श्रेष्ठ सम्पादन-कार्य करके आचार्य अकलंकदेवके साहित्य उद्धारकर्ताके रूपमें अपनी विशेष पहचान बनाई है।

वस्तुतः इस बीसवीं शतीके आरम्भिक छह-सात दशकोंका समय ही ऐसा था, जबकि बहुमूल्य दुर्लभ जैन-साहित्यके पुनरुद्धारकी कठिन जुम्मेदारीका अलग-अलग क्षेत्रों एवं विषयोंमें बीड़ा उठाकर जैन विद्वानोंने अपनी अलग-अलग विशेष पहचान बनाई है। जैसे—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसारके अध्ययन-अध्यापन और स्वाध्यायकी परम्पराको पुनः लोकप्रिय बनानेका प्रमुख श्रेय गुरुणां गुरु पं० गोपालदास जी बरैयाको है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दीके अनेक शास्त्रोंका शास्त्र-भण्डारोंसे खोजबीन एवं उनका उचित मूल्यांकन करके इन भाषाओंके अनेक शास्त्रोंके उद्धारकर्ता एवं जैन साहित्यके इतिहास-लेखकके रूपमें पं० नाथूरामजी प्रेमीने सम्पूर्ण देशमें अपनी विशेष पहचान बनाई थी। वहीं आचार्य समन्तभद्र और उनके सम्पूर्ण अवदानको सामने लानेका प्रमुख श्रेय आचार्य पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारको है। आचार्य कुन्दकुन्ददेवके बहुमूल्य चिन्तन और उनके अवदानपर कार्य करनेवाले इसी शतीके पूज्य गणेशप्रसाद वर्णी, पूज्य कानजी स्वामी आदि अनेक विद्वानोंकी लंबी परम्परा है, किन्तु उन्हें मात्र धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टिसे ही नहीं, अपितु उनके बाद बहुआयामी व्यक्तित्व और कृतित्वका अनुसंधानपरक दृष्टिसे मूल्यांकन करनेके लिए सभीको प्रेरित करनेका प्रमुख श्रेय महामनीषी डॉ० ए० एन० उपाध्येको है। डॉ० हीरालालजी जैन एवं ए० एन० उपाध्ये द्वारा अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन एवं उनकी अंग्रेजी भाषामें लिखित विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनाओंके रूपमें इन दोनों विद्वानोंका योगदान विशेष प्रसिद्ध है।

आगमिक सिद्धान्त ग्रन्थोंमें मुख्यतः अनेक खण्डोंमें कसायपाहुडकी जयधवला टीका और षट्खण्डागमकी धवला टीका तथा आ० पूज्यपाद विरचित सर्वार्थसिद्धिका सुसम्पादन और अनुवाद जैसे महान् कार्योंमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीकी पहचान इस क्षेत्रमें सर्वोपरि है। सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्दजी शास्त्रीने यद्यपि अनेक प्राचीन ग्रन्थोंका सम्पादन और अनुवाद कार्य किया है, किन्तु इन्हें जैन इतिहासकारके रूपमें विशेष सम्मान प्राप्त है। मुख्यतः जैन पुराण एवं काव्य साहित्यके अनुवादकके रूपमें डॉ० पं० पन्नालालजीका महनीय योगदान है। नवीं शताब्दी के आचार्य विद्यानन्दके अधिकांश साहित्यके उद्धारकर्ताके रूपमें डॉ० दरबारलालजी कोठिया तथा अपभ्रंशके महाकवि रइधू द्वारा सृजित साहित्यके उद्धारकर्ताके रूपमें डॉ० राजारामजी जैनका महनीय योगदान है। इसी तरह और भी अनेक विद्वानोंने साहित्यकी अनेक विधाओंपर महत्त्वपूर्ण कार्य करके अपना विशेष स्थान बनाया है।

प्रथम शतीके आचार्य उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थसूत्र एक ऐसा लोकप्रिय ग्रन्थहै जिसपर व्याख्या लिखनेके कार्यको प्राचीन और अर्वाचीन आचार्यों और विद्वानोंने महान् गौरवपूर्णकार्य माना। वस्तुतः इस ग्रन्थमें जैनधर्मके चारों अनुयोगोंका सार समाहित है। इसीलिए अब तक इसपर शताधिक टीकग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। यहाँ तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गई सर्वार्थसिद्धि नामक व्याख्या-ग्रंथके आधारपर आ० अकलंकदेव द्वारा लिखित "तत्त्वार्थ वार्तिक" के सम्पादन-कार्यकी समीक्षा प्रस्तुत है—

इस तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थके सम्पादक एवं हिन्दीसार करनेवाले पं० महेन्द्रकुमारजी हैं। वस्तुतः अकलंकदेवके तार्किक, जटिल-साहित्यका यदि पं० महेन्द्रकुमारजी उद्धार नहीं करते तो शायद पं० जीकी प्रतिभा रूपमें इस अनुपम लाभसे हम सभी वंचित रह जाते। यद्यपि आपने अकलंकके अतिरिक्त आचार्य प्रभाचन्द तथा आचार्य हरिभद्र आदि और भी आचार्य ग्रन्थोंका भी सम्पादन किया है। जैसा कि पं० महेन्द्रकुमारजीके बहुमूल्य कृतित्वसे स्पष्ट है कि उन्होंने अनेक मूल ग्रन्थोंका सम्पादन किया है, किन्तु आ० उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रपर सातवीं शतीके महान् आचार्य अकलंकदेव द्वारा टीकारूपमें रचित "तत्त्वार्थवार्तिक" ( तत्त्वार्थ राजवार्तिक ) का पं० जीने मात्र सम्पादन ही नहीं किया, अपितु उसका हिन्दीसार लिखकर उस ग्रन्थका हार्द समझनेका मार्ग भी प्रशस्त किया।

तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ, काशीके अन्तर्गत मूर्तिदेवी जैनग्रन्थमालासे संस्कृत ग्रन्थांक १० एवं २०के क्रममें दो भागोंमें क्रमशः सन् १९५३ एवं १९५७में प्रकाशित हुए थे। द्वितीय संस्करण १९८२में प्रकाशित हुआ है। अभी कुछ वर्ष पूर्व सन् १९८७ में यह ग्रन्थ शब्दशः सम्पूर्ण अनुवाद सहित दो भागोंमें दुलीचन्द्र वाकलीवाल युनिवर्सल, एजेन्सीज, देरगाँव ( आसाम ) से प्रकाशित हुआ है। इसकी हिन्दी अनुवादिका हैं सुप्रसिद्ध विदुषी गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी। पूज्य माताजीने यह अनुवाद पं० महेन्द्रकुमारजी द्वारा सम्पादित इस ग्रंथके आधारपर किया। यद्यपि तत्त्वार्थवार्तिक पर पं० सदासुखदासजीके शिष्य पं० पन्नालालजी संघी, दूनीवालोंने वि० सं० १९२० के आसपास भाषा-वचनिका भी लिखी थी। सन् १९१५ में पं० गजाधरलालजीके सम्पादकत्वमें सनातन जैन ग्रन्थमाला, बनारससे तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थ मूलमात्र प्रकाशित हुआ था। उसके बाद पं० गजाधर लालजीके ही हिन्दी अनुवादको पं० मक्खनलाल जी न्यायालंकारके संशोधन एवं परिवर्धनके साथ भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्तासे हरीभाई देवकरण ग्रन्थमालाके क्रमांक ८वें पुष्पके रूपमें सन् १९२९ ई० में यह प्रकाशित हुआ। किन्तु इस ग्रन्थकी यह बहुत ही विशालकाय विस्तृत व्याख्या होने तथा वार्तिकके साथ टीका नहीं होनेसे स्वाध्यायियोंको कठिनाईका सामना करना पड़ता था। अतः पं० जी द्वारा संपादित यह ग्रन्थ हिन्दीसार सहित आ जानेसे समस्त पाठकोंको इसे समझनेमें सुविधा हुई। इस श्रमसाध्य उद्देश्यकी पूर्ति करते हुए, जिस ज्ञानसाधनाका कार्य पं० जीने किया है, वैसा शायद ही किसी दूसरेसे संभव होता ? पं० जीने ऐसे प्रामाणिक बनानेके लिए जयपुर,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्यावर, दिल्ली, वाराणसी, आरा, पूना, मूडबिद्री, श्रवणबेलगोल आदि शास्त्रभंडारोंकी हस्तलिखित और उपलब्ध मुद्रित प्रतियोंके आधारपर इसका सम्पादन किया है। जो विद्वान् इस प्रकारके दुर्लभ ग्रन्थोंका सम्पादन-कार्य स्वयं करते हैं, वे ही इतनी अधिक प्रतियोंके आधारपर मिलान करके सम्पादन-कार्यकी श्रमसाधना और कठिनाइयोंको समझ सकते हैं। अन्यथा ऐसे दृढ़ संकल्प, अटूट श्रद्धा एवं दृढ़ इच्छाशक्तिके इस महान् कार्यका वैसा मूल्यांकन सभीके वशकी बात नहीं होती।

पं० जीके सम्पादनकी यही विशेषता है कि ग्रन्थके उत्तम सम्पादन-कार्य हेतु उस ग्रन्थकी अनेक प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपिकी मूलप्रतियों, पूर्व प्रकाशित ग्रन्थोंका तथा उस ग्रन्थमें प्रतिपाद्य विषयके तुलनात्मक अध्ययन हेतु जैनेतर विभिन्न ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंका वे भरपूर उपयोग कर लेते हैं, ताकि सम्पादन-कार्यमें कुछ कमी न रहे। इसलिए वे विस्तृत प्रस्तावनाके साथ ही अनेक परिशिष्टोंसे भी उसे सुसज्जित करते हैं जिसमें प्रमुख हैं—ग्रन्थगत सूत्रपाठ, उद्धरण, ग्रन्थमें आये ग्रन्थकार, ग्रन्थोंके नामोंकी सूची, शब्दानुक्रमणिका, भौगोलिक शब्द सूची, पारिभाषिक शब्दावली तथा सम्पादनमें सहायक ग्रंथोंका विवरण आदि।

प्रस्तुत तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थके सम्पादन-कार्यको भी पं०जीने इन्हीं विशेषताओंसे सुसज्जित किया है। इसमें मात्र प्रस्तावनाकी कमी काफी महसूस होती है। किसी कारणवश पं० जीने इसकी प्रस्तावना इसमें नहीं दी। अन्यथा इस ग्रन्थके सम्पादन-कार्यके अनुभव, आचार्य अकलंक और उनके इस ग्रन्थकी विविध विशेषताओंको सम्पन्न करनेमें ग्रन्थ, विषय, शैली, रचयिताको लेन व देन एवं उनका व्यक्तिगत परिचय, रचनाकाल आदि इतिहास उन्हें क्या कैसा प्रतीत हुआ ? इन सभी बातोंका उन्होंके द्वारा लिखित विवरण ग्रन्थकी प्रस्तावनाके रूपमें पाठकोंके सामने आता तो उसका विशेष महत्त्व होता।

फिर भी पं० जी द्वारा प्रस्तुत इस ग्रन्थके अच्छे सम्पादन हेतु पूर्व प्रकाशित संस्करणोंके अतिरिक्त कुछ अन्य प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंके पाठसंकलन, संशोधन, तुलनात्मक टिप्पण, हिन्दीसार सूत्र-पाठ, समस्त दिगम्बर-श्वेताम्बर टीकाकारोंके पाठभेदों सहित सूत्रोंकी व तद्गत शब्दोंकी वर्णानुक्रमणियाँ, अवतरण-सूची, भौगोलिक शब्द सूची तथा वार्तिकके विशिष्ट शब्दोंकी सूची—ये इस संस्करणकी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

तत्त्वार्थवार्तिकके अध्येता यह अच्छी तरह जानते हैं कि इस ग्रन्थका मूल आधार आचार्य पूज्यपाद विरचित सर्वार्थसिद्धि है। सर्वार्थसिद्धिकी वाक्य रचना, सूत्र आदि बड़े ही संतुलित और परिमित हैं। इसीलिए अपने पूर्ववर्ती और आगमानुकूल विषयका प्रतिपादन करनेवाले आचार्यके प्रायः सभी प्रमुख वाक्यों-को आचार्य अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें वार्तिकके रूपमें समायोजित करके उनका विवेचन प्रस्तुत किया। प्रसंगानुसार नये-नये वार्तिकोंकी रचना भी की। इस प्रकार हम यही कह सकते हैं कि जिस प्रकार वृक्षमें बीज समाविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थवार्तिकमें समाविष्ट होते हुए भी दोनों ग्रन्थोंका अपना-अपना स्वतंत्र और मौलिक ग्रन्थके समान महत्त्व है। तत्त्वार्थवार्तिककी यह भी विशेषता है कि वार्तिकों ग्रन्थोंके नियमानुसार यह अध्याय आह्निक और वार्तिकोंसे युक्त है।

इस ग्रन्थके प्रथम खण्डके द्वितीय संस्करणमें सम्पादकीय प्रस्तावनाके अभावमें सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचंदजी शास्त्रीने अपनी प्रधानसम्पादकीय वक्तव्यमें लिखा है—"जहाँ भी दार्शनिक चर्चाका प्रसंग आया है वहाँ अकलंकदेवकी तार्किक सरणिके दर्शन होते हैं। इस तरह यह सैद्धान्तिक ग्रन्थ दर्शनशास्त्रका एक अपूर्व ग्रन्थ बन गया है। जैन सिद्धान्तोंके जिज्ञासु इस एक ही ग्रन्थके स्वाध्यायसे अनेक शास्त्रोंका रहस्य हृदयंगम कर सकते हैं। उन्हें इसमें ऐसी भी अनेक चर्चायें मिलेंगी जो अन्यत्र नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस ग्रन्थमें जगह-जगह आचार्य अकलंकदेवने विविध दर्शनोंके प्राचीन ग्रन्थोंके वाक्य उद्धृत किये हैं। पं० जीने उन सबकी अलग पहचान हेतु उतने अंशोंको इन्वरटेड कामा ( " " ) में रख दिया है तथा जितने उद्धरणोंके मूलग्रन्थोंकी जानकारी हुई, कोष्टकमें उनके नाम और सन्दर्भ आदि संख्यायें दे दीं, जितने अज्ञात रहे, उनके कोष्टक खाली छोड़ दिये गये, ताकि विद्वानोंको ज्ञात होनेपर वे वहाँ लिख सकें।

जिस तरह आ० अकलंकदेवकी शैली गूढ़ और शब्दार्थ गर्भित है, वे प्रतिपाद्य विषयको गंभीर और अर्थपूर्ण वाक्योंमें सहज विवेचन करते चलते हैं। इतना ही नहीं, उस विषयको पूरी तरहसे समझानेके लिए सम्भाव्य प्रश्नोंको पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्तुत करके उत्तरपक्षके रूपमें उनका समाधान करते हुए चलते हैं, उसी प्रकार पं० महेन्द्रकुमारजीकी भी हिन्दीसारकी शैली भी अर्थगंभीर है। यद्यपि इस ग्रन्थके हिन्दीसारको मूलग्रन्थके अंतमें इकट्ठा प्रस्तुत किया है। किन्तु मूलग्रन्थकारका ऐसा कोई मुख्य विषय या स्थलका हार्द अवशिष्ट नहीं है, जिसे पं० जी ने स्पष्ट रूपमें प्रस्तुत न किया हो। सम्बद्ध कुछ-कुछ वार्तिकों और उसमें प्रस्तुत सुसम्बद्ध विषयको सम्पादकने एक साथ हिन्दीसारके रूपमें किया है। उदाहरणस्वरूप ग्रन्थके आरम्भमें मंगलाचरणका अर्थ करनेके बाद पं० जीने प्रथम अध्यायके आरम्भिक प्रथम एवं द्वितीय वार्तिकमें प्रतिपाद्य विषयको सार रूपमें एक साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"उपयोगस्वरूप तथा श्रेयोमार्गकी प्राप्तिके पात्रभूत आत्मद्रव्यको ही मोक्षमार्गके जाननेकी इच्छा होती है। जैसे आरोग्यलाभ करनेवाले चिकित्साके योग्य रोगीके रहनेपर ही चिकित्सामार्गकी खोज की जाती है, उसी प्रकार आत्मद्रव्यकी प्रसिद्धि होनेपर मोक्षमार्गके अन्वेषणका औचित्य सिद्ध होता है।"

इसके बाद मात्र तीसरे वार्तिकका अर्थ बतलाते हुए लिखा कि—"संसारी आत्माके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंमें मोक्ष ही अन्तिम और प्रधानभूत पुरुषार्थ है। अतः उसकी प्राप्तिके लिए मोक्ष मार्गका उपदेश करना ही चाहिए।" इस वार्तिकके हिन्दीसारके बाद चौथेसे लेकर आठवें वार्तिक तकके विषयको एक साथ प्रश्न ( पूर्वपक्ष ) और उसके समाधान ( उत्तरपक्ष ) के रूपमें अर्थ लिखा। प्रथम अध्यायके प्रथमसूत्रके ३९ से ४६ तकके ७ वार्तिकोंका अर्थ एक साथ ही नहीं अपितु उस सम्पूर्ण विषयको सुसम्बद्ध करते हुए "मिथ्याज्ञानसे बंध और सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष" माननेवाले सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक, बौद्ध आदि जैनेतर दर्शनोंकी एतद् विषयक मान्यताओंका अलग-अलग किन्तु सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हुए रत्नत्रयको मोक्षमार्ग प्रतिपादित करते हुए जैनधर्म सम्बन्धी मान्यताओंका औचित्य सिद्ध किया है। इसी प्रकारकी शैलीमें पं० जीने सम्पूर्ण ग्रन्थका हिन्दीसार प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत हिन्दीसारके इन अंशोंको उदाहरणके रूपमें यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयोजन पं० जीकी शैली बताना है। आपने मूलग्रन्थकारके सभी अंश और भावोंको किस तरह अपनी सधी हुए भाषा, चुने हुए शब्दों और प्रभावक शैलीमें प्रस्तुत किया है कि देखते ही बनता है। वस्तुतः किसी भी दार्शनिक या तात्त्विक ग्रन्थका किसी भी भाषामें ग्रन्थकारके सम्पूर्ण भावोंको अनुवादके माध्यमसे प्रस्तुत करना जितना कठिन होता है, उसका सारांश प्रस्तुत करना उससे भी अधिक कठिन एवं चुनौतीपूर्ण कार्य होता है। फिर भी पं० जीका हिन्दीसार रूप अनुवाद तथा इस ग्रन्थका श्रेष्ठ सम्पादन रूप यह साहसपूर्ण कार्य उनकी विलक्षण प्रतिभाका परिचायक है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अकलङ्कग्रन्थत्रय : एक अनुचिन्तन

• डॉ० कमलेशकुमार जैन, वाराणसी

डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित विविध प्राचीन ग्रन्थोंकी शृङ्खलामें आचार्य भट्टाकलङ्कदेव द्वारा रचित लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह—इन तीन ग्रन्थोंको संकलित कर 'अकलङ्कग्रन्थत्रयम्' के नामसे सम्पादित किया गया है, जो सिंघी जैन ज्ञानपीठ कलकत्ता द्वारा सिंघी जैन ग्रन्थमालाके बारहवें पुष्पके रूपमें सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ है। आजसे लगभग छप्पन वर्ष पूर्व प्रकाशित विस्तृत प्रस्तावना, विविध टिप्पणियों, पाठ भेदों एवं अनेक परिशिष्टोंसे अलंकृत प्रस्तुत ग्रन्थ आज भी उतना ही प्रामाणिक, उपयोगी एवं कार्यकारी है, जितना इतः पूर्व रहा है।

उक्त ग्रन्थत्रयके कर्त्ता भट्टाकलङ्कदेव जैनदर्शनके एक महान् ज्योतिर्धर आचार्य थे। यदि वे स्वामी समन्तभद्रके उपज्ञ सिद्धान्तोंके उपस्थापक, समर्थक, विवेचक और प्रसारक थे तो सम्प्रति ईसाकी इस बीसवीं शताब्दीमें डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य स्वामी समन्तभद्र और भट्टाकलङ्कदेव इन दोनों आचार्योंके द्वारा रचित ग्रन्थोंके उद्धारकर्त्ता तथा हिन्दी भाषामें तुलनात्मक अध्ययनके माध्यमसे दार्शनिक जगत्के समक्ष उक्त दोनोंके सिद्धान्तों/विचारोंके प्रस्तोता हैं।

डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने 'अकलङ्कग्रन्थत्रयम्' पर लिखी गई अपनी हिन्दी प्रस्तावनाको सर्वप्रथम दो भागोंमें विभाजित किया है—ग्रन्थकार और ग्रन्थ। ग्रन्थकार अकलङ्कदेवकी जन्मभूमि एवं पितृकुल पर विचार किया है। साथ ही उनके स्थिति काल पर भी विचार किया है। उनके द्वारा काल निर्णयकी पद्धति बहुत ही युक्तियुक्त किंवा तर्कसंगत है। अतः भट्टाकलङ्कदेवका समय सन् ७२० के पहले नहीं माना जा सकता है। इस क्रममें उन्होंने भट्टाकलङ्कदेवके ग्रन्थोंकी तुलना अनेक वैदिक दार्शनिकोंके साथ की है। यही पद्धति उन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड और सिद्धिविनिश्चय आदि ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाओंमें भी अपनाई है।

प्रस्तुत 'अकलङ्कग्रन्थत्रयम्' में भट्टाकलङ्कदेवकी तीन मौलिक कृतियों—लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय और प्रमाणसंग्रहका वैज्ञानिक पद्धतिसे सम्पादन होकर प्रथम बार प्रकाशन हुआ है। हाँ, इतः पूर्व लघीयस्त्रय की मात्र मूलकारिओंके साथ अभयचन्द्र कृत वृत्ति अवश्य प्रकाशित हुई है। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थत्रयमें लघीयस्त्रयकी मूलकारिकाएँ तो हैं ही, साथ ही उनपर स्वोपज्ञ विवृति भी प्रकाशित है। लघीयस्त्रय पर आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा लिखी गई अठारह हजार श्लोक प्रमाण न्यायकुमुदचन्द्र टीकासे उत्थान वाक्य चुनकर दिये हैं। इसी प्रकार न्यायविनिश्चय में वादिराजसूरि विरचित बीस हजार श्लोक प्रमाण न्यायविनिश्चय विवरणसे लिये हैं। प्रमाणसंग्रहकी प्राचीन टीका उपलब्ध न होनेसे उसे ज्योंका त्यों मुद्रित किया है। हाँ; कहीं-कहीं आद्य भागसे कारिकांशको छाँटकर ब्रेकेटमें दे दिया गया है। किसी भी टीका या भाष्यसे मूल कारिकाको निकाल लेना बहुत बड़े परिश्रम एवं साहसकी बात है, जिसे डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने सम्पन्न किया है। यह उनकी स्फूर्त प्रतिभाका एक उत्कृष्ट पक्ष है।

डॉ सा० ने लघीयस्त्रयको अकलङ्ककर्तृक सिद्ध करने हेतु जिस पद्धतिका प्रयोग किया है, वह अति महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थके आन्तरिक साक्ष्योंको तो उन्होंने ग्रहण किया ही है, साथ ही अन्य परवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा उद्धृत लघीयस्त्रयकी कारिकाओंके उद्धरणोंको अकलङ्कदेवके नामोल्लेख पूर्वक जहाँ-जहाँ ग्रहण किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है, उन उद्धरणोंको भी विभिन्न ग्रन्थोंसे संकलित कर अपने कथनकी पुष्टि की है। इसी प्रकार अन्तर्बाह्य साक्ष्योंके द्वारा न्यायविनिश्चय और प्रमाणसंग्रहके अकलङ्ककर्तृक होनेकी पुष्टि एवं समर्थन किया है, जिससे डॉ० सा० के अल्पायुमें ही विविध सम्प्रदायोंके शास्त्रोंके पारायण करनेकी जानकारी मिलती है। वे जिस ग्रन्थका अध्ययन करते थे उसमें उनकी शोध-खोज दृष्टि सतत् बनी रहती थी। वे ग्रन्थका मात्र वाचन ही नहीं करते थे, अपितु सम्पूर्ण ग्रन्थकी शल्यक्रिया करके उसे पूर्णतः आत्मसात् कर लेते थे।

पण्डितजीने पहले ग्रन्थत्रयका संक्षेपमें सामान्य परिचय दिया है। तत्पश्चात् उनके विषय पर एक साथ विचार किया है। इससे आचार्य अकलङ्कदेवके एतद्विषयक विवेचनका समवेत रूपमें हम सभीको ज्ञान हो जाता है।

इस ग्रन्थकी सम्पादन कलाका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय है इस ग्रन्थकी प्रस्तावनाके अन्तर्गत सुप्रसिद्ध प्राचीन जैनेतर प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थकारोंके ग्रन्थों और विषयोंसे आचार्य अकलंकके ग्रन्थोंका तुलनात्मक अध्ययन। यहाँ मुख्यतः भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रभाकरगुप्त, कर्णकगोमि, धर्मकीर्तिके यशस्वी टीकाकार धर्मोत्तर, शान्तरक्षित आदि अनेक ग्रन्थकारोंसे आचार्य अकलंकदेवका तुलनात्मक, समीक्षात्मक और विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जो परस्पर आदान-प्रदान, योगदान एवं प्रभाव आदि दृष्टियोंसे अध्ययन हेतु अति महत्त्वपूर्ण है।

ग्रन्थत्रयके नामका इतिहास तथा उनका परिचय प्रस्तुत करते हुए पं० जीने प्रथम ग्रन्थके परिचयमें स्वयं लिखा है कि "लघीयस्त्रय नामसे मालूम होता है कि यह छोटे-छोटे तीन प्रकरणोंका एक संग्रह है। ग्रन्थ बनाते समय अकलंकदेवको 'लघीयस्त्रय' नामकी कल्पना नहीं थी। उनके मनमें तो दिङ्नागके न्यायप्रवेश जैसा एक जैनन्यायप्रवेश बनानेकी बात घूम रही थी। लघीयस्त्रयके परिच्छेदोंका प्रवेशरूपसे विभाजन तो न्यायप्रवेशको आधार माननेकी कल्पनाका स्पष्ट समर्थन करता है।....मुझे ऐसा लगता कि यह सूझ अनन्तवीर्य आचार्य की है, क्योंकि लघीयस्त्रय नामका सबसे पुराना उल्लेख सिद्धिविनिश्चयटीकामें मिलता है। लघीयस्त्रयके इसी संस्करणके आधार पर इसका हिन्दी अनुवाद सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचंदजी द्वारा कुछ वर्ष पूर्व किया गया, जो श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान नरिया, वाराणसी से शीघ्र प्रकाशित हो रहा है।

द्वितीय ग्रन्थ "न्यायविनिश्चय" है। इसका नाम धर्मकीर्तिके गद्यपद्यमय "प्रमाणविनिश्चय" का अनुकरण लगता है। न्यायविनिश्चयमें प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन-नामके तीन प्रस्ताव हैं। अतः संभव है कि अकलंकके लिए विषयकी पसंदगीमें तथा प्रस्तावके विभाजनमें आ० सिद्धसेन कृत न्यायावतार प्रेरक हो और इसीलिए उन्होंने न्यावतारके 'न्याय' के साथ 'प्रमाणविनिश्चय' के 'विनिश्चय' का मेल बैठाकर न्यायविनिश्चय नाम रखा हो।

लघीयस्त्रयमें तृतीय ग्रन्थ 'प्रमाणसंग्रह' है। इसकी भाषा विशेषकर विषय तो अत्यन्त जटिल तथा कठिनतासे समझने लायक प्रमेय-बहुल ग्रन्थ है। इसकी प्रौढ़ शैलीसे ज्ञात होता है कि यह इनकी अन्तिम कृति है, जिसमें इन्होंने अपने यावत् अवशिष्ट विचारोंके लिखनेका प्रयास किया है, इसीलिए प्रमाणों—युक्तियोंका संग्रह-रूप यह ग्रन्थ इतना गहन हो गया है। पं० सुखलालजी संघवीके अनुसार इस ग्रन्थका नाम दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चय तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहका स्मरण दिलाता है। किन्तु पं० महेन्द्रकुमारजीके अनुसार तत्त्वसंग्रहके पहिले भी प्रशस्तपाद भाष्यका "पदार्थसंग्रह" नाम प्रचलित रहा है। संभव है कि संग्रहान्त नाम पर इसका भी कुछ प्रभाव हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह लघीयस्त्रयमें संग्रहीत तीनों ग्रन्थ अपने नाम को सार्थक करते हैं। जिनका प्रस्तुत प्रामाणिक सम्पादन कार्य पं० जीने वैज्ञानिक विधिसे किया है। वस्तुतः आ० अकलंकदेवके ग्रन्थोंका इस रूपमें सम्पादन करना कोई साधारण कार्य नहीं है। इसके लिए पं० जीको जैन एवं जैनेतर अनेक प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका गहन अध्ययन, मनन और तुलनात्मक विवेचन करना पड़ा। आ० अकलंकदेवके साहित्य और उसमें प्रतिपाद्य विषयोंके तलस्पर्शी ज्ञानके बिना ऐसा सफल सम्पादन असम्भव कार्य था किन्तु उनके इस कार्यमें सफलतासे यही सिद्ध होता है कि पं० महेन्द्रकुमारजी भी उस महान् विरासतके सच्चे प्रहरी थे। क्योंकि आचार्य अकलंकदेव जब आगमिक विषय पर कलम उठाते हैं तब उनके लेखनकी सरलता, विशदता एवं प्रसाद गुणका प्रवाह पाठकको पढ़ने ऊबने नहीं देता। राजवार्तिककी प्रसन्न रचना इसका अप्रतिम उदाहरण है। परन्तु जब वही अकलंक तार्किक विषयों पर लिखते हैं तब वे उतने ही दुरूह बन जाते हैं। यहाँ इनके प्रमाण विवेचनका विषय प्रस्तुत है—

प्रमाणके भेदोंके प्रसङ्गमें आचार्य अकलङ्कदेवके दृष्टिकोणको स्पष्ट करते हुये डॉ० सा० ने उसके भेदोंको जिस पद्धतिसे प्रस्तुत किया है उसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है। उन्होंने अपनी प्रस्तावना (पृ० ४८) में लिखा है कि "प्रत्यक्षके दो भेद हैं—१. सांव्यवहारिक, २. मुख्य। सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके दो भेद—१. इन्द्रिय प्रत्यक्ष, २. अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणादि ज्ञान। अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष—शब्द योजनासे पहले अवस्था वाले स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान।" इसीको स्पष्ट करते हुये पण्डितजी लिखते हैं—हाँ! इसमें स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधको शब्द योजनाके पहले अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है उसे किसी भी अन्य आचार्यने स्वीकार नहीं किया। उन्हें सर्वांशमें अर्थात् शब्द योजनाके पूर्व और पश्चात्—दोनों अवस्थाओंमें परोक्ष ही कहा है। यही कारण है कि आचार्य प्रभाचन्द्रने लघीयस्त्रयकी 'ज्ञानमाद्यं' कारिकाका यह अर्थ किया है कि—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान शब्द योजनाके पहले और शब्द योजनाके बाद—दोनों अवस्थाओंमें श्रुत हैं अर्थात् परोक्ष हैं।"

आगे मुख्य प्रत्यक्षका स्वरूप लिखा है कि—"इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके बिना, अतीन्द्रिय, व्यवसायात्मक, विशद, सत्य, अव्यवहित, अलौकिक, अशेष पदार्थोंको विषय करने वाले अक्रम ज्ञानको मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।"

डॉ० सा० ने सर्वज्ञता पर विस्तारसे विचार किया है। सर्वप्रथम उन्होंने कुमारिलके मतकी समीक्षा की है।

इस समीक्षासे पं० जीके जैन-बौद्धदर्शनके अतिरिक्त वैदिक दर्शनके मूलभूत ग्रन्थोंके अध्ययन एवं उनकी समालोचनात्मक दृष्टि परिलक्षित होती है।

पं० जीने 'अकलङ्कग्रन्थत्रयम्' की प्रस्तावनाके मध्यमें पूर्वपक्षियों द्वारा उठाये गये अनेक प्रश्नोंका समाधान ऐसा तर्क एवं आग-सम्मत प्रस्तुत किया है कि सामान्य व्यक्ति भी उसे पढ़कर उसके हार्दको समझ सकेगा।

आगे न्यायाचार्यजीने ( प्रस्तावना पृ० सं० ९४ में ) नयों और नयाभासोंका स्पष्ट एवं तुलनात्मक विवेचन किया है। नयोंके सन्दर्भमें आचार्य सिद्धसेनके कथनको युक्तिसंगत बनाते हुये वे लिखते हैं कि—चूँकि नैगम नय संकल्प मात्रग्राही है तथा संकल्प या तो अर्थके अभेद अंशको विषय करता है या भेद अंशको। इसीलिये अभेद संकल्पी नैगमका संग्रहनयमें तथा भेद संकल्पी नैगमका व्यवहार नयमें अन्तर्भाव करके आचार्य सिद्धसेनने नैगम नयको स्वतन्त्र नय नहीं माना है। इनके मतसे संग्रहादि छह ही नय हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्वान् सम्पादकने यहाँ इतनी अच्छी तुलनात्मक नय व्यवस्था प्रस्तुत की है कि उनके इस संक्षिप्त विवेचनमें ही नयवादकी पूर्ण और स्पष्ट मीमांसा हो जाती है और आचार्य सिद्धसेन एवं आचार्य अकलङ्कके मन्तव्योंका भी स्पष्टीकरण हो जाता है।

सात भंगोंकी क्रय व्यवस्थामें ( प्रस्तावना पृ० सं० १०१ ) न्यायाचार्यजीका मत है कि—अवक्तव्य मूल भङ्ग है, अतः सप्तभङ्गोंके उल्लेख क्रममें अवक्तव्यका क्रम तीसरा होना चाहिये।

अपने इस मन्तव्यके कारण आचार्य मलयगिरिने आचार्य अकलङ्कके मन्तव्यकी आलोचना की है, किन्तु श्वेताम्बर विद्वान् उपाध्याय यशोविजयने समन्तभद्र और सिद्धसेन आदिके मतका समर्थन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यने काफी मनन और चिन्तन करके इस प्रस्तावनाको लिखा है। जिसमें न केवल जैनदर्शन, अपितु जैनेतर दर्शनोंके मूल सिद्धान्तोंको प्रस्तुत कर उनका समाधान जैनदर्शनके परिप्रेक्ष्यमें खोजनेका सार्थक प्रयास किया है।

इस विस्तृत प्रस्तावनामें उल्लिखित विषय वस्तु तथा तर्क एवं आगम-सम्मत समाधान प्रस्तुत करनेसे डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यकी शोध-खोज एवं समालोचनात्मक दृष्टि एवं उनका अतुलनीय वैदुष्य मुखर हुआ है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# विविध तीर्थकल्प : एक समीक्षात्मक अध्ययन

• डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर

विविधतीर्थकल्प डॉ० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य द्वारा संस्कृतसे हिन्दी गद्यमें अनूदित एक ऐसी कृति है जिसका सबसे कम अध्ययन हुआ है। जिसकी चर्चा नहीं के बराबर हो सकी है। इसका कारण डॉ० साहबके न्याय शास्त्रके बड़े-बड़े ग्रन्थोंका संपादन, भूमिका लेखनकी विशालतामें दब जाना है या ओझल हो जाता है। संस्कृतसे हिन्दीमें अनुवादित उनकी यह एक मात्र कृति है।

विविधतीर्थकल्पकी रचना श्वेताम्बर जैनाचार्य श्री जिनप्रभसूरिने संवत् १३८५ ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमीके दिन की थी। १४वीं शताब्दीका वह समय मुसलिम आक्रमणकारियों द्वारा मन्दिरोंको नष्ट करनेका था। इसके प्रथम कल्पमें लिखा है कि जावडि शाह द्वारा स्थापित भगवान् आदिनाथका सुन्दर प्रतिबिम्ब संवत् १३६९ में मलेच्छों द्वारा नष्ट किये जानेके २ वर्ष पश्चात् अर्थात् संवत् १३७१ में श्रेष्ठी समरशाहने उस भग्न मूलनायक प्रतिमाका पुनरुद्धार करवाया और अभूतपूर्व धर्मलाभ लिया।

श्री जिनप्रभसूरिने अपने विविधतीर्थकल्पके शत्रुंजयकल्पमें लिखा है कि स्वनामधन्य मंत्री वस्तुपालने विचारा कि कलिकालमें मलेच्छ लोग इस तीर्थका विनाश कर देंगे इसने उसने भगवान् आदिनाथ एवं भगवान् पुण्डरीककी भव्य मूर्तियाँ बनवाकर तलघरमें चुपचाप विराजमान कर दीं। उनको जो आशंका थी वही हुआ और भगवान् आदिनाथकी प्रतिमाको मलेच्छोंने नष्ट कर दिया।

विविधतीर्थकल्प एक ऐतिहासिक दस्तावेज है जिनका श्री जिनप्रभसूरिने अपने कल्पमें उल्लेख किया है। इसी कल्प कृतिका डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी ने हिन्दी गद्यमें अनुवाद करके हिन्दी भाषा-भाषी पाठकोंके लिए एक ऐतिहासिक रचनाको सुलभ बना दिया है। लेकिन हमारे पास जो पाण्डुलिपि है उसमें पं० महेन्द्रकुमारजी के नामका कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। और इस कृतिका कब उन्होंने हिन्दी गद्यानुवाद किया इस सम्बन्धमें भी कृति मौन है।

फिर भी यह 'विविधतीर्थकल्प' कृतिको हिन्दी गद्यमें उन्होंने अनूदित की है इसमें कोई सन्देह नहीं है। अब हम यहाँ इसके प्रत्येक कल्पका परिचय उपस्थित कर रहे हैं जिससे पाठकोंको इसकी विषय वस्तुसे परिचय मिल सके। श्री जिनप्रभसूरि श्वेताम्बर संत थे इसलिये उन्होंने तीर्थोंका इतिहास भी उन्होंने इसी दृष्टिसे किया है इसके अतिरिक्त संवत् १३८५ में देशमें कौन-कौनसे जैनतीर्थ थे इसका भी प्रस्तुत कृतिसे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

## १–प्रथम कल्प शत्रुंजय कल्प

यह इस कृतिका प्रथम कल्प है। शत्रुंजय तीर्थ श्वेताम्बर समाजका महान् तीर्थ है। जैसे दिगम्बर समाजमें सम्मेदशिखरजी का माहात्म्य है उसी तरह श्वेताम्बर जैन समाजमें शत्रुंजय तीर्थका महत्व है। शत्रुंजय पर्वतसे महातपस्वी पुंडरीकने पाँच करोड़ मुनियोंके साथ मोक्ष प्राप्त किया था इसलिये इसे पुंडरीक तीर्थ भी कहते हैं। इस गिरिराज से अबतक अनगिनत तीर्थंकर एवं साधुमें मोक्ष पद प्राप्त किये, वर्तमानके सभी चौबीस तीर्थंकर इस पर्वत पर पधारे थे और वहीं उनका समवशरण रचा गया था। प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराजने यहाँ एक योजन लम्बा चौड़ा चैत्यालय बनाया था। जिनमें आदिनाथ स्वामीकी मूल नायक प्रतिमा विराजमान की गयी थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस युगमें महाराजा सम्प्रति, विक्रमादित्य, सातवाहन, वाग्भट्ट, पादलिप्त, आम और दत्त इन्होंने इस पर्वतराजका समय-समयपर जीर्णोद्धार करवा कर उसका संरक्षण करते रहे। प्रसिद्ध तीर्थोद्धारक श्री जावडि साहने भी इस तीर्थराजका उद्धार करवा कर अजितनाथ स्वामीके मन्दिरमें एक तालाबका निर्माण कराया था। इस कल्पमें शत्रुंजय तीर्थका उद्धार कराने वाले महान् आत्माओंके नाम गिनाये हैं। जिनमें इतिहासका फुट भी है। श्री जिनप्रभसूरिने जब इस विविध तीर्थकल्पकी रचना आरम्भ की तो संघ पर राजाधिराज अत्यधिक प्रसन्न हुये इसलिये कल्पका नाम 'राजप्रासाद' भी दिया गया है। श्री जिनप्रभसूरिने इस प्रथम कल्पकी रचना संवत् १३८५ ज्येष्ठ मास शुक्ल पक्षकी सप्तमीको पूर्ण की थी। इस कल्पमें १३३ संस्कृत पद्योंका भाषानुवाद है।

२–रैवतकगिरि संक्षेप कल्प

रैवतकगिरि जिसका दूसरा गिरिनार है के माहात्म्यको बतलाने वाला है। इस कल्पका पूर्वमें पादलिप्त आचार्यने जिस प्रकार वर्णन किया था वज्रस्वामीके शिष्यने पालीतानाका वर्णन किया है उसी प्रकार जिनप्रभसूरिने रैवतकगिरिका वर्णन किया है। २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ ने छत्रशिलाके पास दीक्षा ली थी, सहस्राम्र वनमें केवलज्ञान प्राप्त किया, लक्षा रामवनमें मोक्षमार्गका उपदेश दिया तथा सबसे ऊँची अवलोकन नामक शिखरसे मोक्ष प्राप्त किया। स्वयं श्रीकृष्ण जीने भगवान्के तीनों कल्याणकोंमें भाग लिया था। रैवतकगिरि पर और कौनसे मन्दिर आदि हैं इन सबका प्रस्तुत कल्पोंमें वर्णन मिलता है।

३–श्री उज्जयन्त स्तव

इसका नाम उज्जयन्त कल्पके स्थान पर उज्जयन्त स्तव दिया है। रैवतक, उज्जयन्त आदि एक ही शिखरके नाम हैं। उज्जयन्त गिरनार पर्वतका नाम है जो गुजरात देश में स्थित है। इस पर्वतके किनारे पर बसे हुये खंगारगढ़में श्री ऋषभनाथ आदि अनेक तीर्थंकरोंके चैत्यालय हैं। काश्मीर देशके निवासी श्री रत्नशाहने कूष्मांडी देवीके आदेशसे भगवान् नेमिनाथकी सुन्दर पाषाण प्रतिमा स्थापित की थी। इस स्तवमें २४ पद्य हैं।

४–उज्जयन्त महातीर्थ कल्प

इस कल्पमें इसी गिरनार पर्वत और ४० पद्योंमें और विशद वर्णन किया गया है।

५–रैवतकगिरि कल्प

इस कल्पमें गिरिनार तीर्थका और विशेष वर्णन है। इतिहासकी दृष्टिसे यह अच्छा कल्प है। श्री जिनप्रभसूरिने इसमें कितने पद्य लिखे अथवा गद्यमें ही लिखा इसका कल्पके अध्ययनमें पता नहीं चलता है।

इस प्रकार रैवतक कल्प चार छोटे-छोटे कल्पोंमें पूर्ण होता है।

६–श्री पार्श्वनाथ कल्प

इस कल्पमें स्तम्भतक पार्श्वनाथ तीर्थके उद्भवका वर्णन किया गया है। इस कल्पमें ७४ पद्य हैं। भगवान् पार्श्वनाथकी इस प्रतिमाके दर्शनके कारण ही अभयदेवसूरिका रोग दूर हुआ था।

७–अहिछत्रा नगरी कल्प

इस कल्पमें अहिछत्र तीर्थका इतिहास दिया है जिसमें भगवान् पार्श्वनाथको कैवल्य होनेके पूर्व कमठ द्वारा उपसर्ग किया गया था। उसीका विस्तृत वर्णन है। उपसर्ग स्थल पर ही भगवान् पार्श्वनाथकी मूर्ति विराजमान कर दी गयी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८–अर्बुदाद्रि ( आबू पर्वत ) कल्प

प्रारम्भमें आबू पहाड़की विस्तृत कथा दी गयी है। संवत् १०८८में चैत्यालयका निर्माण करवा कर उसका नाम विमलवसति रखा गया। संवत् १२८८ में लूणिगवसतिका निर्माण किया गया जिसमें भगवान् पार्श्वनाथकी कसौटीके पत्थरकी प्रतिमा विराजमान की गयी। इन दोनों विमल वसति एवं लूणिगवसतिको म्लेच्छोंने नष्ट कर दिया था। उसके पश्चात् विमलवसतिका पुनरुद्धार विक्रम संवत् १२४३ में श्री महणसिंह-के पुत्र लल्लने किया। तथा चण्डसिंहके पुत्र पीथडने लूणिगवसतिका उद्धार किया। इस कल्पमें ५२ पद्य हैं।

९–मथुरापुरी कल्प

इस कल्पमें मथुरा नगरी, चौरासी मथुरा आदिका विस्तृत इतिहास दिया गया है।

१०–अश्वावबोध तीर्थ कल्प

इस कल्पमें अश्वावबोध तीर्थ एवं सकुलिकाविहार इन दोनों तीर्थोंका विस्तृत वर्णन है। इस कल्पके अनुसार भगवान् मुनिसुव्रतनाथके निर्वाणके ११८४४७० वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् चला तथा ११९४९७२के पश्चात् विक्रम राजा हुए।

११–वैचारगिरि कल्प

इस कल्पकी रचना संवत् १३६४ में की गयी थी, राजगृहीमें पहिले वैश्योंके छत्तीस हजार घर थे जिनमें आधे बौद्ध और आधे जैन थे।

१२–कौशाम्बी नगरी कल्प

इन नगरीमें भगवान् महावीरका चन्दनबालाके यहाँ पाँच कम छह माहके पश्चात् पारणा हुआ था। वह ज्येष्ठ सुदी दशमीका दिन था। कौशाम्बी आर्या मृगावतीका नगर था। इसी नगरीमें भगवान् पद्मप्रभुके गर्भ, जन्म, दीक्षा एवं ज्ञान ये चार कल्याणक हुए।

१३–अयोध्यानगरी कल्प

अयोध्या नगरी ऋषभदेव, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ एवं अनन्तनाथकी जन्म-भूमि है। भगवान् महावीरके नवें गणधर श्री अचलभातु एवं विमलवाहन आदि सात कुलकरोंकी जन्मभूमि रही थी। भगवान् पार्श्वनाथकी दिव्य प्रतिमाकी स्थापनाका इतिहास भी दिया हुआ है।

१४–अपापापुरी संक्षिप्त कल्प

इसका दूसरा नाम पावापुरी है जहाँसे भगवान् महावीरने निर्वाण पद प्राप्त किया था। यहीं महावीर स्वामीके कानोंसे कील निकाली गयी थी। इसी नगरीमें भगवान् महावीर जृम्भिका नगरीमें पधार कर सर्व प्रथम उपदेश दिया था।

१५–कलिकुण्ड कुक्कुटेश्वर कल्प

इसमें कविकुण्ड तीर्थके उद्भवकी कथा एवं कुक्कुटेश्वर कल्पकी उत्पत्तिकी कथा दी हुई है।

१६–हस्तिनापुर कल्प

तीर्थंकर शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एवं अरनाथ तीर्थंकरोंकी जन्मभूमि तथा इनके दीक्षाकल्याणक एवं ज्ञान कल्याणककी भूमि रहनेका सौभाग्य प्राप्त है। भगवान् ऋषभनाथका प्रथम आहार हुआ। यहाँ मल्लि-नाथ स्वामीका समवसरण आया था। विष्णुकुमार मुनि द्वारा सात सौ मुनियोंकी रक्षा आदि आश्चर्यजनक घटनाएँ हुईं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७–सत्पुर तीर्थ कल्प—सत्यपुर तीर्थकी विस्तृत कथा दी हुई है। कथा रोचक है।

१८–अष्टापद महातीर्थ कल्प

यह कल्प श्री धर्मघोषसूरि कृत है। अष्टापदका दूसरा नाम गिरिराज कैलाश है। आठ पर्वतोंसे वेष्टित होनेके कारण इसे अष्टापद कहते हैं। इस कल्पमें २४ पद्य हैं।

१९–मिथिला तीर्थ कल्प

मिथिलापुरी विदेह देशमें अवस्थित है। इस मिथिला नगरीमें मल्लिनाथ एवं नमिनाथ भगवान्के चार कल्याणक हुए थे। यहाँ बाणगंगा एवं गंडकी नदी बहती है। भगवान् महावीरने यहाँ एक चातुर्मास किया था। जनकसुता सीताका भी मिथिला नगरी जन्म-स्थान है। मिथिला नगरी अनेक राजा-महाराजाओं-की जन्मभूमि रही है।

२०–श्री रत्नवाहपुर कल्प—रत्नवाहपुर कौशल देशमें स्थित है। यह भगवान् धर्मनाथकी जन्मभूमि है। इस कल्पमें कुम्हारके लड़के और नागराजकी खेलनेकी कला है।

२१–अपापा बृहत्कल्प

दीपमालिकोत्सव सहित अपापाका कल्प है। इसमें अनेक अवान्तर कथाएँ हैं। इस कल्पका निर्माण संवत् १३८७ भाद्रपद कृष्ण द्वादशीके दिन किया गया था। यह बहुत बड़ा कल्प है।

२२–कन्यानयनीय महावीर प्रतिमा कल्प

इस कल्पमें कन्यानय नगरमें तेईस पर्व प्रमाण ऊँची महावीरकी प्रतिमा है इसे विक्रमपुर निवासी जिनपतिसूरीके चाचा साहु मानदेवने संवत् १२३३ आषाढ़ शुक्ला १० को आचार्य जिनपतिसूरि द्वारा प्रतिष्ठा-पित की थी।

२३–प्रतिष्ठानपुर कल्प—भगवान् महावीरके ९९३ वर्ष पश्चात् आर्य कालकाचार्यने इस नगरीमें पधार-कर भाद्रपद शुक्ला चतुर्थीके दिन वार्षिक प्रतिक्रमण करके पर्वकी प्रवृत्ति की थी।

२४–नन्दीश्वर द्वीप कल्प—नन्दीश्वर द्वीपका विस्तारसे वर्णन है।

२५–काम्पिल्यपुर तीर्थ कल्प

२६–अणहिलपुर ( पाटन ) कल्प—इसका दूसरा नाम अरिष्टनेमि कल्प भी है।

२७–शंखपुर पार्श्व कल्प

२८–नासिक्यपुर कल्प—पहिले यह नगर पद्मपुर नामसे विख्यात था फिर त्रेता युगमें सूर्पणखाकी लक्ष्मण द्वारा नाक काट लेनेके कारण वह नगर नासिक्यपुर नामसे प्रसिद्ध हुआ। आगे भी नगरमें कितनी ही घटनाएँ होती रहीं।

२९–हरिकंखो नगर स्थित पार्श्वनाथ कल्प।

३०–कर्पर्दियक्ष कल्प।

३१–शुद्धदन्ती स्थित पार्श्वनाथ कल्प।

३२–अवन्तिदेशस्थ श्री अभिनन्दन कल्प।

३३–प्रतिष्ठापुर कल्प।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४–प्रतिष्ठानपुरके महाराज सातवाहनका चरित्र—इस कल्पमें कितनी ही असंगत बातें हैं जो जैन-सिद्धान्तसे मेल नहीं खातीं।
३५–चम्पापुरी कल्प।
३६–पाटलीपुत्र कल्प।
३७–श्रावस्ती कल्प।
३८–वाराणसी नगरी कल्प।
३९–महावीर गणधर कल्प।
४०–कोकावसति पार्श्वनाथ कल्प।
४१–कोटिशिला तीर्थ कल्प।
४२–वस्तुपाल तेजपाल मन्त्रि कल्प।
४३–ढिपुरी तीर्थ कल्प—इसमें वंकचूलकी कथा दी हुई है।
४४–ढिपुरी स्तव।
४५–चौरासी महातीर्थ नाम संग्रह कल्प।
४६–समवसरण रचना कल्प।
४७–कुंडुगेश्वर नाभेयदेव कल्प।
४८–व्याघ्री कल्प।
४९–अष्टापदगिरि कल्प।
५०–हस्तिनापुर तीर्थ स्तवन।
५१–कन्यानय महावीर कल्प परिशेष।
५२–कुल्य पाकस्थ ऋषभदेव स्तुति।
५३–अमरकुण्ड पद्मावती देवी कल्प।
५४–चतुर्विंशति जिन कल्याणक कल्प।
५५–तीर्थंकरातिशय विचार।
५६–पञ्च कल्याणक स्तवन।
५७–कोल्लपाक माणिक्यदेव तीर्थ कल्प।
५८–श्रीपुर अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ कल्प।
५९–स्तम्भक कल्प–अवशिष्ट भाग।
६०–फलवर्द्धि पार्श्वनाथ कल्प।
६१–अम्बिका देवी कल्प।
६२–पंचपरमेष्ठी नमस्कार कल्प।

इस प्रकार विविधतीर्थकल्पमें ६२ कल्पोंकी कथाएँ दी हुई हैं। डॉ० महेन्द्रकुमारजीने कल्पका भाषानुवाद खड़ी बोलीमें किया है। भाषा साफ सुथरी है। पूरा कल्प एक ही कथा संग्रह बन गया है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# जैनदर्शन : एक मौलिक चिन्तन

• श्री निर्मल जैन, सतना

संसार और उसके चेतन-अचेतन समस्त द्रव्योंको जानने और समझनेकी जिज्ञासा, जिज्ञासु व्यक्तियों को हमेशासे रही है। दृष्टिगोचर एवं अनुभवगम्य पदार्थोंका अस्तित्व कबसे है, किस कारणसे है और कब तक रहेगा। इनके उत्पन्न होने, बने रहने और विनश जानेकी प्रक्रियाका रहस्य क्या है, कौन सी शक्ति इसके पीछे कार्य करती है। इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर पानेके लिए लोग विशिष्ट ज्ञानी-तपस्वी जनोंकी शरणमें जाते रहे हैं। अध्यात्म प्रधान हमारे भारत देशमें इन प्रश्नोंका उत्तर देने वालोंकी भी कमी नहीं रही, विभिन्न मत-मतान्तरोंके जनक या व्याख्याकारोंने अपनी-अपनी मान्यताओंके अनुसार प्रश्नोंको सुलझानेका प्रयास किया परन्तु पक्ष व्यामोहके कारण और दूसरी मान्यताओंको सर्वथा मिथ्या माननेके कारण वे सही स्थितिको न तो समझ सके और न जिज्ञासुओंको समझा सके।

अनन्त धर्मात्मक वस्तुओंकी तहमें वे जितने घुसे अपने सीमित और भ्रामक ज्ञानके कारण उतने ही उलझते चले गये। अपनी मान्यता बनाए रखनेके लिए कुछ न कुछ उत्तर देना भी उन्हें अभीष्ट था सो येन-केन-प्रकारेण उक्ति बिठाकर उत्तर देते रहे। एक दो दार्शनिकोंने कुछ प्रश्नोंको अनावश्यक बताकर टाला भी और कुछ ने अपनी अनभिज्ञता भी जाहिर की, पर जिज्ञासाएँ तो बनी ही रहीं।

जैनदर्शनमें विश्वव्यवस्था और उसके पदार्थोंका सूक्ष्म और वैज्ञानिक विश्लेषण अनादिकालसे होता आया है। भगवान् महावीरके निर्वाणके कुछ काल बाद केवलज्ञानियोंकी परम्परा समाप्त हुई परन्तु भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि और उसके बाद हुए केवली-श्रुतकेवली भगवंतों द्वारा प्रसारित ज्ञानका सहारा लेकर ईसाकी दूसरी शताब्दीसे १५वीं शताब्दी तक बहु श्रुतज्ञ जैनाचार्योंने अनेक ऐसे ग्रन्थोंकी रचना की जिसमें जैनदर्शन और न्यायको पूरी बारीकियोंके साथ प्रस्तुत किया गया है। तथा मिथ्या मान्यताओंका खण्डन भी युक्तिपूर्वक किया गया है। उक्त शास्त्र प्रायः प्राकृत भाषामें लिखे गए, उनकी टीकाएँ भी श्रुतज्ञ आचार्यों द्वारा हुईं पर संस्कृत में। कुछ शास्त्र मौलिक रूपसे संस्कृतमें लिखे गए।

इस बीच अन्य दार्शनिकोंने भी अपने मतकी पुष्टिके लिए ग्रन्थ लिखे। साथ ही भारतीय दार्शनिक क्षितिजपर कुछ ऐसे दर्शनों/दार्शनिकोंका भी उदय हुआ जिन्होंने अपने मतकी पुष्टिके लिए कुतर्कोंके द्वारा जैनदर्शनका खण्डन करना प्रारम्भ किया। जैसे स्याद्वादके मूल स्वर स्यात् शब्दका अर्थ संशयके रूपमें प्रतिपादित कर एक भ्रामक व्याख्या उपस्थित की गई।

बीसवीं सदीमें आते-आते भाषाकी दुरूहता जन साधारणके लिए आर्ष ग्रन्थोंके स्वाध्यायमें बाधक बनने लगी। शास्त्रोंकी हिन्दी टीकाएँ तो हुईं परन्तु दर्शन और न्याय विषयक ग्रन्थोंपर कार्य करने वाले विद्वान् विशेष नहीं हुए। कुछ इने-गिने विद्वानोंने ही इन विषयोंको अपने चिन्तनका विषय बनाया।

इस शताब्दीके चौथे दशकमें युवा विद्वान् पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने इन गम्भीर विषयोंका विशद अध्ययन किया, केवल जैनदर्शन ही नहीं, अन्य भारतीय दर्शनोंका भी गहन अध्ययन करके उन्होंने अपने विचारोंको शब्दोंका आकार देना प्रारम्भ किया। जैन ग्रन्थोंके प्रकाशनका स्तुत्य कार्य करनेवाली संस्था भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापनामें तथा विद्वत् परिषद जैसी संस्थाकी स्थापनामें भी पं० महेन्द्रकुमार जीका विशेष योगदान था। भारतीय ज्ञानपीठकी व्यवस्थामें सहयोगी बनकर उन्होंने 'न्यायकुमुदचन्द्र', 'न्याय-विनिश्चयविवरण', 'अकलंकग्रन्थत्रय', 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड', 'तत्वार्थवार्तिक', 'तत्वार्थवृत्ति', 'सिद्धिविनि-



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्चयटीका' आदि ग्रन्थोंका कुशलतापूर्वक सम्पादन किया तथा उनपर चिन्तन पूर्ण प्रस्तावनाएँ लिखकर उन्हें प्रकाशित भी कराया।

सन् १९११ में जन्म लेने वाले महेन्द्रकुमार जीने अपने तीव्र क्षयोपशम और पुरुषार्थके बलपर अल्पवयमें ही लौकिक एवं पारमार्थिक शिक्षा प्राप्त करके सन् १९३२ से ही काशीमें अध्यापन कार्य प्रारम्भ कर दिया था। अध्यापनके साथ ही आपका अध्ययन भी जारी रहा और उन्होंने एम. ए. शास्त्री, न्यायाचार्य आदि उपाधियाँ अर्जित कर लीं। पं० महेन्द्रकुमार जीका चिन्तन और सम्पादन आदिका कार्य कितना उच्चकोटिका था इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि 'सिद्धिविनिश्चय' टीका के कार्यका सही मूल्यांकन करके हिन्दू विश्वविद्यालय काशीने आपको पी. एच. डी. की उपाधिसे सम्मानित किया।

ग्रन्थोंकी प्रस्तावनामें डॉ० महेन्द्रकुमार जीने जहाँ एक ओर जैनदर्शनकी विशेषताओंको उजागर किया वहीं विभिन्न दार्शनिकों द्वारा किए जा रहे जैनदर्शनके खण्डनका भी तर्कपूर्ण उत्तर दिया। उन्होंने अपनी लेखनीको किसी लोभ लालच या भयसे प्रभावित नहीं होने दिया। संस्कृत महाविद्यालय काशीमें बौद्धदर्शनके प्राध्यापक होते हुए भी बौद्धदर्शनकी तर्कसम्मत आलोचना एवं महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जैसे मनीषी एवं मान्य विद्वान्के विचारोंकी आलोचना करना इसका प्रमाण है।

उनकी आलोचना ऐसे तथ्योंपर आधारित थी कि राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान्ने उसे स्वीकार किया और उनकी विद्वत्तासे प्रभावित होकर उन्हें स्याद्वादपर स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ लिखनेके लिये प्रेरित किया। फलस्वरूप डॉ० महेन्द्रकुमार जीके चिन्तन और स्वाध्यायका सार ६०० पृष्ठों वाले मौलिक ग्रन्थ "जैनदर्शन" के रूपमें सामने आया। उन्होंने ग्रन्थके 'दो शब्द' में स्वयं स्वीकार किया है कि राहुल सांकृत्यायनके उलाहनेने ही इस ग्रन्थको लिखनेका संकल्प कराया।

'जैनदर्शन' ग्रन्थ को अपने प्रतिपाद्य विषयपर प्रथम ग्रंथका गौरव प्राप्त हुआ। अक्टूबर १९५५ में श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसीसे इसका प्रकाशन हुआ। प्रकाशकीय वक्तव्यमें संस्थाके कर्णधार विद्वान् पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री एवं पं० बंशीधर जी व्याकरणाचार्यने लिखा है कि—

'जैन समाजमें दर्शनशास्त्रके जो इने-गिने विद्वान् हैं उनमें न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार प्रथम हैं। इन्होंने जैनदर्शनके साथ-साथ सब भारतीय दर्शनोंका सांगोपांग अध्ययन किया है तथा बड़े परिश्रम तथा अध्ययनपूर्वक इस ग्रन्थका निर्माण किया है। हिन्दीमें एक ऐसी मौलिक कृतिकी आवश्यकता थी जिसमें जैनदर्शनके सभी दार्शनिक मंतव्योंका ऊहापोहके साथ विचार किया गया हो। इस सर्वांगपूर्ण कृति द्वारा उस आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है। अतएव हम इस प्रयत्नके लिए पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका जितना आभार मानें, थोड़ा है।'

'जैनदर्शन' में केवल जैनदर्शनकी ही व्याख्या नहीं है, अन्य भारतीय दर्शनोंकी मान्यताओंको उदाहरण सहित प्रस्तुत करके लेखकने उनके अधूरेपनको भी उजागर किया है और जैनदर्शनसे उनकी तुलना करनेके लिए आधार प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि प्रकाशनके पूर्व कुछ विद्वानोंको भय था कि इस कृतिके प्रकाशन से साम्प्रदायिक विद्वेष फैल सकता है परन्तु निष्पक्ष दार्शनिकों और विचारक विद्वानोंने लेखककी इस कृतिकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए सराहना की, केवल मौखिक सराहना ही नहीं, अनेक विद्वानोंने प्रशंसात्मक पत्र लिखे तथा एक जैनेतर विद्वान् संस्कृत कॉलेज बनारसके पूर्व प्राचार्य पं० मंगलदेव शास्त्री एम० ए०, डी० फिल० ने उक्त ग्रन्थका प्राक्कथन लिखकर ग्रन्थकी प्रशंसा की एवं जैनदर्शनके सिद्धान्तोंके महत्त्वको स्वीकार किया। प्राक्कथनके अन्तमें आपने लिखा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"अभी तक राष्ट्रभाषा हिन्दीमें कोई ऐसी पुस्तक नहीं थी, जिसमें व्यापक और तुलनात्मक दृष्टिसे जैनदर्शनके स्वरूपको स्पष्ट किया गया हो। बड़ी प्रसन्नताका विषय है कि इस बड़ी भारी कमीको प्रकृत पुस्तकके द्वारा उसके सुयोग्य विद्वान् लेखकने दूर कर दिया। पुस्तककी शैली विद्वत्तापूर्ण है, उसमें प्राचीन मूल ग्रन्थोंके प्रमाणोंके आधारसे जैनदर्शनके सभी प्रमेयोंका बड़ी विशद रीतिसे यथासम्भव सुबोध शैलीमें निरूपण किया गया है। विभिन्न दर्शनोंके सिद्धान्तोंके साथ तद्विषयक आधुनिक दृष्टियोंका भी इसमें सन्निवेष और उनपर प्रसंगानुसार विमर्श करनेका भी प्रयत्न किया गया है। पुस्तक अपनेमें मौलिक-परिपूर्ण और अनूठी है। हम हृदयसे ग्रन्थका अभिनन्दन करते हैं।"

'जैनदर्शन' ग्रन्थमें लेखकने १२ अधिकारोंके माध्यमसे सम्पूर्ण विवेचना की है। 'पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन' नामके प्रथम अध्यायमें उन्होंने कर्मभूमिकी प्रारम्भिक स्थितियोंकी चर्चा करते हुए भगवान् आदिनाथसे लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरके काल तककी परिस्थितियों और प्रचलित मान्यताओंका उल्लेख किया है। साथ ही जैनधर्म एवं दर्शनके मूल मुद्दोंको उजागर करते हुए श्रुत परम्परा और मान्य आचार्योंका परिचय देते हुए उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोंकी भी संक्षिप्त चर्चा की है। इस अध्यायके उपसंहारमें वे लिखते हैं कि—

तर्क जैसे शुष्क शास्त्रका उपयोग भी जैनाचार्योंने समन्वय और समताके स्थापनमें किया है। दार्शनिक कटाकटीके युगमें भी इस प्रकारकी समता और उदारता तथा एकताके लिए प्रयोजक समन्वयदृष्टिका कायम रखना अहिंसाके पुजारियोंका ही कार्य था। स्याद्वादके स्वरूप तथा उसके प्रयोगकी विधियोंके विवेचनमें ही जैनाचार्योंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इस तरह दार्शनिक एकता स्थापित करनेमें जैनदर्शनका अकेला और स्थायी प्रयत्न रहा है।' ( पृष्ठ २६। )

'विषय प्रवेश' नामक दूसरे अध्यायमें दर्शन शब्दकी उद्भूति, अर्थ आदिको स्पष्ट करते हुए विद्वान् लेखकने विभिन्न दार्शनिकोंके मनमाने अर्थका खण्डन करते हुए जैन दृष्टिकोणकी यथार्थता प्रतिपादित की है। इस अध्यायमें सुदर्शन और कुदर्शनकी व्याख्या करते हुए आपने लिखा है कि—

'जिस प्रकार नयके सुनय और दुर्नय विभाग, सापेक्षता और निरपेक्षताके कारण होते हैं उसी तरह 'दर्शन' के भी सुदर्शन और कुदर्शन ( दर्शनाभास ) विभाग होते हैं। जो दर्शन अर्थात् दृष्टिकोण वस्तुकी सीमाको उल्लंघन नहीं करके उसे पानेकी चेष्टा करता है, बनानेकी नहीं, और दूसरे वस्तुस्पर्शी दृष्टिकोण-दर्शनको भी उचित स्थान देता है, उसकी अपेक्षा रखता है वह सुदर्शन है और जो दर्शन केवल भावना और विश्वासकी भूमिपर खड़ा होकर कल्पनालोकमें विचरण कर, वस्तुसीमाको लाँघकर भी वास्तविकताका दम्भ करता है, अन्य वस्तुग्राही दृष्टिकोणोंका तिरस्कार कर उनकी अपेक्षा नहीं करता वह कुदर्शन है। दर्शन अपने ऐसे कुपूतोंके कारण ही मात्र संदेह और परीक्षाकी कोटिमें जा पहुँचा है। अतः जैन तीर्थंकरों और आचार्योंने इस बातकी सतर्कतासे चेष्टा की है कि कोई भी अधिगमका उपाय, चाहे वह प्रमाण ( पूर्ण ज्ञान ) हो या नय ( अंशग्राही ), सत्यको पानेका यत्न करे, बनानेका नहीं। वह मौजूद वस्तुकी मात्र व्याख्या कर सकता है। उसे अपनी मर्यादाको समझते रहना चाहिए।' ( पृष्ठ ३८। )

तीसरे अध्यायका शीर्षक है 'भारतीय दर्शनको जैनदर्शनकी देन' इस अध्यायका प्रारम्भ करते हुए लेखकने कहा है कि परम अहिंसक तीर्थंकर भगवान्ने मानसिक अहिंसाके लिए अनेकान्तदृष्टिके उपयोगकी बात कही है।

अनेकान्तको अहिंसाका आधारभूत तत्त्वज्ञान, स्याद्वादको एक निर्दोष भाषाशैली और स्यात्को प्रहरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरूपित करते हुए ठोस तर्क देकर यह भी सिद्ध किया है कि स्यातका अर्थ शायद नहीं है। अनेकान्त दर्शन-को न्यायाधीशकी उपमा देते हुए कहा गया है कि—

'प्रत्येक पक्षके वकीलों द्वारा अपने पक्षके समर्थनके लिए संकलित दलीलोंकी फाइलकी तरह न्याया-धीशका फैसला भले ही आकारमें बड़ा न हो, पर उसमें वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता, सूक्ष्मता और निष्पक्ष-पातिता अवश्य होती है। उसी तरह एकान्तके समर्थनमें प्रयुक्त दलीलोंके भण्डार-भूत एकान्तवादी दर्शनोंकी तरह जैनदर्शनमें विकल्प या कल्पनाओंका चरम विकास न हो, पर उसकी वस्तुस्पर्शिता, व्यावहारिकता, समतावृत्ति एवं अहिंसाधारितामें तो संदेह किया ही नहीं जा सकता। यही कारण है कि जैनाचार्योंने वस्तु-स्थितिके आधारसे प्रत्येक दर्शनके दृष्टिकोणके समन्वयकी पवित्र चेष्टा की है और हर दर्शनके साथ न्याय किया है। यह वृत्ति अहिंसाहृदयीके सुसंस्कृत मस्तिष्ककी उपज है। यह अहिंसा स्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शनके भव्य प्रासादका मध्य स्तम्भ है। इसीसे जैनदर्शनकी प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शन सचमुच इस अतुल सत्यको पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शनने इस अनेकान्तदृष्टिके आधारसे बनी हुई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्रके कोषागारमें अपनी ठोस और पर्याप्त पूंजी जमा की है।' (पृ० ५५।)

'लोक व्यवस्था' नामके चौथे अध्यायमें लोकके स्वरूप और छहों द्रव्योंका विवेचन है। इसकी चर्चा-में स्वाभाविक ही द्रव्यके परिणमन, सत् तथा उसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होनेके प्रकरण आए हैं जिन्हें छहों द्रव्योंमें तर्क और उदाहरणके साथ समझाया गया है।

विभाव परिणमनकी चर्चा करते हुए निमित्त और उपादानकी भी विशद व्याख्या इस अध्यायमें की गई है। कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवादकी विभिन्न मान्यताओंकी समीक्षा भी इस अध्यायमें है। लेखकने केवल अन्य दर्शनोंकी भ्रामक मान्यताओंका ही खण्डन नहीं किया है, वरन् जैनदर्शनकी अनेकान्त पद्धतिमें आये एकान्त प्रदूषणकी भी आलोचना की है। नियतिवादके एक ऐसे ही प्रकरणमें श्रीकानजी स्वामी लिखित पुस्तक 'वस्तुविज्ञानसार' की मान्यताओंको एकान्तिक निरूपित करते हुए लेखकने कहा है कि—

'नियतिवादका एक आध्यात्मिक रूप और निकला है। इसके अनुसार प्रत्येक द्रव्यकी प्रतिसमयकी पर्याय सुनिश्चित है। जिस समय जो पर्याय होनी है वह अपने नियत स्वभावके कारण होगी ही, उसमें प्रयत्न निरर्थक है। उपादानशक्तिसे ही वह पर्याय प्रकट हो जाती है, वहाँ निमित्तकी उपस्थिति स्वयमेव होती है, उसके मिलानेकी आवश्यकता नहीं। इनके मतसे पेट्रोलसे मोटर नहीं चलती, किन्तु मोटरको चलना ही है और पेट्रोलको जलना ही है। और यह सब प्रचारित हो रहा है द्रव्यके शुद्ध स्वभावके नामपर। इसके भीतर भूमिका यह जमाई जाती है कि—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता। सब अपने आप नियतिचक्रवश परिणमन करते हैं। जिसको जहाँ जिस रूपमें निमित्त बनना है उस समय उसकी वहाँ उपस्थिति हो ही जायगी। इस नियतिवादसे पदार्थोंके स्वभाव और परिणमनका आश्रय लेकर भी उनका प्रतिक्षणका अनन्तकाल तकका कार्यक्रम बना दिया गया है, जिसपर चलनेको हर पदार्थ बाध्य है। किसीको कुछ नया करनेका नहीं है। नियतिवादियोंके जो विविध रूप विभिन्न समयोंमें हुए हैं उन्होंने सदा पुरुषार्थ-को रेड़ मारी है और मनुष्यको भाग्यके चक्करमें डाला है।' (पृष्ठ ८४।)

आचार्य कुन्दकुन्दके अकर्तृत्ववादकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि समयसारमें स्वभावका वर्णन करनेवाली गाथाको कुछ विद्वान् नियतिवादके समर्थनमें लगाते हैं परन्तु इस गाथामें सीधी बात यही बताई गई है कि कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई नया गुण नहीं ला सकता, जो आयेगा वह उपादान योग्यताके अनुसार ही आवेगा।

लेखकने प्रश्न उठाया है कि जब प्रत्येक जीवका प्रतिसमयका कार्यक्रम निश्चित है तब पुण्य-पाप और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदाचार-दुराचारकी क्या परिभाषा बनेगी ? क्योंकि इस नियतिवादमें तो 'ऐसा क्यों हुआ' का एक ही उत्तर है कि 'ऐसा होना ही था' ।

इस अध्यायमें कर्मवाद, यदृच्छावाद, पुरुषवाद, ईश्वरवाद, भूतवाद, अव्याकृतवाद, उत्पादादित्रयात्मकवाद, जड़वाद और परिणामवादकी मान्यताओंकी भी समीक्षा की गई है ।

पदार्थके स्वरूपका निर्णय करनेके लिए ग्रन्थमें छोटेसे पाँचवें अध्यायके रूपमें अलगसे अध्याय रखा गया है जिसमें पदार्थके गुण और धर्मका स्वरूपास्तित्वका और सामान्य विशेषका विवेचन है ।

'षट्द्रव्य विवेचन' नामके छठें अधिकारमें छह द्रव्योंकी सामान्य विवेचनाके बाद जीव द्रव्यके संसारी और मुक्त आदि भेद, पुद्गल द्रव्यके स्कन्ध आदि भेद, बन्धकी प्रक्रिया, धर्म-अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंके कार्योंका विवेचन किया गया है तथा इनके स्वरूपमें बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक आदि दर्शनोंकी भ्रान्तियोंको भी उजागर किया गया है। एक द्रव्यके दूसरे द्रव्यपर पड़नेवाले प्रभावकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि—

'इसीलिए जगत्के महापुरुषोंने प्रत्येक भव्यको एक ही बात कही है कि "अच्छा वातावरण बनाओ; मंगलमय भावोंको चारों ओर बिखेरो ।' किसी प्रभावशाली योगीके अचिन्त्य प्रेम और अहिंसाकी विश्वमैत्री रूप संजीवन धारासे आसपासकी वनस्पतियोंका असमयमें पुष्पित हो जाना और जातिविरोधी साँप-नेवला आदि प्राणियोंका अपना साधारण वैर भूलकर उनके अमृतपूत वातावरणमें परस्पर मैत्रीके क्षणोंका अनुभव करना कोई बहुत अनहोनी बात नहीं है, यह तो प्रभावकी अचिन्त्य शक्तिका साधारण स्फुरण है ।' ( पृष्ठ १५२ । )

सातवें अधिकारका शीर्षक है 'तत्त्व निरूपण' । इसका प्रयोजन बताते हुए प्रारम्भमें ही कहा गया है कि यद्यपि विश्व षट्द्रव्यमय है परन्तु मुक्तिके लिए जिस तत्त्वज्ञान की आवश्यकता होती है वे तत्त्व सात हैं । विश्व व्यवस्थाका ज्ञान न होनेपर भी तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी साधना की जा सकती है । परन्तु तत्त्वज्ञान न होनेपर विश्व व्यवस्थाका समग्र ज्ञान भी कार्यकारी नहीं होता ।

सात तत्त्वोंकी विवेचना करते हुए लेखकने लिखा है कि इन सात तत्त्वोंका मूल है आत्मा । स्वभाव से अमूर्तिक-अखण्डअविनाशी आत्माको जैन दार्शनिकों द्वारा अनादिबद्ध माननेके कारणोंकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि व्यवहारसे जीव मूर्तिक भी है । कर्म संयोगके कारण अनादिसे जीव मूर्तिक और अशुद्ध माना गया है परन्तु एक बार शुद्ध-अमूर्तिक हो जानेके बाद फिर वह अशुद्ध या मूर्तिक नहीं होता ।

आत्मदृष्टिको ही सम्यक्दृष्टि निरूपित करते हुए कहा है कि बन्ध, मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वोंके सिवाय उस आत्माका ज्ञान भी आवश्यक है जिसे शुद्ध होना है पर जो वर्तमानमें अशुद्ध हो रहा है । आत्माकी यह अशुद्ध दशा स्वरूप प्रच्युतिरूप है । यह दशा स्वस्वरूपको भूलकर पर पदार्थोंमें ममकार अहंकार करनेके कारण हुई है अतः इस अशुद्ध दशाकी समाप्ति स्वस्वरूपके ज्ञानसे ही हो सकती है ।

संसारके कारण आस्रव और बन्ध तथा मोक्षके कारण संवर और निर्जरा तत्त्वोंकी समुचित व्याख्या करके मोक्ष तत्त्वकी चर्चा करते हुए लेखकने कहा है कि अन्य दार्शनिकोंने मोक्षको निर्वाण नामसे व्यवहार करके आत्म निर्वाण को दीप निर्वाण आदिकी तरह व्याख्यायित कर दिया है पर जैन दार्शनिकोंने सात तत्त्वोंमें उसका नाम ही मोक्ष तत्त्व रखा है जिसका अर्थ है छूटना ।

अध्यायके अन्तमें मोक्ष-मार्गकी चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता ही मोक्ष का मार्ग है । ऐसा सम्यग्ज्ञान जो सम्यक्चारित्रका पोषक या वर्धक नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, मोक्षका साधन नहीं होता। जो ज्ञान जीवनमें उतरकर आत्म शोधन करे वही मोक्षका साधन है। अन्ततः सच्ची श्रद्धा और ज्ञानका फल चारित्र शुद्धि ही है। इस अध्यायमें एक जगह सुख और दुःखकी स्थूल परिभाषाके रूपमें भी एक अच्छी बात कही गई है कि 'जो चाहे सो होवे, इसे कहते हैं सुख और चाहे कुछ और होवे कुछ या जो चाहे वह न होवे इसे कहते हैं दुःख।'

'प्रमाण मीमांसा' नामक आठवाँ अध्याय इस ग्रन्थका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। लगभग २०० पृष्ठोंमें समाहित इस अध्यायमें प्रमाण ज्ञानकी विशद विवेचना की गई है। प्रारम्भमें ही ज्ञान और दर्शनका अन्तर समझाते हुए कहा है कि जड़ पदार्थोंसे आत्माको भिन्न करनेवाला गुण या स्वरूप है चैतन्य, यही चैतन्य अवस्था विशेषमें निराकार रहकर 'दर्शन' कहलाता है और साकार होकर 'ज्ञान'। प्रमाणके स्वरूपका निरूपण करते हुए कहा है कि प्रमाणका सामान्यतया अर्थ व्युत्पत्तिलब्ध है अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान होता है उस द्वारका नाम प्रमाण है।

तदाकारता, सामग्री, इन्द्रिय व्यापार आदिको प्रमाण न माननेके कारणोंकी व्याख्या करके बौद्धदर्शन के क्षणिकवादसे उत्पन्न भ्रान्तियोंका भी निराकरण किया गया है। जैनदर्शन पदार्थको एकान्त क्षणिक न मानकर कथंचित नित्य भी मानता है। वस्तु अनन्त धर्मवाली है किसी ज्ञानके द्वारा वस्तुके किन्हीं अंशोंका निश्चय होनेपर भी अगृहीत अंशोंको जाननेके लिए प्रमाणान्तर को अवकाश रहता है।

प्रमाणके भेदोंकी चर्चा करते हुए प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण तथा उसके सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष, सन्निकर्ष, पारमार्थिक प्रत्यक्ष, अनुमान, स्वार्थानुमान, परार्थानुमान, प्रत्याक्षाभास, परोक्षभासा आदि भेदोंकी भी विशद व्याख्या करके समझाया गया है। ज्ञानकी उत्पत्तिका क्रम बताते हुए उसके अवग्रह, ईहा आदि भेदोंकी व्याख्या है तथा सभी ज्ञानोंको स्वसंवेदी निरूपित किया है। इसी सन्दर्भमें विपर्यय आदि मिथ्याज्ञानों की भी चर्चा है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञानके विश्लेषणके बाद केवलज्ञानका स्वरूप बताते हुए 'सर्वज्ञताका इतिहास' शीर्षकसे जैनाचार्यों भगवान् कुन्दकुन्द, वीरसेन आदिके द्वारा की गई सर्वज्ञताकी व्याख्याओंको अन्य दर्शनोंकी सर्वज्ञता की अपेक्षा प्रामाणिक सिद्ध किया गया है।

इस आठवें अध्यायमें व्याप्ति और व्याप्य-व्यापार सम्बन्ध, अभाव, साध्य-साधन सम्बन्ध, शब्दार्थ प्रतिपत्ति, प्राकृत, अपभ्रंश शब्दोंकी अर्थवाचकताकी व्याख्याके साथ शब्दाद्वैतवाद, ब्रह्मवाद, सांख्यवाद, बौद्धों का विशेष पदार्थवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदिकी भी विस्तारसे समीक्षा की गई है जिससे विषय स्पष्ट होता है और पाठकको वस्तुस्वरूप की निर्दोष अवधारणा हो जाती है।

नौवाँ अध्याय है 'नय विचार, इसमें नयका लक्षण तथा नयके भेदोंका भलीभाँति निरूपण किया गया है, सुनय-दुर्नय, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, परमार्थ-व्यवहार, निश्चयव्यवहार आदि भेदोंके अतिरिक्त नय के तीन और सात भेदोंको भी समझाया गया है। साथ ही नयाभासके माध्यमसे भी नयोंकी व्याख्या की गई है इसमें प्रायः सभी भारतीय दर्शनोंके नयवादोंका विश्लेषण तो है ही, सम्यक् नय माननेवाले नयाभासियों-की भी आलोचना की गई है। जैनाचार्योंकी नय प्ररूपणाका उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—

'अध्यात्मशास्त्रका उद्देश्य है कि वह साधकको यह स्पष्ट बता दे कि तुम्हारा गन्तव्य स्थान क्या है? तुम्हारा परम ध्येय और चरम लक्ष्य क्या हो सकता है? बीचके पड़ाव तुम्हारे साध्य नहीं हैं। तुम्हें तो उनसे बहुत ऊँचे उठकर परम स्वावलम्बी बनना है। लक्ष्यका दो-टूक वर्णन किए बिना मोही जीव भटक ही जाता है। साधकको उन स्वोपादानक, किन्तु परनिमित्तक विभूति या विकारोंसे उसी तरह अलिप्त रहना है, उनसे ऊपर उठना है, जिस तरह कि वह स्त्री, पुत्रादि परचेतन तथा धन-धान्यादिपर अचेतन पदार्थोंसे नाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तोड़कर स्वावलम्बी मार्ग पकड़ता है। यद्यपि यह साधककी भावनामात्र है, पर इसे आ० कुन्दकुन्दने दार्शनिक आधार पकड़ाया है। वे उस लोकव्यवहारको हेय मानते हैं, जिसमें अंशतः भी परावलम्बन हो। किन्तु यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि वे सत्यस्थितिका अलाप नहीं करना चाहते। वे लिखते हैं कि 'जीवके परिणामोंको निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मपर्यायको प्राप्त होते हैं और उन कर्मोंके निमित्तसे जीवनमें रागादि परिणाम होते हैं, यद्यपि दोनों अपने-अपने परिणामोंमें उपादान होते हैं, पर ये परिणमन परस्परहेतुक-अन्योन्यनिमित्त हैं।' उन्होंने 'अण्णोण्णणिमित्तेण' पदसे इसी भावका समर्थन किया है। यानी कार्य उपादान और निमित्त दोनों सामग्रीसे होता है।' ( पृष्ठ ४६८-४६९। )

'अतः निश्चयनयको यह कहनेके स्थानमें कि 'मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, अस्पृष्ट हूँ', यह कहना चाहिए कि 'मैं शुद्ध, अबद्ध और अस्पृष्ट हो सकता हूँ।' क्योंकि आज तक तो उसने आत्माकी इस शुद्ध आदर्श दशाका अनुभव किया ही नहीं है। बल्कि अनादिकालसे रागादिपंकमें ही वह लिप्त रहा है। यह निश्चित तो इस आधारपर किया जा रहा है कि जब दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, तब उनका संयोग भले ही अनादि हो, पर वह टूट सकता है और वह टूटेगा तो अपने परमार्थ स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर लक्ष्य करनेसे। इस शक्तिका निश्चय भी द्रव्यका स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर ही तो किया जा सकता है। अनादिकी अशुद्ध आत्मामें शुद्ध होनेकी शक्ति है, वह शुद्ध हो सकता है। यह शक्यता-भविष्यतका ही तो विचार है। हमारा भूत और वर्तमान अशुद्ध है, फिर भी निश्चयनय हमारे उज्जवल भविष्यकी ओर, कल्पनासे नहीं, वस्तुके आधारसे ध्यान दिलाता है? उसी तत्त्वको आचार्य कुन्दकुन्द बड़ी सुन्दरतासे कहते हैं कि 'काम, भोग और बन्धकी कथा सभीको श्रुत, परिचित और अनुभूत है, पर विभक्त-शुद्ध आत्माके एकत्वकी उपलब्धि सुलभ नहीं है।' कारण यह है कि शुद्ध आत्माका स्वरूप संसार जीवोंको केवली श्रुतपूर्व है अर्थात् उसके सुननेमें ही कदाचित् आया हो, पर न तो उसने कभी इसका परिचय पाया है और न कभी उसका अनुभव ही किया है। ( पृष्ठ ४७१-४७२। )

ग्रन्थका दसवाँ अध्याय है 'स्याद्वाद और सप्तभंगी' इस अध्यायमें स्याद्वादकी उद्भूतिका कारण बताते हुए विद्वान् लेखकने कहा है कि जब मनुष्यकी दृष्टि अनेकान्त तत्त्वका स्पर्श करनेवाली बन जाती है तब उसके समझानेका ढंग भी निराला हो जाता है, वह उस शैलीसे वचन प्रयोग करना चाहता है जिससे वस्तुतत्त्वका यथार्थ प्रतिपादन हो जाए। इस शैलीका भाषाके निर्दोष प्रकारकी आवश्यकताने स्याद्वादका आविष्कार किया है। इसमें लगा हुआ स्यात् शब्द प्रत्येक वाक्यके सापेक्ष होनेकी सूचना देता है। स्यात् एक सजग प्रहरी है जो उच्चरित धर्मको इधर-उधर नहीं जाने देता तथा अविक्षित धर्मोंके अधिकारका संरक्षण करता है। स्यात् शब्द जहाँ अस्तित्व धर्मकी स्थिति सुदृढ़ और सहेतुक बनाता है वहीं एक न्यायाधीशकी तरह यह भी कह देता है कि हे अस्ति, तुम अपनी अधिकार सीमाको समझो, स्वद्रव्य क्षेत्र, काल, भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार तुम वस्तुमें रहते हो, उसी तरह परद्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति नामका तुम्हारा भाई भी उसी वस्तुमें रहता है।

वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकताका सुन्दर विश्लेषण करते हुए उसमें प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव एवं अत्यन्ताभावका सामंजस्य भी बिठाया गया है। सदसदात्मक तत्त्व, एकानेकात्मक तत्त्व, नित्यानित्यात्मक तत्त्व और भेदा-भेदात्मक तत्त्व भी किस प्रकार वस्तुमें एक साथ रह लेते हैं इसकी प्ररूपणा भी बहुत स्पष्ट रूपसे की गई है। सप्तभंगीकी व्याख्या करते हुए यह भी समझाया है कि भंग सात ही क्यों हैं, अवक्तव्य भंगका क्या अर्थ है तथा भंगोंमें सकलविकलादेशता किस प्रकार बनती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूँकि स्याद्वादको लेकर जैनदर्शनकी आलोचना पूर्ववर्ती और वर्तमान अनेक दार्शनिकोंने की है अतः लेखकने इस अध्यायमें उन सबके मतोंका उद्धरण देकर स्याद्वाद पद्धतिसे ही उनका निराकरण भी कर दिया है। आलोचना करनेवालोंकी तो लम्बी सूची है परन्तु कुछ वर्तमान जैनेतर दार्शनिकोंने स्याद्वादकी महत्ताको स्वीकार भी किया है जैसे—

महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा लिखते हैं कि 'जबसे मैंने शंकराचार्य द्वाराजैन सिद्धांतका खण्डन पढ़ा है, तबसे मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धांतमें बहुत कुछ है जिसे वेदान्तके आचार्योंने नहीं समझा।'

दर्शनशास्त्रके अद्वितीय विद्वान् प्रो० फणिभूषण अधिकारीने तो और भी स्पष्ट शब्दोंमें लिखा था कि—'जैनधर्मके स्याद्वाद सिद्धांतको जितना गलत समझा गया है, उतना किसी अन्य सिद्धांतको नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोषसे मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धांतके प्रति अन्याय किया है, यह बात अल्पज्ञ पुरुषोंके लिए क्षम्य हो सकती थी किन्तु भारतके इस महान् विद्वान्के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षिको अतीव आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने जैन-धर्मके मूल ग्रन्थोंके अध्ययनकी परवाह नहीं की।'

इस प्रकार इस अध्यायमें स्याद्वादपर अनेक मतावलम्बी दार्शनिकोंके विचारोंका ऊहापोह संकलित है। स्याद्वादपर लगाए गए आक्षेपोंका जो परिहार पूर्वमें हो हमारे अकलंकदेव, हरिभद्र आदि आचार्योंने किया था वह भी इसमें संक्षेपसे उद्धृत है।

ग्यारहवें अध्यायका शीर्षक है 'जैन दर्शन और विश्व शान्ति' इस अधिकारको लिखनेमें लेखकने अपने मौलिक विचार ही सँजोए हैं, परन्तु वे विचार जैनदर्शनकी महानता एवं विश्व शान्तिके परिप्रेक्ष्यमें उसकी उपयोगिताको उजागर करनेवाले हैं।

जैनदर्शन अनन्त आत्मवादी है। वह प्रत्येक आत्माको मूलमें समान स्वभाव और समान धर्मवाला मानता है। उनमें जन्मना किसी जातिभेद या अधिकार भेदको नहीं मानता। वह अनन्त जड़पदार्थोंका भी स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। इस दर्शनने वास्तवबहुत्वको मानकर व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी साधार स्वीकृति दी है। वह एक द्रव्यके परिणमनपर दूसरे द्रव्यका अधिकार नहीं मानता। अतः किसी भी प्राणीके द्वारा दूसरे प्राणीका शोषण, निर्दलन या स्वायत्तीकरण ही अन्याय है। किसी चेतनका अन्य जड़ पदार्थोंको अपने अधीन करनेकी चेष्टा करना भी अनधिकार चेष्टा है। इसी तरह किसी देश या राष्ट्रका दूसरे देश या राष्ट्रको अपने अधीन करना, उसे अपना उपनिवेश बनाना ही मूलतः अनधिकार चेष्टा है, अतएव हिंसा और अन्याय है। ( पृष्ठ ५७३ । )

ग्रन्थका अंतिम अध्याय यद्यपि एक ग्रन्थ सूचीके रूपमें है परन्तु वह सामान्य पाठकोंसे लेकर चिंतक और शोधकर्ता विद्वानों तकके लिए अत्यन्त उपयोगी है।

अध्यायके अन्तमें लेखककी यह टिप्पणी भी है कि यहाँ प्राकृत/संस्कृत ग्रन्थोंका ही उल्लेख किया गया है। कन्नड़ भाषामें भी अनेक ग्रन्थोंकी टीकाएँ पाई जाती हैं तथा कुछ जैनाचार्योंने अजैन दर्शन ग्रन्थोंकी टीकाएँ भी लिखी हैं वे इसमें सम्मिलित नहीं हैं।

इस प्रकार डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यकी महान् कृति 'जैनदर्शन' हमें जैनदर्शनके सिद्धांतोंको सही परिप्रेक्ष्यमें समझनेके लिए तथा अन्य मतावलम्बी दार्शनिकोंकी भ्रामक मान्यताओंसे बचानेके लिए दीप-शिखाका कार्य पिछले चार दशकोंसे करती आ रही है, आज भी कर रही है और आगे भी करती रहेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# खण्ड ४

# विशिष्ट निबन्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अकलङ्कग्रन्थत्रय और उसके कर्ता

## ग्रन्थकार आचार्य अकलङ्कदेव

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवकी जीवनगाथा न तो उन्होंने स्वयं ही लिखी है और न तन्निकटसमयवर्ती किन्हीं दूसरे आचार्योंने ही। उपलब्ध कथाकोशोंमें सबसे पुराने हरिषेणकृत कथाकोशमें समन्तभद्र और अकलंक जैसे युगप्रधान आचार्योंकी कथाएँ ही नहीं हैं। हरिषेणने स्वयं अपने कथाकोशका समाप्तिकाल शकसंवत् ८५३ (ई० ९४१) लिखा है। प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमें अकलंककी कथा मिलती है। पं० नाथूरामजी प्रेमी इसका रचनाकाल विक्रमकी चौदहवीं सदी अनुमान करते हैं। प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशकी ही ब्रह्मचारी नेमिदत्तने विक्रमसंवत् १५७५के आसपास पद्यरूपमें परिवर्तित किया है। देवचन्द्रकृत कनड़ी भाषाका 'राजावलीकथे' में भी अकलंककी कथा है। इसका रचनाकाल १६वीं सदीके बाद है। इस तरह कथाग्रन्थोंमें चौदहवीं सदीसे पहिलेका कोई कथाग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें अकलंकका चरित्र तो क्या निर्देश तक भी हो। अकलंकदेवके ६०० वर्ष बादकी इन कथाओंका इतिवृत्तज्ञ विद्वान् पूरे-पूरे रूपमें अनुसरण नहीं करते हैं। इनके सिवाय अकलंकके शास्त्रार्थका उल्लेख मल्लिषेणप्रशस्तिमें है। यह प्रशस्ति विक्रमसंवत् ११८५में लिखी गई थी। अकलंकके पिताका नाम राजवार्तिक प्रथमाध्यायके अन्तमें आए हुए 'जीयाच्चिर' श्लोकमें 'लघुहव्व' लिखा हुआ है। इस तरह अकलंकके जीवनवृत्तकी सामग्री नहीं वत् है। जो है भी वह इतनी बाद की है कि उसपर अन्य प्रबल साधक प्रमाणोंके अभावमें सहसा जोर नहीं दिया जा सकता।

पं० नाथूरामजी प्रेमीने कथाकोश आदिके आधारसे जैनहितैषी ( भाग ११ अंक ७–८ ) में अकलंकदेवका जीवन वृत्तान्त लिखा है। उसीके आधारसे न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रस्तावनामें भी बहुत कुछ लिखा गया है। यहाँ मैं उसका पिष्टपेषण न करके सिर्फ उन्हीं मुद्दोंपर कुछ विचार प्रकट करूँगा, जिनके विषयमें अभी कुछ नया जाना गया है तथा अनुमान करनेके लिए प्रेरकसामग्री संकलित की जा सकी है। खासकर समयनिर्णयार्थ कुछ आभ्यन्तर सामग्री उपस्थित करना ही इस समय मुख्यरूपसे प्रस्तुत है; क्योंकि इस दिशामें जैसी गुंजाइश है वैसा प्रयत्न नहीं हुआ।

### १. जन्मभूमि-पितृकुल

प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोश तथा उसीके परिवर्तितरूप ब्रह्मचारी नेमिदत्तके आराधनाकथाकोशके लेखानुसार अकलंकका जन्मस्थान मान्यखेट नगरी है। वे वहाँके राजा शुभतुंगके मन्त्री पुरुषोत्तमके ज्येष्ठ पुत्र थे। श्री देवचन्द्रकृत कनड़ी भाषाके राजावलीकथे नामक ग्रन्थमें उन्हें काञ्चीके जिनदास ब्राह्मणका पुत्र बताया है। इनकी माताका नाम जिनमती था। तीसरा उल्लेख राजवार्तिकके प्रथम अध्यायके अन्तमें पाया जाने वाला यह श्लोक है— "जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलजननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥"

इस श्लोकके अनुसार वे लघुहव्व राजाके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र थे। विद्वानोंकी आजतककी पर्यालोचनासे ज्ञात होता है कि वे राजावलीकथेका वर्णन प्रमाणकोटिमें नहीं मानते और कथाकोशके वर्णनकी अपेक्षा उनका झुकाव राजवार्तिकके श्लोककी ओर अधिक दिखाई देता है।

मुझे तो ऐसा लगता है कि—लघुहव्व और पुरुषोत्तम एक ही व्यक्ति हैं। राष्ट्रकूटवंशीय इन्द्रराज-द्वितीय तथा कृष्णराजप्रथम भाई-भाई थे। इन्द्रराज द्वितीय का पुत्र दन्तिदुर्गद्वितीय अपने पिताकी मृत्युके बाद राज्याधिकारी हुआ। कर्नाटक प्रान्तमें पिताको अव्व या अप्प शब्दसे कहते हैं। सम्भव है कि दन्तिदुर्ग अपने



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाचा कृष्णराजको भी अव्व शब्दसे कहता हो। यह तो एक साधारण-सा नियम है कि जिसे राजा 'अव्व' कहता हो, उसे प्रजा भी 'अव्व' शब्दसे ही कहेगी। कृष्णराज जिसका दूसरा नाम शुभतुंग था, दन्तिदुर्गके बाद राज्याधिकारी हुआ। मालूम होता है कि—पुरुषोत्तम कृष्णराजके प्रथमसे ही लघु सहकारी रहे हैं, इसलिए स्वयं दन्तिदुर्ग एवं प्रजाजन इनको 'लघु अव्व' शब्दसे कहते होंगे। बादमें कृष्णराजके राज्यकालमें ये कृष्णराजके मंत्री बने होंगे। कृष्णराज अपनी परिणत अवस्थामें राज्याधिकारी हुए थे। इसलिये यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं है कि—पुरुषोत्तमकी अवस्था भी करीब-करीब उतनी ही होगी और ज्येष्ठ पुत्र अकलंक दन्तिदुर्गकी सभामें, जिनका उपनाम 'साहसतुंग' कहा जाता है, अपने हिमशीतलकी सभामें होनेवाले शास्त्रार्थकी बात कहें। पुरुषोत्तमका 'लघुअव्व' नाम इतना रूढ़ हो गया था कि अकलंक भी उनके असली नाम पुरुषोत्तमकी अपेक्षा प्रसिद्ध नाम 'लघुअव्व' अधिक पसन्द करते होंगे। यदि राजवार्तिकवाला श्लोक अकलंक या तत्समकालीन किसी अन्य आचार्यका है तो उसमें पुरुषोत्तमकी जगह 'लघुअव्व' नाम आना स्वाभाविक ही है। 'लघुअव्व' एक ताल्लुकेदार होकर भी विशिष्ट राजमान्य तो थे ही और इसीलिए वे भी नृपति कहे जाते थे। अकलंक उनके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र या श्रेष्ठ पुत्र थे।

यद्यपि अभी तक इतिहाससे यह मालूम हो सका है कि—मान्यखेट राजधानीकी प्रतिष्ठा महाराज अमोघवर्षने की थी। पर इसमें सभी ऐतिहासिक विद्वानोंका एकमत नहीं है। यह तो सम्भव है कि अमोघवर्षने इसका जीर्णोद्धार करके पुनः प्रतिष्ठा की हो, क्योंकि अमोघवर्षके पहिले भी 'मान्यपुर, मान्यान्' आदि उल्लेख मिलते हैं। अथवा यह मान भी लिया जाय कि अमोघवर्षने ही मान्यखेटको प्रतिष्ठित किया था। तब भी इससे कथाकोशकी बातें सर्वथा अप्रामाणिक नहीं कही जा सकतीं। इससे तो इतना ही कहा जा सकता है कि—कथाकोशकारके समयमें राष्ट्रकूटवंशीय राजाओंकी राजधानी आमतौरसे मान्यखेट प्रसिद्ध थी और इसीलिये कथाकोशकारने शुभतुंगकी राजधानी भी मान्यखेट लिख दी है।

यदि पुरुषोत्तम और लघुअव्वके एक ही व्यक्ति होनेका अनुमान सत्य है तो कहना होगा कि अकलंकदेवकी जन्मभूमि मान्यखेटके ही आस पास होगी तथा पिताका असली नाम पुरुषोत्तम तथा प्रचलित नाम 'लघुअव्व' होगा। 'लघुअव्व' की जगह 'लघुहव्व' का होना तो उच्चारणकी विविधता और प्रति के लेखन-वैचित्र्यका फल है।

## २. समय विचार

अकलंकके समयके विषयमें मुख्यतया दो मत हैं। पहिला स्वर्गीय डॉ० के० बी० पाठकका और दूसरा प्रो० श्रीकण्ठशास्त्री तथा पं० जुगलकिशोर मुख्तारका। डॉ० पाठक मल्लिषेणप्रशस्तिके 'राजन् साहसतुंग' श्लोकके आधारसे इन्हें राष्ट्रकूटवंशीय राजा दन्तिदुर्ग या कृष्णराज प्रथमका समकालीन मानते हैं, और अकलंकचरितके—"विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि। कालेऽकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥" इस श्लोकके 'विक्रमार्कशकाब्द' शब्दका शकसंवत् अर्थ करते हैं। अतः इनके मतानुसार अकलंकदेव शकसंवत् ७०० (ई० ७७८) में जीवित थे।

दूसरे पक्षमें श्रीकण्ठशास्त्री तथा मुख्तारसा० 'विक्रमार्कशकाब्द' का विक्रमसंवत् अर्थ करके अकलंकदेवकी स्थिति विक्रम सं० ७०० (ई० ६४३) में बतलाते हैं।

प्रथममतका समर्थन स्व० डॉ० आर० जी० भाण्डारकर, स्व० डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण तथा पं० नाथूरामजी प्रेमी आदि विद्वानोंने किया है। इसके समर्थनार्थ हरिवंशपुराण (१।३१) में अकलंकदेवका स्मरण, अकलंक द्वारा धर्मकीर्तिका खंडन तथा प्रभाचन्द्रके कथाकोशमें अकलंकको शुभतुंगका मन्त्रिपुत्र बतलाया जाना आदि युक्तियाँ प्रयुक्त की गई हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे मतके समर्थक प्रो० ए० एन० उपाध्ये और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आदि हैं। इस मतके समर्थनार्थ वीरसेन द्वारा धवलाटीकामें राजवार्तिकके अवतरण लिये जाना, हरिभद्रके द्वारा 'अकलंक न्याय' शब्दका प्रयोग, सिद्धसेनगणिका सिद्धि-विनिश्चयवाला उल्लेख, जिनदासगणि महत्तर द्वारा निशीथचूर्णिमें सिद्धिविनिश्चयका दर्शनप्रभावक शास्त्ररूपसे लिखा जाना आदि प्रमाण दिये गये हैं[1]।

हमारी विचारसरणि—किसी एक आचार्यका या उसके ग्रन्थका अन्य आचार्य समकालीन होकर भी उल्लेख और समालोचन कर सकते हैं, और उत्तरकालीन होकर भी। पर इसमें हमें इस बातपर ध्यान रखना होगा कि उल्लेखादि करनेवाला आचार्य जैन है या जैनेतर। अपने सम्प्रदायमें तो जब मामूलीसे थोड़ा भी अच्छा व्यक्ति, जिसकी प्रवृत्ति इतरमत निरसनके द्वारा मार्गप्रभावनाकी ओर अधिक होती है, बहुत जल्दी ख्यात हो जाता है, तब असाधारण विद्वानोंकी तो बात ही क्या ? स्वसम्प्रदायमें प्रसिद्धिके लिये अधिक समयकी आवश्यकता नहीं होती। अतः स्वसम्प्रदायके आचार्यों द्वारा पूर्वकालीन तथा समकालीन आचार्योंका उल्लेख किया जाना ठीक है। इतना ही नहीं; पर स्वसम्प्रदायमें तो किसी वृद्ध आचार्य द्वारा असाधारण-प्रतिभाशाली युवक आचार्यका भी उल्लेख होना सम्भव है। पर अन्य सम्प्रदायके आचार्यों द्वारा समालोचन या उल्लेख होने योग्य प्रसिद्धिके लिए कुछ समय अवश्य ही अपेक्षित होता है। क्योंकि १२-१३ सौ वर्ष पूर्वके साम्प्रदायिक वातावरणमें असाधारण प्रसिद्धिके बिना अन्य सम्प्रदायके आचार्योंपर इस प्रकारकी छाप नहीं पड़ सकती, जिससे वे उल्लेख करनेमें तथा समालोचन या अनुसरण करनेमें प्रवृत्त हों। अतः सम्प्रदायान्तरके उल्लेख या समालोचन करनेवाले आचार्यसे समालोच्य या उल्लेखनीय आचार्यके समयमें समकालीन होनेपर भी १५-२० वर्ष जितने समयका पौर्वापर्य मानना विशेष सयुक्तिक जान पड़ता है। यद्यपि इसके अपवाद मिल सकते हैं और मिलते भी हैं; पर साधारणतया यह प्रणाली सत्यमार्गोन्मुख होती है। दूसरे समानकालीन लेखकोंके द्वारा लिखी गई विश्वस्त सामग्रीके अभावमें ग्रन्थोंके आन्तरिकपरीक्षणको अधिक महत्त्व देना सत्यके अधिक निकट पहुँचनेका प्रशस्त मार्ग है। आन्तरिक परीक्षणके सिवाय अन्य बाह्य साधनोंका उपयोग तो खींचतान करके दोनों ओर किया जा सकता है, तथा लोग करते भी हैं। मैं यहाँ इसी विचार पद्धतिके अनुसार विचार करूँगा।

अकलंकके ग्रन्थोंके आन्तरिक अवलोकनके आधारसे मेरा विचार स्पष्टरूपसे अकलंकके समयके विषयमें डॉ० पाठकके मतकी ओर ही अधिक झुकता है। हाँ, मेरी समर्थनपद्धति डॉ० पाठककी समर्थन पद्धतिसे भिन्न है। मैं पहिले विरोधी मतकी उन एक दो खास युक्तियोंकी आलोचना करूँगा जिनके आधारपर उनका मत स्थिर है, फिर उन विचारोंको विस्तारसे लिखूँगा जिनने मेरी मति डॉ० पाठकके मतसमर्थनकी ओर झुकाई।

आलोचना—( १ ) निशीथचूर्णिमें सिद्धिविनिश्चयका दर्शनप्रभावकरूपसे उल्लेख है तो सही। यह भी ठीक है कि इसके कर्ता जिनदासगणिमहत्तर हैं, क्योंकि निशीथचूर्णिके अन्तमें दी हुई गाथासे उनका नाम स्पष्टरूपसे निकल आता है। पर अभी इस चूर्णिके रचनाकालका पूरा निश्चय नहीं है। यद्यपि नन्दीचूर्णिकी प्राचीन और विश्वसनीय प्रतिमें उसका रचनासमय शक ५९८ ( ई० ६७६ ) दिया है पर इसके कर्ता जिनदासगणिमहत्तर हैं यह अभी संदिग्ध है। इसके कारण ये हैं—

१—अभी तक परम्परागत प्रसिद्धि ही ऐसी चली आ रही है कि नन्दीचूर्णि जिनदासकी है, पर कोई

---

१. इन दोनों मतोंके समर्थनकी सभी युक्तियोंका विस्तृत संग्रह न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रस्तावनामें देखना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधकप्रमाण नहीं मिला। भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिरके जैनागम कैटलॉगमें प्रो० H. R. कापड़िया ने स्पष्ट लिखा है कि—नन्दीचूर्णिके कर्त्ता जिनदास हैं यह प्रघोषमात्र है।

२—निशीथचूर्णिकी तरह नन्दीचूर्णिके अन्तमें जिनदासने अपना नाम नहीं दिया।

३—नन्दीचूर्णिके अन्तमें पाई जानेवाली—

"णिरेण गामेल्ल महासहा जिता, पसूयती संख जगद्धिताकुला।
कमद्धिता वीसंत चिंतितक्खरो फुडं कहेयं अभिहाणकम्मुणा॥"

इस गाथाके अक्षरोंको लौट पलटनेपर भी 'जिनदास' नाम नहीं निकलता।

४—नन्द्यध्ययन टीकाके रचयिता आचार्य मलयगिरिको भी चूर्णिकारका नाम नहीं मालूम था; क्योंकि वे अपनी टीका[1] में पूर्वटीकाकार आचार्योंका स्मरण करते समय हरिभद्रसूरिका तो नाम लेकर स्मरण करते हैं जब कि हरिभद्रके द्वारा आधार रूपसे अवलम्बित चूर्णिके रचयिताका वे नामोल्लेख नहीं करके 'तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोऽस्तु' इतना लिखकर ही चुप हो जाते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि—आचार्य मलयगिरि चूर्णिकारके नामसे अपरिचित थे; अन्यथा वे हरिभद्रकी तरह चूर्णिकारका नाम लिये बिना नहीं रहते।

अतः जब नन्दीचूर्णिकी और निशीथचूर्णिकी एककर्तृकता ही अनिश्चित है तब नन्दीचूर्णिके समयसे निशीथचूर्णिके समयका निश्चय नहीं किया जा सकता। इस तरह अनिश्चितसमयवाला निशीथचूर्णिका सिद्धिविनिश्चयवाला उल्लेख अकलंकका समय ई० ६७६ से पहिले ले जानेमें साधक नहीं हो सकता।

( २ ) अकलंकचरितके 'विक्रमार्क शकाब्द' वाले उल्लेखको हमें अन्य समर्थ प्रमाणोंके प्रकाशमें ही देखना तथा संगत करना होगा; क्योंकि अकलंकचरित १५वीं १६वीं शताब्दीका ग्रन्थ है। यह अकलंकसे करीब सात आठ सौ वर्ष बाद बनाया गया है। अकलंकचरितके कर्ताके सामने यह परम्परा रही होगी कि 'संवत् ७०० में अकलंकका शास्त्रार्थ हुआ था'; पर उन्हें यह निश्चित मालूम नहीं था कि—यह संवत् विक्रम है या शक अथवा और कोई? आगे लिखे हुए 'अकलंकके ग्रन्थोंकी तुलना' शीर्षक स्तम्भसे यह स्पष्ट हो जायगा कि अकलंकने भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, कर्णकगोमि आदि आचार्योंके विचारोंकी आलोचना की है। कुमारिल आदिका कार्यकाल सन् ६५० ई० से पहले किसी भी तरह नहीं जाता; क्योंकि भर्तृहरि ( सन् ६०० से ६५० ) की आलोचना कुमारिल आदिके ग्रन्थोंमें पाई जाती है। यदि विक्रमार्क शकाब्दसे विक्रमसंवत् विवक्षित किया जाय तो अकलंकको कुमारिल आदिसे पूर्वकालीन नहीं तो ज्येष्ठ तो अवश्य ही मानना पड़ेगा। यह अकलंकके द्वारा जिन अन्य आचार्योंकी समालोचना की गई है, उनके समयसे स्पष्ट ही विरुद्ध पड़ता है। अतः हम इस श्लोकको इतना महत्त्व नहीं दे सकते, जिससे हमें सारी वस्तुस्थितिको उलटकर भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर और कर्णकगोमिको, जिनमें स्पष्टरूपसे पौर्वापर्य है खींचतानकर समान कालमें लाना पड़े। अकलंकदेवके ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि उनका बौद्धदर्शनविषयक अभ्यास धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्योंके मूल एवं टीकाग्रन्थोंका था। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि—उन्होंने वसुबन्धु या दिग्नागके ग्रन्थ नहीं देखे थे। किन्तु बौद्धोंके साथ महान् शास्त्रार्थ करनेवाले अकलंकको उन पूर्वग्रन्थोंका देखना भर

१. भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिरके जैनागम कैटलॉग ( Part II. P. 302 ) में मलयगिरिरचित लिखित तीन नन्दिसूत्रविवरणोंका परिचय है। उनमें चूर्णिकार तथा हरिभद्रका निम्न श्लोकोंमें स्मरण किया है—

"नन्द्यध्ययनं पूर्वं प्रकाशितं येन विषमभावार्थम्। तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोस्तु विदुषे परोपकृते॥ १॥
मध्ये समस्तभूपीठं यशो यस्याभिवर्द्धत। तस्मै श्रीहरिभद्राय नमष्टीकाविधायिने॥ २॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याप्त नहीं था, उन्हें तो शास्त्रार्थमें खण्डनीय जटिल युक्तिजालका विशिष्ट अभ्यास चाहिए था। इसलिये शास्त्रार्थमें उपयोगी दलीलोंके कोटिक्रममें पूर्ण निष्णात अकलंकका महान्‌वाद विक्रम ७०० में असंभव मालूम होता है; क्योंकि धर्मकीर्ति आदिका ग्रन्थरचनाकाल सन् ६६० से पहिले किसी तरह संभव नहीं है। सारांश यह कि—हमें इस उल्लेखकी संगतिके लिये अन्य साधक एवं पोषक प्रमाण खोजने होंगे। मैंने इसी दिशामें यह प्रयत्न किया है।

अन्य हरिभद्र, सिद्धसेनगणि आदि द्वारा अकलंकका उल्लेख, हरिवंश[1]पुराणमें अकलंकका उल्लेख, वीरसेन द्वारा राजवार्तिकके अवतरण लिये जाना आदि ऐसे रबरप्रकृतिक प्रमाण हैं, जिन्हें खींचकर कहीं भी बिठाया जा सकता है। अतः उनकी निराधार खींचतानमें मैं अपना तथा पाठकोंका समय खर्च नहीं करूँगा।

### ३. अकलंकके ग्रन्थोंकी तुलना

हमें अकलंकके ग्रन्थोंके साथ जिन आचार्योंके ग्रन्थोंकी तुलना करना है उनके पारस्परिक पौर्वापर्य एवं समयके निर्णयकी खास आवश्यकता है। अतः तुलना लिखनेके पहिले उन खास-खास आचार्योंके पौर्वापर्य तथा समयके विषयकी आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इसमें प्रथम भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित आदि आचार्योंके समय आदिका विचार होगा फिर इनके साथ अकलंककी तुलना करके अकलंकदेवका समय निर्णीत होगा।

**भर्तृहरि और कुमारिल**—इत्सिंगके उल्लेखानुसार भर्तृहरि उस समयके एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे। उस समय इनका वाक्यविषयकचर्चावाला वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध था। इत्सिंगने जब (सन् ६९१) अपना यात्रा वृत्तान्त लिखा तब भर्तृहरिको मृत्यु हुए ४० वर्ष हो चुके थे। अतः भर्तृहरिका समय सन् ६००-६५० तक सुनिश्चित है। भर्तृहरि शब्दाद्वैत दर्शनके प्रस्थापक थे। मीमांसकधुरीण कुमारिलने भर्तृहरिके वाक्यपदीय-से अनेकों श्लोक उद्धृतकर उनकी समालोचना की है। यथा—

"अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु॥" —वाक्यपदीय २।१२१

तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) में यह श्लोक दो जगह उद्धृत होकर आलोचित हुआ है। इसी तरह

---

१. हरिवंशपुराणके "इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः। देवस्य देवसंघस्य न वन्दन्ते गिरः कथम्॥" (१-३१) इस श्लोकमें पं कैलाशचन्द्रजी देवनन्दिका स्मरण मानते हैं। उसके लिये 'देवसंघस्य' की जगह 'देववन्द्यस्य' पाठ शुद्ध बताते हैं (न्यायकुमुद प्रस्ता०); पर इस श्लोकका 'इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडि-व्याकरणेक्षिणः' विशेषण ध्यान देने योग्य है। इसका तात्पर्य यह है कि—वे देव इन्द्र चन्द्र अर्क जैनेन्द्र व्याडि आदि व्याकरणोंके इक्षिन्-द्रष्टा—विशिष्ट अभ्यासी थे। देवनन्दि इन्द्र आदि व्याकरणोंके अभ्यासी तो हो सकते हैं पर जैनेन्द्रव्याकरणके तो वे रचयिता थे। यदि देवनन्दिका स्मरण हरिवंशकारको करना था तो वे 'जैनेन्द्रकर्तुः या जैनेन्द्रप्रणेतुः' ऐसा कोई पद रखते। एक ही पदमें जैनेन्द्रके कर्ता तथा इन्द्रादि व्याकरणोंके अभ्यासी देवनन्दिका उल्लेख व्याकरणशास्त्रके नियमोंसे विरुद्ध है। देवनन्दिका स्मरण माननेके लिए 'देवसंघस्य' की जगह 'देववन्द्यस्य' पाठरूप कल्पनागौरवका, तथा 'देवनन्दस्य' पाठके भ्रष्ट रूपसे देवनन्दिका संकेत माननेरूप क्लिष्टकल्पनाका भार व्यर्थ ही ढोना पड़ता है। अतः इस श्लोकमें शब्दशास्त्रनिष्णात अकलंकका ही स्मरण मानना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तन्त्रवार्तिक ( पृ० २०९-१० ) में कुमारिलने वाक्यपदीयके "तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते" ( वाक्यप० १।७ ) अंश को उद्धृतकर उसका खंडन किया है। मीमांसाश्लोकवार्तिक ( वाक्याधिकरण श्लोक ५१ से ) में वाक्यपदीय ( २।१-२ ) में आए हुए दशविध वाक्यलक्षणोंका समालोचन किया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी भी आलोचना कुमारिलने ( मी० श्लो० स्फोटवाद ; बड़ी प्रखरतासे की है। डॉ० के० बी० पाठकने यह निर्धारित किया है कि—कुमारिल ईसवी सन्की ८वीं शताब्दीके पूर्वभागमें हुए हैं। डॉ० पाठकके द्वारा अन्विष्ट प्रमाणोंसे इतना तो स्पष्ट है कि कुमारिल भर्तृहरि ( सन् ६५० ) के बाद हुए हैं। अतः कमसे कम उनका कार्यकाल सन् ६५० के बाद तो होगा; पर वे इतने बाद तो कभी नहीं हो सकते। मेरे 'धर्मकीर्ति और कुमारिल' के विवेचनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि—कुमारिल भर्तृहरिके बाद होकर भी धर्मकीर्तिके कुछ पूर्व हुए हैं; क्योंकि धर्मकीर्तिने कुमारिलके विचारोंका खंडन किया है। डॉ० पाठक कुमारिल और धर्मकीर्तिके पारस्परिक पौर्वापर्यके विषयमें अभ्रान्त नहीं थे। यही कारण है कि—वे कुमारिलका समय ई० ८वीं का पूर्वभाग मानते थे। धर्मकीर्तिका समय आगे सन् ६२० से ६९० तक निश्चित किया जायगा। अतः कुमारिलका समय सन् ६०० से ६८० तक मानना ही समुचित होगा।

भर्तृहरि और धर्मकीर्ति—कुमारिलकी तरह धर्मकीर्तिने भी भर्तृहरिके स्फोटवाद तथा उनके अन्य विचारोंका खंडन अपने प्रमाणवार्तिक तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्तिमें किया है। यथा—

१—धर्मकीर्ति स्फोटवादका खण्डन प्रमाणवार्तिक ( ३।२५१ से ) में करते हैं।

२—भर्तृहरि की—"नादेनाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते॥"

—वाक्यप० १।८५

इस कारिकामें वर्णित वाक्यार्थबोधप्रकारका खण्डन धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति ( ३।२५३ ) में इस प्रकार उल्लेख करके करते हैं—

"समस्तवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यया बुद्धया वाक्यावधारणमित्यपि मिथ्या।"

अतः धर्मकीर्तिका समय भर्तृहरिके अनन्तर माननेमें कोई सन्देह नहीं है।

कुमारिल और धर्मकीर्ति—डॉ० विद्याभूषण आदिको विश्वास था कि कुमारिलने धर्मकीर्तिकी आलोचना की है। मद्रास युनि०से प्रकाशित बृहतीके द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें प्रो० रामनाथ शास्त्रीने उक्त मन्तव्यकी पुष्टिके लिये मीमांसाश्लोकवार्तिकके ४ स्थल ( मी० श्लो० पृ० ६९ श्लो० ७६, पृ० ८३ श्लो० १३१, पृ० १४४ श्लो० ३६, पृ० २५० श्लो० १३१ ) भी खोज निकाले हैं। मालूम होता है कि—इन स्थलोंकी पार्थसारथिमिश्र विरचित न्यायरत्नाकर व्याख्यामें जो उत्थान वाक्य दिए हैं, उन्हींके आधारसे ही प्रो० रामनाथजीने उन श्लोकोंको धर्मकीर्तिके मतखण्डनपरक समझ लिया है। यहाँ पार्थसारथिमिश्रकी तरह, जो कुमारिलसे ४-५ सौ वर्ष बाद हुए हैं, शास्त्रीजी भी भ्रममें पड़ गए हैं। क्योंकि उन श्लोकोंमें कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिसके बलपर उन श्लोकोंका अर्थ साक्षात् धर्मकीर्तिके मतखण्डनपरक रूपमें लगाया जा सके। ४-५ सौ वर्ष बाद हुए टीकाकारको, जिसकी दृष्टि ऐतिहासिककी अपेक्षा तात्त्विक अधिक है ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है। इसी तरह डॉ० पाठक[1]का यह लिखना भी अभ्रान्त नहीं है कि—"मीमांसा श्लोकवार्तिकके शून्यवाद प्रकरणमें कुमारिलने बौद्धमतके 'बुद्धयात्मा ग्राह्य ग्राहक रूपसे भिन्न दिखाई देता है' इस विचारका

१. यह उद्धरण न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रस्तावनासे लिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्डन किया है। श्लोकवार्तिककी व्याख्यामें इस स्थानपर सुचरितमिश्र धर्मकीर्तिका निम्न श्लोक, जिसको शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्यने भी उद्धृत किया है, बारम्बार उद्धृत करते हैं—

"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥" —प्रमाणवा० २।३५४

इससे यह मालूम होता है कि कुमारिल धर्मकीर्तिके बाद हुए हैं।"

डॉ० पाठक जिन श्लोकोंकी व्याख्यामें सुचरितमिश्र द्वारा 'अविभागोऽपि' श्लोक उद्धृत किए जानेका जिक्र करते हैं, वे श्लोक ये हैं—

"मत्पक्षे यद्यपि स्वच्छो ज्ञानात्मा परमार्थतः। तथाप्यनादौ संसारे पूर्वज्ञानप्रसूतिभिः॥
चित्राभिश्चित्रहेतुत्वाद्वासनाभिरुपप्लवात्। स्वानुरूपेण नीलादिग्राह्यग्राहकदूषितम्॥
प्रविभक्तमिवोत्पन्नं नान्यमर्थमपेक्षते।" —मी० श्लो० शून्यवाद श्लो० १५-१७

इन श्लोकोंकी व्याख्यामें न केवल सुचरितमिश्रने ही किन्तु पार्थसारथिमिश्रने भी 'अविभागोऽपि' श्लोकको उद्धृतकर बौद्धमतका पूर्वपक्ष स्थापित किया है। पर इन श्लोकोंकी शब्दावलीका ध्यानसे पर्य्यवेक्षण करनेपर ज्ञात होता है कि—ग्रन्थकार इन श्लोकोंको सीधे तौरसे पूर्वपक्षके किसी ग्रन्थसे उठाकर उद्धृत कर रहा है। इनकी शब्दावली 'अविभागोऽपि' श्लोककी शब्दरचनासे करीब-करीब बिल्कुल भिन्न है। यद्यपि आर्थिक दृष्टिसे 'अविभागोऽपि' श्लोककी संगति 'मत्पक्षे' आदि श्लोकोंसे ठीक बैठ सकती है; पर यह विषय स्वयं धर्मकीर्ति द्वारा मूलतः नहीं कहा गया है। धर्मकीर्तिके पूर्वज आचार्य वसुबन्धु आदिने विंशतिकाविज्ञप्तिमात्रता और त्रिंशतिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धि आदि ग्रन्थोंमें बड़े विस्तारसे उक्त विषयका स्थापन किया है। दिग्नागके जिस प्रमाणसमुच्चयपर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक वृत्ति रची है उसमें तो इसका विवेचन होगा ही। स्थिरमति आदि विज्ञानवादियोंने वसुबन्धुकी त्रिंशतिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धिपर भाष्य आदि रचके उक्त मतको पूरी-पूरी तौरसे पल्लवित किया है। धर्मकीर्ति तो उक्त मतके अनुवादक हैं। अतः सुचरिता मिश्र या पार्थसारथिमिश्रके द्वारा उद्धृत श्लोकके बलपर कुमारिलको धर्मकीर्तिका समालोचक नहीं कहीं जा सकता।

अब मैं कुछ ऐसे स्थल उद्धृत करता हूँ जिनसे यह निर्धारित किया जा सकेगा कि धर्मकीर्ति ह कुमारिलका खण्डन करते हैं—

१-कुमारिलने शाबरभाष्यके 'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्' इस वाक्यको ध्यानमें रखकर अपने द्वारा किए गए सर्वज्ञत्वनिराकरणका एक ही तात्पर्य बताया है कि—

"[1]धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥"

अर्थात्—सर्वज्ञत्वके निराकरणका तात्पर्य है धर्मज्ञत्वका निषेध। धर्मके सिवाय अन्य सब पदार्थोंके जाननेवालेका निषेध यहाँ प्रस्तुत नहीं है।

धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक ( १-३१-३५ ) में ठीक इससे विपरीत सुगतकी धर्मज्ञता ही पूरे जोरसे सिद्ध करते हैं, उन्हें सुगतकी सर्वज्ञता अनुपयोगी मालूम होती है। वे लिखते हैं कि—

"हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः। यहः प्रमाणमसाविष्टः न तु सर्वस्य वेदकः॥

---

१. यह श्लोक कुमारिलके नामसे तत्त्वसंग्रह ( पृ० ८१७ ) में उद्धृत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु । प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्महे ॥"
—प्रमाणवा० १।३४-३५

अर्थात्—जो हेय—दुख, उपादेय—निरोध, हेयोपाय—समुदय, और उपादेयोपाय—मार्ग इन चार आर्यसत्योंका जानता है वही प्रमाण है। उसे समस्त पदार्थोंका जाननेवाला होना आवश्यक नहीं है। वह दूर-अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाने या न जाने, उसे इष्टतत्त्वका परिज्ञान होना चाहिए। यदि दूरवर्ती पदार्थोंका द्रष्टा ही उपास्य होता हो तब तो हमको दूरद्रष्टा गृद्धोंकी उपासना पहिले करनी चाहिए।

२—कुमारिलने शब्दको नित्यत्व सिद्ध करनेमें जिन क्रमबद्ध दलीलोंका प्रयोग किया है, धर्मकीर्ति उनका प्रमाणवार्तिकमें ( ३।२६५ से आगे ) खण्डन करते हैं।

३—कुमारिलके 'वर्णानुपूर्वी वाक्यम्' इस वाक्यलक्षणका धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक ( ३।२५९ ) में 'वर्णानुपूर्वी वाक्यं चेत्' उल्लेख करके उसका निराकरण करते हैं।

४—कुमारिलके "नित्यस्य नित्य एवार्थः कृतकस्याप्रमाणता"—मी० श्लो० वेदनि० श्लो० १४

इस वाक्यका धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिकमें उल्लेख करके उसकी मखौल उड़ाते हैं—

"मिथ्यात्वं कृतकेष्वेव दृष्टमित्यकृतकं वचः ।
सत्यार्थं व्यतिरेकेण विरोधिन्यापनाद् यदि ॥—प्रमाणवा० ३।२८९

५—कुमारिलके "अतोऽत्र पुन्निमित्तत्वादुपपन्ना मृषार्थता" । —मी० श्लो० चोदनासू० श्लोक० १६९ इस श्लोकका खंडन धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति ( ३।२९१ ) में किया है—"ततो यत्किञ्चिन्मिथ्यार्थं तत्सर्वं पौरुषेयमित्यनिश्चयात् ।"

६—कुमारिलने "आप्तवादाविसंवादसामान्यादनुमानता" दिग्नागके इस वचनकी मीमांसाश्लोकवार्तिक ( पृ० ४१८ और ९१३ ) में समालोचना की है। इसका उत्तर धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक ( ३।२१६ ) में देते हैं।

७—कुमारिल श्लोकवार्तिक ( पृ० १६८ ) में निर्विकल्पकप्रत्यक्षका निम्नरूपसे वर्णन करते हैं—

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानमदृश्यं शुद्धवस्तुजम् ॥

धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक ( २।१४१ ) में इसका "केचिदिन्द्रियजत्वादेर्बालधीवदकल्पनाम् । आहुर्बालाः....." उल्लेख करके खण्डन किया है।

८—कुमारिल वेदके अपौरुषेयत्वसमर्थनमें वेदाध्ययनवाच्यत्व हेतुका भी प्रयोग करते हैं—

"वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥"—मी० श्लो० पृ० ९४९

धर्मकीर्ति अपौरुषेयत्वसाधक अन्य हेतुओंके साथ ही साथ कुमारिलके इस हेतुका भी उल्लेख करके खण्डन करते हैं—

"यथाऽयमन्यतोऽश्रुत्वा नेमं वर्णपदक्रमम् ।
वक्तुं समर्थः पुरुषः तथान्योऽपीति कश्चन ॥"—प्रमाणवा० ३।२४०

प्रमाणवार्तिकस्वोपज्ञवृत्तिके टीकाकार कर्णकगोमि इस श्लोककी उत्थानिका इस प्रकार देते हैं—"तदेवं कर्त्तुरस्मरणादिति हेतुं निराकृत्य अन्यदपि साधनम् वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्....इति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूषयितुमुपन्यस्यति यथेत्यादि ।" इससे स्पष्ट है कि-इस श्लोकमें धर्मकीर्ति कुमारिलके वेदध्ययनवाच्यत्व हेतुका ही खंडन कर रहे हैं ।

इन उद्धरणोंसे यह बात असन्दिग्धरूपसे प्रमाणित हो जाती है कि-धर्मकीर्तिने ही कुमारिलका खंडन किया है न कि कुमारिलने धर्मकीर्तिका । अतः भर्तृहरिका समय सन् ६००से ६५० तक, कुमारिलका समय सन् ६००से ६८० तक, तथा धर्मकीर्तिका समय सन् ६२० से ६९० तक मानना समुचित होगा । धर्मकीर्तिके इस समयके समर्थनमें कुछ और विचार भी प्रस्तुत किए जाते हैं—

**धर्मकीर्तिका समय**—डॉ० विद्याभूषण आदि धर्मकीर्तिका समय सन् ६३५ से ६५० तक मानते हैं । यह प्रसिद्धि है कि—धर्मकीर्ति नालन्दा विश्वविद्यालयके अध्यक्ष धर्मपालके शिष्य थे । चीनी यात्री हुएनसांग जब सन् ६३५में नालन्दा पहुँचा तब धर्मपाल अध्यक्षपदसे निवृत्त हो चुके थे और उनका वयोवृद्ध शिष्य शीलभद्र अध्यक्षपद पर था । हुएनसांगने इन्हींसे योगशास्त्रका अध्ययन किया था । हुएनसांगने अपना यात्राविवरण सन् ६४५ ई०के बाद लिखा है । उसने अपने यात्रावृत्तान्तमें नालन्दाके प्रसिद्ध विद्वानोंकी जो नामावली दी है उसमें ये नाम हैं—धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानमित्र, शीलभद्र और शीलभद्र । धर्मकीर्तिका नाम न देनेके विषयमें साधारणतया यही विचार है, और वह युक्तिसंगत भी है कि—धर्मकीर्ति उस समय प्रारम्भिक विद्यार्थी होंगे ।

भिक्षु राहुलसांकृत्यायनजीका विचार है[1] कि—'धर्मकीर्तिकी उस समय मृत्यु हो चुकी होगी । चूंकि हुएनसांगको तर्कशास्त्रसे प्रेम नहीं था और यतः वह समस्त विद्वानोंके नाम देनेको बाध्य भी नहीं था, इसीलिए उसने प्रसिद्ध तार्किक धर्मकीर्तिका नाम नहीं लिया ।' राहुलजीका यह तर्क उचित नहीं मालूम होता; क्योंकि धर्मकीर्ति जैसे युगप्रधानतार्किकका नाम हुएनसांगको उसी तरह लेना चाहिए था जैसे कि उसने पूर्वकालीन नागार्जुन या वसुबन्धु आदिका लिया है । तर्कशास्त्रसे प्रेम न होनेपर भी गुणमति, स्थिरमति जैसे विज्ञानवादी तार्किकोंका नाम जब हुएनसांग लेता है तब धर्मकीर्तिने तो बौद्धदर्शनके विस्तारमें उनसे कहीं अधिक एवं ठोस प्रयत्न किया है । इसलिए धर्मकीर्तिका नाम लिया जाना न्यायप्राप्त ही नहीं था, किन्तु हुएनसांगकी सहज गुणानुरागिताका द्योतक भी था । यह ठीक है कि—हुएनसांग सबके नाम लेनेको बाध्य नहीं था, पर धर्मकीर्ति ऐसा साधारण व्यक्ति नहीं था जिसकी ऐसी उपेक्षा अनजानमें भी की जाती । फिर यदि धर्मकीर्तिका कार्यकाल गुणमति, स्थिरमति आदिसे पहिले ही समाप्त हुआ होता तो इनके ग्रन्थोंपर धर्मकीर्तिकी विशालग्रन्थराशिका कुछ तो असर मिलना चाहिए था । जो उनके ग्रन्थोंका सूक्ष्म पर्यवेक्षण करनेपर भी दृष्टिगोचर नहीं होता । हुएनसांगने एक जिनमित्र नामके आचार्यका भी उल्लेख किया है । इत्सिगके "धर्मकीर्तिने 'जिन' के पश्चात् हेतुविद्याको और सुधारा" इस उल्लेखके अनुसार तो यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि धर्मकीर्तिका कार्यकाल 'जिन' के पश्चात् था; क्योंकि हुएनसांगके '[2]जिनमित्र' और इत्सिगके 'जिन' एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं । अतः यही उचित मालूम होता है कि-धर्मकीर्ति उस समय युवा थे जब हुएनसांगने अपना यात्राविवरण लिखा ।

दूसरा चीनी यात्री इत्सिंग था । इसने सन् ६७१ से ६९५ तक भारतवर्षकी यात्रा की । यह सन् ६७५ से ६८५ तक दस वर्ष नालन्दा विश्वविद्यालयमें रहा । इसने अपना यात्रावृत्तान्त सन् ६९१-९२में लिखा

---

१. देखो वादन्यायकी प्रस्तावना ।

२. दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयपर जिनेन्द्रविरचित टीका उपलब्ध है । संभव है ये जिनेन्द्र ही हुएनसांगके जिनमित्र हों ।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इत्सिंगने नालन्दा विश्वविद्यालयकी शिक्षाप्रणाली आदिका अच्छा वर्णन किया है। वह विद्यालयके लब्ध-प्रतिष्ठ स्नातकोंकी चर्चाके सिलसिलेमें लिखता है कि–"प्रत्येक पीढ़ीमें ऐसे मनुष्योंमेंसे केवल एक या दो ही प्रकट हुआ करते हैं जिनकी उपमा चाँद या सूर्यसे होती है और उन्हें नाग और हाथीकी तरह समझा जाता है। पहिले समयमें नागार्जुनदेव, अश्वघोष, मध्यकालमें वसुबन्धु, असङ्ग, संघभद्र और भवविवेक, अन्तिम समयमें जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ, जिनप्रभ ऐसे मनुष्य थे।" ( इत्सिंगकी भारतयात्रा पृ० २७७ ) इत्सिंग ( पृ० २७८ ) फिर लिखते हैं कि "धर्मकीर्तिने 'जिन' के पश्चात् हेतुविद्याको और सुधारा। प्रज्ञागुप्तने ( मतिपाल नहीं ) सभी विपक्षी मतोंका खंडन करके सच्चे धर्मका प्रतिपादन किया।" इन उल्लेखोंसे मालूम होता है कि—सन् ६९१ तकमें धर्मकीर्तिकी प्रसिद्धि ग्रन्थकारके रूपमें हो रही थी। इत्सिंगने धर्मकीर्तिके द्वारा हेतुविद्याके सुधारनेका जो वर्णन किया है वह सम्भवतः धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु ग्रन्थको लक्ष्यमें रखकर किया गया है, जो हेतुविद्याका एक प्रधान ग्रन्थ है। वह इतना परिष्कृत एवं हेतुविद्यापर सर्वांगीण प्रकाश डालनेवाला है कि केवल उसीके अध्ययनसे हेतुविद्या-का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है।

इत्सिंगके द्वारा धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति आदिके साथ ही साथ धर्मकीर्ति तथा धर्मकीर्तिके टीका-कार शिष्य प्रज्ञागुप्तका नाम लिए जानेसे यह मालूम होता है कि—उसका उल्लेख किसी खास समयके लिए नहीं है किन्तु एक ८० वर्ष जैसे लम्बे समयवाले युगके लिए है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि—धर्मकीर्ति इत्सिंगके यात्राविवरण लिखने तक जीवित थे। यदि राहुलजीकी कल्पनानुसार धर्मकीर्तिकी मृत्यु हो गई होती तो इत्सिंग जिस तरह भर्तृहरिको धर्मपालका समकालीन लिखकर उनकी मृत्युके विषयमें भी लिखता है कि—'उसे मरे हुए अभी ४० वर्ष हो गए' उसी तरह अपने प्रसिद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्तिकी मृत्युपर भी आँसू बहाए बिना न रहता।

यद्यपि इत्सिंग धर्मकीर्तिको हेतुविद्याके सुधारक रूपसे लिखता है; परन्तु वह हेतुविद्यामें पाण्डित्य प्राप्त करनेके लिये पठनीय शास्त्रोंकी सूचीमें हेतुद्वारशास्त्र, हेत्वाभासद्वार, न्यायद्वार, प्रज्ञप्तिहेतु, एकीकृत अनुमानोंपर शास्त्र, आदि ग्रन्थोंका ही नाम लेता है, धर्मकीर्तिके किसी भी प्रसिद्ध ग्रन्थका नाम नहीं लेता। इसके ये कारण हो सकते हैं—इत्सिंगने अपना यात्राविवरण चाइनी भाषामें लिखा है अतः अनुवादकोंने जिन शब्दोंका हेतुद्वार, न्यायद्वार तथा हेत्वाभासद्वार अनुवाद किया है उनका अर्थ हेतुबिन्दु और न्यायबिन्दु भी हो सकता हो। अथवा धर्मकीर्तिको हेतुविद्याके सुधारक रूपमें जानकर भी इत्सिंग उनके ग्रंथोंसे परिचित न हो। अथवा उस समय धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंकी अपेक्षा अन्य आचार्योंके ग्रंथ नालन्दामें विशेषरूपसे पठन-पाठनमें आते होंगे।

इस विवेचनसे हमारा यह निश्चित विचार है कि—भर्तृहरि ( सन् ६०० से ६५० ) के साथ ही साथ उसके आलोचक कुमारिल ( सन् ६२० से ६८० ) की भी आलोचना करनेवाले, तथा प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, प्रमाणविनिश्चय, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्ध परीक्षा आदि ९ प्रौढ़, विस्तृत और सटीक प्रकरणोंके रचयिता धर्मकीर्तिकी समयावधि सन् ६३५–६५० से आगे लम्बानी ही होगी। और वह अवधि सन् ६२० से ६९० तक रखनी समुचित होगी। इससे हुएनसांगके द्वारा धर्मकीर्तिके नामका उल्लेख न होनेका, तथा इत्सिंग द्वारा होनेवाले उल्लेखका वास्तविक अर्थ भी संगत हो जाता है। तथा तिब्बतीय इतिहासलेखक तारानाथका धर्मकीर्तिको तिब्बतके राजा स्रोङ् सन् गम् पो का, जिसने सन् ६२९ से ६८९ तक राज्य किया था, समकालीन लिखना भी युक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकलंकदेवने भर्तृहरि कुमारिल तथा धर्मकीर्तिकी समालोचनाके साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, धर्मोत्तर आदिके विचारोंका भी आलोचन किया है। इन सब आचार्योंके ग्रंथोंके साथ अकलंकके ग्रन्थोंकी आन्तरिक तुलना अकलंकके समयनिर्णयमें खास उपयोगी होगी। इसलिए अकलंकके साथ उक्त आचार्योंकी तुलना क्रमशः की जाती है—

भर्तृहरि और अकलंक—भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचनाके सिलसिलेमें अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक ( पृ० २३१ ) में वाक्यपदीयकी ( १।७९ ) "इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्योभयस्य वा।" इस कारिकामें वर्णित इन्द्रियसंस्कार, शब्दसंस्कार तथा उभयसंस्कार रूप तीनों पक्षोंका खंडन किया है।

राजवार्तिक ( पृ० ४० ) में वाक्यपदीयकी "शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते"—वाक्यप० २।२३५ यह कारिका उद्धृत की गई है। सिद्धिविनिश्चय ( सिद्धिवि० टी० पृ० ५४६ से ) के शब्दसिद्धि प्रकरणमें भी स्फोटवादका खंडन है। शब्दाद्वैतवादका खंडन भी सिद्धिविनिश्चयमें (टी० पृ० ४५८ से) किया गया है।

कुमारिल और अकलंक—अकलंकदेवके ग्रन्थोंमें कुमारिलके मन्तव्योंके आलोचनके साथ ही साथ कुछ शब्दसादृश्य भी पाया जाता है—

१–कुमारिल सर्वज्ञका निराकरण करते हुए लिखते हैं कि—

"प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च।
सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति॥"—मी० श्लो० पृ० ८५

अर्थात्—जब प्रत्यक्षादिप्रमाणोंसे अबाधित प्रमेयत्वादि हेतु ही सर्वज्ञका सद्भाव रोक रहे हैं तब कौन उसे सिद्ध करनेकी कल्पना भी कर सकेगा ?

अकलंकदेव इसका प्रतिवन्दि उत्तर अपनी अष्टशती ( अष्टसह० पृ० ५८ ) में देते हैं कि—"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा" अर्थात्—जब प्रमेयत्व और सत्त्व आदि अनुमेयत्वका हेतुका पोषण कर रहे हैं तब कौन चेतन उस सर्वज्ञका प्रतिषेध या उसके सद्भावमें संशय कर सकता है ?

२–तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितके लेखानुसार कुमारिलने सर्वज्ञनिराकरणमें यह कारिका भी कही है कि—

"दश हस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि।"—तत्त्वसं० पृ० ८२६

अर्थात्—यह संभव है कि कोई प्रयत्नशील पुरुष अभ्यास करनेपर अधिकसे अधिक १० हाथ ऊँचा कूद जाय; पर सैकड़ों वर्षों तक कितना भी अभ्यास क्यों न करे वह १०० योजन ऊँचा कभी भी नहीं कूद सकता। इसी तरह कितना भी अभ्यास क्यों न किया जाय ज्ञानका प्रकर्ष अतीन्द्रियार्थके जाननेमें नहीं हो सकता।

अकलंकदेव सिद्धिविनिश्चय ( टीका पृ० ४२५ B. ) में इसका उपहास करते हुए लिखते हैं कि—

"दश हस्तान्तरं व्योम्नो नोत्प्लवेरन् भवादृशः। योजनानां सहस्रं किं वोत्प्लवेदधुना नरैः॥"

अर्थात्—जब शारीरिक असामर्थ्यके कारण आप दस हाथ भी ऊँचा नहीं कूद सकते तब दूसरोंसे हजार योजन कूदनेकी आशा करना व्यर्थ है। क्योंकि अमुक मर्यादासे ऊँचा कूदनेमें शारीरिकगुरुत्व बाधक होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३–कुमारिलने जैनसम्मत केवलज्ञानकी उत्पत्तिको आगमाश्रित मानकर यह अन्योन्याश्रय दोष दिया है कि—'केवलज्ञान हुए बिना आगमकी सिद्धि नहीं हो सकती तथा आगम सिद्ध हुए बिना केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।'—

"एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्।"
"नर्ते तदागमात्सिद्धचेत् न च तेनागमो विना।"—मी० श्लो० पृ० ८७

अकलंकदेव न्यायविनिश्चय ( का० ४१२-१३ ) में मीमांसाश्लोकवार्तिकके शब्दोंको ही उद्धृत कर इसका उत्तर यह देते हैं कि—सर्वज्ञ और आगमकी परम्परा अनादि है। इस पुरुषको केवलज्ञान पूर्व आगमसे हुआ तथा उस आगमकी उत्पत्ति तत्पूर्व सर्वज्ञसे। यथा—

"एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्। नर्ते तदागमात्सिद्धचेत् न च तेन विनागमः॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः। प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते॥"

शाब्दिक तुलना—

"पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत्।"—मी० श्लो० पृ० ६९५
"प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत्।"—न्यायवि० का० ११७
"तदयं भावः स्वभावेषु कुण्डलादिषु सर्पवत्।"—प्रमाणसं० पृ० ११२

धर्मकीर्ति और अकलंक—अकलंकने धर्मकीर्तिकी केवल मार्मिक समालोचना ही नहीं की है, किन्तु परपक्षके खंडनमें उनका शाब्दिक और आर्थिक अनुसरण भी किया है। अकलंकके साहित्यका बहुभाग बौद्धोंके खंडनसे भरा हुआ है। उसमें जहाँ धर्मकीर्तिके पूर्वज दिग्नाग आदि विद्वानोंकी समालोचना है वहाँ धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन प्रज्ञाकर तथा कर्णकगोमि आदिके विचारोंका भी निरसन किया गया है। अकलंक और धर्मकीर्तिकी पारस्परिक तुलना कुछ उद्धरणों द्वारा स्पष्ट रूपसे नीचे की जाती है—

१–धर्मकीर्तिके सन्तानान्तरसिद्धि प्रकरणका पहिला श्लोक यह है—

"बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात्। मन्यते बुद्धिसद्भावं सा न येषु न तेषु धीः।"

अकलंकदेवने राजवार्तिक ( पृ० १९ ) में इसे 'तदुक्तम्' लिखकर उद्धृत किया है तथा सिद्धिविनिश्चय ( द्वितीय परि० ) में तो 'ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अभ्रान्तैः पुरुषैः क्वचित्' इस हेरफेरके साथ मूलमें ही शामिल करके इसकी समालोचना की है।

२–हेतुबिन्दु प्रथमपरिच्छेदका "अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रेक्षावान् प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेषते" यह वाक्य लघीयस्त्रयकी स्वोपज्ञविवृति ( पृ० ३ ) में मूलरूपसे पाया जाता है। हेतुबिन्दुकी—

"पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः। अविनाभावनियमाद् हेत्वाभासास्ततोऽपरे॥"

इस आद्यकारिकाकी आलोचना सिद्धिविनिश्चयकी हेतुलक्षणसिद्धिमें की गई है।

३–प्रमाणविनिश्चयके "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः" वाक्यकी अष्टशती ( अष्टसह० पृ० २४२ ) में उद्धरण देकर आलोचना है।

४–वादन्यायकी—"असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति मेष्यते॥"

इस आद्यकारिकाकी समालोचना न्यायविनिश्चय ( का० ३७८ ) में, सिद्धिविनिश्चयके जल्पसिद्धि प्रकरण में तथा अष्टशती ( अष्टसह० पृ० ८१ ) में हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५–प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्तिका "तस्मादेकस्य भावस्य यावन्ति पररूपाणि तावत्यस्तदपेक्षाः तदसम्भविकार्यकारणाः तस्य भेदात् यावत्यश्च व्यावृत्तयः तावत्यः श्रुतयः।" यह अंश अष्टशती ( अष्टसह० पृ० १३८ ) के "ततो यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि" इस अंशसे शब्द तथा अर्थदृष्टया तुलनीय है।

६–प्रमाणवार्तिककी आलोचना तथा तुलनाके लिए उपयोगी अवतरण न्यायविनिश्चयादि ग्रंथोंमें प्रचुर रूपसे पाये जाते हैं। ये सब अवतरण प्रस्तुतग्रंथत्रयके टिप्पणोंमें संगृहीत किये हैं। देखो—लघी० टि० पृ० १३१-१३३, १३६-१३९, १४१, १४२, १४६, १४७, १५२ तथा न्यायविनिश्चय टि० पृ० १५५-१५७, १५९-१७० में आये हुए प्रमाणवार्तिकके अवतरण।

**प्रज्ञाकरगुप्त और अकलंक**—धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें प्रज्ञाकरगुप्त एक मर्मज्ञ टीकाकार हैं। ये केवल टीकाकार ही नहीं हैं किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी रखते हैं। इनका समय अभी तक पूर्ण रूपसे निश्चित नहीं है। डॉ० सतीशचंद्र विद्याभूषण उन्हें १०वीं सदीका विद्वान् बताते हैं। भिक्षु राहुल सांकृत्यायनजीने टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार इनका समय सन् ७०० दिया है। इनका नामोल्लेख अनन्तवीर्य सिद्धिविनिश्चयटीकामें, विद्यानन्द अष्टसहस्रीमें तथा प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्डमें करते हैं। जयन्तभट्टने ( न्यायमं० पृ० ७४ ) जिनका समय ईस्वी ८वींका मध्य भाग है, इनके वार्तिकालंकारके "एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्" इस वाक्यका खण्डन किया है। अतः इनका समय ८वीं सदीका प्रारम्भिक भाग तो होना ही चाहिए। इत्सिंगने अपने यात्राविवरणमें एक प्रज्ञागुप्त नामके विद्वान्का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—"प्रज्ञागुप्त ( मतिपाल नहीं ) ने सभी विपक्षी मतोंका खण्डन करके सच्चे धर्मका प्रतिपादन किया।" हमारे विचारसे इत्सिंगके द्वारा प्रशंसित प्रज्ञागुप्त दूसरे व्यक्ति नहीं हैं। वे वार्तिकालंकारके रचयिता प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं; क्योंकि इनके वार्तिकालंकारमें विपक्ष खण्डनका भाग अधिक है।

इस तरह सन् ६९१-९२ में लिखे गये यात्राविवरणमें प्रज्ञाकरगुप्तका नाम होनेसे ये भी धर्मकीर्तिके समकालीन ही हैं। हाँ, धर्मकीर्ति वृद्ध तथा प्रज्ञाकर युवा रहे होंगे। अतः इनका समय भी करीब ६७० से ७२५ तक मानना ठीक है। यह समय भिक्षु राहुलजी द्वारा सूचित टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार भी ठीक बैठता है। प्रज्ञाकरगुप्तके वार्तिकालंकारकी भिक्षु राहुलजी द्वारा की गयी प्रेसकापी पलटनेसे मालूम हुआ कि प्रज्ञाकरने मात्र प्रमाणवार्तिककी टीका ही नहीं की है; किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी प्रकट किये हैं। जैसे—

१–सुषुप्त अवस्थामें ज्ञानकी सत्ता नहीं मानकर जाग्रत् अवस्थाके ज्ञानको प्रबोध अवस्थाकालीन ज्ञानमें कारण मानना तथा भाविमरणको अरिष्ट–अपशकुनमें कारण मानना। तात्पर्य यह कि—अतीतकारणवाद और भाविकारणवाद दोनों ही प्रज्ञाकरके द्वारा आविष्कृत हैं। वे वार्तिकालंकार में लिखते हैं कि—

"अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्य्यमुभयापेक्षयापि समानम्। यथैव भूतापेक्षया तया भाव्यपेक्षयापि। नचानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनम्, व्यवहितस्यापि कारणत्वात्।

गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात्। जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम्॥
तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम्। कार्यकारणभावस्य तद्भाविन्यपि विद्यते॥
भावेन च भावो भाविनापि लक्ष्यत एव। मृत्युग्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहारः, यदि॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति ।"—वार्तिकालंकार पृ० १७६

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ११० A. ) का यह उल्लेख—"ननु प्रज्ञाकराभिप्रायेण भाविरोहिण्युदय-कार्यतया कृतिकोदयस्य गमकत्वात् कथं कार्यहेतौ नास्यान्तर्भावः"—इस बातका सबल प्रमाण है कि—प्रज्ञाकरगुप्त भाविकारणवादी थे। इसी तरह व्यवहितकारणवादके सिलसिलेमें अनन्तवीर्यका यह लिखना कि—"इति प्रज्ञाकरगुप्तस्यैव मतं न धर्मोत्तरादीनामिति मन्यते।" ( सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A.) प्रज्ञाकरके व्यवहितकारणवादी होनेका खासा प्रमाण है। प्रज्ञाकरके इस मतको समकालीन धर्मोत्तर आदि तथा उत्तरकालीन शान्तरक्षित आदि नहीं मानते थे।

२—स्वप्नान्तिकशरीर—प्रज्ञाकर स्वप्नमें स्थूल शरीरके अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर मानता है। स्वप्नमें जो शरीरका दौडना, त्रास, भूख, प्यास, मेरुपर्वतादिपर गमन आदि देखे जाते हैं वे सब क्रियाएँ, मौजूदा स्थूलकायके अतिरिक्त जो सूक्ष्मशरीर बनता है, उसीमें होती हैं। इस सूक्ष्मशरीरको वह स्वप्नान्तिकशरीर शब्दसे कहता है। यथा—

"यथा स्वप्नान्तिकः कायः त्रासलंघनधावनैः। जाग्रद्देहविकारस्य तथा जन्मान्तरेष्वपि ॥"

"स्वप्नान्तिकशरीरसञ्चारदर्शनात्।"—वार्तिकालंकार पृ० १४८, १८४

अनन्तवीर्याचार्यके सिद्धिविनिश्चयटीका ( पृ० १३८ B. ) में उल्लिखित "प्रज्ञाकरस्तु स्वप्नान्तिक-शरीरवादी....." वाक्यसे स्पष्ट है कि यह मत भी प्रज्ञाकरगुप्तका था।

३—धर्मकीर्तिने सुगतकी सर्वज्ञताके समर्थनमें अपनी शक्ति न लगाकर धर्मज्ञत्वका समर्थन ही किया है। पर प्रज्ञाकर धर्मज्ञत्वके साथ ही साथ सर्वज्ञत्वका भी समर्थन करते हैं। सर्वज्ञत्वके समर्थनमें वे 'सत्य-स्वप्नज्ञान'का दृष्टान्त भी देते हैं। यथा—

"इहापि सत्यस्वप्नदर्शिनोऽतीतादिकं संविदन्त्येव।"—वार्तिकालंकार पृ० ३९६

४—पीतशंखादिज्ञानोंके द्वारा अर्थक्रिया नहीं होती, अतः वे प्रमाण नहीं हैं, पर संस्थानमात्र अंशसे होनेवाली अर्थक्रिया तो उनसे भी हो सकती है, अतः उस अंशमें उन्हें अनुमानरूपसे प्रमाण मानना चाहिये, तथा अन्य अंशमें संशयरूप। इस तरह इस एक ज्ञानमें आंशिक प्रमाणता तथा आंशिक अप्रमाणता है। यथा—

"पीतशंखादिविज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियाव्याप्तेरभावात्। संस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानम्; तथाहि—

'प्रतिभास एवम्भूतो यः स न संस्थानवर्जितः। एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत् ॥'

ततोऽनुमानं संस्थाने, संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च, अनेन मणिप्रभायां मणिज्ञानं व्याख्यातम्।"—वार्तिकालंकार पृ० ६

अकलंकदेवने प्रज्ञाकरगुप्तके उक्त सभी सिद्धान्तोंका खण्डन किया है यथा—

१—अकलंकदेवने सिद्धिविनिश्चयमें जीवका स्वरूप बताते हुए 'अभिन्नः संविदात्मार्थः स्वापप्रबोधादौ' विशेषण दिया है। इसका तात्पर्य है कि—स्वाप और प्रबोध तथा मरण और जन्म आदिमें जीव अभिन्न रहता है, उसकी सन्तान विच्छिन्न नहीं होती। इसीका व्याख्यान करते हुए उन्होंने लिखा है कि—'तदभावे मिद्धादेरनुपपत्तेः' यदि सुप्तादि अवस्थाओंमें ज्ञानका अभाव माना जायगा तो मिद्ध-अतिनिद्रा मूर्च्छा आदि नहीं बन सकेंगी; क्योंकि सर्वथा ज्ञानका अभाव माननेसे तो मृत्यु ही हो जायगी। मूर्च्छा और अति-निद्रा व्यपदेश तो ज्ञानका सद्भाव माननेपर ही हो सकता है। हाँ, उन अवस्थाओंमें ज्ञान तिरोहित रहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। अनन्तवीर्याचार्य 'तदभावे मिद्धादेरनुपपत्तेः' वाक्यका व्याख्यान निम्नरूपसे करते हैं—"ननु स्वापे ज्ञानं नास्त्येव इति चेदत्राह—'तदभाव इत्यादि'''ज्ञानस्य अस्ति मिद्धादेः अनुपपत्तेः इति। मिद्धो निद्रा आदिः यस्य मूर्च्छादेः तस्यानुपपत्तेः मरणोपपत्तेः अवस्थाचतुष्टयाभावः तदवस्थ एव।" ( सिद्धिवि० टी० पृ० ५७९ A. ) इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि—अकलंकदेव सुषुप्तावस्थामें ज्ञान नहीं माननेवाले प्रज्ञाकरका खंडन करते हैं। अतएव वे न्यायविनिश्चय ( का० २२२ ) में भी जीवस्वरूपका निरूपण करते हुए 'सुषुप्तादौ बुद्धः' पद देते हैं। इसके अतिरिक्त व्यवहितकारणवादपर भी उन्होंने आक्षेप किया है। ( देखो सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A. )

इसके सिवाय अकलंकदेव सिद्धिविनिश्चय प्रथमपरिच्छेदमें स्पष्टरूपसे लिखते हैं कि—"न हि स्वापादौ चित्तचैत्तसिकानामभावं प्रतिपद्यमानान् प्रमाणमस्ति" अर्थात्—जो लोग स्वापादि अवस्थाओंमें निर्विकल्पक और सविकल्पकज्ञानका अभाव मानते हैं' उनका ऐसा मानना प्रमाणशून्य है। इस पंक्तिसे अकलंकके द्वारा प्रज्ञाकरके अतीतकारणवादके ऊपर किये गये आक्षेपकी बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है।

२—न्यायविनिश्चय ( का० ४७ ) में अकलंकदेवने प्रज्ञाकरके स्वप्नान्तिकशरीरका अन्तःशरीर शब्दसे उल्लेख करके पूर्वपक्ष किया है। सिद्धिविनिश्चय ( टी० पृ० १३८ B. ) में भी अकलंकने स्वप्नान्तिक शरीरपर आक्रमण किया है।

३—अकलंकदेव प्रज्ञाकरकी तरह सर्वज्ञताके समर्थनमें न्यायविनिश्चय ( कारि० ४०७ ) में स्वप्नका दृष्टान्त देते हैं तथा प्रमाणसंग्रह ( पृ० ९९ ) में तो स्पष्ट ही सत्यस्वप्नज्ञानका ही उदाहरण उपस्थित करते हैं। यथा—"स्वयंप्रभुरलङ्घनार्हः स्वार्थालोकपरिस्फुटमवभासते सत्यस्वप्नवत्।"

४—जिस प्रकार प्रज्ञाकरगुप्तने पीतशंखादिज्ञानको संस्थानमात्र अंशमें प्रमाण तथा इतरांशमें अप्रमाण कहा है। उसी तरह अकलंक भी लघीयस्त्रय तथा अष्टशतीमें द्विचन्द्रज्ञानको चन्द्रांशमें प्रमाण तथा द्वित्वांशमें अप्रमाण कहते हैं। दोनों ग्रन्थोंके अवतरणके लिए देखो—लघी० टि० पृ० १४० पं० २० से। अष्टशतीमें तो अकलंकदेव प्रज्ञाकरगुप्तकी संस्थानमात्रमें अनुमान माननेकी बातपर आक्षेप करते हैं। यथा—

"नापि लैङ्गिकं लिंगलिंगिसम्बन्धाप्रतिपत्तेः अन्यथा दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात्।"

—अष्टश० अष्टसह० पृ० २७७

इसके अतिरिक्त हम कुछ ऐसे वाक्य उपस्थित करते हैं जिससे प्रज्ञाकर और अकलंकके ग्रन्थोंकी शाब्दिक और आर्थिक तुलनामें बहुत मदद मिलेगी।

"एकमेवेदं सविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्।"—वार्तिकालंकार

"हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तज्ञानवृत्तेः प्रकृतेरपरां चैतन्यवृत्तिं कः प्रेक्षावान् प्रतिजानीते।"—सिद्धिवि० टी० पृ० ५२६ B. शेषके लिए देखो—लघी० टि० पृ० १३५ पं० ३१, न्यायवि० टि० पृ० १५९ पं० ११, पृ० १६२ पं० १३, पृ० १६५ पं० २०।

प्रज्ञाकरगुप्तने प्रमाणवार्तिक टीकाका नाम प्रमाणवार्तिकालंकार रखा है। इसीलिए उत्तरकालमें इनकी प्रसिद्धि 'अलङ्कारकार'के रूपमें भी रही है। अकलंकदेवका 'तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार' या 'तत्त्वार्थवार्तिकव्याख्यानालंकार' नाम भी वार्तिकालंकारके नामप्रभावसे अछूता नहीं मालूम होता। इस तरह उपर्युक्त दलीलोंके आधारसे कहा जा सकता है कि—अकलंकदेवने धर्मकीर्तिकी तरह उनके टीकाकार शिष्य प्रज्ञाकरगुप्तको देखा ही नहीं था किन्तु उनकी समालोचना भी डटकर की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्णकगोमि और अकलंक—धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके प्रथम-स्वार्थानुमान परिच्छेदपर ही वृत्ति बनाई थी। इस वृत्तिकी कर्णकगोमिरचित टीकाके प्रूफ हमारे सामने हैं। कर्णकगोमिके समयका बिलकुल ठीक निश्चय न होनेपर भी इतना तो उनके ग्रन्थ देखनेसे कहा जा सकता है कि—ये मंडनमिश्रके बादके हैं। इन्होंने अनेकों जगह मंडनमिश्रका नाम लेकर कारिकाएँ उद्धृत की हैं तथा उनका खंडन किया है। इनने प्रमाणवा० स्ववृ० टीका ( पृ० ८८ ) में 'तदुक्तं मण्डनेन' कहकर "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः। नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते॥" यह कारिका उद्धृत की है तथा इसका खण्डन भी किया है।

मण्डनमिश्रने स्फोटसिद्धि ( पृ० १९३ ) में मी० श्लोकवार्तिक ( पृ० ५४२ ) की "वर्णा वा ध्वनयो वापि" कारिका उद्धृत की है, तथा विधिविवेक ( पृ० २७९ ) में तन्त्रवार्तिक ( २।१।१ ) की 'अभिधाभावनामाहुः' कारिका उद्धृत की है। इसलिए इनका समय कुमारिल ( सन् ६०० से ६८० ) के बाद तो होना ही चाहिए। वृहती द्वितीयभागकी प्रस्तावनामें इनका समय सन् ६७० से ७२० सूचित किया है, जो युक्तियुक्त है।

अतः मण्डनका उल्लेख करनेवाले कर्णकगोमिका समय ७०० ई० के बाद होना चाहिए। ये प्रज्ञाकरगुप्तके उत्तरकालीन मालूम होते हैं; क्योंकि इन्होंने अपनी टीकामें ( पृ० १३७ ) 'अलङ्कार एव अवस्तुत्वप्रतिपादनात्' लिखकर वार्तिकालंकारका उल्लेख किया है। अतः इनका समय ६९० से पहिले होना संभव ही नहीं है।

अकलंकदेवने प्रमाणसंग्रहमें इनके मतकी भी आलोचना की है। यथा—

जब कुमारिल आदिने बौद्धसम्मत पक्षधर्मत्वरूपपर आक्षेप करते हुए कहा कि कृतिकोदयादि हेतु तो शकटोदयादि पक्षमें नहीं रहते, अतः हेतुका पक्षधर्मत्वरूप अव्यभिचारी कैसे कहा जा सकता है? तब इसका उत्तर कर्णकगोमिने अपनी स्ववृत्तिटीकामें इस प्रकार दिया है कि—कालको पक्ष मानकर पक्षधर्मत्व घटाया जा सकता है। यथा—"तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम्? [ प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ११ ]

अकलंकदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि—यदि कालादिको धर्मी मानकर पक्षधर्मत्व सिद्ध करोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा। यथा—"कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्गः।"—प्रमाणसं० पृ० १०४

धर्मोत्तर और अकलंक—प्रज्ञाकरकी तरह धर्मोत्तर भी धर्मकीर्तिके यशस्वी टीकाकार हैं। इन्होंने प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु आदिपर टीका लिखनेके सिवाय कुछ स्वतन्त्र प्रकरण भी लिखे हैं। न्यायविनिश्चयविवरणकार ( पृ० ३९० B. ) के लेखानुसार मालूम होता है कि—अकलंकदेवने न्यायविनिश्चय ( का० १६२ ) में धर्मोत्तर ( न्यायवि० टी० पृ० १९ ) के मानसप्रत्यक्ष विषयक विचारोंकी आलोचना की है। इसी तरह वे न्यायविनिश्चयविवरण ( पृ० २६ B. ) में लिखते हैं कि—चूर्णिमें अकलंकदेवने धर्मोत्तरके ( न्यायबिन्दुटीका पृ० १ ) आदिवाक्यप्रयोजन तथा शास्त्रशरीरोपदर्शनका प्रतिक्षेप किया है। यह चूर्णि अकलंकदेवकी ही है; क्योंकि—'तथा च सूक्तं चूर्णौ देवस्य वचनम्' इस उल्लेखके साथ ही एक श्लोक न्यायविनिश्चयविवरणमें उद्धृत देखा जाता है ( देखो इसी ग्रन्थका परिशिष्ट ९वाँ )। इसी तरह अनन्तवीर्याचार्यने सिद्धिविनिश्चयके अनेक वाक्योंको धर्मोत्तरके खंडन रूपमें सूचित किया है। धर्मोत्तर करीब-करीब प्रज्ञाकरके समकालीन मालूम होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शान्तरक्षित और अकलंक—धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें शान्तरक्षित भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने वादन्यायकी टीकाके सिवाय तत्त्वसंग्रह नामका विशाल ग्रन्थ भी लिखा है। इसका समय सन् ७०५ से ७६२ तक माना जाता है। ( देखो तत्त्वसंग्रहकी प्रस्तावना ) अकलंक और शान्तरक्षितकी तुलनाके लिए हम कुछ वाक्य नीचे देते हैं—

"वृक्षे शाखाः शिलाश्चाग इत्येषा लौकिका मतिः।"—तत्त्वसं० पृ० २६७

"तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः।"—न्यायविनि० का० १०४,
प्रमाणसं० का० २६

"अविकल्पमविभ्रान्तं तद्योगीश्वरमानसम्।"—तत्त्वसं० पृ० ९३४

"अविकल्पकमभ्रान्तं प्रत्यक्षं न पटीयसाम्।"—न्यायवि० का० १५५

"एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः। निहन्तुं हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति॥"
—तत्त्वसं० पृ० ८८५

"तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा॥"
—अष्टश० अष्टसह० पृ० ५८

इनके सिवाय शान्तरक्षितने सर्वज्ञसिद्धिमें ईक्षणिकादिविद्याका दृष्टान्त दिया है।

यथा—"अस्ति हीक्षणिकाद्याख्या विद्या यां ( या ) सुविभाविता।
परचित्तपरिज्ञानं करोतीहैव जन्मनि॥" —तत्त्वसं० पृ० ८८८

अकलंकदेव भी ( न्यायवि० का० ४०७ ) सर्वज्ञसिद्धिमें ईक्षणिकाविद्याका दृष्टान्त देते हैं।

इन अवतरणोंसे अकलंक और शान्तरक्षितके बिम्बप्रतिबिम्बभावका आभास हो सकता है।

अकलंकके साथ की गई प्रज्ञाकर आदिकी तुलनासे यह बात निर्विवाद रूपसे सिद्ध हो जाती है कि अकलंकदेव इनके उत्तरकालीन नहीं तो लघुसमकालीन तो अवश्य ही हैं। उक्त समस्त आचार्योंको खींचकर एक कालमें किसी भी तरह नहीं रखा जा सकता। अतः भर्तृहरिके समालोचक कुमारिल, कुमारिलका निरसन करनेवाले धर्मकीर्ति, धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्त तथा प्रज्ञाकरगुप्तके वार्तिकालंकारके बाद बनी हुई कर्णकगोमिकी टीका तकका आलोचन करनेवाले अकलंक किसी भी तरह कुमारिल और धर्मकीर्तिके समकालीन नहीं हो सकते। धर्मकीर्तिके समयसे इनको अवश्य ही कमसे कम ५० वर्ष बाद रखना होगा। इन पचास वर्षोंमें प्रमाणवार्तिककी टीका, वार्तिकालंकारकी रचना तथा कर्णकगोमिकी स्वोपज्ञवृत्तिटीका बनी होगी, और उसने इतनी प्रसिद्धि पाई होगी कि जिससे वह अकलंक जैसे तार्किकको अपनी ओर आकृष्ट कर सके। अतः अकलंकका समय ७२० से ७८० तक मानना चाहिए। पुराने जमानेमें आज जैसे प्रेस, डॉक आदि शीघ्र प्रसिद्धिके साधन नहीं थे, जिनसे कोई लेखक या ग्रन्थकार ५ वर्षमें ही दुनियाँके इस छोरसे उस छोर तक ख्याति प्राप्त कर लेता है। फिर उस समयका साम्प्रदायिक वातावरण ऐसा था जिससे काफी प्रसिद्धि या विचारोंकी मौलिकता ही प्रतिपक्षी विद्वानोंका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकती थी, और इस प्रसिद्धिमें कमसे कम १५-२० वर्षका समय तो लगना ही चाहिए। इस विवेचनाके आधारपर हम निम्न आचार्योंका समय इस प्रकार रख सकते हैं—

भर्तृहरि ६०० से ६५० तक
कुमारिल ६०० से ६८० तक
प्रज्ञाकर ६७० से ७२५ तक
कर्णकगोमि ६९० से ७५० तक



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| धर्मकीर्ति ६२० से ६९० तक | शान्तरक्षित ७०५ से ७६२ तक |
| धर्मोत्तर ६५० से ७२० तक | अकलंक ७२० से ७८० तक |

तात्पर्य यह कि—भर्तृहरिकी अन्तिम कृति वाक्यपदीय सन् ६५० के आसपास बनी होगी। वाक्यपदीयके श्लोकोंका खंडन करनेवाला कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक जैसा महान् ग्रन्थ सन् ६६० से पहिले नहीं रचा गया होगा। कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिककी समालोचना जिस धर्मकीर्तिकृत बृहत्काय प्रमाणवार्तिकमें है, उसकी रचना सन् ६७० के आसपास हुई होगी। प्रमाणवार्तिकपर प्रज्ञाकर गुप्तकी अतिविस्तृत वार्तिकालंकार टीका सन् ६८५ के करीब रची गई होगी। वार्तिकालंकारका उल्लेख करनेवाली कर्णकगोमिकी विशाल प्रमाणवार्तिकस्वोपज्ञवृत्तिटीकाकी रचना ७२० से पहिले कम संभव है। अतः इन सब ग्रन्थोंकी आलोचना करनेवाले अकलंकका समय किसी भी तरह सन् ७२० से पहिले नहीं जा सकता। अकलंकचरितके '७०० विक्रमार्कशकाब्द' वाले उल्लेखको हमें इन्हीं प्रमाणोंके प्रकाशमें देखना है। यदि १६वीं सदीके अकलंकचरितकी दी हुई शास्त्रार्थकी तिथि ठीक है तो वह विक्रमसंवत्की न होकर शक संवत्की होनी चाहिए। शकसंवत्का उल्लेख भी 'विक्रमार्कशकाब्द' शब्दसे पाया जाता है। अकलंकका यह समय माननेसे प्रभाचन्द्रके कथाकोशका उन्हें शुभतुंग ( कृष्णराज प्र० राज्य सन् ७५८ के बाद ) का मन्त्रिपुत्र बतलाना, मल्लिषेणप्रशस्तिका साहसतुंग ( दन्तिदुर्गद्वि०, राज्य सन् ७४५-७५८ ) की सभामें उपस्थित होना आदि घटनाएँ युक्तिसंगत समयवाली सिद्ध हो जाती हैं। सोलहवीं सदीके अकलंकचरितकी अपेक्षा हमें १४वीं सदीके कथाकोश तथा १२वीं सदीकी मल्लिषेणप्रशस्तिको अग्रस्थान देना ही होगा; जब कि उसके साधक तथा पोषक अन्य आन्तरिक प्रमाण उपलब्ध हो रहे हैं। इति।

## अकलंकग्रन्थत्रय ग्रन्थ

### [ बाह्यस्वरूपपरिचय ]

### १. ग्रन्थत्रय की अकलङ्ककर्तृकता

प्रस्तुत ग्रन्थत्रयके कर्त्ता प्रखर तार्किक, वाग्मी श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव हैं। अकलङ्कदेवकी यह शैली है कि—वे अपने ग्रन्थोंमें कहीं न कहीं 'अकलङ्क' नामका प्रयोग करते हैं। कहीं वह प्रयोग जिनेन्द्रके विशेषणरूपसे हुआ है तो कहीं ग्रन्थके विशेषणरूपसे और कहीं किसी लक्ष्यके लक्षणभूत शब्दोंमें विशेषणरूपसे।

लघीयस्त्रय के प्रमाणनयप्रवेशके अन्तमें आए हुए 'कृतिरियं सकलवादिचक्रचक्रवर्तिनो भगवतो भट्टाकलङ्कदेवस्य' इस पुष्पिकावाक्यसे, कारिका नं० ५० में प्रयुक्त 'प्रेक्षावानकलङ्कमेति' पदसे तथा कारिका नं० ७८ में कथित 'भगवदकलङ्कानाम्' पदसे ही लघीयस्त्रयकी अकलङ्ककर्तृकता स्पष्ट है और अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धिविनिश्चयटीका ( पृ० ९९B ) में उद्धृत "तदुक्तम् लघीयस्त्रये-प्रमाणफलयो....." इस वाक्यसे, आचार्य विद्यानन्द द्वारा प्रमाणपरीक्षा ( पृ० ६९ ) एवं अष्टसहस्री ( पृ० १३४ ) में 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' कहकर उद्धृत लघीयस्त्रयकी तीसरी कारिकासे, तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ( पृ० २३९ ) में 'अत्र अकलङ्कदेवाः प्राहुः' करके उद्धृत लघीयस्त्रयकी १०वीं कारिकासे लघीयस्त्रयकी अकलङ्ककर्तृकता समर्थित होती है। आचार्य मलयगिरि आवश्यकनिर्युक्तिकी टीका ( पृ० ३७०B. ) में 'तथा चाहाकलङ्क.' कहकर लघीयस्त्रयकी ३०वीं कारिका उद्धृत करके लघीयस्त्रयकी अकलङ्ककर्तृताका अनुमोदन करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्यायविनिश्चय कारिका नं० ३८६ में प्रयुक्त 'विलब्धैरकलङ्करत्ननिचयन्यायो' पदसे, तथा कारिका नं० ४८० में 'आभव्यादकलंकमङ्गलफलम्' पदके प्रयोगसे केवल न्यायविनिश्चयकी अकलङ्ककर्तृकता द्योतित हो नहीं होती; किन्तु न्यायविनिश्चयविवरणकार वादिराजसूरिके उल्लेखोंसे तथा आचार्य अनन्तवीर्य-द्वारा सिद्धिविनिश्चयटीका ( पृ० २०८B. ) में, एवं आचार्य विद्यानन्द द्वारा आप्तपरीक्षा ( पृ० ४९ ) में 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' कहकर उद्धृत की गई इसकी ५१वीं कारिकासे इसका प्रबल समर्थन भी होता है। आचार्य धर्मभूषणने तो न्यायदीपिका ( पृ० ८ ) में 'तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैः न्यायविनिश्चये' लिखकर न्यायविनिश्चयकी तीसरी कारिका उद्धृत करके इसका असंदिग्ध अनुमोदन किया है।

प्रमाणसंग्रह की कारिका नं० ९ में आया हुआ 'अकलङ्कं महीयसाम्' पद प्रमाणसंग्रहके अकलङ्क-रचित होनेकी सूचना दे देता है। इसका समर्थन आचार्य विद्यानन्द द्वारा 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ( पृ० १८५ ) में 'अकलङ्कैरभ्यधायि यः' कहकर उद्धृत इसकी दूसरी कारिकासे, तथा वादिराजसूरि द्वारा न्यायविनिश्चय-विवरण ( पृ० ८३A. ) में 'तथा चात्र देवस्य वचनम्' लिखकर उद्धृत किए गए इसके ( पृ० ९८ ) 'विवि-धानुविवादनस्य' वाक्य से स्पष्टरूपमें हो जाता है।

## २. ग्रन्थत्रयके नामका इतिहास तथा परिचय

लघीयस्त्रय नामसे मालूम होता है कि यह छोटे-छोटे तीन प्रकरणोंका एक संग्रह है। पर इसका लघीयस्त्रय नाम ग्रन्थकर्ताके मनमें प्रारम्भसे ही था या नहीं, अथवा बादमें ग्रन्थकारने स्वयं या उनके टीका-कारोंने यह नाम रखा, यह एक विचारणीय प्रश्न है। मालूम होता है कि—ग्रन्थ बनाते समय अकलंकदेव-को 'लघीयस्त्रय' नामकी कल्पना नहीं थी। उनके मनमें तो दिग्नागके न्यायप्रवेश जैसा एक जैनन्यायप्रवेश बनानेकी बात घूम रही थी। यद्यपि बौद्ध और नैयायिक परार्थानुमानको न्यायशब्दकी मर्यादामें रखते हैं; पर अकलंकदेवने तत्त्वार्थसूत्रके 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र में वर्णित अधिगमके उपायभूत प्रमाण और नयको ही न्यायशब्दका वाच्य माना है। तदनुसार ही उन्होंने अपने ग्रन्थकी रचनाके समय प्रमाण और नयके निरूपणका उपक्रम किया। लघीयस्त्रयके परिच्छेदोंका प्रवेशरूपसे विभाजन तो न्यायप्रवेशको आधार माननेकी कल्पनाका स्पष्ट समर्थन करता है। प्रमाणनयप्रवेशकी समाप्तिस्थलमें विवृतिकी प्रतिमें "इति प्रमाणनय-प्रवेशः समाप्तः। कृतिरियं सकलवादिचक्रवर्तिनो भगवतो भट्टाकलङ्कदेवस्य" यह वाक्य पाया जाता है। इस वाक्यसे स्पष्ट मालूम होता है कि—अकलंकदेवने प्रथम ही 'प्रमाणनयप्रवेश' बनाया था। इस प्रमाणनयप्रवेश-की संकलना, मंगल तथा पर्यवसान इसके अखण्ड प्रकरण होनेको पूरी तरह सिद्ध करते हैं। यदि नयप्रवेश प्रमाणप्रवेशसे भिन्न एक स्वतन्त्र प्रकरण होता तो उसमें प्रवचनप्रवेशकी तरह स्वतंत्र मंगलवाक्य होना चाहिए था। अकलंकदेवकी प्रवचनपर अगाध श्रद्धा थी। यही कारण है कि—स्वतंत्र उत्पादनकी पूर्ण सामर्थ्य रखते हुए भी उन्होंने अपनी शक्ति पुरातनप्रवचनके समन्वयमें ही लगाई। उनने प्रवचनमें प्रवेश करनेके लिए तत्त्वार्थसूत्रमें अधिगमोपाय रूपसे प्ररूपित प्रमाण, नय और निक्षेपका अखंडरूपसे वर्णन करनेके लिए प्रवचन-प्रवेश बनाया। इस तरह अकलंकदेवने प्रमाणनयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश ये दो स्वतंत्र प्रकरण बनाये।

यह प्रश्न अभी तक है ही कि—'इसका लघीयस्त्रय नाम किसने रखा ?' मुझे तो ऐसा लगता है कि—यह सूझ अनन्तवीर्य आचार्य की है; क्योंकि लघीयस्त्रय नामका सबसे पुराना उल्लेख हमें सिद्धिविनि-श्चय टीकामें मिलता है। अनन्तवीर्यकी दृष्टिमें 'प्रमाणनयप्रवेश' एक अखण्ड प्रकरण नहीं था, वे उसे दो स्वतंत्र प्रकरण मानते थे। इसका आधार यह है कि—सिद्धिविनिश्चय टीका ( पृ० ५७२ B. ) में शब्द-नयादिका लक्षण करके वे लिखते हैं कि "एतेषामुदाहरणानि नयप्रवेशकप्रकरणादवगन्तव्यानि"—इनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदाहरण नयप्रवेशकप्रकरणसे जानना चाहिए। यहाँ नयप्रवेशको स्वतंत्र प्रकरणरूपमें उल्लेख करनेसे अनुमान किया जा सकता है कि अनन्तवीर्यकी दृष्टिमें प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश दो प्रकरण थे। और यह बहुत कुछ सम्भव है कि उनने ही प्रवचनप्रवेशको मिलाकर इनकी 'लघीयस्त्रय' संज्ञा दी हो। उस समय प्रवेशक और लघु ग्रंथोंको प्रकरण शब्दसे कहनेकी परम्परा थी। जैसे न्यायप्रवेशप्रकरण, न्यायबिन्दुप्रकरण आदि। अनन्तवीर्यके इस लघीयस्त्रय संज्ञाकरणके बाद तो इनकी प्रमाणनयप्रवेश तथा प्रवचनप्रवेश संज्ञा लघीयस्त्रयके तीन प्रवेशोंके रूपमें ही रही ग्रन्थके नामके रूपमें नहीं।

अस्तु, लघीयस्त्रय नामका इतिहास जान लेनेके बाद अब हम इसका एक अखण्ड ग्रन्थके रूपमें ही वर्णन करेंगे; क्योंकि आज तक निर्विवाद रूपसे यह एक ही ग्रन्थके रूपमें स्वीकृत चला आ रहा है। इस ग्रन्थमें तीन प्रवेश हैं—१. प्रमाण प्रवेश, २. नय प्रवेश, ३. निक्षेप प्रवेश। प्रमाण प्रवेशके चार परिच्छेद हैं—१. प्रत्यक्ष परिच्छेद, २. विषय परिच्छेद, ३. परोक्ष परिच्छेद, ४. आगम परिच्छेद। इन चार परिच्छेदोंके साथ नयप्रवेश तथा प्रवचन प्रवेशको मिलाकर कुल ६ परिच्छेद स्वोपज्ञविवृतिकी प्रतिमें पाए जाते हैं। लघीयस्त्रयके व्याख्याकार आ० प्रभाचन्द्रने प्रवचनप्रवेशके भी दो परिच्छेद करके कुल सात परिच्छेदोंपर अपनी न्यायकुमुदचन्द्र व्याख्या लिखी है। प्रवचनप्रवेशमें जहाँ तक प्रमाण और नयका वर्णन है वहाँ तक प्रभाचन्द्रने छठवाँ परिच्छेद, तथा निक्षेपके वर्णनको स्वतन्त्र सातवाँ परिच्छेद माना है।

लघीयस्त्रयमें कुल ७८ कारिकाएँ हैं। मुद्रित लघीयस्त्रयमें ७७ ही कारिकाएँ हैं। उसमें 'लक्षणं क्षणिकैकान्ते' ( का० ३५ ) कारिका नहीं है। नयप्रवेशके अन्तमें 'मोहेनैव परोऽपि' इत्यादि पद्य भी विवृतिकी प्रतिमें लिखा हुआ मिलता है। पर इस पद्यका प्रभाचन्द्र तथा अभयनन्दिने व्याख्यान नहीं किया है, तथा उसकी मूलग्रन्थके साथ कोई संगति भी प्रतीत नहीं होती, अतः इसे प्रक्षिप्त समझना चाहिए। प्रथम परि०में ६॥, द्वि० परि०में ३, तृ० परि०में १२, चतु० परि०में ७, पंचम परि०में २१, तथा ६ प्रवचन प्र० में २८, इस तरह कुल ७८ कारिकाएँ हैं।

मूल लघीयस्त्रयके साथ ही स्वयं अकलंकदेवकी संक्षिप्त विवृति भी इसी संस्करणमें मुद्रित है। यह विवृति कारिकाओंका व्याख्यानरूप न होकर उसमें सूचित विषयोंको पूरक है। अकलंकदेवने इसे मूल श्लोकोंके साथ ही साथ लिखा है। मालूम होता है कि—अकलंकदेव जिस पदार्थको कहना चाहते हैं, वे उसके अमुक अंशकी कारिका बनाकर बाकीको गद्य भागमें लिखते हैं। अतः विषयकी दृष्टिसे गद्य और पद्य दोनों मिलकर ही ग्रन्थकी अखंडता स्थिर रखते हैं। धर्मकीर्तिकी प्रमाणवार्तिककी वृत्ति भी कुछ इसी प्रकारकी है। उसमें भी कारिकोक्त पदार्थकी पूर्ति तथा स्पष्टताके लिए बहुत कुछ लिखा गया है। अकलंकके प्रमाणसंग्रहका अध्ययन करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि—अकलंकके गद्यभागको हम शुद्ध वृत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि शुद्ध वृत्तिमें मात्र मूलकारिकाका व्याख्यान होना ही आवश्यक है, पर लघीयस्त्रयकी विवृति या प्रमाणसंग्रहके गद्यभागमें व्याख्यानात्मक अंश नहींके ही बराबर है। हाँ, कारिकोक्त पदोंको आधार बनाकर उस विषयका शेष वक्तव्य गद्यरूपमें उपस्थित कर दिया है। व्याख्याकार प्रभाचन्द्रने इसको विवृति माना है और वे कारिकाका व्याख्यान करके जब गद्य भागका व्याख्यान करते हैं तब 'विवृतिं विवृण्वन्ताह' लिखते हैं। विवृति शब्दका प्रयोग हमारे विचारसे खालिस टीका या वृत्तिके अर्थमें न होकर तत्सम्बद्ध शेष वक्तव्यके अर्थमें है।

लघीयस्त्रयमें चर्चित विषय संक्षेपमें इस प्रकार हैं—

प्रथमपरिच्छेदमें—सम्यग्ज्ञानकी प्रमाणता, प्रत्यक्ष परोक्षका लक्षण, प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुख्य रूपसे दो भेद, सांव्यवहारिकके इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष रूपसे भेद, मुख्यप्रत्यक्षका समर्थन, सांव्यवहारिकके अवग्रहादिरूपसे भेद तथा उनके लक्षण, अवग्रहादिके बह्वादिरूप भेद, भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रियके लक्षण, पूर्व पूर्वज्ञानकी प्रमाणतामें उत्तरोत्तर ज्ञानोंकी फलरूपता आदि विषयोंकी चरचा है।

द्वितीयपरिच्छेदमें—द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुका प्रमाणविषयत्व तथा अर्थक्रियाकारित्व, नित्यैकान्त तथा क्षणिकैकान्तमें क्रमयौगपद्यरूपसे अर्थक्रियाकारित्वका अभाव, नित्य माननेपर विक्रिया तथा अविक्रियाका अविरोध आदि प्रमाणके विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले विचार प्रकट किए हैं।

तृतीयपरिच्छेदमें—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, तथा अभिनिबोधका शब्दयोजनासे पूर्व अवस्थामें मतिव्यपदेश तथा उत्तर अवस्थामें श्रुतव्यपदेश, व्याप्तिका ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा असंभव होनेसे व्याप्तिग्राही तर्कका प्रामाण्य, अनुमानका लक्षण, जलचन्द्रके दृष्टान्तसे कारण हेतुका समर्थन, कृतिकोदय आदि पूर्वचर हेतुका समर्थन, अदृश्यानुपलब्धिसे भी परचैतन्य आदिका अभावज्ञान, नैयायिकाभिमत उपमानका सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भाव, प्रत्यभिज्ञानके वैसदृश्य आपेक्षिक प्रतियोगि आदि भेदोंका निरूपण, बौद्ध मतमें स्वभावादि हेतुओंके प्रयोगमें कठिनता, अनुमानानुमेयव्यवहारकी वास्तविकता एवं विकल्पबुद्धिकी प्रमाणता आदि परोक्षज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंकी चरचा है।

चतुर्थपरिच्छेदमें—किसी भी ज्ञानमें ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणताका निषेध करके प्रमाणाभासका स्वरूप, सविकल्पज्ञानमें प्रत्यक्षाभासताका अभाव, अविसंवाद और विसंवादसे प्रमाण-प्रमाणाभासव्यवस्था, विप्रकृष्टविषयोंमें श्रुतकी प्रमाणता, हेतुवाद और आप्तोक्तरूपसे द्विविध श्रुतकी अविसंवादि होनेसे प्रमाणता, शब्दोंके विवक्षावाचित्वका खण्डनकर उनकी अर्थवाचकता आदि श्रुत सम्बन्धी बातोंका विवेचन किया गया है। इस तरह प्रमाणके स्वरूप, संख्या, विषय और फलका निरूपणकर प्रमाणप्रवेश समाप्त होता है।

पंचम परिच्छेदमें—नय दुर्नयके लक्षण, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूपसे मूलभेद, सत्‌रूपसे समस्त वस्तुओंके ग्रहणका संग्रहनयत्व, ब्राह्मवादका संग्रहाभासत्व, बौद्धाभिमत एकान्तक्षणिकताका निरास, गुण-गुणी, धर्म-धर्मीकी गौण मुख्य विवक्षामें नैगमनयकी प्रवृत्ति, वैशेषिकसम्मत गुणगुण्यादिके एकान्त भेदका नैगमाभासत्व, प्रामाणिक भेदका व्यवहारनयत्व, काल्पनिक भेदका व्यवहाराभासत्व, कालकारकादिके भेदसे अर्थभेद निरूपणकी शब्दनयता, पर्यायभेदसे अर्थभेदक कथनका समभिरूढनयत्व, क्रियाभेदसे अर्थभेद प्ररूपणका एवंभूतनयत्व, सामग्रीभेदसे अभिन्नवस्तुमें भी षट्कारकीका संभव आदि समस्त नयपरिवारका विवेचन है। यहाँ नयप्रवेश समाप्त हो जाता है।

६. प्रवचन प्रवेशमें—प्रमाण, नय और निक्षेपके कथनकी प्रतिज्ञा, अर्थ और आलोककी ज्ञानकारणताका खंडन, अन्धकारको ज्ञानका विषय होनेसे आवरणरूपताका अभाव, तज्जन्म, तारूप्य और तदध्यवसायका प्रामाण्यमें अप्रयोजकत्व, श्रुतके सकलादेश विकलादेश रूपसे दो उपयोग, 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्यकी विकलादेशता, 'स्याज्जीव एव' इस वाक्यकी सकलादेशता, शब्दकी विवक्षासे भिन्न वास्तविक अर्थकी वाचकता, नैगमादि सात नयोंमेंसे आदिके नैगमादि चार नयोंका अर्थनयत्व, शब्दादि तीन नयोंका शब्दनयत्व, नामादि चार निक्षेपोंके लक्षण, अप्रस्तुत निराकरण तथा प्रस्तुत अर्थका निरूपण रूप निक्षेपका फल, इत्यादि प्रवचनके अधिगमोपायभूत प्रमाण, नय और निक्षेपका निरूपण किया गया है।

न्यायविनिश्चय—धर्मकीर्तिका एक प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसकी रचना गद्यपद्यमय है। न्यायविनिश्चय नाम स्पष्टतया इसी प्रमाणविनिश्चय नामका अनुकरण है। नामकी पसन्दगीमें आन्तरिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयका निश्चय भी एक खास कारण होता है। सिद्धसेन दिवाकरने अपने न्यायावतारमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणोंका विवेचन किया है। अकलंकदेवने न्यायविनिश्चयमें भी तीन प्रस्ताव रखे हैं—१ प्रत्यक्ष प्रस्ताव, २ अनुमान प्रस्ताव, ३ प्रवचन प्रस्ताव। अतः संभव है कि—अकलंकके लिए विषयकी पसन्दगीमें तथा प्रस्तावके विभाजनमें न्यायावतार प्रेरक हो, और इसीलिए उन्होंने न्यायावतारके 'न्याय'के साथ प्रमाणविनिश्चयके 'विनिश्चय' का मेल बैठाकर न्यायविनिश्चय नाम रखा हो। वादिदेवसूरिने स्याद्वादरत्नाकर ( पृ० २३ ) में 'धर्मकीर्तिरपि न्यायविनिश्चयस्य····' यह उल्लेख करके लिखा है कि न्यायविनिश्चयके तीन परिच्छेदोंमें क्रमशः प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमानका वर्णन है। यदि धर्मकीर्तिका प्रमाणविनिश्चयके अतिरिक्त भी कोई न्यायविनिश्चय ग्रन्थ है तब तो ज्ञात होता है कि—प्रस्तावविभाजन तथा नामकरणकी कल्पनामें उसीने कार्य किया है। यह भी संभव है कि—प्रमाणविनिश्चयको ही वादिदेवसूरिने न्यायविनिश्चय समझ लिया हो। इसके तीन प्रस्तावोंमें निम्नविषयोंका विवेचन है—

प्रथम प्रत्यक्षप्रस्तावमें—प्रत्यक्षका लक्षण, इन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण, प्रमाणसम्प्लवसूचन, चक्षुरादिबुद्धियोंका व्यवसायात्मकत्व, विकल्पके अभिलापवत्त्व आदि लक्षणोंका खंडन, ज्ञानको परोक्ष माननेका निराकरण, ज्ञानके स्वसंवेदनकी सिद्धि, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञाननिरास, अचेतनज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिरास, निराकारज्ञानसिद्धि, संवेदनाद्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, बहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञानखंडन, परमाणुरूप बहिरर्थका निराकरण, अवयवोंसे भिन्न अवयवीका खंडन, द्रव्यका लक्षण, गुणपर्यायका स्वरूप, सामान्यका स्वरूप, अर्थके उत्पादादित्रयात्मकत्वका समर्थन, अपोहरूप सामान्यका निरास, व्यक्तिसे भिन्न सामान्यका खण्डन, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणका खंडन, बौद्धकल्पित स्वसंवेदनयोगिमानसप्रत्यक्षनिरास, सांख्यकल्पित प्रत्यक्षलक्षणका खंडन, नैयायिकके प्रत्यक्षका समालोचन, अतीन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण आदि विषयोंका विवेचन किया गया है।

द्वितीय अनुमानप्रस्तावमें—अनुमानका लक्षण, प्रत्यक्षकी तरह अनुमानकी बहिरर्थविषयता, साध्य-साध्याभासके लक्षण, बौद्धादिमतोंमें साध्यप्रयोगकी असम्भवता, शब्दका अर्थवाचकत्व, शब्दसंकेतग्रहणप्रकार, भूतचैतन्यवादका निराकरण, गुणगुणि भेदका निराकरण, साधन-साधनाभासके लक्षण, प्रमेयत्व हेतुकी अनेकान्तसाधकता, सत्त्वहेतुकी परिणामित्वप्रसाधकता, त्रैरूप्य खंडन पूर्वक अन्यथानुपपत्तिसमर्थन, तर्ककी प्रमाणता, अनुपलम्भहेतुका समर्थन, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचरहेतुका समर्थन, असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर हेत्वाभासोंका विवेचन, दूषणाभास लक्षण, जातिलक्षण, जयेतरव्यवस्था, दृष्टान्त-दृष्टान्ताभास विचार, वादका लक्षण, निग्रहस्थानलक्षण, वादाभासलक्षण आदि अनुमानसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंका वर्णन है।

तृतीय प्रवचनप्रस्तावमें—प्रवचनका स्वरूप, सुगतके आप्तत्वका निरास, सुगतके करुणावत्त्व तथा चतुरार्यसत्यप्रतिपादकत्वका परिहास, आगमके अपौरुषेयत्वका खण्डन, सर्वज्ञत्वसमर्थन, ज्योतिर्ज्ञानोपदेश सत्यस्वप्नज्ञान तथा ईक्षणिकादिविद्याके दृष्टान्त द्वारा सर्वज्ञत्वसिद्धि, शब्दनित्यत्वनिरास, जीवादितत्त्वनिरूपण, नैरात्म्यभावनाकी निरर्थकता, मोक्षका स्वरूप, सप्तभंगीनिरूपण, स्याद्वादमें दिये जानेवाले संशयादि दोषोंका परिहार, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिका प्रामाण्य, प्रमाणका फल आदि विषयोंका विवेचन है।

लघीयस्त्रयकी तरह न्यायविनिश्चयपर भी स्वयं अकलङ्ककृत विवृति अवश्य रही है। जैसा कि न्यायविनिश्चयविवरणकार ( पृ० १२० B. ) के 'वृत्तिमध्यवर्तित्वात्' आदि वाक्योंसे तथा सिद्धिविनिश्चयटीका ( पृ० १२० A. ) में न्यायविनिश्चयके नामसे उद्धृत 'नचैतद्बहिरेव····' आदि गद्यभागसे पता चलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। न्यायविनिश्चयविवरण ( पृ० १६१ B. ) में 'तथा च सूक्तं चूर्णौ देवस्य वचनम्' कहकर 'समारोप-व्यवच्छेदात्....' श्लोक उद्धृत मिलता है। बहुत कुछ सम्भव है कि इसी विवृतिरूप गद्यभागका ही विवरण-कारने चूर्णि शब्दसे उल्लेख किया हो। न्यायविनिश्चयविवरणकार वादिराजने न्यायविनिश्चयके केवल पद्य-भागका व्याख्यान किया है।

प्रमाणसंग्रह—पं० सुखलालजीकी कल्पना है कि—'प्रमाणसंग्रह नाम दिग्नागके प्रमाणसमुच्चय तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहका स्मरण दिलाता है। यह कल्पना हृदयको लगती है। पर तत्त्वसंग्रहके पहिले भी प्रशस्तपादभाष्यका पदार्थसंग्रह नाम प्रचलित रहा है। संभव है कि संग्रहान्त नामपर इसका भी कुछ प्रभाव हो। जैसा कि इसका नाम है वैसा ही यह ग्रन्थ वस्तुतः प्रमाणों-युक्तियोंका संग्रह ही है। इस ग्रन्थकी भाषा और खासकर विषय तो अत्यन्त जटिल तथा कठिनतासे समझने लायक है। अकलंकके इन तीन ग्रन्थोंमें यही ग्रन्थ प्रमेयबहुल है। मालूम होता है कि यह ग्रन्थ न्यायविनिश्चयके बाद बनाया गया है; क्योंकि इसके कई प्रस्तावोंके अन्तमें न्यायविनिश्चयकी अनेकों कारिकाएँ बिना किसी उपक्रम वाक्यके लिखी गई हैं। इसकी प्रौढ़शैलीसे ज्ञात होता है कि यह अकलंकदेवकी अन्तिम कृति है, और इसमें उन्होंने अपने यावत् अवशिष्ट विचारोंके लिखनेका प्रयास किया है, इसलिए यह इतना गहन हो गया है। इसमें हेतुओंके उपलब्धि अनुपलब्धि आदि अनेकों भेदोंका विस्तृत विवेचन है; जबकि न्यायविनिश्चयमें मात्र उनका नाम ही लिया गया है। अतः यह सहज ही समझा जा सकता है कि—यह न्यायविनिश्चयके बाद बनाया गया होगा।

इसमें ९ प्रस्ताव हैं, तथा कुल ८७॥ कारिकाएँ।

प्रथम प्रस्तावमें-९ कारिकाएँ हैं। इनमें प्रत्यक्षका लक्षण, श्रुतका प्रत्यक्षानुमानागमपूर्वकत्व, प्रमाण-का फल, मुख्यप्रत्यक्षका लक्षण आदि प्रत्यक्ष विषयक निरूपण है।

द्वितीय प्रस्तावमें-९ कारिकाएँ हैं। इनमें स्मृतिका प्रामाण्य, प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणता, तर्कका लक्षण, प्रत्यक्षानुपलम्भसे तर्कका उद्भव, कुतर्कका लक्षण, विवक्षाके बिना भी शब्दप्रयोगका संभव, परोक्ष पदार्थोंमें श्रुतसे अविनाभावग्रहण आदिका वर्णन है। अर्थात् परोक्षके भेद स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्कका निरूपण है।

तृतीय प्रस्तावमें-१० कारिकाएँ हैं। इनमें अनुमानके अवयव साध्य-साधनका लक्षण, साध्याभास-का लक्षण, सदसदेकान्तमें साध्यप्रयोगकी असंभवता, सामान्यविशेषात्मक वस्तुकी साध्यता तथा उसमें दिये जानेवाले संशयादि आठ दोषोंका परिहार आदिका वर्णन है।

चतुर्थ प्रस्तावमें-११॥ कारिकाएँ हैं। इनमें त्रिरूपका खंडन करके अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुलक्षणका समर्थन, हेतुके उपलब्धि, अनुपलब्धि आदि भेदोंका विवेचन, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचरहेतुका समर्थन आदि हेतु-सम्बन्धी विचार है।

पंचम प्रस्तावमें-१०॥ कारिकाएँ हैं। इनमें विरुद्धादि हेत्वाभासोंका निरूपण, सर्वथा एकान्तमें सत्त्वहेतुकी विरुद्धता, सहोपलम्भनियमहेतुकी विरुद्धता, विरुद्धाव्यभिचारीका विरुद्धमें अन्तर्भाव, अज्ञात हेतुका अकिञ्चित्करमें अन्तर्भाव आदि हेत्वाभास विषयक प्ररूपण है, तथा अन्तर्व्याप्तिका समर्थन है।

षष्ठ प्रस्तावमें—१२॥ कारिकाएँ हैं। इनमें वादका लक्षण, जयपराजय व्यवस्थाका स्वरूप, जाति-का लक्षण, द्व्यष्टत्वादिके अभेदप्रसंगका जात्युत्तरत्व, उत्पादादित्रयात्मकत्वसमर्थन, सर्वथा नित्य सिद्ध करने-में सत्त्वहेतुका सिद्धसेनादिके मतसे असिद्धत्वादिनिरूपण आदि वादविषयक कथन है। अन्तमें—धर्मकीर्ति आदिने अपने ग्रन्थोंमें प्रतिवादियोंके प्रति जिन जाडय आदि अपशब्दोंका प्रयोग किया है उनका बहुत सुन्दर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुँहतोड़ उत्तर दिया है। लिखा है कि—शून्यवाद, संवृतिवाद, विज्ञानवाद, निर्विकल्पकदर्शन, परमाणुसंचय-को प्रत्यक्षका विषय मानना, अपोहवाद तथा मिथ्यासन्तान ये सात बातें माननेवाला ही वस्तुतः जड़ है। प्रतिज्ञाको असाधन कहना, अदृश्यानुपलब्धिको अगमक कहना आदि ही अह्रीकता—निर्लज्जता है। निर्विक-ल्पकप्रत्यक्षके सिवाय सब ज्ञानोंको भ्रान्त कहना, साकार ज्ञान मानना, क्षणभङ्गवाद तथा असत्कार्यवाद ही पशुताके द्योतक हैं। परलोक न मानना, शास्त्र न मानना, तप-दान देवता आदिसे इन्कार करना ही अलौ-किकता है। अतीन्द्रिय धर्माधर्म आदिमें शब्द-वेदको ही प्रमाण मानना, किसी चेतनको उसका ज्ञाता न कहना ही तामस है। संस्कृत आदि शब्दोंमें साधुता, असाधुताका विचार तथा उनके प्रयोगमात्रसे पुण्य-पाप मानना ही प्राकृत-ग्रामीणजनका लक्षण है।

सप्तम प्रस्तावमें—१० कारिकाएँ हैं। इसमें प्रवचनका लक्षण, सर्वज्ञतामें किये जानेवाले सन्देहका निराकरण, अपौरुषेयत्वका खंडन, तत्त्वज्ञानचारित्रकी मोक्षहेतुता आदि प्रवचन सम्बन्धी विषयोंका विवेचन है।

अष्टम प्रस्तावमें—१३ कारिकाएँ हैं। इनमें सप्तभंगीका निरूपण तथा नैगमादिनयोंका कथन है।

नवम प्रस्तावमें—२ कारिकाएँ हैं। इनमें प्रमाणनय और निक्षेपका उपसंहार है।

## ३. रचनाशैली

अकलङ्कके ग्रंथ दो प्रकारके हैं—१ टीका ग्रंथ, २.स्वतन्त्र प्रकरण। टीका ग्रंथोंमें राजवार्तिक तथा अष्टशती हैं। स्वतन्त्र ग्रंथोंमें लघीयस्त्रयसविवृति, न्यायविनिश्चय सवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति और प्रमाणसंग्रह ये चार ग्रंथ निश्चितरूपसे अकलंककर्तृक हैं। परम्परागत प्रसिद्धिकी दृष्टिसे स्वरूपसम्बोधन, न्यायचूलिका, अकलंक प्रतिष्ठापाठ, अकलंक प्रायश्चित्तसंग्रह आदि हैं, जिनके कर्त्ता प्रसिद्ध अकलंकदेव न होकर अन्य अकलंक हैं।

राजवार्तिकके सिवाय प्रायः सभी ग्रंथ अष्टशती जितने ८०० श्लोक प्रमाण ही मालूम होते हैं। धर्म-कीर्तिके हेतुबिन्दु, वादन्याय, प्रमाणविनिश्चय ग्रंथ भी करीब-करीब इतने ही छोटे हैं। उस समय संक्षिप्त पर अर्थबहुल, गम्भीर तथा तलस्पर्शी प्रकरणोंकी रचनाका ही युग था।

अकलंक जब आगमिक विषयपर कलम उठाते हैं तब उनके लेखनकी सरलता, विशदता एवं प्रसाद गुणका प्रवाह पाठकको पढ़नेसे ऊबने नहीं देता। राजवार्तिककी प्रसन्न रचना इसका अप्रतिम उदाहरण है। परन्तु जब वही अकलंक तार्किक विषयोंपर लिखते हैं तब वे उतने ही दुरूह बन जाते हैं। अकलंकके प्रस्तुत संस्करणमें मुद्रित प्रकरणग्रंथ अत्यन्त जटिल, गूढ़ एवं इतने संक्षिप्त हैं कि कहीं-कहीं उनका आधार लेकर टीकाकारों द्वारा किये गये अर्थ अकलंकके मनोगत थे या नहीं यह सन्देह होने लगता है। अकलंकके प्रकरणों-की यथार्थज्ञताका दावा करनेवाले अनन्तवीर्य भी इनकी गूढ़ताके विषयमें बरबस कह उठते हैं कि—

"देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तं तु सर्वथा। न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतत्परं भुवि॥"

अर्थात्—"अनन्तवीर्य भी अकलंक देवके पदोंके व्यक्त अर्थको नहीं जान पाता यह बड़ा आश्चर्य है।" ये अनन्तवीर्य उस समय अकलंकके प्रकरणोंके मर्मज्ञ, तलद्रष्टा समझे जाते थे। प्रभाचन्द्र एवं वादिराज अनंत-वीर्यकी अकलंकीय प्रकरणोंकी तलस्पर्शिताका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—"मैंने त्रिलोकके यावत् पदार्थों-को संक्षेपरूपसे वर्णन करनेवाली अकलंककी पद्धतिको अनन्तवीर्यकी उक्तियोंका सैकड़ों बार अभ्यास करके समझ पाया है।" "अकलंकके गूढ़ प्रकरणोंको यदि अनन्तवीर्यके वचनदीप प्रकट न करते तो उन्हें कौन समझ सकता था?" आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सविवृति लघीयस्त्रयपर प्रभाचन्द्रकी टीका उपलब्ध होनेसे तथा उसका विषय कुछ प्रारम्भिक होनेसे समझनेमें उतनी कठिनाई नहीं मालूम होती जितनी न्यायविनिश्चयमें। प्रमाणसंग्रहमें तो यह कठिनाई अपनी चरमसीमाको पहुँच जाती है। एक ही प्रकरणमें अनेक चर्चाओंका समावेश हो जानेसे तो यह जटिलता और भी बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ—न्यायविनिश्चयमें भूतचैतन्यवादका निराकरण करते हुए जहाँ यह लिखा है कि ज्ञान भूतोंका गुण नहीं है, वहीं लगे हाथ गुण शब्दका व्याख्यान तथा वैशेषिकके गुणगुणिभेदका खंडन भी कर दिया है। समझनेवाला इससे विषयके वर्गीकरणमें बड़ी कठिनाईका अनुभव करता है। अकलंकदेवका षड्दर्शनका गहरा अभ्यास तथा बौद्धशास्त्रोंका अतुलभावनापूर्वक आत्मसात्करण ही उनके प्रकरणोंकी जटिलतामें कारण मालूम होता है। वे यह सोचते हैं कि कम-से-कम शब्दोंमें अधिकसे अधिक सूक्ष्म और बहुपदार्थ ही नहीं किन्तु बहुविध पदार्थ लिखा जाय। उनकी यह शब्दसंक्षिप्तता बड़े-बड़े प्रकाण्डपण्डितोंको अपनी बुद्धिको मापनेका मापदण्ड बन रही है। धर्मकीर्तिकी प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्तिको देखकर तो यह और भी स्पष्ट मालूम होने लगता है कि उस समय कुछ ऐसी ही सूत्र रूपसे लिखने की परम्परा थी। लेखनशैलीमें परिहासका पुट भी कहीं-कहीं बड़ी व्यंजनाके साथ मिलता है, जैसे—न्यायविनिश्चयमें धर्मकीर्तिके—"जब सब पदार्थ द्रव्यरूपसे एक हैं तब दही और ऊँट भी द्रव्यरूपसे एक हुए, अतः दहीको खानेवाला ऊँटको क्यों नहीं खाता?" इस आक्षेपका उत्तर देते हुए लिखा है कि—भाई, जैसे सुगत पूर्व भवमें मृग थे, तथा मृग भी सुगत हुआ था, अतः सन्तानदृष्टिसे एक होनेपर भी आप मृगकी जगह सुगतको क्यों नहीं खाते और मृगकी वन्दना क्यों नहीं करते? अतः जिस तरह वहाँ पर्यायभेद होनेसे वन्द्यत्व और खाद्यत्व की व्यवस्था है उसी तरह दही और ऊँटके शरीरमें पुद्गलद्रव्यरूपसे एकता होनेपर भी पर्यायकी अपेक्षा भिन्नता है। यथा—

"सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतस्तथा। तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः। चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति॥"

—न्यायवि० ३।३७३-७४

अकलंकके प्रकरणोंका सूक्ष्मतासे अनुसंधान करनेपर मालूम होता है कि—अकलंकदेवकी सीधी चोट बौद्धोंके ऊपर है। इतरदर्शन तो प्रसंगसे ही चर्चित हैं, और उनकी समालोचनामें बौद्धदर्शनका सहारा भी लिया गया है। बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकसे तो अनेकों पूर्वपक्ष शब्दशः लेकर समालोचित हुए हैं। धर्मकीर्तिके साथ ही साथ उनके शिष्य एवं टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि प्रभृति भी अकलंकके द्वारा युक्तिजालोंमें लपेटे गये हैं। जहाँ भी मौका मिला सौत्रान्तिक या विज्ञानवादीके ऊपर पूरा-पूरा प्रहार किया गया है। कुमारिलकी सर्वज्ञताविरोधिनी युक्तियाँ प्रबलप्रमाणोंसे खंडित की गई हैं। जैननिरूपणमें समन्तभद्र, पूज्यपादका प्रभाव होनेपर भी न्यायविनिश्चयमें सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतार तथा लघीयस्त्रयके नयनिरूपणमें सन्मतितर्कके नयकाण्ड तथा मल्लवादिके नयचक्रका भी प्रभाव है। उत्तरकालीन ग्रंथकार अनंतवीर्य, माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, शान्तिसूरि, वादिराज, वादिदेव, हेमचन्द्र तथा यशोविजय आदि सभी आचार्योंने अकलंकके द्वारा प्रस्थापित जैनन्यायकी रेखाका विस्तार किया तथा उनके वाक्योंको बड़ी श्रद्धासे उद्धृतकर अपनी कृतज्ञता प्रकट की है।

अकलंक द्वारा प्रणीत व्यवस्थामें अनुपपत्ति शान्तिसूरि तथा मलयगिरि आचार्यने दिखाई है। शान्तिसूरिने जैनतर्कवार्तिकमें अकलंक द्वारा प्रमाणसंग्रहमें प्रतिपादित प्रत्यक्ष-अनुमान-आगमनिमित्तक त्रिविध श्रुतकी जगह द्विविध-अनुमानज और शब्दज श्रुत माना है। मलयगिरि आचार्यने सम्यग्नयमें स्यात्पदके प्रयोगका इस आधारपर समालोचन किया है कि स्यात् पदका प्रयोग करनेसे तो प्रमाण और नयमें कोई भेद नहीं रहेगा। पर इसका उत्तर उ० यशोविजयने गुरुतत्त्वविनिश्चयमें दे दिया है कि—मात्र स्यात् पदके प्रयोगसे प्रमाण



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और नयमें भेदाभाव नहीं हो सकता। नयान्तरसापेक्षनय यदि प्रमाण हो जाय तब तो व्यवहारादि सभी नयोंको प्रमाण मानना होगा। इस तरह उपाध्यायजीने अकलंकके मतका ही समर्थन किया है।

## आन्तरिक विषयपरिचय

इस परिचयमें अकलंकदेवने प्रस्तुत तीनों ग्रन्थोंमें जिन विषयोंपर संक्षेप या विस्तारसे जो भी लिखा है, उन विषयोंका सामान्य परिचय तथा अकलंकदेवके वक्तव्यका सार दिया है। इससे योग्यभूमिवाले जैनन्यायके अभ्यासियोंका अकलंकके ग्रन्थोंमें प्रवेश तो होगा ही, साथ ही साथ जैनन्यायके रसिक अध्यापकोंको जैनन्यायसे सम्बन्ध रखनेवाले दर्शनान्तरीय विषयोंकी अनेकों महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ भी मिल सकेंगी। इसमें प्रसंगतः जिन अन्य आचार्योंके मतोंकी चर्चा आई है उनके अवतरण देखनेके लिए उस विषयके टिप्पणोंको ध्यानसे देखना चाहिए। इस परिचयको ग्रंथशः नहीं लिखकर तीनों ग्रन्थोंके मुख्य-मुख्य विषयोंका संकलन करके लिखा है जिससे पाठकोंको विशेष सुविधा रहेगी। यह परिचय मुख्यतयासे प्रमाण, प्रमेय, नय, निक्षेप और सप्तभंगीरूपसे स्थूल विभाग करके लिखा गया है।

### १. प्रमाणनिरूपण

प्रमाणसामान्यविचार—समन्तभद्र और सिद्धसेनने प्रमाणसामान्यके लक्षणमें स्वपरावभासक, ज्ञान तथा बाधवर्जित पद रखे हैं, जो उस समयके प्रचलित लक्षणोंसे जैनलक्षणको व्यावृत्त कराते थे। साधारणतया 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' यह लक्षण सर्वमान्य था। विवाद था तो इस विषयमें कि वह करण कौन हो? न्यायभाष्यमें करणरूपसे सन्निकर्ष और ज्ञान दोनोंका स्पष्टतया निर्देश है। यद्यपि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञानको स्वसंवेदी मानते रहे हैं, पर वे करणके स्थानमें सारूप्य या योग्यताको रखते हैं। समन्तभद्रादिने करणके स्थानमें स्वपरावभासक ज्ञान पद रखके ऐसे ही ज्ञानको प्रमाण माना जो स्व और पर उभयका अवभासन करनेवाला हो। अकलंकदेवने इस लक्षणमें अविसंवादि और अनधिगतार्थग्राहि इन दो नए पदोंका समावेश करके अवभासकके स्थानमें व्यवसायात्मक पदका प्रयोग किया है। अविसंवादि तथा अज्ञातार्थप्रकाश पद स्पष्टरूपसे धर्मकीर्तिके प्रमाणके लक्षणसे आए हैं तथा व्यवसायात्मक पद न्यायसूत्र से। इनकी लक्षणसंघटनाके अनुसार स्व और परका व्यवसाय-निश्चय करनेवाला, अविसंवादि-संशयादि समारोपका निरसन करनेवाला और अनधिगतार्थको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण होगा।

प्रमाणसम्प्लव विचार—यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि धर्मकीर्ति और उनके टीकाकार धर्मोत्तरने अज्ञातार्थप्रकाश और अनधिगतार्थग्राहि शब्दोंका प्रयोग करके प्रमाणसम्प्लवका निषेध किया है। एक प्रमेयमें अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्ति को प्रमाणसम्प्लव कहते हैं। बौद्ध पदार्थोंको एकक्षणस्थायी मानते हैं। उनके सिद्धान्तके अनुसार पदार्थ ज्ञानमें कारण होता है। अतः जिस विवक्षित पदार्थसे कोई भी प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ कि वह पदार्थ दूसरे क्षणमें नियमसे नष्ट हो जाता है। इसलिए किसी भी अर्थमें दो ज्ञानोंके प्रवृत्त होनेका अवसर ही नहीं है। दूसरे, बौद्धोंने प्रमेयके दो भेद किए हैं—१. विशेष ( स्वलक्षण ), २. सामान्य ( अन्यापोहरूप )। विशेष पदार्थको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष है तथा सामान्यको जाननेवाले अनुमानादि विकल्पज्ञान। इस तरह विषयद्वैविध्यात्मक व्यवस्था होनेसे कोई भी प्रमाण अपनी विषयमर्यादाको नहीं लाँघ सकता। इसलिए विजातीय प्रमाणकी तो स्वनियत विषयसे भिन्न प्रमेयमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। रह जाती है सजातीय प्रमाणान्तरके सम्प्लवकी बात, सो द्वितीय क्षणमें जब वह पदार्थ रहता ही नहीं है तब सम्प्लवकी चर्चा अपने आप ही समाप्त हो जाती है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि—'जैन तो पदार्थको एकान्तक्षणिक नहीं मानते और न विषयद्वैविध्यको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही। जैनकी दृष्टिसे तो एक सामान्य-विशेषात्मक अर्थ सभी प्रमाणोंका विषय होता है। तब अनधिगतार्थग्राहि पदका जैनोक्त प्रमाणलक्षणमें क्या उपयोग हो सकता है?' अकलंकदेवने इसका उत्तर दिया है कि—वस्तु अनन्तधर्मवाली है। अमुक ज्ञानके द्वारा वस्तुके अमुक अंशोंका निश्चय होनेपर भी अगृहीत अंशोंको जाननेके लिए प्रमाणान्तरको अवकाश रहता है। इसी तरह जिन ज्ञान अंशोंमें संवाद हो जानेसे निश्चय हो गया है, उन अंशोंमें भले ही प्रमाणान्तर कुछ विशेष परिच्छेद न करें पर जिन अंशोंमें असंवाद होनेसे अनिश्चय या विपरीतनिश्चय है उनका निश्चय करके तो प्रमाणान्तर विशेषपरिच्छेदक होनेके कारण अनधिगतग्राहिरूपसे प्रमाण ही हैं। प्रमाणसम्प्लवके विषयमें यह बात और भी ध्यान देने योग्य है कि—अकलंकदेवने प्रमाणके लक्षणमें अनधिगतार्थग्राहि पदके प्रवेश करनेके कारण अनिश्चितांशके निश्चयमें या निश्चितांशमें उपयोग-विशेष होनेपर प्रमाणसम्प्लव माना है, जब कि नैयायिकने अपने प्रमाणलक्षणमें ऐसा कोई पद नहीं रखा, अतः उसकी दृष्टिसे वस्तु गृहीत हो या अगृहीत, यदि इन्द्रियादि कारणकलाप मिल जायँ तो अवश्य ही प्रमाण-की प्रवृत्ति होगी, इसी तरह उपयोग विशेष हो या न हो, कोई भी ज्ञान इसलिए अप्रमाण नहीं होगा कि उसने गृहीत को ग्रहण किया है। तात्पर्य यह कि नैयायिकको प्रत्येक अवस्थामें प्रमाणसम्प्लव स्वीकृत है।

अकलंकदेवने बौद्धमतमें प्रमाणसम्प्लवकी असंभवताके कारण 'अनुमानकी अप्रवृत्ति' रूप दूषण देते हुए कहा है कि—जब आपके यहाँ यह नियम है कि प्रत्यक्षके द्वारा वस्तुके समस्त गुणोंका दर्शन हो जाता है; तब प्रत्यक्षके द्वारा सर्वांशतया गृहीत वस्तुमें कोई भी अनधिगत अंश नहीं बचा, जिसके ग्रहणके लिए अनुमान-को प्रमाण माना जाय। अनुमानके विषयभूत अन्यापोहरूप सामान्यमें विपरीतारोपकी संभावना नहीं है, अतः समारोपव्यवच्छेदार्थ भी अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। अकलंकोत्तरवर्त्ती आ० माणिक्यनन्दिने अनधि-गतार्थकी जगह कुमारिलके अपूर्वार्थ पदको स्थान दिया। पर विद्यानन्द तथा उनके बाद अभयदेव, वादिदेव, हेमचन्द्र आदि आचार्योंने अनधिगत या अपूर्वार्थ किसी भी पदको अपने लक्षणोंमें नहीं रखा।

ज्ञान का स्व-परसंवेदन विचार—ज्ञानके स्वरूपसंवेदनके विषयमें निम्न वाद हैं—१. मीमांसकका परोक्षज्ञानवाद, २. नैयायिकका ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद, ३. सांख्यका प्रकृतिपर्यायात्मक ज्ञानका पुरुष द्वारा संचेतनवाद, ४. बौद्धका साकार-स्वसंवेदनज्ञानवाद, ५. जैनका निराकार-स्वसंवेदनज्ञानवाद। अकलंकदेवने इतर वादोंकी समालोचना इस प्रकार की है—

परोक्षज्ञानवादनिरास—यदि ज्ञान को परोक्ष माना जाय अर्थात् ज्ञान स्वयं अपने स्वरूपको न जान सके, तब उस परोक्षज्ञानके द्वारा जाना गया पदार्थ हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकेगा; क्योंकि आत्मान्तर-के ज्ञानसे हमारे ज्ञानमें यही स्वकीयत्व है कि वह हमारे स्वयं प्रत्यक्षका विषय है, उसे हम स्वयं उसीके द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं, जब कि आत्मान्तरके ज्ञानको हम स्वयं उसीके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं करते। यही कारण है कि आत्मान्तरके ज्ञानके द्वारा हमें पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं होता। जब ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं तब उसकी सिद्धि अनुमानसे भी कैसे होगी? क्योंकि अस्वसंविदित अर्थप्रकाशरूप लिंगसे अज्ञात धर्मि-ज्ञानका अविनाभाव ही गृहीत नहीं है। अर्थप्रकाशको स्वसंविदित माननेपर तो ज्ञानकी कल्पना ही निरर्थक हो जायगी; क्योंकि स्वार्थसंवेदी अर्थप्रकाशसे स्व और अर्थ उभयका परिच्छेद हो सकता है। इसी तरह विषय, इन्द्रिय, मन आदि भी परोक्ष ज्ञानका अनुमान नहीं करा सकते; क्योंकि एक तो इनके साथ ज्ञानका अविनाभाव असिद्ध है, दूसरे इनके होनेपर भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता अतः ये व्यभिचारी भी हैं। यदि विषयजन्य ज्ञानात्मक सुखादि परोक्ष हैं; तब उनसे हमें अनुग्रह या परिताप नहीं हो सकेगा। अपने सुखादिको अनुमानग्राह्य मानकर अनुग्रहादि मानना तो अन्य आत्माके सुखसे व्यभिचारी है, अर्थात् परकीय आत्माके सुखादिका हम उसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रसाद-विषादादि चेष्टाओंसे अनुमान तो कर सकते हैं पर उनसे अनुग्रहादि तो हमें नहीं होता। ज्ञानको परोक्ष माननेपर आत्मान्तरकी बुद्धिका अनुमान करना भी कठिन हो जायगा। परकीय आत्मामें बुद्धिका अनुमान व्यापार वचनादि चेष्टाओंसे किया जाता है। यदि हमारा ज्ञान हमें ही अप्रत्यक्ष है, तब हम ज्ञानका व्यापारादिके साथ कार्यकारणरूप अविनाभाव अपनी आत्मामें तो ग्रहण ही नहीं कर सकेंगे, अन्य आत्मामें तो अभी तक ज्ञानका सद्भाव ही असिद्ध है। अतः अविनाभावका ग्रहण न होनेसे परकीय आत्मामें बुद्धिका अनुमान नहीं हो सकेगा।

**नैयायिकके ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका निराकरण**—यदि प्रथमज्ञानका प्रत्यक्ष द्वितीयज्ञानसे माना जाय और इसी तरह अस्वसंवेदी तृतीयादिज्ञानसे द्वितीयादिज्ञानोंका प्रत्यक्ष; तब अनवस्था नामका दूषण ज्ञानके सद्भाव सिद्ध करनेमें बाधक होगा, क्योंकि जब तक आगे-आगेके ज्ञान अपने स्वरूपका निश्चय नहीं करेंगे तब तक वे पूर्वपूर्वज्ञानोंको नहीं जान सकेंगे। और जब प्रथमज्ञान ही अज्ञात रहेगा तब उसके द्वारा अर्थका ज्ञान असंभव हो जायगा। इस तरह जगत् अर्थनिश्चयशून्य हो जायगा। एक ज्ञानके जाननेमें ही जब इस तरह अनेकानेक ज्ञानोंका प्रवाह चलेगा, तब तो ज्ञानकी विषयान्तरमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी। यदि अप्रत्यक्षज्ञानसे अर्थबोध माना जाय; तब तो हम लोग ईश्वरज्ञानके द्वारा भी समस्त पदार्थोंको जानकर सर्वज्ञ बन जायँगे, क्योंकि अभी तक हम लोग सर्वज्ञके ज्ञानके द्वारा अर्थोंको इसी कारणसे नहीं जान सकते थे कि वह हमारे स्वयं अप्रत्यक्ष है।

**सांख्यके प्रकृतिपर्यायात्मकज्ञानवाद निरसन**—यदि ज्ञान प्रकृतिका विकार होनेसे अचेतन है तथा वह पुरुषके संचेतन द्वारा अनुभूत होता है; तो फिर इस अकिञ्चित्कर ज्ञानका क्या प्रयोजन? क्योंकि उसी ज्ञानस्वरूपसंचेतक पुरुषानुभवके द्वारा अर्थका भी परिज्ञान हो जायगा। यदि वह सञ्चेतन स्वप्रत्यक्ष नहीं है; तब इस अकिञ्चित्कर ज्ञानकी सत्ता किससे सिद्ध की जायगी? ज्ञान विषयक सञ्चेतना जो कि अनित्य है, अविकारी कूटस्थनित्य पुरुषका धर्म भी कैसे हो सकती है? अतः ज्ञान परिणामी पुरुषका ही धर्म है और वह स्वार्थसंवेदक होता है। इसी तरह यदि अर्थसञ्चेतना स्वार्थसंवेदक है; तब तद्व्यतिरिक्त अकिञ्चित्कर पुरुषके माननेका भी क्या प्रयोजन? यदि वह अस्वसंवेदक है; तब पूर्वज्ञान तथा पुरुषकी सिद्धि किससे होगी?

**बौद्धोंके साकारज्ञानवादका निरास**—साकारज्ञानवादी निराकारज्ञानवादियोंको ये दूषण देते हैं कि—'यदि ज्ञान निराकार है, उसका किसी अर्थके साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है; तब प्रतिकर्मव्यवस्था—घटज्ञानका विषय घट ही है पट नहीं—कैसे होगी? तथा विषयप्रतिनियम न होनेसे सब अर्थ एक ज्ञानके या सब ज्ञानोंके विषय हो जायँगे। विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञानमें कोई भेद नहीं रहेगा। इनमें यही भेद है कि विषयज्ञानजहाँ केवल विषयके आकार होता है तब विषयज्ञानज्ञान अर्थ और अर्थाकारज्ञान दोनोंके आकारको धारण करता है। विषयकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए ज्ञानको साकार मानना आवश्यक है।' अकलंकदेवने इनका समाधान करके ज्ञानको निराकार सिद्ध करते हुए लिखा है कि—विषयप्रतिनियमके लिए ज्ञानकी अपनी शक्ति ही नियामक है। जिस ज्ञानमें जिस प्रकारकी जितनी शक्ति होगी उससे उतनी और उसी प्रकारकी अर्थव्यवस्था होगी।

इस स्वशक्तिको न मानकर ज्ञानको साकार माननेपर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'घटज्ञान घटके ही आकार क्यों हुआ पटके आकार क्यों नहीं हुआ?' तदुत्पत्तिसे तो आकारनियम नहीं किया जा सकता; क्योंकि जिस तरह घटज्ञान घटसे उत्पन्न हुआ है उसी तरह इन्द्रिय, आलोक आदि पदार्थोंसे भी तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न हुआ है, अतः उनके आकारको भी उसे ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान विषयके आकारको यदि एकदेशसे ग्रहण करता है; तब तो ज्ञान सांश हो जायगा। यदि सर्वदेशसे तो ज्ञान अर्थकी तरह जड़ हो जायगा। समानकालीन पदार्थ किसी तरह आकार ज्ञानमें समर्पित कर सकते हैं पर अतीत और अनागत पदार्थोंके जाननेवाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, अनुमानादि ज्ञान कैसे उन अविद्यमान पदार्थोंके आकार हो सकते हैं ? हाँ, शक्तिप्रतिनियम माननेसे अतीतादि पदार्थोंका ज्ञान भलीभाँति हो सकता है। ज्ञानका अमुक अर्थको विषय करना ही अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्त होना है। अतः ज्ञानको निराकर मानना ही ठीक है। अमूर्त ज्ञानमें मूर्त अर्थका प्रतिबिम्ब भी कैसे आ सकता है ?

सौत्रान्तिकको ज्ञानके साकार होनेका 'ज्ञानमें अर्थका प्रतिबिम्ब पड़ता है।' यह अर्थ इष्ट था या नहीं यह तो विचारणीय है। पर विज्ञानवादी बौद्धोंने उसका खण्डन यही अर्थ मानकर किया है और उसीका प्रतिबिम्ब अकलंककृत खण्डनमें है।

इस तरह अकलंकने स्वार्थव्यवसायात्मक, अनधिगतार्थग्राहि, अविसंवादि ज्ञानको प्रमाण कहा है। इस लक्षणके अनधिगतार्थग्राहित्व विशेषण के सिवाय बाकी अंश सभी जैन तार्किकोंने अपनाए हैं। अनधिगतार्थग्राहित्वकी परम्परा माणिक्यनन्दि तक ही चली। आ० हेमचन्द्रने स्वनिर्णयको भी प्रमाणके व्यावर्तक लक्षणमें नहीं रखा; क्योंकि स्वनिर्णय तो ज्ञानसामान्यका धर्म है न कि प्रमाणात्मक विशेषज्ञानका। अकलंकदेवने जहाँ अज्ञानात्मक सन्निकर्षादिकी प्रमाणताका व्यवच्छेद प्रमितिक्रियामें अव्यवहित करण न होनेके कारण किया है, वहाँ ज्ञानात्मक संशय और विपर्ययका विसंवादी होनेसे तथा निर्विकल्पज्ञानका संव्यवहारानुपयोगी होनेके कारण निरास किया है। इसी संव्यवहारानुपयोगी पदसे सुषुप्त चैतन्यके समान निर्विकल्पकदर्शन भी प्रमाणकोटिसे बहिर्भूत है इसकी सूचना मिलती है।

प्रमाणके भेद—तत्त्वार्थसूत्रके 'तत्प्रमाणे' इस सूत्रको लक्ष्यमें रखकर ही अकलंकने प्रमाणके दो मूल भेद किए हैं। यद्यपि उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्षके कई अवान्तर भेद मानना पड़े हैं। इसीलिए उनने 'प्रमाणे इति संग्रहः' पद देकर उस भेदके आधारभूत सूत्रकी सूचना दी है। वे दो भेद हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। तत्त्वार्थसूत्रमें मति ( इन्द्रियान्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति, संज्ञा ( प्रत्यभिज्ञान ), चिन्ता ( तर्क ), अभिनिबोध ( अनुमान ) इन ज्ञानोंको मतिसे अनर्थान्तर अर्थात् मतिज्ञानरूप बताया है। मतिज्ञानका परोक्षत्व भी वहीं स्वीकृत है। अतः उक्तज्ञान जिनमें इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष भी शामिल है आगमिकपरम्परामें स्पष्टरूपसे परोक्ष हैं। पर लोकव्यवहार तथा दर्शनान्तरोंमें इन्द्रियानिन्द्रियज्ञान प्रत्यक्षरूपसे ही प्रसिद्ध तथा व्यवहृत होते हैं। यद्यपि अकलंकदेवके पहिले आ० सिद्धसेन दिवाकरने अपने न्यायावतारमें प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणोंका कथन किया है, पर प्रमाणोंकी व्यावर्तक संख्या अभी तक अनिश्चितसी ही रही है। अकलंकदेवने सूत्रकारकी परम्पराकी रक्षा करते हुए लिखा है कि—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान शब्दयोजनासे पहिले मतिज्ञान तथा शब्दयोजनाके अनन्तर श्रुतज्ञान कहे जायँ। श्रुतज्ञान परोक्ष कहा जाय। मतिज्ञानमें अन्तर्भूत मति—इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षको लोकव्यवहारमें प्रत्यक्षरूपसे प्रसिद्ध होनेके कारण तथा वैशद्यांशका सद्भाव होनेसे संव्यवहारप्रत्यक्ष कहा जाय। प्रत्यक्षके इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष ये तीन मूलभेद हों।

इस वक्तव्यका यह फलितार्थ हुआ कि प्रत्यक्षके दो भेद—१. सांव्यवहारिक, २. मुख्य। सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके दो भेद—१. इन्द्रियप्रत्यक्ष, २. अनिन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाविज्ञान। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष—शब्दयोजनासे पहिलेकी अवस्थावाले स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान। इस तरह अकलंकदेवने प्रमाणके भेद किए जो निर्विवाद रूपसे उत्तरकालीन ग्रन्थकारों द्वारा माने गए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हाँ, इसमें जो स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञानको शब्दयोजनाके पहिले अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहा है उसे किसी भी अन्य आचार्यने स्वीकार नहीं किया। उन्हें सर्वांशमें अर्थात् शब्दयोजनाके पूर्व और पश्चात् दोनों अवस्थाओंमें परोक्ष ही कहा है। यही कारण है कि आचार्य प्रभाचन्द्रने लघीयस्त्रयकी 'ज्ञानमाद्यं' कारिकाका यह अर्थ किया है कि—'मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान शब्दयोजनाके पहिले तथा शब्दयोजनाके बाद दोनों अवस्थाओंमें श्रुत हैं अर्थात् परोक्ष हैं।'

यद्यपि जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणने अपने विशेषावश्यकभाष्यमें प्रत्यक्षके दो भेद करके इन्द्रियानिन्द्रियज-प्रत्यक्षको संव्यवहारप्रत्यक्ष कहा है, पर उन्होंने स्मृति आदि ज्ञानोंके विषयमें कुछ खास नहीं लिखा। इन्द्रिय-प्रत्यक्षको संव्यवहारप्रत्यक्ष मान लेनेसे लोकप्रसिद्धिका निर्वाह तथा दर्शनान्तरप्रसिद्धिका समन्वय भी हो गया और सूत्रकारका अभिप्राय भी सुरक्षित रह गया।

प्रत्यक्ष—सिद्धसेनदिवाकरने प्रत्यक्षका—'अपरोक्ष रूपसे अर्थको जाननेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह परोक्षलक्षणाश्रित लक्षण किया है। यद्यपि विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेकी परम्परा बौद्धोंमें स्पष्ट है, फिर भी प्रत्यक्षके लक्षणमें अकलंकके द्वारा विशद पदके साथ ही साथ प्रयुक्त साकार और अंजसा पद खास महत्त्व रखते हैं। बौद्ध निर्विकल्पज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। यह निर्विकल्पकज्ञान जैनपरम्परामें प्रसिद्ध-इन्द्रिय और पदार्थके योग्यदेशावस्थितिरूप सन्निकर्षके बाद उत्पन्न होनेवाले, तथा सत्तात्मक महासामान्यका आलोचन करने-वाले अनाकार दर्शनके समान है। अकलंकदेवकी दृष्टिमें जब निर्विकल्पकदर्शन प्रमाणकोटिसे ही बहिर्भूत है तब उसे प्रत्यक्ष तो कहा ही नहीं जा सकता। इसी बातकी सूचनाके लिए उन्होंने प्रत्यक्षके लक्षणमें साकार पद रखा, जो निराकारदर्शन तथा बौद्धसम्मत निर्विकल्पप्रत्यक्षका निराकरणकर निश्चयात्मक विशद ज्ञानको ही प्रत्यक्षकोटिमें रखता है। बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्षके बाद होनेवाले 'नीलमिदम्' इत्यादि प्रत्यक्षज विकल्पों-को भी संव्यवहारसे प्रमाण मान लेते हैं। इसका मूल यह है कि—प्रत्यक्षके विषयभूत दृश्य-स्वलक्षणमें विकल्पके विषयभूत विकल्प्यसामान्यका आरोपरूप एकत्वाध्यवसाय करके प्रवृत्ति करनेपर स्वलक्षण ही प्राप्त होता है। अतः विकल्पज्ञान संव्यवहारसे विशद है। इसका निराकरण करनेके लिए अकलंकदेवने 'अञ्जसा' पदका उपादान करके सूचित किया कि विकल्पज्ञान संव्यवहारसे नहीं किन्तु अंजसा—परमार्थरूपसे विशद है।

अनुमान आदि ज्ञानोंसे अधिक विशेषप्रतिभासका नाम वैशद्य है। जिस तरह अनुमान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें लिंगज्ञान आदि ज्ञानान्तरकी अपेक्षा करते हैं उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्तिमें किसी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रखता, यही अनुमानादिसे प्रत्यक्षमें अतिरेक-अधिकता है।

अकलंकदेवने इतरवादिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणोंका निराकरण इस प्रकार किया है—

बौद्ध—जिसमें शब्दसंसर्गकी योग्यता नहीं है ऐसे निर्विकल्पज्ञानको प्रमाण मानते हैं सविकल्प-को नहीं, क्योंकि विकल्पज्ञान अर्थके अभावमें भी उत्पन्न होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा यद्यपि अर्थमें रहनेवाले क्षणिकत्वादि सभी धर्मोंका अनुभव हो जाता है, पर वह नीलादि अंशोंमें 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञानके द्वारा व्यवहारसाधक होता है, तथा क्षणिकत्वादि अंशोंमें यथासंभव अनुमानादि विकल्पों द्वारा। अतः निर्विकल्पक 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पोंका उत्पादक होनेसे तथा अर्थस्वलक्षणसे उत्पन्न होनेके कारण प्रमाण है। विकल्पज्ञान अस्पष्ट है; क्योंकि वह परमार्थसत् स्वलक्षणसे उत्पन्न नहीं होता। सर्वप्रथम अर्थसे निर्विकल्प ही उत्पन्न होता है। निर्विकल्पकमें असाधारण क्षणिक परमाणुओंका प्रतिभास होता है। उस निर्विकल्पक अवस्थामें कोई भी विकल्प अनुभवमें नहीं आता। विकल्पज्ञान कल्पितसामान्यको विषय करनेके कारण तथा निर्विकल्पकके द्वारा गृहीत अर्थको ग्रहण करनेके कारण प्रत्यक्षाभास है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकलंकदेव इसका निराकरण इस तरह करते हैं—अर्थक्रियार्थी पुरुष प्रमाणका अन्वेषण करते हैं। जब व्यवहारमें साक्षात् अर्थक्रियासाधकता सविकल्पज्ञानमें ही है, तब क्यों न उसे ही प्रमाण माना जाय? निर्विकल्पकमें प्रमाणता लानेको आखिर आपको सविकल्पज्ञान तो मानना ही पड़ता है। यदि निर्विकल्पके द्वारा गृहीत नीलाद्यंशको विषय करनेसे विकल्पज्ञान अप्रमाण है; तब तो अनुमान भी प्रत्यक्षके द्वारा गृहीत क्षणिकत्वादिको विषय करनेके कारण प्रमाण नहीं हो सकेगा। निर्विकल्पसे जिस प्रकार नीलाद्यंशोंमें 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार क्षणिकत्वादि अंशोंमें भी 'क्षणिकमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञान उत्पन्न होना चाहिए। अतः व्यवहारसाधक सविकल्पज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जाने योग्य है। विकल्पज्ञान ही विशदरूपसे हर एक प्राणीके अनुभवमें आता है, जबकि निर्विकल्पज्ञान अनुभवसिद्ध नहीं है। प्रत्यक्षसे तो स्थिर स्थूल अर्थ ही अनुभवमें आते हैं, अतः क्षणिक परमाणुका प्रतिभास कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। निर्विकल्पकको स्पष्ट होनेसे तथा सविकल्पको अस्पष्ट होनेसे विषयभेद मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि एक ही वृक्ष दूरवर्ती पुरुषको अस्पष्ट तथा समीपवर्तीको स्पष्ट दीखता है। आद्यप्रत्यक्षकालमें भी कल्पनाएँ बराबर उत्पन्न तथा विनष्ट तो होती ही रहती हैं, भले ही वे अनुपलक्षित रहें। निर्विकल्पसे सविकल्पककी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि अशब्द निर्विकल्पकसे सशब्द विकल्पज्ञान उत्पन्न हो; तो शब्दशून्य अर्थसे ही विकल्पकी उत्पत्ति माननेमें क्या बाधा है? अतः मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्तादि यावद्विकल्पज्ञान संवादी होनेसे प्रमाण हैं। जहाँ ये विसंवादी हों वहीं इन्हें अप्रमाण कह सकते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें अर्थक्रियास्थिति-अर्थात् अर्थक्रियासाधकत्व रूप अविसंवादका लक्षण भी नहीं पाया जाता, अतः उसे प्रमाण कैसे कह सकते हैं? शब्दसंसृष्ट ज्ञानको विकल्प मानकर अप्रमाण कहनेसे शास्त्रोपदेशसे क्षणिकत्वादिकी सिद्धि नहीं हो सकेगी।

मानसप्रत्यक्ष निरास—बौद्ध इन्द्रियज्ञानके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले विशद ज्ञानको, जो कि उसी इन्द्रियज्ञानके द्वारा ग्राह्य अर्थके अनन्तरभावी द्वितीयक्षणको जानता है, मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—एक ही निश्चयात्मक अर्थसाक्षात्कारी ज्ञान अनुभवमें आता है। आपके द्वारा बताए गए मानस प्रत्यक्षका तो प्रतिभास ही नहीं होता। 'नीलमिदम्' यह विकल्पज्ञान भी मानसप्रत्यक्षका असाधक है; क्योंकि ऐसा विकल्पज्ञान तो इन्द्रियप्रत्यक्षसे ही उत्पन्न हो सकता है, इसके लिए मानसप्रत्यक्ष माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। बड़ी और गरम जलेबी खाते समय जितनी इन्द्रियबुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं उतने ही तदनन्तरभावी अर्थको विषय करनेवाले मानस प्रत्यक्ष मानना होंगे; क्योंकि बादमें उतने ही प्रकारके विकल्पज्ञान उत्पन्न होते हैं। इस तरह अनेक मानसप्रत्यक्ष माननेपर सन्तानभेद हो जानेके कारण 'जो मैं खाने वाला हूँ वही मैं सूंघ रहा हूँ' यह प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि समस्त रूपादिको विषय करनेवाला एक ही मानसप्रत्यक्ष माना जाय; तब तो उसीसे रूपादिका परिज्ञान भी हो ही जायगा, फिर इन्द्रियबुद्धियाँ किसलिए स्वीकार की जायँ? धर्मोत्तरने मानसप्रत्यक्षको आगमप्रसिद्ध कहा है। अकलंकने उसकी भी समालोचना की है कि—जब वह मात्र आगमप्रसिद्ध ही है; तब उसके लक्षणका परीक्षण ही निरर्थक है।

स्वसंवेदनप्रत्यक्ष खंडन—यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है तब तो स्वाप तथा मूर्च्छादि अवस्थाओंमें ऐसे निर्विकल्पक प्रत्यक्षको माननेमें क्या बाधा है? सुषुप्ताद्यवस्थाओंमें अनुभवसिद्ध ज्ञानका निषेध तो किया ही नहीं जा सकता। यदि उक्त अवस्थाओंमें ज्ञानका अभाव हो तो उस समय योगियोंको चतुःसत्यविषयक भावनाओंका भी विच्छेद मानना पड़ेगा।

बौद्धसम्मत विकल्पके लक्षणका निरास—बौद्ध 'अभिलापवती प्रतीतिः कल्पना' अर्थात् जो ज्ञान शब्दसंसर्गके योग्य हो उस ज्ञानको कल्पना या विकल्पज्ञान कहते हैं। अकलंकदेवने उनके इस लक्षणका खंडन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हुए लिखा है कि—यदि शब्दके द्वारा कहे जाने लायक ज्ञानका नाम कल्पना है तथा बिना शब्दसंश्रयके कोई भी विकल्पज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता; तब शब्द तथा शब्दांशोंके स्मरणात्मक विकल्पके लिए तद्वाचक अन्य शब्दोंका प्रयोग मानना होगा, उन अन्य शब्दोंके स्मरणके लिए भी तद्वाचक अन्यशब्द स्वीकार करना होंगे, इस तरह दूसरे-दूसरे शब्दोंकी कल्पना करनेसे अनवस्था नामका दूषण होगा। अतः जब विकल्पज्ञान ही सिद्ध नहीं हो पाता; तब विकल्पज्ञानरूप साधकके अभावमें निर्विकल्पक भी असिद्ध ही रह जायगा और निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप प्रमाणद्वयके अभावमें सकल प्रमेयका भी साधक प्रमाण न होनेसे अभाव ही प्राप्त होगा। यदि शब्द तथा शब्दांशोंका स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक शब्दप्रयोगके बिना ही हो जाय; तब तो विकल्पका अभिलापवत्त्व लक्षण अव्याप्त हो जायगा। और जिस तरह शब्द तथा शब्दांशोंका स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक अन्य शब्दके प्रयोगके बिना ही हो जाता है। उसी तरह 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प भी शब्दप्रयोगकी योग्यताके बिना ही हो जायँगे, तथा चक्षुरादिबुद्धियाँ शब्दप्रयोगके बिना ही नीलपीतादि पदार्थोंका निश्चय करनेके कारण स्वतः व्यवसायात्मक सिद्ध हो जायँगी। अतः विकल्पका अभिलापवत्त्व लक्षण दूषित है। विकल्पका निर्दोष लक्षण है—समारोपविरोधीग्रहण या निश्चयात्मकत्व।

सांख्य—श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको प्रत्यक्षप्रमाण मानते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ तो तैमिरिक रोगीको होनेवाले द्विचन्द्रज्ञान तथा अन्य संशयादि ज्ञानोंमें भी प्रयोजक होती हैं, पर वे सभी ज्ञान प्रमाण तो नहीं हैं।

नैयायिक—इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। इसे भी अकलंकदेवने सर्वज्ञके ज्ञानमें अव्याप्त बताते हुए लिखा है कि—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थोंको विषय करनेवाला सर्वज्ञका ज्ञान प्रतिनियतशक्तिवाली इन्द्रियोंसे तो उत्पन्न नहीं हो सकता, पर प्रत्यक्ष तो अवश्य है। अतः सन्निकर्ष अव्याप्त है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—चार प्रकारका है—१. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय, ४. धारणा। प्रत्यक्षज्ञानकी उत्पत्तिका साधारण क्रम यह है कि—सर्वप्रथम इन्द्रिय और पदार्थका योग्यदेशस्थितिरूप सम्बन्ध (सन्निकर्ष), ततः सामान्यावलोकन (निर्विकल्पक), ततः अवग्रह (सविकल्पक ज्ञान), ततः ईहा (विशेष जिज्ञासा), ततः अवाय (विशेष निश्चय), अन्तमें धारणा (संस्कार)।

सामान्यावलोकनसे धारणापर्यन्त ज्ञान चाहे एक ही मत्युपयोगरूप माने जायँ या पृथक्-पृथक् उपयोगरूप, दोनों अवस्थाओंमें अनुस्यूत आत्माकी सत्ता तो मानना ही होगी, अन्यथा 'जो मैं देखनेवाला हूँ, वही मैं अवग्रह तथा ईहादि ज्ञानवाला हूँ, वही मैं धारण करता हूँ' यह अनुभवसिद्ध प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी दृष्टिसे अकलंकदेवने दर्शनकी अवग्रहरूप परिणति, अवग्रहकी ईहारूप, ईहाकी अवायरूप तथा अवायकी धारणारूप परिणति स्वीकार की है। अन्वित आत्मदृष्टिसे अभेद होनेपर भी इन ज्ञानोंमें पर्यायकी दृष्टिसे तो भेद है ही।

ईहा और धारणाकी ज्ञानात्मकता—वैशेषिक ईहाको प्रयत्न नामका पृथक् गुण तथा धारणाको भावनासंस्कार नामक पृथक् गुण मानते हैं। अकलंकदेवने इन्हें एक चैतन्यात्मक उपयोगकी अवस्था होनेके कारण ज्ञानात्मक ही कहा है, ज्ञानसे पृथक् स्वतंत्र गुणरूप नहीं माना है।

अवग्रहादिका परस्पर प्रमाण-फलभाव—ज्ञानके साधकतम अंशको प्रमाण तथा प्रमित्यंशको फल कहते हैं। प्रकृत ज्ञानोंमें अवग्रह, ईहाके प्रति साधकतम होनेसे प्रमाण है, ईहा प्रमाणरूप होनेसे उसका फल है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह ईहाकी प्रमाणतामें अवाय फल है तथा अवायको प्रमाण माननेपर धारणा फलरूप होती है। तात्पर्य यह कि—पूर्वपूर्वज्ञान साधकतम होनेसे प्रमाण हैं तथा उत्तरोत्तरज्ञान प्रमितिरूप होनेसे फलरूप हैं। प्रमाण-फलभावका ऐसा ही क्रम वैशेषिकादि अन्य दर्शनोंमें भी पाया जाता है।

मुख्य प्रत्यक्ष—इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके बिना होनेवाले, अतीन्द्रिय, व्यवसायात्मक, विशद, सत्य, अव्यवहित, अलौकिक, अशेष पदार्थोंको विषय करनेवाले, अक्रम ज्ञानको मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। वह सकल और विकलके भेदसे दो प्रकारका है। सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान अमुक पदार्थोंको विषय करनेके कारण विकलप्रत्यक्ष हैं।

सर्वज्ञत्व विचार—प्राचीनकालमें भारतवर्षकी परम्पराके अनुसार सर्वज्ञताका सम्बन्ध भी मोक्षके ही साथ था। मुमुक्षुओंमें विचारणीय विषय तो यह था कि—मोक्षके मार्गका किसने साक्षात्कार किया है? इसी मोक्षमार्गको धर्म शब्दसे कहते हैं। अतः 'धर्मका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं?' इस विषयमें विवाद था। एक पक्षका, जिसके अनुगामी शबर, कुमारिल आदि मीमांसक हैं, कहना था कि—धर्म जैसी अतीन्द्रिय वस्तुको हम लोग प्रत्यक्षसे नहीं जान सकते, उसमें तो वेदका ही निर्बाध अधिकार है। धर्मकी परिभाषा भी 'चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः' करके धर्ममें चोदना-वेदको ही प्रमाण कहा है। ऐसी धर्मज्ञतामें वेदको ही अन्तिम प्रमाण माननेके कारण उन्हें पुरुषमें अतीन्द्रियार्थविषयक ज्ञानका अभाव मानना पड़ा। उन्होंने पुरुषोंमें राग-द्वेष-अज्ञान आदि दोषोंकी शंका होनेसे अतीन्द्रियार्थप्रतिपादक वेदको पुरुषकृत न मानकर उसे अपौरुषेय स्वीकार किया। इस अपौरुषेयत्वको मान्यतासे ही पुरुषमें सर्वज्ञताका अर्थात् प्रत्यक्षके द्वारा होने-वाली धर्मज्ञताका निषेध हुआ। कुमारिल इस विषयमें स्पष्ट लिखते हैं कि—सर्वज्ञत्वके निषेधसे हमारा तात्पर्य केवल धर्मज्ञत्वके निषेधसे है। धर्मके सिवाय यदि कोई पुरुष संसारके समस्त अर्थोंको जानना चाहता है, खुशीसे जाने, हमें कोई आपत्ति नहीं है। पर धर्मका ज्ञान वेदके द्वारा ही होगा, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे नहीं। इस तरह धर्मको वेदके द्वारा तथा धर्मातिरिक्त अन्य पदार्थोंको यथासंभव अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा जानकर कोई पुरुष यदि टोटलमें सर्वज्ञ बनता है, तब भी हमें कोई आपत्ति नहीं है।

दूसरा पक्ष बौद्धोंका है। ये बुद्धको धर्म-चतुरार्यसत्यका साक्षात्कार मानते हैं। इनका कहना है कि बुद्धने अपने निरास्रव शुद्धज्ञानके द्वारा दुःख, समुदय—दुःखके कारण, निरोध-मोक्ष, मार्ग—मोक्षोपाय इस चतुरार्यसत्यरूप धर्मका प्रत्यक्षसे ही स्पष्ट साक्षात्कार किया है। अतः धर्मके विषयमें बुद्ध ही प्रमाण हैं। वे करुणा करके कषायज्वालासे झुलसे हुए संसारी जीवोंके उद्धारकी भावनासे उपदेश देते हैं। इस मतके समर्थक धर्मकीर्तिने लिखा है कि—हम 'संसारके समस्त पदार्थोंका कोई पुरुष साक्षात्कार करता है कि नहीं' इस निरर्थक बातके झगड़ेमें नहीं पड़ना चाहते। हम तो यह जानना चाहते हैं कि—उसने इष्टतत्त्व-धर्मको जाना है कि नहीं? मोक्षमार्गमें अनुपयोगी संसारके कीड़े-मकोड़ों आदिकी संख्याके परिज्ञानका भला मोक्षमार्गसे क्या सम्बन्ध है? धर्मकीर्ति सर्वज्ञताका सिद्धान्ततः विरोध नहीं करके उसे निरर्थक अवश्य बतलाते हैं। वे सर्वज्ञताके समर्थकोंसे कहते हैं कि—भाई, मीमांसकोंके सामने सर्वज्ञता—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्तपदार्थोंका प्रत्यक्षसे ज्ञान—पर जोर क्यों देते हो? असली विवाद तो धर्मज्ञतामें है कि धर्मके विषयमें धर्मके साक्षात्कर्त्ताको प्रमाण माना जाय या वेदको? उस धर्ममार्गके साक्षात्कारके लिए धर्मकीर्तिने आत्मा-ज्ञानप्रवाहसे दोषोंका अत्यन्तोच्छेद माना और उसके साधन नैरात्म्यभावना आदि बताए हैं। तात्पर्य यह कि—जहाँ कुमारिलने प्रत्यक्षसे धर्मज्ञताका निषेध करके धर्मके विषयमें वेदका ही अव्याहत अधिकार सिद्ध किया है; वहाँ धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षसे ही धर्म-मोक्षमार्गका साक्षात्कार मानकर प्रत्यक्षके द्वारा होनेवाली धर्मज्ञताका जोरोंसे समर्थन किया है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्तने सुगतको धर्मज्ञके साथ ही साथ सर्वज्ञत्रिकालवर्ती यावत् पदार्थोंका ज्ञाता भी सिद्ध किया है। और लिखा है कि—सुगतकी तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं यदि वे अपनी साधक अवस्थामें रागादिविनिर्मुक्तिकी तरह सर्वज्ञताके लिए भी यत्न करें। जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है वे चाहें तो थोड़ेसे प्रयत्नसे तो सर्वज्ञ बन सकते हैं। शान्तरक्षित भी इसी तरह धर्मज्ञता साधनके साथ ही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं और इस सर्वज्ञताको वे शक्तिरूपसे सभी वीतरागोंमें मानते हैं। प्रत्येक वीतराग जब चाहें तब जिस किसी भी वस्तुको अनायास ही जान सकते हैं।

योग तथा वैशेषिकके सिद्धान्तमें यह सर्वज्ञता अणिमा आदि ऋद्धियोंकी तरह एक विभूति है जो सभी वीतरागोंके लिए अवश्य प्राप्तव्य नहीं है। हाँ, जो इसकी साधना करेगा उसे यह प्राप्त हो सकती है।

जैन तार्किकोंने प्रारम्भसे ही त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावज्ज्ञेयोंके प्रत्यक्षदर्शन रूप अर्थमें सर्वज्ञता मानी है और उसका समर्थन भी किया है। यद्यपि तर्कयुगके पहिले 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ'—जो एक आत्माको जानता है वह सर्व पदार्थोंको जानता है इत्यादि वाक्य जो सर्वज्ञताके मुख्य साधक नहीं हैं, पाए जाते हैं; पर तर्कयुगमें इनका जैसा चाहिए वैसा उपयोग नहीं हुआ। समन्तभद्र आदि आचार्योंने सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थोंका प्रत्यक्षत्व अनुमेयत्व हेतुसे सिद्ध किया है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है, जब दोष और आवरणका समूल क्षय हो जायगा तब ज्ञान अनायास ही अपने पूर्णरूपमें प्रकट होकर सम्पूर्ण अर्थका साक्षात्कार करेगा। बौद्धोंकी तरह किसी भी जैनतर्कग्रन्थमें धर्मज्ञता और सर्वज्ञताका विभाजनकर उनमें गौण-मुख्यभाव नहीं बताया गया है। सभी जैनतार्किकोंने एकस्वरसे त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंके पूर्णपरिज्ञान अर्थमें सर्वज्ञताका समर्थन किया है। धर्मज्ञता तो उक्त पूर्णसर्वज्ञताके गर्भमें ही निहित मान ली गई है।

अकलंकदेवने सर्वज्ञता तथा मुख्यप्रत्यक्षके समर्थनके साथ ही साथ धर्मकीर्तिके उन विचारोंका खूब समालोचन किया है जिनमें बुद्धको करुणावान्, शास्ता, तायि, तथा चातुरार्यसत्यका उपदेष्टा बताया है। साथ ही सर्वज्ञाभावके विशिष्ट समर्थक कुमारिलकी युक्तियोंका खण्डन किया है। वे लिखते हैं कि—आत्मामें सर्वपदार्थोंके जाननेकी पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्थामें मल-ज्ञानावरणसे आवृत होनेके कारण उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता पर जब चैतन्यके प्रतिबन्धक कर्मका पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस अप्राप्यकारी ज्ञानको समस्त अर्थोंको जाननेमें क्या बाधा है? यदि अतीन्द्रियपदार्थोंका ज्ञान न हो सके तो ज्योतिर्ग्रहोंकी ग्रहण आदि भविष्यद्दशाओंका जो अनागत होनेसे अतीन्द्रिय हैं, उपदेश कैसे होगा? ज्योतिर्ज्ञानोपदेश यथार्थ देखा जाता है, अतः यह मानना ही चाहिए कि उसका यथार्थ उपदेश साक्षाद्द्रष्टा माने बिना नहीं हो सकता। जैसे सत्यस्वप्नदर्शन इन्द्रियादिकी सहायताके बिना ही भाविराज्यलाभादिका यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान भी भाविपदार्थोंमें संवादक तथा स्पष्ट है। जैसे प्रश्न या ईक्षणिकादिविद्या अतीन्द्रिय पदार्थोंका स्पष्ट भान करा देती है उसी तरह अतीन्द्रियज्ञान स्पष्ट भासक होता है। इस तरह साधक प्रमाणोंको बताकर उन्होंने जो एक खास हेतुका प्रयोग किया है, वह है—'सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्व' अर्थात् किसी भी वस्तुकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए सबसे बड़ा प्रमाण यही हो सकता है कि उसकी सत्तामें कोई साधक प्रमाण नहीं मिलें। जैसे 'मैं सुखी हूँ' यहाँ सुखका साधक प्रमाण यही है कि—मेरे सुखी होनेमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। चूँकि सर्वज्ञकी सत्तामें कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है, अतः उसकी निर्बाध सत्ता होनी चाहिए। इस हेतुके समर्थनार्थ उन्होंने विरोधियोंके द्वारा कल्पित बाधकोंका निराकरण इस प्रकार किया है—

प्र०—'अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है, पुरुष है, जैसे कोई भी गलीमें घूमनेवाला साधारण मनुष्य' यह अनुमान बाधक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उ०—वक्तृत्व और सर्वज्ञत्वका कोई विरोध नहीं है, वक्ता भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी। ज्ञानकी बढ़तीमें वचनोंका ह्रास नहीं होता।

प्र०—वक्तृत्व विवक्षासे सम्बन्ध रखता है, अतः इच्छारहित निर्मोही सर्वज्ञमें वचनोंकी संभावना ही कैसे है ? शब्दोच्चारणकी इच्छा तो मोहकी पर्याय है।

उ०—विवक्षाके साथ वक्तृत्वका कोई अविनाभाव नहीं है। मन्दबुद्धि शास्त्रविवक्षा रखते हैं, पर शास्त्रका व्याख्यान नहीं कर सकते। सुषुप्तादि अवस्थाओंमें वचन देखे जाते हैं पर विवक्षा नहीं है। अतः वचनप्रवृत्तिमें चैतन्य तथा इन्द्रियोंकी पटुता कारण है। लेकिन उनका सर्वज्ञताके साथ कोई विरोध नहीं है। अथवा, वचन विवक्षाहेतुक मान भी लिए जायँ पर सत्य और हितकारक वचनकी प्रवृत्ति करानेवाली विवक्षा दोषवाली कैसे हो सकती है ? इसी तरह निर्दोष वीतराग पुरुषत्व सर्वज्ञताके साथ कोई विरोध नहीं रखता। अतः इन व्यभिचारी हेतुओंसे साध्यसिद्धि नहीं हो सकती; अन्यथा 'जैमिनिको यथार्थ वेदज्ञान नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है एवं पुरुष है' इस अनुमानसे जैमिनिकी वेदार्थज्ञताका भी निषेध भलीभाँति किया जा सकता है।

प्र०—आजकल हमें किसी भी प्रमाणसे सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता, अतः अनुपलम्भ होनेसे उसका अभाव ही मानना चाहिए।

उ०—पूर्ववत अनुमानोंसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है, अतः अनुपलम्भ तो नहीं कहा जा सकता। यह अनुपलम्भ आपको है, या संसारके समस्त जीवोंको ? आपको तो इस समय हमारे चित्तमें आनेवाले विचारोंकी भी अनुपलब्धि है पर इससे उनका अभाव तो सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः स्वोपलम्भ अनैकान्तिक है। 'सबको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है' यह बात तो सबके ज्ञानोंका ज्ञान होनेपर ही सिद्ध हो सकती है। और यदि किसी पुरुषको समस्त प्राणियोंके ज्ञानका ज्ञान हो सके; तब तो वही पुरुष सर्वज्ञ हो जायगा। यदि समस्तजीवोंके ज्ञानका ज्ञान नहीं हो सके; तब तो 'सबको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है' यह बात असिद्ध ही रह जायगी।

प्र०—'सर्वज्ञता आगमोक्तपदार्थोंका यथार्थज्ञान एवं अभ्याससे होगी तथा आगम सर्वज्ञके द्वारा कहा जायगा' इस तरह सर्वज्ञ और आगम दोनों ही अन्योन्याश्रित—एक-दूसरेके आश्रित होनेसे असिद्ध हैं।

उ०—सर्वज्ञ आगमका कारक है। प्रकृत सर्वज्ञका ज्ञान पूर्वसर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित आगमके अर्थके आचरणसे उत्पन्न होता है, पूर्व आगम तत्पूर्वसर्वज्ञके द्वारा कहा गया है। इस तरह बीजांकुरकी तरह सर्वज्ञ और आगमकी परम्परा अनादि मानी जाती है। अनादिपरम्परामें इतरेतराश्रय दोषका विचार अव्यवहार्य है।

प्र०—जब आजकल पुरुष प्रायः रागादि दोषसे दूषित तथा अज्ञानी देखे जाते हैं, तब अतीतकालमें भी किसी अतीन्द्रियार्थद्रष्टाकी संभावना नहीं की जा सकती और न भविष्यत्कालमें ही ? क्योंकि पुरुषजातिकी शक्तियाँ तीनों कालोंमें प्रायः समान ही रहती हैं; वे अपनी अमुक मर्यादा नहीं लाँघ सकतीं।

उ०—यदि पुरुषातिशयको हम नहीं जान सकते तो इससे उसका अभाव नहीं होता। अन्यथा आजकल कोई वेदका पूर्णज्ञ नहीं देखा जाता अतः अतीतकालमें जैमिनिको भी उसका यथार्थ ज्ञान नहीं था यह कहना चाहिये। बुद्धिमें तारतम्य होनेसे उसके प्रकर्षकी संभावना तो है ही। जैसे मलिन सुवर्ण अग्निके तापसे क्रमशः पूर्ण निर्मल हो जाता है, उसी तरह सम्यग्दर्शनादिके अभ्याससे आत्मा भी पूर्णरूपसे निर्मल हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्र०—जब सर्वज्ञ रागी आत्माके राग तथा दुःखीके दुःखका साक्षात्कार करता है तब तो वह स्वयं रागी तथा दुःखी हो जायगा।

उ०—दुःख या राग को जाननेमात्रसे कोई दुःखी या रागी नहीं होता। राग तो आत्माका स्वयं तद्रूपसे परिणमन करनेपर होता है। क्या कोई श्रोत्रियब्राह्मण मदिराके रसका ज्ञान करनेमात्रसे मद्यपायी कहा जा सकता है? रागके कारण मोहनीय आदि कर्म सर्वज्ञसे अत्यन्त उच्छिन्न हो गए हैं, अतः वे राग या दुःखको जाननेमात्रसे रागी या दुःखी नहीं हो सकते।

प्र०—जब सर्वज्ञके साधक और बाधक दोनों प्रकारके प्रमाण नहीं मिलते, तो उसकी सत्ता संदिग्ध ही कहना चाहिए।

उ०—साधक प्रमाण पहिले बता आए हैं तथा बाधकोंका परिहार भी किया जा चुका है तब संदेह क्यों हो? सर्वज्ञके अभावका साधन तो सर्वज्ञ हुए बिना किया ही नहीं जा सकता। जब हम त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत्पुरुषोंका असर्वज्ञरूपमें दर्शन कर सकेंगे तभी असर्वज्ञता सिद्ध की जा सकती है। पर ऐसी असर्वज्ञता सिद्ध करनेवाला व्यक्ति स्वयं अनायास ही सर्वज्ञ बन जायगा।

धर्मकीर्त्तिने बुद्धको करुणावान् तथा हेयोपादेय तत्त्वका उपदेष्टा कहा है। अकलंक कहते हैं कि—जब आप समस्तधर्मोंके आधारभूत आत्माको ही नहीं मानते तब किसपर करुणा की जायगी तथा कौन करुणा करेगा? कौन उसका अनुष्ठान करेगा? ज्ञानक्षण तो परस्पर भिन्न हैं, अतः भावना किसी अन्यज्ञानक्षणको होगी तो मुक्ति किसी दूसरे ज्ञानक्षणको। दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्यसत्य तो तब ठीक हो सकते हैं जब दुःखादिके अनुभव करनेवाले आत्माको स्वीकार किया जाय। इस तरह जीव जिसे संसार होता है तथा जो मुक्त होता है, अजीव जिसके सम्बन्धसे दुःख होता है, इन दो आधारभूत तत्त्वोंको माने बिना तत्त्वसंख्याकी पूर्णता नहीं हो सकती। दुःखको जैन लोग बन्ध तथा समुदयको आस्रव शब्दसे कहते हैं। निरोधको मोक्ष तथा मार्गको संवर और निर्जरा शब्दसे कहते हैं। अतः चार आर्यसत्यके साथ जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वोंको मानना ही चाहिये। जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वोंके अनादिकालीन सम्बन्धसे ही दुःख आदिकी सृष्टि होती है। बुद्धने हिंसाका भी उपदेश दिया है अतः मालूम होता है कि वे यथार्थदर्शी नहीं थे। इत्यादि। सद् आत्माको हेय कहना, निरोधको जो असद्रूप है उपादेय कहना, उसके कारणोंका उपदेश देना तथा असत्की प्राप्तिके लिए यत्न करना ये सब बातें उनकी असर्वज्ञताका दिग्दर्शन करानेके लिए पर्याप्त हैं। अकलंकके द्वारा बुद्धके प्रति किए गए अकरुणावत्त्व आदि आक्षेपोंके लिए उस समयकी साम्प्रदायिक परिस्थिति ही जवाबदेह है, क्योंकि कुमारिल और धर्मकीर्ति आदिने जैनोंके ऊपर भी ऐसे ही कल्पित आक्षेप किए हैं।

परोक्ष—अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थसूत्रकारके द्वारा निर्दिष्ट परोक्षज्ञानोंमें मतिज्ञान मति स्मृत्यादि ज्ञानोंको नामयोजनाके पहिले सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष कहकर नाम योजना होनेपर उन्हीं ज्ञानोंको श्रुतव्यपदेश दिया है और श्रुतको अस्पष्ट होनेसे परोक्ष कहा है। अर्थात् परोक्षज्ञानके स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध तथा श्रुत-आगम ये पाँच भेद हुए। अकलंकदेवने राजवार्त्तिकमें अनुमान आदि ज्ञानोंको स्वप्रतिपत्तिकालमें (नामयोजनासे पहिले) अनक्षरश्रुत तथा परप्रतिपत्तिकालमें अक्षरश्रुत कहा है। लघीयस्त्रयमें मति (इन्द्रियानिन्द्रियजप्रत्यक्ष) को नामयोजनाके पहिले मतिज्ञान एवं सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष तथा शब्दयोजनाके बाद उसे ही श्रुत कहना उनके समन्वय करनेके उत्कट यत्नकी ओर ध्यान खींचता है, और इससे यह भी मालूम होता है कि लघीयस्त्रय बनाते समय वे अपनी योजनाको दृढ़ नहीं कर सके थे; क्योंकि उनने लघीयस्त्रयमें मति, स्मृति आदिको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवस्थाविशेषमें मतिज्ञान लिखनेपर भी न्यायविनिश्चयमें स्मरणादि ज्ञानोंके ऐकान्तिक श्रुतत्व-परोक्षत्वका-विधान किया है।

स्मृति—स्मरणको कोई वादी गृहीतग्राही होनेसे तथा कोई अर्थसे उत्पन्न न होनेके कारण अप्रमाण कहते आए हैं। पर अकलंकदेव कहते हैं कि—यद्यपि स्मरण गृहीतग्राही है फिर भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण ही होना चाहिये। वह अविसंवादी प्रत्यभिज्ञानका जनक भी है। स्मृति समारोपका व्यवच्छेद करनेवाली है, अतः उसे प्रमाण माननेमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञान—दर्शन और स्मरणसे उत्पन्न होनेवाले, एकत्व सादृश्य वैसदृश्य प्रतियोगि तथा दूरत्वादिरूपसे संकलन करनेवाले ज्ञानका नाम प्रत्यभिज्ञान है। प्रत्यभिज्ञान यद्यपि स्मरण और प्रत्यक्षसे उत्पन्न होता है फिर भी इन दोनोंके द्वारा अगृहीत पूर्वोत्तरपर्यायवर्ती एकत्वको विषय करनेके कारण प्रमाण है। अविसंवादित्व भी प्रत्यभिज्ञानमें पाया जाता है जो प्रमाणताका खास प्रयोजक है।

तर्क—प्रत्यक्ष—साध्यसाधनसद्भावज्ञान और अनुपलम्भ—साध्याभाव-साधनाभावज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला सर्वोपसंहाररूपसे साध्यसाधनके सम्बन्धको ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क है। संक्षेपमें अविनाभावरूप व्याप्तिको ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क कहलाता है। जितना भी धूम है वह कालत्रय तथा त्रिलोकमें अग्निसे ही उत्पन्न होता है, अग्निके अभावमें कहीं भी कभी भी नहीं हो सकता ऐसा सर्वोपसंहारी अविनाभाव प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे गृहीत नहीं होता। अतः अगृहीतग्राही तथा अविसंवादक तर्कको प्रमाणभूत मानना ही चाहिये। सन्निहितपदार्थको विषय करनेवाला अविचारक प्रत्यक्ष इतने विस्तृत क्षेत्रवाले अविनाभावको नहीं जान सकता। भले ही वह एक अमुकस्थानमें साध्यसाधनके सम्बन्धको जान सके, पर अविचारक होनेसे उसकी साध्यसाधनसम्बन्धविषयक विचारमें सामर्थ्य ही नहीं है। अनुमान तो व्याप्तिग्रहणके बाद ही उत्पन्न होता है, अतः प्रकृत अनुमान स्वयं अपनी व्याप्तिके ग्रहण करनेका प्रयत्न अन्योन्याश्रयदोष आनेके कारण नहीं कर सकता; क्योंकि जब तक व्याप्ति गृहीत न हो जाय तब तक अनुमानोत्पत्ति नहीं हो सकती और जब तक अनुमान उत्पन्न न हो जाय तब तक व्याप्तिका ग्रहण असंभव है। प्रकृत अनुमानकी व्याप्ति किसी दूसरे अनुमानके द्वारा ग्रहण करनेपर तो अनवस्था दूषण स्पष्ट ही है। इस तरह तर्कको स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही उचित है।

जिनमें अविनाभाव नहीं है उनमें अविनाभावकी सिद्धि करनेवाला ज्ञान कुतर्क है। जैसे विवक्षासे वचनका अविनाभाव बतलाना; क्योंकि विवक्षाके अभावमें भी सुषुप्तादि अवस्थामें वचनप्रयोग देखा जाता है। शास्त्रविवक्षा रहनेपर भी मन्दबुद्धियोंके शास्त्रव्याख्यानरूप वचन नहीं देखे जाते।

अनुमान—अविनाभावी साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। नैयायिक अनुमितिके करणको अनुमान कहते हैं। उनके मतसे परामर्शज्ञान अनुमानरूप होता है। 'धूम अग्निसे व्याप्त है तथा वह धूम पर्वतमें है' इस एकज्ञानको परामर्शज्ञान कहते हैं। बौद्ध त्रिरूपलिंगसे अनुमेयके ज्ञानको अनुमान मानते हैं।

साधनका स्वरूप तथा अविनाभावग्रहणप्रकार—साध्यके साथ जिसकी अन्यथानुपपत्ति-अविनाभाव निश्चित हो उसे साधन कहते हैं। अविनाभाव ( बिना-साध्यके अभावमें अ-नहीं भाव-होना ) साध्यके अभावमें साधनके न होनेको कहते हैं। यह अविनाभाव प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे उत्पन्न होनेवाले तर्क नामके प्रमाणके द्वारा गृहीत होता है। बौद्ध पक्षधर्मत्वादि त्रिरूपवाले साधनको सत्साधन कहते हैं। वे सामान्यसे अविनाभावको ही साधनका स्वरूप मानते हैं। त्रिरूप तो अविनाभावके परिचायकमात्र हैं। वे तादात्म्य और तदुत्पत्ति इन दो सम्बन्धोंसे अविनाभावका ग्रहण मानते हैं। उनके मतसे हेतुके तीन भेद हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. स्वभावहेतु, २. कार्यहेतु, ३. अनुपलब्धिहेतु। स्वभाव और कार्यहेतु विधिसाधक हैं तथा अनुपलब्धिहेतु निषेधसाधक। स्वभावहेतुमें तादात्म्यसम्बन्ध, कार्यहेतुमें तदुत्पत्तिसम्बन्ध तथा अनुपलब्धिहेतुमें यथासंभव दोनों सम्बन्ध अविनाभावके प्रयोजक होते हैं।

अकलंकदेव इसका निरास करते हैं कि—जहाँ तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्धसे हेतुमें गमकत्व देखा जाता है वहाँ अविनाभाव तो रहता ही है, भले ही वह अविनाभाव तादात्म्य तथा तदुत्पत्तिप्रयुक्त हो, पर बहुतसे ऐसे भी हेतु हैं जिनका साध्यके साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है फिर भी अविनाभावके कारण वे नियत साध्यका ज्ञान कराते हैं। जैसे कृतिकोदयसे भविष्यत् शकटोदयका अनुमान। यहाँ कृतिकोदयका शकटोदयके साथ न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति ही। हेतुओंके तीन भेद मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धिके सिवाय कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतु भी स्वनियत-साध्यका अनुमान कराते हैं।

कारणहेतु—वृक्षसे छायाका ज्ञान, चन्द्रमासे जलमें पड़नेवाले उसीके प्रतिबिम्बका अबाधित अनुमान होता है। यहाँ वृक्ष या चन्द्र न तो छाया या जलप्रतिबिम्बित चन्द्रके कार्य हैं और न स्वभाव ही। हाँ, निमित्तकारण अवश्य हैं। अतः कारणलिंगसे भी कार्यका अनुमान मानना चाहिये। जिस कारणकी सामर्थ्य अप्रतिबद्ध हो तथा जिसमें अन्य कारणोंकी विकलता न हो वह कारण अवश्य ही कार्योपादक होता है।

पूर्वचरहेतु—कृतिका नक्षत्रका उदय देखकर एक मुहूर्तके बाद रोहिणी नक्षत्रके उदयका अनुमान देखा जाता है। अब विचार कीजिये कि—कृतिकाका उदय जिससे रोहिणीके उदयका अविसंवादी अनुमान होता है, किस हेतुमें शामिल किया जाय? कृतिकोदय तथा रोहिण्युदयमें कालभेद होनेसे तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः स्वभावहेतुमें अन्तर्भाव नहीं होगा। तथा एक दूसरेके प्रति कार्यकारणभाव नहीं है अतः कार्य या कारणहेतुमें उसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। अतः पूर्वचरहेतु अतिरिक्त ही मानना चाहिये। इसी तरह आज सूर्योदय देखकर कल सूर्योदय होगा, चन्द्रग्रहण होगा इत्यादि भविष्यद्विषयोंका अनुमान अमुक अविनाभावी पूर्वचर हेतुओंसे होता है।

उत्तरचरहेतु—कृतिकाका उदय देखकर एक मुहूर्त्त पहिले भरणी नक्षत्रका उदय हो चुका यह अनुमान होता है। यह उत्तरचर हेतु पूर्वोक्त किसी हेतुमें अन्तर्भूत नहीं होता।

सहचरहेतु—चन्द्रमाके इस भागको देखकर उसके उस भागका अनुमान, तराजूके एक पलड़ेको नीचा देखकर दूसरे पलड़ेके ऊँचे होनेका अनुमान, रस चखकर रूपका अनुमान तथा सास्ना देखकर गौका अनुमान देखा जाता है। यहाँ रसादि सहचर हेतु हैं; क्योंकि इनका अपने साध्योंके साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति आदि कोई सम्बन्ध नहीं होनेसे ये कार्य आदि हेतुओंमें अन्तर्भूत नहीं हैं। हाँ, अविनाभावमात्र होनेसे ये हेतु गमक होते हैं।

अनुपलब्धि—बौद्ध दृश्यानुपलब्धिसे ही अभावकी सिद्धि मानते हैं। दृश्यसे उनका तात्पर्य ऐसी वस्तुसे है कि—जो वस्तु सूक्ष्म, अन्तरित या दूरवर्त्ती न हो तथा जो प्रत्यक्षका विषय हो सकती हो। ऐसी वस्तु उपलब्धिके समस्त कारण मिलनेपर भी यदि उपलब्ध न हो तो उसका अभाव समझना चाहिये। सूक्ष्मादि पदार्थोंमें हम लोगोंके प्रत्यक्ष आदि की निवृत्ति होनेपर भी उनका अभाव तो नहीं होता। प्रमाणसे प्रमेयका सद्भाव जाना जा सकता है पर प्रमाणकी अप्रवृत्तिसे प्रमेयका अभाव नहीं माना जा सकता। अतः विप्रकृष्ट पदार्थोंमें अनुपलब्धि संशयहेतु होनेसे अभावकी साधिका नहीं हो सकती।

अकलंकदेव इसका निरास करते हुए लिखते हैं कि—दृश्यत्वका अर्थ प्रत्यक्षविषयत्व ही न होना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिये किन्तु प्रमाणविषयत्व करना चाहिये। इससे यह तात्पर्य होगा कि—जो वस्तु जिस प्रमाणका विषय होकर यदि उसी प्रमाणसे उपलब्ध न हो तो उसका अभाव सिद्ध होगा। देखो—मृत शरीरमें स्वभावसे अतीन्द्रिय परचैतन्यका अभाव भी हम लोग सिद्ध करते हैं। यहाँ परचैतन्यमें प्रत्यक्षविषयत्वरूप दृश्यत्व तो नहीं है; क्योंकि परचैतन्य हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं होता। वचन उष्णताविशेष या आकारविशेष आदिके द्वारा उसका अनुमान किया जाता है, अतः उन्हीं वचनादिके अभावसे चैतन्यका अभाव सिद्ध होना चाहिये। अदृश्यानुपलब्धि यदि संशय हेतु मानी जाय तो अपनी अदृश्य आत्माकी सत्ता भी कैसे सिद्ध हो सकेगी? आत्मादि अदृश्य पदार्थ अनुमानके विषय हैं; यदि हम उनकी अनुमानसे उपलब्धि न कर सकें तब उनका अभाव सिद्ध कर सकते हैं। हाँ, जिन पिशाचादि पदार्थोंको हम किसी भी प्रमाणसे नहीं जान सकते उनका अभाव हम अनुपलब्धिसे नहीं कर सकेंगे। तात्पर्य यह कि—जिस वस्तुको हम जिन-जिन प्रमाणोंसे जानते हैं उस वस्तुका उन-उन प्रमाणोंकी निवृत्तिसे अभाव सिद्ध होगा।

अकलंककृत हेतुके भेद—अकलंकदेवने सद्भाव साधक छः उपलब्धियोंका वर्णन किया है—

१–स्वभावोपलब्धि—आत्मा है, उपलब्ध होनेसे।

२–स्वभावकार्योपलब्धि—आत्मा थी, स्मरण होनेसे।

३–स्वभावकारणोपलब्धि—आत्मा होगी, सत् होनेसे।

४–सहचरोपलब्धि—आत्मा है, स्पर्शविशेष (शरीरमें उष्णता विशेष) पाया जानेसे।

५–सहचरकार्योपलब्धि—कायव्यापार हो रहा है, वचनप्रवृत्ति होनेसे।

६–सहचरकारणोपलब्धि—आत्मा सप्रदेशी है, सावयवशरीरके प्रमाण होनेसे।

असद्व्यवहारसाधनके लिए छः अनुपलब्धियाँ बतायी हैं—

१–स्वभावानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, अनुपलब्ध होनेसे।

२–कार्यानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कार्य नहीं पाया जाता।

३–कारणानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कारण नहीं पाया जाता।

४–स्वभावसहचरानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, रूपविशेष (शरीरमें आकारविशेष) नहीं पाया जाता।

५–सहचरकार्यानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, व्यापार, आकारविशेष तथा वचनविशेषकी अनुपलब्धि होनेसे।

६–सहचरकारणानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, उसके द्वारा आहार ग्रहण करना नहीं देखा जाता। सजीव शरीर ही स्वयं आहार ग्रहण करता है।

सद्व्यवहारके निषेधके लिए ३ उपलब्धियाँ बतायी हैं—

१–स्वभावविरुद्धोपलब्धि—पदार्थ नित्य नहीं है, परिणामी होनेसे।

२–कार्यविरुद्धोपलब्धि—लक्षणविज्ञान प्रमाण नहीं है, विसंवादी होनेसे। (?)

३–कारणविरुद्धोपलब्धि—इस व्यक्तिको परीक्षाका फल प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि इसने अभावैकान्तका ग्रहण किया है।

इस तरह सद्भावसाधक ९ उपलब्धियाँ तथा अभावसाधक छः अनुपलब्धियोंको कण्ठोक्त कहकर इनके और अन्य अनुपलब्धियोंके भेदप्रभेदोंका इन्हींमें अन्तर्भाव किया है। साथ ही यह भी बताया है कि—धर्मकीर्तिके कथनानुसार अनुपलब्धियाँ केवल अभाव साधक ही नहीं हैं, किन्तु भावसाधक भी होती हैं। इसी संकेतके अनुसार माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द तथा वादिदेवसूरिने उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनोंको उभयसाधक मानकर उनके अनेकों भेदप्रभेद किये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रैरूप्य निरास—बौद्ध हेतुके तीन रूप मानता है। प्रत्येक सत्य हेतुमें निम्न त्रिरूपता अवश्य ही पाई जानी चाहिए, अन्यथा वह सद्धेतु नहीं हो सकता। १. पक्षधर्मत्व—हेतुका पक्षमें रहना। २. सपक्षसत्त्व—हेतुका समस्त सपक्षोंमें या कुछ सपक्षोंमें रहना। ३. विपक्षासत्त्व—हेतुका विपक्षमें बिलकुल नहीं पाया जाना। अकलंकदेव इनमेंसे तीसरे विपक्षासत्त्व रूपको ही सद्धेतुत्वका नियामक मानते हैं। उनकी दृष्टिसे हेतुका पक्षमें रहना तथा सपक्षसत्त्व कोई आवश्यक नहीं है। वे लिखते हैं कि—'शकटोदय होगा, कृतिकोदय होनेसे' 'भरणीका उदय हो चुका, कृतिकाका उदय होनेसे' इन अनुमानोंमें कृतिकोदय हेतु पक्षभूत शकट तथा भरणिमें नहीं पाया जाता। इसी तरह 'अद्वैतवादीके प्रमाण हैं, अन्यथा इष्टसाधन और अनिष्टदूषण नहीं हो सकेगा।' इस स्थलमें जब इस अनुमानके पहिले अद्वैतवादियोंके यहाँ प्रमाण नामक धर्मीकी सत्ता ही सिद्ध नहीं है तब पक्षधर्मत्व कैसे बन सकता है? पर उक्त हेतुओंकी स्वसाध्यके साथ अन्यथाऽनुपपत्ति ( अन्यथा—साध्यके अभावमें-विपक्षमें अनुपपत्ति-असत्त्व ) देखी जाती है, अतः वे सद्धेतु हैं।

धर्मकीर्तिके टीकाकार कर्णकगोमिने शकटोदयादिका अनुमान करानेवाले कृतिकोदयादि वैयधिकरण हेतुओंमें काल या आकाशको धर्मी बनाकर पक्षधर्मत्व घटानेकी युक्तिका उपयोग किया है। अकलंकदेवने इसका भी निराकरण करते हुए कहा है कि—यदि काल आदिको धर्मी बनाकर कृतिकोदयमें पक्षधर्मत्व घटाया जायगा तब तो पृथिवीरूप पक्षकी अपेक्षासे महानसगतधूमहेतुसे समुद्रमें भी अग्नि सिद्ध करनेमें हेतु अपक्षधर्म नहीं होगा।

सपक्षसत्त्वको अनावश्यक बताते हुए अकलंकदेव लिखते हैं कि—पक्षमें साध्य और साधनकी व्याप्तिरूप अन्तर्व्याप्तिके रहनेपर ही हेतु सर्वत्र गमक होता है। पक्षसे बाहिर—सपक्षमें व्याप्ति ग्रहण करने रूप बहिर्व्याप्तिसे कोई लाभ नहीं। क्योंकि अन्तर्व्याप्तिके असिद्ध रहनेपर बहिर्व्याप्ति तो असाधक ही है। जहाँ अन्तर्व्याप्ति गृहीत है वहाँ बहिर्व्याप्तिके ग्रहण करनेपर भी कुछ खास लाभ नहीं है। अतः बहिर्व्याप्तिका प्रयोजक सपक्षसत्त्वरूप भी अनावश्यक है। इस तरह अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका व्यावर्त्तक रूप मानते हुए अकलंकदेवने स्पष्ट लिखा है कि—जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ त्रिरूपता माननेसे क्या लाभ? जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ त्रिरूपता मानकर भी गमकता नहीं आ सकती। 'अन्यथानुपपन्नत्वं' यह कारिका तत्त्वसंग्रहकारके उल्लेखानुसार पात्रस्वामिकी मालूम होती है। यही कारिका अकलंकने न्यायविनिश्चयके त्रिलक्षणखण्डनप्रकरणमें लिखी है।

हेत्वाभास—नैयायिक हेतुके पाँच रूप मानते हैं, अतः वे एक-एक रूपके अभावमें असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास मानते हैं। बौद्धने हेतुको त्रिरूप माना है, अतः उनके मतसे पक्षधर्मत्वके अभावसे असिद्ध हेत्वाभास, सपक्षसत्त्वके अभावसे विरुद्ध हेत्वाभास तथा विपक्षासत्त्वके अभावसे अनैकान्तिक हेत्वाभास, इस तरह तीन हेत्वाभास होते हैं। अकलंकदेवने जब अन्यथानुपपन्नत्वको ही हेतुका एकमात्र नियामक रूप माना है तब स्वभावतः इनके मतसे अन्यथानुपपन्नत्वके अभावमें एक ही हेत्वाभास माना जायगा, जिसे उन्होंने स्वयं लिखा है कि—वस्तुतः एक ही असिद्ध हेत्वाभास है। अन्यथानुपपत्तिका अभाव कई प्रकारसे होता है अतः विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिञ्चित्करके भेदसे चार हेत्वाभास भी हो सकते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१–असिद्ध—सर्वथात्ययात्—सर्वथा पक्षमें न पाया जानेवाला, अथवा सर्वथा जिसका साध्यसे अविनाभाव न हो। जैसे शब्द अनित्य है चाक्षुष होनेसे।

२–विरुद्ध—अन्यथाभावात्—साध्याभावमें पाया जानेवाला, जैसे सब क्षणिक हैं, सत् होनेसे। सत्त्वहेतु सर्वथाक्षणिकत्वके विपक्षभूत कथञ्चित्क्षणिकत्वमें पाया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३–अनैकान्तिक—विपक्षमें भी पाया जानेवाला। जैसे सर्वज्ञाभाव सिद्ध करनेके लिए प्रयुक्त वक्तृत्वादिहेतु। यह निश्चितानैकान्तिक, सन्दिग्धनैकान्तिक आदिके भेदसे अनेक प्रकारका होता है।

४–अकिञ्चित्कर—सिद्ध साध्यमें प्रयुक्त हेतु। अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने त्रिलक्षण हेतु हैं उन सबको भी अकिञ्चित्कर समझना चाहिए।

दिग्नागाचार्यने विरुद्धाव्यभिचारी नामका भी एक हेत्वाभास माना है। परस्पर विरोधी दो हेतुओंका एक धर्मीमें प्रयोग होनेपर प्रथम हेतु विरुद्धाव्यभिचारी हो जाता है। यह संशयहेतु होनेसे हेत्वाभास है। धर्मकीर्तिने इसे हेत्वाभास नहीं माना है। वे लिखते हैं कि—प्रमाणसिद्धत्रैरूप्यवाले हेतुके प्रयोग होनेपर विरोधी हेतुको अवसर ही नहीं मिल सकता। अतः इसकी आगमाश्रितहेतुके विषयमें प्रवृत्ति मानकर आचार्यके वचनकी संगति लगा लेनी चाहिए; क्योंकि शास्त्र अतीन्द्रियार्थविषयमें प्रवृत्ति करता है। शास्त्रकार एक ही वस्तुको परस्पर विरोधी रूपसे कहते हैं, अतः आगमाश्रित हेतुओंमें ही यह संभव हो सकता है। अकलंकदेवने इस हेत्वाभासका विरुद्धहेत्वाभासमें अन्तर्भाव किया है। जो हेतु विरुद्धका अव्यभिचारी-विपक्षमें भी रहनेवाला होगा वह विरुद्ध हेत्वाभासकी ही सीमामें आयगा।

अर्चटकृत हेतुबिन्दुविवरणमें एक षड्लक्षण हेतु माननेवाले मतका कथन है। पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षाद्व्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व और ज्ञातत्व ये छह लक्षण हैं। इनमें ज्ञातत्व नामके रूपका निर्देश होनेसे इस वादीके मतसे 'अज्ञात' नामका भी हेत्वाभास फलित होता है। अकलंकदेवने इस 'अज्ञात' हेत्वाभासका अकिञ्चित्कर हेत्वाभासमें अंतर्भाव किया है। नैयायिकोक्त पाँच हेत्वाभासोंमें कालात्ययापदिष्टका अकिञ्चित्कर हेत्वाभासमें, तथा प्रकरणसमका जो दिग्नागके विरुद्धाव्यभिचारी जैसा है, विरुद्धहेत्वाभासमें अन्तर्भाव समझना चाहिए। इस तरह अकलंकदेवने सामान्य रूपसे एक हेत्वाभास कहकर भी विशेषरूपसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर इन चार हेत्वाभासोंका कथन किया है

अकलंकदेवका अभिप्राय अकिञ्चित्करको स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेके विषयमें सुदृढ़ नहीं मालूम होता। क्योंकि वे लिखते हैं कि—सामान्यसे एक असिद्ध हेत्वाभास है। वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्धके भेदसे अनेक प्रकारका है। ये विरुद्धादि अकिञ्चित्करके विस्तार हैं। फिर लिखते हैं कि—अन्यथानुपपत्तिरहित जितने त्रिलक्षण हैं उन्हें अकिञ्चित्कर कहना चाहिए। इससे मालूम होता है कि वे सामान्यसे हेत्वाभासोंको अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा रखते थे। इसके स्वतन्त्र हेत्वाभास होनेपर उनका भार नहीं था। यही कारण है कि आ० माणिक्यनन्दिने अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके लक्षण और भेद कर चुकनेपर भी लिखा है कि—इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका विचार हेत्वाभासके लक्षणकालमें ही करना चाहिए। शास्त्रार्थके समय तो इसका कार्य पक्षदोषसे ही किया जा सकता है। आचार्य विद्यानन्दने भी सामान्यसे एक हेत्वाभास कहकर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिकको उसीका रूपान्तर माना है। उनने भी अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके ऊपर भार नहीं दिया। वादिदेवसूरि आदि उत्तरकालीन आचार्योंने असिद्धादि तीन ही हेत्वाभास गिनाए हैं।

साध्य—आ० दिग्नागने पक्षके लक्षणमें ईप्सित तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध ये दो विशेषण दिए हैं। धर्मकीर्ति ईप्सितकी जगह इष्ट तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्धके स्थानमें प्रत्यक्षाद्यनिराकृत शब्दका प्रयोग करते हैं। अकलंकदेवने अपने साध्यके लक्षणमें शक्य (अबाधित) अभिप्रेत (इष्ट) और अप्रसिद्ध इन तीन विशेषणोंका प्रयोग किया है। असिद्ध विशेषण तो 'साध्य' शब्दके अर्थसे ही फलित होता है। साध्यका अर्थ है—सिद्ध करने योग्य, अर्थात् असिद्ध। शक्य और अभिप्रेत विशेषण बौद्धाचार्योंके द्वारा किए गए साध्यके लक्षणसे आए हैं।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साध्यका यह लक्षण निर्विवादरूपसे माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत है। सिद्ध, अनिष्ट तथा बाधितको साध्याभास कहा है।

**दृष्टान्त**—जहाँ साध्य और साधनके सम्बन्धका ज्ञान होता है उस प्रदेशका नाम दृष्टान्त है। साध्य-विकल तथा साधनविकलादिक दृष्टान्ताभास हैं। इस तरह दृष्टान्त और दृष्टान्ताभासका लक्षण करनेपर भी अकलंकदेवने दृष्टान्तको अनुमानका अवयव स्वीकार नहीं किया। उनने लिखा है कि—सभी अनुमानोंमें दृष्टान्त होना ही चाहिये, ऐसा नियम नहीं है, दृष्टान्तके बिना भी साध्यकी सिद्धि देखी जाती है, जैसे बौद्धके मतसे समस्त पदार्थोंको क्षणिकत्व सिद्ध करनेमें सत्त्व हेतुके प्रयोगमें कोई दृष्टान्त नहीं है। अतः दृष्टान्त अनुमानका नियत अवयव नहीं है। इसीलिये उत्तरकालीन कुमारनन्दि आदि आचार्योंने प्रतिज्ञा और हेतु इन दोको ही अनुमानका अवयव माना है। हाँ, मन्दबुद्धि शिष्योंकी दृष्टिसे दृष्टान्त, उपनय तथा निगमनादि भी उपयोगी हो सकते हैं।

**धर्मी**—बौद्ध अनुमानका विषय कल्पित सामान्य मानते हैं, क्षणिक स्वलक्षण नहीं। आ० दिग्नागने कहा है कि—समस्त अनुमान-अनुमेयव्यवहार बुद्धिकल्पित धर्मधर्मिन्यायसे चलता है, किसी धर्मीकी वास्तविक सत्ता नहीं है। अकलंकदेव कहते हैं कि—जिस तरह प्रत्यक्ष परपदार्थ तथा स्वरूपको विषय करता है उसी तरह अनुमान भी वस्तुभूत अर्थको ही विषय करता है। हाँ, यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष उस वस्तुको स्फुट तथा विशेषाकार रूपसे ग्रहण करे और अनुमान उसे अस्फुट एवं सामान्याकार रूपसे। पर इतने मात्रसे एक वस्तुविषयक और दूसरा अवस्तुको विषय करनेवाला नहीं कहा जा सकता। जिस विकल्पज्ञानसे आप धर्मधर्मि-भावकी कल्पना करते हैं, वह विकल्पज्ञान निर्विकल्पकसे तो सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि निर्विकल्पक—निश्चय-शून्यज्ञानसे किसी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। विकल्पान्तरसे सिद्धि माननेमें अनवस्था दूषण आता है। अतः विकल्पको स्व और अर्थ दोनों ही अंशोंमें प्रमाण मानना चाहिए। जब विकल्प अर्थांशमें प्रमाण हो जायगा; तब ही उसके द्वारा विषय किए गए धर्मी आदि भी सत्य एवं परमार्थ सिद्ध होंगे। यदि धर्मी ही मिथ्या है; तब तो उसमें रहनेवाले साध्य-साधन भी मिथ्या एवं कल्पित ठहरेंगे। इस तरह परम्परासे भी अनुमानके द्वारा अर्थकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अतः धर्मीको प्रमाणसिद्ध मानना चाहिए केवल विकल्प-सिद्ध नहीं। अकलंकोत्तरवर्ती आ० माणिक्यनन्दिने इसी आशयसे परीक्षामुखसूत्रमें धर्मीके तीन भेद किए हैं—१. प्रमाणसिद्ध, २. विकल्पसिद्ध, ३. उभयसिद्ध।

**अनुमानके भेद**—न्यायसूत्रमें अनुमानके तीन भेद किए हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। सांख्यतत्त्वकौमुदीमें अनुमानके दो भेद पाये जाते हैं—एक वीत और दूसरा अवीत। वीत अनुमान के दो भेद—१. पूर्ववत्, २. सामान्यतोदृष्ट। सांख्यके इन भेदोंकी परम्परा वस्तुतः प्राचीन है। वैशेषिकने अनुमानके कार्यलिंगज, कारणलिंगज, संयोगिलिंगज और समवायिलिंगज, इस तरह पाँच भेद किए हैं। अकलंकदेव तो सामान्यरूपसे एक ही अन्यथानुपपत्तिलिंगज अनुमान मानते हैं। वे इन अपूर्ण भेदोंकी परिगणनाको महत्त्व नहीं देते।

**वाद**—नैयायिक कथाके तीन भेद मानते हैं—१. वाद, २. जल्प, ३. वितण्डा। वीतरागकथाका नाम वाद है तथा विजिगीषुकथाका नाम जल्प और वितण्डा है। पक्ष-प्रतिपक्ष तो दोनों कथाओंमें ग्रहण किए ही जाते हैं। हाँ, इतना अन्तर है कि—वादमें स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण प्रमाण और तर्कके द्वारा होते हैं, जब कि जल्प और वितण्डामें छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असदुत्तरोंसे भी किए जा सकते हैं। नैयायिकने छलादिके प्रयोगको असदुत्तर माना है और साधारण अवस्थामें उनके प्रयोगका निषेध भी किया है। वादका प्रयोजन तत्त्वनिर्णय है। जल्प और वितण्डाका प्रयोजन है—तत्त्वसंरक्षण, जो छलजातिरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असदुपायोंसे भी किया जा सकता है। जैसे खेतकी रक्षाके लिए काटोंकी बारी लगाई जाती है उसी तरह तत्त्वसरक्षणके लिए काँटेके समान छलादिके प्रयोगका अवलम्बन अमुक अवस्थामें ठीक है। आ० धर्मकीर्तिने अपने वादन्यायमें छलादिके प्रयोगको बिलकुल अन्याय्य बताया है। उसी तरह अकलंकदेव अहिंसाकी दृष्टिसे किसी भी हालतमें छलादि रूप असदुत्तरके प्रयोगको उचित नहीं समझते। छलादिको अन्याय्य मान लेनेसे जल्प और वादमें कोई भेद ही नहीं रह जाता। अतः वे वादको ही एकमात्र कथा रूपसे स्वीकार करते हैं। उनने वादका संक्षेपमें 'समर्थवचनको वाद कहते हैं' यह लक्षण करके कहा है कि वादि-प्रतिवादियोंका मध्यस्थोंके सामने स्वपक्षसाधन-परपक्षदूषणवचनको वाद कहना चाहिए। इस तरह वाद और जल्पको एक मान लेनेपर वे यथेच्छ कहीं वाद शब्दका प्रयोग करते हैं तो कहीं जल्पका। वितण्डाको जिसमें वादी अपना पक्षस्थापन नहीं करके मात्र प्रतिवादीके पक्षका खण्डन ही खण्डन करता है, वादाभास कहकर त्याज्य बताया है।

जय-पराजयव्यवस्था—नैयायिकने इसके लिए प्रतिज्ञाहानि आदि २२ निग्रहस्थान माने हैं जिनमें बताया है कि यदि कोई वादी अपनी प्रतिज्ञाकी हानि कर दे, दूसरा हेतु बोल दे, असम्बद्ध पद-वाक्य या वर्ण बोले, इस तरह बोले जिससे तीन बार कहनेपर भी प्रतिवादी और परिषद न समझ पावे, हेतुदृष्टान्तादिका क्रम भंग हो जाय, अवयव न्यून कहे जायँ, अधिक अवश्य कहे जायँ, पुनरुक्त हो, प्रतिवादी वादीके द्वारा कहे गए पक्षका अनुवाद न कर सके, उत्तर न दे सके, वादीके द्वारा दिए गए दूषणको अर्धस्वीकारकर खण्डन करे, निग्रहार्हके लिए निग्रहस्थान उद्भावन न कर सके, अनिग्रहार्हको निग्रहस्थान बता देवे, सिद्धान्तविरुद्ध बोल जावे, हेत्वाभासोंका प्रयोग करे तो निग्रहस्थान अर्थात् पराजय होगा। सामान्यसे नैयायिकोंने विप्रतिपत्ति-पति और अप्रतिपत्तिको निग्रहस्थान माना है। विप्रतिपत्ति—विरुद्ध या असम्बद्ध कहना। अप्रतिपत्ति—पक्षस्थापन नहीं करना, स्थापितका प्रतिषेध नहीं करना तथा प्रतिषिद्धका उद्धार नहीं करना। प्रतिज्ञाहान्यादि २२ तो इन्हीं दोनोंके ही विशेष प्रकार हैं।

धर्मकीर्तिने इनका खण्डन करते हुए लिखा है कि—जय-पराजयव्यवस्थाको इस तरह गुटालेमें नहीं रखा जा सकता। किसी भी सच्चे साधनवादीका मात्र इसलिए निग्रह होना कि वह कुछ अधिक बोल गया या अमुक कायदेका पालन नहीं कर सका, सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे उचित नहीं है। अतः वादी और प्रतिवादी के लिए क्रमशः असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन, ये दो ही निग्रहस्थान मानना चाहिये। वादीका कर्त्तव्य है कि वह सच्चा और पूर्ण साधन बोले। प्रतिवादीका कार्य है कि वह यथार्थ दोषोंका उद्भावन करे। यदि वादी सच्चा साधन नहीं बोलता या जो साधनके अंग नहीं हैं ऐसे वचन कहता है तो उसका असाधनांगवचन होनेसे पराजय होना चाहिये। प्रतिवादी यदि यथार्थ दोषोंका उद्भावन न कर सके या जो दोष नहीं हैं उनका उद्भावन करे तो उसका पराजय होना चाहिए। इस तरह सामान्यलक्षण करनेपर भी धर्मकीर्ति फिर उसी घपलेमें पड़ गए। उन्होंने असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावनके विविध व्याख्यान करके कहा है कि अन्वय या व्यतिरेक दृष्टान्तमेंसे केवल एक दृष्टान्तसे ही जब साध्यकी सिद्धि संभव है तो दोनों दृष्टान्तों-का प्रयोग करना असाधनाङ्गवचन होगा। त्रिरूपवचन ही साधनाङ्ग है, उसका कथन न करना असाधनाङ्ग है। प्रतिज्ञा निगमनादि साधनके अंग नहीं है, उनका कथन असाधनाङ्ग है। यह सब लिखकर अन्तमें उनने यह भी सूचन किया है कि—स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकरण जयलाभके लिए आवश्यक है।

अकलंकदेव असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्भावनके झगड़ेको भी पसन्द नहीं करते। किसको साधनाङ्ग माना जाय किसको नहीं, किसको दोष माना जाय किसको नहीं, यह निर्णय स्वयं एक शास्त्रार्थका विषय हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। अतः स्वपक्षसिद्धिसे ही जयव्यवस्था माननी चाहिए। स्वपक्षसिद्धि करनेवाला यदि कुछ अधिक बोल जाय तो कुछ हानि नहीं। प्रतिवादी यदि विरुद्ध हेत्वाभासका उद्भावन करता है तो फिर उसे स्वतन्त्र रूपसे पक्षसिद्धिकी भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वादीके हेतुको विरुद्ध कहनेसे प्रतिवादीका पक्ष तो स्वतः सिद्ध हो जाता है। हाँ, असिद्ध आदि हेत्वाभासोंके उद्भावन करनेपर प्रतिवादीको अपना पक्ष भी सिद्ध करना चाहिए। स्वपक्षसिद्धि नहीं करनेवाला शास्त्रार्थके नियमोंके अनुसार चलनेपर भी जयका भागी नहीं हो सकता।

जाति—मिथ्या उत्तरोंको जाति कहते हैं। जैसे धर्मकीर्तिका अनेकान्तके रहस्यको न समझकर यह कहना कि—"यदि सभी वस्तुएँ द्रव्यदृष्टिसे एक हैं तो द्रव्यदृष्टिसे तो दही और ऊँट भी एक हो गया। अतः दही खानेवाला ऊँटको भी क्यों नहीं खाता?" साधर्म्यादिसम जातियोंको अकलंकदेव कोई खास महत्त्व नहीं देते और न उनकी आवश्यकता ही समझते हैं। आ० दिग्नागकी तरह अकलंकदेवने भी असदुत्तरोंको अनन्त कहकर जातियोंकी २४ संख्या भी अपूर्ण सूचित की है।

श्रुत—समस्त एकान्त प्रवादोंके अगोचर, प्रमाणसिद्ध, परमात्माके द्वारा उपदिष्ट प्रवचन श्रुत है। श्रुत द्वीप, देश, नदी आदि व्यवहित अर्थोंमें प्रमाण है। हेतुवादरूप आगम युक्तिसिद्ध है। उसमें प्रमाणता होनेसे शेष अहेतुवाद आगम भी उसी तरह प्रमाण है। आगमकी प्रमाणताका प्रयोजक आप्तोक्तत्व नामका गुण होता है।

**शब्दका अर्थवाचकत्व**—बौद्ध शब्दका वाच्य अर्थ नहीं मानते। वे कहते हैं कि शब्दकी प्रवृत्ति संकेतसे होती है। स्वलक्षण क्षणक्षयी तथा अनन्त हैं। जब अनन्त स्वलक्षणोंका ग्रहण भी संभव नहीं है तब संकेत कैसे ग्रहण किया जायगा? ग्रहण करनेपर भी व्यवहार काल तक उसकी अनुवृत्ति न होनेसे व्यवहार कैसे होगा? शब्द अतीतानागतकालीन अर्थोंमें भी प्रयुक्त होते हैं, पर वे अर्थ विद्यमान तो नहीं हैं। अतः शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध हो तो शब्दबुद्धिका प्रतिभास इन्द्रियबुद्धिकी तरह स्पष्ट होना चाहिए। शब्दबुद्धिमें यदि अर्थ कारण नहीं है; तब वह उसका विषय कैसे हो सकेगा? क्योंकि जो ज्ञानमें कारण नहीं है वह ज्ञानका विषय भी नहीं हो सकता। यदि अर्थ शब्दज्ञानमें कारण हो; तो फिर कोई भी शब्द विसंवादी या अप्रमाण नहीं होगा, अतीतानागत अर्थोंमें शब्दकी प्रवृत्ति ही रुक जायगी। संकेत भी शब्द और अर्थ उभयका ज्ञान होनेपर ही हो सकता है। एक प्रत्यक्षसे तो उभयका ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि श्रावणप्रत्यक्ष अर्थको विषय नहीं करता तथा चाक्षुषादिप्रत्यक्ष शब्दको विषय नहीं करते। स्मृति तो निर्विषय एवं गृहीतग्राही होनेसे प्रमाण ही नहीं है। इसलिए शब्द अर्थका वाचक न होकर विवक्षाका सूचन करता है। शब्दका वाच्य अर्थ न होकर कल्पित—बुद्धिप्रतिबिम्बित अन्यापोहरूप सामान्य है। इसलिए शब्दसे होनेवाले ज्ञानमें सत्यार्थताका कोई नियम नहीं है।

अकलंकदेव इसका समालोचन करते हुए कहते हैं कि—पदार्थमें कुछ धर्म सदृश तथा कुछ धर्म विसदृश होते हैं। सदृशधर्मोंकी अपेक्षासे शब्दका अर्थमें संकेत होता है। जिस शब्दमें संकेत ग्रहण किया जाता है भले ही वह व्यवहारकाल तक नहीं पहुँचे पर तत्सदृश दूसरे शब्दसे अर्थबोध होनेमें क्या बाधा है? एक घटशब्दका एक घट अर्थमें संकेत ग्रहण करनेके बाद तत्सदृश यावद् घटोंमें तत्सदृश यावद् घटशब्दोंकी प्रवृत्ति होती है। केवल सामान्यमें संकेत नहीं होता; क्योंकि केवल सामान्यमें संकेत ग्रहण करनेसे विशेषमें प्रवृत्ति रूप फल नहीं हो सकेगा। न केवल विशेषमें; अनन्त विशेषोंमें संकेतग्रहणकी शक्ति अस्मदादि पामर जनोंमें नहीं है। अतः सामान्यविशेषात्मक—सदृशधर्मविशिष्ट शब्द और अर्थव्यक्तिमें संकेत ग्रहण किया जाता है। संकेत ग्रहणके अनन्तर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थका स्मरण करके व्यवहार होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्षबुद्धि अतीतार्थको जानकर भी प्रमाण है उसी तरह स्मृति भी प्रमाण ही है। प्रत्यक्षबुद्धिमें अर्थ कारण है, अतः वह एक क्षण पहिले रहता है ज्ञानकालमें नहीं। ज्ञानकालमें तो वह क्षणिक होनेसे नष्ट हो जाता है। जब अविसंवादप्रयुक्त प्रमाणता स्मृतिमें है ही, तब शब्द सुनकर स्मृतिके द्वारा अर्थबोध करके तथा अर्थ देखकर स्मृतिके द्वारा तद्वाचक शब्दका स्मरण करके व्यवहार अच्छी तरह चलता ही है। यह अवश्य है कि—सामान्यविशेषात्मक अर्थको विषय करनेपर भी अक्षज्ञान स्पष्ट तथा शब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। जैसे एक ही वृक्षको विषय करनेवाला दूरवर्ती पुरुषका ज्ञान अस्पष्ट तथा समीपवर्तीका स्पष्ट होता है। स्पष्टता और अस्पष्टता विषयभेदप्रयुक्त नहीं हैं, किन्तु आवरणक्षयोपशमादिसामग्रीप्रयुक्त हैं। जिस प्रकार अविनाभावसम्बन्धसे अर्थका बोध करानेवाला अनुमान अस्पष्ट होकर भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण है उसी तरह वाच्यवाचकसम्बन्धसे अर्थका ज्ञान करानेवाला शब्दबोध भी ही प्रमाण होना चाहिए। यदि शब्द बाह्यार्थमें प्रमाण न हो; तब बौद्ध स्वयं शब्दोंसे अदृष्ट नदी, देश, पर्वतादिका अविसंवादि ज्ञान कैसे करते हैं? यदि कोई एकाध शब्द अर्थकी गैरमौजूदगीमें प्रयुक्त होनेसे व्यभिचारी देखा गया तो मात्र इतनेसे सभी शब्दोंको व्यभिचारी या अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। जैसे प्रत्यक्ष या अनुमान कहीं-कहीं भ्रान्त देखे जानेपर भी अभ्रान्त या अव्यभिचारि विशेषणोंसे युक्त होकर प्रमाण हैं उसी तरह आभ्रान्त शब्दको बाह्यार्थमें प्रमाण मानना चाहिए। यदि हेतुवादरूप शब्दके द्वारा अर्थका निश्चय न हो; तो साधन और साधनाभासकी व्यवस्था कैसे होगी? इसी तरह आप्तके वचनके द्वारा अर्थबोध न हो तो आप्त और अनाप्तकी व्यवस्था कैसे की जायगी? यदि पुरुषोंके अभिप्रायोंमें विचित्रता होनेके कारण शब्द अर्थव्यभिचारी करार दिए जायँ; तो सुगतकी सर्वज्ञता या सर्वशास्तृतामें कैसे विश्वास किया जा सकेगा? वहाँ भी अभिप्रायवैचित्र्यकी शंका उठ सकती है। यदि अर्थव्यभिचार देखा जानेके कारण शब्द अर्थमें प्रमाण नहीं है; तो विवक्षाका भी तो व्यभिचार देखा जाता है, अन्य शब्दकी विवक्षामें अन्य शब्दका प्रयोग उपलब्ध होता है। इस तरह तो शिंशपात्व हेतु वृक्षाविसंवादी होनेपर कहीं-कहीं शिंशपाकी लताकी संभावनासे, अग्नि इंधनसे पैदा होती है पर कहीं मणि आदिसे उत्पन्न होनेके कारण सभी स्वभावहेतु तथा कार्यहेतु व्यभिचारी हो जायँगे। अतः जैसे यहाँ सुविवेचित व्याप्य और कार्य, व्यापक और कारणका उल्लंघन नहीं कर सकते उसी तरह सुविवेचित शब्द अर्थका व्यभिचारी नहीं हो सकता। अतः अविसंवादि श्रुतको अर्थमें प्रमाण मानना चाहिये। शब्दका विवक्षाके साथ कोई अविनाभाव नहीं है; क्योंकि शब्द, वर्ण या पद कहीं अवांछित अर्थको भी कहते हैं तथा कहीं वांछितको भी नहीं कहते। यदि शब्द विवक्षामात्रके वाचक हों तो शब्दोंमें सत्यत्व और मिथ्यात्वकी व्यवस्था न हो सकेगी; क्योंकि दोनों ही प्रकारके शब्द अपनी-अपनी विवक्षा का अनुमान कराते हैं। शब्दमें सत्यत्वव्यवस्था अर्थप्राप्तिके कारण होती है। विवक्षा रहते हुए भी मन्दबुद्धि शास्त्रव्याख्यानरूप शब्दका प्रयोग नहीं कर पाते तथा सुषुप्तादि अवस्थामें इच्छाके न रहनेपर भी शब्दप्रयोग देखा जाता है। अतः शब्दोंमें सत्यासत्यत्वव्यवस्थाके लिए उन्हें अर्थका वाचक मानना ही होगा।

**श्रुतके भेद**—श्रुतके तीन भेद हैं—१ प्रत्यक्षनिमित्तक, २ अनुमाननिमित्तक, ३ आगमनिमित्तक। प्रत्यक्षनिमित्तक—परोपदेशकी सहायता लेकर प्रत्यक्षसे होनेवाला। अनुमाननिमित्तक—परोपदेशके बिना केवल अनुमानसे होनेवाला। आगमनिमित्तक—मात्र परोपदेशसे होनेवाला। जैनतर्कवार्तिककारने परोपदेशज तथा लिंगनिमित्तक रूपसे द्विविध श्रुत स्वीकार करके अकलंकके इस मतकी समालोचना की है।

**शब्दका स्वरूप**—शब्द पुद्गलकी पर्याय है। वह स्कन्ध रूप है, जैसे छाया और आतप। शब्द मीमांसकोंकी तरह नित्य नहीं हो सकता। शब्द यदि नित्य और व्यापक हो तो व्यञ्जक वायुओंसे एक जगह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी अभिव्यक्ति होनेपर सभी जगह सभी वर्णोंकी अभिव्यक्ति होनेसे कोलाहल मच जायगा। संकेतके लिए भी शब्दको नित्य मानना आवश्यक नहीं है; क्योंकि अनित्य होनेपर भी सदृशशब्दमें संकेत होकर व्यवहार हो सकता है। 'स एवायं शब्दः' यह प्रत्यभिज्ञान शब्दके नित्य होनेके कारण नहीं होता किंतु तत्सदृश शब्दमें एकत्वाध्यवसाय करनेके कारण होता है। अतः यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान भ्रान्त है। यदि इस तरह भ्रान्त प्रत्यभिज्ञानसे वस्तुओंमें एकत्व सिद्ध हो; तो बिजली आदि पदार्थ भी नित्य सिद्ध हो जायँगे। शब्दको उपादानभूत शब्दवर्गणाएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि उनकी प्रत्यक्षसे उपलब्धि नहीं हो सकती। इसी तरह शब्दकी उत्तरपर्याय भी सूक्ष्म होनेसे अनुपलब्ध रहती है। क्रमसे उच्चरित शब्दोंमें ही पद, वाक्य आदि संज्ञाएँ होती हैं। यद्यपि शब्द सभी दिशाओंमें उत्पन्न होते हैं पर उनमेंसे जो शब्द श्रोतके साथ सन्निकृष्ट होते हैं वही श्रोत्रके द्वारा सुने जाते हैं, अन्य नहीं। श्रोत्रको प्राप्यकारी कहकर अकलंकदेवने बौद्धके 'श्रोत्रको भी चक्षुरिन्द्रियकी तरह अप्राप्यकारी माननेके' सिद्धान्तका खण्डन किया है। इसतरह शब्द तालवादिके संयोगसे उत्पन्न होता है और वह श्रावणमध्यस्वभाव है। इसीमें इच्छानुसार संकेत करनेसे अर्थबोध होता है।

वेदापौरुषेयत्व विचार—मीमांसक वेदको अपौरुषेय मानते हैं। उनका कहना है कि धर्ममें वेदवाक्य ही प्रमाण हो सकते हैं। चूँकि प्रत्यक्षसे अतीन्द्रिय पुण्यपापादि पदार्थोंके ज्ञानकी सम्भावना नहीं है, अतः अतीन्द्रिय धर्मादिका प्रतिपादक वेद किसी पुरुषकी कृति नहीं हो सकता। आज तक उसके कर्त्ताका स्मरण भी तो नहीं है। यदि कर्त्ता होता तो अवश्य ही उसका स्मरण होना चाहिए था। अतः वेद अपौरुषेय तथा अनादि है। अकलंकदेवने श्रुतको परमात्मप्रतिपादित बताते हुए कहा है कि—जब आत्मा ज्ञानरूप है तथा उसके प्रतिबन्धक कर्म हट सकते हैं, तब उसे अतीन्द्रियादि पदार्थोंके जाननेमें क्या बाधा है? यदि ज्ञानमें अतिशय असम्भव ही हो; तो जैमिनि आदि को वेदार्थका पूर्ण परिज्ञान कैसे सम्भव होगा? सर्वत्र प्रमाणता कारणगुणोंके ही आधीन देखी जाती है। शब्दमें प्रमाणताका लानेवाला वक्ताका गुण है। यदि वेद अपौरुषेय है; तब तो उसकी प्रमाणता हो सन्दिग्ध रहेगी। जब अतीन्द्रियदर्शी एक भी पुरुष नहीं है; तब वेदका यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है? परम्परा तो मिथ्यार्थकी भी चल सकती है। यदि समस्तार्थज्ञानमें शंका की जाती है; तब चंचल-इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें कैसे विश्वास किया जा सकता है? यदि अपौरुषेय वेद अपने अर्थका स्वतः विवरण करे; तब तो वेदके अंगभूत आयुर्वेद आदिके परिज्ञानार्थ मनुष्योंका पठन-पाठनरूप प्रयत्न निष्फल ही हो जायगा। अतः सामग्रीके गुण-दोषसे ही प्रमाणता और अप्रमाणताका सम्बन्ध मानना चाहिए। शब्दकी प्रमाणताके लिए वक्ताका सम्यग्ज्ञान ही एकमात्र अंकुश हो सकता है। जब वेदका कोई अतीन्द्रियार्थद्रष्टा नियामक नहीं है; तब उसके अर्थमें अन्धपरम्परा ही हुई। आज तक अनादिकाल बीत चुका, ऐसा अनाप्त वेद नष्ट क्यों नहीं हुआ? अनादि माननेसे या कर्त्ताका स्मरण न होनेसे ही तो कोई प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि लोकमें बहुतसे ऐसे म्लेच्छादिव्यवहार या गाली-गलौज आदि पाए जाते हैं, जिनके कर्त्ताका आज तक किसी को स्मरण नहीं है, पर इतने मात्रसे वे प्रमाण तो नहीं माने जा सकते। इसलिए वेदके अर्थमें यथार्थताका नियामक अतीन्द्रियार्थदर्शी पुरुषविशेष ही मानना चाहिए। कर्त्ताका अस्मरणरूप हेतु जीर्ण खण्डहर, कुआ आदि चीजोंसे, जिनके कर्त्ताका किसीको स्मरण नहीं है, अनैकान्तिक है। अतः सर्वज्ञप्रतिपादित आगमको ही अतीन्द्रियधर्म आदिमें भी प्रमाण मानना चाहिए। सर्वज्ञके माने बिना वेदकी प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती; क्योंकि अपौरुषेय वेदका व्याख्याता यदि रागी, द्वेषी और अज्ञानी पुरुष होगा तो उसके द्वारा किया गया व्याख्यान प्रमाणकोटिमें नहीं आ सकेगा। व्याख्याभेद होनेपर अन्तिम निर्णय तो धर्मादिके साक्षात्कर्ता का ही माना जा सकता है।

**परपरिकल्पित प्रमाणान्तर्भाव**—नैयायिक प्रसिद्ध अर्थके सादृश्यसे साध्यके साधनको—संज्ञासंज्ञि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्धज्ञानको उपमान कहते हैं। जैसे किसी नागरिकने यह सुना कि 'गौके सदृश गवय होता है।' यह जंगलमें गया। वहाँ गवयको देखकर उसमें गोसादृश्यका ज्ञान करके गवयसंज्ञाका सम्बन्ध जोड़ता है और गवयशब्दका व्यवहार करता है। इसी संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धज्ञानको उपमान प्रमाण कहते हैं। अकलंकदेव इस ज्ञानका यथासम्भव अनुमान तथा प्रत्यभिज्ञानमें अंतर्भाव करते हुए कहते हैं कि—यदि प्रसिद्धार्थका सादृश्य अविनाभावी रूपसे निर्णीत है तब तो वह लिंगात्मक हो जायगा और उससे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अनुमान कहलायगा। यदि अविनाभाव निर्णीत नहीं है; तो दर्शन और स्मरणपूर्वक सादृश्यात्मक संकलन होनेके कारण यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें ही अन्तर्भूत होगा। सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भूत होनेपर भी यदि इस ज्ञानको स्वतंत्ररूपसे उपमान नामक प्रमाण मानोगे; तो भैंसको देखकर 'यह गवय नहीं है' या 'यह गौसे विलक्षण है' इस वैलक्षण्यज्ञानको किस प्रमाणरूप मानोगे ? 'शाखादिवाला वृक्ष होता है' इस शब्दको सुनकर वैसे ही शाखादिमान् अर्थको देखकर 'वृक्षोऽयम्' इस ज्ञानको किस नामसे पुकारोगे ? इसी तरह 'यह इससे पूर्वमें है, यह इससे पश्चिममें है', 'यह छोटा है, यह बड़ा है', 'यह दूर है, यह पास है', 'यह ऊँचा है, यह नीचा है', 'ये दो हैं, यह एक है' इत्यादि सभी ज्ञान उपमानसे पृथक् प्रमाण मानने होंगे; क्योंकि उक्त ज्ञानोंमें प्रसिद्धार्थसादृश्यकी तो गंध भी नहीं है। अतः जिनमें दर्शन और स्मरण कारण हो उन सभी संकलनरूप ज्ञानोंको प्रत्यभिज्ञान कहना चाहिए, भले ही वह संकलन सादृश्य वैसदृश्य या एकत्वादि किसी भी विषयक क्यों न हो। उक्त सभी ज्ञान हितप्राप्ति, अहितपरिहार तथा उपेक्षाज्ञानरूप फलके उत्पादक होनेसे अप्रमाण तो कहे ही नहीं जा सकते।

मीमांसक जिस साधनका साध्यके साथ अविनाभाव पहिले किसी सपक्षमें गृहीत नहीं है उस साधनसे तत्कालमें ही अविनाभाव ग्रहण करके होनेवाले साध्यज्ञानको अर्थापत्ति कहते हैं। इससे शक्ति आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका भी ज्ञान किया जाता है। अकलंकदेवने अर्थापत्तिको अनुमानमें अन्तर्भूत किया है; क्योंकि अविनाभावी एक अर्थसे दूसरे अर्थका ज्ञान अनुमान तथा अर्थापत्ति दोनोंमें समान है। सपक्षमें व्याप्तिका गृहीत होना या न होना प्रमाणान्तरताका प्रयोजक नहीं हो सकता। सम्भव नामका प्रमाण यदि अविनाभावप्रयुक्त है; तो उसका अनुमानमें अन्तर्भाव होगा। यदि अविनाभावप्रयुक्त नहीं है; तब तो वह प्रमाण ही नहीं हो सकता। ऐतिह्य नामका प्रमाण यदि आप्तोपदेशमूलक है, तो आगमनामक प्रमाणमें अन्तर्भूत होगा। यदि आप्तमूलत्व संदिग्ध है; तो वह प्रमाणकोटिमें नहीं आ सकता। अभाव नामका प्रमाण यथासम्भव प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान तथा अनुमानादि प्रमाणोंमें अन्तर्भूत समझना चाहिए। इस तरह परपरिकल्पित प्रमाणोंका अंतर्भाव होनेपर प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही मूल प्रमाण हो सकते हैं।

प्रमाणाभास—अविसंवादि ज्ञान प्रमाण है, अतः विसंवादि ज्ञान प्रमाणाभास होगा। यहाँ अकलंकदेवकी एक दृष्टि विशेषरूपसे विचारणीय है। वे किसी ज्ञानको सर्वथा विसंवादि नहीं कहते। वे कहते हैं कि—जो ज्ञान जिस अंशमें अविसंवादि हो वह उस अंशमें प्रमाण तथा विसंवादि-अंशमें अप्रमाण होगा। हम किसी भी ज्ञानको एकान्तसे प्रमाणाभास नहीं कह सकते। जैसे तिमिररोगीका द्विचन्द्रज्ञान चन्द्रांशमें अविसंवादी है तथा द्वित्वसंख्यामें विसंवादी है, अतः इसे चन्द्रांशमें प्रत्यक्ष तथा द्वित्वांशमें प्रत्यक्षाभास कहना चाहिए। इस तरह प्रमाण और प्रमाणाभासकी संकीर्ण स्थिति रहनेपर भी जहाँ अविसंवादकी प्रकर्षता हो वहाँ प्रमाण व्यपदेश तथा विसंवादके प्रकर्षमें प्रमाणाभास व्यपदेश करना चाहिए। जैसे कस्तूरीमें रूप, रस आदि सभी गुण मौजूद हैं, पर गन्धकी प्रकर्षता होनेके कारण उसमें 'गन्धद्रव्य' व्यपदेश होता है।

**ज्ञानके कारणोंका विचार**—बौद्धके मतसे चार प्रत्ययोंसे चित्त और चैत्तोंकी उत्पत्ति होती है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. समनन्तरप्रत्यय, २. अधिपतिप्रत्यय, ३ आलम्बनप्रत्यय, ४. सहकारिप्रत्यय। ज्ञानकी उत्पत्तिमें पूर्वज्ञान समनन्तरकारण होता है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ अधिपतिप्रत्यय होती हैं, पदार्थ आलम्बनप्रत्यय तथा आलोक आदि अन्य कारण सहकारिप्रत्यय होते हैं। इस तरह बौद्धकी दृष्टिसे ज्ञानके प्रति अर्थ तथा आलोक दोनों ही कारण हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—'नाकारणं विषयः' अर्थात् जो ज्ञानका कारण नहीं होगा वह ज्ञानका विषय भी नहीं होगा। नैयायिकादि इन्द्रियार्थसन्निकर्षको ज्ञानमें कारण मानते हैं अतः उनके मतसे सन्निकर्ष-घटक-तया अर्थ भी ज्ञानका कारण है ही।

अर्थकारणतानिरास—ज्ञान अर्थका कार्य नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान तो मात्र इतना ही जानता है कि 'यह अमुक अर्थ है'। वह यह नहीं जानता कि 'मैं इस अर्थसे उत्पन्न हुआ हूँ'। यदि ज्ञान यह जानने लगे कि 'मैं इस अर्थसे पैदा हुआ हूँ'; तब तो विवादको स्थान ही नहीं रहता। जब उत्पन्न ज्ञान अर्थके परिच्छेदमें व्यापार करता है तब वह अपने अन्य इन्द्रियादि उत्पादक कारणोंकी सूचना स्वयं ही करता है; क्योंकि यदि ज्ञान उसी अर्थसे उत्पन्न हो जिसे वह जानता है, तब तो वह उस अर्थको जान ही नहीं सकेगा; क्योंकि अर्थकालमें तो ज्ञान अनुत्पन्न है तथा ज्ञानकालमें अर्थ विनष्ट हो चुका है। यदि ज्ञान अपने कारणों-को जाने; तो उसे इन्द्रियादिकको भी जानना चाहिए। ज्ञानका अर्थके साथ अन्वय और व्यतिरेक न होनेसे भी उनमें कारण-कार्यभाव नहीं हो सकता। संशयज्ञान अर्थके अभावमें भी हो जाता है। संशयज्ञानस्थलमें स्थाणु-पुरुषरूप दो अर्थ तो विद्यमान नहीं हैं। अर्थ या तो स्थाणुरूप होगा या पुरुषरूप। व्यभिचार—अन्यथा प्रतिभास बुद्धिगत धर्म है। जब मिथ्याज्ञानमें इन्द्रियगत—तिमिरादि, विषयगत—आशुभ्रमणादि, बाह्य—नौका-में यात्रा करना आदि तथा आत्मगत—वातपित्तादिजन्य क्षोभ आदि दोष कारण होते हैं; तब तो अर्थकी हेतुता अपने ही आप व्यर्थ हो जाती है। मिथ्याज्ञान यदि इन्द्रियोंकी दुष्टतासे होता है; तो सत्यज्ञानमें भी इन्द्रिय-गत निर्दोषता ही कारण होगी। अतः इन्द्रिय और मनको ही ज्ञानमें कारण मानना चाहिए। अर्थ तो ज्ञानका विषय ही हो सकता है, कारण नहीं।

अन्य कारणोंसे उत्पन्न बुद्धिके द्वारा सन्निकर्षका निश्चय होता है, सन्निकर्षसे बुद्धिका निश्चय तो नहीं देखा जाता। सन्निकर्षप्रविष्ट अर्थके साथ ज्ञानका कार्यकारणभाव तब निश्चित हो सकेगा; जब सन्निकर्षप्रविष्ट आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि किसी एक ज्ञानके विषय हों। पर आत्मा, मन और इन्द्रियाँ तो अतीन्द्रिय हैं, अतः पदार्थके साथ होनेवाला इनका सन्निकर्ष भी अतीन्द्रिय होगा और जब वह विद्यमान रहते हुए भी अप्रत्यक्ष है, तब उसे ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण कैसे माना जाय? ज्ञान अर्थको तो जानता है, पर अर्थमें रहनेवाली स्व-कारणताको नहीं जानता। ज्ञान जब अतीत और अनागत पदार्थोंको जो ज्ञानकालमें अविद्यमान हैं, जानता है; तब तो अर्थकी ज्ञानके प्रति कारणता अपने आप निःसार सिद्ध हो जाती है। देखो—कामलादि रोगवालेको शुक्लशंखमें अविद्यमान पीलेपनका ज्ञान होता है। मरणोन्मुख व्यक्तिको अर्थके रहने-पर भी ज्ञान नहीं होता या विपरीतज्ञान होता है।

क्षणिक अर्थ तो ज्ञानके प्रति कारण हो ही नहीं सकता; क्योंकि जब वह क्षणिक होनेसे कार्यकाल तक नहीं पहुँचता तब उसे कारण कैसे कहा जाय? अर्थके होनेपर उसके कालमें ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ तथा अर्थके अभावमें ही ज्ञान उत्पन्न हुआ तब ज्ञान अर्थका कार्य कैसे माना जाय? कार्य और कारण एक साथ तो रह ही नहीं सकते। यह कहना भी ठीक नहीं है कि—"यद्यपि अर्थ नष्ट हो चुका है पर वह अपना आकार ज्ञानमें समर्पित कर चुकनेके कारण ग्राह्य होता है। पदार्थमें यही ग्राह्यता है कि—वह ज्ञानको उत्पन्न कर उसमें अपना आकार अर्पण करे।" क्योंकि ज्ञान अमूर्त है वह मूर्त अर्थके प्रतिबिम्बको धारण नहीं कर सकता। मूर्त दर्पणादिमें ही मुखादिका प्रतिबिम्ब आता है, अमूर्त्तमें मूर्त्तका नहीं। यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थसे उत्पन्न होनेके कारण ज्ञानमें विषयप्रतिनियम हो; तो जब इन्द्रिय आदिसे भी घटज्ञान उत्पन्न होता है तब उसे घटकी तरह इन्द्रिय आदिको भी विषय करना चाहिये। तदाकारतासे विषयप्रतिनियम माननेपर एक अर्थका ज्ञान करनेपर उसी आकारवाले यावत् समान अर्थोंका परिज्ञान होना चाहिए। तदुत्पत्ति और तदाकारता मिलकर यदि विषयनियामक हों; तो घटज्ञानसे उत्पन्न द्वितीय घटज्ञानको, जिसमें पूर्वज्ञानका आकार है तथा जो पूर्वज्ञानसे उत्पन्न भी हुआ है, अपने उपादानभूत पूर्वज्ञानको जानना चाहिये। पर बौद्धोंके सिद्धान्तानुसार 'ज्ञानं ज्ञानस्य न नियामकम्'—ज्ञान ज्ञानका नियामक नहीं होता। तदध्यवसाय (अनुकूल विकल्पका उत्पन्न होना) से भी वस्तुका प्रतिनियम नहीं होता; क्योंकि शुक्लशंखमें होनेवाले पीताकारज्ञानसे उत्पन्न द्वितीयज्ञानमें तदध्यवसाय देखा जाता है पर नियामकता नहीं है। अतः अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले अर्थ और ज्ञानमें परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव-विषय-विषयिभाव होता है। जैसे दीपक अपने तैलादि कारणोंसे प्रज्वलित होकर मिट्टी आदिसे उत्पन्न होनेवाले घटादिको प्रकाशित करता है, उसीतरह इन्द्रिय तथा मन आदि कारणोंसे उत्पन्न ज्ञान अपने कारणोंसे उत्पन्न अर्थको जानेगा। जैसे 'देवदत्त काठको छेदता है' यहाँ अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न देवदत्त तथा काष्ठमें कर्तृ-कर्मभाव है उसी तरह स्व-स्वकारणोंसे समुत्पन्न ज्ञेय और ज्ञानमें ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव होता है। जैसे खदानसे निकली हुई मलयुक्त मणि अनेक शाण आदि कारणोंसे तरतम-न्यूनाधिकरूपसे निर्मल एवं स्वच्छ होती है उसी तरह कर्मयुक्त आत्माका ज्ञान अपनी विशुद्धिके अनुसार तरतमरूपसे प्रकाशमान होता है, और अपनी क्षयोपशमरूप योग्यताके अनुसार पदार्थोंको जानता है। अतः अर्थको ज्ञानमें कारण नहीं माना जा सकता।

आलोककारणतानिरास—आलोकज्ञानका विषय आलोक होता है, अतः वह ज्ञानका कारण नहीं हो सकता। जो ज्ञानका विषय होता है वह ज्ञानका कारण नहीं होता जैसे अन्धकार। आलोकका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक न होनेसे भी वह ज्ञानका कारण नहीं कहा जा सकता। यदि आलोक ज्ञानका कारण हो तो उसके अभावमें ज्ञान नहीं होना चाहिये, पर अन्धकारका ज्ञान आलोकके अभावमें ही होता है। नक्तञ्चररात्रिचारी उल्लू आदिको आलोकके अभावमें ही ज्ञान होता है तथा उसके सद्भावमें नहीं। 'आलोकके अभावमें अन्धकारकी तरह अन्य पदार्थ क्यों नहीं दिखते' इस शंकाका उत्तर यह है कि—अन्धकार अन्य पदार्थोंका निरोध करनेवाला है, अतः आलोकके अभावमें निरोध करनेवाला अन्धकार तो दिखता है पर उससे निरुद्ध अन्य पदार्थ नहीं। जैसे एक महाघटके नीचे दो चार छोटे घट रखे हों, तो महाघटके दिखनेपर भी उसके नीचे रखे हुए छोटे घट नहीं दिखते। अन्धकार ज्ञानका विषय है अतः वह ज्ञानका आवरण भी नहीं माना जा सकता। ज्ञानका आवरण तो ज्ञानावरण कर्म ही हो सकता है। इसीके क्षयोपशमकी तरतमतासे ज्ञानके विकासमें तारतम्य होता है। अतः आलोकके साथ ज्ञानका अन्वय-व्यतिरेक न होनेसे आलोक भी ज्ञानका कारण नहीं हो सकता। अर्थालोककारणताविषयक अकलंकके इन विचारोंका उत्तरकालीन माणिक्यनन्दि आदि आचार्योंने प्रायः उन्हींके ही शब्दोंमें अनुसरण किया है।

प्रमाणका फल—प्रशस्तपादभाष्य तथा न्यायभाष्यादिमें हान, उपादान एवं उपेक्षाबुद्धिको प्रमाणका फल कहा है। समन्तभद्र, पूज्यपाद आदिने अज्ञाननिवृत्तिका भी प्रमाणके अभिन्न फलरूपसे प्ररूपण किया है। अकलंकदेव अज्ञाननिवृत्तिके विधिपरकरूपतत्त्वनिर्णयका तथा हान, उपादान, उपेक्षाबुद्धिके साथ ही परनिःश्रेयसका भी प्रमाणके फलरूपसे कथन करते हैं। केवलज्ञान वीतराग योगियोंके होता है अतः उनमें रागद्वेषजन्य हानोपादानका संभव ही नहीं है, इसलिये केवलज्ञानका फल अज्ञाननिवृत्ति और उपेक्षाबुद्धि है। इनमें अज्ञाननिवृत्ति प्रमाणका साक्षात् फल है, शेष परम्परासे।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## २. प्रमेयनिरूपण

**प्रमाणका विषय**—यद्यपि अकलंकदेवने प्रमाणके विषयका निरूपण करते समय लघीयस्त्रयमें द्रव्य-पर्यायात्मक अर्थको ही प्रमेय बताया है, पर न्यायविनिश्चयमें उन्होंने द्रव्य-पर्यायके साथ ही साथ सामान्य और विशेष ये दो पद भी प्रयुक्त किए हैं। वस्तुमें दो प्रकारका अस्तित्व है—१. स्वरूपास्तित्व, २. सादृश्यास्तित्व। एक द्रव्यकी पर्यायोंको दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यसे असङ्कीर्ण रखनेवाला स्वरूपास्तित्व है। जैसे एक शाबलेय गौ की हरएक अवस्थामें 'शाबलेय शाबलेय' व्यवहार करानेवाला तत्-शाबलेयत्व। इससे एक शाबलेय गौव्यक्तिकी पर्याएँ अन्य सजातीय शाबलेयादि गौव्यक्तियोंसे तथा विजातीय अश्वादिव्यक्तियोंसे अपनी पृथक् सत्ता रखती हैं। इसीको जैन द्रव्य, ध्रौव्य, अन्वय, ऊर्ध्वतासामान्य आदि शब्दोंसे व्यवहृत करते हैं। मालूम तो ऐसा होता है कि बौद्धोंने सन्तानशब्दका प्रयोग ठीक इसी अर्थमें किया है। इसी स्वरूपास्तित्वको विषय करनेवाला 'यह वही है' यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान होता है। अपनी भिन्न-भिन्न सत्ता रखनेवाले पदार्थोंमें अनुगतव्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व है। जैसे भिन्न-भिन्न गौव्यक्तियोंमें 'गौ गौ' इस अनुगतव्यवहारको करानेवाला साधारण गोत्व। इसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं। गोत्वादि जातियाँ सदृशपरिणाम रूप ही हैं; नित्य एक तथा निरंश नहीं हैं। एक द्रव्यकी पूर्वोत्तर पर्यायोंमें व्यावृत्तप्रत्यय पर्यायरूप विशेषके निमित्तसे होता है। भिन्न सत्ता रखनेवाले दो द्रव्योंमें विलक्षणप्रत्यय व्यतिरेकरूप विशेष ( द्रव्यगतभेद ) से होता है। इस तरह दो प्रकारके सामान्य तथा दो प्रकारके विशेषसे युक्त वस्तु प्रमाणका विषय होती है। ऐसी ही वस्तु सत् है। सत्का लक्षण है—उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यसे युक्त होना। सत्को ही द्रव्य कहते हैं। उत्पाद और व्यय पर्यायकी दृष्टिसे हैं जब कि ध्रौव्य गुणकी दृष्टिसे। अतः द्रव्यका गुण-पर्यायवत्त्व लक्षण भी किया गया है। द्रव्य एक अखंड तत्त्व है। वह संयुक्त या रासायनिक मिश्रणसे तैयार न होकर मौलिक है। उसमें भेदव्यवहार करनेके लिए देश, देशांश तथा गुण, गुणांशकी कल्पना की जाती है। ज्ञान अखण्डद्रव्यको ग्रहण भले ही कर ले, पर उसका व्यवहार तो एक-एक धर्मके द्वारा ही होता है। इन व्यवहारार्थ कल्पित धर्मोंको गुण शब्दसे कहते हैं। वैशेषिकोंकी तरह गुण कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। द्रव्यके सहभावी अंश गुण कहलाते हैं, तथा क्रमसे होनेवाले परिणमन पर्याय कहलाते हैं। इस तरह अखण्ड मौलिक तत्त्वकी दृष्टिसे वस्तु नित्य होकर भी क्रमिक परिणमनकी अपेक्षासे अनित्य है। नित्यका तात्पर्य इतना ही है कि—वस्तु प्रतिक्षण परिणमन करते हुए भी अपने स्वरूपास्तित्वको नहीं छोड़ सकती। कितना भी विलक्षण क्यों न हो जीव कभी भी पुद्गलरूप नहीं हो सकता। इस असांकर्यका नियामक ही द्रव्यांश है। सांख्यके अपरिणामी कूटस्थ नित्य पुरुषकी तरह नित्यता यहाँ विवक्षित नहीं है और न बौद्धकी तरह सर्वथा अनित्यता ही; जिससे वस्तु सर्वथा अपरिणामी तथा पूर्वक्षण और उत्तरक्षण सर्वथा अनन्वित रह जाते हैं।

**ध्रौव्य और सन्तान**—यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि—जिस प्रकार जैन एक द्रव्यांश मानते हैं उसी तरह बौद्ध सन्तान मानते हैं। प्रत्येक परमाणु प्रतिक्षण अपनी अर्थपर्याय रूपसे परिणमन करता है, उसमें ऐसा कोई भी स्थायी अंश नहीं बचता जो द्वितीय क्षणमें पर्यायके रूपमें न बदलता हो। यदि यह माना जाय कि उसका कोई एक अंश बिलकुल अपरिवर्तनशील रहता है और कुछ अंश सर्वथा परिवर्तनशील; तब तो नित्य तथा क्षणिक दोनों पक्षोंमें दिए जानेवाले दोष ऐसी वस्तुमें आयेंगे। कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध माननेके कारण पर्यायोंके परिवर्तित होनेपर भी अपरिवर्तिष्णु कोई अंश हो ही नहीं सकता। अन्यथा उस अपरिवर्तिष्णु अंशसे तादात्म्य रखनेके कारण शेष अंश भी अपरिवर्तनशील ही होंगे। इस तरह कोई एक ही मार्ग पकड़ना होगा—या तो वस्तु बिलकुल नित्य मानी जाय या बिलकुल परिवर्तनशील—चेतन भी अचेतनरूपसे परिणमन करनेवाली। इन दोनों अन्तिम सीमाओंके मध्यका ही वह मार्ग है जिसे हम द्रव्य कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो न बिलकुल अपरिवर्तनशील है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करनेवाला जिससे अचेतन भी अपनी अचेतनत्वकी सीमाको लाँघकर चेतन बन जाए, या दूसरे अचेतन द्रव्यरूप हो जाय। अथवा एक चेतन दूसरे सजातीय चेतनरूप या विजातीय अचेतनरूप हो जाय। उसकी सीधे शब्दोंमें यही परिभाषा हो सकती है कि किसी एक द्रव्यके प्रतिक्षणमें परिणमन करनेपर भी जिसके कारण उसका दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यरूपसे परिणमन नहीं होता, उस स्वरूपास्तित्वका ही नाम द्रव्य, ध्रौव्य या गुण है। बौद्धके द्वारा माने गए सन्तानका भी यही कार्य है कि—वह नियत पूर्वक्षणका नियत उत्तरक्षणके साथ ही कार्य-कारणभाव बनाता है क्षणान्तरसे नहीं। तात्पर्य यह कि इस सन्तानके कारण एक चेतनक्षण अपनी उत्तर चेतनक्षणपर्यायका ही कारण होगा, विजातीय अचेतनक्षणका और सजातीय चेतनान्तरक्षणका नहीं। इस तरह तात्त्विक दृष्टिसे द्रव्य या सन्तानके कार्य या उपयोगमें कोई अन्तर नहीं है। हाँ, अन्तर है तो केवल उसके शाब्दिक स्वरूपनिरूपणमें। बौद्ध उस सन्तानको काल्पनिक कहते हैं, जब कि जैन उस द्रव्यांशको पर्याय क्षणकी तरह वास्तविक कहते हैं। सदा कूटस्थ अविकारी नित्य अर्थमें तो जैन भी उसे वस्तु नहीं कहते। सन्तानको समझानेके लिए बौद्धोंने यह दृष्टान्त दिया है कि—जैसे दस आदमी एक लाइनमें खड़े हैं पर उनमें पंक्ति जैसी कोई एक अनुस्यूत वस्तु नहीं है, उसी तरह क्रमिक पर्यायोंमें कूटस्थ नित्य कोई द्रव्यांश नहीं है। पर इस दृष्टान्तकी स्थितिसे द्रव्यकी स्थिति कुछ विलक्षण प्रकार की है। यद्यपि यहाँ दश भिन्नसत्ताक पुरुषोंमें पंक्ति नामकी कोई स्थायी वस्तु नहीं है फिर भी पंक्तिका व्यवहार हो जाता है। पर एक द्रव्यकी क्रमिक पर्यायें दूसरे द्रव्यकी पर्यायोंसे किसी स्वरूपास्तित्वरूप तात्त्विक अंशके माने बिना असंक्रान्त नहीं रह सकती। यहाँ एक पुरुष चाहे तो इस पंक्तिसे निकलकर दूसरी पंक्तिमें शामिल हो सकता है। पर कोई भी पर्याय चाहनेपर भी दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यकी पर्यायसे संक्रान्त नहीं हो सकती और अपने द्रव्यमें भी अपना क्रम छोड़कर न आगे जा सकती है और न पीछे। अतः द्रव्यांशमात्र पंक्ति एवं सेना आदिकी तरह बुद्धिकल्पित नहीं है किन्तु क्षणकी तरह सत्य है। इस तरह द्रव्यपर्यायात्मक—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तु अर्थक्रियाकारी है, सर्वथा क्षणिक तथा सर्वथा नित्य वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकती।

बौद्ध सत्का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व करते हैं। अर्थक्रिया दो प्रकारसे होती है—१. क्रमसे, २. यौगपद्यरूप से। उनका कहना है कि नित्य वस्तु न क्रमसे ही अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपत्। अतः अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्वके अभावमें वह असत् ही सिद्ध होती है। नित्य वस्तु सदा एकरूप रहती है, अतः जब वह समर्थ होनेसे सभी कार्योंको युगपत् उत्पन्न कर देगी, तब कार्योंमें भेद नहीं हो सकेगा; क्योंकि कार्योंमें भेद कारणके भेदसे होता है। जब कारण एक एवं अपरिवर्तनशील है तब कार्यभेदका वहाँ अवसर ही नहीं है। यदि वह युगपत् अर्थक्रिया करे; तो सभी कार्य एक ही क्षणमें उत्पन्न हो जायँगे, तब दूसरे क्षणमें नित्य अकिञ्चित्कर ठहरेगा। इस तरह क्रमयौगपद्यसे अर्थक्रियाका विरोध होनेसे नित्य असत् है।

अकलंकदेव कहते हैं कि—यदि नित्यमें अर्थक्रिया नहीं बनती तो सर्वथा क्षणिकमें भी तो उसके बननेकी गुंजाइश नहीं है। क्षणिकवस्तु एकक्षण तक ही ठहरती है, अतः जो जिस देश तथा जिस कालमें है वह उसी देश तथा कालमें नष्ट हो जाती है। इसलिये जब वह देशान्तर या कालान्तर तक किसी भी रूपमें नहीं जाती तब देशकृत या कालकृत क्रम उसमें नहीं आ सकता, अतः उसमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं बनेगी। निरंश होनेसे उसमें एक साथ अनेकस्वभाव तो रहेंगे ही नहीं; अतः युगपत् भी अनेक कार्य कैसे हो सकते हैं? एक स्वभावसे तो एक ही कार्य हो सकेगा। कारणमें नाना शक्तियाँ माने बिना कार्योंमें नानात्व नहीं आ सकता। इस तरह सर्वथा क्षणिक तथा नित्य दोनों वस्तुओंमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती। अर्थक्रिया तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उभयात्मक—नित्यानित्यात्मक वस्तुमें ही संभव है। क्षणिकमें अन्वित रूप नहीं है तथा नित्यमें उत्पाद और व्यय नहीं है। उभयात्मक वस्तुमें ही क्रम, योगपद्य तथा अनेक शक्तियाँ संभव हैं।

अर्थनिरूपणके प्रसंगमें अकलंकने विभ्रमवाद, संवेदनाद्वैतवाद, परमाणुरूपअर्थवाद, अवयवसे भिन्न अवयवविवाद, अन्यापोहात्मक सामान्यवाद, नित्यैकसर्वगत-सामान्यवाद, प्रसंगसे भूतचैतन्यवाद आदिका समालोचन किया है। जिसका सार यह है—

विभ्रमवाद निरास—स्वप्नादि विभ्रमकी तरह समस्त ज्ञान विभ्रम हैं। जिस प्रकार स्वप्नमें या जादूके खेलमें अथवा मृगतृष्णामें अनेकों पदार्थ सत्यरूपसे प्रतिभासित तो होते हैं, पर उनकी वहाँ कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, मात्र प्रतिभास ही प्रतिभास होता है, उसी तरह घट-पटादि ज्ञानोंके विषयभूत घट-पटादि अर्थ भी अपनी पारमार्थिक सत्ता नहीं रखते। अनादिकालीन विकल्पवासनाके विचित्र परिपाकसे ही अनेकानेक अर्थ प्रतिभासित होते हैं। वस्तुतः वे सब विभ्रमरूप ही हैं। इनके मतसे किसी भी अर्थ और ज्ञानकी सत्ता नहीं है, जितना ग्राह्य-ग्राहकाकार है वह सब भ्रान्त है। इसका खंडन करते हुए अकलंकदेवने लिखा है कि—'स्वप्नादि विभ्रमकी तरह समस्त ज्ञान विभ्रम रूप हैं' इस वाक्यका अर्थ विभ्रम रूप है, कि सत्य? यदि उक्त वाक्यका अर्थ विभ्रम—मिथ्या है; तब तो सभी अर्थोंकी सत्ता अविभ्रम-सत्य सिद्ध हो जायगी। यदि उक्त वाक्यका अर्थ सत्य है; तो समस्त वस्तुएँ विभ्रमात्मक कहाँ हुईं? कम-से-कम उक्त वाक्यका अर्थ तो स्वरूप सत् हुआ। इसी तरह अन्य वस्तुएँ भी स्वरूप सत् सिद्ध होंगी।

संवेदनाद्वैतवाद निरसन—ज्ञानाद्वैतवादीमात्र ज्ञानकी ही वास्तविक सत्ता मानते हैं बाह्यार्थकी नहीं। ज्ञान ही अनादिकालीन विकल्पवासनाके कारण अनेकाकार अर्थरूपसे प्रतिभासित होता है। जैसे इन्द्र-जाल गन्धर्वनगर आदिमें अविद्यमान भी आकार प्रतिभासित होते हैं उसी तरह ज्ञानसे भिन्न घटादि पदार्थ अपनी प्रातिभासिकी सत्ता रखते हैं पारमार्थिकी नहीं। इसी अभिन्नज्ञानमें प्रमाण-प्रमेय आदि भेद कल्पित होते हैं, अतः यह ग्राह्य-ग्राहकरूपसे प्रतिभासित होता है।

इसकी समालोचना करते हुए अकलंकदेव लिखते हैं कि—तथोक्त अद्वयज्ञान स्वतः प्रतिभासित होता है, या परतः? यदि स्वतः प्रतिभासित हो; तब तो विवाद ही नहीं होना चाहिए। आपकी तरह ब्रह्मवादी भी अपने ब्रह्मका भी स्वतः प्रतिभास ही तो कहते हैं। परतः प्रतिभास तो परके बिना नहीं हो सकता। परको स्वीकार करनेपर द्वैतप्रसंग होगा। इन्द्रजालदृष्ट पदार्थ तथा बाह्यसत् पदार्थोंमें इतना मोटा भेद है कि उसमें स्त्रियाँ तथा ढोर चरानेवाले ग्वाले आदि मूढ़जन भी भ्रान्त नहीं हो सकते। वे बाह्यसत्य पदार्थों-को प्राप्तकर अपनी आकांक्षाएँ शान्त कर सन्तोषका अनुभव करते हैं जब कि इन्द्रजालदृष्ट पदार्थोंसे कोई अर्थक्रिया या सन्तोषानुभव नहीं होता। वे तो प्रतिभासकालमें ही असत् मालूम होते हैं। अद्वयज्ञानवादियोंको प्रतिभासकी सामग्री—प्रतिपत्ता, प्रमाण, विचार आदि तो मानना ही चाहिए, अन्यथा प्रतिभास कैसे हो सकेगा? अद्वयज्ञानमें अर्थ-अनर्थ, तत्त्व-अतत्त्व आदिकी व्यवस्था न होनेसे तद्ग्राही ज्ञानोंमें प्रमाणता या अप्र-माणता भी निश्चित नहीं की जा सकेगी। पर्वतादि बाह्य पदार्थोंको विकल्पवासनाप्रसूत कहनेसे उनमें मूर्तत्व, स्थूलत्व, सप्रतिघत्व आदि धर्म कैसे संभव हो सकते हैं? यदि विषादि पदार्थ बाह्यसत् नहीं हैं केवल ज्ञान-रूप ही हैं; तब उनके खानेसे मृत्यु आदि कैसे हो जाते हैं? विषके ज्ञानमात्रसे तो मृत्यु नहीं देखी जाती। प्रतिपाद्यरूप आत्मान्तरकी सत्ता माने बिना शास्त्रोपदेश आदिका क्या उपयोग होगा? जब परप्रतिपत्तिके उपायभूत वचन ही नहीं हैं; तब परप्रतिपादन कैसे संभव है? इसी तरह ग्राह्य-ग्राहकभाव, बाध्य-बाधकभाव आदि अद्वैतके बाधक हैं। अद्वयसिद्धिके लिए साध्य-साधनभाव तो आपको मानना ही चाहिए; अन्यथा सहोप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्भनियम आदि हेतुओंसे अद्वयसिद्धि कैसे करोगे ? सहोपलम्भनियम—अर्थ और ज्ञान दोनों एक साथ उपलब्ध होते हैं अतः अर्थ और ज्ञान अभिन्न हैं, जैसे द्विचन्द्रज्ञानमें प्रतिभासित होनेवाले दो चन्द्र वस्तुतः पृथक् सत्ता नहीं रखते, किन्तु एक ही हैं।' यह अनुमान भी संवेदनाद्वैतकी सिद्धि करनेमें असमर्थ है। यतः सहोपलम्भ हेतु विरुद्ध है—'शिष्यके साथ गुरु आया' इस प्रयोगमें सहोपलम्भनियम भेद होनेपर ही देखा गया है। ज्ञान अन्तरंगमें चेतनाकारतया तथा अर्थ बाह्य देशमें जडरूपसे देखा जाता है अतः उनका सहोपलम्भनियम असिद्ध है। बाह्यसत् एकचन्द्रके स्वीकार किए बिना द्विचन्द्र दृष्टान्त भी नहीं बन सकता। सहोपलम्भनियमका भेदके साथ कोई विरोध नहीं होनेके कारण वह अनैकान्तिक भी है।

ज्ञानाद्वैतवादी बाह्यपदार्थके अस्तित्वमें निम्न बाधक उपस्थित करते हैं कि—एक परमाणु अन्य-परमाणुओंसे एकदेशसे संयोग करेगा, या सर्वात्मना ? एकदेशसे संयोग माननेपर छह परमाणुओंसे संयोग करनेवाले परमाणुके छह देश हो जायँगे। सर्वात्मना संयोग माननेपर परमाणुओंका पिण्ड एकपरमाणुरूप हो जायगा। इसी तरह अवयवी अपने अवयवोंमें एकदेशसे रहेगा, या सर्वात्मना ? एकदेशसे रहनेपर अवयवीके उतने ही देश मानने होंगे जितने कि अवयव हैं। सर्वात्मना प्रत्येक अवयवमें रहनेपर जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी हो जायँगे। अवयवी यदि निरंश है, तो रक्तारक्त, चलाचल आदि विरुद्धधर्मोंका अध्यास होनेसे उसमें भेद हो जायगा। इत्यादि।

अकलंकदेवने इनका समाधान संक्षेपमें यह किया है कि—जिस तरह एक ज्ञान अपने ग्राह्य, ग्राहक और संविदाकारसे तादात्म्य रखकर भी एक रहता है, उसी तरह अवयवी अपने अवयवोंमें कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्धसे रहनेपर भी एक ही रहेगा। अवयवोंसे सर्वथा भिन्न अवयवी तो जैन भी नहीं मानते। परमाणुओं-में परस्पर स्निग्धता और रूक्षताके कारण एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध होता है जिससे स्कन्ध बनता है। अतः ज्ञानके अतिरिक्त बाह्यपदार्थकी सत्ता मानना ही चाहिए; क्योंकि संसारके समस्त व्यवहार बाह्यसत् पदार्थोंसे चलते हैं, केवल ज्ञानमात्रसे नहीं।

**परमाणुसंचयवाद निरास**—सौत्रान्तिक ज्ञानसे अतिरिक्त बाह्यार्थ मानते हैं, पर वे बाह्यार्थको स्थिर, स्थूलरूप नहीं मानकर क्षणिक परमाणुरूप मानते हैं। परमाणुओंका पुंज ही अत्यन्त आसन्न होनेके कारण स्थूलरूपसे मालूम होता है। जैसे पृथक् स्थित अनेक वृक्ष दूरसे एक स्थूलरूपमें प्रतिभासित होते हैं। अकलंकदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि—जब प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय है और वह अपने परमाणुत्व-को छोड़कर स्कन्ध अवस्थामें नहीं आता तब उनका समुदाय प्रत्यक्षका विषय कैसे हो सकेगा ? अतीन्द्रिय वस्तुओंका समुदाय भी अपनी अतीन्द्रियता-सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलता धारण किए बिना इन्द्रियगम्य नहीं हो सकता।

**भिन्नअवयवविवाद निरास**—नैयायिक अवयवीको अवयवोंसे भिन्न मानकर भी उसकी अवयवोंमें समवायसम्बन्धसे वृत्ति मानते हैं। वे अवयवीको निरंश एवं नित्य स्वीकार करते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—अवयवोंसे भिन्न कोई अवयवी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय नहीं होता। 'वृक्षमें शाखाएँ हैं' यह प्रतिभास तो होता है पर 'शाखाओंमें वृक्ष है' यह एक निराली ही कल्पना है। यदि अवयवी अतिरिक्त हो; तो एक-एक छटाक वजनवाले चार अवयवोंसे बने हुए स्कन्धमें अवयवोंके चार छटाक वजनके अतिरिक्त कुछ अवयवीका भी वजन आना चाहिये। अवयव तथा अवयवीका रूप भी पृथक्-पृथक् दिखना चाहिए। निरंश अवयवीके एक देशको रँगनेपर पूरा अवयवी रँगा जाना चाहिए। उसके एक देशमें क्रिया होनेपर समस्त अवयवीमें क्रिया होना चाहिये। उसके एक देशका आवरण होनेपर पूरे अवयवीको आवृत हो जाना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। इस तरह विरुद्ध धर्मोंका अध्यास होनेसे उसमें एकत्व नहीं रह सकता। अतः अवयवोंसे सर्वथा भिन्न अवयवी किसी भी तरह प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकता। इसलिये प्रतीतिके अनुसार अवयवोंसे कथञ्चिद्भिन्न—अवयवरूप ही अवयवी मानना चाहिए।

इस तरह गुण-पर्यायवाला, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक पदार्थ ही प्रमाणका विषय होता है। गुण सहभावी तथा पर्यायें क्रमभावी होते हैं। जैसे भेदज्ञानसे वस्तुके उत्पाद और व्ययकी प्रतीति होती है उसी तरह अभेदज्ञानसे स्थिति भी प्रतिभासित होती ही है। जिस प्रकार सर्प अपनी सीधी, टेढ़ी, उत्फण, विफण आदि अवस्थाओंमें अनुस्यूत एक सत् है उसी तरह उत्पन्न और विलीन होनेवाली पर्यायोंमें द्रव्य अनुगत रहता है। अभिन्न प्रतिभास होनेसे वस्तु एक है। विरुद्ध धर्मोंका अध्यास होनेसे अनेक है। वस्तु अमुक स्थूल अंशसे प्रत्यक्ष होनेपर भी अपनी सूक्ष्मपर्यायोंकी अपेक्षासे अप्रत्यक्ष रहती हैं। वस्तु के ध्रौव्य अंशके कारण ही 'स एवायम्' यह प्रत्यभिज्ञान होता है। उपादानोपादेयभाव भी ध्रौव्यांशके माननेपर ही बन सकता है। वस्तु जिस रूपसे उत्तरपर्यायमें अन्वित होगी उसी रूपसे उसमें उपादानताका निश्चय होता है। यद्यपि शब्दादिका उपादान तथा आगे होनेवाला उपादेयभूत कार्य प्रत्यक्षगोचर नहीं है, तथापि उसकी मध्यक्षणवर्ती सत्ता ही उसके उपादानका तथा आगे होनेवाले उपादेयरूप कार्यका अनुमान कराती है; क्योंकि उपादानके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तथा मध्यक्षण यदि आगे कोई कार्य न करेगा; तो वह अर्थक्रियाकारित्वके अभावमें अवस्तु ही हो जायगा। अतः द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही प्रमाणका विषय हो सकती है।

सामान्य—नैयायिक-वैशेषिक नित्य, एक, सर्वगत सामान्य मानते हैं, जो स्वतन्त्र पदार्थ होकर भी द्रव्य, गुण और कर्ममें समवायसम्बन्धसे रहता है। मीमांसक ऐसे ही सामान्यका व्यक्तिसे तादात्म्य मानते हैं। बौद्ध सामान्यको वस्तुभूत न मानकर उसे अतद्व्यावृत्ति या अन्यापोहरूप स्वीकार करते हैं। जैन सदृश परिणमनको सामान्य कहते हैं। वे उसे अनेकानुगत न कहकर व्यक्तिस्वरूप मानते हैं। वह व्यक्तिकी तरह अनित्य तथा असर्वगत है। अकलंकदेवने सामान्यका स्वरूप वर्णन करते हुए इतर मतोंकी आलोचना इस प्रकार की है—

नित्य-सामान्यनिरास—नित्य, एक, निरंश सामान्य यदि सर्वगत है; तो उसे प्रत्येक व्यक्तिमें खंडशः रहना होगा; क्योंकि एक ही वस्तु अनेक जगह युगपत् सर्वात्मना नहीं रह सकती। नित्य निरंश सामान्य जिस समय एक व्यक्तिमें प्रकट होता है; उसी समय उसे सर्वत्र-व्यक्तिके अन्तरालमें भी प्रकट होना चाहिये। अन्यथा व्यक्त और अव्यक्तरूपसे स्वरूपभेद होनेपर अनित्यत्व एवं सांशत्वका प्रसंग होगा। जिस तरह सामान्य, विशेष और समवाय भिन्न सत्ताके समवायके बिना भी स्वतः सत् हैं उसी तरह द्रव्य, गुण और कर्म भी स्वतः सत् होकर 'सत् सत्' ऐसा अनुगत व्यवहार भी करा सकते हैं। अतः द्रव्यादिके स्वरूपसे अतिरिक्त सामान्य न मानकर सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए।

अन्यापोह निरास—बौद्ध सामान्यको अन्यापोहरूप मानते हैं। इनके मतसे कोई भी एक वस्तु अनेक आधारोंमें वृत्ति ही नहीं रख सकती, अतः अनेक आधारोंमें वृत्ति रखनेवाला सामान्य असत् है। सामान्य अनुगत व्यवहारके लिए माना जाता है। उनका कहना है कि—हमलोगोंको परस्पर विभिन्न वस्तुओंके देखनेके बाद जो बुद्धिमें अभेदका भान होता है, उसी बुद्धिमें प्रतिबिम्बित अभेदका नाम सामान्य है। यह बुद्धिप्रतिबिम्बित अभेद भी कोई विध्यात्मक धर्म नहीं है, किन्तु अतद्व्यावृत्तिरूप है। जिन व्यक्तियोंमें अमनुष्यव्यावृत्ति पाई जाती है उनमें 'मनुष्य मनुष्य' व्यवहार किया जाता है। जैसे चक्षु, आलोक और रूप आदि पदार्थ परस्परमें अत्यन्त भिन्न होकर भी अरूपज्ञानजननव्यावृत्ति होनेके कारण रूपज्ञानजनकरूपसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समान व्यवहारमें कारण हो जाते हैं, उसी तरह परस्परमें अत्यन्त भिन्न मनुष्यव्यक्तियाँ भी अमनुष्यव्यावृत्तिके कारण 'मनुष्य मनुष्य' ऐसा समान व्यवहार कर सकेंगी। इसी तरह अतत्कार्य-कारणव्यावृत्तिसे अनुगत व्यवहार होता है। प्रकृत मनुष्यव्यक्तियाँ मनुष्यके कारणोंसे उत्पन्न हुई हैं तथा मनुष्यके कार्योंको करती हैं, अतः उनमें अमनुष्यकारणव्यावृत्ति तथा अमनुष्यकार्यव्यावृत्ति पाई जाती है, इसीसे उनमें किसी वस्तुभूत सामान्यके बिना भी सदृश व्यवहार हो जाता है।

अकलंकदेव इसका खंडन करते हैं कि—सदृशपरिणामरूप विध्यात्मक सामान्यके माने बिना अपोह-का नियम ही नहीं हो सकता। जब एक शाबलेय गौव्यक्ति दूसरी बाहुलेय गौव्यक्ति से उतनी ही भिन्न है जितनी कि एक अश्वव्यक्तिसे, तब क्या कारण है कि अगोव्यावृत्ति शाबलेय और बाहुलेयमें ही 'गौ गौ' ऐसा अनुगत व्यवहार करती है अश्व में नहीं ? अतः यह मानना होगा कि शाबलेय गौ बाहुलेय गौसे उतनी भिन्न नहीं है जितनी अश्वसे, अर्थात् शाबलेय और बाहुलेयमें कोई ऐसा सादृश्य है जो अश्वमें नहीं पाया जाता। इसलिए सदृश परिणाम ही समान व्यवहारका नियामक हो सकता है। यह तो हम प्रत्यक्षसे ही देखते हैं कि—कोई वस्तु किसीसे समान है तथा किसीसे विलक्षण। बुद्धि समानधर्मोंकी अपेक्षासे अनुगत व्यवहार कराती है, तथा विलक्षण धर्मोंकी अपेक्षासे विसदृश व्यवहार। पर वह समानधर्म विध्यात्मक है निषेधात्मक नहीं। बौद्ध जब स्वयं अपरापरक्षणोंमें सादृश्यके कारण ही एकत्वका भान मानते हैं, शुक्तिका और चाँदीमें सादृश्यके कारण ही भ्रमोत्पत्ति स्वीकार करते हैं; तब अनुगत व्यवहारके लिए अतद्व्यावृत्ति जैसी निषेधमुखी कल्पनासे क्या लाभ ? क्योंकि उसका निर्वाह भी आखिर सदृश-परिणामके ही आधीन आ पड़ता है। बुद्धिमें अभेदका प्रतिबिम्ब वस्तुगत सदृश धर्मके माने बिना यथार्थता नहीं पा सकता। अतः सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए। इस तरह अकलंकदेवने सदृशपरिणामरूप तिर्यक्सामान्य, एकद्रव्यरूप ऊर्ध्वतासामान्य, भिन्नद्रव्योंमें विलक्षण व्यवहारका प्रयोजक विशेष और एक द्रव्यकी दो पर्यायों-में भेद व्यवहार करानेवाले पर्याय इन द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेष चार पदोंका उपादान करके प्रमाण-के विषयभूत पदार्थकी सम्पूर्णताका प्रतिपादन किया है।

भूतचैतन्यवाद निरास—चार्वाकका सिद्धान्त है कि—जीव कोई स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व नहीं है किन्तु पृथिवी, जल, अग्नि और वायुके अमुक प्रमाणमें विलक्षण रासायनिक मिश्रणसे ही उन्हीं पृथिव्यादिमें चैतन्यशक्ति आविर्भूत हो जाती है। इसी ज्ञानशक्तिविशिष्ट भूत-शरीरमें जीव व्यवहार होता है। जिस प्रकार कोदों, महुआ आदिमें जलादिका मिश्रण होनेसे मदिरा तैयार हो जाती है उसी तरह जीव एक रासायनिक मिश्रणसे बना हुआ संयुक्त-द्रव्य है स्वतन्त्र अखण्ड मूल-द्रव्य नहीं है। उस मिश्रणमेंसे अमुक तत्त्वोंकी कमी होने-पर जीवनीशक्तिके नष्ट होनेपर मृत्यु हो जाती है। अतः जीव गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त ही रहता है, परलोक तक जानेवाला नहीं है। उसको शरीरके साथ ही साथ क्या शरीरके पहिले ही इतिश्री हो जाती है, शरीर तो मृत्युके बाद भी पड़ा रहता है। "जलबुद्बुदवज्जीवाः, मदशक्तिवद्विज्ञानम्"—जलके बुद्बुदोंकी तरह जीव तथा महुआ आदिमें मादकशक्तिकी तरह ज्ञान उत्पन्न होता है—ये उनके मूल सिद्धान्तसूत्र हैं।

अकलंकदेव इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—यदि आत्मा-जीव स्वतन्त्र मूल-तत्त्व न हो तो संसार और मोक्ष किसे होगा ? शरीरावस्थाको प्राप्त पृथिव्यादि भूत तो इस लोकमें ही भस्मीभूत हो जाते हैं, परलोक तक कौन जायगा ? परलोकका अभाव तो नहीं किया जा सकता; क्योंकि आज भी बहुत लोग जातिस्मरण होनेसे अपने पूर्वभवकी तथ्यस्थितिका आँखोंदेखा हाल वर्णन करते हुए देखे जाते हैं। यक्ष, राक्षस, भूत पिशाचादि पर्यायोंमें पहुँचे हुए व्यक्ति अपनी वर्तमान तथा अतीतकालीन पूर्वपर्यायका समस्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृत्तान्त सुनाते हैं। जन्म लेते ही नवजातशिशुको माँके दूध पीनेकी अभिलाषा होती है। यह अभिलाषा पूर्वानुभावके बिना नहीं हो सकती; क्योंकि अभिलाषा पूर्वदृष्ट पदार्थकी सुखसाधनताका स्मरण करके होती है। अतः पूर्वानुभवका स्थान परलोक मानना चाहिये। "गर्भमें माँके द्वारा उपभुक्त भोजनादिसे बने हुए अमुक विलक्षण रसविशेषके ग्रहण करनेसे नवजातशिशुको जन्म लेते ही दुग्धपानकी ओर प्रवृत्ति होती है" यह कल्पना नितान्त युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि गर्भमें रसविशेषके ग्रहण करनेसे ही यदि अभिलाषा होती है तो गर्भमें एक साथ रहनेवाले, एक साथ ही रसविशेषको ग्रहण करनेवाले युगल पुत्रोंमें परस्पर प्रत्यभिज्ञान एवं अभिलाषा होनी चाहिए, एकके द्वारा अनुभूत वस्तुका दूसरेको स्मरण होना चाहिए। प्रत्येक पृथिवी आदि भूतमें तो चैतन्यशक्तिका आविर्भाव नहीं देखा जाता अतः समस्तभूतोंके अमुक मिश्रणमें ही जब एक विलक्षण अतीन्द्रिय स्वभावसिद्ध शक्ति माननी पड़ती है तब ऐसे विलक्षणशक्तिशाली अतीन्द्रिय आत्मतत्त्वके माननेमें ही क्या बाधा है? ज्ञान प्राणयुक्त शरीरका भी धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि अन्धकारमें शरीरका प्रत्यक्ष न होनेपर भी 'अहं ज्ञानवान्' इस प्रकारसे ज्ञानका अन्तः मानसप्रत्यक्ष होता है। यदि ज्ञानरूपसे शरीरका ग्रहण होता; तो कदाचित् ज्ञान शरीरका धर्म माना जाता। दूसरा व्यक्ति अपने नेत्रोंसे हमारे शरीरका ज्ञान कर लेता है पर शरीरके रूपादिकी तरह वह हमारे ज्ञानका ज्ञान नहीं कर सकता। शरीरमें विकार होनेपर भी बुद्धिमें विकार नहीं देखा जाता, शरीरकी पुष्टि या कमजोरीमें ज्ञानकी पुष्टि या कमजोरी नहीं देखी जाती, शरीरके अतिशय बलवान् होनेके साथ ही साथ बुद्धिबल बढ़ता हुआ नहीं देखा जाता, इत्यादि कारणोंसे यह सुनिश्चित है कि—ज्ञान शरीरका गुण नहीं है। ज्ञान, सुख आदि इन्द्रियोंके भी धर्म नहीं हो सकते; क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियोंकी अनुपयुक्त दशामें मनसे ही 'मैं सुखी हूँ' मैं 'दुःखी हूँ' यह मानस प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। चक्षुरादि इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट हो जानेपर भी मानस स्मरणज्ञान देखा जाता है। अतः जीवनशक्ति या ज्ञानशक्ति भूतोंका गुण या पर्याय नहीं हो सकती, वह तो आत्माकी ही पर्याय है। यह जीव ज्ञान-दर्शनादि उपयोगवाला है। सुषुप्तादि अवस्थाओंमें भी इसका ज्ञान नष्ट नहीं होता। अकलंकदेवने 'सुषुप्तादौ बुद्धः' इस पदका उपादान करके प्रज्ञाकरगुप्त आदिके 'सुषुप्तावस्थामें ज्ञान नष्ट या तिरोहित हो जाता है' इस सिद्धान्तका खंडन किया है। यह आत्मा प्राणादिको धारण करके जीता है इसलिए जीव कहलाता है। जीव स्वयं अपने कर्मोंका कर्ता तथा भोक्ता है। वही रागादिभावोंसे कर्मबन्धन करता है तथा वीतराग-परिणामोंसे कर्मबन्धन तोड़कर मुक्त हो जाता है। यह न तो सर्वव्यापी है और न बटबीजकी तरह अणुरूप ही; किन्तु अपने उपात्तशरीरके परिमाणानुसार मध्यम-परिमाणवाला है। कर्मसम्बन्धके कारण प्रदेशोंके संकोच-विस्तार होनेसे छोटे-बड़े शरीरके परिमाण होता रहता है।

गुण—इसी प्रसंगमें गुण और गुणीके सर्वथा भेदका खण्डन करते हुए लिखा कि—अर्थ अनेकधर्मात्मक है। उसका अखण्डरूपसे ग्रहण करना कदाचित् संभव है, पर कथन या व्यवहार तो उसके किसी खास रूप-धर्मसे ही होता है। इसी व्यवहारार्थ भेदरूपसे विवक्षित धर्मको गुण कहते हैं। गुण द्रव्यका ही परिणमन है, वह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। चूँकि गुण पदार्थके धर्म हैं अतः ये स्वयं निर्गुण—गुणशून्य होते हैं। यदि गुण स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय और वह भी द्रव्यसे सर्वथा भिन्न; तो 'अमुकगुण-ज्ञान अमुकगुणी-आत्मामें ही रहता है पृथिव्यादिमें नहीं' इसका नियामक कौन होगा? इसका नियामक तो यही है कि—ज्ञानका आत्मासे ही कथंचित्तादात्म्य है अतः वह आत्मामें ही रहता है पृथिव्यादिमें नहीं। वैशेषिकके मतमें 'एक गन्ध, दो रूप' आदि प्रयोग नहीं हो सकेंगे; क्योंकि गन्ध, रूप तथा संख्या आदि सभी गुण हैं, और गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। यदि आश्रयभूत द्रव्यकी संख्याका एकार्थसमवाय सम्बन्धके कारण रूपादिमें उपचार करके 'एक गन्ध'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रयोगका निर्वाह किया जायगा; 'तो एक द्रव्यमें रूपादि बहुत गुण हैं' यह प्रयोग असंभव हो जायगा; क्योंकि रूपादि बहुत गुणोंके आश्रयभूत द्रव्यमें तो एकत्वसंख्या है बहुत्वसंख्या नहीं। अतः गुणको स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर द्रव्यका ही धर्म मानना चाहिए। धर्म अपने आश्रयभूत धर्मीकी अपेक्षासे धर्म होनेपर भी अपनेमें रहनेवाले अन्य धर्मोंकी अपेक्षासे धर्मी भी हो जाता है। जैसे रूपगुण आश्रयभूत घटकी अपेक्षासे यद्यपि धर्म है पर अपनेमें पाये जानेवाले एकत्व, प्रमेयत्व आदि धर्मोंकी अपेक्षा धर्मी है। अतः जैन सिद्धान्तमें धर्म-धर्मिभावके अनियत होनेके कारण 'एक गन्ध दो रूप' आदि प्रयोग बड़ी आसानीसे बच जाते हैं। इति।

३. **नयनिरूपण**

जैनदृष्टिका आधार और स्थान—भारतीय संस्कृति मुख्यतः दो भागों में बाँटी जा सकती है—एक वैदिक संस्कृति और दूसरी उसके मुकाबिलेमें खड़ी हुई श्रमणसंस्कृति। वैदिकसंस्कृतिके आधारभूत वेदको प्रमाण माननेवाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा तथा औपनिषद आदि दर्शन हैं। श्रमणसंस्कृतिके शिलाधार वेदकी प्रमाणताका विरोध करनेवाले बौद्ध और जैनदर्शन हैं। वैदिकदर्शन तथा वैदिकसंस्कृतिके प्राणप्रतिष्ठानमें विचारोंकी प्रधानता है। श्रमणसंस्कृति एवं अवैदिक दर्शनोंकी उद्भूति आचारशोधनके प्रामुख्यसे हुई है। सभी दर्शनोंका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, और गौण या मुख्यरूपसे तत्त्वज्ञानको मोक्षका साधन भी सबने माना ही है। वैदिक संस्कृति तथा वैदिकदर्शनोंकी प्राणप्रतिष्ठा, संवर्द्धन एवं प्रौढ़ीकरणमें बुद्धिजीवी ब्राह्मणवर्गने पुश्तैनी प्रयत्न किया है जो आजतक न्यूनाधिक रूपमें चालू है। यही कारण है कि वैदिकदर्शनका कोषागार, उनकी सूक्ष्मता, तलस्पर्शिता, भावग्राहिता एवं पराकाष्ठाको प्राप्त कल्पनाओंका कोटिक्रम अपनी सानी कम रखता है। परम्परागत-बुद्धिजीवित्वशाली ब्राह्मणवर्गने अपनी सारी शक्ति कल्पना-जालका विकास करके वेदप्रामाण्यके समर्थन में लगाई और वैदिकक्रियाकाण्डोंके द्वारा गर्भसे लेकर मरण पर्यन्तके जीवनके प्रत्येकक्षणको इतना ओतप्रोत कर दिया जिससे मुकाबिलेमें खड़ी होनेवाली बौद्ध और जैनसंस्कृति भी पीछे जाकर इन क्रियाकाण्डोंसे अंशतः पराभूत हो गई।

श्रमणसंस्कृति वैदिक क्रियाकाण्ड, खासकर धर्मके नामपर होनेवाले अजामेध, अश्वमेध, नरमेध आदि हिंसाकाण्डका तात्त्विक एवं क्रियात्मक विरोध करनेके लिए उद्भूत हुई, और उसने इस क्षेत्रमें पर्याप्त सफलता भी पाई। श्रमणसंस्कृतिका आधार पूर्णरूपसे अहिंसा रही है। अहिंसाका वास्तविक रूप तो सचमुच आचारगत ही है। अहिंसाका विचार तो वैदिकदर्शनोंने भी काफी किया है पर विशिष्ट अपवादोंके साथ। श्रमणसंस्कृति अहिंसाका सक्रिय रूप थी। इस अहिंसाकी साधना तथा पूर्णताके लिए ही इसमें तत्त्वज्ञानका उपयोग हुआ, जब कि वैदिक संस्कृतिमें तत्त्वज्ञान साध्यरूपमें रहा है।

बौद्धदृष्टि—बुद्ध अहिंसाकी साधनाके लिए प्रारम्भमें छह वर्ष तक कठोर तपस्या करते हैं। जब उनका भावुक चित्त तपस्याकी उग्रतासे ऊब जाता है, तब वे विचार करते हैं कि—इतनी दीर्घतपस्याके बाद भी मुझे बोधिलाभ क्यों नहीं हुआ? यहीं उनकी तीक्ष्णदृष्टि 'मध्यम प्रतिपदा' को पकड़ लेती है। वे निश्चय करते हैं कि—यदि एक ओर वैदिक हिंसा तथा विषय भोग आदिके द्वारा शरीरके पोषणका बोलबाला है तो इस ओर भी अव्यवहार्य अहिंसा तथा भीषण कायक्लेशके द्वारा होनेवाला शरीरका शोषण हृदयकी कोमलभावनाओंके स्रोतको ही बन्द किए देता है। अतः इन दोनोंके मध्यका ही मार्ग सर्वसाधारणको व्यवहार्य हो सकता है। आन्तरिक शुद्धिके लिए ही बाह्य उग्रतपस्याका उपयोग होना चाहिए, जिससे बाह्यतप ही हमारा साध्य न बन जाय। दयालु बुद्ध इस मध्यममार्ग द्वारा अपने आचारको मृदु बनाते हैं और बोधिलाभ कर जगत्में मृदु-अहिंसाका सन्देश फैलाते हैं। तात्पर्य यह कि—बुद्धने अपने आचारकी मृदुता-



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समाधानके लिए 'मध्यमप्रतिपदा' का उपयोग किया। इस तत्त्वका उपयोग बुद्धने आखिर तक आचारके ही क्षेत्र तक सीमित रखा, उसे विचारके क्षेत्रमें दाखिल करनेका प्रयत्न नहीं हुआ। जब बोधिलाभ करनेके बाद संघरचनाका प्रश्न आया, शिष्यपरिवार दीक्षित होने लगा तथा उपदेशपरम्परा चालू हुई, तब भी बुद्धने किसी आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थका तात्त्विक विवेचन नहीं किया; किन्तु अपने द्वारा अनुभूत दुःखनिवृत्तिके मार्गका ही उपदेश दिया। जब कोई शिष्य उनसे आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थके विषयमें प्रश्न करता था तो वे स्पष्ट कह देते थे कि—"आवुस ! तुम इन आत्मा आदिको जानकर क्या करोगे ? इनके जाननेसे कोई फायदा नहीं है। तुम्हें तो दुःखसे छूटना है, अतः दुःख, समुदय—दुःखके कारण, निरोध-दुःखनिवृत्ति और मार्ग—दुःखनिवृत्तिका उपाय इन चार आर्यसत्योंको जानना चाहिए तथा आचरण कर बोधिलाभ करना चाहिए।" उन्हें बुद्धिजीवी ब्राह्मण वर्गकी तरह बैठेठाले अनन्त कल्पनाजाल रचके दर्शनशास्त्र बनानेके बजाय अहिंसाकी आंशिक साधना ही श्रेयस्कर मालूम होती थी। यही कारण है कि—वे दर्शनशास्त्रीय आत्मादि पदार्थोंके तत्त्वविवेचनके झगड़ेको निरुपयोगी समझकर उसमें नहीं पड़े। और उन्होंने अपनी मध्यम-प्रतिपदाका उपयोग उस समयके प्रचलितवादोंके समन्वयमें नहीं किया। उस समय आत्मादि पदार्थोंके विषयमें अनेकों वाद प्रचलित थे। कोई उसे कूटस्थ नित्य मानता था तो कोई उसे भूतविकारमात्र, कोई व्यापक कहता था तो कोई अणुरूप। पर बुद्ध इन सब वादोंके खंडन-मंडनसे कोई सरोकार ही न रखते थे, वे तो केवल अहिंसाकी साधनाकी ही रट लगाए हुए थे।

पर जब कोई शिष्य अपने आचरण तथा संघके नियमोंमें मृदुता लानेके लिए उनके सामने अपनी कठिनाइयाँ पेश करता था कि—"भन्ते ! आजकल वर्षाकाल है, एक संघाटक-चीवर रखनेसे तो वह पानीमें भींग जाता है, और उससे शीतकी बाधा होती है। अतः दो चीवर रखनेकी अनुज्ञा दी जाय। हमें बाहिर स्नान करते हुए लोक-लाजका अनुभव होता है, अतः जन्ताघर (स्नानगृह) बनानेकी अनुज्ञा दी जाय इत्यादि" तब बुद्धका मातृहृदय अपने प्यारे बच्चोंकी कठिनाइयाँ सुनकर तुरन्त पसीज जाता था। वे यहाँ अपनी 'मध्यमप्रतिपदा' का उपयोग करते हैं और उनकी कठिनाइयाँ हल करनेके लिए उन्हें अनुज्ञा दे देते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि—बुद्धकी मध्यमप्रतिपदा केवल आचारकी समाधानीके लिए उपयुक्त होती थी, वह आचारका व्यवहार्यसे व्यवहार्य मार्ग ढूँढ़ती थी। उसने विचारके अपरिमित क्षेत्रमें अपना कार्य बहुत कम किया।

जब बुद्धने स्वयं 'मध्यमप्रतिपदा' विचारके क्षेत्रोंमें दाखिल नहीं किया तब उत्तरकालीन बौद्धाचार्योंसे तो इसकी आशा ही नहीं की जा सकती थी। बुद्धके उपदेशोंमें आए हुए क्षणिक, निरात्मक, विभ्रम, परमाणुपुञ्ज, विज्ञान, शून्य आदि एक-एक शब्दको लेकर उत्तरकालीन बौद्धाचार्योंने अनन्त कल्पनाजालसे क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, विभ्रमवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि वादोंको जन्म देकर दर्शनक्षेत्रमें बड़ा भारी तूफान मचा दिया। यह तूफान मामूली नहीं था, इससे वैदिक दर्शनोंकी चिरकालीन परम्परा काँप उठी थी। बुद्धने तो मार-काम विजयके लिए, विषय-कषायोंको शान्तकर चित्त शोधनके लिए जगत्को जलबुद्बुदकी तरह क्षणिक-विनाशशील कहा था। निरात्मक शब्दका प्रयोग तो इसलिए था कि—'यह जगत् आत्मस्वरूपसे भिन्न है, नित्य कूटस्थ कोई आत्मा नहीं है जिसमें राग किया जाय, जगत्में आत्माका हितकारक कुछ नहीं है' आदि समझकर जगत्से विरक्ति हो। संसारको स्वप्नकी तरह विभ्रम एवं शून्य भी इसीलिए कहा था कि—उससे चित्तको हटाकर चित्तको विशुद्ध किया जाय। स्त्री आदि रागके साधन पदार्थोंको एक, नित्य, स्थूल, अमुक संस्थानवाली, वस्तु समझकर उसके मुख आदि अवयवोंका दर्शन-स्पर्शनकर रागद्वेषादिकी अमरबेल फूलती है। यदि उन्हें स्थूल अवयवी न समझकर परमाणुओंका पुंज ही समझा जायगा तो जैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिट्टीके ढेलेमें हमें राग नहीं होता उसी तरह स्त्री आदिसे विरक्त होनेमें चित्तको मदद मिलेगी। इन्हीं पवित्र मुमुक्षुभावनाओंको सुभावित करनेके लिए करुणामय बुद्धके हृदयग्राही उपदेश होते थे। उत्तरकालमें इन मुमुक्षुभावनाओंका लक्ष्य यद्यपि वही रहा पर समर्थनका ढंग बदला। उसमें परपक्षका जोरोंसे खंडन शुरू हुआ तथा बुद्धिकल्पित विकल्पजालोंसे बहुविध पन्थों और ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। इन बुद्धिवाग्वैभवशाली आचार्योंने बुद्धकी उस मध्यमप्रतिपदाका इस नए क्षेत्रमें जरा भी उपयोग नहीं किया। मध्यमप्रतिपदा शब्दका अपने ढंगसे शाब्दिक आदर तो किया पर उसके प्राणभूत समन्वयके तत्त्वका बुरी तरह कचूमर निकाल डाला। विज्ञानवादियोंने मध्यमप्रतिपदाको विज्ञानस्वरूप कहा तो विभ्रमवादियोंने उसे विभ्रमरूप। शून्यवादियोंने तो मध्यमप्रतिपदाको शून्यताका पर्यायवाची ही लिख दिया है—

"मध्यमा प्रतिपत् सैव सर्वधर्मनिरात्मता। भूतकोटिश्च सैवेयं तथता सर्वशून्यता।"

—अर्थात् सर्वशून्यताको ही सर्वधर्मनैरात्म्य तथा मध्यमा प्रतिपत् कहते हैं। यही वास्तविक तथा तथ्यरूप है।

इन अहिंसाके पुजारियोंने मध्यमप्रतिपदाके द्वारा वैदिक संस्कृतिका समन्वय न करके उसपर ऐकान्तिक प्रहार कर पारस्परिक मनोमालिन्य-हिंसाको ही उत्तेजन दिया। इससे वैदिक संस्कृति तथा बौद्ध संस्कृतिके बीच एक ऐसी अभेद्य दीवार खड़ी हो गई जिसने केवल दार्शनिक क्षेत्रमें ही नहीं किन्तु राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रमें भी दोनोंको सदाके लिए आत्यन्तिक विभक्त कर दिया। इसके फलस्वरूप प्राणोंकी बाजी लगाकर अनेकों शास्त्रार्थ हुए तथा राजनैतिक जीवनमें इस कालकूटने प्रवेशकर अनेकों राजवंशोंका सत्यानाश किया। उत्तरकालमें बौद्धाचार्योंने मन्त्र-तन्त्रोंकी साधना इसी हिंसाके उत्तेजनके लिए की और आखिर इसी हिंसाज्वालासे भारतवर्षमें बौद्धोंका अस्तित्व खाकमें मिल गया। यदि मध्यमा प्रतिपद्ने इस दार्शनिक क्षेत्रमें भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया होता तो आज उसकी अहिंसक किरणोंसे दर्शनशास्त्रका कुछ दूसरा ही रूप हुआ होता, और भारतवर्षका मध्यकालीन इतिहास सचमुच स्वर्णाक्षरोंमें लिखा जाने लायक होता।

जैनदृष्टि—भगवान् महावीर अत्यन्त कठिन तपस्या करनेवाले तपःशूर थे। इन्होंने अपनी उग्र तपस्यासे कैवल्य प्राप्त किया। ये इतने दृढ़तपस्वी तथा कष्टसहिष्णु व्यक्ति थे कि इन्हें बुद्धकी तरह अपनी व्यक्तिगत तपस्यामें मृदुता लानेके लिए मध्यममार्गके उपयोगकी आवश्यकता ही नहीं हुई। इनकी साधना कायिक अहिंसाके सूक्ष्मपालनके साथ ही साथ वाचनिक और खासकर मानस अहिंसाकी पूर्णताकी दिशामें थी। भगवान् महावीर पितृचेतस्क व्यक्ति थे, अतः इनका आचारके नियमोंमें अत्यन्त दृढ़ एवं अनुशासनप्रिय होना स्वाभाविक था। पर संघमें तो पंचमेल व्यक्ति दीक्षित होते थे। सभी तो उग्रमार्गके द्वारा साधना करनेमें समर्थ नहीं हो सकते थे अतः इन्होंने अपनी अनेकान्तदृष्टिसे आचारके दर्जे निश्चित कर चतुर्विधसंघका निर्माण किया। और प्रत्येक कक्षाके योग्य आचारके नियम स्थिरकर उनके पालन करानेमें ढिलाई नहीं की। भग० महावीरकी अनेकान्तदृष्टिने इस तरह आचारके क्षेत्रमें सुदृढ़ संघनिर्माण करके तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया।

अनेकान्तदृष्टिका आधार—भगवान् महावीरने बुद्धकी तरह आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके स्वरूपनिरूपणमें मौन धारण नहीं किया; किन्तु उस समयके प्रचलित वादोंका समन्वय करनेवाला वस्तुस्वरूपस्पर्शी उत्तर दिया कि—आत्मा है भी, नहीं भी, नित्य भी, अनित्य भी, आदि। यह अनेकान्तात्मक वस्तुका कथन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनकी मानसी अहिंसाका प्रतिफल है। अन्यथा वे बुद्धकी तरह इस चर्चाको अनुपयोगी कह सकते थे। कायिक अहिंसाके लिए जिस तरह व्यक्तिगत सम्यगाचार आवश्यक है, उसी तरह वाचनिक और खासकर मानस अहिंसाके लिए अनेकान्तदृष्टि विशेषरूपसे उपासनीय है। जब तक दो विभिन्न विचारोंका अनेकान्तदृष्टिसे वस्तुस्थितिके आधारपर समीकरण न होगा तब तक हृदयमें उनका अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहेगा, और उन विचारोंके प्रयोजकोंके प्रति राग-द्वेषका भाव जाग्रत् हुए बिना न रहेगा। इस मानस अहिंसाके बिना केवल बाह्य अहिंसा याचितकमंडनरूप ही है। यह तो और भी कठिन है कि—'किसी वस्तुके विषयमें दो मनुष्य दो विरुद्ध धारणाएँ रखते हों, और उनका अपने-अपने ढंगसे समर्थन ही नहीं उसकी सिद्धिके लिए वाद-विवाद भी करते हों, फिर भी वे एक-दूसरेके प्रति समताभाव-मानस अहिंसा रख सकें।' भगवान् महावीरने इसी मानसशुद्धिके लिए, अनिर्वचनीय अखण्ड अनन्तधर्मा वस्तुके एक-एक अंशको ग्रहण करके भी पूर्णताका अभिमान करनेके कारण विरुद्धरूपसे भासमान अनेक दृष्टियोंका समन्वय करनेवाली, विचारोंका वास्तविक समझौता करानेवाली, पुण्यरूपा अनेकान्तदृष्टिको सामने रखा। जिससे एक वादी इतरवादियोंकी दृष्टिका तत्त्व समझकर उसका उचित अंश तक आदर करे, उसके विचारोंके प्रति सहिष्णुताका परिचय दे, और राग-द्वेषविहीन हो शान्त चित्तसे वस्तुके पूर्णस्वरूप तक पहुँचनेकी दिशामें प्रयत्न करे। समाजरचना या संघनिर्माणमें तो इस तत्त्वकी खास आवश्यकता थी। संघमें तो विभिन्न सम्प्रदाय एवं विचारोंके चित्रविचित्र व्यक्ति दीक्षित होते थे। उनका समीकरण इस यथार्थदृष्टिके बिना कर सकना अत्यन्त कठिन था, और समन्वय किए बिना उनके चित्तकी स्थिरता संभव ही नहीं थी। ऊपरी एकीकरणसे तो कभी भी विस्फोट हो सकता था और इस तरह अनेकों संघ छिन्न-भिन्न हुए भी।

अनेकान्तदृष्टिके मूलमें यह तत्त्व है कि—वस्तु स्वरूपतः अनिर्वचनीय है, अनन्तधर्मोंका एक अखण्ड पिण्ड है। वचन उसके पूर्ण स्वरूपकी ओर इशारा तो कर सकते हैं, पर उसे पूर्णरूपसे कह नहीं सकते। लिहाजा एक ही वस्तुको विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोणोंसे देखते हैं तथा उनका निरूपण करते हैं। इसलिए यदि विरोध भासित हो सकता है तो एक-एक अंशको ग्रहण करके भी अपनेमें पूर्णताका अभिमान करनेवाली दृष्टियोंमें ही। जब हम एक अंशको जाननेवाली अपनी दृष्टिमें पूर्णताका अभिमान कर बैठेंगे तो सहज ही द्वितीय अंशको जानकर भी पूर्णताभिमानिनी दूसरी दृष्टि उससे टकराएगी। यदि अनेकान्तदृष्टिसे हमें यह मालूम हो जाय कि—ये सब दृष्टियाँ वस्तुके एक-एक धर्मोंको ग्रहण करनेवाली हैं, इनमें पूर्णताका अभिमान मिथ्या है तब स्वरसतः द्वितीय दृष्टिको, जो अभी तक विरुद्ध भासित होती थी, उचित स्थान एवं आदर मिल जायगा। इसीको आचार्योंने शास्त्रीय शब्दोंमें कहा है कि—'एकान्त वस्तुगत धर्म नहीं है, किन्तु बुद्धिगत है। अतः बुद्धिके शुद्ध होते ही एकान्तका नामोनिशान भी नहीं रहेगा।' इसी समन्वयात्मक दृष्टिसे होनेवाला वचनव्यवहार स्याद्वाद कहलाता है। यह अनेकान्त-ग्राहिणी दृष्टि प्रमाण कही जाती है। जो दृष्टि वस्तुके एक धर्मको ग्रहण करके भी इतरधर्मग्राहिणी दृष्टियोंका प्रतिक्षेप नहीं करके उन्हें उचित स्थान दे वह नय कहलाती है। इस तरह मानस अहिंसाके कार्य-कारणभूत अनेकान्तदृष्टिके निर्वाह एवं विस्तारके लिए स्याद्वाद, नयवाद, सप्तभंगी आदि विविध रूपोंमें उत्तरकालीन आचार्योंने खूब लिखा। उन्होंने उदारतापूर्वक यहाँ तक लिखा है कि—'समस्त मिथ्यैकान्तोंका समूह ही अनेकान्त है, समस्त पाखण्डों-के समुदाय अनेकान्तकी जय हो।' यद्यपि पातञ्जलदर्शन, भास्करीयवेदान्त, भाट्ट आदि दर्शनोंमें भी इस समन्वयदृष्टिका उपयोग हुआ है; पर स्याद्वादके ऊपर ही संख्याबद्ध शास्त्रोंकी रचना जैनाचार्योंने ही की है। उत्तरकालीन जैनाचार्योंने यद्यपि भगवान् महावीरकी उसी पुनीत अनेकान्तदृष्टिके अनुसार ही शास्त्ररचना की है; पर वह मध्यस्थभाव अंशतः परपक्षखंडनमें बदल गया। यद्यपि यह आवश्यक था कि—प्रत्येक एकान्तमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोष दिखाकर अनेकान्तकी सिद्धि की जाय, फिर भी उसका सूक्ष्म पर्य्यवेक्षण हमें इस नतीजेपर पहुँचाता है कि भगवान् महावीरकी वह मानस अहिंसा ठीक शत-प्रतिशत उसी रूपमें तो नहीं ही रही।

विचार विकासकी चरमरेखा—भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें अनेकान्तदृष्टिके आधारसे वस्तुके स्वरूपके प्ररूपक जैनदर्शनको हम विचारविकासकी चरमरेखा कह सकते हैं। चरमरेखासे मेरा तात्पर्य यह है कि—दो विरुद्ध वादोंमें तब तक शुष्कतर्कजन्य कल्पनाओंका विस्तार होता जायगा जब तक कि उनका कोई वस्तुस्पर्शी हल-समाधान न हो जाय। जब अनेकान्तदृष्टि उनमें सामञ्जस्य स्थापित कर देगी तब झगड़ा किस और शुष्क तर्कजाल किसलिए? तात्पर्य यह है कि जब तक वस्तुस्थिति स्पष्ट नहीं होती तब तक विवाद बातका बराबर बढ़ता ही जाता है। जब वह वस्तु अनेकान्तदृष्टिसे अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी तब वादोंका स्रोत अपने आप सूख जायगा।

स्वतःसिद्ध न्यायाधीश—इसलिए हम अनेकान्तदृष्टिको न्यायाधीशके पदपर अनायास ही बैठा सकते हैं। यह दृष्टि न्यायाधीशकी तरह उभयपक्षको समुचित रूपसे समझकर भी अपक्षपातिनी है। यह मौजूदा यावत् विरोधी वादरूपी मुद्दई मुद्दाहलोंका फैसला करनेवाली है। यह हो सकता है कि—कदाचित् इस दृष्टिके उचित उपयोग न होनेसे किसी फैसलेमें अपीलको अवसर मिल सके। पर इसके समुचित उपयोगसे होनेवाले फैसलेमें अपीलकी कोई गुंजाइश नहीं रहती। उदाहरणार्थ—देवदत्त और यज्ञदत्त मामा-फुआके भाई हैं। रामचन्द्र देवदत्तका पिता है तथा यज्ञदत्तका मामा। यज्ञदत्त और देवदत्त दोनों ही बड़े बुद्धिशाली लड़के हैं। देवदत्त जब रामचन्द्रको पिता कहता है तब यज्ञदत्त देवदत्तसे लड़ता है और कहता है कि—रामचन्द्र तो मामा है तू उसे पिता क्यों कहता है? इसी तरह देवदत्त भी यज्ञदत्तसे कहता है कि—वाह! रामचन्द्र तो पिता है उसे मामा नहीं कह सकते। दोनों शास्त्रार्थ करने बैठ जाते हैं। यज्ञदत्त कहता है कि—देखो, रामचन्द्र मामा हैं, क्योंकि वे हमारी माँके भाई हैं, हमारे बड़ेभाई भी उसे मामा ही तो कहते हैं आदि। देवदत्त कहता है—वाह! रामचन्द्र तो पिता है, क्योंकि उसके भाई हमारे चाचा होते हैं, हमारी माँ उसे स्वामी कहती है आदि। इतना ही नहीं, दोनोंमें इसके फलस्वरूप हाथापाई हो जाती है। एक दूसरेका कट्टर शत्रु बन जाता है। अनेकान्तदृष्टिवाला रामचन्द्र पासके कमरेसे अपने होनहार लड़कोंकी कल्पनाशक्ति एवं बुद्धिपटुतासे प्रसन्न होकर भी उसके फलस्वरूप होनेवाली हिंसा-मारपीटसे खिन्न हो जाता है। वह उन दोनोंकी गलती समझ जाता है और उन्हें बुलाकर धीरेसे समझाता है—बेटा देवदत्त, यह ठीक है कि मैं तुम्हारा पिता हूँ, पर केवल तुम्हारा पिता ही तो नहीं हूँ, इसका मामा भी तो हूँ। इसी तरह यज्ञदत्तको समझाता है कि—बेटा यज्ञदत्त, तुम भी ठीक कहते हो, मैं तुम्हारा तो मामा ही हूँ, पर यज्ञदत्तका पिता भी तो हूँ। यह सुनते ही दोनों भाइयोंकी दृष्टि खुल जाती है। वे झगड़ना छोड़कर आपसमें बड़े हेलमेलसे रहने लगते हैं। इस तरह हम समझ सकते हैं कि—एक-एक धर्मके समर्थनमें वस्त्वंशको लेकर गढ़ी गई दलीलें तब तक बराबर चालू रहेंगी और एक-दूसरेका खंडन ही नहीं किन्तु उससे होनेवाले रागद्वेष—हिंसाकी परम्परा बराबर चलेगी जब तक कि अनेकान्तदृष्टि उनकी चरमरेखा बनाकर समन्वय न कर देगी। इसके बाद तो मस्तिष्कके व्यायामस्वरूप दलीलोंका दलदल अपने आप सूख जायगा।

प्रत्येक पक्षके वकीलों द्वारा अपने पक्षसमर्थनके लिए सङ्कलित दलीलोंकी फाइलकी तरह न्यायाधीशका फैसला भले ही आकार में बड़ा न हो; पर उसमें वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता एवं सूक्ष्मताके साथ ही साथ निष्पक्षपातिता अवश्य ही रहती है। उसी तरह एकान्तके समर्थनमें प्रयुक्त दलीलोंके भण्डारभूत एकान्तवादी दर्शनोंकी तरह जैनदर्शनमें कल्पनाओंका चरम विकास न हो और न उसका परिमाण ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक हो; पर उसकी वस्तुस्पर्शिता, व्यावहारिकता, तटस्थवृत्ति एवं अहिंसाधारतामें तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता। हो सकता है कि उत्तरकालमें मध्यकालीन आचार्यों द्वारा अंशतः परपक्ष खंडनमें पड़नेके कारण उस मध्यस्थताका उसरूपमें निर्वाह न हुआ हो; पर वह दृष्टि उनके पास सदा जाग्रत् रही, और उसीके श्रेयःप्रकाशमें उन्होंने परपक्षको भी नयदृष्टिसे उचित स्थान दिया। जिस तरह न्यायाधीशके फैसलेके उपक्रममें उभयपक्षीय वकीलोंकी दलीलोंके बलाबलकी जाँचमें एक दूसरेकी दलीलोंका यथा-संभव उपयोग होकर अन्तमें उनके निःसार भागकी समालोचनापूर्वक व्यवहार्य फैसला होता है। उसी तरह जैनदर्शनमें एक एकान्तके खण्डनार्थ या उसके बलाबलकी जाँचके लिए द्वितीय एकान्तवादीकी दलीलों-का पर्याप्त उपयोग देखा जाता है। अन्तमें उनकी समालोचना होकर उनका समन्वयात्मक फैसला दिया गया है। एकान्तवादी दर्शनोंके समन्वयात्मक फैसलेकी ये मिसलें ही जैनदर्शनशास्त्र हैं।

बात यह है कि—भगवान् महावीर कार्यशील अहिंसक व्यक्ति थे। वे वादी नहीं थे किन्तु सन्त थे। उन्हें वादकी अपेक्षा कार्य-सदाचरण अधिक पसन्द था, और जब तक हवाई बातोंसे कार्योपयोगी व्यवहार्य मार्ग न निकाला जाय तब तक कार्य होना ही कठिन था। मानस-अहिंसाके संवर्द्धन, परिपोषणके लिए अनेकान्तदृष्टिरूपी संजीवनीकी आवश्यकता थी। वे बुद्धिजीवी या कल्पनालोकमें विचरण करनेवाले नहीं थे। उन्हें तो सर्वाङ्गीण अहिंसाप्रचारका सुलभ रास्ता निकाल कर जगत्को शान्तिका सहज सन्देश देना था। उन्हें मस्तिष्कके शुष्क कल्पनात्मक व्यायामकी अपेक्षा हृदयसे निकली हुई व्यवहार्य अहिंसाकी छोटी-सी आवाज ही अधिक कारगर मालूम होती थी। यह ठीक है कि—बुद्धिजीवीवर्ग जिसका आचरणसे विशिष्ट सम्पर्क न हो, बैठेठाले अनन्तकल्पना जालसे ग्रन्थ गूँथा करे और यही कारण है कि—बुद्धिजीवीवर्ग द्वारा वैदिक दर्शनोंका पर्याप्त प्रसार हुआ। पर कार्यक्षेत्रमें तो केवल कल्पनाओंसे ही निर्वाह नहीं हो सकता था; वहाँ तो व्यवहार्य मार्ग निकाले बिना चारा ही नहीं था। भग० महावीर ने अनेकान्तदृष्टि रूप, जिसे हम जैनदर्शनकी जान कहते हैं, एक वह व्यवहार्यमार्ग निकाला जिसके समुचित उपयोगसे मानसिक, वाचिक तथा कायिक अहिंसा पूर्णरूपसे पाली जा सकती है। इस तरह भग० महावीरकी यह अहिंसास्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शनके भव्य प्रासादका मध्यस्तम्भ है। इसीसे जैनदर्शनकी प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शनशास्त्र सचमुच इस अतुलसत्यको पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शनने इस अनेकान्तदृष्टिके आधारसे बनी हुए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्रके कोषागारमें अपनी ठोस और पर्याप्त पूँजी जमा की है। पूर्वकालीन युगप्रधान समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकोंने इसी दृष्टिके समर्थन द्वारा सत्-असत्, नित्यत्वानित्यत्व, भेदाभेद, पुण्य-पापप्रकार, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ, आदि विविध-वादोंमें पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया। मध्यकालीन अकलंक, हरिभद्र आदि तार्किकोंने अंशतः परपक्षका खण्डन करके भी उसी दृष्टि को, प्रौढ़ किया। इसी दृष्टिके विविध प्रकारसे उपयोगके लिए सप्तभंगी, नय, निक्षेप आदिका निरूपण हुआ। इस तरह भग० महावीरने अपनी अहिंसाकी पूर्णसाधनाके लिए अनेकान्तदृष्टिका आविर्भाव करके जगत्को वह ध्रुवबीजमन्त्र दिया जिसका समुचित उपयोग संसारको पूर्ण सुख-शान्तिका लाभ करा सकता है।

नय—जब भग० महावीरने मानस अहिंसाकी पूर्णताके लिए अनेकान्तदृष्टिका सिद्धान्त निकाला, तब उसको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए कुछ तफसीली बातें सोचना आवश्यक हो गया कि कैसे इस दृष्टिसे प्रचलित वादोंका उचित समीकरण हो? इस अनेकान्तदृष्टिकी कामयाबीके लिए किए गए मोटे-मोटे नियमोंका नाम नय है। साधारणतया विचार-व्यवहार तीन प्रकार के होते हैं—१. ज्ञानाश्रयी, २. अर्थाश्रयी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. शब्दाश्रयी। कोई व्यक्ति ज्ञानकी सीमामें ही अपने विचारोंको दौड़ाता है उसे अर्थकी स्थितिकी कोई परवाह ही नहीं रहती। ऐसे मनसूबा बाँधनेवाले, हवाई किले बनानेवाले, शेखचिल्लीकी तरह विचारोंकी धुनमें ही मस्त रहनेवाले लोग अपने विचारोंको ज्ञान ही ज्ञान – कल्पनाक्षेत्रमें ही दौड़ाते रहते हैं। दूसरे प्रकारके लोग अर्थानुसारी विचार करते हैं। अर्थमें एक ओर एक, नित्य और व्यापीरूपसे चरम अभेदकी कल्पना की जा सकती है, तो दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेदकी कल्पना। तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियोंके मध्यकी है। पहिली प्रकारकी कोटिमें सर्वथा अभेद-एकत्व स्वीकार करनेवाले औपनिषद अद्वैतवादी हैं, तो दूसरी ओर वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक, निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं। तीसरी कोटिमें पदार्थको नानारूपसे व्यवहारमें लानेवाले नैयायिक, वैशेषिक आदि हैं। तीसरे प्रकारके व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री, जिन्हें शब्दोंके बालकी खाल खींचनेमें ही मजा आता है। ये लोग एक अर्थकी हर एक हालतमें विभिन्न शब्दके प्रयोगको मानते हैं। इनका तात्पर्य है कि—भिन्नकालवाचक, भिन्न कारकोंमें निष्पन्न, भिन्न वचनवाले, भिन्नपर्यायवाचक, भिन्नक्रियावाचक शब्द एक अर्थको नहीं कह सकते। शब्दभेदसे अर्थ भेद होना ही चाहिए। उपर्युक्त ज्ञान, अर्थ और शब्दका आश्रय लेकर होनेवाले विचारोंके समन्वयके लिए किए गए स्थूल मूल नियमोंको नय कहते हैं।

इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहारका संकल्प-विचारमात्रको ग्रहण करनेवाले नैगमनयमें समावेश हुआ। अर्थाश्रित अभेदव्यवहारका, जो "आत्मैवेदं सर्वम्, एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्" आदि उपनिषद्वाक्योंसे प्रकट होता है, संग्रहनयमें अन्तर्भाव किया गया। इसके आगे तथा एकपरमाणुकी वर्तमानकालीन एक अर्थपर्यायसे पहिले होनेवाले यावद् मध्यवर्ती भेदोंका जिनमें न्याय वैशेषिकादि दर्शन शामिल हैं, व्यवहारनयमें समावेश किया। अर्थकी आखिरी देशकोटि परमाणुरूपता तथा कालकोटि क्षणमात्रस्थायिताको ग्रहण करनेवाली बौद्धदृष्टि ऋजुसूत्रनयमें शामिल हुई। यहाँ तक अर्थको सामने रखकर भेदाभेद कल्पित हुए हैं। अब शब्दशास्त्रियोंका नम्बर आया। काल, कारक, संख्या तथा धातुके साथ लगनेवाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदिकी दृष्टिसे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, इस कालकारकादिवाचक शब्दभेदसे अर्थभेद ग्रहण करनेवाली दृष्टिका शब्दनयमें समावेश हुआ। एक ही साधनमें निष्पन्न तथा एककालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं, इन पर्यायवाची शब्दोंसे भी अर्थभेद माननेवाली समभिरूढनयकी दृष्टि है। एवंभूतनय कहता है कि जिस समय जो अर्थ जिस क्रियामें परिणत हो उसी समय उसमें तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिए। इसकी दृष्टिसे सभी शब्द क्रियासे निष्पन्न हैं। गुणवाचक शुक्ल शब्द भी शुचिभवनरूप क्रियासे, जातिवाचक अश्वशब्द आशुगमनरूप क्रियासे, क्रियावाचक चलति शब्द चलने रूप क्रियासे, नामवाचक यदृच्छा शब्द देवदत्त आदि भी 'देवने इसको दिया' इस क्रियासे निष्पन्न हुए हैं। इस तरह ज्ञान, अर्थ और शब्दरूपसे होनेवाले यावद्व्यवहारोंका समन्वय इन नयोंमें किया गया है। पर यह समन्वय एक खास शर्तपर हुआ है। वह शर्त यह है कि—कोई भी दृष्टि अपनी प्रतिपक्षी दृष्टिका निराकरण नहीं कर सकेगी। इतना हो सकता है कि एक-अभेद अंशकी मुख्यता होनेपर दूसरी-भेददृष्टि गौण हो जाय। यही सापेक्षभाव नयका प्राण है। इस सापेक्षताके अभावमें नयदृष्टि सुनयरूप न रहकर दुर्नय बन जाती है। "सापेक्षो नयः, निरपेक्षो दुर्नयः" यह स्पष्ट ही कहा है।

इस संक्षिप्त कथनमें यदि सूक्ष्मतासे देखा जाय तो दो प्रकारकी दृष्टियाँ ही मुख्यरूपसे कार्य करती हैं—एक अभेददृष्टि और दूसरी भेददृष्टि। इन दृष्टियोंका आधार चाहे ज्ञान हो या अर्थ अथवा शब्द, पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पना अभेद या भेद दो ही रूपसे की जा सकती है। उस कल्पनाका प्रकार चाहे कालिक, दैशिक या स्वारूपिक कुछ भी क्यों न हो। इन दो मूल आधारोंको द्रव्यनय और पर्यायनय नामसे व्यवहृत किया है। देश, काल तथा आकार जिस किसी भी रूपसे अभेद ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है तथा भेदग्राही पर्यायार्थिक नय है। इन्हें मूलनय कहते हैं; क्योंकि समस्त विचारोंका मूल आधार यही दो नय होते हैं। नैगमादि नय तो इन्हींकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं। द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक, निश्चय-व्यवहार, शुद्धनय-अशुद्धनय आदि शब्द इन्हींके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।

चूँकि नैगमनय संकल्पमात्रग्राही है, तथा संकल्प या तो अर्थके अभेद अंशको विषय करता है या भेद अंशको। इसीलिए अभेदसंकल्पी नैगमका संग्रहनयमें तथा भेदसंकल्पी नैगमका व्यवहारनयमें अन्तर्भाव करके आचार्य सिद्धसेनने नैगमनयको स्वतन्त्र नय नहीं माना है। इनके मतसे संग्रहादि छह ही नय हैं।

अकलंकदेवने नैगमनयको अर्थनय मानकर ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नयोंका अर्थनयरूपसे तथा शब्द आदि तीन नयोंका शब्दनयरूपसे विभाग किया है। नय तथा दुर्नयका निम्न लक्षण समझना चाहिए—भेदाभेदात्मक, उत्पादव्ययध्रौव्यरूप, समान्यविशेषात्मक पदार्थ अखण्डरूपसे प्रमाणका विषय होता है। उसके किसी एक धर्मको मुख्य तथा इतरधर्मोंको गौणरूपसे वियय करनेवाला ज्ञाताका अभिप्राय नय कहलाता है। जब वही अभिप्राय इतरधर्मोंको गौण नहीं करके उनका निरास करने लगता है तब वह दुर्नय कहलाता है। तात्पर्य यह कि—प्रमाणमें अनेकधर्मवाली पूर्ण वस्तु विषय होती है, नयमें एक धर्म मुख्यरूपसे विषय होकर भी इतरधर्मोंके प्रति उपेक्षा-गौणता रहती है, जबकि दुर्नय इतरधर्मोंका ऐकान्तिक निरास कर देता है।

**नैगम-नैगमाभास**—यद्यपि अकलंकदेवने राजवार्तिकमें सर्वार्थसिद्धिके अनुसार नैगमनयका 'सङ्कल्पमात्रग्राही' यह ज्ञानाश्रितव्यवहारका समन्वय करनेवाला लक्षण किया है, पर लघीयस्त्रयमें वे नैगमनयको अर्थकी परिधिमें लाकर उसका यह लक्षण करते हैं—"गुण-गुणी या धर्म-धर्मीमें किसी एकको गौण तथा दूसरेको मुख्यतासे ग्रहण करनेवाला नैगमनय है। जैसे जीवके स्वरूपनिरूपणमें ज्ञानादिगुण गौण होते हैं तथा ज्ञानादिगुणोंके ही वर्णनमें जीव।" गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा सामान्य-विशेषमें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि—गुण-गुणीसे अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखता और न गुणोंकी उपेक्षा करके गुणी अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इनमें कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही समुचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान्, तथा सामान्य-विशेषमें भी कथञ्चित्तादात्म्य ही सम्बन्ध है। यदि गुण आदि गुणी आदिसे बिलकुल भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हों; तो उनमें नियत सम्बन्ध न होनेके कारण गुण-गुण्यादिभाव नहीं बन सकेगा। अवयवी यदि अवयवोंसे सर्वथा पृथक् है; तो उसकी अपने अवयवोंमें वृत्ति—सम्बन्ध माननेमें अनेकों दूषण आते हैं। यथा—अवयवी अपने प्रत्येक अवयवोंमें यदि पूर्णरूपसे रहता है; तो जितने अवयव हैं उतने ही स्वतन्त्र अवयवी सिद्ध होंगे। यदि एकदेश से रहेगा; तो जितने अवयव हैं अवयवीके उतने ही देश मानना होंगे, उन देशोंमें भी वह 'सर्वात्मना रहेगा या एक देशसे' इत्यादि विकल्प होनेसे अनवस्था दूषण आता है।

सत्तासामान्यका अपनी व्यक्तियोंसे सर्वथा भेद माननेपर, सत्तासम्बन्धसे पहिले द्रव्य, गुण और कर्म व्यक्तियोंको सत् माना जाय, या असत् ? यदि वे असत् हैं; तो उनमें सत्तासम्बन्ध नहीं हो सकता। सत्ता सर्वथा असत् खरविषाणादिमें तो नहीं रहती। यदि वे सत् हैं; तो जिस प्रकार स्वरूपसत् द्रव्यादिमें सत्तासम्बन्ध मानते हो उसी तरह स्वरूपसत् सामान्यादिमें भी सत्तासम्बन्ध स्वीकार करना चाहिये। अथवा जिस प्रकार सामान्यादि स्वरूपसत् हैं उनमें किसी अन्य सत्ताके सम्बन्धकी आवश्यकता नहीं है, उसी तरह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य, गुण, कर्मको भी स्वरूपसत् ही मानना चाहिए। स्वरूपसत्में अतिरिक्त सत्ताका समवाय मानना तो बिलकुल ही निरर्थक है। इसी तरह गोत्वादि जातियोंको शाबलेयादि व्यक्तियोंसे सर्वथा भिन्न माननेमें अनेकों दूषण आते हैं। यथा—जब एक गौ उत्पन्न हुई; तब उसमें गोत्व कहाँसे आयगा ? उत्पन्न होनेके पहिले गोत्व उस देशमें तो नहीं रह सकता; क्योंकि गोत्वसामान्य गोविशेषमें ही रहता है गोशून्य देशमें नहीं। निष्क्रिय होनेसे गोत्व अन्य देशसे आ नहीं सकता। यदि अन्य देशसे आवे भी, तो पूर्वपिण्डको एकदेशसे छोड़ेगा या बिलकुल ही छोड़ देगा ? निरंश होनेके कारण एकदेशसे पूर्वपिण्डको छोड़ना युक्तिसंगत नहीं है। यदि गोत्व पूर्णरूपसे पूर्व गोपिण्डको छोड़कर नूतन गौमें आता है; तब तो पूर्वपिण्ड अगौ-गोत्वशून्य हो जायगा, उसमें गौ व्यवहार नहीं हो सकेगा। यदि गोत्वसामान्य सर्वगत है; तो गोव्यक्तियोंकी तरह अश्वादिव्यक्तियोंमें भी गोव्यवहार होना चाहिए।

अवयव और अवयवीके सम्बन्धमें एक बड़ी विचित्र बात यह है कि—संसार तो यह मानता है कि पटमें तन्तु, वृक्षमें शाखा तथा गौमें सींग रहते हैं, पर 'तन्तुओंमें पट, शाखाओंमें वृक्ष तथा सींगमें गौ' का मानना तो सचमुच एक अलौकिक ही बात है। अतः गुण आदिका गुणी आदिसे कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही युक्तिसंगत है। कथञ्चित्तादात्म्यका तात्पर्य यह है कि—गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं उनसे भिन्न नहीं हैं। जो ज्ञानस्वरूप नहीं है वह ज्ञानके समवायसे भी कैसे 'ज्ञ' बन सकता है ? यदि अज्ञ वस्तु भी ज्ञानके समवायसे 'ज्ञ' हो जाय; तो समवाय स्वयं 'ज्ञ' बन जायगा; क्योंकि समवाय आत्मामें ज्ञानका सम्बन्ध तभी करा सकता है जब वह स्वयं ज्ञान और आत्मासे सम्बन्ध रखे। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोंसे असम्बद्ध रहकर सम्बन्धबुद्धि नहीं करा सकता। अतः यह मानना ही चाहिये कि—ज्ञानपर्याय-वाली वस्तु ही ज्ञानके सम्बन्धको पा सकती है। अतः वैशेषिकका गुण आदिका गुणी आदिसे निरपेक्ष—सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

इसी तरह सांख्यका ज्ञान सुखादिको आत्मासे भिन्न मानना नैगमाभास है। वह मानता है कि—सत्त्वरजस्तमोरूप-त्रिगुणात्मक प्रकृतिके ही सुख-ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसीमें आविर्भूत तथा तिरोहित होते हैं। इसी प्रकृतिके संसर्गसे पुरुषमें ज्ञानादिकी प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञानसुखादिरूप व्यक्त-कार्यकी दृष्टिसे दृश्य है तथा अपने कारणरूप-अव्यक्तस्वरूपसे अदृश्य है। पुरुष चेतनरूप तथा कूटस्थ—अपरिणामी नित्य है। इस तरह वह चैतन्यसे बुद्धिको भिन्न समझकर उसे पुरुषसे भी भिन्न मानता है। उसका यह ज्ञान और आत्माका सर्वथा भेद मानना भी नैगमाभास है; क्योंकि चैतन्य तथा ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। बुद्धि, उपलब्धि, चैतन्य, ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं। यदि चैतन्य पुरुषका धर्म हो सकता है; तो ज्ञानको भी उसीका ही धर्म होना चाहिये। प्रकृतिकी तरह पुरुष भी ज्ञानादिरूपसे दृश्य होता है। 'सुख ज्ञानादिक सर्वथा अनित्य हैं, चैतन्य सर्वथा नित्य है' यह भी प्रमाणसिद्ध नहीं है; क्योंकि पर्यायदृष्टिसे उनमें अनित्यता रहनेपर भी चैतन्यसामान्यकी अपेक्षा नित्यता भी है। इस तरह वैशेषिकका गुण-गुण्यादिमें सर्वथा भेद मानना तथा सांख्यका पुरुषसे बुद्ध्यादिका भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि इनमें अभेद अंशका निराकरण ही हो गया है।

**संग्रह-संग्रहाभास**—समस्त पदार्थोंको अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला नय संग्रहनय है। यह परसंग्रह तथा अपरसंग्रहके भेदसे दो प्रकारका है। परसंग्रहमें सत् रूपसे समस्त पदार्थोंका संग्रह किया जाता है, तथा अपरसंग्रहमें द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्योंका, गुणरूपसे समस्त गुणोंका, गोत्वरूपसे समस्त गौओंका आदि। यह अपरसंग्रह तब तक चलता है जब तक कि भेद अपनी चरम कोटि तक नहीं पहुँच जाता। अर्थात् जब व्यव-



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हारनय भेद करते-करते ऋजुसूत्र नयके विषयभूत एक वर्त्तमान कालीन अर्थपर्याय तक पहुँचता है तब अपरसंग्रहकी मर्यादा समाप्त हो जाती है।अपरसंग्रह और व्यवहारनयका क्षेत्र तो समान है पर दृष्टिमें भेद है। जब अपरसंग्रहमें तद्गत अभेदांशके द्वारा संग्रहकी दृष्टि है तब व्यवहारनयमें भेदकी ही प्रधानता है। परसंग्रहनयकी दृष्टिमें सद्रूपसे सभी पदार्थ एक हैं उनमें कोई भेद नहीं है। जीव, अजीव आदि सभी सद्रूपसे अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने नीलादि अनेक आकारोंमें व्याप्त है उसी तरह सन्मात्रतत्त्व सभी पदार्थोंमें व्याप्त है, जीव, अजीव आदि सब उसीके भेद हैं। कोई भी ज्ञान सन्मात्र द्रव्यको बिना जाने भेदोंको नहीं जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्रसे बाहिर अर्थात् असत् नहीं है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन सुखादिमें प्रवृत्ति करे या बाह्य नीलादि अचेतन पदार्थोंमें, वह सद्रूपसे अभेदांशको विषय करता ही है। संग्रहनयकी इस अभेददृष्टिसे सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्धकी भेद दृष्टि है। जिसमें अभेदको कल्पनात्मक कहकर वस्तुमें कोई स्थान ही नहीं दिया गया है। इस सर्वथा भेददृष्टिके कारण ही बौद्ध अवयवी, स्थूल, नित्य आदि अभेददृष्टिके विषयभूत पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं मानते। नित्यांश कालिक-अभेदके आधारपर स्थिर है; क्योंकि जब वही एक वस्तु त्रिकालानुयायी होगी तभी वह नित्य कही जा सकती है। अवयवी तथा स्थूलांश दैशिक-अभेदके आधारसे माने जाते हैं; जब एक वस्तु अनेक अवयवोंमें कथञ्चित्तादात्म्यरूपसे व्याप्ति रखे तभी अवयवी व्यपदेश पा सकती है। स्थूलतामें भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

अकलङ्कदेव कहते हैं कि—बौद्ध सर्वथा भेदात्मक स्वलक्षणका जैसा वर्णन करते हैं वैसा सर्वथा क्षणिक पदार्थ न तो किसी ज्ञानका विषय ही हो सकता है और न कोई अर्थक्रिया ही कर सकता है। जिस प्रकार एक क्षणिक ज्ञान अनेक आकारोंमें युगपद् व्याप्त रहता है उसी तरह एकद्रव्यको अपनी क्रमसे होनेवाली पर्यायोंमें व्याप्त होनेमें क्या बाधा है? इसी अनादिनिधन द्रव्यकी अपेक्षासे वस्तुओंमें अभेदांशकी प्रतीति होती है। क्षणिक पदार्थमें कार्य-कारणभाव सिद्ध न होनेके कारण अर्थक्रियाकी तो बात ही नहीं करनी चाहिये। 'कारणके होनेपर कार्य होता है' यह नियम तो पदार्थको एकक्षणस्थायी माननेवालोंके मतमें स्वप्नकी ही चीज है; क्योंकि एक क्षणस्थायी पदार्थके सत्ताक्षणमें ही यदि कार्यकी सत्ता स्वीकार की जाय; तब तो कारण और कार्य एकक्षणवर्ती हो जायँगे और इस तरह वे कार्य-कारणभावको असंभव बना देंगे। यदि कारणभूत प्रथमक्षण कार्यभूत द्वितीयक्षण तक ठहरे तब तो क्षणभंगवाद कहाँ रहा? क्योंकि कारणक्षणकी सत्ता कम-से-कम दो क्षण मानना पड़ी। इस तरह कार्यकारणभावके अभावसे जब क्षणिक पदार्थमें अर्थक्रिया ही नहीं बनती तब उसकी सत्ताकी आशा करना मृगतृष्णा जैसी ही है। और जब वह सत् ही सिद्ध नहीं होता तब प्रमाणका विषय कैसे माना जाय? जिस तरह बौद्धमतमें कारण अपने देशमें रहकर भी भिन्नदेशवर्ती कार्यको व्यवस्थित रूपसे उत्पन्न कर सकता है उसी तरह जब अभिन्न नित्य पदार्थ भी अपने समयमें रहकर कार्यको कार्यकालमें ही उत्पन्न कर सकता है, तब अभेदको असत् क्यों माना जाय? जिस तरह चित्रज्ञान अपने आकारोंमें, गुणी गुणोंमें तथा अवयवी अपने अवयवोंमें व्याप्त रहता है उसी तरह द्रव्य अपनी क्रमिक पर्यायोंको भी व्याप्त कर सकता है। द्रव्यदृष्टिसे पर्यायोंमें कोई भेद नहीं है। इसी तरह सन्मात्रकी दृष्टिसे समस्त पदार्थ अभिन्न हैं। इस तरह अभेददृष्टिसे पदार्थोंका संग्रह करनेवाला संग्रहनय है। इस नयकी दृष्टिसे कह सकते हैं कि—विश्व एक है, अद्वैत है; क्योंकि सन्मात्रतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। यह ध्यान रहे कि—इस नयमें शुद्ध सन्मात्र विषय होनेपर भी भेदका निराकरण नहीं है, भेद गौण अवश्य हो जाता है। यद्यपि अद्वयब्रह्मवाद भी सन्मात्रतत्त्वको विषय करता है पर वह भेदका निराकरण करनेके कारण संग्रहाभास है। नय सापेक्ष—प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षा रखनेवाला, तथा दुर्नय निरपेक्ष—परपक्षका निराकरण करनेवाला होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार-व्यवहाराभास—संग्रहनयके द्वारा गृहीत अर्थमें विधिपूर्वक अविसंवादी-वस्तुस्थितिमूलक भेद करनेवाला व्यवहारनय है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहारका अविरोधी होता है। लोकव्यवहार-विरुद्ध, वस्तुस्थितिकी अपेक्षा न करनेवाली भेदकल्पना व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द तथा ज्ञानरूपसे चलता है। जैसे जीवव्यवहार जीव अर्थ, जीवशब्द तथा जीवविषयक ज्ञान इन तीनों प्रकारोंसे हो सकता है। 'वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यवाली है, द्रव्य गुणपर्यायवाला है, जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि वाक्य प्रमाण-से अविरोधी होनेके कारण तथा लोकव्यवहारमें अविसंवादी होनेसे प्रमाण हैं, एवं पूर्वापरके अविरोधी होने-से ये सद्व्यवहारके विषय हैं। प्रमाणविरुद्ध कल्पनाएँ व्यवहाराभास हैं; जैसे सौत्रान्तिकका जड़ या चेतन सभी पदार्थोंको क्षणिक, निरंश, परमाणुरूप मानना, योगाचारका क्षणिक अविभागी विज्ञानाद्वैत मानना, तथा माध्यमिकका सर्वशून्यता स्वीकार करना। ये सब व्यवहाराभास प्रमाणविरोधी तथा लोकव्यवहारमें विसंवादक होते हैं। जो भेदव्यवहार अभेदकी अपेक्षा रखेगा वही व्यवहारनयकी परिधिमें आयगा, तथा जो अभेदका निराकरण करेगा वह दुर्व्यवहार—व्यवहाराभास कहलायगा।

ऋजुसूत्र-तदाभास—ऋजुसूत्र नय पदार्थकी एक क्षणरूप शुद्ध वर्त्तमानकालवर्ती अर्थपर्यायको विषय करनेवाला है। इसकी दृष्टिमें अभेद कोई वास्तविक नहीं है। चित्रज्ञान भी एक न होकर अनेक ज्ञानोंका समुदायमात्र है। इस तरह समस्त जगत् एक-दूसरेसे बिलकुल भिन्न है, एक पर्याय दूसरी पर्यायसे भिन्न है। यह भेद इतना सूक्ष्म है कि स्थूलदृष्टिवाले लोगोंको मालूम नहीं होता। जैसे परस्परमें विभिन्न भी वृक्ष दूरसे सघन तथा एकाकार रूपसे प्रतिभासित होते हैं, ठीक इसी तरह अभेद एक प्रातिभासिक वस्तु है। इस नय-की दृष्टिमें एक या नित्य कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि भेद और अभेदका परस्परमें विरोध है। इस तरह यह ऋजुसूत्र नय यद्यपि भेदको मुख्यरूपसे विषय करता है पर वह अभेदका प्रतिक्षेप नहीं करता। यह अभेदका प्रतिक्षेप कर दे तो बौद्धाभिमत क्षणिकतत्त्वकी तरह ऋजुसूत्राभास हो जायगा। सापेक्ष ही नय होता है। निरपेक्ष तो दुर्नय कहलाता है। जिस प्रकार भेदका प्रतिभास होनेसे वस्तुमें भेदकी व्यवस्था है उसी तरह जब अभेदका भी प्रतिभास होता है तो उसकी भी व्यवस्था होनी ही चाहिए। भेद और अभेद दोनों ही सापेक्ष हैं। एकका लोप करनेसे दूसरेका लोप होना अवश्यम्भावी है।

शब्द—काल, कारक, लिंग तथा संख्याके भेदसे शब्दभेद द्वारा भिन्न अर्थोंको ग्रहण करनेवाला शब्दनय है। शब्दनय के अभिप्रायसे अतीत, अनागत एवं वर्त्तमानकालीन क्रियाओंके साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि कर्तृ-कर्मसाधनमें प्रयुक्त भी देवदत्त भिन्न-भिन्न है। 'देवदत्त देवदत्ता' आदि लिंगभेदसे प्रयोगमें आनेवाला देवदत्त भी एक नहीं है। एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचनमें प्रयुक्त देवदत्त भी पृथक्-पृथक् है। इसकी दृष्टिसे भिन्नकालीन, भिन्नकारकनिष्पन्न, भिन्न-लिङ्गक एवं भिन्नसंख्याक शब्द एक अर्थके वाचक नहीं हो सकते। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिए। वर्त्तना-परिणमन करनेवाला तथा स्वतः परिणमनशील द्रव्योंके परिणमनमें सहायक होनेवाला काल द्रव्य है। इसके भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, ये तीन भेद हैं। केवल द्रव्य, केवल शक्ति, तथा अनपेक्ष द्रव्य और शक्तिको कारक नहीं कहते; किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्यको कारक कहते हैं। लिंग चिह्नको कहते हैं। जो गर्भ धारण कर सके वह स्त्री, जो पुत्रादिकी उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष, तथा जिसमें ये दोनों सामर्थ्य न हों वह नपुंसक कहा जाता है। कालादिके ये लक्षण अनेकान्तात्मक अर्थमें ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्रीके मिलनेपर षट्कारक रूपसे परिणमन कर सकती है। कालादिभेदसे एक द्रव्यकी नाना पर्यायें हो सकती हैं। एकरूप—सर्वथा नित्य या अनित्य वस्तुमें ऐसा परिणमन नहीं हो सकता; क्योंकि—सर्वथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नित्यमें उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिकमें स्थैर्य नहीं है। इस तरह कारकव्यवस्था न होनेसे विभिन्न कारकोंमें निष्पन्न स्त्रीलिङ्ग, पुंलिङ्ग आदिकी व्यवस्था भी एकान्त पक्षमें नहीं हो सकती। इस तरह कालादिके भेदसे अर्थभेद मानकर शब्द नय उनमें विभिन्न शब्दोंका प्रयोग मानता है। कालादि भेदसे शब्द-भेद होनेपर भी अर्थभेद नहीं मानना शब्दनयाभास है।

**समभिरूढ**—एक कालवाचक, एक लिङ्गक तथा एक संख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढ नय उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दोंके द्वारा अर्थमें भेद मानता है। इस नयके अभिप्रायसे एक लिंग-वाले इन्द्र, शक्र तथा पुरन्दर इन तीन शब्दोंमें प्रवृत्तिनिमित्तकी विभिन्नता होनेसे विभिन्नार्थवाचकता है। शक्रशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त शासनक्रिया, इन्द्रशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त इन्दनक्रिया तथा पुरन्दरशब्दका प्रवृत्ति-निमित्त पूर्दारणक्रिया है। अतः तीनों शब्द विभिन्न अवस्थाओंके वाचक हैं। शब्दनयमें एकलिंगवाले पर्याय-वाची शब्दोंमें अर्थभेद नहीं था, पर समभिरूढ नयमें विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्त होनेसे एकलिङ्गक पर्यायवाची शब्दोंमें भी अर्थभेद होना अनिवार्य है। पर्यायवाची शब्दोंकी दृष्टिसे अर्थमें भेद नहीं मानना समभिरूढा-भास है।

**एवंभूतनय**—क्रियाके भेदसे भी अर्थभेद माननेवाला एवंभूतनय है। यह नय क्रियाकालमें ही तत्क्रियानिमित्तक शब्दके प्रयोगको साधु मानता है। जब इन्द्र इन्दन-क्रिया कर रहा हो उसी समय उसे इन्द्र कह सकते हैं दूसरे समयमें नहीं। समभिरूढ नय उस समय क्रिया हो या न हो, पर अतीत-अनागत क्रिया या उस क्रियाकी योग्यता होनेके कारण तच्छब्दका प्रयोग मान लेता है। पर एवंभूतनय क्रियाकी मौजूदगी-में ही तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दके प्रयोगको साधु मानता है। इस नयकी दृष्टिसे जब कार्य कर रहा है तभी कारक कहा जायगा, कार्य न करनेकी अवस्थामें कारक नहीं कहा जा सकता। क्रियाभेद होनेपर भी अर्थ-को अभिन्न मानना एवंभूताभास है।

इन नयोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं अल्पविषयता है। नैगमनय संकल्पग्राही होनेसे सत् असत् दोनोंको विषय करता था इसलिए सन्मात्रग्राही संग्रह नय उससे सूक्ष्म एवं अल्पविषयक होता है। सन्मात्रग्राही संग्रह-नयसे सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्पविषयक एवं सूक्ष्म हुआ। त्रिकालवर्ती सद्विशेषग्राही व्यवहारनयसे वर्तमान-कालीन सद्विशेष-अर्थपर्यायग्राही ऋजुसूत्र सूक्ष्म है। शब्दभेद होनेपर भी अभिन्नार्थग्राही ऋजुसूत्रसे कालादि-भेदसे शब्दभेद मानकर भिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायभेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाले शब्दनयसे पर्यायवाची शब्दोंके भेदसे अर्थभेदग्राही समभिरूढ अल्पविषयक एवं सूक्ष्म-तर हुआ। क्रियाभेदसे अर्थभेद नहीं माननेवाले समभिरूढसे क्रियाभेद होनेपर अर्थभेदग्राही एवंभूत परमसूक्ष्म एवं अत्यल्पविषयक होता है।

## ४. निक्षेपनिरूपण

**निक्षेप**—अखण्ड एवं अनिर्वचनीय वस्तुको व्यवहारमें लानेके लिए उसमें भेद कल्पना करनेको निक्षेप कहते हैं। व्यवहार ज्ञान, शब्द तथा अर्थरूपसे तीन प्रकारका होता है। शब्दात्मक व्यवहारके लिए ही वस्तुका देवदत्त आदि नाम रखा जाता है। अतः शब्दव्यवहारके निर्वाहके लिए नाम निक्षेपकी सार्थकता है। ज्ञानात्मक-व्यवहारके लिए स्थापना निक्षेप तथा अर्थात्मक व्यवहारके लिए द्रव्य और भाव निक्षेप सार्थक हैं। शब्दका प्रयोग जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षासे होता है। जाति, द्रव्य, गुण आदि निमित्तोंकी अपेक्षा न करके इच्छानुसार संज्ञा रखनेको नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे किसी बालककी गजराज संज्ञामात्र इच्छानुसार ही की गई है, उसमें गजत्वजाति, गजके गुण, गजकी क्रिया आदिकी अपेक्षा नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसका नामकरण हो चुका है उसकी उसी आकारवाली प्रतिमा या चित्रमें स्थापना करना सद्भाव या तदाकार स्थापना कहलाती है। तथा भिन्न आकारवाली वस्तुमें स्थापना करना असद्भाव या अतदाकार स्थापना कहलाती है, जैसे शतरंजके मुहरोंमें घोड़े आदिकी स्थापना। भविष्यत्कालीन राजपर्यायकी योग्यताके कारण या बीती हुई राजपर्यायका निमित्त लेकर वर्त्तमानमें किसीको राजा कहना द्रव्य निक्षेप है। तत्पर्यायप्राप्त वस्तुमें तत्व्यवहारको भावनिक्षेप कहते हैं, जैसे वर्तमान राजपर्यायवाले राजाको ही राजा कहना। अप्रस्तुत अर्थका निराकरण, प्रस्तुत अर्थका प्ररूपण एवं संशयविनाशनके लिए निक्षेपकी सार्थकता है। अव्युत्पन्न श्रोताकी अपेक्षा अप्रस्तुतका निराकरण करनेके लिए, व्युत्पन्नकी अपेक्षा यदि वह संशयित है तो संशयविनाशके लिए और यदि विपर्यस्त है तो प्रस्तुत अर्थके प्ररूपणके लिए निक्षेपकी सार्थकता है।

## ५. सप्तभंगीनिरूपण

सप्तभंगी—प्रश्नके अनुसार वस्तुमें प्रमाणाविरोधी विधि-प्रतिषेधकी कल्पनाको सप्तभंगी कहते हैं। विचार करके देखा जाय तो सप्तभंगीमें मूल भंग तो तीन ही हैं, बाकी भंग संयोगज हैं। आगम ग्रन्थोंमें 'सिय अत्थि, सिय णत्थि, सिय अवत्तव्वा' रूपसे तीन ही भंगोंका निर्देश है। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें हमें सात भंगोंके दर्शन होते हैं। अनेकान्तदृष्टिका उद्देश्य परस्पर विरोधी धर्मोंका समन्वय करना है। वस्तुतः विरोध तो दोमें ही होता है जैसे नित्यत्वका अनित्यत्वसे, भेदका अभेदसे इत्यादि। अतः पहिले तो परस्पर विरोधी दो धर्मोंके समन्वय करनेकी ही बात उठती है। ऐसे अनेक विरोधी युगल वस्तुमें रह सकते हैं अतः वस्तु अनेकान्तात्मक एवं अनन्तधर्मा कही जाती है। अवक्तव्य धर्म तो वस्तुकी वास्तविक स्थिति बतानेवाला है कि वस्तुका अखण्डआत्मरूप शब्दोंका विषय नहीं हो सकता। कोई ज्ञानी अनिर्वचनीय, अखण्ड वस्तु को कहना चाहता है, वह पहिले उसका अस्तिरूपसे वर्णन करता है पर वस्तुके पूर्ण वर्णन करनेमें असमर्थ होनेपर नास्तिरूपसे वर्णन करता है। पर इस समय भी वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकताकी सीमा तक नहीं पहुँच पाता। लिहाज़ा कोशिश करनेपर भी अन्तमें उसे अवक्तव्य कहता है। शब्दमें वस्तुतः इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह समग्रवस्तुका पूर्णरूपसे प्रतिपादन करे। इसी अनिर्वचनीय तत्त्वका उपनिषदोंमें 'अस्ति अस्ति' रूपसे तथा 'नेति नेति' रूपसे भी वर्णन करनेका प्रयत्न किया गया है। पर वर्णन करनेवाला अपनी तथा शब्दकी असामर्थ्यपर खीज उठता है और अन्तमें बरबस कह उठता है कि—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—जिसके वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति वचन तथा मन भी नहीं कर सकते अतः वे भी उससे निवृत्त हो जाते हैं, ऐसा है वह वचन तथा मनका अगोचर अखण्ड, अनिर्वचनीय, अनन्तधर्मा वस्तुतत्त्व। इसी स्थितिके अनुसार अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य ये तीन ही मूल भंग हो सकते हैं। आगेके भंग तो वस्तुतः कोई स्वतन्त्र भंग नहीं हैं। कार्मिक भंगजालकी तरह द्विसंयोगीरूपसे तृतीय, पञ्चम तथा षष्ठ भंगका आविर्भाव हुआ तथा सप्तमभंगका त्रिसंयोगीके रूपमें। तीन मूल भंगोंके अपुनरुक्त भंग सात ही हो सकते हैं। कहीं-कहीं अवक्तव्य भंगका नंबर तीसरा है और कहीं उभय भंगका। वस्तुतः अवक्तव्य मूल भंग है। अतः उसीका नंबर तीसरा होना चाहिये।

प्रथम भंगमें स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे वस्तुका अस्तित्व विवक्षित होता है। द्वितीय भंगमें परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्तित्वकी विवक्षा होती है। यदि वस्तुमें स्वद्रव्यादिकी अपेक्षासे अस्तित्व न माना जाय तो वस्तु निःस्वरूप हो जायगी। और यदि परका नास्तित्व न माना जाय तो वस्तु सांकर्य हो जायगा; क्योंकि घटमें पटका नास्तित्व न रहनेके कारण घट और पट एक हो जाना अनिवार्य ही है। यद्यपि आपाततः यह मालूम होता है कि स्वसत्त्व ही परासत्त्व है; पर विचार करनेसे मालूम हो जाता है कि ये दोनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक दूसरेसे फलित न होकर स्वतन्त्र धर्म हैं; क्योंकि इनकी प्रवृत्तिकी अपेक्षाएँ भिन्न-भिन्न हैं तथा कार्य भी भिन्न हैं ।

जब हम युगपद् अनन्तधर्मवाली वस्तुको कहना चाहते हैं तो ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता जो ऐसी वस्तुके सभी धर्मोंका या विवक्षित दो धर्मोंका युगपत् प्रधान भावसे कथन कर सके। अतः कहनेकी अशक्ति होनेके कारण वस्तु अवक्तव्य है। वस्तुतः पदार्थ स्वरूपसे ही अनिर्वचनीय है और पदार्थकी उसी स्वरूपनिष्ठ अनिर्वाच्यताका द्योतन यह अवक्तव्य नामका तीसरा भंग करता है। संकेतके बलपर ऐसे किसी शब्दकी कल्पना तो की ही जा सकती है जो दो धर्मोंका भी एकरससे कथन कर सकता हो। अतः यह भङ्ग वस्तुके मौलिक वचनातीत पूर्णरूपका द्योतन करता है।

चौथा अस्ति-नास्ति भंग—दोनों धर्मोंकी क्रमसे विवक्षा होनेपर बनता है। क्रमसे यहाँ कालिकक्रम ही समझना चाहिये। अर्थात् प्रथम समयमें अस्तिकी विवक्षा तथा दूसरे समयमें नास्तिकी विवक्षा हो और दोनों समयोंकी विवक्षाको मोटी दृष्टिसे देखनेपर इस तृतीय भंगका उदय होता है। और यह क्रमसे अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों का प्रधानरूपसे कथन करता है।

पाँचवाँ अस्ति-अवक्तव्य भंग—अस्तित्व और अवक्तव्यकी क्रमिक विवक्षामें, अर्थात् प्रथम समयमें अस्तित्वकी विवक्षा तथा दूसरे समयमें अवक्तव्यकी विवक्षा होनेपर तथा दोनों समयकी विवक्षाओंपर स्थूलदृष्टिसे विचार करनेपर अस्ति-अवक्तव्य भंग माना जाता है। यह क्रमसे अस्तित्व और अवक्तव्यत्व-का प्रधानभावसे कथन करता है।

छठवाँ नास्ति-अवक्तव्य भंग—नास्तित्व और अवक्तव्यकी क्रमिक विवक्षामें। अर्थात् प्रथम समयमें नास्तित्वकी विवक्षा तथा दूसरे समयमें अवक्तव्यकी विवक्षा होनेपर तथा दोनों समयोंकी विवक्षाओंपर व्यापकदृष्टि रखनेपर नास्ति-अवक्तव्य भंगकी प्रवृत्ति होती है। यह क्रमसे नास्तित्व और अवक्तव्यत्वका प्रधानभावसे कथन करता है।

सातवाँ अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यभंग—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्यकी क्रमिक विवक्षामें, अर्थात् प्रथम समयमें अस्तित्वकी विवक्षा, दूसरे समयमें नास्तित्वकी विवक्षासे अस्तिनास्ति भंग बना, इसीके अनन्तर तृतीय समयमें अवक्तव्यकी विवक्षा होनेपर तथा तीनों समयोंकी विवक्षाओंपर स्थूलदृष्टिसे विचार करनेपर अस्ति नास्ति-अवक्तव्य भंगकी सृष्टि होती है। यह क्रमसे अस्तित्व, नास्तित्व तथा अवक्तव्यत्व धर्मोंका प्रधानरूपसे कथन करता है।

यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि—प्रत्येक भंगमें अपने धर्मकी मुख्यता रहती है तथा शेष धर्मोंकी गौणता। इसी मुख्य-गौणभावके सूचनार्थ 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' का अर्थ है कथञ्चित्, अर्थात् अमुक अपेक्षासे वस्तु इस रूप है। इससे दूसरे धर्मोंका निषेध नहीं किया जाता। प्रत्येक भंगकी स्थिति सापेक्ष है और इसी सापेक्षताका सूचक 'स्यात्' शब्द होता है। सापेक्षताके इस सिद्धान्तको नहीं समझनेवालोंके लिए प्रत्येक भंगके साथ स्यात् शब्दके प्रयोगका नियम है; क्योंकि स्यात् शब्दके प्रयोग किए बिना उन्हें सन्देह हो सकता है। पर यदि वक्ता या श्रोता कुशल है तब इसके प्रयोगका नियम नहीं है; क्योंकि बिना प्रयोगके ही वे स्याच्छब्दके सापेक्षत्व अर्थको बुद्धिगत कर सकते हैं। अथवा स्पष्टताके लिए इसका प्रयोग होना ही चाहिए। जैसे 'अहम् अस्मि' इन दो पदोंमेंसे किसी एकका प्रयोग करनेसे दूसरेका मतलब निकल आता है, पर स्पष्टताके लिए दोनोंका प्रयोग किया जाता है। संसारमें समझदारोंकी अपेक्षा कमसमझ या नासमझोंकी संख्या औसत दर्जे अधिक रहती आई है। अतः सर्वत्र स्यात् शब्दका प्रयोग करना ही राजमार्ग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यादस्ति-अवक्तव्य आदि तीन भंग परमतकी अपेक्षा भी इस तरह लगाये जाते हैं कि—अद्वैतवादियोंका सन्मात्र तत्व अस्ति होकर भी अवक्तव्य है, क्योंकि केवल सामान्यमें वचनकी प्रवृत्ति नहीं होती। बौद्धोंका अन्यापोह नास्तिरूप होकर भी अवक्तव्य है; क्योंकि शब्दके द्वारा मात्र अन्यका अपोह करनेसे किसी विधिरूप वस्तुका बोध नहीं हो सकेगा। वैशेषिकके स्वतन्त्र सामान्य और विशेष अस्ति-नास्ति रूप—सामान्य विशेष रूप होकर भी अवक्तव्य—शब्दके वाच्य नहीं हो सकते; क्योंकि दोनोंको स्वतन्त्र माननेसे उनमें सामान्य-विशेषभाव नहीं हो सकेगा। सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेषमें शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती और न वैसी हालतमें कोई अर्थक्रिया ही हो सकती है।

सकलादेश-विकलादेश—इन भंगोंका प्रयोग दो दृष्टियोंसे होता है—१—सकलादेशदृष्टि, जिसे स्याद्वादशब्दसे भी व्यवहृत किया गया है और यही प्रमाणरूप होती है। २—विकलादेशदृष्टि, इसे नय शब्दसे कहते हैं। एक धर्मके द्वारा समस्त वस्तुको अखण्डरूपसे ग्रहण करनेवाला सकलादेश है तथा उसी धर्मको प्रधान तथा शेष धर्मोंको गौण करनेवाला विकलादेश है। स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थको ग्रहण करता है, जैसे 'जीवः' कहनेसे ज्ञानदर्शनादि असाधारण गुणवाले, सत्त्व-प्रमेयत्वादि साधारण स्वभाववाले तथा अमूर्त्तत्व-असंख्यातप्रदेशित्व आदि साधारणासाधारण-धर्मशाली जीवका समग्र भावसे ग्रहण हो जाता है। इसमें सभी धर्म एकरूपसे गृहीत होते हैं अतः यहाँ गौण-मुख्यविवक्षा अन्तर्लीन हो जाती है।

विकलादेश—नय एक धर्मका मुख्यतया कथन करता है। जैसे 'ज्ञो जीवः' कहनेसे जीवके ज्ञानगुणका मुख्यतया बोध होगा तथा शेषधर्म गौणरूपसे उसीके गर्भमें प्रतिभासित होंगे। एक धर्मका मुख्यतया बोध करानेके कारण ही वह वाक्य विकलादेश या नय कहा जाता है। नयमें भी स्यात् पदका प्रयोग किया जाता है और वह इसलिए कि—शेषधर्मोंकी गौणता उसमें सूचित होती रहे, उनका निराकरण न हो जाय। इसीलिए स्यात्पदलाञ्छित नय सम्यक् नय कहलाता है। 'स्याज्जीव एव' यह वाक्य अनन्तधर्मात्मक जीवका अखण्डभावसे बोध कराता है, अतः यह सकलादेशवाक्य है। 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्यमें जीवके अस्तित्व धर्मका मुख्यतया कथन होता है अतः यह विकलादेशात्मक नयवाक्य है। तात्पर्य यह कि सकलादेशमें धर्मिवाचक शब्दके साथ एवकारका प्रयोग होता है और विकलादेशमें धर्मवाचक शब्दके साथ।

अकलंकदेवने राजवार्तिकमें दोनों वाक्योंका 'स्यादस्त्येव जीवः' यही उदाहरण दिया है और उनकी सकल-विकलादेशता समझाते हुए लिखा है कि—जहाँ अस्ति शब्दके द्वारा सारी वस्तु समग्रभावसे पकड़ ली जाय वहाँ सकलादेश, तथा जहाँ अस्तिके द्वारा अस्तित्वधर्ममुख्यक एवं शेषानन्तधर्मगौणक वस्तु कही जाय वह विकलादेश समझना चाहिए। इस तरह दोनों वाक्योंमें यद्यपि समग्र वस्तु गृहीत हुई पर सकलादेशमें सभी धर्म मुख्यरूपसे गृहीत हुए हैं जब कि विकलादेशमें एक ही धर्म मुख्यरूपसे गृहीत हुआ है। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि—'जब सकलादेशका प्रत्येक भंग समग्र वस्तुका ग्रहण करता है तब सकलादेशके सातों भंगोंमें परस्पर भेद क्या हुआ?' इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि सभी धर्मोंमें पूरी वस्तु गृहीत होती है सही, पर स्यादस्ति भंगमें अस्तित्व धर्मके द्वारा तथा स्यान्नास्ति भंगमें नास्तित्व धर्मके द्वारा। उनमें मुख्य-गौणभाव भी इतना ही है कि—जहाँ अस्ति शब्दका प्रयोग है वहाँ मात्र 'अस्ति' इस शाब्दिक प्रयोग ही की मुख्यता है धर्मकी नहीं। शेषधर्मोंकी गौणताका तात्पर्य है उनका शाब्दिक अप्रयोग।

इस तरह अकलंकदेवने सातों ही भंगोंको सकलादेश तथा विकलादेश कहा है। सिद्धसेनगणि आदि अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य इन तीन भंगोंको एकधर्मवाली वस्तुको ग्रहण करनेके कारण विकलादेश तथा शेष भंगोंको अनेकधर्मवाली वस्तु ग्रहण करनेके कारण सकलादेश कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मलयगिरि आचार्यकी दृष्टिसे सब ही नय मिथ्यारूप हैं। इनका कहना है कि—यदि नयवाक्यमें स्यात् शब्दका प्रयोग किया जायगा तो वे स्याच्छब्दके द्वारा सूचित अनन्तधर्मोंके ग्राहक हो जानेके कारण प्रमाणरूप ही हो जायँगे। अतः प्रमाणवाक्यमें ही स्याच्छब्दका प्रयोग उनके मतसे ठीक है नय वाक्यमें नहीं। इसी आशयसे उन्होंने अकलंकके मतकी समालोचना की है। उपा० यशोविजयजीने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि—मात्र स्यात् पदके प्रयोगसे ही नयवाक्यमें प्रमाणता नहीं आ सकती; क्योंकि प्रमाणमें तो अनन्तधर्मोंका मुख्यतया ग्रहण होता है जबकि सुनयमें स्याच्छब्द-सूचित बाकी धर्म गौण रहते हैं आदि। अतः समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि द्वारा उपज्ञात यही व्यवस्था ठीक है कि—सापेक्ष नय सम्यक्, तथा निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं।

संशयादि दूषण—अनेकात्मक वस्तुमें संशयादि दूषणोंके शिकार जैन ही नहीं बने किन्तु इतर लोग भी हुए हैं। जैनकी तरह पातञ्जलमहाभाष्यमें वस्तुको उत्पादादिधर्मशाली कहा है। व्यासभाष्यमें परिणामका लक्षण करते हुए स्पष्ट लिखा है कि-'अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः' अर्थात् स्थिर द्रव्यकी एक अवस्थाका नाश होना तथा दूसरीका उत्पन्न होना ही परिणाम है। इसी भाष्यमें 'सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य' प्रयोग करके अर्थकी सामान्यविशेषात्मकता भी द्योतित की है। भट्टकुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकमें अर्थकी सामान्यविशेषात्मकता तथा भेदाभेदात्मकताका इतर-दूषणोंका परिहार करके प्रबल समर्थन किया है। उन्होंने समन्तभद्रकी "घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्" (आप्तमी० का० ५९) जैसी-"वर्धमानकभंगेन रुचकः क्रियते यदा। तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥ हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।" इत्यादि कारिकाएँ लिखकर बहुत स्पष्टरूपसे वस्तुके त्रयात्मकत्वका समर्थन किया है। भास्कराचार्यने भास्करभाष्यमें ब्रह्मसे अवस्थाओंका भेदाभेद समर्थन बहुत विस्तारसे किया है। कुमारिलानुयायी पार्थसारथिमिश्र भी अवयव-अवयवी, धर्म-धर्मी आदिमें कथञ्चित् भेदाभेदका समर्थन करते हैं। सांख्यके मतसे प्रधान एक होते हुए भी त्रिगुणात्मक, नित्य होकर भी अनित्य, अव्यक्त होकर भी व्यक्त आदि रूपसे परिणामी नित्य माना गया है। व्यासभाष्यमें 'त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्' लिखकर वस्तुकी नित्यानित्यात्मकता द्योतित की है। इस संक्षिप्त यादीसे इतना ध्यानमें आ जाता है कि जैनकी तरह कुमारिलादि मीमांसक तथा सांख्य भेदाभेदवादी एवं नित्यानित्यवादी थे।

दूषण उद्भावित करनेवालोंमें हम सबसे प्राचीन बादरायण आचार्यको कह सकते हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्रमें 'नैकस्मिन्नसंभवात्'—एकमें अनेकता असम्भव है—लिखकर सामान्यरूपसे एकानेकवादियोंका खंडन किया है। उपलब्ध बौद्ध ग्रन्थोंमें धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिकमें सांख्यके भेदाभेदमें विरोध उद्भावन करके 'एतेनैव यदहीकाः' आदि लिखते हैं। तात्पर्य यह कि धर्मकीर्तिका मुख्य आक्षेप सांख्यके ऊपर है तथा उन्हीं दोषोंका उपसंहार जैनका खंडन करते हुए किया गया है। धर्मकीर्तिके टीकाकार कर्णकगोमि जहाँ भी भेदाभेदात्मकताका खंडन करते हैं वहाँ 'एतेन जैनजैमिनीयैः यदुक्तम्' आदि शब्द लिखकर जैन और जैमिनिके ऊपर एक ही साथ प्रहार करते हैं। एक स्थानपर तो 'तदुक्तं जैनजैमिनीयैः' लिखकर समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाका 'सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे' यह कारिकांश उद्धृत किया है। एक जगह दिगम्बरका खंडन करते हुए 'तदाह' करके समन्तभद्रकी 'घटमौलिसुवर्णार्थी, पयोव्रतो न दध्यत्ति, न सामान्यात्मनोदेति' इन तीन कारिकाओंके बीचमें कुमारिलकी "न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्। स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्॥" यह कारिका भी उद्धृत की है। इससे मालूम होता है कि बौद्ध ग्रन्थकारोंका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रहार भेदाभेदात्मक अंशमें सांख्यके साथ ही साथ जैन और जैमिनिपर समानरूपसे होता था। उनका जैनके नामसे कुमारिलकी कारिकाको उद्धृत करना तथा समन्तभद्रकी कारिकाके ऊपर जैनके साथ जैमिनिका भी प्रयोग करना इस बातको स्पष्ट बतलाता है कि उनकी दृष्टिमें जैन और जैमिनिमें भेदाभेदात्मक माननेवालोंके रूपसे भेद नहीं था। तत्त्वसंग्रहकारने तो 'विप्रनिर्ग्रन्थकापिलैः' लिखकर इस बातको अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है।

संशयादि आठ दूषण अभी तक किसी ग्रन्थमें एक साथ नहीं देखे गए हैं। शांकरभाष्यमें विरोध और संशय इन दो दूषणोंका स्पष्ट उल्लेख है, तत्त्वसंग्रहमें सांकर्य दूषण भी दिया गया है। बाकी प्रमाण-वार्त्तिक आदिमें मुख्यरूपसे विरोध दूषण ही दिया गया है। वस्तुतः समस्त दूषणोंका मूल आधार तो विरोध ही है। हाँ, स्याद्वादरत्नाकर ( पृ० ७३८ ) में नैयायिककी एक कारिका 'तदुक्तम्' करके उद्धृत की है—

"संशयविरोधवैयधिकरण्यसंकरमथोभयं दोषः। अनवस्था व्यतिकरमपि जैनमते सप्त दोषाः स्युः॥"

इस कारिकामें एक साथ सात दूषण गिनाए गए हैं। आठ दूषणोंका परिहार भी सर्वप्रथम अकलंकने ही किया है। उन्होंने लिखा है कि—जैसे मेचकरत्न एक होकर भी अनेक विरोधी रंगोंको युगपत् धारण करता है, उसी तरह प्रत्येक वस्तु विरोधी अनेक धर्मोंको धारण कर सकती है। इसी मेचकरत्नके दृष्टान्तसे संशयादि दोषोंका परिहार भी किया है। सामान्य-विशेषका दृष्टान्त भी इसी प्रसंगमें दिया है—जैसे पृथिवीत्व जाति पृथिवीव्यक्तियोंमें अनुगत होनेसे सामान्यरूप होकर भी जलादिसे व्यावर्तक होनेके कारण विशेषात्मक है और इस तरह परस्पर विरोधी सामान्य-विशेष उभय रूपोंको धारण करती है, उसी तरह समस्त पदार्थ एक होकर भी अनेकात्मक हो सकते हैं। प्रमाणसिद्ध वस्तुमें विरोधादि दोषोंको कोई स्थान ही नहीं है। जिस प्रकार एक वृक्ष अवयवविशेषमें चलात्मक तथा अवयवविशेषकी दृष्टिसे अचलात्मक होता है, एक ही घड़ा एकदेशेन लालरंगका तथा दूसरे देशमें अन्य रंगका, एकदेशेन ढँका हुआ तथा अन्यदेशसे अनावृत, एकदेशेन नष्ट तथा दूसरे देशसे अनष्ट रह सकता है, उसी तरह एक वस्तु भी अनेकधर्मवाली हो सकती है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# न्यायविनिश्चय और उसका विषय विवेचन

## दर्शन

संसारके यावत् चर-अचर प्राणियोंमें मनुष्यकी चेतना सविशेष विकसित है। उसका जीवन अन्य प्राणियोंकी तरह केवल आहार, निद्रा, रक्षण और प्रजननमें ही नहीं बीतता किन्तु वह अपने स्वरूप, मरणोत्तर जीवन, जड़ जगत्, उससे अपने सम्बन्ध आदिके विषयमें सहज गतिसे मनन-विचार करनेका अभ्यासी है। सामान्यतः उसके प्रश्नोंका दार्शनिक रूप इस प्रकार है—आत्मा क्या है? परलोक है या नहीं? यह जड़ जगत् क्या है? इससे आत्माका क्या सम्बन्ध है? यह जगत् स्वयं सिद्ध है या किसी चेतन शक्तिसे समुत्पन्न है? इसकी गतिविधि किसी चेतनसे नियन्त्रित है या प्राकृतिक साधारण नियमोंसे आबद्ध? क्या असत्से सत् उत्पन्न हुआ? क्या किसी सत्का विनाश हो सकता है? इत्यादि प्रश्न मानव जातिके आदिकालसे बराबर उत्पन्न होते रहे हैं और प्रत्येक दार्शनिक मानस इसके समाधानका प्रयास करता रहा है। ऋग्वेद तथा उपनिषत्-कालीन प्रश्नोंका अध्ययन इस बातका साक्षी है। दर्शनशास्त्र ऐसे ही प्रश्नोंके सम्बन्धमें ऊहापोह करता आया है। प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थकी व्याख्यामें मतभेद हो सकता है पर स्वरूप उसका विवादसे परे है किन्तु परोक्ष पदार्थकी व्याख्या और स्वरूप दोनों ही विवादके विषय हैं। यह ठीक है कि दर्शनका क्षेत्र इन्द्रियगम्य और इन्द्रियातीत दोनों प्रकारके पदार्थ हैं। पर मुख्य विचार यह है कि—दर्शनकी परिभाषा क्या है? उसका वास्तविक अर्थ क्या है? वैसे साधारणतया दर्शनका मुख्य अर्थ साक्षात्कार करना होता है। वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान ही दर्शनका मुख्य अभिधेय है। यदि दर्शनका यही मुख्य अर्थ हो तो दर्शनोंमें भेद कैसा? किसी भी पदार्थका वास्तविक पूर्ण प्रत्यक्ष दो प्रकारका नहीं हो सकता। अग्निका प्रत्यक्ष गरम और ठण्डेके रूपमें दो तरहसे न अनुभवगम्य है और न विश्वासयोग्य ही। फिर दर्शनोंमें तो पग-पगपर परस्पर विरोध विद्यमान है। ऐसी दशामें किसी भी जिज्ञासुको यह सन्देह स्वभावतः होता है कि—जब सभी दर्शन-प्रणेता ऋषियोंने तत्त्वका साक्षाद्दर्शन करके निरूपण किया है तो उनमें इतना मतभेद क्यों है? या तो दर्शन शब्दका साक्षात्कार अर्थ नहीं है या यदि यही अर्थ है तो वस्तुके पूर्ण स्वरूपका वह दर्शन नहीं है या वस्तुके पूर्ण स्वरूपका दर्शन भी हुआ हो तो उसके प्रतिपादनकी प्रक्रियामें अन्तर है? दर्शनके परस्पर विरोधका कोई-न-कोई ऐसा ही हेतु होना चाहिये। दूर न जाइये, सर्वतः सन्निकट आत्माके स्वरूपपर ही दर्शनकारोंके साक्षात्कारपर विचार कीजिये—सांख्य आत्माको कूटस्थनित्य मानते हैं। इनके मतसे आत्माका स्वरूप अनादि अनन्त अविकारी नित्य है। बौद्ध इसके विपरीत प्रतिक्षण परिवर्तित ज्ञानक्षणरूप ही आत्मा मानते हैं। नैयायिक-वैशेषिक परिवर्तन तो मानते हैं, पर वह गुणों तक ही सीमित है। मीमांसकने आत्मामें अवस्थाभेदकृत परिवर्तन स्वीकार करके भी द्रव्य नित्य स्वीकार किया है। योगदर्शनका भी यही अभिप्राय है। जैनोंने अवस्थाभेदकृत परिवर्तनके मूल आधार द्रव्यमें परिवर्तनकालमें किसी भी अपरिवर्तिष्णु अंशको स्वीकार नहीं किया; किन्तु अविच्छिन्न पर्याय-परम्पराके चालू रहनेको ही द्रव्यस्वरूप माना है। चार्वाक इन सब पक्षोंसे भिन्न भूतचतुष्टयरूप ही आत्मा मानता है। उसे आत्माके स्वतन्त्र द्रव्यके रूपमें दर्शन नहीं हुए। यह तो हुई आत्माके स्वरूपकी बात। उसकी आकृतिपर विचार कीजिये तो ऐसे ही अनेक दर्शन मिलते हैं। आत्मा अमूर्त है या मूर्त होकर भी इतना सूक्ष्म है कि वह हमारे चर्मचक्षुओंसे नहीं दिखाई दे सकता इसमें किसीको विवाद नहीं है। इसलिए अतीन्द्रियदर्शी कुछ ऋषियोंने अपने दर्शनसे बताया कि आत्मा सर्वव्यापक है। दूसरे ऋषियोंको दिखा कि आत्मा अणुरूप है, वटबीजके समान अति सूक्ष्म है। कुछ को दिखा कि देहरूप ही आत्मा है तो किन्हींने छोटे-बड़े शरीर-प्रमाण संकोच-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकासशील आत्माका आकार बताया। विचारा जिज्ञासु अनेक पगडण्डियोंवाले इस शतराहेपर खड़ा होकर दिग्भ्रान्त हुआ या तो दर्शन शब्दके अर्थपर ही शंका करता है या फिर दर्शनकी पूर्णतामें ही अविश्वास करनेको उसका मन होता है। प्रत्येक दर्शनकार यही दावा करता है कि उसका दर्शन पूर्ण और यथार्थ है। एक ओर मानवकी मननशक्तिमूलक तर्कको जगाया जाता है और जब तर्क अपने यौवनपर आता है तभी रोक दिया जाता है और 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' 'तर्काप्रतिष्ठानात्' जैसे बन्धनोंसे उसे जकड़ दिया जाता है। 'तर्क-से कुछ होने जानेवाला नहीं है' इस प्रकारके तर्कनैराश्यवादका प्रचार किया जाता है। आचार्य हरिभद्र अपने लोकतत्त्वनिर्णयमें स्पष्टरूपसे अतीन्द्रिय पदार्थोंमें तर्ककी निरर्थकता बताते हैं—

"ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता तेषां कृतः स्यादर्थनिर्णयः॥"

अर्थात्—यदि तर्कवादसे अतीन्द्रिय पदार्थोंके स्वरूप-निर्णयकी समस्या हल हो सकती होती, तो इतना समय बीत गया, बड़े-बड़े तर्कशास्त्री तर्ककेशरी हुए, आज तक उनने इनका निर्णय कर दिया होता। पर अतीन्द्रिय पदार्थोंके स्वरूपज्ञानकी पहेली पहिलेसे अधिक उलझी हुई है। जय हो उस विज्ञानकी जिसने भौतिक तत्त्वोंके स्वरूपनिर्णयकी दिशामें पर्याप्त प्रकाश दिया है।

दूसरी ओर यह घोषणा की जाती है कि—

"तापात् छेदात् निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न त्वादरात्॥"

अर्थात्—जैसे सोनेको तपाकर, काटकर, कसौटीपर कसकर उसके खोटे-खरेका निश्चय किया जाता है उसी तरह हमारे वचनोंको अच्छी तरह कसौटीपर कसकर उनका विश्लेषणकर उन्हें ज्ञानाग्निमें तपाकर ही स्वीकार करना केवल अन्धश्रद्धासे नहीं। अन्धी श्रद्धा जितनी सस्ती है उतनी शीघ्र प्रतिपातिनी भी।

तब दर्शन शब्दका अर्थ क्या हो सकता है? इस प्रश्नके उत्तरमें पहिले ये विचार आवश्यक है कि—ज्ञान[1] वस्तुके पूर्णरूपको जान सकता है या नहीं? यदि जान सकता है तो इन दर्शन-प्रणेताओंको पूर्ण ज्ञान था या नहीं? यदि पूर्ण ज्ञान था तो मतभेदका कारण क्या है?

---

१. ज्ञान—जीव चैतन्यशक्तिवाला है। यह चैतन्यशक्ति जब बाह्य वस्तुके स्वरूपको जानती है तब ज्ञान कहलाती है। इसीलिए शास्त्रोंमें ज्ञानको साकार बताया है। जब चैतन्यशक्ति ज्ञेयको न जानकर स्व-चैतन्याकार रहती है तब उस निराकार अवस्थामें दर्शन कहलाती है। अर्थात् चैतन्यशक्तिके दो आकार हुए एक ज्ञेयाकार और दूसरा चैतन्याकार। ज्ञेयाकार दशाका नाम ज्ञान और चैतन्याकार दशाका नाम दर्शन है। चैतन्यशक्ति काँचके समान स्वच्छ और निर्विकार है। जब उस काँचको पीछे पारेकी कलई करके इस योग्य बना दिया जाता है कि उसमें प्रतिबिम्ब पड़ सके तब उसे दर्पण कहने लगते हैं। जब तक काँचमें कलई लगी हुई है तब तक उसमें किसी न किसी पदार्थके प्रतिबिम्बकी सम्भावना है। यद्यपि प्रतिबिम्बाकार परिणमन काँचका ही हुआ है पर वह परिणमन उसका निमित्तजन्य है। उसी तरह निर्विकार चितिशक्ति-का ज्ञेयाकार परिणमन जिसे हम ज्ञान कहते हैं मन, शरीर, इन्द्रिय आदि निमित्तोंके आधीन है या यों कहिये कि जब तक उसकी बद्ध दशा है तब तक बाह्य निमित्तोंके अनुसार उसका ज्ञेयाकार परिणमन होता रहता है। जब अशरीरी सिद्ध अवस्थामें जीव पहुँच जाता है तब सकल उपाधियोंसे शून्य होनेके कारण उसका ज्ञेयाकार परिणमन न होकर शुद्ध चिदाकार परिणमन रहता है। इस विवेचनका संक्षिप्त तात्पर्य यह है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| १. शुद्ध काँच | १. मुक्त जीवका चैतन्य, शुद्ध चिन्मात्र |
| २. कलई लगा हुआ काँच-दर्पण ( प्रतिबिम्ब रहित ) . | २. सशरीरी संसारी जीवका चैतन्य, पर ज्ञेयाकार शून्य, दर्शनावस्था निराकार |
| ३. सप्रतिबिम्ब दर्पण | ३. ज्ञेयाकार, साकार, ज्ञानावस्था |

इस तरह चैतन्यके दो परिणमन—एक निर्विकार अबद्ध अनन्त शुद्ध चैतन्यरूप मोक्षावस्थाभावी और दूसरा शरीर कर्म आदिसे बद्ध सविकारी सोपाधिक संसारावस्थाभावी। संसारावस्थाभावी चैतन्यके दो परिणमन एक सप्रतिबिम्ब दर्पणकी तरह ज्ञेयाकार और दूसरा निष्प्रतिबिम्ब दर्पणकी तरह निराकार। ज्ञेयाकार परिणमनका नाम ज्ञान तथा निराकार परिणमनका नाम दर्शन। तत्त्वार्थराजवार्तिकमें—जीवका लक्षण उपयोग किया है और उपयोगका लक्षण इस प्रकार दिया है—

"बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।" ( त० वा० २।८ ) अर्थात्—उपलब्धाको ( जिस चैतन्यमें पदार्थोंके उपलब्ध अर्थात् ज्ञान करनेकी योग्यता हो ) दो प्रकारके बाह्य तथा दो प्रकारके अभ्यन्तर हेतुओंके मिलनेपर जो चैतन्यका अनुविधान करनेवाला परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं। इस लक्षणमें आए हुए 'उपलब्धुः' और 'चैतन्यानुविधायी' ये दो पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं। चैतन्यानुविधायी पद यह सूचना दे रहा है कि जो ज्ञान और दर्शन परिणमन बाह्याभ्यन्तर हेतुओंके निमित्तसे हो रहे हैं वे स्वभावभूत चैतन्यका अनुविधान करनेवाले हैं अर्थात् चैतन्य एक अनुविधाता द्रव्यांश है और उसके ये बाह्याभ्यन्तर हेत्वधीन परिणमन हैं। चैतन्य इनसे भी परे शुद्ध अवस्थामें शुद्ध परिणमन करनेवाला है। 'उपलब्धुः' पद चैतन्यकी उस दशाको सूचित करता है जबसे चैतन्यमें बाह्याभ्यान्तर हेतुओंसे निराकार या साकार होनेकी योग्यता होती है और वह अवस्था अनादिकालसे कर्मबद्ध होनेके कारण अनादिसे ही है। तात्पर्य यह कि अनादिसे कर्मबद्ध होनेके कारण चैतन्य-काँचमें वह कलई लगी है जिससे वह दर्पण बना है इसीमें बाह्याभ्याकार हेतुओंके अधीन निराकार और साकार परिणमन होते रहते हैं जिन्हें क्रमशः दर्शन और ज्ञान कहते हैं। पर अन्तमें मुक्त अवस्थामें जब सारी कलई धुल जाती है विशुद्ध निर्विकार निर्विकल्प अनन्त अखण्ड चैतन्यमात्र रह जाता है तब उसका शुद्ध चिद्रूप ही परिणमन होता है। ज्ञान और दर्शन परिणमन बाह्याधीन हैं। उसमें ज्ञान और दर्शनका विभाग ही विलीन हो जाता है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक ( १।६ ) में घटके स्वपरचतुष्टयका विचार करते हुए अन्तमें घटज्ञानगत ज्ञेयाकारको घटका स्वात्मा बताया है और निष्प्रतिबिम्ब ज्ञानाकारको परात्मा। यथा—

"चैतन्यशक्तेर्द्वौ आकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकारः, प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः" इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि चैतन्यशक्तिके दो परिणमन होते हैं—ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार। राजवार्तिकमें ज्ञेयाकार परिणमन उसका साकार परिणमन है तथा ज्ञानाकार परिणमन निराकार। जब तक ज्ञेयाकार परिणमन है तब तक वह वास्तविक अर्थमें ज्ञानपर्यायको धारण करता है और निर्ज्ञेयाकार दशामें दर्शन पर्यायको। धवला टीका ( पु० १, पृ० १४८ ) और बृहद्द्रव्यसंग्रह ( पृ० ८१-८२ ) में सौद्धान्तिक दृष्टिसे जो दर्शनकी व्याख्या की है उसका तात्पर्य भी यही है कि—विषय और विषयीके सन्निपातके पहिले जो चैतन्यकी निराकार परिणति या स्वाकार परिणति है उसे दर्शन कहते हैं। राजवार्तिकमें चैतन्यशक्तिके जिस ज्ञानाकारकी चरचा है वह वास्तविकमें दर्शन ही है। इस विवेचनसे इतना तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि—चैतन्यकी एक धारा है जिसमें प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारके समस्त पदार्थ ज्ञेय अर्थात् ज्ञानके विषय होने योग्य हैं तथा ज्ञान पर्यायमें ज्ञेयके जाननेकी योग्यता है, प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म जब हट जाता है तब वस्तुके पूर्ण स्वरूपका भान ज्ञान पर्यायके द्वारा अवश्यम्भावी है। ज्ञान पर्यायकी उत्पत्तिका जो क्रम टिप्पणीमें दिया है उसके अनुसार भी जिस-किसी वस्तुके पूर्णरूप तक ज्ञानपर्याय पहुँच सकती है यह निर्विवाद है। जब ज्ञान वस्तुके अनन्तधर्मात्मक विराट् स्वरूपका यथार्थ ज्ञान कर सकता है और यह भी असम्भव नहीं है कि किसी आत्मामें ऐसी ज्ञान पर्यायका विकास हो सकता है, तब वस्तुके पूर्णरूपके साक्षात्कारविषयकप्रश्नका समाधान हो ही जाता है। अर्थात् विशुद्ध ज्ञानमें वस्तुके विराट् स्वरूपकी झाँकी आ सकती है। और ऐसा विशुद्ध ज्ञान तत्त्वद्रष्टा ऋषियोंका रहा होगा। परन्तु वस्तुका जो स्वरूप ज्ञानमें झलकता है उस सबका शब्दोंसे कथन करना असम्भव है क्योंकि शब्दोंमें वह शक्ति नहीं है जो अनुभवको अपने द्वारा जता सके।

सामान्यतया यह तो निश्चित है कि वस्तुका स्वरूप ज्ञान ज्ञेय तो है। जो भिन्न-भिन्न ज्ञाताओंके द्वारा जाना जा सकता है वह एक ज्ञाताके द्वारा भी निर्मल ज्ञानके द्वारा जाना जा सकता है। तात्पर्य यह कि वस्तुका अखण्ड अनन्तधर्मात्मक विराट्स्वरूप अखण्ड रूपसे ज्ञानका विषय तो बन जाता है और तत्त्वज्ञ ऋषियोंने अपने मानसज्ञान और योगिज्ञानसे उसे जाना भी होगा। परन्तु शब्दोंकी सामर्थ्य इतनी अत्यल्प[1] है कि जाने हुए वस्तुके धर्मोंमें अनन्त बहुभाग तो अनभिधेय हैं अर्थात् शब्दसे कहे ही नहीं जा सकते। जो कहे जा सकते हैं उनका अनन्तवाँ भाग ही प्रज्ञापनीय अर्थात् दूसरोंके लिए समझाने लायक होता है। जितना

---

ध्रौव्यात्मक परिणमन होता रहता है और जो अनादि-अनन्तकाल तक प्रवाहित रहनेवाली है। इस धारामें कर्मबन्धन शरीर-सम्बन्ध मन, इन्द्रिय आदिके सन्निधानसे ऐसी कलई लग गई है जिसके कारण इसका ज्ञेयाकार—अर्थात् पदार्थोंके जानने रूप परिणमन होता है। इसका ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमानुसार विकास होता है। सामान्यतः शरीर सम्पर्कके साथ ही इस चैतन्यशक्तिका कलईवाले काँचकी तरह दर्पणवत् परिणमन हो गया है। इस दर्पणवत् परिणमनवाले समयमें जितने समय तक वह चैतन्य-दर्पण किसी ज्ञेयके प्रतिबिम्ब-को लेता है अर्थात् उसे जानता है तब तक उसकी वह साकार दशा ज्ञान कहलाती है और जितने समय उसकी निराकार दशा रहती है, वह दर्शन कही जाती है। इस परिणामी चैतन्यका सांख्यके चैतन्यसे भेद स्पष्ट है। सांख्यका चैतन्य सदा अविकारी परिणमनशून्य और कूटस्थ नित्य है जब कि जैनका चैतन्य परिणमन करनेवाला परिणामी नित्य है। सांख्यके यहाँ बुद्धि या ज्ञान प्रकृतिका धर्म है जब कि जैनसम्मत ज्ञान चैतन्यकी ही पर्याय है। सांख्यका चैतन्य संसार दशामें भी ज्ञेयाकार परिच्छेद नहीं करता जब कि जैनका चैतन्य उपाधि दशामें ज्ञेयाकार परिणत होता है, उन्हें जानता है। स्थूल भेद तो यह है कि ज्ञान जैनके यहाँ चैतन्यकी पर्याय है जब कि सांख्यके यहाँ प्रकृति की। इस तरह ज्ञान चैतन्यकी औपाधिक पर्याय है और यह संसार दशामें बराबर चालू रहती है जब दर्शन अवस्था होती है, तब ज्ञान अवस्था नहीं होती और जब ज्ञान पर्याय होती है, तब दर्शन पर्याय नहीं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म इन्हीं पर्यायोंको हीनाधिक रूपसे आवृत करते हैं और इनके क्षयोपशम और क्षयके अनुसार इनका अपूर्ण और पूर्ण विकास होता है। संसारावस्थामें जब ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय हो जाता है तब चैतन्य शक्तिकी साकार पर्याय ज्ञान अपने पूर्ण रूपमें विकासको प्राप्त होती है।

१. "पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुदणिबद्धो॥"

—गो० जीव० गा० ३३३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञापनीय है उसका अनन्तवाँ भाग शब्द-श्रुतनिबद्ध होता है। अतः कदाचित् दर्शनप्रणेता ऋषियोंने वस्तु-तत्त्वको अपने निर्मल ज्ञानसे अखण्डरूप जाना भी हो तो भी एक ही वस्तुके जाननेके भी दृष्टिकोण जुदे-जुदे हो सकते हैं। एक ही पुष्पको वैज्ञानिक, साहित्यिक, आयुर्वेदिक तथा जनसाधारण आँखोंसे समग्र भावसे देखते हैं पर वैज्ञानिक उसके सौन्दर्यपर मुग्ध न होकर उसके रासायनिक संयोगपर ही विचार करता है। कविको उसके रासायनिक मिश्रणकी कोई चिन्ता नहीं, कल्पना भी नहीं, वह तो केवल उसके सौन्दर्यपर मुग्ध है और वह किसी कमनीय कामिनीके उपमालंकारमें गूँथनेकी कोमल कल्पनासे आकलित हो उठता है। जब कि वैद्यजी उसके गुणदोषोंके विवेचनमें अपने मनको केन्द्रित कर देते हैं। पर सामान्यजन उसकी रोमी-रोमी मोहक सुवाससे वासित होकर ही अपने पुष्पज्ञानकी परिसमाप्ति कर देता है। तात्पर्य यह कि वस्तुके अनन्तधर्मात्मक विराट्स्वरूपका अखण्ड भावसे ज्ञानके द्वारा प्रतिभास होनेपर भी उसके विवेचक अभिप्राय व्यक्तिभेदसे अनन्त हो सकते हैं। फिर अपने-अपने अभिप्रायसे वस्तुविवेचन करनेवाले शब्द भी अनन्त हैं। एक वैज्ञानिक अपने दृष्टिकोणको ही पूर्ण सत्य मानकर कवि या वैद्यके दृष्टिकोण या अभिप्रायको वस्तुतत्त्वका अग्राहक या असत्य ठहराता है तो वह यथार्थद्रष्टा नहीं है, क्योंकि पुष्प तो अखण्ड भावसे सभीके दर्शनका विषय हो रहा है और उस पुष्पमें अनन्त अभिप्रायों या दृष्टिकोणोंसे देखे जानेकी योग्यता है पर दृष्टिकोण और तत्प्रयुक्त शब्द तो जुदे-जुदे हैं और वे आपसमें टकरा भी सकते हैं। इसी टकराहटसे दर्शन-भेद उत्पन्न हुआ है। तब दर्शन शब्दका क्या अर्थ फलित होता है जिसे हरएक दर्शनवादियोंने अपने मतके साथ जोड़ा और जिसके नामपर अपने अभिप्रायोंको एक दूसरेसे टकराकर उसके नामको कलंकित किया? एक शब्द जब लोकमें प्रसिद्धि पा लेता है तो उसका लेबिल तदाभासमिथ्या वस्तुओंपर भी लोग लगाकर उसके नामसे स्वार्थ साधनेका प्रयत्न करते हैं। जब जनताको ठगनेके लिए खोली गई दूकानें भी 'राष्ट्रीय-भण्डार' और 'जनता-भण्डार'का नाम धारण कर सकती हैं और गान्धीछाप शराब भी व्यवसाइयोंने बना डाली है तो दर्शनके नामपर यदि पुराने जमानेमें तदाभास चल पड़े हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। सभी दार्शनिकोंने यह दावा किया है कि उनके ऋषिने दर्शन करके तत्त्वका प्रतिपादन किया है। ठीक है, किया होगा?

दर्शनका एक अर्थ है—सामान्यावलोकन। इन्द्रिय और पदार्थके सम्पर्कके बाद जो एक बार ही वस्तुके पूर्ण रूपका अखण्ड या सामान्य भावसे प्रतिभास होता है उसे शास्त्रकारोंने निर्विकल्प दर्शन माना है। इस सामान्य दर्शनके अनन्तर समस्त झगड़ोंका मल विकल्प आता है जो उस सामान्य प्रतिभासको अपनी कल्पनाके अनुसार चित्रित करता है।

धर्मकीर्ति आचार्य ने प्रमाणवार्तिक ( ३।४४ ) में लिखा है कि—

"तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः।
भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं सम्प्रवर्तते॥"

अर्थात् दर्शनके द्वारा दृष्टपदार्थके सभी गुण दृष्ट हो जाते हैं, उनका सामान्यावलोकन हो जाता है। पर भ्रान्तिके कारण उनका निश्चय नहीं हो पाता इसलिए साधनोंका प्रयोग करके तत्तद्धर्मोंका निर्णय किया जाता है।

तात्पर्य यह कि—दर्शन एक ही बारमें वस्तुके अखण्ड स्वरूपका अवलोकन कर लेता है और इसी अर्थमें यदि दर्शनशास्त्रके दर्शन शब्दका प्रयोग है तो मतभेदकी गुंजाइश रह सकती है, क्योंकि यह सामान्यावलोकन प्रतिनियत अर्थक्रियाका साधक नहीं होता। अर्थक्रियाके लिए तो तत्तदंशोंके निश्चयकी आवश्यकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। अतः असली कार्यकारी तो दर्शनके बाद होनेवाले शब्दप्रयोगवाले विकल्प हैं। जिन विकल्पोंको दर्शनका पृष्ठबल प्राप्त है वे प्रमाण हैं तथा जिन्हें दर्शनका पृष्ठबल प्राप्त नहीं हैं अर्थात् जो दर्शनके बिना मात्र कल्पनाप्रसूत हैं वे अप्रमाण हैं। अतः यदि दर्शन शब्दको आत्मा आदि पदार्थोंके सामान्यावलोकन अर्थमें लिया जाता है तो भी मतभेदकी गुंजाइश कम है। मतभेद तो उस सामान्यावलोकनकी व्याख्या और निरूपण करनेमें हैं। एक सुन्दर स्त्रीका मृत शरीर देखकर विरागी भिक्षुको संसारकी असार दशाकी भावना होती है। कामी पुरुष उसे देखकर सोचता है कि कदाचित् यह जीवित होती''। तो कुत्ता अपना भक्ष्य समझकर प्रसन्न होता है। यद्यपि दर्शन तीनोंको हुआ है, पर व्याख्याएँ जुदी-जुदी हैं। जहाँतक वस्तुके दर्शनकी बात है वह विवादसे परे है। वाद तो शब्दोंसे शुरू होता है। यद्यपि दर्शन वस्तुके बिना नहीं होता और वही दर्शन प्रमाण माना जा सकता है जिसे अर्थका बल प्राप्त हो अर्थात् जो पदार्थसे उत्पन्न हुआ हो। पर यहाँ भी वही विवाद उपस्थित होता है कि कौन दर्शन पदार्थकी सत्ताका अविनाभावी है तथा कौन पदार्थके बिना केवल काल्पनिक है? प्रत्येक यही कहता है कि हमारे दर्शनने आत्माको उसी प्रकार देखा है जैसा हम कहते हैं, तब यह निर्णय कैसे हो कि यह दर्शन वास्तविक अर्थसमुद्भूत है और यह दर्शन मात्र कपोलकल्पित? निर्विकल्प दर्शनको प्रमाण माननेवालोंने भी उसी निर्विकल्पकको प्रमाण माना है जिसकी उत्पत्ति पदार्थसे हुई है। अतः प्रश्न ज्योंका त्यों है कि दर्शन शब्दका वास्तविक क्या अर्थ हो सकता है?

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि अनन्तधर्मवाले पदार्थको ज्ञान करनेके दृष्टिकोणोंको शब्दके द्वारा कहनेके प्रकार अनन्त होते हैं। इनमें जो दृष्टियाँ वस्तुका स्पर्श करती हैं तथा अन्य वस्तुस्पर्शी दृष्टियोंका समादर करती हैं वे सत्योन्मुख हैं। जिनमें यह आग्रह है कि मेरे द्वारा देखा गया ही वस्तुतत्त्व सच्चा और अन्य मिथ्या वे वस्तुस्वरूपसे पराङ्मुख होनेके कारण विसंवादिनी हो जाती हैं। इस तरह वस्तुके स्वरूपके आधारसे दर्शन शब्दके अर्थको बैठानेका प्रयास कथमपि सार्थक हो जाता है। जब वस्तु स्वयं नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भाव-अभाव, आदि विरोधी द्वन्द्वोंका अविरोधी क्रीडास्थल है, उसमें उन सबको मिलकर रहनेमें कोई विरोध नहीं है; तब इन देखनेवालों (दृष्टिकोणों) को क्यों खुराफात सूझता है जो उन्हें एक साथ नहीं रहने देते! प्रत्येक दर्शनके ऋषि अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार वस्तुस्वरूपको देखकर उसका चिन्तन करते हैं और उसी आधारसे विश्वव्यवस्था बैठानेका प्रयास करते हैं उनकी मनन-चिन्तनधारा इतनी तीव्र होती है कि उन्हें भावनावश उस वस्तुका साक्षात्कार-जैसा होने लगता है। और इस भावनात्मक साक्षात्कारको ही दर्शन संज्ञा मिल जाती है।

सम्यग्दर्शनमें भी एक दर्शन शब्द है। जिसका लक्षण तत्त्वार्थसूत्रमें तत्त्वार्थश्रद्धान किया गया है। यहाँ दर्शन शब्दका अर्थ स्पष्टता श्रद्धान ही है। अर्थात् तत्त्वोंमें दृढ़ श्रद्धा या श्रद्धानका होना सम्यग्दर्शन कहलाता है। इस अर्थसे जिसकी जिसपर दृढ़ श्रद्धा अर्थात् तीव्र विश्वास है वही उसका दर्शन है। और यह अर्थ जी को लगता भी है कि अमुक-अमुक दर्शनप्रणेता ऋषियोंको अपने द्वारा प्रणीत तत्त्वपर दृढ़ विश्वास था। विश्वासकी भूमिकाएँ तो जुदी-जुदी होती हैं। अतः जब दर्शन विश्वासकी भूमिकापर आकर प्रतिष्ठित हुआ तब उसमें मतभेदका होना स्वाभाविक बात है। और इसी मतभेदके कारण मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्नाके जीवित रूपमें अनेक दर्शनोंकी सृष्टि हुई और सभी दर्शनोंने विश्वासकी भूमिमें उत्पन्न होकर भी अपनेमें पूर्णता और साक्षात्कारका स्वाँग भरा और अनेक अपरिहार्य मतभेदोंकी सृष्टि की। जिनके समर्थनके लिए शास्त्रार्थ हुए, संघर्ष हुए और दर्शनशास्त्रके इतिहासके पृष्ठ रक्तरंजित किए गए।

सभी दर्शन विश्वासकी भूमिमें पनपकर भी अपने प्रणेताओंमें साक्षात्कार और पूर्ण ज्ञानकी भावनाको फैलाते रहे फलतः जिज्ञासु सन्देहके चौराहेपर पहुँचकर दिग्भ्रान्त होता गया। इस तरह दर्शनोंने अपने-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने विश्वासके अनुसार जिज्ञासुको सत्य साक्षात्कार या तत्त्व साक्षात्कारका पूरा भरोसा तो दिया पर तत्त्व-ज्ञानके स्थानमें संशय ही उसके पल्ले पड़ा।

**जैनदर्शनकी देन**

जैनदर्शनने इस दिशामें उल्लेखयोग्य मार्ग-प्रदर्शन किया है। उसने श्रद्धाकी भूमिकापर जन्म लेकर भी वह वस्तुस्वरूपस्पर्शी विचार प्रस्तुत किया है जिससे वह श्रद्धाकी भूमिकासे निकलकर तत्त्वसाक्षात्कारके रङ्गमंचपर पहुँचा है। उसने बताया कि जगत्का प्रत्येक पदार्थ मूलतः एक रूपमें सत् है। प्रत्येक सत् पर्याय-दृष्टिसे उत्पन्न-विनष्ट होकर भी द्रव्यकी अनाद्यनन्त धारामें प्रवाहित रहता है अर्थात् न वह कूटस्थनित्य है, न सातिशय नित्य न, अनित्य। किन्तु परिणामीनित्य है। जगत्के किसी सत्का विनाश नहीं हो सकता और न किसी असत्की उत्पत्ति। इस तरह स्वरूपतः पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। प्रत्येक पदार्थ नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् जैसे अनेक विरोधी द्वन्द्वोंका अविरोधी आधार है। वह अनन्त शक्तियोंका अखण्ड मौलिक है। उसका परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है पर उसकी मूलधाराका प्रवाह न तो कहीं सूखता है और न किसी दूसरी धारामें विलीन ही होता है। जगत्में अनन्त-चेतन द्रव्य, अनन्त अचेतन द्रव्य, एक धर्म-द्रव्य, एक आकाशद्रव्य, और असंख्यकालद्रव्य अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। वे कभी एक दूसरेमें विलीन नहीं हो सकते और अपना मूलद्रव्यत्व नहीं छोड़ सकते। प्रत्येक प्रतिक्षण परिणामी है। उसका परिणमन सदृश भी होता है विसदृश भी। द्रव्यान्तरसंक्रान्ति इनमें कदापि नहीं हो सकती। इस तरह प्रत्येक चेतन अचेतन-द्रव्य अनन्त धर्मोंका अखण्ड अविभागी मौलिक तत्त्व है। इसी अनेकान्त-अनन्तधर्मा पदार्थको प्रत्येक दार्शनिकने अपने-अपने दृष्टिकोणसे देखनेका प्रयास किया है।

कोई दार्शनिक वस्तुकी सीमाको भी अपनी कल्पनादृष्टिसे लाँघ गए हैं। यथा, वेदान्त दर्शन जगत्में एक ही सत्-ब्रह्मका अस्तित्व मानता है। उसके मतसे अनेक सत् प्रातिभासिक हैं। एक सत्का चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त, निष्क्रिय-सक्रिय आदि विरुद्ध रूपसे मायावश प्रतिभास होता रहता है। इसी प्रकार विज्ञानवाद या शून्यवादने बाह्य घट-पटादि पदार्थोंका लोप करके उनके प्रतिभासको वासनाजन्य बताया है। जहाँ तक जैन दार्शनिकोंने जगत्का अवलोकन किया है वस्तुकी स्थितिको अनेकधर्मात्मक पाया, और इसीलिए अनेकान्तात्मक तत्त्वका उनने निरूपण किया। वस्तुके पूर्णरूपको अनिर्वचनीय वाङ्मानसागोचर या अवक्तव्य सभी दार्शनिकोंने कहा है। इसी वस्तुरूपको विभिन्न दृष्टिकोणोंसे जानने और कथन करनेका प्रयास भिन्न-भिन्न दार्शनिकोंने किया है। जैनदर्शनने वस्तुमात्रको परिणामीनित्य स्वीकार किया। कोई भी सत् पर्याय रूपसे उत्पन्न और विनष्ट होकर भी द्रव्यरूपसे अविच्छिन्न रहता है, अपनी असङ्कीर्ण सत्ता रखता है।

सांख्य दर्शनमें यह परिणामिनित्यता प्रकृति तक ही सीमित है। पुरुष तत्त्व इनके मतमें कूटस्थ नित्य है। उसका विश्व-व्यवस्थामें कोई हाथ नहीं है। प्रकृति परिणामिनी होकर भी एक है। एक ही प्रकृतिका घटपटादि मूर्त रूपमें और आकाशादि अमूर्तरूपमें परिणमन होता है। यही प्रकृति बुद्धि अहङ्कार जैसे चेतन भावों रूपसे परिणत होती है और यही प्रकृति रूपरस गन्ध आदि जड़भाव रूपमें। परन्तु इस प्रकारके विरुद्ध परिणमन एक ही साथ एक ही तत्त्वमें कैसे सम्भव हैं? यह तो हो सकता है कि संसारमें जितने चेतनभिन्न पदार्थ हैं वे एक जातिके हों पर एक तो नहीं हो सकते। वेदान्तीने जहाँ चेतन-भिन्न कोई दूसरा तत्त्व स्वीकार न करके एक सत्का चेतन और अचेतन, मूर्त-अमूर्त, निष्क्रिय-सक्रिय, आन्तर-बाह्य आदि अनेकधा प्रतिभास माना और दृश्य जगत्की परमार्थ सत्ता न मानकर प्रातिभासिक सत्ता ही स्वीकार की वहाँ सांख्य चेतनतत्त्वको अनेक स्वतन्त्रसत्ताक मानकर भी, प्रकृतिको एक स्वीकार करता है और उसमें विरुद्ध परिण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोंकी वास्तविक स्थिति मानना चाहता है। वेदान्तीकी विरुद्ध-प्रतिभास वाली बात कदाचित् समझमें आ भी जाय पर सांख्यकी विरुद्धपरिणमनोंकी वास्तविक स्थिति स्पष्टतः बाधित है।

वेदान्तकी इस असङ्गतिका परिहार तो सांख्यने अनेक चेतन और जड़प्रकृति मानकर किया कि—'अद्वैत ब्रह्म तत्त्वमें बद्ध और मुक्त चैतन्य जुदा-जुदा कैसे हो सकते हैं? एक ही ब्रह्मतत्त्व चेतन और जड़ इन दो महाविरोधी परिणमनोंका आधार कैसे बन सकता है?' अनेक चेतन माननेसे कोई बद्ध और कोई मुक्त रह सकता है। जड़ प्रकृति माननेसे जड़ात्मक परिणमन प्रकृतिके हो सकते हैं? परन्तु एक अखण्ड-सत्ताक प्रकृति अमूर्त आकाश भी बन जाय और मूर्त घड़ा भी बन जाय। बुद्धि अहंकार भी बने और रूप-रस भी बने, सो भी परमार्थतः; यह महान् विरोध सर्वथा अपरिहार्य है। एक सेर वजनके घड़ेको फोड़कर आधा-आधा सेरके दो वजनदार ठोस टुकड़े किये जाते हैं जो अपनी पृथक् ठोस सत्ता रखते हैं। यह विभाजन एकसत्ताक प्रकृतिमें कैसे हो सकता है। संसारके यावत् जड़ोंमें सत्त्व रजस्तमस इन तीन गुणोंका अन्वय देखकर एकजातीयता तो मानी जा सकती है, एकसत्ता नहीं। इस तरह सांख्यकी विश्वव्यवस्थामें अपरिहार्य असंगति बनी रहती है।

न्यायवैशेषिकोंने जडतत्त्वका पृथक्-पृथक् विभाजन किया। मूर्तद्रव्य जुदा माने, अमूर्त जुदा। पृथिवी आदिके अनन्त परमाणु स्वीकार किए। पर ये इतने भेदपर उतरे कि क्रिया गुण सम्बन्ध सामान्य आदि परिणमनोंको भी स्वतन्त्र पदार्थ मानने लगे, यद्यपि गुण क्रिया सामान्य आदिकी पृथक् उपलब्धि नहीं होती और न ये पृथक्सिद्ध ही हैं। वैशेषिकको संप्रत्योपाध्याय कहा है। इसकी प्रकृति है—जितने प्रत्यय हों उतने पदार्थ स्वीकार कर लेना। 'गुणः गुणः प्रत्यय' हुआ तो गुण पदार्थ मान लिया। 'कर्म कर्म' प्रत्यय हुआ एक स्वतन्त्र कर्म पदार्थ माना गया। फिर इन पदार्थोंका द्रव्यके साथ सम्बन्ध स्थापितकरनेके लिए समवाय नामका स्वतन्त्र पदार्थ मानना पड़ा। जलमें गन्धकी, अग्निमें रसकी और वायुमें रूपकी अनुद्भूति देखकर पृथक् पृथक् द्रव्य माने। पर वस्तुतः वैशेषिकका प्रत्ययके आधारसे स्वतन्त्र पदार्थ माननेका सिद्धान्त ही गलत है। प्रत्ययके आधारसे उसके विषयभूत धर्म तो जुदा-जुदा किसी तरह माने जा सकते हैं, पर स्वतन्त्र पदार्थ मानना किसी तरह युक्तिसंगत नहीं है। इस तरह एक ओर वेदान्ती या सांख्यने क्रमशः जगत्में और प्रकृतिमें अभेदकी कल्पना की वहाँ वैशेषिकने आत्यन्तिक भेदको अपने दर्शनका आधार बनाया। उपनिषत्में जहाँ वस्तुके कूटस्थनित्यत्वको स्वीकार किया गया है वहाँ अजित केशकम्बलि जैसे उच्छेदवादी भी विद्यमान थे। बुद्धने आत्माके मरणोत्तर जीवन और शरीरसे उसके भेदाभेदको अव्याकरणीय बताया है। बुद्धको डर था कि यदि हम आत्माके अस्तित्वको मानते हैं तो नित्यात्मवादका प्रसङ्ग आता है और यदि आत्माका नास्तित्व कहते हैं तो उच्छेदवादकी आपत्ति आती है। अतः उनने इन दोनों वादोंके डरसे उसे अव्याकरणीय कहा है। अन्यथा उनका सारा उपदेश भूतवादके विरुद्ध आत्मवादकी भित्तिपर है ही।

जैनदर्शन वास्तवमें बहुत्ववादी है। वह अनन्त चेतनतत्त्व, अनन्त पुद्गलद्रव्य-परमाणुरूप, एक धर्म-द्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्य कालाणुद्रव्य इसप्रकार अनन्त वास्तविक मौलिक अखण्ड द्रव्योंको स्वीकार करता है। द्रव्य सत्-स्वरूप है। प्रत्येक सत् चाहे वह चेतन हो या चेतनेतर परिणामी-नित्य है। उसका पर्यायरूपसे परिणमन प्रतिक्षण होता ही रहता है। यह परिणमन अर्थपर्याय कहलाता है। अर्थपर्याय सदृश भी होती है और विसदृश भी। शुद्ध द्रव्योंकी अर्थपर्याय सदा एकसी सदृश होती हैं, पर होती है अवश्य। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, आकाशद्रव्य, शुद्धजीवद्रव्य इनका परिणमन सदा सदृश होता है। पुद्गलका परिणमन सदृश भी होता है विसदृश भी।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें वैभाविक शक्ति है और इस शक्तिके कारण इनका विसदृश परिणमन भी होता है। जब जीव शुद्ध हो जाता है तब विलक्षण परिणमन नहीं होता। इस वैभाविक शक्तिका स्वाभाविक ही परिणमन होता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक सत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यशाली होनेसे परिणामीनित्य है। दो स्वतन्त्र सत्में रहनेवाला एक कोई सामान्य पदार्थ नहीं है। केवल अनेक जीवोंको जीवत्व नामक सादृश्यसे संग्रह करके उनमें एक जीवद्रव्य व्यवहार कर दिया जाता है। इसी तरह चेतन और अचेतन दो भिन्नजातीय द्रव्योंमें 'सत्' नामका कोई स्वतन्त्रसत्ताक पदार्थ नहीं है। परन्तु सभी द्रव्योंमें परिणामिनित्यत्व नामकी सदृशताके कारण 'सत्, सत्' यह व्यवहार कर लिया जाता है। अनेक द्रव्योंमें रहनेवाला कोई स्वतन्त्र सत् नामका कोई वस्तुभूत तत्त्व नहीं है। ज्ञान, रूपादि गुण, उत्क्षेपण आदि क्रियाएँ सामान्य विशेष आदि सभी द्रव्यकी अवस्थाएँ हैं पृथक्सत्ताक पदार्थ नहीं। यदि बुद्ध इस वस्तुस्थितिपर गहराईसे विचार करते तो इस निरूपणमें न उन्हें उच्छेदवादका भय होता और न शाश्वतवादका। और जिस प्रकार उनने आचारके क्षेत्रमें मध्यमप्रतिपदाको उपादेय बताया है उसी तरह वे इस अनन्तधर्मा वस्तुतत्त्वके निरूपणको भी परिणामिनित्यतामें ढाल देते।

स्याद्वाद—जैनदर्शनने इस तरह सामान्यरूपसे यावत् सत्को परिणामीनित्य माना है। प्रत्येक सत् अनन्तधर्मात्मक है। उसका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है। अनेकान्त अर्थका निर्दुष्टरूपसे कथन करनेवाली भाषा स्याद्वाद रूप होती है। उसमें जिस धर्मका निरूपण होता है उसके साथ 'स्यात्' शब्द इसलिए लगा दिया जाता है जिससे पूरी वस्तु उसी धर्म रूप न समझ ली जाय। अविवक्षित शेषधर्मोंका अस्तित्व भी उसमें है यह प्रतिपादन 'स्यात्' शब्दसे होता है।

स्याद्वादका अर्थ है—स्यात्-अमुक निश्चित अपेक्षासे। अमुक निश्चित अपेक्षासे घट अस्ति ही है और अमुक निश्चित अपेक्षासे घट नास्ति ही है। स्यात्का अर्थ न तो शायद है न संभवतः और न कदाचित् ही। 'स्यात्' शब्द सुनिश्चित दृष्टिकोणका प्रतीक है। इस शब्दके अर्थको पुराने मतवादी दार्शनिकोंने ईमानदारीसे समझनेका प्रयास तो नहीं ही किया था किन्तु आज भी वैज्ञानिक दृष्टिकी दुहाई देनेवाले दर्शनलेखक उसी भ्रान्त परम्पराका पोषण करते आते हैं।

स्याद्वाद—सुनयका निरूपण करनेवाली भाषा-पद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चित रूपसे बताता है कि वस्तु केवल धर्मवाली ही नहीं है उसमें इसके अतिरिक्त भी धर्म विद्यमान हैं। तात्पर्य यह कि—अविवक्षित शेष धर्मोंका प्रतिनिधित्व स्यात् शब्द करता है। 'रूपवान् घटः' यह वाक्य भी अपने भीतर 'स्यात्' शब्दको छिपाये हुए है। इसका अर्थ है कि 'स्यात् रूपवान् घटः' अर्थात् चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य होनेसे या रूप गुणकी सत्ता होनेसे घड़ा रूपवान् है, पर रूपवान् ही नहीं है उसमें रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनेक गुण, छोटा बड़ा आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं। इन अविवक्षित गुणधर्मोंके अस्तित्वकी रक्षा करनेवाला 'स्यात्' शब्द है। 'स्यात्'का अर्थ शायद या सम्भावना नहीं है किन्तु निश्चय है। अर्थात् घड़ेमें रूपके अस्तित्वकी सूचना तो 'रूपवान्' शब्द दे ही रहा है पर उन उपेक्षित शेष धर्मोंके अस्तित्वकी सूचना 'स्यात्' शब्दसे होती है। सारांश यह कि 'स्यात्' शब्द 'रूपवान्' के साथ नहीं जुटता है, किन्तु अविवक्षित धर्मोंके साथ। वह 'रूपवान्' को पूरी वस्तुपर अधिकार जमानेसे रोकता है और कह देता है कि वस्तु बहुत बड़ी है उसमें रूप भी एक है। ऐसे अनन्त गुणधर्म वस्तुमें लहरा रहे हैं। अभी रूपकी विवक्षा या दृष्टि होनेसे वह सामने है या शब्दसे उच्चरित हो रहा है सो वह मुख्य हो सकती है पर वही सब कुछ नहीं है। दूसरे क्षणमें रसकी मुख्यता होनेपर रूप गौण हो जायगा और वह अविवक्षित शेष धर्मोंकी राशिमें शामिल हो जायगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'स्यात्' शब्द एक प्रहरी है, जो उच्चरित धर्मको इधर-उधर नहीं जाने देता। वह उन अविवक्षित धर्मोंका संरक्षक है। इसलिए 'रूपवान्' के साथ 'स्यात्' शब्दका अन्वय करके जो लोग घड़ेमें रूपकी भी स्थितिको स्यात्का शायद या संभावना अर्थ करके संदिग्ध बनाना चाहते हैं वे भ्रममें हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घटः' वाक्यमें 'घटः अस्ति' यह अस्तित्व अंश घटमें सुनिश्चित रूपसे विद्यमान है। स्यात् शब्द उस अस्तित्व-की स्थिति कमजोर नहीं बनाता, किन्तु उसकी वास्तविक स्थितिकी सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मोंके सद्भावका प्रतिनिधित्व करता है। सारांश यह कि 'स्यात्' पद एक स्वतन्त्र पद है जो वस्तुके शेषांशका प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं 'अस्ति' नामका धर्म जिसे शब्दसे उच्चरित होनेके कारण प्रमुखता मिली है पूरी वस्तुको न हड़प जाय, अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियोंके स्थानको समाप्त न कर जाय। इसलिए वह प्रतिवाक्यमें चेतावनी देता रहता है कि हे भाई अस्ति, तुम वस्तुके एक अंश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयोंके हकको हड़पनेकी चेष्टा नहीं करना। इस भयका कारण है—'नित्य ही है, अनित्य ही है' आदि अंशवाक्योंने अपना पूर्ण अधिकार वस्तुपर जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत्में अनेक तरहसे वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थके साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद-प्रतिवादने अनेक मतवादोंकी सृष्टि करके अहंकार हिंसा संघर्ष अनुदारता परमतासहिष्णुता आदिसे विश्वको अशान्त और आकुलतामय बना दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्यके उस जहरको निकाल देता है जिससे अहंकारका सर्जन होता है और वस्तुके अन्य धर्मोंके अस्तित्वसे इनकार करके पदार्थके साथ अन्याय होता है।

'स्यात्' शब्द एक निश्चित अपेक्षाको द्योतन करके जहाँ 'अस्तित्व' धर्मकी स्थिति सुदृढ़ सहेतुक बनाता है, वहाँ वह उसको उस सर्वहरा प्रवृत्तिको भी नष्ट करता है जिससे वह पूरी वस्तुका मालिक बनना चाहता है। वह न्यायाधीशकी तरह तुरन्त कह देता है कि—हे अस्ति, तुम अपने अधिकारकी सीमाको समझो। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार तुम घटमें रहते हो, उसी तरह परद्रव्यादिकी अपेक्षा 'नास्ति' नामका तुम्हारा भाई भी उसी घटमें है। इसी प्रकार घटका परिवार बहुत बड़ा है। अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है इसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुमसे काम है, तुम्हारा प्रयोजन है, तुम्हारी विवक्षा है। अतः इस समय तुम मुख्य हो। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है जो तुम अपने समानाधिकारी भाइयोंके सद्भावको भी नष्ट करनेका दुष्प्रयास करो। वास्तविक बात तो यह है कि यदि परकी अपेक्षा 'नास्ति' धर्म न हो तो जिस घड़ेमें तुम रहते हो वह घड़ा घड़ा ही न रहेगा कपड़ा आदि पररूप हो जायगा। अतः जैसी तुम्हारी स्थिति है वैसी ही पर रूपकी अपेक्षा 'नास्ति' धर्मकी भी स्थिति है। तुम उनकी हिंसा न कर सको इसके लिए अहिंसाका प्रतीक 'स्यात्' शब्द तुमसे पहले ही वाक्यमें लगा दिया जाता है। भाई अस्ति, यह तुम्हारा दोष नहीं है। तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि अनन्य भाइयोंको वस्तुमें रहने देते हो और बड़े प्रेमसे सबके सब अनन्त धर्मभाई रहते हो, पर इन वस्तुदर्शियोंकी दृष्टिको क्या कहा जाय। इनकी दृष्टि ही एकाङ्गी है। ये शब्दके द्वारा तुममेंसे किसी एक 'अस्ति' आदिको मुख्य करके उसकी स्थिति इतनी अहंकारपूर्ण कर देना चाहते हैं जिससे वह 'अस्ति' अन्यका निराकरण करने लग जाय। बस, 'स्यात्' शब्द एक अञ्जन है जो उनकी दृष्टिको विकृत नहीं होने देता और उसे निर्मल तथा पूर्णदर्शी बनाता है। इस अविवक्षितसंरक्षक, दृष्टिविषहारी, शब्दको सुधारूप बनानेवाले, सचेतक प्रहरी, अहिंसक भावनाके प्रतीक, जीवन्त न्यायरूप, सुनिश्चित-अपेक्षाद्योतक 'स्यात्' शब्दके स्वरूपके साथ हमारे दार्शनिकोंने न्याय तो किया ही नहीं किन्तु उसके स्वरूपको 'शायद, संभव है, 'कदाचित्' जैसे भ्रष्ट पर्यायोंसे विकृत करनेका दुष्ट प्रयत्न अवश्य किया है तथा किया जा रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सबसे थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि 'घड़ा जब 'अस्ति' है तो 'नास्ति' कैसे हो सकता है, घड़ा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है, यह तो प्रत्यक्ष विरोध है' पर विचार तो करो घड़ा घड़ा ही है, कपड़ा नहीं, कुरसी नहीं, टेबिल नहीं, गाय नहीं, घोड़ा नहीं, तात्पर्य यह कि वह घटभिन्न अनन्त पदार्थ-रूप नहीं है। तो यह कहनेमें आपको क्यों संकोच होता है कि 'घड़ा अपने स्वरूपसे अस्ति है, घटभिन्न पररूपोंसे नास्ति है। इस घड़ेमें अनन्त पररूपोंकी अपेक्षा 'नास्तित्व' धर्म है, नहीं तो दुनियामें कोई शक्ति घड़ेको कपड़ा आदि बननेसे नहीं रोक सकती। यह 'नास्ति' धर्म ही घड़ेको घड़े रूपमें कायम रखनेका हेतु है। इसी 'नास्ति' धर्मकी सूचना 'अस्ति' के प्रयोगके समय 'स्यात्' शब्द दे देता है। इसी तरह घड़ा एक है। पर वही घड़ा रूप रस गन्ध स्पर्श छोटा बड़ा हलका भारी आदि अनन्त शक्तियोंकी दृष्टिसे अनेकरूपमें दिखाई देता है या नहीं ? यह आप स्वयं बतावें। यदि अनेक रूपमें दिखाई देता है तो आपको यह कहनेमें क्या कष्ट होता है कि घड़ा द्रव्य एक है, पर अपने गुण धर्म शक्ति आदिकी दृष्टिसे अनेक है'। कृपाकर सोचिए कि वस्तुमें जब अनेक विरोधी धर्मोंका प्रत्यक्ष हो ही रहा है और स्वयं वस्तु अनन्त विरोधी धर्मोंका अविरोधी क्रीड़ास्थल है तब हमें उसके स्वरूपको विकृत रूपमें देखनेकी दुर्दृष्टि तो नहीं करनी चाहिए। जो 'स्यात्' शब्द वस्तुके इस पूर्ण रूप-दर्शनकी याद दिलाता है उसे ही हम 'विरोध, संशय'—जैसी गालियोंसे दुरदुराते हैं, किमाश्चर्यमतः परम्। यहाँ धर्मकीर्तिका यह श्लोकांश ध्यानमें आ जाता है कि—

'यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।'

अर्थात्—यदि यह अनेक धर्मरूपता वस्तुको स्वयं पसन्द है, उसमें है, वस्तु स्वयं राजी है, तो हम बीचमें काजी बननेवाले कौन ? जगत्का एक-एक कण इस अनन्तधर्मताका आकार है। हमें अपनी दृष्टि निर्मल और विशाल बनानेकी आवश्यकता है। वस्तुमें कोई विरोध नहीं है। विरोध हमारी दृष्टिमें है। और इस दृष्टिविरोधकी अमृतौषधि 'स्यात्' शब्द है, जो रोगीको कटु तो जरूर मालूम होती है, पर इसके बिना यह दृष्टि विषमज्वर उतर भी नहीं सकता।

प्रो० बलदेव उपाध्यायने भारतीय दर्शन ( पृ० १५५ ) में स्याद्वादका अर्थ बताते हुए लिखा है कि—''स्यात् ( शायद, सम्भवतः ) शब्द अस् धातुके विधिलिङ्के रूपका तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। घड़ेके विषयमें हमारा परामर्श 'स्यादस्ति = संभवतः यह विद्यमान है' इसी रूपमें होना चाहिए।'' यहाँ 'स्यात्' शब्दको शायदका पर्यायवाची तो उपाध्यायजी स्वीकार नहीं करना चाहते। इसीलिए वे शायद शब्दको कोष्टकमें लिखकर भी आगे 'संभवतः' शब्दका समर्थन करते हैं। वैदिक आचार्योंमें शंकराचार्यने शांकरभाष्यमें स्याद्वादको संशयरूप लिखा है, इसका संस्कार आज भी कुछ विद्वानोंके माथेमें पड़ा हुआ है और वे उस संस्कारवश स्यात्का अर्थ 'शायद' लिख ही जाते हैं। जब यह स्पष्ट रूपसे अवधारण करके कहा जाता है कि—'घटः स्यादस्ति' अर्थात् घड़ा अपने स्वरूपसे है ही। घटः स्यान्नास्ति—घट स्वभिन्न स्वरूपसे नहीं ही है' तब संशयको स्थान कहाँ है ? स्यात् शब्दसे जिस धर्मका प्रतिपादन किया जा रहा है उससे भिन्न अन्य धर्मोंके सद्भावको सूचित करता है। वह प्रति समय श्रोताको यह सूचना देना चाहता है कि वक्ताके शब्दोंसे वस्तुके जिस स्वरूपका निरूपण हो रहा है वस्तु उतनी ही नहीं है उनमें अन्य धर्म भी विद्यमान हैं। जब कि संशय और शायदमें एक भी धर्म निश्चित नहीं होता। जैनके अनेकान्तमें अनन्त धर्म निश्चित हैं, उनके दृष्टिकोण निश्चित हैं तब संशय और शायदकी उस भ्रान्त परम्पराको आज भी अपनेको तटस्थ माननेवाले विद्वान् भी चलाए जाते हैं यह रूढ़िवादका ही माहात्म्य है।

इसी संस्कारवश प्रो० बलदेवजी स्यात्के पर्यायवाचियोंमें शायद शब्दको लिखकर ( पृ० १७३ ) जैन-दर्शनकी समीक्षा करते समय शंकराचार्यकी वकालत इन शब्दोंमें करते हैं कि—''यह निश्चित ही है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी समन्वय दृष्टिसे वह पदार्थोंके विभिन्न रूपोंका समीकरण करता जाता तो समग्र विश्वमें अनुस्यूत परम तत्त्व तक अवश्य ही पहुँच जाता। इसी दृष्टिको ध्यानमें रखकर शंकराचार्यने इस 'स्याद्वाद' का मार्मिक खण्डन अपने शारीरक भाष्य ( २, २, ३३ ) में प्रबल युक्तियोंके सहारे किया है।" पर उपाध्यायजी, जब आप स्यात्का अर्थ निश्चित रूपसे 'संशय' नहीं मानते, तब शंकराचार्यके खण्डनका मार्मिकत्व क्या रह जाता है? आप कृपाकर स्व० महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झाके इन वाक्योंको देखें—"जबसे मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्तका खंडन पढ़ा है, तबसे मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्तमें बहुत कुछ है जिसे वेदान्तके आचार्योंने नहीं समझा।" श्री फणिभूषण अधिकारी तो और स्पष्ट लिखते हैं कि—"जैनधर्मके स्याद्वाद सिद्धान्तको जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्तको नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोषसे मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्तके प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषोंके लिए क्षम्य हो सकती थी। किन्तु यदि मुझे कहनेका अधिकार है तो मैं भारतके इस महान् विद्वान्के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षिको अतीव आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है उन्होंने इस धर्मके दर्शनशास्त्रके मूल ग्रन्थोंके अध्ययनकी परवाह नहीं की।"

जैनदर्शन स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार वस्तुस्थितिके आधारसे समन्वय करता है। जो धर्म वस्तुमें विद्यमान हैं उन्हींका समन्वय हो सकता है। जैनदर्शनको आप वास्तव बहुत्ववादी लिख आये हैं। अनेक स्वतन्त्र सत् व्यवहारके लिए सद्रूपसे एक कहे जायँ, पर वह काल्पनिक एकत्व वस्तु नहीं हो सकता? यह कैसे सम्भव है कि चेतन और अचेतन दोनों ही एक सत्के प्रातिभासिक विवर्त हों।

जिस काल्पनिक समन्वयकी ओर उपाध्यायजी संकेत करते हैं उस ओर भी जैन दार्शनिकोंने प्रारम्भसे ही दृष्टिपात किया है। परम संग्रहनयकी दृष्टिसे सद्रूपसे यावत् चेतन-अचेतन द्रव्योंका संग्रह करके 'एकं सत्' इस शब्दव्यवहारके होनेमें जैन दार्शनिकोंको कोई आपत्ति नहीं है। सैकड़ों काल्पनिक व्यवहार होते हैं, पर इससे मौलिक तत्त्वव्यवस्था नहीं की जा सकती? एक देश या एक राष्ट्र अपनेमें क्या वस्तु है? समय-समयपर होनेवाली बुद्धिगत दैशिक एकताके सिवाय एकदेश या एकराष्ट्रका स्वतन्त्र अस्तित्व ही क्या है? अस्तित्व जुदा-जुदा भूखण्डोंका अपना है। उसमें व्यवहारकी सुविधाके लिए प्रान्त और देश संज्ञाएँ जैसे काल्पनिक हैं, व्यवहारसत्य है, उसी तरह एक सत् या एक ब्रह्म काल्पनिकसत् होकर व्यवहारसत्य बन सकता है और कल्पनाकी दौड़का चरम बिन्दु भी हो सकता है पर उसका तत्त्वसत् या परमार्थसत् होना नितान्त असम्भव है। आज विज्ञान एटम तकका विश्लेषण कर चुका है और सब मौलिक अणुओंकी पृथक् सत्ता स्वीकार करता है। उनमें अभेद और इतना बड़ा अभेद जिसमें चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि सभी लीन हो जायँ कल्पनासाम्राज्यकी अन्तिम कोटि है। और इस कल्पनाकोटिको परमार्थसत् न माननेके कारण यदि जैनदर्शनका स्याद्वाद सिद्धान्त आपको मूलभूत तत्त्वके स्वरूप समझानेमें नितान्त असमर्थ प्रतीत होता है तो हो, पर वह वस्तुसीमाका उल्लंघन नहीं कर सकता और न कल्पनालोककी लम्बी दौड़ ही लगा सकता है।

स्यात् शब्दको उपाध्यायजी संशयका पर्यायवाची नहीं मानते यह तो प्रायः निश्चित है क्योंकि आप स्वयं लिखते हैं ( पृ० १७३ ) कि—"यह अनेकान्तवाद संशयवादका रूपान्तर नहीं है;" पर आप उसे संभववाद अवश्य कहना चाहते हैं। परन्तु स्यात्का अर्थ 'संभवतः' करना भी न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि संभावना संशयमें जो कोटियाँ उपस्थित होती हैं उनकी 'अनिश्चितता' की ओर संकेतमात्र है, निश्चय उससे भिन्न ही है। उपाध्यायजी स्याद्वादको संशयवाद और निश्चयवादके बीच संभावनावादको जगह रखना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहते हैं जो एक अनध्यवसायात्मक अनिश्चयके समान है। परन्तु जब स्याद्वाद स्पष्ट रूपसे इंकेकी चोट यह कह रहा है कि—घड़ा 'स्यादस्ति' अर्थात् अपने स्वरूप, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने आकार इस स्वचतुष्टयकी अपेक्षा है ही यह निश्चित अवधारण है। घड़ा स्वसे भिन्न यावत् पर पदार्थोंकी दृष्टिसे नहीं ही है यह भी निश्चित अवधारण है। इस तरह जब दोनों धर्मोंका अपने-अपने दृष्टिकोणसे घड़ा अविरोधी आधार है तब घड़ेको हम उभयदृष्टिसे अस्ति-नास्ति रूप भी निश्चित ही कहते हैं। पर शब्दमें यह सामर्थ्य नहीं है कि घटके पूर्णरूपको—जिसमें 'अस्ति-नास्ति' जैसे एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेकों युगल-धर्म लहरा रहे हैं—कह सके अतः समग्रभावसे घड़ा अवक्तव्य है। इस प्रकार जब स्याद्वाद सुनिश्चित दृष्टिकोणोंसे तत्तत् धर्मोंके वास्तविक निश्चयकी घोषणा करता है तब इसे सम्भावनावादमें कैसे रखा जा सकता है? स्यात् शब्दके साथ ही एवकार भी लगा रहता है जो निर्दिष्ट धर्मका अवधारण सूचित करता है तथा स्यात् शब्द उस निर्दिष्ट धर्मसे अतिरिक्त अन्य धर्मोंकी निश्चित स्थितिकी सूचना देता है। जिससे श्रोता यह न समझ ले कि वस्तु इसी धर्मरूप है। यह स्याद्वाद कल्पित धर्मोंतक व्यवहारके लिए भले ही पहुँच जाय, पर वस्तुव्यवस्थाके लिए वस्तुकी सीमाको नहीं लाँघता। अतः न यह संशयवाद है, न अनिश्चयवाद और न संभावनावाद ही, किन्तु खरा अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद है।

इसी तरह डॉ० देवराजजी का पूर्वी और पश्चिमी दर्शन ( पृष्ठ ६५ ) में किया गया स्यात् शब्दका 'कदाचित्' अनुवाद भी भ्रामक है। कदाचित् शब्द कालापेक्ष है। इसका सीधा अर्थ है किसी समय। और प्रचलित अर्थमें यह संशयकी ओर ही झुकाता है। स्यात्का प्राचीन अर्थ है कथञ्चित्—अर्थात् किसी निश्चित प्रकारसे, स्पष्ट शब्दोंमें अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे। इस प्रकार अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद ही स्याद्वादका अभ्रान्त वाच्यार्थ है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायनने तथा इतः पूर्व प्रो० जैकोबी आदिने स्याद्वादकी उत्पत्तिको संजय वेलट्ठिपुत्तके मतसे बतानेका प्रयत्न किया है। राहुलजीने 'दर्शन दिग्दर्शन ( पृ० ४९६ )' में लिखा है कि—"आधुनिक जैनदर्शनका आधार स्याद्वाद है। जो मालूम होता है संजय वेलट्ठिपुत्तके चार अंगवाले अनेकान्तवादको लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है। संजयने तत्त्वों ( परलोक देवता ) के बारेमें कुछ भी निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इन्कार करते हुए उस इन्कारको चार प्रकार कहा है—

१—है ? नहीं कह सकता।
२—नहीं है ? नहीं कह सकता।
३—है भी और नहीं भी ? नहीं कह सकता।
४—न है और न नहीं है ? नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिये जैनोंके सात प्रकारके स्याद्वादसे—

१—है ? हो सकता है ( स्यादस्ति )
२—नहीं है ? नहीं भी हो सकता है ( स्यान्नास्ति )
३—है भी और नहीं भी ? है भी और नहीं भी हो सकता ( स्यादस्ति च नास्ति च )

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते हैं ( = वक्तव्य हैं ) ? इसका उत्तर जैन 'नहीं' में देते हैं—

४—स्याद् ( हो सकता है ) क्या यह कहा जा सकता ( = वक्तव्य ) है ? नहीं, स्याद् अवक्तव्य है।
५—'स्यादस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६–'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।

७–'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं 'स्यादस्ति च नास्ति च' अ-वक्तव्य है।

दोनोंके मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोंने संजयके पहिलेवाले तीन वाक्यों ( प्रश्न और उत्तर दोनों ) को अलग करके अपने स्याद्वादकी छह भंगियाँ बनाई हैं और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नहीं है' को जोड़कर 'स्याद्' भी अवक्तव्य है, यह सातवाँ भंग तैयारकर अपनी सप्तभंगी पूरी की।.....

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त ( = वाद ) की स्थापना न करना जो कि संजयका वाद था, उसीको संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर जैनोंने अपना लिया और उसको चतुर्भंगी न्यायको सप्तभंगीमें परिणत कर दिया।"

राहुलजी ने उक्त सन्दर्भमें सप्तभंगी और स्याद्वादके स्वरूपको न समझकर केवल शब्दसाम्यसे एक नये मतकी सृष्टि की है। यह तो ऐसा हो है जैसे कि चोरसे "क्या तुम अमुक जगह गये थे ? यह पूछनेपर वह कहे कि मैं नहीं कह सकता कि गया था" और जज अन्य प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दे कि चोर अमुक जगह गया था। तब शब्दसाम्य देखकर यह कहना कि जजका फैसला चोरके बयानसे निकला है।

संजयवेलट्ठिपुत्तके दर्शनका विवेचन स्वयं राहुलजीने ( पृ० ४९१ ) इन शब्दोंमें किया है—"यदि आप पूछें—'क्या परलोक है ?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरहसे भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है। परलोक नहीं नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है।"

सजयके परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्तिके सम्बन्धके ये विचार शतप्रतिशत अनिश्चयवादके हैं। वह स्पष्ट कहता है कि—"यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ।" संजयको परलोक मुक्ति आदिके स्वरूपका कुछ भी निश्चय नहीं था इसलिए उसका दर्शन बकौल राहुलजीके मानवकी सहजबुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहता और न कुछ निश्चयकर भ्रान्त धारणाओंकी पुष्टि ही करना चाहता है। तात्पर्य यह कि संजय घोर अनिश्चयवादी था।

**बुद्ध और संजय**—बुद्धने "लोक नित्य है[१], अनित्य है,[२] नित्य-अनित्य है[३], न नित्य, न अनित्य है[४]; लोक अन्तवान् है[१], नहीं है[२], है-नहीं है[३], न है न नहीं है[४]; निर्वाणके बाद तथागत होते हैं[१], नहीं होते[२], होते-नहीं होते[३], न होते न नहीं होते[४]; जीव शरीरसे भिन्न है[१], जीव शरीरसे भिन्न नहीं है[२]।" ( माध्यमिक वृत्ति पृ० ४४६ ) इन चौदह वस्तुओंको अव्याकृत कहा है। मज्झिमनिकाय ( २।२।३ ) में इनकी संख्या दश है। इसमें आदिके दो प्रश्नोंमें तीसरा और चौथा विकल्प नहीं गिना गया है। इनके अव्याकृत होनेका कारण बुद्धने बताया है कि इनके बारेमें कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्याके लिये उपयोगी नहीं, न यह निर्वेद निरोध शान्ति या परमज्ञान निर्वाणके लिये आवश्यक है। तात्पर्य यह कि बुद्धकी दृष्टिमें इनका जानना मुमुक्षुके लिए आवश्यक नहीं था। दूसरे शब्दोंमें बुद्ध भी संजयकी तरह, इनके बारेमें कुछ कहकर मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहते थे और न भ्रान्त धारणाओं को पुष्ट ही करना चाहते थे। हाँ, संजय जब अपनी अज्ञानता या अनिश्चयको साफ-साफ शब्दोंमें कह देता है कि यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ, तब बुद्ध अपने जानने-न जाननेका उल्लेख न करके उस रहस्यको शिष्योंके लिए अनुपयोगी बताकर अपना पीछा छुड़ा लेते हैं। किसी भी तार्किकका यह प्रश्न अभी तक असमाहित ही रह जाता है कि इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अव्याकृतता और संजयके अनिश्चयवादमें क्या अन्तर है ? सिवाय इसके कि संजय फक्कड़की तरह खरी-खरी बात कह देता है और बुद्ध बड़े आदमियोंकी शालीनताका निर्वाह करते हैं।

बुद्ध और संजय ही क्या, उस समयके वातावरणमें आत्मा लोक परलोक और मुक्तिके स्वरूपके सम्बन्धमें—'है ( सत् ), नहीं ( असत् ), है-नहीं (सदसत् उभय), न है न नहीं है (अवक्तव्य या अनुभय)।' ये चार कोटियाँ गूँज रही थीं। कोई भी प्राश्निक किसी भी तीर्थङ्कर या आचार्यसे बिना किसी संकोचके अपने प्रश्नको एक साँसमें ही उक्त चार कोटियोंमें विभाजित करके ही पूछता था। जिस प्रकार आज कोई भी प्रश्न मजदूर और पूँजीपति शोषक और शोष्यके द्वन्द्वकी छायामें ही सामने आता है, उसी प्रकार उस समय आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंके प्रश्न सत् असत् उभय और अनुभय-अनिर्वचनीय इस चतुष्कोटिमें आवेष्टित रहते थे। उपनिषद् या ऋग्वेदमें इस चतुष्कोटिके दर्शन होते हैं। विश्वके स्वरूपके सम्बन्धमें असत्से सत् हुआ ? या सत्से सत् हुआ ? या सदसत् दोनों रूपसे अनिर्वचनीय है ? इत्यादि प्रश्न उपनिषद् और वेदमें बराबर उपलब्ध होते हैं ? ऐसी दशामें राहुलजीका स्याद्वादके विषयमें यह फतवा दे देना कि संजयके प्रश्नोंके शब्दोंसे या उसकी चतुर्भङ्गीको तोड़मरोड़कर सप्तभङ्गी बनी—कहाँ तक उचित है, यह वे स्वयं विचारें। बुद्धके समकालीन जो छह तीर्थिक थे उनमें महावीर निग्गण्ठ नाथपुत्रकी, सर्वज्ञ और सर्वदर्शीके रूपमें प्रसिद्धि थी। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे या नहीं यह इस समयकी चरचाका विषय नहीं है, पर वे विशिष्ट तत्त्वविचारक थे और किसी भी प्रश्नको संजयकी तरह अनिश्चय कोटि या विक्षेप[1] कोटिमें या बुद्धकी तरह अव्याकृत कोटिमें डालनेवाले नहीं थे और न शिष्योंकी सहज जिज्ञासाको अनुपयोगिताके भयप्रद चक्करमें डुबा देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि संघके पँचमेल व्यक्ति जब तक वस्तुतत्त्वका ठीक निर्णय नहीं कर लेते तब तक उनमें बौद्धिक दृढ़ता और मानसबल नहीं आ सकता। वे सदा अपने समानशील अन्य संघके भिक्षुओंके सामने अपनी बौद्धिक दीनताके कारण हतप्रभ रहेंगे और इसका असर उसके जीवन और आचारपर आये बिना नहीं रहेगा। वे अपने शिष्योंको पर्देबन्द पद्मनियोंकी तरह जगत्के स्वरूप-विचारकी बाह्य हवासे अपरिचित नहीं रखना चाहते थे, किन्तु चाहते थे कि प्रत्येक प्राणी अपनी सहज जिज्ञासा और मननशक्तिका वस्तुके यथार्थ स्वरूपके विचारकी ओर लगावे। न उन्हें बुद्धकी तरह यह भय व्याप्त था कि यदि आत्माके सम्बन्धमें 'है' कहते हैं तो शाश्वतवाद अर्थात् उपनिषद्वादियोंकी तरह लोग नित्यत्वकी ओर झुक जायेंगे और नहीं कहनेसे उच्छेदवाद अर्थात् चार्वाककी तरह नास्तित्वका प्रसंग प्राप्त होगा। अतः इस प्रश्नको अव्याकृत रखना ही श्रेष्ठ है। वे चाहते थे कि मौजूद तर्कोंका और संशयोंका समाधान वस्तुस्थितिके आधारसे होना ही चाहिये। अतः उन्होंने वस्तुस्वरूपका अनुभवकर यह बताया कि जगत्का प्रत्येक सत् चाहे वह चेतनजातीय हो या अचेतनजातीय, परिवर्तनशील है। वह निसर्गतः प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है, उसकी पर्याय बदलती रहती है, उसका परिणमन कभी सदृश भी होता है, कभी विसदृश भी। पर परिणमनसामान्यके प्रभावसे कोई भी अछूता नहीं रहता। यह एक मौलिक नियम है कि किसी भी सत्का विश्वसे सर्वथा उच्छेद नहीं हो सकता, यह परिवर्तित होकर भी अपनी मौलिकता या सत्ताको नहीं खो सकता। एक परमाणु है वह हाइड्रोजन बन जाय, जल बन जाय, भाप बन जाय, फिर पानी हो जाय, पृथिवी बन जाय, और अनन्त आकृतियाँ या पर्यायोंको धारण कर ले, पर अपने द्रव्यत्व या मौलिकत्वको नहीं खो सकता। किसीकी ताकत नहीं जो उस परमाणुकी हस्ती या अस्तित्वको मिटा सके। तात्पर्य यह कि जगत्में जितने 'सत्' हैं उतने बने रहेंगे। उनमेंसे एक भी कम नहीं हो सकता, एक-दूसरेमें विलीन नहीं

१. प्रो० धर्मानन्द कोसाम्बीने संजयके वादको विक्षेपवाद संज्ञा दी है। देखो—भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ४७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकता। इसी तरह न कोई नया 'सत्' उत्पन्न हो सकता है। जितने हैं उनका ही आपसी संयोग-वियोगोंके आधारसे यह विश्व जगत् ( 'गच्छतीति जगत्' अर्थात् नाना रूपोंका प्राप्त होना ) बनता रहता है।

तात्पर्य यह कि—विश्वमें जितने सत् हैं उनमेंसे न तो एक कम हो सकता है और न एक बढ़ सकता है। अनन्त जड़ परमाणु, अनन्त आत्माएँ, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश, और असंख्य कालाणु इतने सत् हैं। इनमें धर्म अधर्म आकाश और काल अपने स्वाभाविक रूपमें सदा विद्यमान रहते हैं, उनका विलक्षण परिणमन नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि ये कूटस्थ नित्य हैं, किन्तु इनका प्रतिक्षण जो परिणमन होता है वह सदृश स्वाभाविक परिणमन ही होता है। आत्मा और पुद्गल ये दो द्रव्य एक-दूसरे-को प्रभावित करते हैं। जिस समय आत्मा शुद्ध हो जाता है उस समय वह भी अपने प्रतिक्षणभावी स्वाभाविक परिणमनका ही स्वामी रहता है, उसमें विलक्षण परिणति नहीं होती। जब तक आत्मा अशुद्ध है तब तक ही इसके परिणमनपर सजातीय जीवान्तरका और विजातीय पुद्गलका प्रभाव आनेसे विलक्षणता आती है। इसकी नानारूपता प्रत्येकको स्वानुभवसिद्ध है। जड़ पुद्गल ही एक ऐसा विलक्षण द्रव्य है जो सदा सजातीय-से भी प्रभावित होता है और विजातीय चेतनसे भी। इसी पुद्गल द्रव्यका चमत्कार आज विज्ञानके द्वारा हम सबके सामने प्रस्तुत है। इसीके हीनाधिक संयोग-वियोगोंके फलस्वरूप असंख्य आविष्कार हो रहे हैं। विद्युत् शब्द आदि इसीके रूपान्तर हैं, इसीकी शक्तियाँ हैं। जीवकी अशुद्ध दशा इसीके संपर्कसे होती है। अनादिसे जीव और पुद्गलका ऐसा संयोग है जो पर्यायान्तर लेनेपर भी जीव इसके संयोगसे मुक्त नहीं हो पाता और उसमें विभाव परिणमन—राग द्वेष मोह अज्ञानरूप दशाएँ होती रहती हैं। जब यह जीव अपनी चारित्रसाधना द्वारा इतना समर्थ और स्वरूपप्रतिष्ठ हो जाता है कि उसपर बाह्य जगत्का कोई भी प्रभाव न पड़ सके तो वह मुक्त हो जाता है और अपने अनन्त चैतन्यमें स्थिर हो जाता है। यह मुक्त जीव अपने प्रतिक्षण परिवर्तित स्वाभाविक चैतन्यमें लीन रहता है। फिर उसमें अशुद्ध दशा नहीं होती। अन्ततः पुद्गल परमाणु ही ऐसे हैं जिनमें शुद्ध या अशुद्ध किसी भी दशामें दूसरे संयोगके आधारसे नाना आकृतियाँ और अनेक परिणमन संभव हैं तथा होते रहते हैं। इस जगत्-व्यवस्थामें किसी एक ईश्वर-जैसे नियन्ताका कोई स्थान नहीं है, यह तो अपने-अपने संयोग-वियोगोंसे परिणमनशील है। प्रत्येक पदार्थका अपना सहज स्वभाव-जन्य प्रतिक्षणभावी परिणमनचक्र चालू है। यदि कोई दूसरा संयोग आ पड़ा और उस द्रव्यसे इसके प्रभाव-को आत्मसात् किया तो परिणमन तत्प्रभावित हो जायगा, अन्यथा वह अपनी गतिसे बदलता चला जायगा। हाइड्रोजनका एक अणु अपनी गतिसे प्रतिक्षण हाइड्रोजन रूपमें बदल रहा है। यदि आक्सीजनका अणु उसमें आ जुटे तो दोनोंका जलरूप परिणमन हो जायगा। वे एक 'बिन्दु' रूपसे सदृश संयुक्त परिणमन कर लेंगे। यदि किसी वैज्ञानिकके विश्लेषणप्रयोगका निमित्त मिला तो वे दोनों फिर जुदा-जुदा भी हो सकते हैं। यदि अग्निका संयोग मिल गया भाफ बन जायँगे। यदि साँपके मुखका संयोग मिला विषबिन्दु हो जायेंगे। तात्पर्य यह कि यह विश्व साधारणतया पुद्गल और अशुद्ध जीवके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका वास्तविक उद्यान है। परिणमनचक्रपर प्रत्येक द्रव्य चढ़ा हुआ है। वह अपनी अनन्त योग्यताओंके अनुसार अनन्त परिणमनोंको क्रमशः धारण करता है। समस्त 'सत्' के समुदायका नाम लोक या विश्व है। इस दृष्टिसे अब आप लोकके शाश्वत और अशाश्वतवाले प्रश्नको विचारिए—

१—क्या लोक शाश्वत है ? हाँ, लोक शाश्वत है। द्रव्योंकी संख्याकी दृष्टिसे, अर्थात् जितने सत् इसमें हैं उनमेंका एक भी सत् कम नहीं हो सकता और न उनमें किसी नये सत्की वृद्धि ही हो सकती है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न एक सत् दूसरेमें विलीन ही हो सकता है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जो इसके अंगभूत द्रव्योंका लोप हो जाय या वे समाप्त हो जायँ।

२–क्या लोक अशाश्वत है? हाँ, लोक अशाश्वत है, अङ्गभूत द्रव्योंके प्रतिक्षणभावी परिणमनोंकी दृष्टिसे? अर्थात् जितने सत् हैं वे प्रतिक्षण सदृश या विसदृश परिणमन करते रहते हैं। इसमें दो क्षण तक ठहरनेवाला कोई परिणमन नहीं है। जो हमें अनेक क्षण ठहरनेवाला परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षणभावी सदृश परिणमनका स्थूल दृष्टिसे अवलोकनमात्र है। इस तरह सतत परिवर्तनशील संयोग-वियोगोंकी दृष्टिसे विचार कीजिये तो लोक अशाश्वत है, अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तित है।

३–क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप है? हाँ, क्रमशः उपर्युक्त दोनों दृष्टियोंसे विचार कीजिए तो लोक शाश्वत भी है (द्रव्यदृष्टिसे), अशाश्वत भी है (पर्यायदृष्टिसे)। दोनों दृष्टिकोणोंको क्रमशः प्रयुक्त करनेपर और उन दोनोंपर स्थूल दृष्टिसे विचार करनेपर जगत् उभयरूप ही प्रतिभासित होता है।

४–क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप नहीं है? आखिर उसका पूर्ण रूप क्या है? हाँ, लोकका पूर्णरूप अवक्तव्य है, नहीं कहा जा सकता। कोई शब्द ऐसा नहीं जो एक साथ शाश्वत और अशाश्वत इन दोनों स्वरूपोंको तथा उसमें विद्यमान अन्य अनन्त धर्मोंको युगपत् कह सके। अतः शब्दकी असामर्थ्यके कारण जगत्का पूर्णरूप अवक्तव्य है, अनुभय है, वचनातीत है।

इस निरूपणमें आप देखेंगे कि वस्तुका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है, अनिर्वचनीय या अवक्तव्य है। यह चौथा उत्तर वस्तुके पूर्ण रूपको युगपत् कहनेकी दृष्टिसे है। पर वही जगत् शाश्वत कहा जाता है द्रव्यदृष्टिसे, अशाश्वत कहा जाता है पर्यायदृष्टिसे। इस तरह मूलतः चौथा, पहिला और दूसरा ये तीन ही प्रश्न मौलिक हैं। तीसरा उभयरूपताका प्रश्न तो प्रथम और द्वितीयके संयोगरूप है। अब आप विचारें कि संजयने जब लोकके शाश्वत और अशाश्वत आदिके बारेमें स्पष्ट कह दिया कि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ और बुद्धने कह दिया कि इनके चक्करमें न पड़ो, इसका जानना उपयोगी नहीं तब महावीरने उन प्रश्नोंका वस्तुस्थितिके अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्योंकी जिज्ञासाका समाधान कर उनको बौद्धिक दीनतासे त्राण दिया। इन प्रश्नोंका स्वरूप इस प्रकार है—

| प्रश्न | संजय | बुद्ध | महावीर |
|---|---|---|---|
| १–क्या लोक शाश्वत है? | मैं जानता होऊँ तो बताऊँ, (अनिश्चय, विक्षेप) | इसका जानना अनुपयोगी है (अव्याकृत, अकथनीय) | हाँ, लोक द्रव्य-दृष्टिसे शाश्वत है, इसके किसी भी सत्का सर्वथा नाश नहीं हो सकता। |
| २–क्या लोक अशाश्वत है? | ,, | ,, | हाँ, लोक अपने प्रतिक्षण भावी परिवर्तनोंकी दृष्टिसे अशाश्वत है, कोई भी पदार्थ दो क्षणस्थायी नहीं। |
| ३–क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है? | ,, | ,, | हाँ, दोनों दृष्टिकोणोंसे क्रमशः विचार करनेपर लोकको शाश्वत भी कहते हैं और अशाश्वत भी। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४–क्या लोक दोनों रूप नहीं है अनुभय है ? | ,, | ,, | हाँ, ऐसा कोई शब्द नहीं जो लोकके परिपूर्ण स्वरूपको एक साथ समग्र भावसे कह सके। उसमें शाश्वत, अशाश्वतके सिवाय भी अनन्त रूप विद्यमान हैं अतः समग्र भावसे वस्तु अनुभय है, अवक्तव्य है, अनिर्वचनीय है। |

संजय और बुद्ध जिन प्रश्नोंका समाधान नहीं करते, उन्हें अनिश्चय या अव्याकृत कहकर अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं, महावीर उन्हींका वास्तविक युक्तिसंगत समाधान करते हैं। इसपर भी राहुलजी और धर्मानन्द कोसाम्बी आदि यह कहनेका साहस करते हैं कि 'संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर संजयके बादको ही जैनियोंने अपना लिया'। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि भारतमें रही परतन्त्रताको ही परतन्त्रताविधायक अंग्रेजोंके चले जानेपर भारतीयोंने उसे अपरतन्त्रता ( स्वतन्त्रता ) रूपसे अपना लिया है, क्योंकि अपरतन्त्रता भी 'प र त न्त्र ता' ये पाँच अक्षर तो मौजूद हैं ही। या हिंसाको ही बुद्ध और महावीरने उसके अनुयायियोंके लुप्त होनेपर अहिंसारूपसे अपना लिया है, क्योंकि अहिंसामें भी 'हिं सा' ये दो अक्षर हैं ही। यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि—आप ( पृ० ४८४ ) अनिश्चिततावादियोंकी सूचीमें संजयके साथ निग्गंठ नाथपुत्त ( महावीर ) का नाम भी लिख जाते हैं, तथा ( पृ० ४९१ ) संजयको अनेकान्तवादी। क्या इसे धर्मकीर्तिके शब्दोंमें 'धिग् व्यापकं तमः' नहीं कहा जा सकता ?

'स्यात्' शब्दके प्रयोगसे साधारणतया लोगोंको संशय अनिश्चय या संभावनाका भ्रम होता है। पर यह तो भाषाकी पुरानी शैली है उस प्रसङ्गकी, जहाँ एक वादका स्थापन नहीं होता। एकाधिक भेद या विकल्पकी सूचना जहाँ करनी होती है वहाँ 'स्यात्' पदका प्रयोग भाषाकी शैलीका एक रूप रहा है जैसा कि मज्झिमनिकायके महाराहुलोवाद सुत्तके निम्नलिखित अवतरणसे ज्ञात होता है—"कतमा च राहुल तेजोधातु ? तेजोधातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा।" अर्थात् तेजो धातु स्यात् आध्यात्मिक है, स्यात् बाह्य है। यहाँ सिया ( स्यात् ) शब्दका प्रयोग तेजो धातुके निश्चित भेदोंकी सूचना देता है, न कि उन भेदोंका संशय अनिश्चय या सम्भावना बताता है। आध्यात्मिक भेदके साथ प्रयुक्त होनेवाला स्यात् शब्द इस बातका द्योतन करता है कि तेजो धातु मात्र आध्यात्मिक ही नहीं है किन्तु उससे व्यतिरिक्त बाह्य भी है। इसी तरह 'स्यादस्ति' में अस्तिके साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द सूचित करता है कि 'अस्ति'से भिन्न धर्म भी वस्तुमें है केवल 'अस्ति' धर्मरूप ही वस्तु नहीं है। इस तरह 'स्यात्' शब्द न 'शायद' का न 'अनिश्चय' का और न सम्भावनाका सूचक है किन्तु निर्दिष्ट धर्मके सिवाय अन्य अशेष धर्मोंकी सूचना देता है जिससे श्रोता वस्तुको निर्दिष्ट धर्ममात्र रूप ही न समझ बैठे।

सप्तभंगी—वस्तु मूलतः अनन्तधर्मात्मक है। उसमें विभिन्न दृष्टियोंसे विभिन्न विवक्षाओंसे अनन्त धर्म हैं। प्रत्येक धर्मका विरोधी धर्म भी दृष्टिभेदसे वस्तुमें सम्भव है। जैसे 'घटः स्यादस्ति' में घट है ही अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादासे। जिस प्रकार घटमें स्वचतुष्टयकी अपेक्षा 'अस्तित्व' धर्म है, उसी तरह घटव्यतिरिक्त अन्य पदार्थोंका 'नास्तित्व' भी घटमें है। यदि घटभिन्न पदार्थोंका नास्तित्व घटमें न पाया जाय तो घट और पदार्थ मिलकर एक हो जायँगे। अतः घट स्यादस्ति और स्यान्नास्ति रूप है। इसी तरह वस्तुमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यदृष्टिसे नित्यत्व, पर्यायदृष्टिसे अनित्यत्व आदि अनेकों विरोधी धर्मयुगल रहते हैं। एक वस्तुमें अनन्त सप्तभङ्ग बनते हैं। जब हम घटके अस्तित्वका विचार करते हैं तो अस्तित्वविषयक सात भङ्ग हो सकते हैं। जैसे संजयके प्रश्नोत्तर या बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोत्तरमें हम चार कोटि तो निश्चित रूपसे देखते हैं—सत्, असत्, उभय और अनुभय। उसी तरह गणितके हिसाबसे तीन मूल भंगोंको मिलानेपर अधिकसे अधिक सात अपुनरुक्त भंग हो सकते हैं। जैसे घड़ेके अस्तित्वका विचार प्रस्तुत है तो पहिला अस्तित्व धर्म, दूसरा तद्विरोधी नास्तित्व धर्म और तीसरा धर्म होगा अवक्तव्य जो वस्तुके पूर्ण रूपकी सूचना देता है कि वस्तु पूर्ण रूपसे वचनके अगोचर है। उसके विराट् रूपको शब्द नहीं छू सकते। अवक्तव्य धर्म इस अपेक्षासे है कि दोनों धर्मोंको युगपत् कहनेवाला शब्द संसारमें नहीं है अतः वस्तु यथार्थतः वचनातीत है, अवक्तव्य है। इस तरह मूलमें तीन भङ्ग हैं—

१–स्यादस्ति घटः　　२–स्यान्नास्ति घटः　　३–स्यादवक्तव्यो घटः

अवक्तव्यके साथ स्यात् पद लगानेका भी अर्थ है कि वस्तु युगपत् पूर्ण रूपमें यदि अवक्तव्य है तो क्रमशः अपने अपूर्ण रूपमें वक्तव्य भी है और वह अस्ति-नास्ति आदि रूपसे वचनोंका विषय भी होती है। अतः वस्तु स्याद् वक्तव्य है। जब मूल भंग तीन हैं तब इनके द्विसंयोगी भंग भी तीन होंगे तथा त्रिसंयोगी भंग एक होगा। जिस तरह चतुष्कोटिमें सत् और असत्को मिलाकर प्रश्न होता है कि 'क्या सत् होकर भी वस्तु असत् है?' उसी तरह ये भी प्रश्न हो सकते हैं कि—१ क्या सत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है? २. क्या असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है? ३ क्या सत्-असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है? इन तीनों प्रश्नोंका समाधान संयोगज चार भंगोंमें है। अर्थात्—

४–अस्ति नास्ति उभय रूप वस्तु है—स्वचतुष्टय और परचतुष्टयपर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

५–अस्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमें स्वचतुष्टय और द्वितीय समयमें युगपत् स्वपर चतुष्टयपर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

६–नास्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमें परचतुष्टय और द्वितीय समयमें युगपत् स्वपर चतुष्टयकी क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

७–अस्ति नास्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमें स्वचतुष्टय, द्वितीय समयमें परचतुष्टय तथा तृतीय समयमें युगपत् स्व-पर चतुष्टयपर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और तीनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

जब अस्ति और नास्तिकी तरह अवक्तव्य भी वस्तुका धर्म है तब जैसे अस्ति और नास्तिको मिलाकर चौथा भंग बन जाता है वैसे ही अवक्तव्यके साथ भी अस्ति, नास्ति और अस्ति-नास्ति मिलकर पाँचवें, छठवें और सातवें भंगकी सृष्टि हो जाती है।

इस तरह गणितके सिद्धान्तके अनुसार तीन मूल वस्तुओंके अधिक-से-अधिक अपुनरुक्त सात ही भंग हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तुके प्रत्येक धर्मको लेकर सात प्रकारकी जिज्ञासा हो सकती है, सात प्रकारके प्रश्न हो सकते हैं अतः उनके उत्तर भी सात प्रकारके ही होते हैं।

दर्शनदिग्दर्शनमें श्री राहुलजीने पाँचवें छठवें और सातवें भंगको जिस भ्रष्ट तरीकेसे तोड़ा-मरोड़ा है वह उनकी अपनी निरी कल्पना और अतिसाहस है। जब वे दर्शनोंको व्यापक नई और वैज्ञानिक दृष्टिसे देखना चाहते हैं तो किसी भी दर्शनकी समीक्षा उसके स्वरूपको ठीक समझकर ही करनी चाहिए। वे अवक्तव्य नामक धर्मको जो कि सत्के साथ स्वतन्त्रभावसे द्विसंयोगी हुआ है, तोड़कर अ-वक्तव्य करके

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

संजयके 'नहीं' के साथ मेल बैठा देते हैं और [1]संजयके घोर अनिश्चयवादको ही अनेकान्तवाद कह देते हैं ! किमाश्चर्यमतः परम् ?

श्री सम्पूर्णानन्दजी 'जैनधर्म' पुस्तककी प्रस्तावना ( पृ० ३ ) में अनेकान्तवादकी ग्राह्यता स्वीकार करके भी सप्तभंगी न्यायको बालकी खाल निकालनेके समान आवश्यकतासे अधिक बारीकीमें जाना समझते हैं। पर सप्तभंगीको आजसे अढ़ाई हजार वर्ष पहिलेके वातावरणमें देखनेपर वे स्वयं उसे समयकी माँग कहे बिना नहीं रह सकते। अढ़ाई हजार वर्ष पहिले आबाल-गोपाल प्रत्येक प्रश्नको सहज तरीकेसे 'सत् असत् उभय और अनुभय' इन चार कोटियोंमें गूँथकर ही उपस्थित करते थे और उस समयके भारतीय आचार्य उत्तर भी चतुष्कोटिका ही, हाँ या ना में देते थे तब जैन तीर्थंकर महावीरने मूल तीन भंगोंके गणितके नियमानुसार अधिक-से-अधिक सात प्रश्न बनाकर उनका समाधान सप्तभंगी द्वारा किया जो निश्चितरूपसे वस्तुकी सीमाके भीतर ही रही है। अनेकान्तवादने जगत्के वास्तविक अनेक सत्का अपलाप नहीं किया और न वह केवल कल्पनाके क्षेत्रमें विचरा है।

मेरा उन दार्शनिकोंसे निवेदन है कि भारतीय परम्परामें जो सत्यकी धारा है उसे 'दर्शनग्रन्थ' लिखते समय भी कायम रखें और समीक्षाका स्तम्भ तो बहुत सावधानी और उत्तरदायित्वके साथ लिखनेकी कृपा करें जिससे दर्शन केवल विवाद और भ्रान्त परम्पराओंका अजायबघर न बने। वह जीवनमें संवाद लावे और दर्शनप्रणेताओंको समुचित न्याय दे सके।

इस तरह जैनदर्शनने 'दर्शन' शब्दकी काल्पनिक भूमिकासे निकलकर वस्तु-सीमापर खड़े होकर जगत्में वस्तु-स्थितिके आधारसे संवाद समीकरण और यथार्थतत्वज्ञानकी दृष्टि दी। जिसकी उपासनासे विश्व अपने वास्तविक रूपको समझकर निरर्थक विवादसे बचकर सच्चा संवादी बन सकता है।

## अनेकान्तदर्शनका सांस्कृतिक आधार

भारतीय विचार परम्परामें स्पष्टतः दो धाराएँ हैं। एक धारा वेदको प्रमाण माननेवाले वैदिक दर्शनोंकी है और दूसरी वेदको प्रमाण न मानकर पुरुषानुभव या पुरुषासाक्षात्कारको प्रमाण माननेवाले श्रमण सन्तोंकी। यद्यपि चार्वाक दर्शन भी वेदको प्रमाण नहीं मानता, किन्तु उसने आत्माका अस्तित्व जन्मसे मरण पर्यन्त ही स्वीकार किया है। उसने परलोक, पुण्य, पाप और मोक्ष जैसे आत्मप्रतिष्ठित तत्त्वोंको तथा आत्मसंशोधक चारित्र आदि की उपयोगिताको स्वीकृत नहीं किया है। अतः अवैदिक होकर भी वह श्रमण-धारामें सम्मिलित नहीं किया जा सकता। श्रमणधारा वैदिक परम्पराको न मानकर भी आत्मा, जड़भिन्न ज्ञान-सन्तान, पुण्य-पाप, परलोक, निर्वाण आदिमें विश्वास रखती है, अतः पाणिनिकी परिभाषाके अनुसार आस्तिक है। वेदको या ईश्वरको जगत्कर्ता न माननेके कारण श्रमणधाराको नास्तिक कहना उचित नहीं है। क्योंकि अपनी अमुक परम्पराको न माननेके कारण यदि श्रमण नास्तिक कहे जाते हैं तो श्रमण-परम्परा-को न माननेके कारण वैदिक भी मिथ्यादृष्टि आदि विशेषणोंसे पुकारे गये हैं।

श्रमणधाराका सारा तत्त्वज्ञान या दर्शनविस्तार जीवन-शोधन या चारित्र्य-वृद्धिके लिए हुआ था। वैदिक परम्परामें तत्त्वज्ञानको मुक्तिका साधन माना है, जब कि श्रमणधारामें चारित्रको। वैदिक-परम्परा वैराग्य आदिसे ज्ञानको पुष्ट करती है, विचारशुद्धि करके मोक्ष मान लेती है; जबकि श्रमण परम्परा कहती

१. जैन कथाग्रन्थोंमें महावीरके बालजीवनकी एक घटनाका वर्णन आता है कि—'संजय और विजय नामके दो साधुओंका संशय महावीरको देखते ही नष्ट हो गया था, इसलिए इनका नाम सन्मति रखा गया था।' सम्भव है यह संजय-विजय संजयवेलट्ठिपुत्त ही हों और इसीके संशय या अनिश्चयका नाश महावीरके सप्तभंगी न्यायसे हुआ हो और वेलट्ठिपुत्त विशेषण ही भ्रष्ट होकर विजय नामका दूसरा साधु बन गया हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि उस ज्ञान या उस विचारका कोई मूल्य नहीं जो जीवन में न उतरे। जिसकी सुवाससे जीवनशोधन न हो वह ज्ञान या विचार मस्तिष्कके व्यायामसे अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं रखते। जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका आद्यसूत्र है—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" (तत्त्वार्थसूत्र १।१) अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी आत्मपरिणति मोक्षका मार्ग है। यहाँ मोक्षका साक्षात् कारण चारित्र है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो उस चारित्रके परिपोषक हैं। बौद्ध परम्पराका अष्टांग मार्ग भी चारित्रका ही विस्तार है। तात्पर्य यह कि श्रमणधारामें ज्ञानकी अपेक्षा चारित्रका ही अन्तिम महत्त्व रहा है और प्रत्येक विचार और ज्ञानका उपयोग चारित्र अर्थात् आत्मशोधन या जीवनमें सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिए किया गया है। श्रमण सन्तोंने तप और साधनाके द्वारा वीतरागता प्राप्त की और उसी परम वीतरागता, समता या अहिंसाकी उत्कृष्ट ज्योतिको विश्वमें प्रचारित करनेके लिए विश्वतत्त्वोंका साक्षात्कार किया। इनका साध्य विचार नहीं आचार था, ज्ञान नहीं चारित्र्य था, वाग्विलास या शास्त्रार्थ नहीं, जीवन-शुद्धि और संवाद था। अहिंसाका अन्तिम अर्थ है—जीवमात्रमें (चाहे वह स्थावर हो या जंगम, पशु हो या मनुष्य, ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो या शूद्र, गोरा हो या काला, एतद्देशीय हो या विदेशी) देश, काल, शरीरकारके आवरणोंसे परे होकर समत्व-दर्शन। प्रत्येक जीव स्वरूपसे चैतन्य शक्तिका अखण्ड शाश्वत आधार है। वह कर्म या वासनाओंके कारण वृक्ष, कीड़ा-मकोड़ा, पशु और मनुष्य आदि शरीरोंको धारण करता है, पर अखण्ड चैतन्यका एक भी अंश उसका नष्ट नहीं होता। वह वासना या रागद्वेषादिके द्वारा विकृत अवश्य हो जाता है। मनुष्य अपने देश, काल आदि निमित्तोंसे गोरे या काले किसी भी शरीरको धारण किए हो, अपनी वृत्ति या कर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किसी भी श्रेणीमें उसकी गणना व्यवहारतः की जाती हो, किसी भी देशमें उत्पन्न हुआ हो, किसी भी सन्तका उपासक हो, वह इन व्यावहारिक निमित्तोंसे ऊँच या नीच नहीं हो सकता। किसी वर्णविशेषमें उत्पन्न होनेके कारण ही वह धर्मका ठेकेदार नहीं बन सकता। मानवमात्रके मूलतः समान अधिकार हैं, इतना ही नहीं, किन्तु पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, वृक्ष आदि प्राणियोंके भी। अमुक प्रकारकी आजीविका या व्यापारके कारण कोई भी मनुष्य किसी मानवाधिकारसे वंचित नहीं हो सकता। यह मानवसमत्व-भावना, प्राणिमात्रमें समता और उत्कृष्ट सत्त्वमैत्री अहिंसाके विकसित रूप हैं। श्रमणसन्तोंने यही कहा है कि—एक मनुष्य किसी भूखण्डपर या अन्य भौतिक साधनोंपर अधिकार कर लेनेके कारण जगत्में महान् बनकर दूसरोंके निर्दलनका जन्मसिद्ध अधिकारी नहीं हो सकता। किसी वर्णविशेषमें उत्पन्न होनेके कारण दूसरोंका शासक या धर्मका ठेकेदार नहीं हो सकता। भौतिक साधनोंकी प्रतिष्ठा बाह्यमें कदाचित् हो भी पर धर्मक्षेत्रमें प्राणिमात्रको एक ही भूमिपर बैठना होगा। हर एक प्राणीको धर्मकी शीतल छायामें समानभावसे सन्तोषकी साँस लेनेका सुअवसर है। आत्मसमत्त्व, वीतरागत्व या अहिंसाके विकाससे ही कोई महान् हो सकता है न कि जगत्में विषमता फैलानेवाले हिंसक परिग्रहके संग्रहसे। आदर्श त्याग है न कि संग्रह। इस प्रकार जाति, वर्ण, रङ्ग, देश, आकार, परिग्रहसंग्रह आदि विषमता और संघर्षके कारणोंसे परे होकर प्राणिमात्रको समत्त्व, अहिंसा और वीतरागताका पावन सन्देश इन श्रमणसन्तोंने उस समय दिया जब यज्ञ आदि क्रियाकाण्ड एक वर्गविशेषकी जीविकाके साधन बने हुए थे, कुछ गाय, सोना और स्त्रियोंको दक्षिणासे स्वर्गके टिकिट प्राप्त हो जाते थे, धर्मके नामपर गोमेध, अजामेध क्वचित् नरमेध तकका खुला बाजार था, जातिगत उच्चत्त्व-नीचत्त्वका विष समाज-शरीरको दग्ध कर रहा था, अनेक प्रकारसे सत्ताको हथियानेके षड्यन्त्र चालू थे। उस बर्बर युग में मानवसमत्त्व और प्राणिमैत्रीका उदारतम सन्देश इन युगधर्मी सन्तोंने नास्तिकताका मिथ्या लांछन सहते हुए भी दिया और भ्रान्त जनताको सच्ची समाजरचनाका मूलमन्त्र बताया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर, यह अनुभवसिद्ध बात है। अहिंसाकी स्थायी प्रतिष्ठा मनःशुद्धि और वचनशुद्धिके बिना नहीं हो सकती। हम भले ही शरीरसे दूसरे प्राणियोंकी हिंसा न करें, पर यदि वचन-व्यवहार और चित्तगत-विचार विषम और विसंवादी हैं तो कायिक अहिंसा पल ही नहीं सकती। अपने मनके विचार अर्थात् मतको पुष्ट करनेके लिए ऊँच नीच शब्द बोले जायँगे और फलतः हाथापाईका अवसर आए बिना न रहेगा। भारतीय शास्त्रार्थोंका इतिहास अनेक हिंसा-काण्डोंके रक्तरंजित पन्नोंसे भरा हुआ है। अतः यह आवश्यक था कि अहिंसाकी सर्वाङ्गीण प्रतिष्ठाके लिए विश्वका यथार्थ तत्त्वज्ञान हो और विचार-शुद्धिमूलक वचन-शुद्धिकी जीवन-व्यवहारमें प्रतिष्ठा हो। यह सम्भव ही नहीं है कि एक ही वस्तुके विषयमें परस्पर-विरोधी मतवाद चलते रहें, अपने पक्षके समर्थनके लिए उचित-अनुचित शास्त्रार्थ होते रहें, पक्ष-प्रतिपक्षोंका संगठन हो, शास्त्रार्थमें हारनेवालेको तैलकी जलती कड़ाहीमें जीवित तल देने-जैसी हिंसक होड़ें भी लगें, फिर भी परस्पर अहिंसा बनी रहे।

भगवान् महावीर एक परम अहिंसक सन्त थे। उनने देखा कि आजका सारा राजकारण धर्म और मतवादियोंके हाथमें है। जब तक इन मतवादोंका वस्तु-स्थितिके आधारसे समन्वय न होगा तब तक हिंसा की जड़ नहीं कट सकती। उनने विश्वके तत्त्वोंका साक्षात्कार किया और बताया कि विश्वका प्रत्येक चेतन और जड़ तत्त्व अनन्त धर्मोंका भण्डार है। उसके विराट् स्वरूपको साधारण मानव परिपूर्णरूपमें नहीं जान सकता। उसका क्षुद्र ज्ञान वस्तुके एक-एक अंशको जानकर अपनेमें पूर्णताका दुरभिमान कर बैठा है। विवाद वस्तुमें नहीं है। विवाद तो देखनेवालोंकी दृष्टिमें है। काश, ये वस्तुके विराट् अनन्त-धर्मात्मक या अनेकात्मक स्वरूपकी झाँकी पा सकें। उनने इस अनेकान्तात्मक तत्त्वज्ञानकी ओर मतवादियोंका ध्यान खींचा और बताया कि—देखो, प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण पर्याय और धर्मोंका अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनाद्यनन्त सन्तान-स्थितिकी दृष्टिसे नित्य है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जब विश्वके रंगमञ्चसे एक कणका भी समूल विनाश हो जाय। साथ ही प्रतिक्षण उसकी पर्यायें बदल रही हैं, उसके गुण-धर्मोंमें भी सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है, अतः वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्तगुण, शक्ति, पर्याय और धर्म प्रत्येक वस्तुकी निजी सम्पत्ति हैं। इनमेंसे हमारा स्वल्प ज्ञानलव एक-एक अंशको विषय करके क्षुद्र मतवादोंकी सृष्टि कर रहा है। आत्माको नित्य सिद्ध करनेवालोंका पक्ष अपनी सारी शक्ति आत्माको अनित्य सिद्ध करनेवालोंकी उखाड़-पछाड़में लगा रहा है तो अनित्यवादियोंका गुट नित्यवादियोंको भला-बुरा कह रहा है।

महावीरको इन मतवादियोंकी बुद्धि और प्रवृत्तिपर तरस आता था। वे बुद्धकी तरह आत्म-नित्यत्व और अनित्यत्व, परलोक और निर्वाण आदिको अव्याकृत ( अकथनीय ) कहकर बौद्धिक तमकी सृष्टि नहीं करना चाहते थे। उनने इन सभी तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप बताकर शिष्योंको प्रकाशमें लाकर उन्हें मानस समताकी समभूमि पर ला दिया। उनने बताया कि वस्तुको तुम जिस दृष्टिकोणसे देख रहे हो वस्तु उतनी ही नहीं है, उसमें ऐसे अनन्त दृष्टिकोणोंसे देखे जानेकी क्षमता है, उसका विराट् स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है उसका ईमानदारीसे विचार करो, वह भी वस्तुमें विद्यमान है। चित्तसे पक्षपातकी दुरभिसन्धि निकालो और दूसरेके दृष्टिकोणको भी उतनी ही प्रामाणिकतासे वस्तुमें खोजो, वह वहीं लहरा रहा है। हाँ, वस्तुकी सीमा और मर्यादाका उल्लंघन नहीं होना चाहिए। तुम चाहो कि जड़में चेतनत्व खोजा जाय या चेतनमें जड़त्व, तो नहीं मिल सकता। क्योंकि प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने निजी धर्म निश्चित हैं। मैं प्रत्येक वस्तुको अनन्त धर्मात्मक कह रहा हूँ, सर्वधर्मात्मक नहीं। अनन्त धर्मोंमें चेतनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्भव अनन्त धर्म चेतनमें मिलेंगे तथा अचेतनगत सम्भव धर्म अचेतनमें। चेतनके गुण-धर्म अचेतनमें नहीं पाये जा सकते और न अचेतनके चेतनमें। हाँ, कुछ ऐसे सामान्य धर्म भी हैं जो चेतन और अचेतन दोनोंमें साधारण रूपसे पाए जाते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तुमें बहुत गुञ्जाइश है। वह इतनी विराट् है जो हमारे तुम्हारे अनन्त दृष्टिकोणोंसे देखी और जानी जा सकती है। एक क्षुद्र-दृष्टिका आग्रह करके दूसरेकी दृष्टिका तिरस्कार करना या अपनी दृष्टिका अहंकार करना वस्तुके स्वरूपकी नासमझीका परिणाम है। हरिभद्र-सूरिने लिखा है कि—

"आग्रही वत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥"—लोकतत्त्वनिर्णय

अर्थात्—आग्रही व्यक्ति अपने मतपोषणके लिए युक्तियाँ ढूँढ़ता है, युक्तियोंको अपने मतकी ओर ले जाता है, पर पक्षपातरहित मध्यस्थ व्यक्ति युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूपको स्वीकार करनेमें अपनी मतिकी सफलता मानता है।

अनेकान्त दर्शन भी यही सिखाता है कि युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूपकी ओर अपने मतको लगाओ न कि अपने निश्चित मतकी ओर वस्तु और युक्तिकी खींचातानी करके उन्हें बिगाड़नेका दुष्प्रयास करो, और न कल्पनाकी उड़ान इतनी लम्बी लो जो वस्तुकी सीमाको ही लाँघ जाय। तात्पर्य यह है कि मानससमताके लिए यह वस्तुस्थितिमूलक अनेकान्त तत्त्वज्ञान अत्यावश्यक है। इसके द्वारा इस नरतनधारीको ज्ञात हो सकेगा कि वह कितने पानीमें है, उसका ज्ञान कितना स्वल्प है। और वह किस दुरभिमानसे हिंसक मतवाद-का सर्जन करके मानवसमाजका अहित कर रहा है। इस मानस-अहिंसात्मक अनेकान्त-दर्शनसे विचारोंमें या दृष्टिकोणोंमें कामचलाऊ समन्वय या ढीलाढाला समझौता नहीं होता, किन्तु वस्तुस्वरूपके आधारसे यथार्थ तत्त्वज्ञानमूलक समन्वय-दृष्टि प्राप्त होती है।

डॉ० सर राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी (जिल्द १, पृ० ३०५–६) में स्याद्वादके ऊपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि—"इससे हमें केवल आपेक्षिक अथवा अर्धसत्यका ही ज्ञान हो सकता है, स्याद्वादसे हम पूर्ण सत्यको नहीं जान सकते। दूसरे शब्दोंमें—स्याद्वाद हमें अर्धसत्योंके पास लाकर पटक देता है और इन्हीं अर्धसत्योंको पूर्ण सत्य मान लेनेकी प्रेरणा करता है। परन्तु केवल निश्चित-अनिश्चित अर्ध-सत्योंको मिलाकर एक साथ रख देनेसे वह पूर्णसत्य नहीं कहा जा सकता।" आदि।

क्या सर राधाकृष्णन् बतानेकी कृपा करेंगे कि स्याद्वादने निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्योंको पूर्ण सत्य माननेकी प्रेरणा कैसे की है? हाँ, वह वेदान्तकी तरह चेतन और अचेतनके काल्पनिक अभेदकी दिमागी दौड़में अवश्य शामिल नहीं हुआ। और न वह किसी ऐसे सिद्धान्तका समन्वय करनेकी सलाह देता है जिसमें वस्तुस्थितिकी उपेक्षा की गई हो। सर राधाकृष्णन्को पूर्णसत्य रूपसे वह काल्पनिक अभेद या ब्रह्म इष्ट है जिसमें चेतन-अचेतन मूर्त-अमूर्त सभी काल्पनिक रीतिसे समा जाते हैं। वे स्याद्वादकी समन्वयदृष्टिको अर्ध-सत्योंके पास लाकर पटकना समझते हैं, पर जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः अनन्तधर्मात्मक है तब उस वास्तविक नतीजेपर पहुँचनेको अर्धसत्य कैसे कह सकते हैं? हाँ, स्याद्वाद उस प्रमाणविरुद्ध काल्पनिक अभेदकी ओर वस्तुस्थितिमूलक दृष्टिसे नहीं जा सकता। वैसे, संग्रहनयकी एक चरम अभेदकी कल्पना जैनदर्शनकारोंने भी की है और उस परम संग्रहनयकी अभेद दृष्टिसे बताया है कि—'सर्वमेकं सदविशेषात्' अर्थात्—जगत् एक है, सद्रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है। पर यह एक कल्पना है, क्योंकि ऐसा एक सत् नहीं है जो प्रत्येक मौलिक द्रव्यमें अनुगत रहता हो। अतः यदि सर राधाकृष्णन्को चरम अभेदकी कल्पना ही देखनी हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो वे परमसंग्रहनयके दृष्टिकोणमें देख सकते हैं, पर वह केवल कल्पना ही होगी, वस्तुस्थिति नहीं। पूर्ण-सत्य तो वस्तुका अनेकान्तात्मक रूपसे दर्शन ही है, न कि काल्पनिक अभेदका दर्शन।

इसी तरह प्रो० बलदेव उपाध्याय इस स्याद्वादसे प्रभावित होकर भी सर राधाकृष्णन्‌का अनुसरण-कर स्याद्वादको मूलभूततत्त्व ( एक ब्रह्म ? ) के स्वरूपके समझनेमें नितान्त असमर्थ बतानेका साहस करते हैं। इतने तो यहाँ तक लिख दिया है कि—'इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थके बीचोबीच तत्त्व-विचारको कतिपय क्षणके लिए विस्रम्भ तथा विराम देनेवाले विश्रामगृहसे बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।" ( भारतीय दर्शन, पृ० १७३ )। आप चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शनको उस काल्पनिक अभेद तक पहुँचना चाहिए। पर स्याद्वाद जब वस्तुविचार कर रहा है तब वह परमार्थ सत् वस्तुकी सीमाको कैसे लाँघ सकता है ? ब्रह्माद्वैतवाद न केवल युक्तिविरुद्ध ही है पर आजके विज्ञानसे उसके एकीकरणका कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नहीं होता। विज्ञानने एटम तकका विश्लेषण किया है और प्रत्येककी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। अतः यदि स्याद्वाद वस्तुकी अनेकान्तात्मक सीमापर पहुँचाकर बुद्धिको विराम देता है तो यह उसका भूषण ही है। दिमागी अभेदसे वास्तविक स्थितिकी उपेक्षा करना मनोरञ्जनसे अधिक महत्त्वकी बात नहीं हो सकती।

इसी तरह श्रीयुत् हनुमन्तराव एम. ए. ने अपने "**Jain Instrumental theory of Knowledge**" नामक लेखमें लिखा है कि—"स्याद्वाद सरल समझौतेका मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्ण सत्य तक नहीं ले जाता।" आदि। ये सब एक ही प्रकारके विचार हैं जो स्याद्वादके स्वरूपको न समझनेके या वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेके परिणाम हैं। मैं पहिले लिख चुका हूँ कि—महावीरने देखा कि—वस्तु तो अपने स्थानपर अपने विराट् रूपमें प्रतिष्ठित है, उसमें अनन्त धर्म, जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते हैं, अविरुद्ध भावसे विद्यमान हैं, पर हमारी दृष्टिमें विरोध होनेसे हम उसकी यथार्थ स्थितिको नहीं समझ पा रहे हैं। जैनदर्शन वास्तव-बहुत्ववादी है। वह दो पृथक्‌सत्ताक वस्तुओंको व्यवहारके लिए कल्पनासे अभिन्न कह भी दे, पर वस्तुकी निजी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहता। जैनदर्शन एक व्यक्तिका अपने गुण-पर्यायोंसे वास्तविक अभेद तो मानता है, पर दो व्यक्तियोंमें अवास्तविक अभेदको नहीं मानता। इस दर्शनकी यही विशेषता है, जो यह परमार्थ सत् वस्तुकी परिधिको न लाँघकर उसकी सीमामें ही विचार करता है और मनुष्योंको कल्पनाकी उड़ानसे विरतकर वस्तुकी ओर देखनेको बाध्य करता है। जिस चरम अभेद तक न पहुँचनेके कारण अनेकान्त दर्शनको सर राधाकृष्णन्-जैसे विचारक अर्धसत्योंका समुदाय कहते हैं उस चरम अभेदको भी अनेकान्त दर्शन एक व्यक्तिका एक धर्म मानता है। वह उन अभेदकल्पकोंको कहता है कि वस्तु इससे भी बड़ी है, अभेद तो उसका एक धर्म है। दृष्टिको और उदार तथा विशाल करके वस्तुके पूर्ण रूपको देखो, उसमें अभेद एक कोनेमें पड़ा होगा और अभेदके अनन्तों भाई-बन्धु उसमें तादात्म्य हो रहे होंगे। अतः इन ज्ञानलवधारियोंको उदारदृष्टि देनेवाले तथा वस्तुकी झाँकी दिखानेवाले अनेकान्तदर्शनने वास्तविक विचारकी अन्तिम रेखा खींची है, और यह सब हुआ है मानस-समतामूलक तत्त्व-ज्ञानकी खोजसे। जब इस प्रकार वस्तुस्थिति ही अनेकान्तमयी या अनन्तधर्मात्मिका है तब सहज ही मनुष्य यह सोचने लगता है कि दूसरा वादी जो कह रहा है उसकी सहानुभूतिसे समीक्षा होनी चाहिये और वस्तु-स्थितिमूलक समीकरण होना चाहिये। इस स्वीयस्वल्पता और वस्तु-अनन्तधर्मताके वातावरणसे निरर्थक कल्पनाओंका जाल टूटेगा और अहंकारका विनाश होकर मानससमताकी सृष्टि होगी। जो कि अहिंसाका संजीवन बीज है। इस तरह मानस-समताके लिए अनेकान्त दर्शन ही एकमात्र स्थिर आधार हो सकता है। जब अनेकान्त दर्शनसे विचारशुद्धि हो जाती है तब स्वभावतः वाणीमें नम्रता और परसमन्वयकी वृत्ति उत्पन्न



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाती है। वह वस्तुस्थितिको उल्लंघन करनेवाले शब्दका प्रयोग ही नहीं कर सकता। इसीलिए जैनाचार्यों ने वस्तुकी अनेकधर्मात्मकताका द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता बताई है। शब्दोंमें यह सामर्थ्य नहीं जो कि वस्तुके पूर्णरूपको युगपत् कह सके। वह एक समयमें एक ही धर्मको कह सकता है। अतः उसी समय वस्तुमें विद्यमान शेष धर्मोंकी सत्ताका सूचन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' का 'सुनिश्चित दृष्टिकोण' या 'निर्णीत अपेक्षा' ही अर्थ है 'शायद', 'सम्भव' 'कदाचित्' आदि नहीं। 'स्यादस्ति' का वाच्यार्थ है—'स्वरूपादिकी अपेक्षासे वस्तु है ही' न कि 'शायद है', 'सम्भव है', 'कदाचित् है' आदि। संक्षेपतः जहाँ अनेकान्तदर्शन चित्तमें समता, मध्यस्थभाव, वीतरागता, निष्पक्षता-का उदय करता है, वहाँ स्याद्वाद वाणीमें निर्दोषता आनेका पूरा अवसर देता है।

इस प्रकार अहिंसाकी परिपूर्णता और स्थायित्वकी प्रेरणाने मानसशुद्धिके लिए अनेकान्तदर्शन और वचन-शुद्धिके लिए स्याद्वाद-जैसी निधियोंको भारतीय संस्कृतिके कोषागारमें दिया है। बोलते समय वक्ता-को सदा यह ध्यान रहना चाहिए कि वह जो बोल रहा है उतनी ही वस्तु नहीं है, किन्तु बहुत बड़ी है, उसके पूर्णरूप तक शब्द नहीं पहुँच सकते। इसी भावको जतानेके लिए वक्ता 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करता है। 'स्यात्' शब्द विधिलिङ्में निष्पन्न होता है, जो अपने वक्तव्यको निश्चित रूपमें उपस्थित करता है न कि संशय रूपमें। जैन तीर्थंकरोंने इस तरह सर्वाङ्गीण अहिंसाकी साधनाका वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकारका प्रत्यक्षानुभूत मार्ग बताया है। उनने पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही पदार्थोंके देखनेका, उनके ज्ञान करनेका और उनके स्वरूपको वचनसे कहनेका नया वस्तुस्पर्शी मार्ग बताया। इस अहिंसक दृष्टिसे यदि भारतीय दर्शनकारोंने वस्तुका निरीक्षण किया होता तो भारतीय जल्पकथाका इतिहास रक्तरंजित न हुआ होता और धर्म तथा दर्शनके नामपर मानवताका निर्दलन नहीं होता। पर अहंकार और शासन-भावना मानवको दानव बना देती है। उसपर भी धर्म और मतका 'अहम्' तो अति दुर्निवार होता है। परन्तु युग-युगमें ऐसे ही दानवोंको मानव बनानेके लिए अहिंसक सन्त इसी समन्वय दृष्टि, इसी समता भाव और इसी सर्वाङ्गीण अहिंसाका सन्देश देते आए हैं। यह जैनदर्शनकी ही विशेषता है जो वह अहिंसाकी तह तक पहुँचनेके लिए केवल धार्मिक उपदेश तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु वास्तविक स्थितिके आधारसे दार्शनिक युक्तियोंको सुलझानेकी मौलिक दृष्टि भी खोज सका। न केवल दृष्टि ही किन्तु मन, वचन और काय इन तीनों द्वारोंसे होनेवाली हिंसाको रोकनेका प्रशस्ततम मार्ग भी उपस्थित कर सका।

डॉ० भगवानदास जैसे मनीषी समन्वय और सब धर्मोंकी मौलिक एकताकी आवाज बुलन्द कर रहे हैं। वे वर्षोंसे कह रहे हैं कि समन्वय दृष्टि प्राप्त हुए बिना स्वराज्य स्थायी नहीं हो सकता, मानव मानव नहीं रह सकता। उन्होंने अपने 'समन्वय' और 'दर्शनका प्रयोजन' आदि ग्रन्थोंमें इसी समन्वय तत्त्वका भूरि-भूरि प्रतिपादन किया है। जैन ऋषियोंने इस समन्वय ( स्याद्वाद ) सिद्धान्तपर ही संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। इनका विश्वास है कि जब तक दृष्टिमें समीचीनता नहीं आयगी तब तक मतभेद और संघर्ष बना ही रहेगा। नए दृष्टिकोणसे वस्तुस्थिति तक पहुँचना ही विसंवादसे हटाकर जीवनको संवादी बना सकता है। जैनदर्शनकी भारतीय संस्कृतिको यही देन है। आज हमें जो स्वातन्त्र्यके दर्शन हुए हैं वह इसी अहिंसाका पुण्यफल है। कोई यदि विश्वमें भारतका मस्तक ऊँचा रख सकता है तो यह निरुपाधि वर्ण, जाति, रङ्ग, देश आदिकी उपाधियोंसे रहित अहिंसा भावना ही है।

इस प्रकार सामान्यतः दर्शन शब्दका अर्थ और उनकी सीमा तथा जैनदर्शनकी भारतीय दर्शनको देनका सामान्य वर्णन करनेके बाद इस भागमें आए हुए ग्रन्थगत प्रमेयका वर्णन संक्षेपमें किया जाता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# विषयपरिचय

## ग्रन्थका बाह्यस्वरूप

**नाम**—आचार्य सिद्धसेन दिवाकरने जैन न्यायका अवतार करनेवाला न्यायावतार ग्रन्थ लिखा है। न्यायावतारमें प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुत इन तीन प्रमाणोंका विवेचन किया गया है। अकलंकदेवने प्रकृत ग्रन्थ न्यायविनिश्चयमें भी प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन ये तीन ही प्रस्ताव रखे हैं। धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकमें प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान इन तीनका विवेचन है। परार्थानुमान और शब्द प्रमाणकी प्रक्रिया लगभग एकसी है। धर्मकीर्तिका एक प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ गद्यपद्यमय रहा है। वादिदेवसूरिने स्याद्वाद रत्नाकर ( पृ० २३ ) में 'धर्मकीर्तिरपि न्यायविनिश्चयस्य..... ' यह उल्लेख करके लिखा है कि न्यायविनिश्चयके तीन परिच्छेदोंमें क्रमशः प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमानका वर्णन है। यदि धर्मकीर्तिका प्रमाणविनिश्चयके अतिरिक्त न्यायविनिश्चय नामका भी कोई ग्रन्थ रहा है तो अकलंकदेवने नामकी पसन्दगीमें इसका उपयोग कर लिया होगा। अभी तकके अनुसन्धानसे धर्मकीर्तिके न्यायविनिश्चय ग्रन्थका तो पता नहीं चला है। हो सकता है कि वादिदेवसूरिने प्रमाणविनिश्चयका ही 'न्यायविनिश्चयके' नामसे उल्लेख कर दिया हो क्योंकि उसके प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान परिच्छेद प्रमाणके ही भेदोंके विवेचक हैं। अतः प्रमाणवार्तिककी तरह प्रमाणविनिश्चय नामकी ही अधिक सम्भावना है। अकलंकदेवने न्यायको कलिदोषसे मलिन हुआ देखकर उसके विनिश्चयार्थ न्यायावतार और प्रमाणविनिश्चयके आद्यन्त पदोंसे ग्रन्थका न्यायविनिश्चय नामकरण किया होगा।

**न्यायविनिश्चयकी अकलंककर्तृकता**—अकलंकदेव अपने ग्रन्थोंमें कहीं-न-कहीं 'अकलंक' नामका प्रयोग अवश्य करते हैं। यह प्रयोग कहीं जिनेन्द्रके रूपमें, कहीं ग्रन्थके विशेषणके रूपमें और कहीं लक्षणघटक विशेषणके रूपमें दृष्टिगोचर होता है। न्यायविनिश्चय ग्रन्थ ( कारिका नं० २८६ ) में "विस्रब्धैरकलंकरत्ननिचयन्यायो विनिश्चीयते" इस कारिकांशके द्वारा अकलंक और न्यायविनिश्चय दोनोंकी हृदयहारिणी रीतिसे स्पष्ट सूचना दे दी है। वादिराजसूरिके पुष्पिका वाक्य, अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चय टीका ( पृ० २०८ B ) का उल्लेख, विद्यानन्दिका आप्तपरीक्षा ( पृ० ४९ ) गत 'तदुक्तमकलंकदेवैः' कहकर उद्धृत की गई न्यायविनिश्चयकी 'इन्द्रजालादिषु' आदि कारिका, न्यायदीपिकाकार धर्मभूषणयति द्वारा 'तदुक्तं भगवद्भिरकलंकदेवैः न्यायविनिश्चये' लिखकर 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः' इस तीसरी कारिकाका उद्धृत किया जाना इस ग्रन्थकी अकलंककर्तृकताके प्रबल पोषक प्रमाण हैं।

**ग्रन्थगतप्रमेय**—न्यायविनिश्चयमें तीन प्रस्ताव हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. प्रवचन। इन प्रस्तावोंमें स्थूल रूपसे जिन विषयोंपर प्रकाश डाला गया है—उनका परिचय इस स्मृतिग्रन्थके खण्ड चारमें 'अकलंक ग्रन्थत्रय और उसके कर्ता' लेखमें दिया गया है।

प्रस्तुत न्यायविनिश्चयमें तीन प्रकारके श्लोकोंका संग्रह है—१–वार्तिक २–अन्तरश्लोक ३–संग्रहश्लोक। इस भागमें 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः' आदि तीसरा श्लोक मूलवार्तिक है, क्योंकि आगे इसी श्लोकगत पदोंका विस्तृत विवेचन है। वृत्तिके मध्यमें यत्र-तत्र आनेवाले अन्तरश्लोक हैं। तथा वृत्तिके द्वारा प्रदर्शित मूलवार्तिकके अर्थका संग्रह करानेवाले संग्रहश्लोक हैं। वादिराजसूरिने ( पृ० २२९ ) स्वयं "निराकारेत्यादयः अन्तरश्लोकाः वृत्तिमध्यवर्तित्वात्" विमुखेत्यादि वार्तिकव्याख्यानवृत्तिग्रन्थमध्यवर्तिनः खल्वमी श्लोकाः।.....संग्रहश्लोकास्तु वृत्त्युपदर्शितस्य वार्तिकार्थस्य संग्रहपरा इति विशेषः।" इन शब्दोंमें अन्तरश्लोक और संग्रहश्लोककी विशेषता बताई है। वादिराजसूरिकी व्याख्या गद्यभागपर तो नहीं ही है। पद्योंमें भी सम्भवतः कुछ पद्य अव्याख्यात छूट गए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारिका संख्या—न्यायविनिश्चयकी मूलकारिकाएँ पृथक्-पृथक् पूर्णरूपसे लिखी हुई नहीं मिलतीं। इनका उद्धार विवरणगत कारिकांशोंको जोड़कर किया गया है। अतः जहाँ ये कारिकाएँ पूरी नहीं मिलतीं वहाँ उद्धृत अंशको [ ] इस ब्रेकिटमें दे दिया है। अकलङ्कग्रन्थत्रयमें न्यायविनिश्चय मूल प्रकाशित हो चुका है। उसमें प्रथम प्रस्तावमें १६९॥ कारिकाएँ मुद्रित हैं, पर वस्तुतः इस प्रस्तावकी कारिकाओंकी अभ्रान्त संख्या १६८॥ है। अकलङ्कग्रन्थत्रयगत न्यायविनिश्चयमें 'हिताहितप्ति' ( कारिका नं० ४ ) कारिका मूलकी समझकर छापी गई है, पर अब यह कारिका वादिराजकी स्वकृत ज्ञात होती है। न्यायविनिश्चयविवरण ( पृ० ११५ ) में लिखा है कि—"करिष्यते हि सदसज्ज्ञान इत्यादिना इन्द्रियप्रत्यक्षस्य, परोक्षज्ञान इत्यादिना अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य, लक्षणं सममित्यादिना चातीन्द्रियप्रत्यक्षसमर्थनम्" इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि तीनों प्रत्यक्षोंका प्रकारान्तरसे समर्थन कारिकाओंमें किया गया है लक्षण नहीं। मूल कारिकाओंमें न तो अनिन्द्रिय प्रत्यक्षका लक्षण है और न अतीन्द्रिय प्रत्यक्षका, तब केवल इन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण क्यों किया होगा ? दूसरे पक्षमें इस श्लोककी व्याख्या ( पृ० १०५, १११ ) विवरणमें मौजूद है और व्याख्याके आधारोंसे ही उक्त श्लोकको मैंने पहले मूलका माना था। हो सकता है कि वादिराजने स्वकृत श्लोकका ही तात्पर्योद्घाटन किया हो। अथवा वृत्तिमें ही गद्यमें उक्त लक्षण हो और वादिराजने उसे पद्यबद्ध कर दिया हो। जैसा कि लघीयस्त्रय स्ववृत्ति ( पृ० २१ ) में "इन्द्रियार्थज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम्" यह इन्द्रियप्रत्यक्षका लक्षण मिलता है। अथवा इसे ही वादिराजने पद्यबद्ध कर दिया हो। फलतः हमने इस श्लोकको इस विवरणमें वादिराजकृत ही मानकर छोटे टाइपमें छापा है। अकलङ्कग्रन्थत्रयकी प्रस्तावनामें इस श्लोकके सम्बन्धमें मैंने पं० कैलाशचन्द्रजीके मतकी चरचा की थी। अनुसन्धानसे उनका मत इस समय उचित मालूम होता है।

अकलङ्कग्रन्थत्रयमें मुद्रित कारिका नं० ३८ का "ग्राह्यभेदो न संवित्ति भिनत्त्याकारभङ्ग्यपि" यह उत्तरार्ध मूलका नहीं है। कारिका नं० १२९ के पूर्वार्धके बाद "तथा सुनिश्चितस्तैस्तु तत्त्वतो विप्रशंसतः" यह उत्तरार्ध मूलका होना चाहिए। इस तरह इस परिच्छेदकी कारिकाओंकी संख्या १६८॥ रह जाती है। प्रस्तुत विवरणमें छापते समय कारिकाओंके नम्बर देनेमें गड़बड़ी हो गई है।

ताडपत्रीय प्रतिमें प्रायः मूल श्लोकोंके पहिले ❀ इसप्रकारका चिह्न बना हुआ है, जहाँ पूरे श्लोक आए हैं। कारिका नं० ४ पर यह चिह्न नहीं बना है। अकलङ्कग्रन्थत्रयमें मुद्रित प्रथम परिच्छेदकी कारिकाओंमें निम्नलिखित संशोधन होना चाहिए—

| | | |
|---|---|---|
| कारिका नं० १६ | –शब्दो | –शक्तो। |
| कारिका नं० २४ | –वन्यचे | –वन्त्यचे–। |
| कारिका नं० ३१ | न विज्ञाना– | न हि ज्ञाना–। |
| कारिका नं० ७० | –मेष निश्चयः | –मेष विनिश्चयः। |
| कारिका नं० ७८ | कथन्न तत् | कथं ततः। |
| कारिका नं० १०२ | द्रुमेष्व– | ध्रुवेष्व–। |
| कारिका नं० १४० | अतदारम्भ– | अतदाभ– |

द्वितीय और तृतीय परिच्छेदमें मुद्रित कारिकाओंमें निम्नलिखित कारिकापरिवर्तनादि हैं—कारिका नं० १९४ की रचना—"अतद्धेतुफलापोहः सामान्यं चेदपोहिनाम्। सन्दर्श्यते तथा बुद्धया न तथाऽप्रतिपत्तितः।" इसप्रकार होनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारिका नं० २८३ के ५ पूर्वार्धके बाद "चित्रचैत्तविचित्राभदृष्टभङ्गप्रसङ्गतः। स नैकः सर्वथा श्लेषात् नानेको भेदरूपतः।" यह कारिका और होनी चाहिए। कारिका नं० ३७२ का "पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः" यह उत्तरार्ध मूलका नहीं है। कारिका नं० ४३१ के बाद "ततः शब्दार्थयोर्नास्ति सम्बन्धोऽपौरुषेयकः" यह कारिकार्ध और होना चाहिए। कारिका नं० ४७५ के बाद "प्रमा प्रमितिहेतुत्वात् प्रामाण्यमुपगम्यते" यह कारिकार्ध और होना चाहिए। अतः अकलङ्कग्रन्थत्रयगत न्यायविनिश्चयके अङ्कोंके अनुसार संपूर्ण ग्रन्थमें ४८०॥ कारिकाएँ फलित होती हैं।

**न्यायविनिश्चयविवरण**—न्यायविनिश्चयके पद्य भागपर प्रबलतार्किक स्याद्वादविद्यापति वादिराजसूरिकृत तात्पर्यविद्योतिनी व्याख्यानरत्नमाला उपलब्ध है। जिसका नाम[1] न्यायविनिश्चय-विवरण है, जैसा कि वादिराजकृत इस श्लोकसे प्रकट है—

"प्रणिपत्य स्थिरभक्त्या गुरून् परानप्युदारबुद्धिगुणान्।
न्यायविनिश्चयविवरणमभिरमणीयं मया क्रियते॥"

लघीयस्त्रयकी तरह न्यायविनिश्चयविवरण ( प्रथमभाग पृ० २२९ ) में आए हुए 'वृत्तिमध्यवर्तित्वात्', 'वृत्तिचूर्णीनां तु विस्तारभयान्नास्माभिर्व्याख्यानमुपदर्श्यते' इन अवतरणोंसे स्पष्ट है कि न्यायविनिश्चयपर अकलङ्कदेवकी स्ववृत्ति अवश्य रही है। वृत्तिके मध्यमें भी श्लोक थे जो अन्तरश्लोकके नामसे प्रसिद्ध थे। इसके सिवाय वृत्तिके द्वारा प्रदर्शित मूलवार्तिकके अर्थको संग्रह करनेवाले संग्रहश्लोक भी थे। वादिराजसूरिने जिन ४८०॥ श्लोकोंका व्याख्यान विवरणमें किया है उनमें अन्तरश्लोक और संग्रहश्लोक भी शामिल हैं। कितने संग्रहश्लोक हैं और कितने अन्तरश्लोक, इसका ठीक निर्णय बादमें हो सकेगा। पर वादिराजसूरिने वृत्ति या चूर्णिगत सभी श्लोकोंका व्याख्यान नहीं किया। पृ० ३०१ में 'तथा च सूक्तं चूर्णौ देवस्य वचनम्' इस उत्थान-वाक्यके साथ "समारोपव्यवच्छेदात्" आदि श्लोक उद्धृत है। यदि वादिराजसूरि न्यायविनिश्चयकी स्ववृत्तिको ही चूर्णिशब्दसे कहते हैं तो कहना होगा कि आपने वृत्ति या चूर्णिगत सभी श्लोकोंका व्याख्यान नहीं किया, क्योंकि 'समारोपव्यवच्छेदात्' श्लोक मूलमें शामिल नहीं किया गया है।

---

१. परम्परागत प्रसिद्धिके अनुसार इसका नाम न्यायकुमुदचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रोदयकी तरह न्यायविनिश्चयालङ्कार रूढ हो गया है। परन्तु वस्तुतः वादिराजके उक्त श्लोकगत उल्लेखानुसार इसका मुख्य आख्यान न्यायविनिश्चयविवरण है; दूसरे शब्दोंमें इसे तात्पर्यविद्योतिनी व्याख्यानरत्नमाला भी कह सकते हैं। पर न्यायविनिश्चयालङ्कार नामका समर्थन किसी भी प्रमाणसे नहीं होता। पं० परमानन्दजी शास्त्री, सरसावाने इसका न्यायविनिश्चयालङ्कार नाम भी मानकर इसके 'प्रमाणनिर्णय'से पहिले रचे जानेके सम्बन्धमें प्रमाणनिर्णय ( पृ० १६ ) गत यह अवतरण एकीभावस्तोत्रकी प्रस्तावना ( पृ० १५ ) में उपस्थित किया है—

"अत एव परामर्शात्मकत्वं स्पष्टचमेव मानसप्रत्यक्षस्य प्रतिपादितमलङ्कारे—इदमित्यादि यज्ज्ञानमभ्यासात् पुरतः स्थिते। साक्षात्करणतस्तत्र प्रत्यक्षं मानसं मतम्॥"

परन्तु इस अवतरणमें 'अलङ्कार' शब्दसे न्यायविनिश्चयालङ्कार इष्ट नहीं है, क्योंकि यह श्लोक वादिराजसूरिके न्यायविनिश्चयविवरणका नहीं है, किन्तु प्रज्ञाकरगुप्तकृत प्रमाणवार्तिकालङ्कार ( लिखित पृ० ४ ) का है, और इसे वादिराजने न्यायविनिश्चयविवरण ( पृ० ११९ ) में पूर्वपक्षरूपसे उद्धृत किया है। वादिराजने स्वयं न्यायविनिश्चयविवरणमें बीसों जगह प्रमाणवार्तिकालङ्कारका 'अलङ्कार' नामसे उल्लेख किया है। अतः न्यायविनिश्चयविवरणका न्यायविनिश्चयालङ्कार नाम निर्मूल है और मात्र श्रुतिमाधुर्यनिमित्त ही प्रचलित हो गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह वृत्तिके यावत् गद्यभागकी तो व्याख्या की ही नहीं गई, सम्भवतः कुछ पद्य भी छूट गए हैं। जैसा कि सिद्धिविनिश्चयटीका ( पृ० १२० A ) के निम्नलिखित उल्लेखोंसे स्पष्ट है—

"तदुक्तं न्यायविनिश्चये—न चैतद् बहिरेव। किं तर्हि ? बहिर्बहिरिव प्रतिभासते। कुत एतत् ? भ्रान्तेः। तदन्यत्र समानम्। इति।"

सिद्धिविनिश्चयटीका ( पृ० ६९ A ) में ही न्यायविनिश्चयके नामसे 'सुखमाल्हादनाकारं' श्लोक उद्धृत है—

"कथमन्यथा न्यायविनिश्चये सहभुवो गुणा इत्यस्य
सुखमाल्हादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्यात् यूनः कान्तासमागमे॥ इति निदर्शनं स्यात्।"

यह श्लोक सिद्धिविनिश्चयटीकाके उल्लेखानुसार न्यायविनिश्चय स्ववृत्तिका होना चाहिए। क्योंकि वह 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः' ( श्लो० १११ ) के गुण शब्दकी वृत्तिमें उदाहरणरूपसे दिया गया होगा। यह भी सम्भव है कि अकलङ्कदेवने स्वयं इस श्लोकको वृत्तिमें उद्धृत किया हो क्योंकि वादिराज इसे स्याद्वादमहार्णव ग्रन्थका बताते हैं। यह भी चित्तको लगता है कि न्यायविनिश्चयकी उक्त वृत्ति ही सम्भवतः स्याद्वादमहार्णवके नामसे प्रख्यात रही हो। जो हो, पर अभी यह सब साधक प्रमाणोंका अभाव होनेसे सम्भावनाकोटिमें ही है।

न्यायविनिश्चयविवरणकी रचना अत्यन्त प्रसन्न तथा मौलिक है। तत्तत् पूर्वपक्षोंको समृद्ध और प्रामाणिक बनानेके लिए अगणित ग्रन्थोंके प्रमाण उद्धृत किये गये हैं। जहाँ तक मैंने अध्ययन किया है वादिराजसूरिके ऊपर किसी भी दार्शनिक आचार्यका सीधा प्रभाव नहीं है। वे हरएक विषयको स्वयं आत्मसात् करके ही व्यवस्थित ढंगसे युक्तियोंका जाल बिछाते हैं जिससे प्रतिवादीको निकलनेका अवसर ही नहीं मिल पाता।

सांख्यके पूर्वपक्षमें ( पृ० २३१ ) योगभाष्यका उल्लेख 'विन्ध्यवासिनी भाष्यम्' शब्दसे किया है। सांख्यकारिकाके एक प्राचीन निबन्धसे ( पृ० २३४ ) भोगकी परिभाषा उद्धृत की है।

बौद्धमतसमीक्षामें धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक और प्रज्ञाकरके वार्तिकालङ्कारकी इतनी गहरी और विस्तृत आलोचना अन्यत्र देखनेमें नहीं आई। वार्तिकालङ्कारका तो आधा-सा भाग इसमें आलोचित है। धर्मोत्तर, शान्तभद्र, अर्चट आदि प्रमुख बौद्ध ग्रन्थकार इनकी तीखी आलोचनासे नहीं छूटे हैं।

मीमांसादर्शनकी समालोचनामें शबर, उम्बेक, प्रभाकर, मण्डन, कुमारिल आदिका गम्भीर पर्यालोचन है। इसी तरह न्यायवैशेषिक मतमें व्योमशिव, आत्रेय, भासर्वज्ञ, विश्वरूप आदि प्राचीन आचार्योंके मत उनके ग्रन्थोंसे उद्धृत करके आलोचित हुए हैं। उपनिषदोंका 'वेदमस्तक' शब्दसे उल्लेख किया गया है। इस तरह जितना परपक्षसमीक्षणका भाग है वह उन-उन मतोंके प्राचीनतम ग्रन्थोंसे लेकर ही पूर्वपक्षमें स्थापित करके आलोचित किया गया है।

स्वपक्षसंस्थापनमें समन्तभद्रादि आचार्योंके प्रमाणवाक्योंसे पक्षका समर्थन परिपुष्ट रीतिसे किया है। जब वादिराज कारिकाओंका व्याख्यान करते हैं तो उनकी अपूर्व वैयाकरणचुञ्चुता चित्तको विस्मित कर देती है। किसी-किसी कारिकाके पाँच-पाँच अर्थ तक इन्होंने किए हैं। दो अर्थ तो साधारणतया अनेक कारिकाओंके दृष्टिगोचर होते हैं। काव्यछटा और साहित्यसर्जकता तो इनकी पद-पदपर अपनी आभासे न्यायभारतीको समुज्ज्वल बनाती हुई सहृदयोंके हृदयको आह्लादित करती है। सारे विवरणमें करीब २०००—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५०० पद्य स्वयं वादिराजके ही द्वारा रचे गए हैं जो इनकी काव्य-चातुरीको प्रत्येक पृष्ठपर मूर्त किए हुए हैं। इनकी तर्कणाशक्ति अपनी मौलिक है। क्या पूर्वपक्ष और क्या उत्तरपक्ष, दोनोंका बन्धान प्रसाद ओज और माधुर्यसे समलङ्कृत होकर तर्कप्रवणताका उच्च अधिष्ठान है। इस श्लोकमें कितने ओजके साथ यमकमें अचर्टका उपहास किया है—

"अर्चटचटक, तदस्मादुपरम दुस्तर्कपक्षबलचलनात्।
स्याद्वादाचलविदलनचञ्चुर्न तवास्ति नयचञ्चुः॥" (पृ० ४४९)

इस तरह समग्र ग्रन्थका कोई भी पृष्ठ वादिराजकी साहित्यप्रवणता, शब्दनिष्णातता और दार्शनिकता-की युगपत् प्रतीति करा सकता है। एकीभावस्तोत्रके अन्तमें पाया जानेवाला यह पद्य वादिराजका भूतगुणोद्भावक है मात्र स्तुतिपरक नहीं—

"वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः॥"

वादिराजका 'एकीभावस्तोत्र' उस निष्ठावान् और भक्ति-विभोरमानसका परिस्पंदन है जिसकी साधनासे भव्य अपना चरम लक्ष्य पा सकता है। इस तरह वादिराज तार्किक होकर भी भक्त थे, वैयाकरण-चणप होकर भी काव्यकलाके हृदयाह्लादक लीलाधाम थे और थे अकलङ्कन्यायके सफल व्याख्याकार। जैन-दर्शनके ग्रन्थागारमें वादिराजका न्यायविनिश्चयविवरण अपनी मौलिकता, गम्भीरता, अनुच्छिष्टता, युक्ति-प्रवणता, प्रमाणसंग्रहता आदिका अद्वितीय उदाहरण है। इसके प्रथम प्रत्यक्ष प्रस्तावका संक्षिप्त विषयपरिचय इस प्रकार है—

**प्रत्यक्ष परिच्छेद**

न्यायविनिश्चय ग्रन्थके तीन परिच्छेद हैं—१–प्रत्यक्ष २–अनुमान और ३–प्रवचन। इस ग्रन्थमें अकलंकदेवने न्यायके विनिश्चय करनेकी प्रतिज्ञा की है। वे न्याय अर्थात् स्याद्वादमुद्रांकित जैन आम्नायको कलिकाल दोषसे गुणद्वेषी व्यक्तियों द्वारा मलिन किया हुआ देखकर विचलित हो उठते हैं और भव्य पुरुषोंकी हितकामनासे सम्यग्ज्ञान-वचन रूपी जलसे उस न्यायपर आए हुए मलको दूर करके उसको निर्मल बनानेके लिए कृतसंकल्प होते हैं। जिसके द्वारा वस्तु-स्वरूपका निर्णय किया जाय उसे न्याय कहते हैं। अर्थात् न्याय उन उपायोंको कहते हैं जिनसे वस्तु-तत्त्वका निश्चय हो। ऐसे उपाय तत्त्वार्थसूत्र (१।६) में प्रमाण और नय दो ही निर्दिष्ट हैं। आत्माके अनन्त गुणोंमें उपयोग ही एक ऐसा गुण है जिसके द्वारा आत्माको लक्षित किया जा सकता है। उपयोग अर्थात् चितिशक्ति। उपयोग दो प्रकारका है, एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग। एक ही उपयोग जब परपदार्थोंके जाननेके कारण साकार बनता है तब ज्ञान कहलाता है। वही उपयोग जब बाह्यपदार्थोंमें उपयुक्त न रहकर मात्र चैतन्यरूप रहता है तब निराकार अवस्थामें दर्शन कहलाता है। यद्यपि दार्शनिकक्षेत्रमें दर्शनकी व्याख्या बदली है और वह चैतन्याकारकी परिधिको लाँघकर पदार्थोंके सामान्यावलोकन तक जा पहुँची है परन्तु सिद्धान्त ग्रन्थोंमें दर्शनका 'अनुपयुक्त आदर्शतलवत्' ही वर्णन है। सिद्धान्त ग्रंथोंमें स्पष्टतया विषय और विषयीके सन्निपातके पहिले 'दर्शन' का काल बताया है। जब तक आत्मा एकपदार्थविषयज्ञानोपयोगसे च्युत होकर दूसरे पदार्थविषयक उपयोगमें प्रवृत्त नहीं हुआ तब तक बीचकी निराकार अवस्था दर्शन कही जाती है। इस अवस्थामें चैतन्य निराकार या चैतन्याकार रहता है। दार्शनिक ग्रन्थोंमें 'दर्शन' विषयविषयीके सन्निपातके अनन्तर वस्तुके सामान्यावलोकन रूपमें वर्णित है। और वह है बौद्धसम्मत निर्विकल्पज्ञान और नैयायिकादिसम्मत सन्निकर्ष ज्ञानकी प्रमाणताका निराकरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करनेके लिए। इसका यही तात्पर्य है कि बौद्धादि जिस निर्विकल्पकको प्रमाण मानते हैं जैन उसे दर्शनकोटि-में गिनते हैं और वह प्रमाणकी सीमासे बहिर्भूत है। अस्तु।

उपायतत्त्वमें ज्ञान ही आता है। जब ज्ञान वस्तुके पूर्णरूपको जानता है तब प्रमाण कहा जाता है तथा जब देशको जानता है तब नय। प्रमाणका लक्षण साधारणतया 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' यह सर्व-स्वीकृत है। विवाद यह है कि करण कौन हो? नैयायिक सन्निकर्ष और ज्ञान दोनोंका करण रूपसे निर्देश करते हैं। परन्तु जैन परम्परामें अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमितिका करण ज्ञानको माना है। आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेनने प्रमाणके लक्षणमें 'स्वपरावभासक' पदका समावेश किया है। इस पदका तात्पर्य है कि प्रमाणको 'स्व' और 'पर' दोनोंका निश्चय करानेवाला होना चाहिए। यद्यपि अकलंकदेव और माणिक्यनन्दीने प्रमाण-के लक्षणमें 'अनधिगतार्थग्राही' और 'अपूर्वार्थव्यवसायात्मक' पदोंका निवेश किया है, पर यह सर्वस्वीकृत नहीं हुआ। आचार्य हेमचन्द्रने तो 'स्वावभासक' पद भी प्रमाणके लक्षणमें अनावश्यक समझा है। उनका कहना है कि स्वावभासकत्व ज्ञानसामान्यका धर्म है। ज्ञान चाहे प्रमाण हो या अप्रमाण, वह स्वसंवेदी होगा ही। तात्पर्य यह है कि जैन परम्परामें ऐसा स्वसंवेदी ज्ञान प्रमाण होगा जो पर-पदार्थ-निर्णय करनेवाला हो। प्रमाण सकलादेशी होता है, वह एक गुणके द्वारा भी पूरी वस्तुको विषय करता है। नय विकलादेशी होता है, क्योंकि वह जिस धर्मका स्पर्श करता है उसे ही मुख्य भावसे विषय करता है।

**प्रमाणके भेद**—सामान्यतया प्राचीन कालसे जैन परम्परामें प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्विवाद रूपसे स्वीकृत चले आ रहे हैं। आत्ममात्र-सापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं तथा जिस ज्ञानमें इन्द्रिय मन प्रकाश आदि परसाधनोंकी अपेक्षा हो वह ज्ञान परोक्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष और परोक्षकी यह परिभाषा जैन परम्पराकी अपनी है। जैन परम्परामें प्रत्येक वस्तु अपने परिणमनमें स्वयं उपादान होती है। जितने परनिमित्तक परिणमन हैं, सब व्यवहारमूलक हैं। जितने मात्र स्वनिमित्तक परिणमन हैं वे परमार्थ हैं, निश्चयनयके विषय हैं। प्रत्यक्ष और परोक्षके लक्षणमें भी वही स्वाभिमुख दृष्टि कार्य कर रही है। और उसके निर्वाहके लिए अक्ष शब्दका अर्थ ( अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा ) आत्मा किया गया। प्रत्यक्षके लोकप्रसिद्ध अर्थके निर्वाहके लिए इन्द्रियजन्य ज्ञानको सांव्यवहारिक संज्ञा दी। यद्यपि शास्त्रीय परमार्थ व्याख्याके अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान परसापेक्ष होनेसे परोक्ष है किन्तु लोकव्यवहारमें इनको प्रत्यक्ष-रूपसे प्रसिद्धि होनेके कारण इन्हें संव्यवहार प्रत्यक्ष कह दिया जाता है। जैनदृष्टिमें उपादानयोग्यतापर ही विशेष भार दिया गया है, निमित्तसे यद्यपि उपादान-योग्यता विकसित होती है, पर निमित्ताधीन परिणमन उत्कृष्ट या शुद्ध नहीं समझे जाते। इसीलिए प्रत्यक्ष-जैसे उत्कृष्ट ज्ञानमें इन्द्रिय और मन-जैसे निकटतम साधनोंकी अपेक्षा भी स्वीकार नहीं की गई। प्रत्यक्ष व्यवहारका कारण भी आत्ममात्रसापेक्षता ही निरूपित-की गई है और परोक्ष व्यवहारके लिए इन्द्रिय मन आदि परपदार्थोंकी अपेक्षा रखना। यह तो जैनदृष्टिका अपना आध्यात्मिक निरूपण है। उस प्रत्यक्षज्ञानकी परिभाषा करते हुए अकलंकदेवने कहा है कि—

"प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टः साकारमञ्जसा।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥"

अर्थात्—जो ज्ञान परमार्थतः स्पष्ट हो, साकार हो, द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक अर्थ-को विषय करनेवाला हो और आत्मवेदी हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इस लक्षणमें अकलंकदेवने निम्नलिखित मुद्दे विचारकोटिके लायक रखे हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| १–ज्ञान आत्मवेदी होता है। | २–ज्ञान साकार होता है। |
| ३–ज्ञान अर्थको जानता है। | ४–अर्थ सामान्यविशेषात्मक है। |
| ५–अर्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। | ६–वह ज्ञान प्रत्यक्ष होगा जो परमार्थतः स्पष्ट हो। |

ज्ञानका आत्मवेदित्व—'ज्ञान आत्माका गुण है या नहीं' यह प्रश्न भी दार्शनिकोंकी चर्चाका विषय रहा है। भूतचैतन्यवादी चार्वाक ज्ञानको पृथ्वी आदि भूतोंका ही धर्म मानता है। वह स्थूल या दृश्य भूतोंका धर्म स्वीकार न करके सूक्ष्म और अदृश्य भूतोंके विलक्षणसंयोगसे उत्पन्न होनेवाले अवस्थाविशेषको ज्ञान कहता है। सांख्य चैतन्यको पुरुषधर्म स्वीकार करके भी ज्ञान या बुद्धिको प्रकृतिका धर्म मानता है। सांख्यके मतसे चैतन्य और ज्ञान जुदा-जुदा हैं। पुरुषगत चैतन्य बाह्यपदार्थोंको नहीं जानता। बाह्यपदार्थोंको जाननेवाला बुद्धितत्त्व जिसे 'महत्तत्त्व भी कहते हैं प्रकृतिका ही परिणाम है। यह बुद्धि उभयतः प्रतिबिम्बी दर्पणके समान है। इसमें एक ओर पुरुषगत चैतन्य प्रतिफलित होता है और दूसरी ओर पदार्थोंके आकार। इस बुद्धि मध्यमके द्वारा ही पुरुषको "मैं घटको जानता हूँ" यह मिथ्या अहंकार होने लगता है।

न्याय-वैशेषिक—ज्ञानको आत्माका गुण मानते अवश्य हैं, पर इनके मतमें आत्मा द्रव्यपदार्थ पृथक है तथा ज्ञान गुणपदार्थ जुदा। यह आत्माका यावद्द्रव्यभावी अर्थात् जब तक आत्मा है तब तक उसमें अवश्य रहनेवाला—गुण नहीं है किन्तु आत्ममनःसंयोग, मन-इन्द्रिय-पदार्थ सन्निकर्ष आदि कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला विशेष गुण है। जब तक ये निमित्त मिलेंगे, ज्ञान उत्पन्न होगा, न मिलेंगे न होगा। मुक्त अवस्थामें मन इन्द्रिय आदिका सम्बन्ध न रहनेके कारण ज्ञानकी धारा उच्छिन्न हो जाती है। इस अवस्थामें आत्मा स्वरूपमात्रमग्न रहता है। तात्पर्य यह कि बुद्धि सुख दुःख आदि विशेष गुण औपाधिक हैं, स्वभावतः आत्मा ज्ञानशून्य है। ईश्वर नामकी एक आत्मा ऐसी है जो अनाद्यनन्त नित्यज्ञानवाली है। परमात्माके सिवाय अन्य सभी जीवात्माएँ स्वभावतः ज्ञानशून्य हैं।

वेदान्ती ज्ञान और चैतन्यको जुदा-जुदा मानकर चैतन्यका आश्रय ब्रह्मको तथा ज्ञानका आश्रय अन्तःकरणको मानते हैं। शुद्ध ब्रह्ममें विषयपरिच्छेदक ज्ञानका कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता।

मीमांसक ज्ञानको आत्माका ही गुण मानते हैं। इनके यहाँ ज्ञान और आत्मामें तादात्म्य माना गया है।

बौद्ध परम्परामें ज्ञान नाम या चित्तरूप है। मुक्त अवस्था में चित्तसन्तति निरास्रव हो जाती है। इस अवस्थामें यह चित्तसन्तति घटपटादि बाह्यपदार्थोंको नहीं जानती।

जैनपरम्परा ज्ञानको अनाद्यनन्त स्वाभाविक गुण मानती है जो मोक्ष दशामें अपनी पूर्ण अवस्थामें रहता है।

'संसार दशामें ज्ञान आत्मगत धर्म है' इस विषयमें चार्वाक और सांख्यके सिवाय प्रायः सभी वादी एकमत हैं। पर विचारणीय बात यह है कि जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह दीपककी तरह स्वपरप्रकाशी उत्पन्न होता है या नहीं? इस सम्बन्धमें अनेक मत हैं—१. मीमांसक ज्ञानको परोक्ष कहता है। उसका कहना है कि ज्ञान परोक्ष ही उत्पन्न होता है। जब उसके द्वारा पदार्थका बोध हो जाता है तब अनुमानसे ज्ञानको जाना जाता है—चूँकि पदार्थका बोध हुआ है और क्रिया बिना करणके हो नहीं सकती अतः करणभूत ज्ञान होना चाहिए। मीमांसकको ज्ञानको परोक्ष माननेका यही कारण है कि—इसने अतीन्द्रिय पदार्थका ज्ञान वेदके द्वारा ही माना है। धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रत्यक्ष किसी व्यक्तिविशेषको नहीं हो सकता। उसका ज्ञान वेदके द्वारा ही हो सकता है। फलतः ज्ञान जब अतीन्द्रिय है तब उसे परोक्ष होना ही चाहिए।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा मत नैयायिकोंका है। इनके मतसे भी ज्ञान परोक्ष ही उत्पन्न होता है और उसका ज्ञान द्वितीय ज्ञानसे होता है और द्वितीयका तृतीयसे। अनवस्था दूषणका परिहार जब ज्ञान विषयान्तरको जानने लगता है तब इस ज्ञानकी धारा रुक जानेके कारण हो जाता है। इनका मत ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादके नामसे प्रसिद्ध है। नैयायिकके मतसे ज्ञानका प्रत्यक्ष संयुक्तसमवायसन्निकर्षसे होता है। मन आत्मासे संयुक्त होता है और आत्मामें ज्ञानका समवाय होता है। इस प्रकार ज्ञानके उत्पन्न होनेपर सन्निकर्षजन्य द्वितीय मानसज्ञान प्रथम ज्ञानका प्रत्यक्ष करता है।

सांख्य ने पुरुषको स्वसंवेतक स्वीकार किया है। इसके मतमें बुद्धि या ज्ञान प्रकृतिका विकार है। इसे महत्तत्व कहते हैं। यह स्वयं अचेतन है। बुद्धि उभयमुखप्रतिबिम्बी दर्पणके समान है। इसमें एक ओर पुरुष प्रतिफलित होता है तथा दूसरी ओर पदार्थ। इस बुद्धि-प्रतिबिम्बित पुरुषके द्वारा ही बुद्धिका प्रत्यक्ष होता है, स्वयं नहीं।

वेदान्ती के मतमें ब्रह्म स्वप्रकाश है अतः स्वभावतः ब्रह्मका विवर्त ज्ञान स्वप्रकाशी होना ही चाहिए।

प्रभाकर के मतमें संवित्ति स्वप्रकाशिनी है, वह संवित्ति रूपसे स्वयं जानी जाती है।

इस तरह ज्ञानको अनात्मवेदी या अस्वसंवेदी माननेवाले मुख्यतया मीमांसक और नैयायिक ही हैं।

अकलंकदेवने इसकी मीमांसा करते हुए लिखा है कि—यदि ज्ञान स्वयं अप्रत्यक्ष हो अर्थात् अपने स्वरूपको न जानता हो तो उसके द्वारा पदार्थका ज्ञान हमें नहीं हो सकता। देवदत्त अपने ज्ञानके द्वारा ही पदार्थोंको क्यों जानता है, यज्ञदत्तके ज्ञानके द्वारा क्यों नहीं जानता? या प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञानके द्वारा ही अर्थ परिज्ञान करते हैं आत्मान्तरके ज्ञानसे नहीं। इसका सीधा और स्पष्ट कारण यही है कि देवदत्तका ज्ञान स्वयं अपनेको जानता है और इसलिये तदभिन्न देवदत्तकी आत्माको ज्ञात है कि अमुक ज्ञान मुझमें उत्पन्न हुआ है। यज्ञदत्तमें ज्ञान उत्पन्न हो जाय पर देवदत्तको उसका पता ही नहीं चलता। अतः यज्ञदत्तके ज्ञानके द्वारा देवदत्त अर्थबोध नहीं कर पाता। यदि जैसे यज्ञदत्तका ज्ञान उत्पन्न होनेपर भी देवदत्तको परोक्ष रहता है, उसी प्रकार देवदत्तको स्वयं अपना ज्ञान परोक्ष ही अर्थात् उत्पन्न होनेपर भी स्वयं अपना परिज्ञान न करता हो तो देवदत्तके लिए अपना ज्ञान यज्ञदत्तके ज्ञानकी तरह ही पराया हो गया और उससे अर्थबोध नहीं होना चाहिए। वह ज्ञान हमारे आत्मासे सम्बन्ध रखता है इतने मात्रसे हम उसके द्वारा पदार्थबोधके अधिकारी नहीं हो सकते जब तक कि वह स्वयं हमारे प्रत्यक्ष अर्थात् स्वयं अपने ही प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। अपने ही द्वितीय ज्ञानके द्वारा उसका प्रत्यक्ष मानकर उससे अर्थबोध करनेकी कल्पना इसलिए उचित नहीं है कि कोई भी योगी अपने योगज प्रत्यक्षके द्वारा हमारे ज्ञानको प्रत्यक्ष कर सकता है जैसे कि हम स्वयं अपने द्वितीय ज्ञानके द्वारा प्रथम ज्ञानका, पर इतने मात्रसे वह योगी हमारे ज्ञानसे पदार्थोंका बोध नहीं कर लेता। उसे तो जो भी बोध होगा स्वयं अपने ही ज्ञान द्वारा होगा। तात्पर्य यह कि—हमारे ज्ञानमें यही स्वकीयत्व है जो वह स्वयं अपना बोध करता है और अपने आधारभूत आत्मासे तादात्म्य रखता है। यह संभव ही नहीं है कि ज्ञान उत्पन्न हो जाय अर्थात् अपनी उपयोग दशामें आ जाय और आत्माको या स्वयं उसे ज्ञानका ही पता न चले। वह तो दीपक या सूर्यकी तरह स्वयंप्रकाशी ही उत्पन्न होता है। वह पदार्थके बोधके साथ ही साथ अपना संवेदन स्वयं करता है। इसमें न तो क्षणभेद है और न परोक्षता ही। ज्ञानके स्वप्रकाशी होनेमें यह बाधा भी कि—वह घटादि पदार्थोंकी तरह ज्ञेय हो जायगा—नहीं हो सकती; क्योंकि ज्ञान घटको ज्ञेयत्वेन जानता है तथा अपने स्वरूपको ज्ञानरूपसे। अतः उसमें ज्ञेयरूपताका प्रसङ्ग नहीं आ सकता। इसके लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीपकसे बढ़कर समदृष्टान्त दूसरा नहीं हो सकता। दीपकके देखनेके लिए दूसरे दीपककी आवश्यकता नहीं होती, भले ही वह पदार्थोंको मन्द या अस्पष्ट दिखावे पर अपने रूपको तो जैसेका तैसा प्रकाशित करता ही है। ज्ञान चाहे संशयरूप हो या विपर्ययरूप या अनध्यवसायात्मक स्वयं अपने ज्ञानरूपका प्रकाशक होता ही है। ज्ञानमें संशयरूपता, विपर्ययरूपता या प्रमाणताका निश्चय बाह्यपदार्थके यथार्थप्रकाशकत्व और अयथार्थप्रकाशकत्वके अधीन है पर ज्ञानरूपता या प्रकाशरूपताका निश्चय तो उसका स्वाधीन ही है उसमें ज्ञानान्तरकी आवश्यकता नहीं होती और न वह अज्ञात रह सकता है। तात्पर्य यह कि—कोई भी ज्ञान जब उपयोग अवस्थामें आता है तब अज्ञात होकर नहीं रह सकता। हाँ, लब्धि वा शक्ति रूपमें वह ज्ञात न हो यह जुदी बात है क्योंकि शक्तिका परिज्ञान करना विशिष्टज्ञानका कार्य है। पर यहाँ तो प्रश्न उपयोगात्मक ज्ञानका है। कोई भी उपयोगात्मक ज्ञान अज्ञात नहीं रह सकता, वह तो जगता हुआ ही उत्पन्न होता है, उसे अपना ज्ञान करानेके लिए किसी ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं है।

यदि ज्ञानको परोक्ष माना जाय तो उसका सद्भाव सिद्ध करना कठिन हो जायगा। 'अर्थप्रकाश' रूप हेतुसे उसकी सिद्धि करनेमें निम्नलिखित बाधाएँ हैं—पहिले तो अर्थप्रकाश स्वयं ज्ञान है, अतः जब तक अर्थप्रकाश अज्ञात है तब तक उसके द्वारा मूलज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि—"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थसिद्धिः प्रसिध्यति"—अर्थात् अप्रत्यक्ष-अज्ञात ज्ञानके द्वारा अर्थसिद्धि नहीं होती। "नाज्ञातं ज्ञापकं नाम"—स्वयं अज्ञात दूसरेका ज्ञापक नहीं हो सकता, यह भी सर्वसम्मत न्याय है। फलतः यह आवश्यक है कि पहिले अर्थप्रकाशका ज्ञान हो जाय। यदि अर्थप्रकाशके ज्ञानके लिये अन्यज्ञान अपेक्षित हो तो उस अन्यज्ञानके लिए तदन्यज्ञान इस तरह अनवस्था नामका दूषण आता है और इस अनन्त-ज्ञानपरम्पराकी कल्पना करते रहनेमें आद्यज्ञान अज्ञात ही बना रहेगा। यदि अर्थप्रकाश स्ववेदी है तो प्रथम-ज्ञानको स्ववेदी माननेमें क्या बाधा है? स्ववेदी अर्थप्रकाशसे ही अर्थबोध हो जानेपर मूल ज्ञानकी कल्पना ही निरर्थक हो जाती है। दूसरी बात यह है कि जब तक ज्ञान और अर्थप्रकाशका अविनाभाव सम्बन्ध गृहीत नहीं होगा तब तक उससे ज्ञानका अनुमान नहीं किया जा सकता। यह अविनाभावग्रहण अपनी आत्मामें तो इसलिए नहीं बन सकता कि अभी तक ज्ञान ही अज्ञात है तथा अन्य आत्माके ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः अविनाभावका ग्रहण न होनेके कारण अनुमानसे भी ज्ञानकी सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। इसी तरह पदार्थ, इन्द्रियाँ, मानसिक उपयोग आदिसे भी मूलज्ञानका अनुमान नहीं हो सकता। कारण—इनका ज्ञानके साथ कोई अविनाभाव नहीं है। पदार्थ आदि रहते हैं पर कभी-कभी ज्ञान नहीं होता। कदाचित् अविनाभाव हो भी तो उसका ग्रहण नहीं हो सकता।

आह्लादनाकार परिणत ज्ञानको ही सुख कहते हैं। सातसंवेदनको सुख और असातसंवेदनको दुःख सभी वादियोंने माना है। यदि ज्ञानको स्वसंवेदी नहीं मानकर परोक्ष मानते हैं, तो परोक्ष सुख दुःखसे आत्माको हर्ष विषादादि नहीं होना चाहिए। यदि अपने सुखको अनुमानग्राह्य या ज्ञानान्तरग्राह्य माना जाय और उससे आत्मामें हर्षविषादादिकी सम्भावना की जाय, तो अन्य सुखी आत्माके सुखका अनुमान करके हमें हर्ष होना चाहिए। अथवा केवलीको, जिसे सभी जीवोंके सुखदुःखादिका प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है, हमारे सुखदुःखसे हर्ष विषादादि उत्पन्न होने चाहिए। चूँकि हमारे सुखदुःखसे हमें ही हर्षविषादादि होते हैं, अन्य किसी अनुमान करनेवाले या प्रत्यक्ष करनेवाले आत्मान्तरको नहीं, अतः यह मानना ही होगा कि वे हमारे स्वयंप्रत्यक्ष हैं अर्थात् वे स्वप्रकाशी हैं।

यदि ज्ञानको परोक्ष माना जाता है तो आत्मान्तरकी बुद्धिका अनुमान नहीं किया जा सकता। पहिले हम स्वयं अपनी आत्मामें ही जब तक बुद्धि और वचनादि व्यापारोंका अविनाभाव ग्रहण नहीं करेंगे तब तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वचनादि चेष्टाओंसे अन्यत्र बुद्धिका अनुमान कैसे कर सकते हैं और अपनी आत्मामें जब तक बुद्धिका स्वयं साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक अविनाभावका ग्रहण असम्भव ही है। अन्य आत्माओंमें तो बुद्धि अभी असिद्ध ही है। आत्मान्तरमें बुद्धिका अनुमान नहीं होनेपर समस्त गुरु-शिष्य देन-लेन आदि व्यवस्थाओंका लोप हो जायगा।

यदि अज्ञात या अप्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा अर्थ-बोध माना जाता है, तो सर्वज्ञके ज्ञानके द्वारा हमें सर्वार्थ-ज्ञान होना चाहिए। हमें ही क्यों, सबको सबके ज्ञानके द्वारा अर्थबोध हो जाना चाहिये। अतः ज्ञानको स्व-संवेदी माने बिना ज्ञानका सद्भाव तथा उसके द्वारा प्रतिनियत अर्थबोध नहीं हो सकता। अतः यह आवश्यक है कि उसमें अनुभवसिद्ध आत्मसंवेदित्व स्वीकार किया जाय।

२–नैयायिकका ज्ञानको ज्ञानान्तरवेद्य मानना उचित नहीं है, क्योंकि इसमें अनवस्था नामका महान् दूषण आता है। जबतक एक भी ज्ञान स्वसंवेदी नहीं माना जाता, तब तक पूर्व-पूर्व ज्ञानोंका बोध करने लिये उत्तर-उत्तर ज्ञानोंकी कल्पना करनी ही होगी। क्योंकि जो भी ज्ञानव्यक्ति अज्ञात रहेगी वह स्वपूर्व ज्ञानव्यक्तिकी वेदिका नहीं हो सकती। और इस तरह प्रथम ज्ञानके अज्ञात रहनेपर उसके द्वारा पदार्थ-का बोध नहीं हो सकेगा। एक ज्ञानके जाननेके लिए ही जब इस तरह अनन्त ज्ञानप्रवाह चलेगा तब अन्य पदार्थोंका ज्ञान कब उत्पन्न होगा? थक करके या अरुचिसे या अन्य पदार्थके सम्पर्कसे पहिली ज्ञानाधाराको अधूरी छोड़कर अनवस्थाका वारण करना इसलिये युक्तियुक्त नहीं है कि—जो दशा प्रथम ज्ञानकी हुई है और जैसे वह बीचमें ही अज्ञात दशामें लटक रहा है वही दशा अन्य ज्ञानोंकी भी होगी। ईश्वरका ज्ञान यदि अस्वसंवेदी माना जाता है तो उसमें सर्वज्ञता सिद्ध नहीं हो सकेगी, क्योंकि एक तो उसने अपने स्वरूपको ही स्वयं नहीं जाना दूसरे अप्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा वह जगत्का परिज्ञान नहीं कर सकता। ईश्वरके दो नित्य ज्ञान इसलिए मानना कि–एकसे वह जगत्को जानेगा तथा दूसरेसे ज्ञानको–निरर्थक है; क्योंकि दो ज्ञान एक साथ उपयोग दशामें नहीं रह सकते। दूसरे यदि वह ज्ञानको जाननेवाला द्वितीय ज्ञान स्वयं अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष नहीं करता तो उससे प्रथम अर्थज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। यदि प्रत्यक्ष किसी तृतीय ज्ञानसे माना जाय तो अनवस्था दूषण होगा। यदि द्वितीय ज्ञानको स्वसंवेदी मानते हैं तो प्रथम ज्ञानको ही स्वसंवेदी माननेमें क्या बाधा है?

३–सांख्यके मतमें यदि ज्ञान प्रकृतिका विकार होनेसे अचेतन है, वह अपने स्वरूपको नहीं जानता, उसका अनुभव पुरुषके संचेतनके द्वारा होता है तो ऐसे अचेतन ज्ञानकी कल्पनाका क्या प्रयोजन है? जो पुरुषका संचेतन ज्ञानके स्वरूपका संवेदन करता है वही पदार्थोंको भी जान सकता है। पुरुषका संचेतन यदि स्वसंवेदी नहीं है तो इस अकिंचित्कर ज्ञानको सत्ता भी किससे सिद्ध की जायगी? अतः स्वार्थसंवेदक पुरुषानुभवसे भिन्न किसी प्रकृतिविकारात्मक अचेतन ज्ञानकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। करण या माध्यमके लिए इन्द्रियाँ और मन मौजूद हैं। वस्तुतः 'ज्ञान और पुरुषगतसंचेतन' ये दो जुदा हैं ही नहीं। पुरुष, जिसे सांख्य कूटस्थ नित्य मानता है, स्वयं परिणामी है, पूर्वपर्यायको छोड़कर उत्तरपर्यायको धारण करता है। संचेतना ऐसे परिणामीनित्य पुरुषका ही धर्म हो सकती है। इससे पृथक् किसी अचेतन ज्ञानकी आवश्यकता ही नहीं है। अतः ज्ञानमात्र स्वसंवेदी है। वह अपने जाननेके लिए किसी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता।

ज्ञानकी साकारता—ज्ञानकी साकारताका साधारण अर्थ यह समझ लिया जाता है कि जैसे दर्पण-में घट-पट आदि पदार्थोंका प्रतिबिम्ब आता है और दर्पणका अमुक भाग घटछायाक्रान्त हो जाता है उसी तरह ज्ञान भी घटाकार हो जाता है अर्थात् घटका प्रतिबिम्ब ज्ञानमें पहुँच जाता है। पर वास्तव बात ऐसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। घट और दर्पण दोनों मूर्त और जड़ पदार्थ हैं, उनमें एकका प्रतिबिम्ब दूसरेमें पड़ सकता है, किन्तु चेतन और अमूर्त ज्ञानमें मूर्त जड़ पदार्थका प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता और न अन्य चेतनान्तरका ही। ज्ञानके घटाकार होनेका अर्थ है—ज्ञानका घटको जाननेके लिए उपयुक्त होना अर्थात् उसका निश्चय करना। तत्त्वार्थवार्तिक ( १।६ ) में घटके स्वचतुष्टयका विचार करते हुए लिखा है कि—घट शब्द सुननेके बाद उत्पन्न होनेवाले घट-ज्ञानमें जो घटविषयक उपयोगाकार है वह घटका स्वात्मा है और बाह्यघटाकार परात्मा। यहाँ जो उपयोगाकार है उसका अर्थ घटकी ओर ज्ञानके व्यापारका होना है न कि ज्ञानका घट-जैसा लम्बा चौड़ा या वजनदार होना। आगे फिर लिखा है कि—"चैतन्यशक्तेर्द्वाकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकारः, प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः। तत्र ज्ञेयाकारः स्वात्मा।" अर्थात् चैतन्यशक्तिके दो आकार होते हैं एक ज्ञानाकार और दूसरा ज्ञेयाकार। ज्ञानाकार प्रतिबिम्बशून्य शुद्ध दर्पणके समान पदार्थविषयक व्यापारसे रहित होता है। ज्ञेयाकार सप्रतिबिम्ब दर्पणकी तरह पदार्थविषयक व्यापारसे सहित होता है। साकारताके सम्बन्धमें जो दर्पणका दृष्टान्त दिया जाता है उसीसे यह भ्रम हो जाता है कि—ज्ञानमें दर्पणके समान लम्बा चौड़ा काला प्रतिबिम्ब पदार्थका आता है और इसी कारण ज्ञान साकार कहलाता है। दृष्टान्त जिस अंशको समझानेके लिए दिया जाता है उसको उसी अंशके लिए लागू करना चाहिए। यहाँ 'दर्पण' दृष्टान्तका इतना ही प्रयोजन है कि चैतन्यधारा ज्ञेयको जाननेके समय ज्ञेयाकार होती है, शेष समयमें ज्ञानाकार।

धवला ( प्र० पु० पृ० ३८० ) तथा जयधवला ( प्र० पु० पृ० ३३७ ) में दर्शन और ज्ञानमें निराकारता और साकारता-प्रयुक्त भेद बताते हुए स्पष्ट लिखा है कि—जहाँ ज्ञानसे पृथक् वस्तु कर्म अर्थात् विषय हो वह साकार है और जहाँ अन्तरङ्ग वस्तु अर्थात् चैतन्य स्वयं चैतन्य रूप ही हो वह निराकार। निराकार दर्शन, इन्द्रिय और पदार्थके सम्पर्कके पहिले होता है जब कि साकार ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निपातके बाद। अन्तरङ्गविषयक अर्थात् स्वावभासी उपयोगको अनाकार तथा बाह्यावभासी अर्थात् स्वसे भिन्न अर्थको विषय करनेवाला उपयोग साकार कहलाता है। उपयोगकी ज्ञानसंज्ञा वहाँसे प्रारम्भ होती है जहाँसे वह स्वव्यतिरिक्त अन्य पदार्थको विषय करता है। जब तक वह मात्र स्वप्रकाश-निमग्न है तब तक वह दर्शन-निराकार कहलाता है। इसीलिए ज्ञानमें ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व ये दो विभाग होते हैं। जो ज्ञान पदार्थकी यथार्थ उपलब्धि कराता है यह प्रमाण है अन्य अप्रमाण। पर दर्शन सदा एकविध रहता है उसमें कोई दर्शन प्रमाण कोई दर्शन अप्रमाण ऐसा जातिभेद नहीं होता। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन आदि भेद तो आगे होनेवाली तत्तत् ज्ञानपर्यायोंकी अपेक्षा हैं। स्वरूपकी अपेक्षा उनमें इतना ही भेद है कि एक उपयोग अपने चाक्षुषज्ञानोत्पादकशक्तिरूप स्वरूपमें मग्न है तो दूसरा अन्य स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानके जनक स्वरूपमें लीन है, तो अन्य अवधिज्ञानोत्पादक स्वरूपमें और अन्य केवलज्ञानसहभावी स्वरूपमें निमग्न है। तात्पर्य यह कि—उपयोगका स्वसे भिन्न किसी भी पदार्थको विषय करना ही साकार होना है, न कि दर्पणकी तरह प्रतिबिम्बाकार होना।

निराकार और साकार या ज्ञान और दर्शनका यह सैद्धान्तिक स्वरूपविश्लेषण दार्शनिक युगमें अपनी उस सीमाको लाँघकर 'बाह्यपदार्थके सामान्यावलोकनका नाम दर्शन और विशेष परिज्ञानकका नाम ज्ञान' इस बाह्यपरिधिमें आ गया। इस सीमोल्लंघनका दार्शनिक प्रयोजन बौद्धादि-सम्मत निर्विकल्पककी प्रमाणताका निराकरण करना ही है।

अकलङ्कदेवने विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष बताते हुए जो ज्ञानका 'साकार' विशेषण दिया है यह उपर्युक्त अर्थको द्योतन करनेके ही लिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध क्षणिक परमाणु रूप चित्त या जड़-क्षणोंको स्वलक्षण मानते हैं। यही उनके मतमें परमार्थसत् है, यही वास्तविक अर्थ है। यह स्वलक्षण शब्दशून्य है, शब्दके अगोचर है। शब्दका वाच्य इनके मतसे बुद्धिगत अभेदांश ही होता है। इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धके अनन्तर निर्विकल्पक दर्शन उत्पन्न होता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसके अनन्तर शब्दसंकेत और विकल्पवासना आदिका सहकार पाकर शब्दसंसर्गी सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। शब्दसंसर्ग न होनेपर भी शब्दसंसर्गकी योग्यता जिस ज्ञानमें आ जाय उसे विकल्प कहते हैं। किसी भी पदार्थको देखनेके बाद पूर्वदृष्ट तत्सदृश पदार्थका स्मरण होता है, तदनन्तर तद्वाचक शब्दका स्मरण, फिर उस शब्दके साथ वस्तुका योजन, तब यह 'घट' है इत्यादि शब्दका प्रयोग। वस्तु-दर्शनके बाद होनेवाले—पूर्वदृष्ट-स्मरण आदि सभी व्यापार सविकल्पककी सीमामें आते हैं। तात्पर्य यह कि—निर्विकल्पक दर्शन वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अवभासक होनेसे प्रमाण है।

सविकल्पक ज्ञान शब्दवासनासे उत्पन्न होनेके कारण, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको स्पर्श नहीं करता, अतएव अप्रमाण है। इस निर्विकल्पकके द्वारा वस्तुके समग्ररूपका दर्शन हो जाता है, परन्तु निश्चय यथासम्भव सविकल्पक ज्ञान और अनुमानके द्वारा ही होता है।

अकलंकदेव इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि किसी भी ऐसे निर्विकल्पक ज्ञानका अनुभव नहीं होता जो निश्चयात्मक न हो।

सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी हैं। इनका कहना है कि यदि ज्ञान पदार्थ के आकार न हो तो प्रतिकर्मव्यवस्था अर्थात् घटज्ञान का विषय घट ही होता है पट नहीं—नहीं हो सकेगी। सभी पदार्थ एक ज्ञानके विषय या सभी ज्ञान सभी पदार्थोंको विषय करनेवाले हो जायँगे। अतः ज्ञानको साकार मानना आवश्यक है। यदि साकारता नहीं मानी जाती तो विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञानमें कोई भेद नहीं रहेगा। इनमें यही भेद है कि एक मात्रविषयके आकार है तथा दूसरा विषय और विषयज्ञान दोके आकार है। विषयकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए ज्ञानको साकार मानना नितान्त आवश्यक है।

अकलंकदेवने साकारताके इस प्रयोजनका खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है कि विषय-प्रतिनियम ज्ञानकी अपनी शक्ति या क्षयोपशमके अनुसार होता है। जिस ज्ञानमें पदार्थको जाननेकी जैसी योग्यता है वह उसके अनुसार पदार्थको जानता है। तदाकारता माननेपर भी यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना रहता है कि ज्ञान अमुक पदार्थके ही आकारको क्यों ग्रहण करता है? अन्य पदार्थोंके आकारको क्यों नहीं? अन्तमें ज्ञानगत शक्ति ही विषयप्रतिनियम करा सकती है, तदाकारता आदि नहीं।

'जो ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न हुआ है वह उसके आकार होता है' इस प्रकार तदुत्पत्तिसे भी आकारनियम नहीं बन सकता; क्योंकि ज्ञान जिस प्रकार पदार्थसे उत्पन्न होता है उसी तरह प्रकाश और इन्द्रियोंसे भी। यदि तदुत्पत्तिसे साकारता आती है तो जिस प्रकार ज्ञान घटाकार होता है उसी प्रकार उसे इन्द्रिय तथा प्रकाशके आकार भी होना चाहिये। अपने उपादानभूत पूर्वज्ञानके आकारको तो उसे अवश्य ही धारण करना चाहिये। जिस प्रकार ज्ञान घट के घटाकारको धारण करता है उसी प्रकार वह उसकी जड़ता को क्यों नहीं धारण करता? यदि घटके आकारको धारण करनेपर भी जड़ता अगृहीत रहती है तो घट और उसके जड़त्वमें भेद हो जायगा। यदि घटकी जड़ता अतदाकार ज्ञानसे जानी जाती है तो उसी प्रकार घट भी अतदाकार ज्ञानसे जाना जाय। वस्तुमात्रको निरंश माननेवाले बौद्धके मतमें वस्तुका खण्डशः भाग तो नहीं ही होना चाहिये। समानकालीन पदार्थ कदाचित् ज्ञानमें अपना आकार अर्पित भी कर दें, पर अतीत और अनागत आदि अविद्यमान अर्थ ज्ञानमें अपना आकार कैसे दे सकते हैं?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञानमें भी अन्तर ज्ञानकी अपनी योग्यतासे ही हो सकता है। आकार माननेपर भी अन्ततः स्वयोग्यता स्वीकार करनी ही पड़ती है। अतः बौद्धपरिकल्पित साकारता अनेक दूषणोंसे दूषित होनेके कारण ज्ञानका धर्म नहीं हो सकती। ज्ञानकी साकारताका अर्थ है ज्ञानका उस पदार्थ-का निश्चय करना या उस पदार्थकी ओर उपयुक्त होना। निर्विकल्पक अर्थात् शब्द-संसर्गकी योग्यतासे भी रहित कोई ज्ञान हो सकता है यह अनुभवसिद्ध नहीं है।

ज्ञान अर्थको जानता है—मुख्यतया दो विचारधाराएँ इस सम्बन्धमें हैं। एक यह कि—ज्ञान अपनेसे भिन्न सत्ता रखनेवाले जड़ और चेतन पदार्थोंको जानता है। इस विचारधाराके अनुसार जगत्में अनन्त चेतन और अनन्त अचेतन पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता है। दूसरी विचारधारा बाह्य जड़ पदार्थोंकी पारमार्थिक सत्ता नहीं मानती, किन्तु उनका प्रातिभासिक अस्तित्व स्वीकार करती है। इनका मत है कि घटपटादि बाह्य पदार्थ अनादिकालीन विचित्र वासनाओंके कारण या माया अविद्या आदिके कारण विचित्र रूपमें प्रतिभासित होते हैं। जिस प्रकार स्वप्न या इन्द्रजालमें बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व न होनेपर भी अनेकविध अर्थक्रियाकारी पदार्थोंका सत्यवत् प्रतिभास होता है, उसी तरह अविद्यावासनाके कारण नानाविध विचित्र अर्थोंका प्रतिभास हो जाता है। इनके मतसे मात्र चेतनतत्त्वकी ही पारमार्थिक सत्ता है। इसमें भी अनेक मतभेद हैं। वेदान्ती एक नित्य व्यापक ब्रह्मका ही पारमार्थिक अस्तित्व स्वीकार करते हैं। यही ब्रह्म नानाविध जीवात्माओं और अनेक प्रकारके घटपटादिरूप बाह्य अर्थोंके रूपमें प्रतिभासित होता है। संवेदना-द्वैतवादी क्षणिक परमाणुरूप अनेक ज्ञानक्षणोंका पारमार्थिक अस्तित्व मानते हैं। इनके मतसे अनेक ज्ञान-सन्तानें पृथक्-पृथक् पारमार्थिक अस्तित्व रखती हैं। अपनी-अपनी वासनाओंके अनुसार ज्ञानक्षण नाना पदार्थों-के रूपमें भासित होता है। पहिली विचारधाराका अनेकविध विस्तार न्यायवैशेषिक, सांख्ययोग, जैन, सौत्रान्तिक बौद्ध आदि दर्शनोंमें देखा जाता है।

बाह्यार्थलोपकी दूसरी विचारधाराका आधार यह मालूम होता है कि—प्रत्येक व्यक्ति अपनी कल्पनाके अनुसार पदार्थोंमें संकेत करके व्यवहार करता है। जैसे एक पुस्तकको देखकर उस धर्मका अनुयायी उसे धर्मग्रन्थ समझकर पूज्य मानता है। पुस्तकालयाध्यक्ष उसे अन्य पुस्तकोंकी तरह सामान्य पुस्तक समझता है, तो दुकानदार उसे रद्दीके भाव खरीदकर पुड़िया बाँधता है। भंगी उसे कूड़ा-कचरा मानकर झाड़ सकता है। गाय-भैंस आदि पशुमात्र उसे पुद्गलोंका पुंज समझकर घासकी तरह खा सकते हैं तो दीमक आदि कीड़ोंको उसमें पुस्तक यह कल्पना ही नहीं होगी। अब आप विचार कीजिए कि पुस्तकमें, धर्मग्रन्थ, पुस्तक, रद्दी, कचरा, घासकी तरह खाद्य आदि संज्ञाएँ तत्तदव्यक्तियोंके ज्ञानसे ही आई हैं अर्थात् धर्मग्रन्थ पुस्तक आदिका सद्भाव उन व्यक्तियोंके ज्ञानमें है, बाहिर नहीं। इस तरह धर्मग्रन्थ पुस्तक आदिकी व्यवहारसत्ता है, परमार्थसत्ता नहीं। यदि धर्मग्रन्थ पुस्तक आदिकी परमार्थ सत्ता होती तो वह प्राणिमात्र—गाय, भैंसको भी धर्मग्रन्थ या पुस्तक दिखनी चाहिये थी। अतः जगत् केवल कल्पनामात्र है, उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं।

इसी तरह घट एक है या अनेक। परमाणुओंका संयोग एकदेशसे होता है या सर्वदेशसे। यदि एक-देशसे, तो छह परमाणुओंसे संयोग करनेवाले मध्य परमाणुमें छह अंश मानने पड़ेंगे। यदि दो परमाणुओंका सर्वदेशसे संयोग होता है, तो अणुओंका पिंड अणुमात्र हो जायगा। इस तरह जैसे-जैसे बाह्य पदार्थोंका विचार करते हैं वैसे-वैसे उनका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व तदाकार ज्ञानसे सिद्ध किया जाता है। यदि नीलाकार ज्ञान है तो नील नामके बाह्य पदार्थकी क्या आवश्यकता? यदि नीलाकार ज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं तो नीलकी सत्ता ही कैसे सिद्ध की जा सकती है ? अतः ज्ञान ही बाह्य और आन्तर ग्राह्य और ग्राहक रूपमें स्वयं प्रकाशमान है, कोई बाह्यार्थ नहीं। पदार्थ और ज्ञानका सहोपलम्भ नियम है, अतः दोनों अभिन्न हैं।

अकलङ्कदेवने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि—अद्वय तत्त्व स्वतः प्रतिभासित होता है या परतः ? यदि स्वतः, तो किसीको विवाद नहीं होना चाहिए। नित्य ब्रह्मवादीकी तरह क्षणिक विज्ञानवादी भी अपने तत्त्वका स्वतः प्रतिभास कहते हैं। इनमें कौन सत्य समझा जाय ? परतः प्रतिभासपरके बिना नहीं हो सकता। परको स्वीकार करनेपर अद्वैत तत्त्व नहीं रह सकता। विज्ञानवादी इन्द्रजाल या स्वप्नका दृष्टान्त देकर बाह्य पदार्थका लोप करना चाहते हैं। किन्तु इन्द्रजालप्रतिभासित घट और बाह्यसत् घटमें अन्तर तो स्त्री बाल गोपाल आदि भी कर लेते हैं। वे घट-पट आदि बाह्य पदार्थोंमें अपनी इष्ट अर्थक्रियाके द्वारा आकांक्षाओंको शान्त कर सन्तोषका अनुभव करते हैं जब कि इंद्रजाल या मायादृष्ट पदार्थोंसे न तो अर्थक्रिया ही होती है और न तज्जन्य सन्तोषानुभव ही। उनका काल्पनिकपना तो प्रतिभास कालमें ही ज्ञात हो जाता है। धर्मग्रन्थ, पुस्तक, रद्दी आदि संज्ञाएँ मनुष्यकृत और काल्पनिक हो सकती हैं पर जिस वजनवाले रूपरसगन्धस्पर्शवाले स्थूल पदार्थमें ये संज्ञाएँ की जाती हैं वह तो काल्पनिक नहीं है। वह तो ठोस, वजनदार, सप्रतिघ, रूपरसादिगुणोंका आधार परमार्थसत् पदार्थ है। उस पदार्थको अपने-अपने संकेतके अनुसार कोई धर्मग्रन्थ कहे, कोई पुस्तक, कोई बुक, कोई किताब या अन्य कुछ कहे। ये संकेत व्यवहारके लिए अपनी परम्परा और वासनाओंके अनुसार होते हैं, उसमें कोई आपत्ति नहीं है। दृष्टिसृष्टिका अर्थ भी यही है कि—सामने रखे हुए परमार्थसत् ठोस पदार्थमें अपनी दृष्टिके अनुसार जगत् व्यवहार करता है। उसकी व्यवहारसंज्ञाएँ प्रातिभासिक हो सकती हैं पर वह पदार्थ जिसमें वे संज्ञाएँ की जाती हैं, ब्रह्म या विज्ञान की तरह ही परमार्थसत् है। नीलाकार ज्ञानसे तो कपड़ा नहीं रँगा जा सकता ? कपड़ा रँगनेके लिए ठोस परमार्थसत् जड़ नील चाहिए जो ऐसे ही कपड़ेके प्रत्येकतन्तुको नीला बनायगा। यदि कोई परमार्थसत् 'नील' अर्थ न हो, तो नीलाकार वासना कहाँसे उत्पन्न हुई ? वासना तो पूर्वानुभवकी उत्तर दशा है। यदि जगत्में नील अर्थ नहीं है तो ज्ञानमें नीलाकार कहाँसे आया ? वासना नीलाकार कैसे बन गई ? तात्पर्य यह कि व्यवहारके लिए की जानेवाली संज्ञाएँ, इष्ट-अनिष्ट, सुन्दर-असुन्दर, आदि कल्पनाएँ भले ही विकल्पकल्पित हों और दृष्टिसृष्टिकी सीमामें हों, पर जिस आधारपर ये सब कल्पनाएँ कल्पित होती हैं वह आधार ठोस और सत्य है। विषके ज्ञानसे मरण नहीं हो सकता। विषका खानेवाला और विष दोनों ही परमार्थसत् हैं तथा विषके संयोगसे होनेवाले शरीरगत रासायनिक परिणमन भी। पर्वत, मकान, नदी आदि पदार्थ यदि ज्ञानात्मक ही हैं तो उनमें मूर्तत्व, स्थूलत्व, सप्रतिघत्व आदि धर्म कैसे आ सकते हैं ? ज्ञानस्वरूप नदीमें स्नान या ज्ञानात्मक जलसे तृषाशान्ति अथवा ज्ञानात्मक पत्थरसे सिर तो नहीं फूट सकता ?' यदि अद्वयज्ञान ही है तो शास्त्रोपदेश आदि निरर्थक हो जायेंगे। परप्रतिपत्तिके लिए ज्ञानसे अतिरिक्त वचनकी सत्ता आवश्यक है। अद्वयज्ञानमें प्रतिपत्ता, प्रमाण, विचार आदि प्रतिभासकी सामग्री तो माननी ही पड़ेगी, अन्यथा प्रतिभास कैसे होगा ? अद्वयज्ञानमें अर्थ-अनर्थ, तत्त्व-अतत्त्व आदिकी व्यवस्था न होनेसे तद्ग्राही ज्ञानोंमें प्रमाणता या अप्रमाणताका निश्चय कैसे किया जा सकेगा ? ज्ञानाद्वैतकी सिद्धिके लिए अनुमानके अंगभूत साध्य, साधन, दृष्टान्त आदि तो स्वीकार करने ही होंगे, अन्यथा अनुमान कैसे हो सकेगा ? सहोपलम्भ—एक साथ उपलब्ध होना—से अभेद सिद्ध नहीं किया जा सकता; कारण, दो भिन्नसत्ताक पदार्थोंमें ही एक साथ उपलब्ध होना कहा जा सकता है। ज्ञान अन्तरंगमें चेतन रूपसे तथा अर्थ बहिरंगमें जड़रूपसे अनुभवमें आता है, अतः इनका सहोपलम्भ असिद्ध भी है। अर्थशून्य ज्ञान स्वाकारतया तथा ज्ञानशून्य अर्थ अपने अर्थरूपमें अस्तित्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखते ही हैं, भले ही हमें वे अज्ञात हों। यदि हम बाह्यपदार्थोंका इदमित्थंरूप निरूपण या निर्वचन नहीं कर सकते तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन पदार्थोंका अस्तित्व ही नहीं है। अनन्तधर्मात्मक पदार्थका पूर्ण निरूपण तो सम्भव ही नहीं है। शब्द या ज्ञानकी अशक्तिके कारण पदार्थोंका लोप नहीं किया जा सकता। नीलाकारज्ञान रहनेपर भी कपड़ा रँगनेको नीलपदार्थ की नितान्त आवश्यकता है। ज्ञानमें नीलाकार भी बिना नीलके नहीं आ सकता। अनेक परमाणुओंसे जो स्कन्ध बनता है उस स्कन्धका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, उन्हीं परमाणुओंका कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध अर्थात् रासायनिक मिश्रण होनेपर परस्पर बन्ध हो जाता है और वह स्कन्ध स्थूल और इन्द्रियग्राह्य होता है। यही अनुभवसिद्ध है। न तो उसका एकदेशसे सम्बन्ध होता है और न सर्वदेशसे, किन्तु जड़ पदार्थोंका स्निग्ध और रूक्षताके कारण कियत्काल स्थायी विलक्षणबन्ध हो जाता है। जिस प्रकार एक ज्ञान स्वयं ज्ञानाकार, ज्ञेयाकार और ज्ञप्तिस्वरूप अनुभवमें आता है, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्मोंका आधार होता है इसमें विरोध आदि दूषणोंका कोई प्रसङ्ग नहीं है। इस तरह अन्तरङ्गज्ञानसे पृथक्, स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाले बाह्य जड़पदार्थ हैं। इन्हीं ज्ञेयोंको ज्ञान जानता है। अतः अकलङ्कदेवने प्रत्यक्षके स्वरूपनिरूपणमें ज्ञानका अर्थवेदन विशेषण दिया है जो ज्ञानको आत्मवेदीके साथ ही साथ अर्थवेदी सिद्ध करता है। इस तरह ज्ञान स्वभावसे स्वपरवेदी है, स्वार्थसंवेदक है।

### ५. अर्थ–सामान्यविशेषात्मक और द्रव्यपर्यायात्मक है

ज्ञान अर्थको विषय करता है यह विवेचन हो चुकनेपर विचारणीय मुद्दा यह है कि अर्थका क्या स्वरूप है? जैन दृष्टिसे प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है या संक्षेपसे सामान्यविशेषात्मक है। वस्तुमें दो प्रकारके अस्तित्व हैं—एक स्वरूपास्तित्व और दूसरा सादृश्यास्तित्व। एक द्रव्यको अन्य सजातीय या विजातीय किसी भी द्रव्यसे असङ्कीर्ण रखनेवाला स्वरूपास्तित्व है। इसके कारण एक द्रव्यकी पर्यायें दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यसे असङ्कीर्ण पृथक् अस्तित्व रखती हैं। यह स्वरूपास्तित्व जहाँ इतरद्रव्योंसे व्यावृत्ति कराता है वहाँ अपनी पर्यायोंमें अनुगत भी रहता है। अतः इस स्वरूपास्तित्वसे अपनी पर्यायोंमें अनुगत प्रत्यय उत्पन्न होता है और इतरद्रव्योंसे व्यावृत्त प्रत्यय। इस स्वरूपास्तित्वको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। इसे ही द्रव्य कहते हैं। क्योंकि यही अपनी क्रमिक पर्यायोंमें द्रवित होता है, क्रमशः प्राप्त होता है। दूसरा सादृश्यास्तित्व है जो विभिन्न अनेक द्रव्योंमें गौ-गौ इत्यादि प्रकारका अनुगत व्यवहार कराता है। इसे तिर्यक्सामान्य कहते हैं। तात्पर्य यह कि अपनी दो पर्यायोंमें अनुगत व्यवहार करानेवाला स्वरूपास्तित्व होता है। इसे ही ऊर्ध्वतासामान्य और द्रव्य कहते हैं। तथा विभिन्न दो द्रव्योंमें अनुगत व्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व होता है। इसे तिर्यक्सामान्य या सादृश्यसामान्य कहते हैं। इसी तरह, दो द्रव्योंमें व्यावृत्त प्रत्यय करानेवाला व्यतिरेक जातिका विशेष होता है तथा अपनी ही दो पर्यायोंमें विलक्षण प्रत्यय करानेवाला पर्याय नामका विशेष होता है। निष्कर्ष यह कि एकद्रव्यकी पर्यायोंमें अनुगत प्रत्यय ऊर्ध्वतासामान्य या द्रव्यसे होता है तथा व्यावृत्तप्रत्यय पर्याय-विशेषसे होता है। दो विभिन्न द्रव्योंमें अनुगतप्रत्यय सादृश्यसामान्य या तिर्यक्सामान्यसे होता है और व्यावृत्तप्रत्यय व्यतिरेकविशेषसे होता है। इस तरह प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक और द्रव्यपर्यायात्मक होता है।

यद्यपि सामान्यविशेषात्मक कहनेसे द्रव्यपर्यायात्मकत्वका बोध हो जाता, पर द्रव्यपर्यायात्मकके पृथक् कहनेका प्रयोजन यह है कि पदार्थ न केवल द्रव्यरूप है और न पर्यायरूप, किन्तु प्रत्येक सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है। इनमें उत्पाद और व्यय पर्यायका प्रतिनिधित्व करते हैं तथा ध्रौव्य द्रव्यका। पदार्थ सामान्यविशेषात्मक तो उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत् न होकर भी हो सकता है, अतः उसके निज स्वरूपका पृथक् भान करानेके लिए द्रव्यपर्यायात्मक विशेषण दिया है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्यविशेषात्मक विशेषण धर्मरूप है, जो अनुगतप्रत्यय और व्यावृत्तप्रत्ययका विषय होता है। द्रव्य-पर्यायात्मक विशेषण परिणमनसे सम्बन्ध रखता है। प्रत्येक वस्तु अपनी पर्यायधारामें परिणत होती हुई भविष्य वर्तमान और वर्तमानसे अतीत क्षणको प्राप्त करती है। वह वर्तमानको अतीत और भविष्यको वर्तमान बनाती रहती है। प्रतिक्षण परिणमन करनेपर भी अतीतके यावत् संस्कारपुंज इसके वर्तमानको प्रभावित करते हैं या यों कहिए कि इसका वर्तमान अतीतसंस्कारपुंजका कार्य है और वर्तमान कारणके अनुसार भविष्य प्रभावित होता है। इस तरह यद्यपि परिणमन करनेपर कोई अपरिवर्तित या कूटस्थ नित्य अंश वस्तुमें शेष नहीं रहता जो त्रिकालावस्थायी हो, पर इतना विच्छिन्न परिणमन भी नहीं होता कि अतीत, वर्तमान और भविष्य बिलकुल असम्बद्ध और अतिविच्छिन्न हों। वर्तमानके प्रति अतीतका उपादान कारण होना और वर्तमानका भविष्यके प्रति, यह सिद्ध करता है कि तीनों क्षणोंकी अविच्छिन्न कार्यकारणपरम्परा है। न तो वस्तुका स्वरूप सदा स्थायी नित्य ही है और न इतना विलक्षण परिणमन करनेवाला जिससे पूर्व और उत्तर भिन्नसन्तानकी तरह अतिविच्छिन्न हों।

भदन्त नागसेनने 'मिलिन्द प्रश्न'में जो कर्म और पुनर्जन्मका विवेचन किया है ( दर्शनदिग्दर्शन, पृ० ५५१ ) उसका तात्पर्य यही है कि पूर्वक्षणको 'प्रतीत्य' अर्थात् उपादान कारण बनाकर उत्तरक्षणका 'समुत्पाद' होता है। मज्झिमनिकाय में ''अस्मिन् सति इदं भवति'' इसके होनेपर यह होता है, जो इस आशयका वाक्य है उसका स्पष्ट अर्थ यही हो सकता है कि क्षणसन्तति प्रवाहित है, उसमें पूर्वक्षण उत्तरक्षण बनता जाता है। जैसे वर्तमान अतीतसंस्कारपुंजका फल है वैसे ही भविष्यक्षणका कारण भी।

श्री राहुल सांकृत्यायनने दर्शन-दिग्दर्शन ( पृ० ५१२ ) में प्रतीत्यसमुत्पादका विवेचन करते हुए लिखा है कि—''प्रतीत्यसमुत्पाद कार्यकारण नियमको अविच्छिन्न नहीं, विच्छिन्न प्रवाह बतलाता है। प्रतीत्यसमुत्पादके इसी विच्छिन्न प्रवाहको लेकर आगे नागार्जुनने अपने शून्यवादको विकसित किया।'' इनके मतसे प्रतीत्यसमुत्पाद विच्छिन्न प्रवाहरूप है और पूर्वक्षणका उत्तरक्षणसे कोई सम्बन्ध नहीं है। पर ये प्रतीत्य शब्दके 'हेतुं कृत्वा' अर्थात् पूर्वक्षणको कारण बनाकर इस सहज अर्थको भूल जाते हैं। पूर्वक्षणको हेतु बनाए बिना यदि उत्तरका नया ही उत्पाद होता है तो भदन्त नागसेनकी कर्म और पुनर्जन्मकी सारी व्याख्या आधारशून्य हो जाती है। क्या द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पादमें विच्छिन्नप्रवाह युक्तिसिद्ध है? यदि अविद्याके कारण संस्कार उत्पन्न होता है और संस्कारके कारण विज्ञान आदि, तो पूर्व और उत्तरका प्रवाह विच्छिन्न कहाँ हुआ? एक चित्तक्षणकी अविद्या उसी चित्तक्षणमें ही संस्कार उत्पन्न करती है अन्य चित्त-क्षणमें नहीं, इसका नियामक वही प्रतीत्य है। जिसको प्रतीत्य जिसका समुत्पाद हुआ है उन दोनोंमें अति-विच्छेद कहाँ हुआ?

राहुलजी वहीं ( पृ० ५१२ ) अनित्यवादको ''बुद्धका अनित्यवाद भी 'दूसरा ही उत्पन्न होता है। दूसरा ही नष्ट होता है' के कहे अनुसार किसी एक मौलिक तत्त्वका बाहरी परिवर्तनमात्र नहीं, बल्कि एकका बिलकुल नाश और दूसरेका बिलकुल नया उत्पाद है। बुद्ध कार्यकारणकी निरन्तर या अविच्छिन्न सन्ततिको नहीं मानते।'' इन शब्दोंमें व्याख्या करते हैं। राहुलजी यहाँ भी केवल समुत्पादको ही ध्यानमें रखते हैं, उसके मूलरूप 'प्रतीत्य'को सर्वथा भुला देते हैं। कर्म और पुनर्जन्मकी सिद्धिके लिये प्रयुक्त ''महाराज, यदि फिर भी जन्म नहीं ग्रहण करे तो मुक्त हो गया; किन्तु चूँकि वह फिर भी जन्म ग्रहण करता है इसलिए ( मुक्त ) नहीं हुआ।'' इस सन्दर्भ में 'वह फिर भी' शब्द क्या अविच्छिन्न प्रवाहको सिद्ध नहीं कर रहे हैं। बौद्धदर्शनका 'अभौतिक अनात्मवादी' नामकरण केवल भौतिकवादी चार्वाक और आत्मनित्यवादी औपनिषदोंके निराकरणके लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिये, पर वस्तुतः बुद्ध क्षणिक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्तवादी थे : क्षणिकचित्तको भी अविच्छिन्न सन्तति मानते थे न कि विच्छिन्नप्रवाह। आचार्य कमलशील-ने तत्त्वसंग्रहपंजिका ( पृ० १८२ ) में कर्तृकर्मसम्बन्धपरीक्षा करते हुए इस प्राचीन श्लोकके भावको उद्धृत किया है—

"यस्मिन्नेव तु सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥"

अर्थात्—जिस सन्तानमें कर्मवासना प्राप्त हुई है उसका फल भी उसी सन्तानमें होता है। जो लाख-के रङ्ग से रँगा गया है उसी कपास-बीजसे उत्पन्न होनेवाली रूई लाल होती है, अन्य नहीं। राहुलजी इस परम्पराका विचार करें और फिर बुद्धको विच्छिन्नप्रवाही बतानेका प्रयास करें! हाँ, यह अवश्य था कि—वे अनन्त क्षणोंमें शाश्वत सत्ता रखनेवाला कूटस्थ नित्य पदार्थ स्वीकार नहीं करते थे। पर वर्तमान क्षण अनन्त अतीतके संस्कारोंका परिवर्तित पुंज स्वगर्भमें लिए हैं और उपादेय भविष्यक्षण उससे प्रभावित होता है, इस प्रकारके त्रैकालिक सम्बन्धको वे मानते थे। यह बात बौद्ध दर्शनके कार्यकारणभावके अभ्यासीको सहज ही समझमें आ सकती है।

निर्वाणके सम्बन्ध में राहुलजी सर राधाकृष्णन्की आलोचना करते समय ( पृ० ५२९ ) बड़े आत्मविश्वासके साथ लिख जाते हैं कि—"किन्तु बौद्ध-निर्वाणको अभावात्मक छोड़ भावात्मक माना ही नहीं जा सकता।" कृपाकर वे आचार्य कमलशीलके द्वारा तत्त्वसंग्रहपंजिका ( पृ० १०४ ) में उद्धृत इस प्राचीनश्लोकके अर्थका मनन करें—

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥"

अर्थात्—चित्त जब रागादिदोष और क्लेश संस्कार से संयुक्त रहता है तब संसार कहा जाता है और जब तदेव—वही चित्त रागादिक्लेश वासनाओंसे रहित होकर निरास्रवचित्त बन जाता है तब उसे भवान्त अर्थात् निर्वाण कहते हैं। शान्तरक्षित तो ( तत्त्वसं० पृ० १८४ ) बहुत स्पष्ट लिखते हैं कि "मुक्तिर्निर्म-लता धियः" अर्थात्—चित्तकी निर्मलताको मुक्ति कहते हैं। इस श्लोकमें किस निर्वाणकी सूचना है? वही चित्त रागादिप्रवाहसे वासित रहकर संसार बना और वही रागादिसे शून्य होकर मोक्ष बन गया। राहुलजी माध्यमिकवृत्ति ( पृ० ५१९ ) गत इस निर्वाणके पूर्वपक्षको भी ध्यानसे देखें—

"इह हि उषितब्रह्मचर्याणां तथागतशासनप्रतिपन्नानां धर्मानुधर्मप्रतिपत्तियुक्तानां पुद्गलानां द्विविधं-निर्वाणमुपवर्णितम्—सोपधिशेषं निरुपधिशेषं च। तत्र निरवशेषस्य अविद्यारागादिकस्य क्लेशगणस्य प्रहाणात् सोपधिशेषं निर्वाणमिष्यते। तत्र 'उपधीयते अस्मिन् आत्मस्नेह इत्युपधिः। उपधिशब्देन आत्मप्रज्ञ-प्तिनिमित्ताः पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते। शिष्यते इति शेषः, उपधिरेव शेषः उपधिशेषः—सह उपधिशेषेण वर्तत इति सोपधिशेषम्। किं तत्? निर्वाणम्। तच्च स्कन्धमात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्ट्यादि-क्लेशतस्कर-रहितमवशिष्यते निहताशेषचौरगणग्राममात्रावस्थानसाधर्म्येण तत् सोपधिशेषं निर्वाणम्। यत्र तु निर्वाणे स्कन्धमात्रकमपि नास्ति तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम्। निर्गत उपधिशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा। निहताशेष-चौरगणस्यग्राममात्रस्यापि विनाशसाधर्म्येण।"

अर्थात् निर्वाण दो प्रकारका है—१–सोपधिशेष २–निरुपधिशेष। सोपधिशेषमें रागादिका नाश होकर जिन्हें आत्मा कहते हैं ऐसे पाँचस्कन्ध निरास्रव दशामें रहते हैं। दूसरे निरुपधिशेष निर्वाणमें स्कन्ध भी नष्ट हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध परम्परामें इस सोपधिशेष निर्वाणको भावात्मक स्वीकार किया ही गया है। यह जीवन्मुक्त दशाका वर्णन नहीं है किन्तु निर्वाणावस्थाका।

आखिर बौद्धदर्शनमें ये दो परम्पराएँ निर्वाणके सम्बन्धमें क्यों प्रचलित हुईं ? इसका उत्तर हमें बुद्धकी अव्याकृत सूचीसे मिल जाता है। बुद्धने निर्वाणके बादकी अवस्था सम्बन्धी इन चार प्रश्नोंको अव्याकरणीय अर्थात् उत्तर देनेके अयोग्य बताया। "१–क्या मरनेके बाद तथागत (बुद्ध) होते हैं ? २–क्या मरनेके बाद तथागत नहीं होते ? ३–क्या मरनेके बाद तथागत होते भी हैं नहीं भी होते हैं ? ४–क्या मरनेके बाद तथागत न होते हैं न नहीं होते हैं ?" माँलुक्यपुत्रके प्रश्नपर बुद्धने कहा कि इनका जानना सार्थक नहीं है क्योंकि इनके बारेमें कहना भिक्षुचर्या निर्वेद या परमज्ञानके लिए उपयोगी नहीं है। यदि बुद्ध स्वयं निर्वाणके स्वरूपके सम्बन्धमें अपना सुनिश्चित मत रखते होते तो वे अन्य सैकड़ों लौकिक अलौकिक प्रश्नोंकी तरह इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमें न डालते। और यही कारण है जो निर्वाणके विषयमें दो धाराएँ बौद्ध दर्शनमें प्रचलित हो गईं हैं।

इसी तरह बुद्धने जीव और शरीरकी भिन्नता और अभिन्नताको अव्याकृत कोटिमें डालकर श्री राहुलजीको बौद्धदर्शनके 'अभौतिक अनात्मवाद' जैसे उभयप्रतिषेधक नामकरणका अवसर दिया। बुद्ध अपने जीवनमें देह और आत्माके जुदापन और निर्वाणोत्तर जीवन आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंके शतराहेपर अपने शिष्यको खड़ाकर लक्ष्यच्युत नहीं करना चाहते थे। इसलिए लोक क्या है ? आत्मा क्या है ? और निर्वाणोत्तर जीवन कैसा है ? इन जीवन्त प्रश्नोंको भी उनने अव्याकरणीय करार दिया। उनकी विचारधारा और साधनाका केन्द्रबिन्दु वर्तमान दुःखकी निवृत्ति ही रहा है। राहुलजी एक ओर तो विच्छिन्न प्रवाह मानते हैं और दूसरी ओर पुनर्जन्म। वे इतनी बड़ी असङ्गतिको कैसे पी जाते हैं कि यदि पूर्व और उत्तर क्षण विच्छिन्न हैं तो पुनर्जन्म कैसा और किसका ? क्या बुद्धवाक्योंकी ऐसी असंगत व्याख्याको सम्हालनेका प्रयत्न शान्तरक्षित और कमलशील-जैसे दार्शनिकोंने किया है, जो एक अविच्छिन्न कार्यकारण प्रवाह मानते हैं ? अविच्छिन्नका अर्थ है कार्यकारणभाववाली।

जैनदर्शनकी दृष्टिमें प्रत्येक सत् परिणामी है और वह परिणमन प्रतिक्षणभावी स्वाभाविक है। उसमें किसी अन्य हेतुकी आवश्यकता नहीं है। यदि अन्य कारण मिले तो वे उस परिणमनको प्रभावित कर सकते हैं पर उपादान कारण तो पूर्वपर्याय ही होगी और उसमें जो कुछ है सब अखण्डरूप ही है। अतः द्वितीय क्षणमें वह अखण्डका अखण्ड उत्तरपर्याय बन जाता है। चूँकि पुराना क्षण ही वर्तमान बना है और भविष्यको अपनेमें शक्ति या उपादान रूपसे छिपाए है अतः स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि व्यवहार सोपपत्तिक और समूल बन जाते हैं। परिणामीका अर्थ है उत्पाद और व्यय होते हुए भी ध्रौव्य रहना। आपाततः यह मालूम होता है कि जो उत्पादविनाशवाला है वह ध्रुव कैसे रह सकता है ? पर ध्रौव्यका अर्थ सदा स्थायी कूटस्थ नित्य नहीं है और न यह विवक्षित है कि वस्तुके कुछ अंश उत्पाद-विनाशके कारण परिवर्तित होते हैं तथा कुछ अंश उस परिवर्तनसे अछूते ध्रुव बने रहते हैं, और न परिवर्तनका यह स्थूल अर्थ ही है कि जो प्रथमक्षणमें है, दूसरे क्षणमें वह बिलकुल बदल जाता है या विलक्षण हो जाता है। परिवर्तन सदृश भी होता है, विसदृश भी। शुद्ध चेतनद्रव्य मुक्त अवस्थामें प्रतिक्षण परिवर्तित रहनेपर भी कभी विलक्षण परिवर्तन नहीं करता, उसका सदा सदृश परिवर्तन ही होता रहता है। इसी तरह आकाश, काल, धर्म और अधर्मद्रव्य सदा स्वभावपरिणमन करते हैं। उनमें परिवर्तन करते रहनेपर भी कहने लायक कोई विलक्षणता नहीं आती। यों समझानेके लिए परद्रव्योंके परिवर्तनके अनुसार इनमें भी परप्रत्यय विलक्षणता दिखाई जा सकती है पर न तो इनमें देशभेद होता है न आकारभेद और न स्वरूपविलक्षणता ही। इनका स्वाभाविक परिणमन तो अगुरुलघु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणकृत ही है। रह जाता है पुद्गलद्रव्य, जिसका शुद्ध परिणमन कोई निश्चित नहीं है। कारण यह है कि शुद्ध जीवको न तो जीवान्तरका सम्पर्क विकारी बना सकता है और न किसी पुद्गलद्रव्यका संयोग ही, पर पुद्गलमें तो पुद्गल और जीव दोनोंके निमित्तसे विकृति उत्पन्न होती है। लोकमें ऐसा कोई प्रदेश भी नहीं है जहाँ अन्य पुद्गल या जीवके सम्पर्कसे विवक्षित पुद्गलाणु अछूता रह सकता हो। अतः कदाचित् पुद्गल अपनी शुद्ध-अणु अवस्थामें भी पहुँच जाय, पर उसके गुण और धर्म शुद्ध होंगे या द्वितीयक्षणमें शुद्ध रह सकते हैं, इसका कोई नियामक नहीं है। अनेक पुद्गलद्रव्य मिलकर स्कन्ध दशामें एक संयुक्त बद्ध पर्याय भी बनाते हैं, पर अनेक जीव मिलकर एक संयुक्तपर्याय नहीं बना सकते। सबका परिणमन अपना जुदा-जुदा है। स्कन्धगत परमाणुओंमें भी प्रत्येकशः अपना सदृश या विसदृश परिणमन होता रहता है और उन सब परिणमनोंकी औसतसे ही स्कन्धका वजन, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श व्यवहारमें आता है। स्कन्धगत परमाणुओंमें क्षेत्रकृत और आकारकृत सादृश्य होनेपर भी उनका मौलिकत्व सुरक्षित रहता है। लोकसे एक भी परमाणु अनन्त परिवर्तन करनेपर भी निःसत्व-सत्ताशून्य अर्थात् असत् नहीं हो सकता। अतः परिणमनमें विलक्षणता अनुभूत न होनेपर भी स्वभावभूत परिवर्तन प्रतिक्षण होता ही रहता है।

द्रव्य एक नदीके समान अतीत वर्तमान और भविष्य पर्यायोंका कल्पित प्रवाह नहीं है। क्योंकि नदी विभिन्नसत्ताक जलकणोंका एकत्र समुदाय है जो क्षेत्रभेद करके आगे बढ़ता जाता है। किन्तु भविष्य, पर्याय एक-एक क्षणमें क्रमशः वर्तमान होती हुई इस समय एकक्षणवर्ती वर्तमानके रूपमें है। अतीत पर्यायोंका कोई पर्याय-अस्तित्व नहीं है पर जो वर्तमान है वह अतीतका कार्य है, और यही भविष्यका कारण है। सत्ता एकसमयमात्र वर्तमानपर्यायकी है। भविष्य और अतीत क्रमशः अनुत्पन्न और विनष्ट हैं। अन्ततः ध्रौव्य इतना ही है कि एक द्रव्यकी पूर्वपर्याय द्रव्यान्तरकी उत्तर-पर्याय नहीं बनती और न वहीं समाप्त होती है। इस तरह द्रव्यान्तरसे असाङ्कर्यका नियामक ही ध्रौव्य है। इसके कारण प्रत्येक द्रव्यकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रहती है और नियत कारणकार्य परम्परा चालू रहती है। वह न विच्छिन्न होती है और न संकर ही। यह भी अतिसुनिश्चित है कि किसी भी नये द्रव्यका उत्पाद नहीं होता और न मौजूदका अत्यन्त विनाश हो। केवल परिवर्तन, सो भी प्रतिक्षण निराबाध गतिसे।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। वह अनन्त गुण और अनन्त शक्तियोंका धनी है। पर्यायानुसार कुछ शक्तियाँ आविर्भूत होती हैं कुछ तिरोभूत। जैनदर्शनमें इस सत्का एक लक्षण तो है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्", दूसरा है "सद् द्रव्यलक्षणम्"। इन दोनों लक्षणोंका मथितार्थ यही है कि द्रव्यको सत् कहना चाहिए और वह द्रव्य प्रतिक्षण उत्पाद, व्ययके साथ-ही-साथ अपने अविच्छिन्नता रूप ध्रौव्यको धारण करता है। द्रव्यका लक्षण है—"गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" अर्थात् गुण और पर्यायवाला द्रव्य होता है। गुण सहभावी और अनेक शक्तियोंके प्रतिरूप होते हैं जब कि पर्याय क्रमभावी और एक होती है। द्रव्यका प्रतिक्षण परिणमन एक होता है। उस परिणमनको हम उन-उन गुणोंके द्वारा अनेक रूपसे वर्णन कर सकते हैं। एक पुद्गलाणु द्वितीय समयमें परिवर्तित हुआ तो उस एक परिणमनका विभिन्न रूपरसादि गुणोंके द्वारा अनेक रूपमें वर्णन हो सकता है। विभिन्न गुणोंकी द्रव्यमें स्वतन्त्र सत्ता न होनेसे स्वतन्त्र परिणमन नहीं माने जा सकते। अकलंकदेवने प्रत्यक्षके ग्राह्य अर्थका वर्णन करते समय द्रव्य-पर्याय-सामान्य-विशेष इस प्रकार जो चार विशेषण दिए हैं वे पदार्थकी उपर्युक्त स्थितिको सूचित करनेके लिए ही हैं। द्रव्य और पर्याय पदार्थकी परिणतिको सूचित करते हैं तथा सामान्य और विशेष अनुगत और व्यावृत्त व्यवहारके विषयभूत धर्मोंकी सूचना देते हैं।

नैयायिक वैशेषिक प्रत्ययके अनुसार वस्तुकी व्यवस्था करते हैं। इन्होंने जितने प्रकारके ज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और शब्द-व्यवहार होते हैं उनका वर्गीकरण करके असाङ्कर्यभावसे उतने पदार्थ माननेका प्रयत्न किया है। इसीलिए इन्हें 'संप्रत्ययोपाध्याय' कहा जाता है। पर प्रत्यय अर्थात् ज्ञान और शब्द-व्यवहार इतने अपरिपूर्ण और लचर हैं कि इनपर पूरा-पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता। ये तो वस्तुस्वरूपकी ओर इशारामात्र हो कर सकते हैं। 'द्रव्यम् द्रव्यम्' ऐसा प्रत्यय हुआ एक द्रव्य पदार्थ मान लिया। 'गुण गुण' प्रत्यय हुआ गुण पदार्थ मान लिया। 'कर्म कर्म' ऐसा प्रत्यय हुआ कर्म पदार्थ मान लिया। इस तरह इनके सात पदार्थों-की स्थिति प्रत्ययके आधीन है। परन्तु प्रत्ययसे मौलिक पदार्थकी स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। पदार्थ तो अपना अखण्ड ठोस स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, वह अपने परिणमनके अनुसार अनेक प्रत्ययोंका विषय हो सकता है। गुण क्रिया सम्बन्ध आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, ये तो द्रव्यकी अवस्थाओंके विभिन्न व्यवहार हैं। इसी तरह सामान्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है जो नित्य और एक होकर अनेक स्वतन्त्रसत्ताक व्यक्तियों-में मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया गया हो। पदार्थोंके परिणमन कुछ सदृश भी होते हैं और कुछ विसदृश भी। दो विभिन्नसत्ताक व्यक्तियोंमें भूयःसाम्य देखकर अनुगत व्यवहार होने लगता है। अनेक आत्माएँ अपने विभिन्न शरीरोंमें वर्तमान हैं, पर जिनकी अवयवरचना अमुक प्रकारकी सदृश है उनमें 'मनुष्यः मनुष्यः' ऐसा सामान्य व्यवहार किया जाता है तथा जिनकी घोड़ों-जैसी उनमें 'अश्वः अश्वः' यह व्यवहार। जिन आत्माओंमें सादृश्यके आधारसे मनुष्य-व्यवहार हुआ है उनमें मनुष्यत्व नामका कोई सामान्य पदार्थ, जो कि अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है, आकर समवायनामक सम्बन्ध पदार्थसे रहता है यह कल्पना पदार्थस्थितिके विरुद्ध है। 'सत् सत्' 'द्रव्यम् द्रव्यम्' इत्यादि प्रकारके सभी अनुगत व्यवहार सादृश्यके आधारसे ही होते हैं। सादृश्य भी उभयनिष्ठ कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। किन्तु वह बहुत अवयवोंकी समानता रूप ही है। तत्तद् अवयव उन-उन व्यक्तियोंमें रहते ही हैं। उनमें समानता देखकर द्रष्टा उस रूपसे अनुगत व्यवहार करने लगता है। वह सामान्य नित्य एक और निरंश होकर यदि सर्वगत है तो उसे विभिन्न देशस्थ स्वव्यक्तियोंमें खण्डशः रहना होगा; क्योंकि एक वस्तु एक साथ भिन्न देशमें पूर्णरूपसे नहीं रह सकती। नित्य निरंश सामान्य जिस समय एक व्यक्तिमें प्रकट होता है उसी समय उसे सर्वत्र—व्यक्तियोंके अन्तरालमें भी प्रकट होना चाहिए। अन्यथा 'क्वचित् व्यक्त' और 'क्वचित् अव्यक्त' रूपसे स्वरूपभेद होनेपर अनित्यत्व और सांशत्वका प्रसङ्ग प्राप्त होगा। यदि सामान्य पदार्थ अन्य किसी सत्तासम्बन्धके अभावमें भी स्वतः सत् है तो उसी तरह द्रव्य गुण आदि पदार्थ भी स्वतःसत् ही क्यों न माने जायँ? अतः सामान्य स्वतन्त्र पदार्थ न होकर द्रव्योंके सदृश परिणमनरूप ही है।

वैशेषिक तुल्य आकृति तुल्य गुणवाले सम परमाणुओंमें परस्पर भेद प्रत्यय करानेके निमित्त स्वतो विभिन्न विशेष पदार्थकी सत्ता मानते हैं। वे मुक्त आत्माओंमें मुक्त आत्माके मनोंमें विशेष प्रत्ययके निमित्त विशेष पदार्थ मानना आवश्यक समझते हैं। परन्तु प्रत्ययके आधारसे पदार्थ व्यवस्था माननेका सिद्धान्त ही गलत है। जितने प्रकारके प्रत्यय होते जायँ उतने स्वतन्त्र पदार्थ यदि माने जायँ तो पदार्थोंकी कोई सीमा ही नहीं रहेगी। जिस प्रकार विशेष पदार्थ स्वतः परस्पर भिन्न हो सकते हैं उसी तरह परमाणु आदि भी स्वस्वरूपसे ही परस्पर भिन्न हो सकते हैं। इसके लिए किसी स्वतन्त्र 'विशेष' पदार्थकी कोई आवश्यकता नहीं है। व्यक्तियाँ स्वयं ही विशेष हैं। प्रमाणका कार्य है स्वतःसिद्ध पदार्थकी असंकर व्याख्या करना।

बौद्ध सदृशपरिणमनरूप समानधर्म स्वीकार न करके सामान्यको अन्यापोह रूप मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि—परस्पर-भिन्न वस्तुओंको देखनेके बाद जो बुद्धिमें अभेदभान होता है उस बुद्धिप्रतिबिम्बित अभेदको ही सामान्य कहते हैं। यह अभेद भी विध्यात्मक न होकर अतद्व्यावृत्तिरूप है। सभी पदार्थ किसी-न-किसी कारणसे उत्पन्न होते हैं तथा कोई-न-कोई कार्य उत्पन्न भी करते हैं। तो जिन पदार्थोंमें अतत्कारण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यावृत्ति और अतत्कार्यव्यावृत्ति पाई जाती है उनमें अनुगत व्यवहार कर दिया जाता है। जैसे जो व्यक्तियाँ मनुष्यरूप कारणसे उत्पन्न हुई हैं और आगे मनुष्यरूप कार्य उत्पन्न करेंगी उनमें अमनुष्यकारण-कार्यव्यावृत्ति-को निमित्त लेकर 'मनुष्य मनुष्य' ऐसा अनुगत व्यवहार कर दिया जाता है। कोई वास्तविक मनुष्यत्व विध्यात्मक नहीं है। जिस प्रकार चक्षु आलोक और रूप आदि परस्पर अत्यन्त भिन्न पदार्थ भी अरूपज्ञान-जननव्यावृत्तिके कारण 'रूपज्ञानजनक' व्यपदेशको प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सर्वत्र अतद्व्यावृत्तिसे ही समानाकार प्रत्यय हो सकता है। ये शब्दका वाच्य इसी अपोहरूप सामान्यको ही स्वीकार करते हैं। विकल्प-ज्ञानका विषय भी यही अपोहरूप सामान्य है।

अकलङ्कदेवने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि—सादृश्य माने बिना अमुक व्यक्तियोंमें ही अपोहका नियम कैसे बन सकता है? यदि शाबलेय गौव्यक्ति बाहुलेय गौव्यक्तिसे उतनी ही भिन्न है जितनी कि किसी अश्वादिव्यक्तिसे, तो क्या कारण है कि शाबलेय और बाहुलेयमें ही अतद्व्यावृत्ति मानी जाय, अश्वमें नहीं। यदि अश्वसे कुछ कम विलक्षणता है तो यह अर्थात् ही मानना होगा कि उनमें ऐसी समानता है जो अश्वके साथ नहीं है। अतः सादृश्य ही व्यवहारका सीधा नियामक हो सकता है। यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है कि वस्तु समान और असमान उभयविध धर्मोंका आधार होती है। समानधर्मोंके आधारसे अनुगत व्यवहार किया जाता है और असमान धर्मके आधारसे व्यावृत्त व्यवहार। अन्य नहीं, 'अतद्व्यावृत्ति' यही एक समान धर्म तत्तद्व्यक्तियोंमें स्वीकार करना होगा। बौद्ध जब स्वयं अपरापर क्षणोंमें सादृश्यके कारण एकत्वभान तथा सीपमें सादृश्यके ही कारण रजतभ्रम स्वीकार करते हैं तब अनुगत व्यवहारके लिए सादृश्यको स्वीकार करनेमें उन्हें क्या बाधा है? अतद्व्यावृत्ति और बुद्धिगत अभेद प्रतिबिम्बका निर्वाह भी सादृश्यके बिना नहीं हो सकता। अतः सदृश परिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए। शब्द और विकल्पज्ञान भी सामान्य-विशेषात्मक वस्तुको ही विषय करते हैं, न केवल सामान्यात्मकको और न केवल विशेषात्मकको ही।

सामान्यतया कल्पनाओंका लक्ष्य द्विमुखी होता है—एक तो अभेदकी ओर दूसरा भेदकी ओर। जगत्-में अभेदकी ओर चरम कल्पना वेदान्त दर्शनने की है। वह इतना अभेदकी ओर बढ़ा कि वास्तविक स्थिति-को लाँघकर कल्पनालोकमें ही जा पहुँचा। चेतन-अचेतनका स्थूल भेद भी मायारूप बन गया। एक ही तत्त्व-का प्रतिभास चेतन और अचेतन रूपमें माना गया। इस तरह देश काल और स्वरूप, हर प्रकारसे चरम अभेदकी कोटि वेदान्त दर्शन है। बौद्धदर्शन प्रत्येक चित्-अचित् स्वलक्षणोंकी वास्तव स्वतन्त्र सत्ता मानकर ही चुप नहीं रहता। वह उनमें कालिक भेद भी क्षणपर्याय तक स्वीकार करता है। यहाँ तक तो उसका पारमार्थिक भेद है। जो प्रथमक्षणमें है वह द्वितीयमें नहीं, जो जहाँ जिस समय जैसे है वह वहीं उसी समय वैसे ही है, द्वितीयक्षणमें नहीं। दो देशोंमें रहनेवाली दो क्षणोंमें रहनेवाली कोई वस्तु नहीं है। इस तरह देश काल और स्वरूपकी दृष्टिसे अन्तिम भेद बौद्धदर्शनका लक्ष्य है। पर अभेदकी तरफ वेदान्त दर्शन और भेदकी ओर बौद्धदर्शन वास्तववादसे काल्पनिकता या अवास्तववादकी ओर पहुँच जाते हैं। बौद्धदर्शनमें विज्ञानवादी, विभ्रमवादी, शून्यवादी सभी काल्पनिक भेदके उपासक हैं। उनने बाह्यजगत्का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया। किसीने उसे सांवृत कहा तो किसीने उसे अविद्यानिर्मित कहा, तो किसीने उसे प्रत्ययमात्र।

जैनदर्शनने भेद और अभेदका अन्तिम विचार तो किया, पर वास्तवसीमाको लाँघा नहीं है। उसने दो प्रकारके अभेदप्रयोजक सामान्य धर्म माने तथा दो प्रकारके विशेष, जो भेद-कल्पनाके विषय होते हैं। दो विभिन्नसत्ताक द्रव्योंमें अभेद-व्यवहार सादृश्यसे ही हो सकता है, एकत्वसे नहीं। इसलिए परम संग्रहनय यद्यपि वेदान्तकी परसत्ताको विषय करता है और कह देता है कि 'सद्रूपेण चेतनाचेतनानां भेदाभावात् अर्थात् सद्रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है' पर वह व्यवहारनयके विषयभूत वास्तव भेदका लोप नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता। वह स्पष्ट घोषणा करता है कि चेतन और अचेतनमें सत्-सादृश्य रूपसे अनुगतव्यवहार हो सकता है, पर कोई ऐसा एक सत् नहीं जो दोनोंमें वास्तव अनुगत सत्ता रखता हो, सिवाय इसके कि दोनोंमें 'सत् सत्' ऐसा समान प्रत्यय होता है और 'सत् सत्' ऐसा शब्द-प्रयोग होता है। एक द्रव्यकी कालक्रमसे होनेवाली पर्यायोंमें जो अनुगतव्यवहार होता है वह परमार्थसत् एकद्रव्यमूलक है। यद्यपि द्वितीयक्षणमें अविभक्तद्रव्य अखण्डका अखण्ड बदलता है—परिवर्तित होता है पर उस सत्का, जो कि परिवर्तित हुआ है अस्तित्व दुनियासे नष्ट नहीं किया जा सकता, उसे मिटाया नहीं जा सकता। जो वर्तमानक्षणमें अमुक दशामें है वही अखण्डका अखण्ड पूर्वक्षणमें अतीतदशामें था, वही बदलकर आगेके क्षणमें तीसरा रूप लेगा, पर अपने स्वरूपसत्त्वको नहीं छोड़ सकता, सर्वथा महाविनाशके गर्तमें प्रलीन नहीं हो सकता। इसका यह तात्पर्य बिलकुल नहीं है कि उसमें कोई शाश्वत कूटस्थ अंश है, किन्तु बदलनेपर भी उसका सन्तानप्रवाह चालू रहता है, कभी भी उच्छिन्न नहीं होता और न दूसरेमें विलीन होता है। अतः एक द्रव्यकी अपनी पर्यायोंमें होनेवाला अनुगत व्यवहार ऊर्ध्वतासामान्य या द्रव्यमूलक है। यह अपनेमें वस्तुसत् है। पूर्व पर्यायका अखण्ड निचोड़ उत्तरपर्याय है और उत्तरपर्याय अपने निचोड़भूत आगेकी पर्यायको जन्म देती है। इस तरह जैसे अतीत और वर्तमानका उपादानोपादेय सम्बन्ध है उसी तरह वर्तमान और भविष्यका भी। परन्तु सत्ता वर्तमान क्षणमात्रकी है। पर यह वर्तमान परम्परासे अनन्त अतीतोंका उत्तराधिकारी है और परम्परासे अनन्त भविष्यका उपादान भी बनेगा। इसी दृष्टिसे द्रव्यको कालत्रयवर्ती कहते हैं। शब्द इतने लचर होते हैं कि वस्तुके शतप्रतिशत स्वरूपको अभ्रान्त रूपसे उपस्थित करनेमें सर्वत्र समर्थ नहीं होते। यदि वर्तमानका अतीतसे बिलकुल सम्बन्ध न हो तभी निरन्वय क्षणिकत्वका प्रसङ्ग हो सकता है, परन्तु जब वर्तमान अतीतका ही परिवर्तित रूप है तब वह एक दृष्टिसे सान्वय ही हुआ। वह केवल पंक्ति और सेनाकी तरह व्यवहारार्थ किया जाने-वाला संकेत नहीं है किन्तु कार्यकारणभूत और खासकर उपादानोपादेयमूलक तत्त्व है। वर्तमान जलबिन्दु एक ऑक्सिजन और एक हाइड्रोजनके परमाणुओंका परिवर्तनमात्र है, अर्थात् ऑक्सिजनको निमित्त पाकर हाइड्रोजन परमाणु और हाइड्रोजनको निमित्त पाकर ऑक्सिजन परमाणु दोनोंने ही जल पर्याय प्राप्त कर ली है। इस द्विपरमाणुक जलबिन्दुके प्रत्येक जलाणुका विश्लेषण कीजिए तो ज्ञात होगा कि जो एटम ऑक्सिजन अवस्थाको धारण किए था वह समूचा बदलकर जल बन गया है। उसका और पूर्व ऑक्सिजनका यही सम्बन्ध है कि यह उसका परिणाम है। वह जिस समय जल नहीं बनता और ऑक्सिनका ऑक्सिजन ही रहता है उस समय भी प्रतिक्षण परिवर्तन सजातीय रूप होता ही रहता है। यही विश्वके समस्त चेतन और अचेतन द्रव्योंकी स्थिति है। इस तरह एक धाराकी पर्यायोंमें अनुगत व्यवहारका कारण सादृश्यसामान्य न होकर ऊर्ध्वतासामान्य ध्रौव्य सन्तान या द्रव्य होता है। इसी तरह विभिन्न द्रव्योंमें भेदका प्रयोजक व्यतिरेक विशेष होता है जो तद्व्यक्तित्व रूप है। एक द्रव्यकी दो पर्यायोंमें भेद व्यवहार करानेवाला पर्याय नामक विशेष है।

जैनदर्शनने उन सभी कल्पनाओंके ग्राहक नय तो बताए हैं जो वस्तुसीमाको लाँघकर अद्वैतवादकी ओर जाती हैं। पर साथ ही स्पष्ट कह दिया है कि ये सब वक्ताके अभिप्राय हैं, उसके संकल्पके प्रकार हैं, वस्तुस्थितिके ग्राहक नहीं हैं।

गुण और धर्म—वस्तुमें गुण भी होते हैं और धर्म भी। गुण स्वभावभूत हैं और इनकी प्रतीति परनिरपेक्ष होती है। धर्मोंकी प्रतीति परसापेक्ष होती है और व्यवहारार्थ इनकी अभिव्यक्ति वस्तुकी योग्यताके अनुसार होती रहती है। धर्म अनन्त होते हैं। गुण गिने हुए हैं। यथा-जीवके असाधारण गुण-ज्ञान,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन, सुख, वीर्य आदि हैं। साधारण गुण वस्तुत्व प्रमेयत्व सत्त्व आदि। पुद्गलके रूप रस गन्ध स्पर्श आदि असाधारण गुण हैं। धर्मद्रव्यका गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्यका स्थितिहेतुत्व, आकाशका अवगाहननिमित्तत्व और कालका वर्तनाहेतुत्व असाधारण गुण हैं। साधारण गुण वस्तुत्व सत्त्व अभिधेयत्व प्रमेयत्व आदि। जीवमें ज्ञानादि गुणोंकी सत्ता और प्रतीति निरपेक्ष है, स्वाभाविक है। पर छोटा बड़ा, पितृत्व, पुत्रत्व, गुरुत्व, शिष्यत्व आदि धर्म सापेक्ष हैं। यद्यपि इनकी योग्यता जीवमें है, पर ज्ञानादिके समान ये स्वरसतः गुण नहीं हैं। इसी तरह पुद्गलमें रूप रस गन्ध और स्पर्श ये तो स्वाभाविक परनिरपेक्ष गुण हैं परन्तु छोटा बड़ा, एक दो तीन आदि संख्या, संकेतके अनुसार होनेवाली वाच्यता आदि ऐसे धर्म हैं जिनकी अभिव्यक्ति व्यवहारार्थ होती है। गुण परनिरपेक्ष स्वतः प्रतीत होते हैं तथा धर्म परापेक्ष होकर। वस्तुमें योग्यता दोनोंकी है। सामान्य-विवक्षासे सभी वस्तुके स्वभाव माने जाते हैं। सप्तभङ्गीमें धर्मोंकी कल्पना वक्ताके प्रश्नोंके अनुसार की जाती है। एक धर्मको केन्द्रमें माननेपर उसका प्रतिपक्षी धर्म आ जाता है। फिर दोनों रूपको एकसाथ शब्दसे कहनेका प्रयत्न सम्भव नहीं है, अतः वस्तुका निजरूप अवक्तव्य उपस्थित हो जाता है। इस तरह सत् असत् और अवक्तव्य इन तीन धर्मोंको लेकर अधिकसे अधिक सात ही प्रश्न हो सकते हैं। अतः सप्त-भङ्गीका निरूपण अधिक-से-अधिक सात प्रश्नोंकी सम्भावनाका उत्तर है। प्रश्न सात हो सकते हैं इसका कारण सात प्रकार की जिज्ञासाका होना है। जिज्ञासाका सात प्रकारका होना सात प्रकारके संशयोंके अधीन है। तथा संशय सात इसलिए होते हैं कि वस्तुके धर्म ही सात प्रकारके हैं।

६. विशदज्ञान प्रत्यक्ष—इस तरह ज्ञान द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक अर्थको विषय करता है। केवल सामान्यात्मक या विशेषात्मक कोई पदार्थ नहीं है और न केवल द्रव्यात्मक या पर्यायात्मक ही। इसीलिए अकलङ्कदेवने प्रत्यक्षका लक्षण करते समय वार्तिकमें द्रव्य पर्याय सामान्य और विशेष ये चार विशेषण अर्थके दिए हैं। इनकी सार्थकता उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाती है। ज्ञानके लिए उनने लिखा है कि उसे साकार और स्वसंवेदी होना चाहिए। यहाँ तक साकार स्वसंवेदी और द्रव्यपर्याय-सामान्यविशेषार्थवेदी ज्ञानका निरूपण हुआ। ऐसा ज्ञान जब 'अंजसा स्पष्ट' अर्थात् परमार्थतः विशद हो तब उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। साधारणतया दर्शनान्तरोंमें तथा लोकव्यवहारमें इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष माना गया है। तथा इन्द्रियके परे रहनेवाले पदार्थका बोध परोक्ष कहा जाता है। पर जैनदर्शनका प्रत्यक्ष और परोक्षका अपना स्वोपज्ञ विचार है। वह इन्द्रिय आदि पर पदार्थोंकी अपेक्षा रखनेवाले ज्ञानको परोक्ष अर्थात् परतन्त्र ज्ञान मानता है, तथा इन्द्रियादि-निरपेक्ष आत्ममात्रोत्थ ज्ञानको प्रत्यक्ष। यह प्रत्यक्षका कारणमूलक विवेचन है। पर स्वरूपमें जो ज्ञान विशद हो वह प्रत्यक्ष कहलाता है। यह विशदता व्यवहारमें अंशतः इन्द्रियजन्य ज्ञानमें भी पाई जाती है, अतः इन्द्रियजन्य ज्ञानको संव्यवहार प्रत्यक्ष कहते हैं। यद्यपि आगमोंमें इन्द्रियजन्य मतिको परोक्ष कहा है और वह आगमिक परिभाषामें उचित भी है पर लोकव्यवहारके निर्वाहार्थ वैशद्यांशका सद्भाव होनेसे उसे संव्यवहार प्रत्यक्ष भी कहा गया है। वैशद्यका लक्षण अकलङ्कदेवने स्वयं लघीयस्त्रय (कारिका नं० ४) में यह किया है—

"अनुमाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्॥"

अर्थात्—अनुमान आदिकसे अधिक, नियत देश काल और आकार रूपसे प्रचुरतर विशेषोंके प्रतिभासनको वैशद्य कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें जिस ज्ञानमें अन्य किसी ज्ञानकी सहायता अपेक्षित न हो वह ज्ञान विशद कहलाता है। जिस तरह अनुमान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें लिंगज्ञान आदि ज्ञानान्तरकी अपेक्षा



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्तिमें किसी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रखता। यही अनुमानादिसे प्रत्यक्षमें अतिरेक-अधिकता है। यद्यपि आगमिक दृष्टिसे इन्द्रिय आलोक या ज्ञानान्तर किसी भी कारणकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान परोक्ष है और आत्ममात्रसापेक्ष ही ज्ञान प्रत्यक्ष, पर दार्शनिक क्षेत्रमें अकलंकदेवके सामने प्रमाणविभागकी समस्या थी जिसे उन्होंने बड़ी व्यवस्थित रीतिसे सुलझाया है। तत्त्वार्थसूत्रमें मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानोंको परोक्ष कहा है और वही मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोधको अनर्थान्तर बताया है। अनर्थान्तर कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि ये सब मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं। मतिमें इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले अवग्रह ईहा अवाय और धारणा ज्ञान सम्मिलित हैं। अकलंकदेवने मतिको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर लोकप्रसिद्ध इन्द्रियज्ञानकी प्रत्यक्षताका निर्वाह किया और स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान और श्रुति इन सबको परोक्ष प्रमाण रूपसे परिगणित किया। आगममें मति और श्रुत परोक्ष थे ही। स्मृति आदि मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञान थे ही, इसलिए इनका परोक्षत्व भी सिद्ध था। मात्र इन्द्रिय और मनोजन्य मतिको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बना देनेसे समस्त प्रमाणव्यवस्था जम गई और लोक प्रसिद्धिका निर्वाह भी हो गया। यद्यपि अकलंकदेवने लघीयस्त्रयमें स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमानको भी मनोमति कहा है और सम्भवतः वे इन्हें भी प्रादेशिक प्रत्यक्षकोटिमें लाना चाहते थे, पर यह प्रयास आगेके आचार्योंके द्वारा समर्थित नहीं हुआ।

इस तरह अकलंकदेवने विशदज्ञानको प्रत्यक्ष कहकर श्रीसिद्धसेन दिवाकरके 'अपरोक्ष ग्राहक प्रत्यक्ष' इस प्रत्यक्ष-लक्षणकी कमीको दूर कर दिया। उत्तरकालीन समस्त जैनाचार्योंने अकलंकोपज्ञ इस लक्षण और प्रमाणव्यवस्थाको स्वीकार किया है।

यद्यपि बौद्ध भी विशदज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं फिर भी प्रत्यक्षके लक्षणमें अकलंकदेवके द्वारा विशद पदके साथ ही प्रयुक्त 'साकार' और 'अंजसा' पद खास महत्त्व रखते हैं। बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। यह निर्विकल्पक ज्ञान जैनदार्शनिक परम्परामें प्रसिद्ध विषयविषयीसन्निपातके बाद होनेवाले सामान्यावभासी अनाकार दर्शनके समान है। अकलंकदेवकी दृष्टिमें जब निर्विकल्पक दर्शन प्रमाणकोटिसे ही बहिर्भूत है तब उसे प्रत्यक्ष तो कहा ही नहीं जा सकता था। इसी बातकी सूचनाके लिए उन्होंने प्रत्यक्षके लक्षणमें साकार पद दिया है, जो निराकार दर्शन तथा बौद्धसम्मत निर्विकल्पक-प्रत्यक्षका निराकरण कर निश्चयात्मक विशदज्ञानको ही प्रत्यक्षकोटिमें रखता है। बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्षके बाद होनेवाले 'नीलमिदम्' इत्यादि प्रत्यक्षज विकल्पोंको भी संव्यवहारसे प्रमाण मान लेते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्यक्षके-विषयभूत दृश्य स्वलक्षणमें विकल्पके विषयभूत विकल्प सामान्यका एकत्वाध्यवसाय करके प्रवृत्ति करनेपर स्वलक्षण ही प्राप्त होता है, अतः विकल्प ज्ञान भी संव्यवहारसे प्रमाण बन जाता है। इन विकल्पमें निर्विकल्पककी ही विशदता आती है। इसका कारण है निर्विकल्पक और सविकल्पकका अतिशीघ्र उत्पन्न होना या एक साथ होना। तात्पर्य यह कि बौद्धके मतसे सविकल्पकमें न तो अपना वैशद्य है और न प्रमाणत्व। इसका निरास करनेके लिए अकलंकदेवने अंजसा विशेषण दिया है और सूचित किया है कि विकल्पज्ञान अंजसा विशद है, संव्यवहारसे नहीं।

## परपरिकल्पित प्रत्यक्ष लक्षण निरास

बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञानको प्रत्यक्ष मानते हैं। कल्पनापोढ और अभ्रान्तज्ञान उन्हें प्रत्यक्ष इष्ट है। शब्दसंसृष्ट ज्ञान 'विकल्प' कहलाता है। निर्विकल्पक शब्दसंसर्गसे शून्य होता है। निर्विकल्पक परमार्थसत् स्वलक्षण अर्थसे उत्पन्न होता है। इसके चार भेद होते हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्विकल्पक स्वयं व्यवहारसाधक नहीं होता, व्यवहार निर्विकल्पकजन्य सविकल्पकसे होता है। सविकल्पक ज्ञान निर्मल नहीं होता। विकल्प ज्ञानकी विशदता सविकल्पमें झलकती है। ज्ञात होता है कि वेदकी प्रमाणताका खण्डन करनेके विचारसे बौद्धोंने शब्दका अर्थके साथ वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं माना और यावत् शब्दसंसर्गी ज्ञानोंको, जिनका समर्थन निर्विकल्पकसे नहीं होता, अप्रमाण घोषित कर दिया है। इनने उन्हीं ज्ञानोंको प्रमाण माना जो साक्षात् या परम्परासे अर्थसामर्थ्यजन्य हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा यद्यपि अर्थमें रहनेवाले क्षणिकत्व आदि सभी धर्मोंका अनुभव हो जाता है, पर उनका निश्चय यथासंभव विकल्पकज्ञान और अनुमानसे ही होता है। नील निर्विकल्पक नीलांशका 'नीलमिदम्' इस विकल्पज्ञान द्वारा निश्चय करता है और व्यवहारसाधक होता है तथा क्षणिकांशका 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इस अनुमानके द्वारा। चूंकि निर्विकल्पक 'नीलमिदम्' आदि विकल्पोंका उत्पादक है और अर्थस्वलक्षणसे उत्पन्न हुआ है अतः प्रमाण है। विकल्पज्ञान अस्पष्ट है, क्योंकि वह परमार्थसत् स्वलक्षणसे उत्पन्न नहीं हुआ है। सर्वप्रथम अर्थसे निर्विकल्पक ही उत्पन्न होता है। उस निर्विकल्पावस्थामें किसी विकल्पका अनुभव नहीं होता। विकल्प कल्पितसामान्यको विषय करनेके कारण तथा निर्विकल्पकके द्वारा गृहीत अर्थको ग्रहण करनेके कारण प्रत्यक्षाभास है।

अकलङ्कदेव इसकी आलोचना इस प्रकार करते हैं—अर्थक्रियार्थी पुरुष प्रमाणका अन्वेषण करते हैं। जब व्यवहारमें साक्षात् अर्थक्रियासाधकता सविकल्पकमें ही है तब क्यों न उसे ही प्रमाण माना जाय? निर्विकल्पकमें प्रमाणता लानेको आखिर आपको सविकल्पक ज्ञान तो मानना ही पड़ता है। यदि निर्विकल्पके द्वारा गृहीत नीलाद्यंशको विषय करनेसे विकल्पज्ञान अप्रमाण है; तब तो अनुमान भी प्रत्यक्षके द्वारा गृहीत क्षणिकत्वादिको विषय करनेके कारण प्रमाण नहीं हो सकेगा। निर्विकल्पसे जिस प्रकार नीलाद्यंशोंमें 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार क्षणिकत्वादि अंशोंमें भी 'क्षणिकमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञान उत्पन्न होना चाहिये। अतः व्यवहारसाधक सविकल्पज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जाने योग्य है। विकल्पज्ञान ही विशदरूपसे प्रत्येक प्राणीके अनुभवमें आता है, जब कि निर्विकल्पज्ञान अनुभवसिद्ध नहीं है। प्रत्यक्षसे तो स्थिर स्थूल अर्थ ही अनुभवमें आते हैं, अतः क्षणिक परमाणुका प्रतिभास कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। निर्विकल्पकको स्पष्ट होनेसे तथा सविकल्पकको अस्पष्ट होनेसे विषयभेद भी मानना ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही वृक्ष दूरवर्ती पुरुषको अस्पष्ट तथा समीपवर्तीको स्पष्ट दीखता है। आद्य-प्रत्यक्षकालमें भी कल्पनाएँ बराबर उत्पन्न तथा विनष्ट तो होती ही रहती हैं, भले ही वे अनुपलक्षित रहें। निर्विकल्पसे सविकल्पकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि अशब्द निर्विकल्पकसे सशब्द विकल्पज्ञान उत्पन्न हो सकता है तो शब्दशून्य अर्थसे ही विकल्पककी उत्पत्ति माननेमें क्या बाधा है? अतः मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्तादि यावद्विकल्पज्ञान संवादी होनेसे प्रमाण हैं। जहाँ ये विसंवादी हों वहीं इन्हें अप्रमाण कह सकते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें अर्थक्रियास्थिति अर्थात् अर्थक्रियासाधकत्व रूप अविसंवादका लक्षण भी नहीं पाया जाता, अतः उसे प्रमाण कैसे कह सकते हैं? शब्दसंसृष्ट ज्ञानको विकल्प मानकर अप्रमाण कहनेसे शास्त्रोपदेशसे क्षणिकत्वादिकी सिद्धि नहीं हो सकेगी।

मानस प्रत्यक्ष निरास—बौद्ध इन्द्रियज्ञानके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले विशदज्ञानको, जो कि उसी इन्द्रियज्ञानके द्वारा ग्राह्य अर्थके अनन्तरभावी द्वितीयक्षणको जानता है, मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—एक ही निश्चयात्मक अर्थसाक्षात्कारी ज्ञान अनुभवमें आता है। आपके द्वारा बताये गये मानस प्रत्यक्षका तो प्रतिभास ही नहीं होता। 'नीलमिदम्' यह विकल्प ज्ञान भी मानस प्रत्यक्षका असाधक है; क्योंकि ऐसा विकल्प ज्ञान तो इन्द्रिय प्रत्यक्षसे ही उत्पन्न हो सकता है, इसके लिये मानस प्रत्यक्ष माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। बड़ी और गरम जलेबी खाते समय जितनी इन्द्रियबुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं उतने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही तदनन्तरभावी अर्थको विषय करनेवाले मानस प्रत्यक्ष मानना होंगे; क्योंकि बादमें उतने ही प्रकारके विकल्पज्ञान उत्पन्न होते हैं। इस तरह अनेक मानस प्रत्यक्ष माननेपर सन्तानभेद हो जानेके कारण 'जो मैं खाने वाला हूँ वही मैं सूँघ रहा हूँ' यह प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि समस्त रूपादिको विषय करनेवाला एक ही मानस प्रत्यक्ष माना जाय; तब तो उसीसे रूपादिका परिज्ञान भी हो ही जायगा, फिर इन्द्रिय-बुद्धियाँ किसलिये स्वीकार की जायँ? धर्मोत्तरने मानस प्रत्यक्षको 'आगमप्रसिद्ध' कहा है। अकलंकदेवने उसकी भी आलोचना की है कि—जब वह मात्र आगमप्रसिद्ध ही है, तब उसके लक्षणका परीक्षण ही निरर्थक है।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष खण्डन—यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है तो निद्रा तथा मूर्च्छादि अवस्थाओंमें ऐसे निर्विकल्पक प्रत्यक्षको माननेमें क्या बाधा है? सुषुप्त आदि अवस्थाओंमें अनुभवसिद्ध ज्ञानका निषेध तो किया ही नहीं जा सकता। यदि उक्त अवस्थाओंमें ज्ञानका अभाव हो तो उस समय योगियोंको चतुःसत्यविषयक भावनाओंका भी विच्छेद मानना पड़ेगा।

बौद्धाभिमत विकल्पके लक्षणका निरास—बौद्ध 'अभिलापवती प्रतीतिः कल्पना' अर्थात् जो ज्ञान शब्दसंसर्गके योग्य हो उस ज्ञानको कल्पना या विकल्प ज्ञान कहते हैं। अकलङ्कदेवने उनके इस लक्षणका खण्डन करते हुए लिखा है कि—यदि शब्दके द्वारा कहे जाने लायक ज्ञानका नाम कल्पना है तथा बिना शब्दसंश्रयके कोई भी विकल्पज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता; तब शब्द तथा शब्दांशोंके स्मरणात्मक विकल्पके लिये तद्वाचक अन्य शब्दोंका प्रयोग मानना होगा, उन अन्य शब्दोंके स्मरणके लिए भी तद्वाचक अन्य शब्द स्वीकार करना होंगे, इस तरह दूसरे-दूसरे शब्दोंकी कल्पना करनेसे अनवस्था नामका दूषण आता है। अतः जब विकल्पज्ञान ही सिद्ध नहीं हो पाता तब विकल्पज्ञानरूप साधकके अभावमें निर्विकल्पक भी असिद्ध ही रह जायगा और निर्विकल्पक तथा सविकल्पकरूप प्रमाणद्वयके अभाव में साधक प्रमाण न होनेसे सकल प्रमेयका भी अभाव ही प्राप्त होगा। यदि शब्द तथा शब्दांशोंका स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक शब्दप्रयोगके बिना ही होता है तो विकल्पका अभिलापवत्त्व लक्षण अव्याप्त हो जायगा और जिस तरह शब्द तथा शब्दांशोंका स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक अन्य शब्दके प्रयोगके बिना ही हो जाता है उसी तरह 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प भी शब्दप्रयोगकी योग्यताके बिना ही हो जायँगे, तथा चक्षुरादिबुद्धियाँ शब्द प्रयोगके बिना ही नील-पीतादि पदार्थोंका निश्चय करनेके कारण स्वतः व्यवसायात्मक सिद्ध हो जायँगी। अतः विकल्पका अभिलापवत्त्व लक्षण दूषित है। विकल्पका निर्दोष लक्षण है—समारोपविरोधी ग्रहण या निश्चयात्मकत्व।

सांख्य श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। अकलङ्कदेव कहते हैं कि—श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ तो तैमिरिक रोगीको होनेवाले द्विचन्द्रज्ञान तथा अन्य संशयादिज्ञानोंमें भी प्रयोजक होती हैं, पर वे सभी ज्ञान प्रमाण तो नहीं हैं।

नैयायिक इन्द्रियों और अर्थ के सन्निकर्षको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। इसे भी अकलंकदेवने सर्वज्ञके ज्ञानमें अव्याप्त बताते हुये लिखा है कि—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थोंको विषय करनेवाला सर्वज्ञका ज्ञान प्रतिनियत शक्तिवाली इन्द्रियोंसे तो उत्पन्न नहीं हो सकता, पर प्रत्यक्ष तो अवश्य है। अतः सन्निकर्ष अव्याप्त है। चक्षुके द्वारा रूपका प्रत्यक्ष सन्निकर्षके बिना ही हो जाता है। चाक्षुष प्रत्यक्षमें सन्निकर्षकी आवश्यकता नहीं है। काँच आदिसे व्यवहित पदार्थका ज्ञान सन्निकर्षकी अनावश्यकता सिद्ध कर ही देता है।

प्रत्यक्षके भेद—अकलंकदेवने प्रत्यक्षके तीन भेद किये हैं—१-इन्द्रिय प्रत्यक्ष २-अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३–अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष। चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रूपादिकका स्पष्ट ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। मनके द्वारा सुख आदिकी अनुभूति मानस प्रत्यक्ष है। अकलंकदेवने लघीयस्त्रयस्ववृत्तिमें स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोधको अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि—मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध ये सब मतिज्ञान हैं, मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे इनकी उत्पत्ति होती है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है। इन्द्रियजन्य मतिज्ञानको जब संव्यवहारमें प्रत्यक्ष रूपसे प्रसिद्धि होनेके कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष मान लिया, तब उसी तरह मनोमति रूप स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमानको भी प्रत्यक्ष ही कहना चाहिये। परन्तु संव्यवहार इन्द्रियजन्य मतिको तो प्रत्यक्ष मानता है, पर स्मरण आदिको नहीं। अतः अकलङ्कको स्मरण आदिको अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माननेकी व्याख्या उन्हीं तक सीमित रही। वे शब्दयोजनाके पहिले स्मरण आदिको मतिज्ञान और शब्दयोजनाके बाद इन्हींको श्रुतज्ञान भी कहते हैं। पर उत्तरकालमें असंकीर्ण प्रमाण विभागके लिए—'इन्द्रिय और मनोमति सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति आदि परोक्ष, श्रुत परोक्ष और अवधि मनःपर्यय तथा केवलज्ञान ये तीन ज्ञान परमार्थप्रत्यक्ष' यही व्यवस्था सर्वस्वीकृत हुई।

परमार्थप्रत्यक्ष आत्ममात्रसे उत्पन्न होता है। अवधि और मनःपर्ययज्ञान सीमित विषयवाले हैं तथा केवलज्ञान सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट आदि समस्त पदार्थोंको जानता है। परमार्थप्रत्यक्षकी सिद्धिके लिए अकलंकदेवका निम्नलिखित युक्तिवाद अन्तिम है—

"ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थानवलोकते॥"—न्यायवि० श्लो० ४६५-६६।

अर्थात्—ज्ञस्वभाव आत्माके ज्ञानावरण कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर कोई ज्ञेय शेष नहीं रह जाता जो उस ज्ञानका विषय न हो सके। चूँकि ज्ञान स्वभावतः अप्राप्यकारी है अतः उसे पदार्थके पास या पदार्थोंको ज्ञानके पास आनेकी भी आवश्यकता नहीं है। अतः ऐसे निरावरण अप्राप्यकारी पूर्णज्ञानसे समस्त पदार्थोंका बोध होना ही चाहिए। सबसे बड़ी बाधा ज्ञानावरणकी थी, सो जब वह समूल नष्ट हो गया तो निरावरण ज्ञान स्वज्ञेयको जानेगा ही।

इस तरह इस प्रत्यक्ष प्रस्तावमें प्रत्यक्षका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।

## भट्टाकलंकदेव

न्यायविनिश्चय मूलग्रन्थके प्रणेता जैनन्यायवाङ्मयके अमर प्रतिष्ठापक, उद्भटवादी, जैनशासनके चिरस्मरणीय प्रभावक, अनेकान्तवादके उपस्तोता आचार्यवर भट्टाकलंकदेव हैं। जिनके पुण्यगुणोंका स्मरण, जिनके त्यागको पूतगाथा आज भी जीवनमें प्रेरणा और स्फूर्ति देती है। जो न केवल जैन सम्प्रदायके ही अमररत्न थे, किन्तु भारतमाताका मुकुट जिन इनेगिने नररत्नोंसे आलोकित है उनमें अग्रणी थे। वे भारतीके भालकी शोभा थे। शास्त्रार्थोंमें जिन्हें दैवीबल भी परास्त नहीं कर सकता था उन शब्द-अर्थके धनी, पर अकिञ्चन अकलंकब्रह्मके मुख्य ग्रन्थ न्यायविनिश्चयका तदनुरूप व्याख्याकार वादिराजसूरिके विवरणके साथ प्रथमबार प्रकाशन किया जाता है। ग्रन्थके प्रत्यक्ष प्रस्तावका संक्षिप्त विषयपरिचय पहिले लिखा जा चुका है। ग्रन्थकारोंके विषयमें, खासकर उनके समय आदिका, ज्ञात परिचय कराना अवसरप्राप्त है।

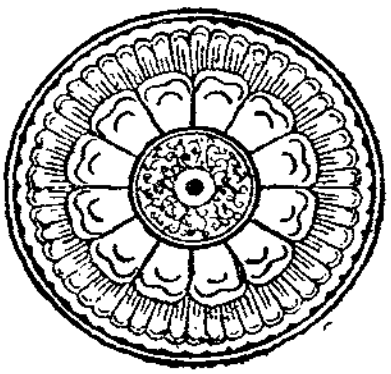
अकलंकदेवके समय आदिके विषयमें 'अकलंकग्रन्थत्रय और उसके कर्ता' लेखमें विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। यह लेख इसी स्मृति ग्रंथके खण्ड ४ में प्रकाशित है उसमें ग्रन्थोंके आन्तर परीक्षणके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधारसे इनका समय सन् ७२० से ७८० तक निश्चित किया है। धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्यपरिवारके समयकी अवधिके जो दशक निश्चित किए गए हैं, श्री राहुल सांकृत्यायनकी सूचनानुसार उनमें संशोधनकी गंजाइश है। निशीथचूर्णिमें दर्शनप्रभावक ग्रन्थोंमें जो सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख पाया जाता है, वह सिद्धिविनिश्चय निश्चयतः अकलंककृत ही है और निशीथचूर्णिके कर्त्ता वे ही जिनदासगणि महत्तर हैं जिनने शकसं० ५९८ अर्थात् सन् ६७६ में नन्दीचूर्णिकी रचना की थी। ऐसी दशामें सन् ६७६ के आसपास रची गई निशीथचूर्णिमें अकलंकके सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख एक ऐसा मूल प्रमाण बन सकता है जिसके आधारसे न केवल अकलंकका ही समय निश्चित किया जा सकता है, अपितु इस युगके अनेक बौद्धाचार्य और वैदिक आचार्योंके समयपर भी मौलिक प्रकाश डाला जा सकता है।

वादिराजसूरिका समय सुनिश्चित है। उनने अपना पार्श्वनाथचरित्र शक सं० ९४७ कार्तिक सुदी ३ को बनाया था। ये उस समय चौलुक्य-चक्रवर्ती जयसिंहदेवकी राजधानीमें निवास करते थे। उनके इस समयकी पुष्टि अन्य ऐतिहासिक प्रमाणोंसे भी होती है। अतः सन् १०२५ के आसपास ही इस ग्रन्थकी रचना हुई होगी। जैन समाजके सुप्रसिद्ध इतिवृत्तज्ञ पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' ग्रन्थमें वादिराजसूरिपर साङ्गोपाङ्ग लिखा है जो दृष्टव्य है।

इस तरह ग्रन्थ और ग्रंथकारके सम्बन्धमें कुछ खास ज्ञातव्य मुद्दोंका निर्देश किया गया है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आचार्य प्रभाचन्द्र और उनका प्रमेयकमलमार्तण्ड

## सूत्रकार माणिक्यनन्दि

जैनन्यायशास्त्रमें माणिक्यनन्दि आचार्यका परीक्षामुखसूत्र आद्य सूत्रग्रन्थ है। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्याचार्य लिखते हैं कि—

"अकलङ्कवचोम्भोधेः उद्ध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥"

अर्थात्—जिस धीमान्ने अकलङ्कके वचनसागरका मथन करके न्यायविद्यामृत निकाला उस माणिक्यनन्दिको नमस्कार हो। इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि माणिक्यनन्दिने अकलङ्कन्यायका मन्थनकर अपना सूत्रग्रन्थ बनाया है। अकलङ्कदेवने जैनन्यायशास्त्रकी रूपरेखा बाँधकर तदनुसार दार्शनिकपदार्थोंका विवेचन किया है। उनके लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह आदि न्यायप्रकरणोंके आधारसे माणिक्यनन्दिने परीक्षामुखसूत्रकी रचना की है। बौद्धदर्शनमें हेतुमुख, न्यायमुख जैसे ग्रन्थ थे। माणिक्यनन्दि जैनन्यायके कोषागारमें अपना एकमात्र परीक्षामुखरूपी माणिक्यको ही जमा करके अपना अमरस्थान बना गए हैं। इस सूत्रग्रन्थकी संक्षिप्त पर विशदसारवाली निर्दोष शैली अपना अनोखा स्थान रखती है। इसमें सूत्रका यह लक्षण—

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥"

सर्वांशतः पाया जाता है। अकलङ्कके ग्रन्थोंके साथही साथ दिग्नागके न्यायप्रवेश और धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुका भी परीक्षामुखपर प्रभाव है। उत्तरकालीन वादिदेवसूरिके प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार और हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसापर परीक्षामुख सूत्र अपना अमिट प्रभाव रखता है। वादिदेवसूरिने तो अपने सूत्र ग्रन्थके बहु भागमें परीक्षामुखको अपना आदर्श रखा है। उन्होंने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारमें नय, सप्तभंगी और वादका विवेचन बढ़ाकर उसके आठ परिच्छेद बनाए हैं जबकि परीक्षामुखमें मात्र प्रमाणके परिकर ही वर्णन होनेसे ६ परिच्छेद ही हैं। परीक्षामुखमें प्रज्ञाकरगुप्तके भाविकारणवाद और अतीतकारणवादकी समालोचना की गई है। प्रज्ञाकर गुप्तके वार्तिकालङ्कारका भिक्षुवर राहुलसांकृत्यायनके अटूट साहस परिश्रमके फलस्वरूप उद्धार हुआ है। उनकी प्रेसकापीमें भाविकारणवाद और भूतकारणवादका निम्नलिखित शब्दोंमें समर्थन किया गया है—

"अविद्यमानस्य करणमिति कोऽर्थः? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्यमुभयापेक्षया समानम्—यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि। नचानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनम्, व्यवहितस्य कारणत्वात्—

गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात्।
जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम्॥
तस्मादन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम्।
कार्यकारणभावस्य तद् भाविन्यपि विद्यते॥

भावेन च भावो भाविनापि लक्ष्यत एव। मत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहारः, यदि मृत्युर्न भविष्यन्न भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति।"—प्रमाणवार्तिकालङ्कार, पृ० १७६। परीक्षामुखके निम्नलिखित सूत्रमें प्रज्ञाकरगुप्तके इन दोनों सिद्धान्तोंका खंडन किया गया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"भाव्यतीतयोः मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् । तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ।"—परीक्षामु० ३।६२, ६३ ।

छठे अध्यायके ५७वें सूत्रमें प्रभाकरकी प्रमाणसंख्याका खंडन किया है । प्रभाकर गुरुका समय ईसाकी ८ वीं सदीका प्रारम्भिक भाग है ।

माणिक्यनन्दिका समय—प्रमेयरत्नमालाकारके उल्लेखानुसार माणिक्यनन्दि आचार्य अकलंकदेवके अनन्तरवर्ती हैं । मैंने अकलङ्कग्रन्थत्रय और उसके कर्ता लेखमें अकलंकदेवका समय ई० ७२० से ७८० तक सिद्ध किया है । अकलङ्कदेवके लघीयस्त्रय और न्यायविनिश्चय आदि तर्कग्रन्थोंका परीक्षामुखपर पर्याप्त प्रभाव है, अतः माणिक्यनन्दिके समयकी पूर्वावधि ई० ८०० निर्बाध मानी जा सकती है । प्रज्ञाकरगुप्त ( ई० ७२५ तक ) प्रभाकर ( ८वीं सदीका पूर्वभाग ) आदिके मतोंका खंडन परीक्षामुखमें है, इससे भी माणिक्यनन्दिकी उक्त पूर्वावधिका समर्थन होता है । आ० प्रभाचन्द्रने परीक्षामुखपर प्रमेयकमलमार्त्तण्डनामक व्याख्या लिखी है । प्रभाचन्द्रका समय ई० की ११ वीं शताब्दी है । अतः इनकी उत्तरावधि ईसाकी १०वीं शताब्दी समझना चाहिए । इस लम्बी अवधिको संकुचित करनेका कोई निश्चित प्रमाण अभी दृष्टिमें नहीं आया । अधिक संभव यही है कि ये विद्यानन्दके समकालीन हों और इसलिए इनका समय ई० ९वीं शताब्दी होना चाहिए ।

## आ० प्रभाचन्द्र

आ० प्रभाचन्द्रके समयविषयक इस निबन्धको वर्गीकरणके ध्यानसे तीन स्थूल भागोंमें बाँट दिया है—१ प्रभाचन्द्रकी इतर आचार्योंसे तुलना, २ समय विचार, ३ प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ ।

### प्रभाचन्द्रकी इतर आचार्योंसे तुलना

इस तुलनात्मक भागको प्रत्येक परम्पराके अपने क्रमविकासको लक्ष्यमें रखकर निम्नलिखित उपभागोंमें क्रमशः विभाजित कर दिया है । १ वैदिक दर्शन—वेद, उपनिषद, स्मृति, पुराण, महाभारत, वैयाकरण, सांख्य योग, वैशेषिक न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा । २ अवैदिक दर्शन—बौद्ध, जैन—दिगम्बर, श्वेताम्बर ।

## वैदिकदर्शन

वेद और प्रभाचन्द्र—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डमें पुरातनवेद ऋग्वेदसे "पुरुष एवेदं यद्भूतं" "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" आदि अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं । कुछ अन्य वेदवाक्य भी न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ७२६ ) में उद्धृत हैं—"प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत्, ततस्त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त" "रुद्रं वेदकर्त्तारम्" आदि । न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ७७० ) में "आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मणं ससर्ज, बाहुभ्यां क्षत्रियमुरुभ्यां वैश्यं पद्भ्यां शूद्रम्" यह वाक्य उद्धृत है । यह ऋग्वेदके "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्" आदि सूक्तकी छाया रूप ही है ।

उपनिषत् और प्रभाचन्द्र—आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों न्यायग्रन्थोंमें ब्रह्माद्वैतवाद तथा अन्य प्रकरणोंमें अनेकों उपनिषदोंके वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं । इनमें बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, कठोपनिषत्, श्वेताश्वतरोपनिषत्, तैत्तिर्युपनिषत्, ब्रह्मबिन्दूपनिषत्, रामतापिन्युपनिषत्, जाबालोपनिषत् आदि उपनिषत् मुख्य हैं । इनके अवतरण अवतरणसूचीमें देखना चाहिये ।

स्मृतिकार और प्रभाचन्द्र—महर्षि मनुकी मनुस्मृति और ज्ञायवल्क्यकी याज्ञवल्क्यस्मृति प्रसिद्ध हैं । आ० प्रभाचन्द्रने कारकसाकल्यवादके पूर्वपक्ष ( प्रमेयक० पृ० ८ ) में याज्ञवल्क्यस्मृति ( २।२२ ) का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"लिखित साक्षिणो भुक्तिः" वाक्य कुछ शाब्दिक परिवर्तनके साथ उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ५७५ ) में मनुस्मृतिका "अकुर्वन् विहितं कर्म" श्लोक उद्धृत है। न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ६३४ ) में मनुस्मृतिके "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः" श्लोकका "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इस कूर्मपुराणके वाक्यसे विरोध दिखाया गया है।

पुराण और प्रभाचन्द्र—प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें मत्स्यपुराणका "प्रतिमन्वतरश्चैव श्रुतिरन्या विधीयते।" यह श्लोकांश उद्धृत मिलता है। न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ६३४ ) में कूर्मपुराण ( अ० १६ ) का "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

व्यास और प्रभाचन्द्र—महाभारत तथा गीताके प्रणेता महर्षि व्यास माने जाते हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ५८० ) में महाभारत वनपर्व ( अ० ३०।२८ ) से "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ..." श्लोक उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ३६८ तथा ३०९ ) में भगवद्गीताके निम्नलिखित श्लोक 'व्यासवचन' के नामसे उद्धृत हैं—"यथैधांसि समिद्धोऽग्नि ..." [ गीता ४।३७ ] "द्वाविमौ पुरुषौ लोके, उत्तमपुरुषस्त्वन्यः..." ( गीता १५।१६, १७ ) इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ३५८ ) में गीता ( २।१६ ) का "नाभावो विद्यते सतः" अंश प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

पतञ्जलि और प्रभाचन्द्र—पाणिनिसूत्रके ऊपर महाभाष्य लिखनेवाले ऋषि पतञ्जलिका समय इतिहासकारोंने ईसवी सनसे पहिले माना है। आ० प्रभाचन्द्रने जैनेन्द्रव्याकरणके साथ ही पाणिनिव्याकरण और उसके महाभाष्यका गम्भीर परिशीलन और अध्ययन किया था। वे शब्दाम्भोजभास्करके प्रारम्भमें स्वयं ही लिखते हैं कि—

"शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताऽहर्निशम्"

आ० प्रभाचन्द्रका पातञ्जलमहाभाष्यका तलस्पर्शी अध्ययन उनके शब्दाम्भोजभास्करमें पद पदपर अनुभूत होता है। न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० २७५ ) में वैयाकरणोंके मतसे गुण शब्दका अर्थ बताते हुये पातञ्जलमहाभाष्य ( ५।१।११९ ) से "यस्य हि गुणस्य भावात् शब्दे द्रव्यविनिवेशः" इत्यादि वाक्य उद्धृत किया गया है। शब्दोंके साधुत्वासाधुत्व-विचारमें व्याकरणकी उपयोगिताका समर्थन भी महाभाष्यकी ही शैलीमें किया है।

भर्तृहरि और प्रभाचन्द्र—ईसाकी ७वीं शताब्दीमें भर्तृहरि नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हुए हैं। इनका वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ये शब्दाद्वैतदर्शनके प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षको वाक्यपदीयकी अनेक कारिकाओंको उद्धृत करके ही परिपुष्ट किया है। शब्दोंके साधुत्व-असाधुत्व विचारमें पूर्वपक्षका खुलासा करनेके लिए वाक्यपदीयकी सरणीका पर्याप्त सहारा लिया है। वाक्यपदीयके द्वितीयकाण्डमें आए हुए "आख्यातशब्दः" आदि दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका सविस्तार खण्डन किया है। इसी तरह प्रभाचन्द्रकी कृति जैनेन्द्रन्यासके अनेक प्रकरणोंमें वाक्यपदीयके अनेक श्लोक उद्धृत मिलते हैं। शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षमें बैखरी आदि चतुर्विधवाणीके स्वरूपका निरूपण करते समय प्रभाचन्द्रने जो "स्थानेषु विवृते वायौ" आदि तीन श्लोक उद्धृत किये हैं वे मुद्रित वाक्यपदीयमें नहीं हैं। टीकामें उद्धृत हैं।

व्यासभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—योगसूत्रपर व्यासऋषिका व्यासभाष्य प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी पञ्चम शताब्दी तक समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० १०९ ) में योगदर्शनके आधारसे ईश्वरवादका पूर्वपक्ष करते समय योगसूत्रोंके अनेक उद्धरण दिए हैं। इसके विवेचनमें व्यास



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाष्यकी पर्याप्त सहायता ली गई है। अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्यका वर्णन योगभाष्यसे मिलता जुलता है। न्यायकुमुदचन्द्रमें योगभाष्यसे "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" "चिच्छक्तिरपरिणामित्वप्रतिसङ्क्रमा" आदि वाक्य उद्धृत किये गये हैं।

ईश्वरकृष्ण और प्रभाचन्द्र—ईश्वरकृष्णकी सांख्यसप्तति या सांख्यकारिका प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी समझा जाता है। सांख्यदर्शनके मूलसिद्धान्तोंका सांख्यकारिकामें संक्षिप्त और स्पष्ट विवेचन है। आ० प्रभाचन्द्रने सांख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सर्वत्र सांख्यकारिकाओंका ही विशेष उपयोग किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें सांख्योंके कुछ वाक्य ऐसे भी उद्धृत हैं जो उपलब्ध सांख्यग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते। यथा—"बुद्ध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" "आसर्ग-प्रलयादेका बुद्धिः" "प्रतिनियतदेशा वृत्तिरभिव्यज्येत" "प्रकृति-परिणामः शुक्लं कृष्णञ्च कर्म" आदि। इससे ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंके सिवाय कोई अन्य प्राचीन सांख्य ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके सामने था जिससे ये वाक्य उद्धृत किये गए हैं।

माठराचार्य और प्रभाचन्द्र—सांख्यकारिकाकी पुरातन टीका माठरावृत्ति है। इसके रचयिता माठराचार्य ईसाकी चौथी शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं। प्रभाचन्द्रने सांख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सांख्यकारिकाओंके साथ ही साथ माठरवृत्तिको भी उद्धृत किया है। जहाँ कहीं सांख्यकारिकाओंकी व्याख्याका प्रसंग आया है, माठरवृत्तिके ही आधारसे व्याख्या की गई है।

प्रशस्तपाद और प्रभाचन्द्र—कणादसूत्रपर प्रशस्तपाद आचार्यका प्रशस्तपादभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रशस्तपादभाष्यकी "एवं धर्मैर्विना धर्मिणामेव निर्देशः कृतः" इस पंक्तिको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ५३१) में 'पदार्थप्रवेशकग्रन्थ' के नामसे उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोंको षट्पदार्थपरीक्षाका यावत् पूर्वपक्ष प्रशस्तपादभाष्य और उसकी पुरातनटीका व्योमवतीसे ही स्पष्ट किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २७०) के ईश्वरवादके पूर्वपक्षमें 'प्रशस्तमतिना च' लिखकर "सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारो" इत्यादि अनुमान उद्धृत है। यह अनुमान प्रशस्तपादभाष्यमें नहीं है। तत्त्वसंग्रहकी पंजिका (पृ० ४३) में भी यह अनुमान प्रशस्तमतिके नामसे उद्धृत है। ये प्रशस्तमति, प्रशस्तपादभाष्यकारसे भिन्न मालूम होते हैं, पर इनका कोई ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है।

व्योमशिव और प्रभाचन्द्र—प्रशस्तपादभाष्यके पुरातन टीकाकार आ० व्योमशिवकी व्योमवती टीका उपलब्ध है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों ग्रन्थोंमें, न केवल वैशेषिकमतके पूर्वपक्षमें ही व्योमवतीको अपनाया है किन्तु अनेक मतोंके खंडनमें भी इसका पर्याप्त अनुसरण किया है। यह टीका उनके विशिष्ट अध्ययनकी वस्तु थी। इस टीकाके तुलनात्मक अंशोंको न्यायकुमुदचन्द्रकी टिप्पणीमें देखना चाहिए। आ० व्योमशिवके समयके विषयमें विद्वानोंका मतभेद चला आ रहा है। डॉ० कीथ इन्हें नवमशताब्दीका कहते हैं तो डॉ० दासगुप्ता इन्हें छठवीं शताब्दीका। मैं इनके समयका कुछ विस्तारसे विचार करता हूँ—

राजशेखरने प्रशस्तपादभाष्यकी 'कन्दली' टीकाकी 'पंजिका' में प्रशस्तपादभाष्यकी चार टीकाओंका इस क्रमसे निर्देश किया है—सर्वप्रथम 'व्योमवती' (व्योमशिवाचार्य), तत्पश्चात् 'न्यायकन्दली' (श्रीधर), तदनन्तर 'किरणावली' (उदयन) और उसके बाद 'लीलावती' (श्रीवत्साचार्य)। ऐतिह्यपर्यालोचनासे भी राजशेखरका यह निर्देशक्रम संगत जान पड़ता है। यहाँ हम व्योमवतीके रचयिता व्योमशिवाचार्यके विषयमें कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं।

व्योमशिवाचार्य शैव थे। अपनी गुरु-परम्परा तथा व्यक्तित्वके विषयमें स्वयं उन्होंने कुछ भी नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखा। पर रणिपद्रपुर रानोद, वर्तमान नारोद ग्रामकी एक वापी प्रशस्ति[1] से इनकी गुरुपरम्परा तथा व्यक्तित्व-विषयक बहुत-सी बातें मालूम होती हैं, जिनका कुछ सार इस प्रकार है—

"कदम्बगुहाधिवासी मुनीन्द्रके शंखमठिकाधिपति नामक शिष्य थे, उनके तेरम्बिपाल, तेरम्बिपालके आमर्दकतीर्थनाथ और आमर्दकतीर्थनाथके पुरन्दरगुरु नामके अतिशय प्रतिभाशाली तार्किक शिष्य हुए। पुरन्दरगुरुने कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा है; क्योंकि उसी प्रशस्ति-शिलालेखमें अत्यन्त स्पष्टतासे यह उल्लेख है कि—"इनके वचनोंका खण्डन आज भी बड़े-बड़े नैयायिक नहीं कर सकते।"[2] स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रंथोंमें पुरन्दरके नामसे कुछ वाक्य उद्धृत मिलते हैं, सम्भव है वे पुरन्दर ये ही हों। इन पुरन्दरगुरुको अवन्तिवर्मा उपेन्द्रपुरसे अपने देशको ले गया। अवन्तिवर्माने इन्हें अपना राज्यभार सौंपकर शैवदीक्षा धारण की और इस तरह अपना जन्म सफल किया। पुरन्दरगुरुने मत्तमयूरमें एक बड़ा मठ स्थापित किया। दूसरा मठ रणिपद्रपुरमें भी इन्होंने स्थापित किया था। पुरन्दरगुरुका कवचशिव और कवचशिवका सदाशिव नामक शिष्य हुआ, जो कि रणिपद्रपुरके तापसाश्रममें तपःसाधन करता था। सदाशिवका शिष्य हृदयेश और हृदयेशका शिष्य व्योमशिव हुआ, जो कि अच्छा प्रभावशाली, उत्कट प्रतिभासम्पन्न और समर्थ विद्वान् था।" व्योमशिवाचार्यके प्रभावशाली होनेका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनके नामसे ही व्योममन्त्र प्रचलित हुए थे।[3] ये सदनुष्ठानपरायण, मृदु-मितभाषी, विनय-नय-संयमके अद्भुत स्थान तथा अप्रतिम प्रतापशाली थे। इन्होंने रणिपद्रपुरका तथा रणिपद्रमठका उद्धार एवं सुधार किया था और वहीं एक शिवमन्दिर तथा वापीका भी निर्माण कराया था। इसी वापीपर उक्त प्रशस्ति खुदी है।

इनकी विद्वत्ताके विषयमें शिलालेखके ये श्लोक पर्याप्त हैं—

"सिद्धान्तेषु महेश एष नियतो न्यायेऽक्षपादो मुनिः।
गम्भीरे च कणाशिनस्तु कणभुक्शास्त्रे श्रुतौ जैमिनिः॥
सांख्येऽनल्पमतिः स्वयं स कपिलो लोकायते सद्गुरुः।
बुद्धो बुद्धमते जिनोक्तिषु जिनः को वाथ नायं कृती॥
यद्भूतं यदनागतं यदधुना किंचित्क्वचिद्वर्ध (र्तं) ते।
सम्यग्दर्शनसम्पदा तदखिलं पश्यन् प्रमेयं महत्॥
सर्वज्ञः स्फुटमेष कोपि भगवानन्यः क्षितौ सं (शं) करः।
धत्ते किन्तु न शान्तधीर्विषमदृग्रौद्रं वपुः केवलम्॥"

इन श्लोकोंमें बतलाया है कि 'व्योमशिवाचार्य शैवसिद्धान्तमें स्वयं शिव, न्यायमें अक्षपाद, वैशेषिक शास्त्रमें कणाद, मीमांसामें जैमिनि, सांख्यमें कपिल, चार्वाकशास्त्रमें बृहस्पति, बुद्धमतमें बुद्ध तथा जिनमतमें स्वयं जिनदेवके समान थे। अधिक क्या; अतीतानागतवर्तमानवर्ती यावत् प्रमेयोंको अपनी सम्यग्दर्शनसम्पत्तिसे स्पष्ट देखने जाननेवाले सर्वज्ञ थे। और ऐसा मालूम होता था कि मात्र विषमनेत्र (तृतीयनेत्र) तथा रौद्रशरीरको धारण किए बिना वे पृथ्वीपर दूसरे शंकर भगवान् ही अवतरे थे। इनके गगनेश, व्योमशम्भु, व्योमेश, गगनशशिमौलि आदि भी नाम थे।

शिलालेखके आधारसे समय—व्योमशिवके पूर्ववर्ती चतुर्थगुरु पुरन्दरको अवन्तिवर्मा राजा अपने

१. प्राचीन लेखमाला, द्वि० भाग, शिलालेख नं० १०८।
२. "यस्याधुनापि विबुधैरतिकृत्यशंसि व्याहन्यते न वचनं नयमार्गविद्भिः॥"
३. "अस्य व्योमपदादिमन्त्ररचनाख्या ताभिधानस्य च।"—वापीप्रशस्तिः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नगरमें ले गया था। अवन्तिवर्माके चाँदीके सिक्कोंपर "विजितावनिरवनिपतिः श्री अवन्तिवर्मा दिवं जयति" लिखा रहता है तथा संवत् २५० पढ़ा गया है।[1] यह संवत् संभवतः गुप्त-संवत् है। डॉ० फ्लीट्के मतानुसार गुप्त संवत् ई० सन् ३२० की २६ फरवरीको प्रारम्भ होता है।[2] अतः ५७० ई० में अवन्तिवर्माका अपनी मुद्राको प्रचलित करना इतिहाससिद्ध है। इस समय अवन्तिवर्मा राज्य कर रहे होंगे। तथा ५७० ई० के आसपास ही वे पुरन्दरगुरुको अपने राज्यमें लाए होंगे। ये अवन्तिवर्मा मोखरीवंशीय राजा थे। शैव होनेके कारण शिवोपासक पुरन्दरगुरुको अपने यहाँ लाना भी इनका ठीक ही था। इनके समयके सम्बन्धमें दूसरा प्रमाण यह है कि—वैसवंशीय राजा हर्षवर्द्धनकी छोटी बहिन राज्यश्री, अवन्तिवर्माके पुत्र ग्रहवर्माको विवाही गई थी। हर्षका जन्म ई० ५९० में हुआ था। राज्यश्री उससे १ या २ वर्ष छोटी थी। ग्रहवर्मा हर्षसे ५–६ वर्ष बड़ा जरूर होगा। अतः उसका जन्म ५८४ ई० के करीब मानना चाहिए। इसका राज्यकाल ई० ६०० से ६०६ तक रहा है। अवन्तिवर्माका यह इकलौता लड़का था। अतः मालूम होता है कि ई० ५८४ में अर्थात् अवन्तिवर्माकी ढलती अवस्थामें यह पैदा हुआ होगा। अस्तु; यहाँ तो इतना ही प्रयोजन है कि ५७० ई० के आसपास ही अवन्तिवर्मा पुरन्दरको अपने यहाँ ले गए थे।

यद्यपि संन्यासियोंमें शिष्य-परम्पराके लिए प्रत्येक पीढ़ीका समय २५ वर्ष मानना आवश्यक नहीं है; क्योंकि कभी-कभी २० वर्षमें ही शिष्य-प्रशिष्योंकी परम्परा चल जाती है। फिर भी यदि प्रत्येक पीढीका समय २५ वर्ष ही मान लिया जाय तो पुरन्दरसे तीन पीढीके बाद हुए व्योमशिवका समय सन् ६७० के आसपास सिद्ध होता है।

दार्शनिक ग्रन्थोंके आधारसे समय—व्योमशिव स्वयं ही अपनी व्योमवती टीका (पृ० ३९२) में श्रीहर्षका एक महत्त्वपूर्ण ढंगसे उल्लेख करते हैं। यथा—

"अत एव मदीयं शरीरमित्यादिप्रत्ययेष्वात्मानुरागसद्भावेऽपि आत्मनोऽवच्छेदकत्वम्। श्रैहर्षं देवकुलमिति ज्ञाने श्रीहर्षस्येव उभयत्रापि बाधकसद्भावात्, यत्र ह्यनुरागसद्भावेऽपि विशेषणत्वे बाधकमस्ति तत्रावच्छेदकत्वमेव कल्प्यते इति। अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्। आत्मनि कर्तृत्वकरणत्वयोरसम्भव इति बाधकम्।"

यद्यपि इस सन्दर्भका पाठ कुछ छूटा हुआ मालूम होता है फिर भी 'अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्' यह वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है। इससे साफ मालूम होता है कि श्रीहर्ष (606-647 A. D. राज्य) व्योमशिवके समयमें विद्यमान थे। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि व्योमशिव श्रीहर्षके बहुत बाद होकर भी ऐसा उल्लेख कर सकते हैं; परन्तु जब शिलालेखसे उनका समय ई० सन् ६७० के आसपास है तथा श्रीहर्षकी विद्यमानताका वे इस तरह जोर देकर उल्लेख करते हैं तब उक्त कल्पनाको स्थान ही नहीं मिलता।

व्योमवतीका अन्तःपरीक्षण—व्योमवती (पृ० ३०६,३०७,६८०) में धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक (२-११,१२ तथा १-६८,७२) से कारिकाएँ उद्धत की गई हैं। इसी तरह व्योमवती (पृ० ६१७) में धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु प्रथमपरिच्छेदके "डिण्डिकरागं परित्यज्य अक्षिणी निमील्य" इस वाक्यका प्रयोग पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रमाणवार्त्तिककी और भी बहुत-सी कारिकाएँ उद्धृत देखी जाती हैं।

---

१. देखो, भारतके प्राचीन राजवंश, द्वि० भाग, पृ० ३७५।

२. देखो, भारतके प्राचीन राजवंश, द्वितीय भाग, पृ० २२९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्योमवती ( पृ० ५९१,५९२ ) में कुमारिलके मीमांसा-श्लोकवार्तिककी अनेक कारिकाएँ उद्धृत हैं। व्योमवती ( पृ० १२९ ) में उद्योतकरका नाम लिया है, भर्तृहरिके शब्दाद्वैतदर्शनका ( पृ० २० च ) खण्डन किया है और प्रभाकरके स्मृतिप्रमोषवादका भी ( पृ० ५४० ) खंडन किया गया है।

इनमें भर्तृहरि, धर्मकीर्त्ति, कुमारिल तथा प्रभाकर ये सब प्रायः समसामयिक और ईसाकी सातवीं शताब्दीके विद्वान् हैं। उद्योतकर छठी शताब्दीके विद्वान् हैं। अतः व्योमशिवके द्वारा इन समसामयिक एवं किंचित्पूर्ववर्ती विद्वानोंका उल्लेख तथा समालोचनका होना संगत ही है। व्योमवती ( पृ० १५ ) में बाणकी कादम्बरीका उल्लेख है। बाण हर्षकी सभाके विद्वान् थे, अतः इसका उल्लेख भी होना ठीक ही है।

व्योमवती टीकाका उल्लेख करनेवाले परवर्ती ग्रन्थकारोंमें शान्तरक्षित, विद्यानन्द, जयन्त, वाचस्पति, सिद्धर्षि, श्रीधर, उदयन, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र तथा गुणरत्न, विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

शान्तरक्षितने वैशेषिक-सम्मत षट्पदार्थोंकी परीक्षा की है। उसमें वे प्रशस्तपादके साथ ही साथ शंकरस्वामी नामक नैयायिकका मत भी पूर्वपक्षरूपसे उपस्थित करते हैं। परन्तु जब हम ध्यानसे देखते हैं तो उनके पूर्वपक्षमें प्रशस्तपादव्योमवतीके शब्द स्पष्टतया अपनी छाप मारते हुए नजर आते हैं। ( तुलना-तत्त्वसंग्रह, पृ० २०६ तथा व्योमवती, पृ० ३४३। ) तत्त्वसंग्रहकी पंजिका ( पृ० २०६ ) में व्योमवती ( पृ० १२९ ) के स्वकारणसमवाय तथा सत्तासमवायरूप उत्पत्तिके लक्षणका उल्लेख है। शान्तरक्षित तथा उनके शिष्य कमलशीलका समय ई० की आठवीं शताब्दिका पूर्वार्द्ध है। ( देखो, तत्त्वसंग्रहकी भूमिका, पृ० xcvi )

विद्यानन्द आचार्यने अपनी आप्तपरीक्षा ( पृ० २६ ) में व्योमवती टीका ( पृ० १०७ ) से समवायके लक्षणकी समस्त पदकृत्य उद्धृत की है। 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यका लक्षण है' व्योमवती ( पृ० १४९ ) के इस मन्तव्यकी समालोचना भी आप्तपरीक्षा ( पृ० ६ ) में की गई है। विद्यानन्द ईसाकी नवम-शताब्दीके पूर्वार्द्धवर्ती हैं।

जयन्तकी न्यायमंजरी ( पृ० २३ ) में व्योमवती ( पृ० ६२१ ) के अनर्थजत्वात् स्मृतिको अप्रमाण माननेके सिद्धान्तका समर्थन किया है, साथ ही पृ० ६५ पर व्योमवती ( पृ० ५५६ ) के फलविशेषणपक्षको स्वीकार कर कारकसामग्रीको प्रमाणमाननेके सिद्धान्तका अनुसरण किया है। जयन्तका समय हम आगे ईसाकी ९वीं शताब्दीका पूर्वभाग सिद्ध करेंगे।

वाचस्पति मिश्र अपनी तात्पर्यटीकामें ( पृ० १०८ ) प्रत्यक्षलक्षणसूत्रमें 'यतः' पदका अध्याहार करते हैं तथा ( पृ० १०२ ) लिंगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं। व्योमवतीटीकामें ( पृ० ५५६ ) 'यतः' पदका प्रयोग प्रत्यक्षलक्षणमें किया है तथा ( पृ० ५६१ ) लिंगपरामर्शज्ञानको उपादानबुद्धि भी कहा है। वाचस्पति मिश्रका समय ८४१ A.D. है।

प्रभाचन्द्र आचार्यने मोक्षनिरूपण ( प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ३०७ ) आत्मस्वरूपनिरूपण ( न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ३४९, प्रमेयकमलमा०, पृ० ११० ) समवायलक्षण ( न्यायकुमु०, पृ० २९५, प्रमेयकमलमा०, पृ० ६०४ ) आदिमें व्योमवती ( पृ० २०, ३९३, १०७ ) का पर्याप्त सहारा लिया है। स्वसंवेदनसिद्धिमें व्योमवतीके ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका खण्डन भी किया है।

श्रीधर तथा उदयनाचार्यने अपनी कन्दली ( पृ० ४ ) तथा किरणावलीमें व्योमवती ( पृ० २० क )

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के "नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात्·····यथा प्रदीपसन्तानः।" इस अनुमान-को 'तार्किकाः' तथा 'आचार्याः' शब्दके साथ उद्धृत किया है। कन्दली ( पृ० २० ) में व्योमवती ( पृ०१४९ ) के 'द्रव्यत्वोपलक्षितः समवायः द्रव्यत्वेन योगः' इस मतकी आलोचना की गई है। इसी तरह कन्दली ( पृ० १८ ) में व्योमवती ( पृ० १२९ ) के 'अनित्यत्वं तु प्रागभावप्रध्वंसाभावोपलक्षिता वस्तुसत्ता।' इस अनित्यत्वके लक्षणका खण्डन किया है। कन्दली ( पृ० २०० ) में व्योमवती ( पृ० ५९३ ) के 'अनुमान-लक्षणमें विद्याके सामान्यलक्षणकी अनुवृत्ति करके संशयादिका व्यवच्छेद करना' तथा स्मरणके व्यवच्छेदके लिये 'द्रव्यादिषु उत्पद्यते' इस पदका अनुवर्त्तन करना' इन दो मतोंका समालोचन किया है। कन्दलीकार श्रीधरका समय कन्दलीके अन्तमें दिए गए "व्यधिकदशोत्तरनवशतशकाब्दे" पदके अनुसार ९१३ शक अर्थात् ९९१ ई० है। और उदयनाचार्यका समय ९८४ ई० है।

वादिराज अपने न्यायविनिश्चय-विवरण ( लिखित पृ० १११ B. तथा १११ A. ) में व्योमवतीसे पूर्वपक्ष करते हैं। वादिदेवसूरि अपने स्याद्वादरत्नाकर ( पृ० ३१८ तथा ४१८ ) में पूर्वपक्षरूपसे व्योमवती-का उद्धरण देते हैं।

सिद्धर्षि न्यायावतारवृत्ति ( पृ० ९ ) में, हेमचन्द्र प्रमाणमीमांसा ( पृ० ७ ) में तथा गुणरत्न अपनी षड्दर्शनसमुच्चयकी वृत्ति ( पृ० ११४ A. ) में व्योमवतीके प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम रूप प्रमाणत्रित्वकी-वैशेषिकपरम्पराका पूर्वपक्ष करते हैं। इस तरह व्योमवतीकी संक्षिप्त तुलनासे ज्ञात हो सकता है कि व्योम-वतीका जैनग्रन्थोंसे विशिष्ट सम्बन्ध है।

इस प्रकार हम व्योमशिवका समय शिलालेख तथा उनके ग्रन्थके उल्लेखोंके आधारसे ईस्वी सातवीं शताब्दीका उत्तर भाग अनुमान करते हैं। यदि ये आठवीं या नवमी शताब्दीके विद्वान् होते तो अपने सम-सामयिक शंकराचार्य और शान्तरक्षित जैसे विद्वानोंका उल्लेख अवश्य करते। हम देखते हैं कि—व्योमशिव शांकरवेदान्तका उल्लेख भी नहीं करते तथा विपर्यय ज्ञानके विषयमें अलौकिकार्थख्याति, स्मृतिप्रमोष आदि-का खण्डन करनेपर भी शंकरके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादका नाम भी नहीं लेते। व्योमशिव जैसे बहुश्रुत एवं सैकड़ों मतमतान्तरोंका उल्लेख करनेवाले आचार्यके द्वारा किसी भी अष्टमशताब्दी या नवम शताब्दीवर्त्ती आचार्यके मतका उल्लेख न किया जाना ही उनके सप्तमशताब्दीवर्ती होनेका प्रमाण है।

अतः डॉ० कीथका इन्हें नवमी शताब्दीका विद्वान् लिखना तथा डॉ० एस० एन० दासगुप्ताका इन्हें छठी शताब्दीका विद्वान् बतलाना ठीक नहीं जँचता।

श्रीधर और प्रभाचन्द्र—प्रशस्तपाद भाष्यकी टीकाओंमें न्यायकन्दली टीकाका भी अपना अच्छा स्थान है। इसकी रचना श्रीधरने शक ९१३ ( ई० ९९१ ) में की थी। श्रीधराचार्य अपने पूर्व टीकाकार व्योमशिवका शब्दानुसरण करते हुए भी उनसे मतभेद प्रदर्शित करनेमें नहीं चूकते। व्योमशिव बुद्धयादि विशेष गुणोंकी सन्ततिके अत्यन्तोच्छेदको मोक्ष कहते हैं और उसकी सिद्धिके लिए 'सन्तानत्वात्' हेतुका प्रयोग करते हैं ( प्रश० व्यो०, पृ० २० क )। श्रीधर आत्यन्तिक अहितनिवृत्तिको मोक्ष मानकर भी उसकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त होनेवाले 'सन्तानत्वात्' हेतुको पार्थिवपरमाणुकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताते हैं ( कन्दली, पृ० ४ )। आ० प्रभाचन्द्रने भी वैशेषिकोंको मुक्तिका खण्डन करते समय न्यायकुमुद० ( पृ ८२६ ) और प्रमेयकमल० ( पृ० ३१८ ) में 'सन्तानत्वात्' हेतुको पाकजपरमाणुओंको रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताया है। इसी तरह और भी एकाधिकस्थलोंमें हम कन्दलीकी आभा प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंपर देखते हैं।

वात्स्यायन और प्रभाचन्द्र—न्यायसूत्रके ऊपर वात्सायनकृत न्यायभाष्य उपलब्ध है। इनका समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दी समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें इनके न्यायभाष्यका कहीं न्यायभाष्य और कहीं भाष्य शब्दसे उल्लेख किया है। वात्सायनका नाम न लेकर सर्वत्र न्यायभाष्यकार और भाष्यकार शब्दोंसे ही इनका निर्देश किया गया है।

उद्योतकर और प्रभाचन्द्र—न्यायसूत्रके ऊपर न्यायवार्तिक ग्रन्थके रचयिता आ० उद्योतकर ई० ६वीं सदी, अन्ततः सातवीं सदीके पूर्वपादके विद्वान् हैं। इन्होंने दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चयके खण्डनके लिए न्याय वार्तिक बनाया था। इनके न्यायवार्तिकका खण्डन धर्मकीर्ति (ई० ६३५ के बाद) ने अपने प्रमाणवार्तिकमें किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सृष्टिकर्तृत्व प्रकरणके पूर्वपक्षमें (पृ० २६८) उद्योतकरके अनुमानोंको 'वार्तिककारेणापि' शब्दके साथ उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें एकाधिकस्थानोंमें 'उद्योतकर' का नामोल्लेख करके न्यायवार्तिकसे पूर्वपक्ष किए गए हैं। न्यायकुमुचन्द्रके षोडशपदार्थवादका पूर्वपक्ष भी उद्योतकरके न्यायवार्तिकसे पर्याप्त पुष्टि पाया है। "पूर्ववच्छेषवत्" आदि अनुमानसूत्रकी वार्तिककारकृत विविध व्याख्याएँ भी प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें खंडित हुई हैं। वार्तिककारकृत साधकतमत्वका "भावाभावयोस्तद्वत्ता" यह लक्षण प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें प्रमाणरूपसे उद्धृत है।

भट्ट जयन्त और प्रभाचन्द्र—भट्ट जयन्त जरन्नैयायिकके नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होंने न्यायसूत्रोंके आधारसे न्यायकलिका और न्यायमञ्जरी ग्रन्थ लिखे हैं। न्यायमञ्जरी तो कतिपय न्यायसूत्रोंकी विशद व्याख्या है। अब हम भट्ट जयन्तके समयका विचार करते हैं—

जयन्तकी न्यायमञ्जरीका प्रथम संस्करण विजयनगरं सीरीजमें सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ है। इसके संपादक म० म० गंगाधर शास्त्री मानवल्ली हैं। उन्होंने भूमिकामें लिखा है कि—"जयन्तभट्टका गंगेशोपाध्यायने उपमान-चिन्तामणि (पृ० ६१) में जरन्नैयायिक शब्दसे उल्लेख किया है, तथा जयन्तभट्टने न्यायमंजरी (पृ० ३१२) में वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्य-टीकासे "जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः" यह वाक्य 'आचार्यैः' करके उद्धृत किया है। अतः जयन्तका समय वाचस्पति (841 A. D.) से उत्तर तथा गंगेश (1175 A. D.) से पूर्व होना चाहिये। इन्हींका अनुसरण करके न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके सम्पादक पं० सूर्यनारायणजी शुक्लने, तथा 'संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास'के लेखकोंने भी जयन्तको वाचस्पतिका परवर्ती लिखा है। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण भी उक्त वाक्यके आधारपर इनका समय ९वींसे ११वीं शताब्दी तक मानते थे।[1] अतः जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माननेकी परम्पराका आधार म० म० गंगाधर शास्त्री-द्वारा "जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः" इस वाक्यको वाचस्पति मिश्रका लिख देना ही मालूम होता है। वाचस्पति मिश्रने अपना समय 'न्यायसूची निबन्ध'के अन्तमें स्वयं दिया है। यथा—

"न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वंकवसुवत्सरे॥"

इस श्लोकमें ८९८ वत्सर लिखा है।

म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसादजीने 'वत्सर' शब्दसे शकसंवत् लिया है।[2] डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण विक्रम संवत् लेते हैं।[3] म० म० गोपीनाथ कविराज लिखते हैं[4] कि 'तात्पर्यटीकाकी परिशुद्धिटीका बनानेवाले

१. हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लॉजिक, पृ० १४६।
२. न्यायवार्त्तिक-भूमिका, पृ० १४५।
३. हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लॉजिक, पृ० १३३।
४. हिस्ट्री एंड बिब्लोग्राफी ऑफ न्यायवैशेषिक लिटरेचर, Vol. III, पृ० १०१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य उदयनने अपनी 'लक्षणावली' शक सं० ९०६ ( 984 A. D. ) में समाप्त की है। यदि वाचस्पति-का समय शक सं० ८९८ माना जाता है तो इतनी जल्दी उसपर परिशुद्धि जैसी टीकाका बन जाना संभव मालूम नहीं होता।

अतः वाचस्पतिमिश्रका समय विक्रम संवत् ८९८ ( 841 A. D. ) प्रायः सर्वसम्मत है। वाचस्पति-मिश्रने वैशेषिकदर्शनको छोड़कर प्रायः सभी दर्शनोंपर टीकाएँ लिखी हैं। सर्वप्रथम इन्होंने मंडनमिश्रके विधि-विवेकपर 'न्यायकणिका' नामकी टीका लिखी है, क्योंकि इनके दूसरे ग्रन्थोंमें प्रायः इसका निर्देश है। उसके बाद मंडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिकी व्याख्या 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' तथा 'तत्त्वबिन्दु'; इन दोनों ग्रन्थोंका निर्देश तात्पर्य-टीकामें मिलता है, अतः उनके बाद 'तात्पर्य-टीका' लिखी गई। तात्पर्य टीकाके साथ ही 'न्यायसूची-निबन्ध' लिखा होगा; क्योंकि न्यायसूत्रोंका निर्णय तात्पर्य-टीकामें अत्यन्त अपेक्षित है। 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में तात्पर्य-टीका उद्धृत है, अतः तात्पर्यटीकाके बाद 'सांख्यतत्त्वकौमुदी'की रचना हुई। योगभाष्यकी तत्त्ववैशारदी टीका-में 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' का निर्देश है, अतः निर्दिष्ट कौमुदीके बाद 'तत्त्ववैशारदी' रची गई। और इन सभी ग्रन्थोंका 'भामती' टीकामें निर्देश होनेसे 'भामती' टीका सबके अन्तमें लिखी गई है।

जयन्त वाचस्पति मिश्रके समकालीन वृद्ध हैं—वाचस्पतिमिश्र अपनी आद्यकृति 'न्यायकणिका'के मङ्गलाचरणमें न्यायमञ्जरीकारको बड़े महत्त्वपूर्ण शब्दोंमें गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। यथा—

"अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम्।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे॥"

अर्थात्—जिनने अज्ञानतिमिरका नाश करनेवाली, प्रतिवादियोंका दमन करनेवाली, रुचिर न्याय-मंजरीको जन्म दिया उन समर्थ विद्यातरु गुरुको नमस्कार हो।

इस श्लोकमें स्मृत 'न्यामञ्जरी' भट्ट जयन्तकृत न्यायमञ्जरी जैसी प्रसिद्ध 'न्यायमञ्जरी' ही होनी चाहिये। अभी तक कोई दूसरी न्यायमञ्जरी तो सुननेमें भी नहीं आई। जब वाचस्पति जयन्तको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं तब जयन्त वाचस्पतिके उत्तरकालीन कैसे हो सकते हैं। यद्यपि वाचस्पतिने तात्पर्यटीकामें 'त्रिलोचनगुरून्नीत' इत्यादि पद देकर अपने गुरुरूपसे 'त्रिलोचन' का उल्लेख किया है, फिर भी जयन्तको उनके गुरु अथवा गुरुसम होनेमें कोई बाधा नहीं है; क्योंकि एक व्यक्तिके अनेक गुरु भी हो सकते हैं।

अभी तक 'जातञ्च सम्बद्धं चेत्येकः कालः' इस वचनके आधारपर ही जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन माना जाता है। पर, यह वचन वाचस्पतिकी तात्पर्य-टीकाका नहीं है, किन्तु न्यायवार्तिककार श्री उद्योतकरका है ( न्यायवार्तिक, पृ० २३६ ), जिस न्यायवार्तिकपर वाचस्पतिकी तात्पर्यटीका है। इनका समय धर्मकीर्तिसे पूर्व होना निर्विवाद है।

म० म० गोपीनाथ कविराज अपनी 'हिस्ट्री एण्ड बिब्लोग्राफी ऑफ न्याय वैशेषिक लिटरेचर' में लिखते हैं[1] कि—"वाचस्पति और जयन्त समकालीन होने चाहिए, क्योंकि जयन्तके ग्रन्थोंपर वाचस्पतिका कोई असर देखनेमें नहीं आता।" 'जातञ्च' इत्यादि वाक्यके विषयमें भी उन्होंने सन्देह प्रकट करते हुए लिखा है कि—"यह वाक्य किसी पूर्वाचार्यका होना चाहिये।" वाचस्पतिके पहले भी शंकरस्वामी आदि नैयायिक हुए हैं, जिनका उल्लेख तत्त्वसंग्रह आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने जयन्तको वाचस्पतिका उत्तरकालीन मानकर न्यायमञ्जरी ( पृ० १२० )

१. सरस्वती भवन सीरीज, III पार्ट।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में उद्धृत 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः' इस पद्यको टिप्पणीमें 'भामती' टीकाका लिख दिया है। पर वस्तुतः यह पद्य वाक्यपदीय ( १–३४ ) का है और न्यायमञ्जरीकी तरह भामती टीकामें भी उद्धृत ही है, मूलका नहीं है।

न्यायसूत्रके प्रत्यक्ष-लक्षणसूत्र ( १-१-४ ) की व्याख्यामें वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि—'व्यवसायात्मक' पदसे सविकल्पक प्रत्यक्षका ग्रहण करना चाहिये तथा 'अव्यपदेश्य' पदसे निर्विकल्पक ज्ञानका। संशयज्ञानका निराकरण तो 'अव्यभिचारी' पदसे हो ही जाता है, इसलिये संशयज्ञानका निराकरण करना 'व्यवसायात्मक' पदका मुख्य कार्य नहीं है। यह बात मैं 'गुरून्नीत मार्ग' का अनुगमन करके कह रहा हूँ। इसी तरह कोई व्याख्याकार 'अयमश्वः' इत्यादि शब्दसंसृष्ट ज्ञानको उभयजज्ञान कहकर उसकी प्रत्यक्षताका निराकरण करनेके लिये अव्यपदेश्य पदकी सार्थकता बताते हैं। वाचस्पति 'अयमश्वः' इस ज्ञानको उभयजज्ञान न मानकर ऐन्द्रियक कहते हैं। और वह भी अपने गुरुके द्वारा उपदिष्ट इस गाथाके आधारपर—

शब्दजत्वेन शाब्दञ्चेत् प्रत्यक्षं चाक्षजत्वतः।
स्पष्टग्रहरूपत्वात् युक्तमैन्द्रियकं हि तत् ॥

इसलिये वे 'अव्यपदेश्य' पदका प्रयोजन निर्विकल्पका संग्रह करना ही बतलाते हैं।

न्यायमञ्जरी ( पृ० ७८ ) में 'उभयजज्ञानका व्यवच्छेद करना अव्यपदेश्यपदका कार्य है' इस मतका 'आचार्याः' इस शब्दके साथ उल्लेख किया गया है। उसपर व्याख्याकारकी अनुपपत्ति दिखाकर न्यायमञ्जरीकारने उभयजज्ञानका खण्डन किया है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने इस 'आचार्याः' पदके नीचे 'तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः' यह टिप्पणी की है। यहाँ यह विचारणीय है कि–यह मत वाचस्पति मिश्रका है या अन्य किसी पूर्वाचार्यका? तात्पर्य-टीका ( पृ० १४८ ) में तो स्पष्ट ही उभयजज्ञान नहीं मानकर उसे ऐन्द्रियक कहा है। इसलिये वह मत वाचस्पतिका तो नहीं है। व्योमवती[1] टीका ( पृ० ५५५ ) में उभयजज्ञानका स्पष्ट समर्थन है, अतः यह मत व्योमशिवाचार्यका हो सकता है। व्योमवतीमें न केवल उभयजज्ञानका समर्थन ही है किन्तु उसका व्यवच्छेद भी अव्यपदेश्य पदसे किया है। हाँ, उसपर जो व्याख्याकारकी अनुपपत्ति है वह कदाचित् वाचस्पतिकी तरफ लग सकती है; सो भी ठीक नहीं; क्योंकि वाचस्पतिने अपने गुरुकी जिस गाथाके अनुसार उभयजज्ञानको ऐन्द्रियक माना है, उससे साफ मालूम होता है कि वाचस्पतिके गुरुके सामने उभयजज्ञानको माननेवाले आचार्य ( सम्भवतः व्योमशिवाचार्य ) की परम्परा थी, जिसका खण्डन वाचस्पतिके गुरुने किया। और जिस खण्डनको वाचस्पतिने अपने गुरुकी गाथाका प्रमाण देकर तात्पर्य-टीकामें स्थान दिया है।

इसी तरह तात्पर्य-टीकामें ( पृ० १०२ ) 'यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्' इस भाष्यका व्याख्यान करते हुए वाचस्पति मिश्रने उपादेयताज्ञानको 'उपादान' पदसे लिया है और उसका क्रम

१. "न, इन्द्रियसहकारिणा शब्देन यज्जन्यते तस्य व्यवच्छेदार्थत्वात्, तथा ह्यकृतसमयो रूपं पश्यन्नपि चक्षुषा रूपमिति न जानीते रूपमितिशब्दोच्चारणानन्तरं प्रतिपद्यत इत्युभयजं ज्ञानम्; ननु च शब्देन्द्रिययोरेकस्मिन् काले व्यापाराऽसम्भवादयुक्तमेतत्। तथाहि-मनसाऽधिष्ठितं न श्रोत्रं शब्दं गृह्णाति पुनः क्रियाक्रमेण चक्षुषा सम्बन्धे सति रूपग्रहणम्। न च शब्दज्ञानस्यैतावत्कालमवस्थानं सम्भवतीति कथमुभयजं ज्ञानम्? अत्रैका श्रोत्रसम्बद्धे मनसि क्रियोत्पन्ना विभागमारभते'''ततः स्वज्ञानसहायशब्दसहकारिणा चक्षुषा रूपज्ञानमुत्पद्यते इत्युभयजं ज्ञानम्। यदि वा'''भवत्येवोभयजं ज्ञानम्"—प्रश० व्यो०, पृ० ५५५।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी 'तीर्थालोचन, तीर्थविकल्प, दृष्टतज्जातीयसंस्कारोद्बोध, स्मरण, 'तज्जातीयं चेदम्' इत्याकारकपरामर्श' इत्यादि बताया है।

न्यायमंजरी ( पृ० ६६ ) में इसी प्रकरणमें शङ्का की है कि—'प्रथम आलोचनज्ञानका फल उपादानादिबुद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि उसमें कई क्षणोंका व्यवधान पड़ जाता है' ? इसका उत्तर देते हुए मंजरीकारने 'आचार्याः' शब्द लिखकर 'उपादेयताज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं' इस मतका उल्लेख किया है। इस 'आचार्याः' पद पर भी म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने 'न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः' ऐसा टिप्पण किया है। न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके सम्पादक पं० सूर्यनारायणजी न्यायाचार्यने भी उन्हींका अनुसरण करके उसे बड़े टाइपमें हेडिंग देकर छपाया है। मंजरीकारने इस मतके बाद भी एक व्याख्याताका मत दिया है। जो इस परामर्शात्मक उपादेयताज्ञानको नहीं मानता। यहाँ भी यह विचारणीय है कि-यह मत स्वयं वाचस्पतिका है या उनके पूर्ववर्ती उनके गुरुका ? यद्यपि यहाँ उन्होंने अपने गुरुका नाम नहीं लिया है, तथापि जब व्योमवती[1] जैसी प्रशस्तपादकी प्राचीन टीका ( पृ० ५६१ ) में इसका स्पष्ट समर्थन है, तब इस मतकी परम्परा भी प्राचीन ही मानना होगी और 'आचार्याः' पदसे वाचस्पति न लिए जाकर व्योमशिव जैसे कोई प्राचीन आचार्य लेना होंगे। मालूम होता है म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने "जातञ्च सम्बद्धं चेत्येकः कालः" इस वचनको वाचस्पतिका माननेके कारण ही उक्त दो स्थलोंमें 'आचार्याः' पदपर 'वाचस्पतिमिश्राः' ऐसी टिप्पणी कर दी है, जिसकी परम्परा चलती रही। हाँ, म० म० गोपीनाथ कविराजने अवश्य ही उसे सन्देह कोटिमें रखा है।

**भट्ट जयन्तकी समयावधि**—जयन्त मंजरीमें धर्मकीर्तिके मतकी समालोचनाके साथ ही साथ उनके टीकाकार धर्मोत्तरकी आदिवाक्यकी चर्चाको स्थान देते हैं। तथा प्रज्ञाकरगुप्तके 'एकमेवेदं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्' ( भिक्षु राहुलजीकी वार्तिकालंकारकी प्रेसकॉपी, पृ० ४४९ ) इस वचनका खंडन करते हैं, ( न्यायमंजरी, पृ० ७४ )।

भिक्षु राहुलजीने टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार धर्मकीर्तिका समय ई० ६२५, प्रज्ञाकरगुप्तका ७००, धर्मोत्तर और रविगुप्तका ७२५ ईस्वी लिखा है। जयन्तने एक जगह रविगुप्तका भी नाम लिया है। अतः जयन्तकी पूर्वावधि ७६० A. D. तथा उत्तरावधि ८४० A. D. होनी चाहिए। क्योंकि वाचस्पतिका न्यायसूचीनिबन्ध ८४१ A. D. में बनाया गया है, इसके पहिले भी वे ब्रह्मसिद्धि, तत्त्वबिन्दु और तात्पर्यटीका लिख चुके हैं। संभव है कि वाचस्पतिने अपनी आद्यकृति न्यायकणिका ८१५ ई० के आसपास लिखी हो। इस न्यायकणिकामें जयन्तकी न्यायमंजरीका उल्लेख होनेसे जयन्तकी उत्तरावधि ८४० A. D. ही मानना समुचित ज्ञात होता है। यह समय जयन्तके पुत्र अभिनन्द द्वारा दी गई जयन्तकी पूर्वजावलीसे भी संगत बैठता है। अभिनन्द अपने कादम्बरीकथासारमें लिखते हैं कि—

"भारद्वाज कुलमें शक्ति नामका गौड़ ब्राह्मण था। उसका पुत्र मित्र, मित्रका पुत्र शक्तिस्वामी हुआ। यह शक्तिस्वामी कर्कोटवंशके राजा मुक्तापीड ललितादित्यके मंत्री थे। शक्तिस्वामीके पुत्र कल्याणस्वामी, कल्याणस्वामीके पुत्र चन्द्र तथा चन्द्रके पुत्र जयन्त हुए, जो नववृत्तिकारके नामसे मशहूर थे। जयन्तके अभिनन्द नामका पुत्र हुआ।"

---

१. "द्रव्यादिजातीयस्य पूर्वं सुखदुःखसाधनत्वोपलब्धेः तज्ज्ञानानन्तरं यदात् द्रव्यादिजातीयं तत्तत्सुखसाधनमित्यविनाभावस्मरणम्, तथा चेदं द्रव्यादिजातीयमिति परामर्शज्ञानम्, तस्मात् सुखसाधनमिति विनिश्चयः तत उपादेयज्ञानम्....."—प्रश० व्यो०, पृ० ५६१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काश्मीरके कर्कोट वंशीय राजा मुक्तापीड ललितादित्यका राज्य काल ७३३ से ७६८ A. D तक रहा है[1]। शक्तिस्वामीके, जो अपनी प्रौढ़ अवस्थामें मन्त्री होंगे, अपने मन्त्रित्वकालके पहिले ही ई० ७२० में कल्याणस्वामी उत्पन्न हो चुके होंगे। इसके अनन्तर यदि प्रत्येक पीढ़ीका समय २० वर्ष भी मान लिया जाय तो कल्याणस्वामीके ईस्वी सन् ७४० में चन्द्र, चन्द्रके ई० ७६० में जयन्त उत्पन्न हुए और उन्होंने ईस्वी ८०० तकमें अपनी 'न्यायमंजरी' बनाई होगी। इसलिए वाचस्पतिके समयमें जयन्त वृद्ध होंगे और वाचस्पति इन्हें आदरकी दृष्टिसे देखते होंगे। यही कारण है कि उन्होंने अपनी आद्यकृतिमें न्यायमंजरी-कारका स्मरण किया है।

जयन्तके इस समयका समर्थक एक प्रबल प्रमाण यह है कि—हरिभद्रसूरिने अपने षड्दर्शनसमुच्चय ( श्लो० २० ) में न्यायमंजरी ( विजयानगर सं०, पृ० १२९ ) के—

"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः।
रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः॥
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः॥"

इन दो श्लोकोंके द्वितीय पादोंको जैसाका तैसा शामिल कर लिया है। प्रसिद्ध इतिवृत्तज्ञ मुनि जिन-विजयजीने "जैन साहित्यसंशोधक' ( भाग १ अंक १, ) में अनेक प्रमाणोंसे, खासकर उद्योतनसूरिकी कुवलयमाला कथामें हरिभद्रका गुरुरूपसे उल्लेख होनेके कारण हरिभद्रका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। कुवलयमाला कथाकी समाप्ति शक ७०० ( ई० ७७८ ) में हुई थी। मेरा इस विषयमें इतना संशोधन है कि उस समयकी आयुःस्थिति देखते हुए हरिभद्रकी निर्धारित आयु स्वल्प मालूम होती है। उनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक माननेसे वे न्यायमंजरीको देख सकेंगे। हरिभद्र जैसे सैकड़ों प्रकरणोंके रचयिता विद्वान्के लिए १०० वर्ष जीना अस्वाभाविक नहीं हो सकता। अतः ई० ७१० से ८१० तक समयवाले हरिभद्रसूरिके द्वारा न्यायमंजरीके श्लोकोंका अपने ग्रन्थमें शामिल किया जाना जयन्तके ७६० से ८४० ई० तकके समयका प्रबल साधकप्रमाण है।

आ० प्रभाचन्द्रने वात्सायनभाष्य एवं न्यायवार्तिककी अपेक्षा जयन्तकी न्यायमञ्जरी एवं न्यायकलि-काका ही अधिक परिशीलन एवं समुचित उपयोग किया है। षोडशपदार्थके निरूपणमें जयन्तकी न्यायमंजरीके ही शब्द अपनी आभा दिखाते हैं। प्रभाचन्द्रको न्यायमंजरी स्वभ्यस्त थी। वे कहीं-कहीं मंजरीके ही शब्दोंको 'तथा चाह भाष्यकारः' लिखकर उद्धृत करते हैं। भूतचैतन्यवादके पूर्वपक्षमें न्यायमंजरीमें 'अपि च' करके उद्धृत की गई १७ कारिकाएँ न्यायकुमुदचन्द्रमें भी ज्योंकी त्यों उद्धृत की गई हैं। जयन्तके कारकसाकल्यका सर्वप्रथम खण्डन। प्रभाचन्द्रने ही किया है। न्यायमञ्जरीकी निम्नलिखित तीन कारिकाएँ भी न्यायकुमुद-चन्द्रमें उद्धृत की गई हैं।

( न्यायकुमुद० पृ० ३३६ ) "ज्ञातं सम्यगसम्यग्वा यन्मोक्षाय भवाय वा।
तत्प्रमेयमिहाभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम्॥" [ न्यायमं० पृ० ४४७ ]
( न्यायकुमुद० पृ० ४९१ ) "भूयोऽवयवसमान्ययोगो यद्यपि मन्यते।
सादृश्यं तस्य तु ज्ञप्तिः गृहीते प्रतियोगिनि॥ [ न्यायमं० पृ० १४६ ]
( न्यायकुमुद० पृ० ५११ ) "नन्वस्त्येव गृहद्वारवर्तिनः संगतिग्रहः।
भावेनाभावसिद्धौ तु कथमेतद्भविष्यति॥" [ न्यायमं० पृ० ३८ ]

१. देखो, संस्कृतसाहित्यका इतिहास, परिशिष्ट ( ख ), पृ० १५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह न्यायकुमुदचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें न्यायमंजरीका नाम लिखा जा सकता है।

**वाचस्पति और प्रभाचन्द्र**—षड्दर्शनटीकाकार वाचस्पतिने अपना न्यायसूचीनिबन्ध ई० ८४१में समाप्त किया था। इनमें अपनी तात्पर्यटीका ( पृ० १६५ ) में सांख्योंके अनुमानके मात्रामात्रिक आदि सात भेद गिनाए हैं और उनका खंडन किया है। न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ४६२ ) में भी सांख्योंके अनुमानके इन्हीं सात भेदोंके नाम निर्दिष्ट हैं। वाचस्पतिने शांकरभाष्यकी भामती टीकामें अविद्यासे अविद्याके उच्छेद करनेके लिए "यथा पयः पयोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति, विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा वा कतकरजो रजोऽन्तराविले पायसि प्रक्षिप्तं रजोन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पायः करोति···" इत्यादि दृष्टान्त दिए हैं। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ६६ ) में इन्हीं दृष्टान्तोंको पूर्वपक्षमें उपस्थित किया है। न्यायकुमुदचन्द्रके विधिवादके पूर्वपक्षमें विधिविवेकके साथही साथ उसकी वाचस्पतिकृत न्यायकणिका टीकाका भी पर्याप्त सादृश्य पाया जाता है। वाचस्पतिके उक्त ई० ८४१ समयका साधक एक प्रमाण यह भी है कि इन्होंने तात्पर्यटीका ( पृ० २१७ ) में शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रह ( श्लो० २०० ) से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—"नर्त्तकीभ्रूलताक्षेपो न होकः पारमार्थिकः। अनेकाणुसमूहत्वात् एकत्वं तस्य कल्पितम्॥" शान्तरक्षितका समय ई० ७६२ है।

**शबर ऋषि और प्रभाचन्द्र**—जैमिनिसूत्रपर शाबरभाष्य लिखनेवाले महर्षि शबरका समय ईसाकी तीसरी सदी तक समझा जाता है। शाबरभाष्यके ऊपर ही कुमारिल और प्रभाकरने व्याख्याएँ लिखी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने शब्द-नित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद आदिमें कुमारिलके श्लोकवार्तिकके साथ ही साथ शाबरभाष्यकी दलीलोंको भी पूर्वपक्षमें रखा है। शाबरभाष्यसे ही "गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः" यह उपवर्ष ऋषिका मत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ४६४ ) में उद्धृत किया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० २७९ ) में शब्दको वायवीय माननेवाले शिक्षाकार मीमांसकोंका मत भी शाबरभाष्यसे ही उद्धृत हुआ है। इसके सिवाय न्यायकुमुदचन्द्रमें शाबरभाष्यके कई वाक्य प्रमाणरूपमें और पूर्वपक्षमें उद्धृत किए गए हैं।

**कुमारिल और प्रभाचन्द्र**—भट्ट कुमारिलने शाबरभाष्यपर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका नामकी व्याख्या लिखी है कुमारिलने अपने तन्त्रवार्तिक ( पृ० २५१-२५३ ) में वाक्यपदीयके निम्नलिखित श्लोककी समालोचना की है—

"अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥" —वाक्यप० २।१२१

इसी तरह तन्त्रवार्तिक ( पृ० २०९-१० ) में वाक्यपदीय ( १।७) के "तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते" अंश उद्धृत होकर खंडित हुआ है। मीमांसाश्लोकवार्तिक ( वाक्याधिकरण श्लो० ५१ ) में वाक्यपदीय ( २।१-२ ) में निर्दिष्ट दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका समालोचन किया गया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचना भी कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकके स्फोटवादमें बड़ी प्रखरतासे की है। चीनी यात्री इत्सिगने अपने यात्राविवरणमें भर्तृहरिका मृत्युसमय ई० ६५० बताया है अतः भर्तृहरिके समालोचक कुमारिलका समय ईस्वी ७वी शताब्दीका उत्तर भाग मानना समुचित है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें सर्वज्ञवाद, शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, आगमादिप्रमाणोंका विचार, प्रामाण्यवाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलके श्लोकवार्तिकसे पचासों कारिकाएँ उद्धृत की हैं। शब्दनित्यत्ववाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलकी युक्तियोंका सिलसिलेवार सप्रमाण उत्तर दिया गया है। कुमारिलने आत्माको व्यावृत्त्यनुगमात्मक या नित्यानित्यात्मक माना है। प्रभाचन्द्रने आत्माकी नित्यानित्यात्मकताका समर्थन करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय कुमारिलकी "तस्मादुभवहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः" आदि कारिकाएँ अपने पक्षके समर्थनमें भी उद्धृत की हैं। इसी तरह सृष्टिकर्तृत्वखंडन, ब्रह्मवादखंडन आदिमें प्रभाचन्द्र कुमारिलके साथ-साथ चलते हैं। सारांश यह है कि प्रभाचन्द्रके सामने कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्तिक एक विशिष्ट ग्रन्थके रूपमें रहा है। इसीलिए इसकी आलोचना भी जमकर की गई है। श्लोकवार्तिककी भट्ट उम्बेककृत तात्पर्यटीका अभी ही प्रकाशित हुई है। इस टीकाका आलोडन भी प्रभाचन्द्रने खूब किया है। सर्वज्ञवादमें कुछ कारिकाएँ ऐसी उद्धृत हैं जो कुमारिलके मौजूदा श्लोकवार्तिकमें नहीं पाई जातीं। संभव है ये कारिकाएँ कुमारिलकी बृहट्टीका या अन्य किसी ग्रंथ की हों।

मंडनमिश्र और प्रभाचन्द्र—आ० मंडनमिश्रके मीमांसानुक्रमणी, विधिविवेक, भावनाविवेक, नैष्कर्म्यसिद्धि, ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय[1] ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग है। आचार्य विद्यानन्दने ( ई० ९वीं शताब्दीका पूर्वभाग ) अपनी अष्टसहस्रीमें मण्डनमिश्रका नाम लिया है। यतः मण्डनमिश्र अपने ग्रन्थोंमें सप्तमशतकवर्ती कुमारिलका नामोल्लेख करते हैं। अतः इनका समय ई०की सप्तमशताब्दीका अन्तिमभाग तथा ८वीं सदीका पूर्वार्ध सुनिश्चित होता है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० १४९ ) में मंडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं" श्लोक उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ५७२ ) में विधिवादके पूर्वपक्षमें मंडनमिश्रके विधिविवेकमें वर्णित अनेक विधिवादियोंका निर्देश किया गया है। उनके मतनिरूपण तथा समालोचनमें विधिविवेक ही आधारभूत मालूम होता है।

प्रभाकर और प्रभाचन्द्र—शाबरभाष्यकी बृहती टीकाके रचयिता प्रभाकर करीब-करीब कुमारिलके समकालीन थे। भट्ट कुमारिलका शिष्य परिवार भाट्टके नामसे ख्यात हुआ तथा प्रभाकरके शिष्य प्राभाकर या गुरुमतानुयायी कहलाए। प्रभाकर विपर्ययज्ञानको स्मृतिप्रमोष या विवेकाख्याति रूप मानते हैं। ये अभावको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। वेदवाक्योंका अर्थ नियोगपरक करते हैं। प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें प्रभाकरके स्मृतिप्रमोष, नियोगवाद आदि सभी सिद्धान्तोंका विस्तृत खंडन किया है।

शालिकनाथ और प्रभाचन्द्र—प्रभाकरके शिष्योंमें शालिकनाथका अपना विशिष्ट स्थान है। इनका समय ईसाकी ८वीं शताब्दी है। इन्होंने बृहतीके ऊपर ऋजुविमला नामकी पञ्जिका लिखी है। प्रभाकरगुरुके सिद्धान्तोंका विवेचन करनेके लिए इन्होंने प्रकरणपञ्जिका नामका स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है। ये अन्धकारको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते किन्तु ज्ञानानुत्पत्तिको ही अन्धकार कहते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० २३८ ) तथा न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ६६६ ) में शालिकनाथके इस मतकी विस्तृत समीक्षा की है।

शङ्कराचार्य और प्रभाचन्द्र—आद्य शङ्कराचार्यके ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य आदि अनेकों ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय[2] ई० ७८८ से ८२० तक माना जाता है। शाङ्करभाष्यमें धर्मकीर्तिके 'सहोपलम्भनियमात्' हेतुका खण्डन होनेसे यह समय समर्थित होता है। आ० प्रभाचन्द्रने शङ्करके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादकी समालोचना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें की है। न्यायकुमुदचन्द्रके परमब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें शाङ्करभाष्यके आधारसे ही वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोषोंका परिहार किया गया है।

सुरेश्वर और प्रभाचन्द्र—शङ्कराचार्यके शिष्योंमें सुरेश्वराचार्यका नाम उल्लेखनीय है। इनका

१. देखो बृहती द्वि० भागकी प्रस्तावना।

२. द्रष्टव्य—अच्युतपत्र वर्ष ३, अङ्क ४ में म० म० गोपीनाथ कविराजका लेख।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम विश्वरूप भी था। इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, मानसोल्लास, पञ्चीकरणवार्तिक, काशीमृतिमोक्षविचार, नैष्कर्म्यसिद्धि आदि ग्रन्थ बनाए हैं। आ० विद्यानन्द ( ईसाकी ९वीं शताब्दी ) ने अष्टसहस्री ( पृ० १६२ ) में बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकसे 'ब्रह्मविद्याविदिष्टं चेन्नतु' इत्यादि कारिकाएँ उद्धृत की हैं। अतः इनका समय भी ईसाकी ९वीं शताब्दीका पूर्वभाग होना चाहिए। ये शङ्कराचार्य ( ई० ७८८ से ८२० के साक्षात् शिष्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ४४-४५ ) तथा न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० १४१ ) में ब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें इनके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक ( ३।५।४३-४४ ) से "यथा विशुद्धमाकाश" आदि दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

भामह और प्रभाचन्द्र—भामहका काव्यालङ्कार ग्रन्थ उपलब्ध है। शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रह (पृ०२९१) में भामहके काव्यालंकारकी अपोहखण्डन वाली "यदि गौरित्ययं शब्दः" आदि तीन कारिकाओं-की समालोचना की है। ये कारिकाएँ काव्यालंकारके ६वें परिच्छेद ( श्लोक० १७-१९ ) में पाई जाती हैं। तत्त्वसंग्रहकारका समय ई० ७०५–७६२ तक सुनिर्णीत है। बौद्धसम्मत प्रत्यक्षके लक्षणका खण्डन करते समय भामहने ( काव्यालंकार ५।६ ) दिङ्नागके मात्र 'कल्पनापोढ' पदवाले लक्षणका खण्डन किया है, धर्मकीर्ति के 'कल्पनापोढ और अभ्रान्त' उभयविशेषणवाले लक्षणका नहीं। इससे ज्ञात होता है कि भामह दिङ्नागके उत्तरवर्ती तथा धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती हैं। अन्ततः इनका समय ईसाकी ७वीं शताब्दीका पूर्वभाग है। आ० प्रभाचन्द्रने अपोहवादका खंडन करते समय भामहकी अपोहखण्डनविषयक "यदि गौरित्ययं" आदि तीनों कारिकायें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ४३२ ) में उद्धृत की हैं। यह भी संभव है कि ये कारिकायें सीधे भामहके ग्रन्थसे उद्धृत न होकर तत्त्वसंग्रहके द्वारा उद्धृत हुई हों।

बाण और प्रभाचन्द्र—प्रसिद्ध गद्यकाव्य कादम्बरीके रचयिता बाणभट्ट, सम्राट् हर्षवर्धन ( राज्य ६०६ से ६४८ ई० ) की सभाके कविरत्न थे। इन्होंने हर्षचरितकी भी रचना की थी। बाण, कादम्बरी और हर्षचरित दोनों ही ग्रन्थोंको पूर्ण नहीं कर सके। इनकी कादम्बरीका आद्यश्लोक "रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये" प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ २९८ ) में उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने वेदापौरुषेयत्वप्रकरणमें ( प्रमेयक० पृ० ३९३ ) कादम्बरीके कर्तृत्वके विषयमें सन्देहात्मक उल्लेख किया है—"कादम्बर्यादीनां कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः"—अर्थात् कादम्बरी आदिके कर्त्ताके विषयमें विवाद है। इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि प्रभा-चन्द्रके समयमें कादम्बरी आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता विवादग्रस्त थे। हम प्रभाचन्द्रका समय आगे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध करेंगे।

माघ और प्रभाचन्द्र—शिशुपालवध काव्यके रचयिता माघ कविका समय ई० ६६०-६७५ के लगभग है।[1] माघकविके पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलातके मन्त्री थे। राजा वर्मलातका उल्लेख ई० ६२५ के एक शिलालेखमें विद्यमान है अतः इनके नाती माघ कविका समय ई० ६७५ तक मानना समुचित है। प्रभाचन्द्रने माघकाव्य ( १।२३ ) का "युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो···" श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ६८८ ) में उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रने माघकाव्यको देखा था।

## अवैदिकदर्शन

अश्वघोष और प्रभाचन्द्र—अश्वघोषका समय ईसाका द्वितीय शतक माना जाता है। इनके बुद्ध-चरित और सौन्दरनन्द दो महाकाव्य प्रसिद्ध हैं। सौन्दरनन्दमें अश्वघोषने प्रसङ्गतः बौद्धदर्शनके कुछ पदार्थों

१. देखो, संस्कृत साहित्यका इतिहास, पृ० १४३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का भी सारगर्भ विवेचन किया है। आ० प्रभाचन्द्रने शून्यनिर्वाणवादका खंडन करते समय पूर्वपक्षमें ( प्रमेयक० पृ० ६८७ ) सौन्दरनन्दकाव्यसे निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किए हैं–

"दीपो यथा निर्वृणिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥"

—सौन्दरनन्द १६।२८, २९.

नागार्जुन और प्रभाचन्द्र–नागार्जुनकी माध्यमिककारिका और विग्रहव्यावर्तिनी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये ईसाकी तीसरी शताब्दीके विद्वान् हैं। इन्हें शून्यवादके प्रस्थापक होनेका श्रेय प्राप्त है। माध्यमिक-कारिकामें इन्होंने विस्तृत परीक्षाएँ लिखकर शून्यवादको दार्शनिक रूप दिया है। विग्रहव्यावर्तिनी भी इसी तरह शून्यवादका समर्थन करनेवाला छोटा प्रकरण है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० १३२ ) में माध्यमिकके शून्यवादका खंडन करते समय पूर्वपक्षमें प्रमाणवार्तिककी कारिकाओंके साथ ही साथ माध्यमिक-कारिकासे भी 'न स्वतो नापि परतः' और 'यथा मया यथा स्वप्नो···' ये दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

वसुबन्धु और प्रभाचन्द्र–वसुबन्धुका अभिधर्मकोश ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका समय इ० ४०० के करीब माना जाता है। अभिधर्मकोश बहुत अंशोंमें बौद्धदर्शनके सूत्रग्रन्थका कार्य करता है। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ३९० ) में वैभाषिक समस्त द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पादका खंडन करते समय प्रतीत्य-समुत्पादका पूर्वपक्ष वसुबन्धुके अभिधर्मकोशके आधारसे ही लिखा है। उसमें यथावसर अभिधर्मकोशसे २-३ कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। देखो न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३९५।

दिङ्नाग और प्रभाचन्द्र–आ० दिग्नागका स्थान बौद्धदर्शनने विशिष्ट संस्थापकोंमें है। इनके न्यायप्रवेश और प्रमाणसमुच्चय प्रकरण मुद्रित हैं। इनका समय ई० ४२५ के आसपास माना जाता है। प्रमाणसमुच्चयमें प्रत्यक्षका कल्पनापोढ लक्षण किया है। इसमें अभ्रान्तपद धर्मकीर्तिने जोड़ा है। इन्हींके प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक रचा है। भिक्षु राहुलजीने[1] दिग्नागके आलम्बनपरीक्षा, त्रिका-लपरीक्षा और हेतुचक्रडमरु आदि ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ८० ) में 'स्तुतश्च अद्वैतादिप्रकरणानामादौ दिग्नागादिभिः सद्भिः' लिखकर प्रमाणसमुच्चयका 'प्रमा-णभूताय' इत्यादि मंगलश्लोकांश उद्धृत किया है। इसी तरह अपोहवादके पूर्वपक्ष ( प्रमेयक० पृ० ४३६ ) में दिग्नागके नामसे निम्नलिखित गद्यांश भी उद्धृत किया है–"दिग्नागेन विशेषणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् 'नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टार्थानाहुः' इत्युक्तम्।

धर्मकीर्ति और प्रभाचन्द्र—बौद्धदर्शनके युगप्रधान आचार्य धर्मकीर्ति ईसाकी ७वीं शताब्दीमें नालन्दाके बौद्धविद्यापीठके आचार्य थे। इनकी लेखनीने भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था। धर्मकीर्तिने वैदिकसंस्कृतिपर दृढ़ प्रहार किए हैं। यद्यपि इनका उद्धार करनेके लिए व्योमशिव, जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, उदयन आदि आचार्योंने कुछ उठा नहीं रखा। पर बौद्धोंके खंडनमें जितनी कुशलता तथा सतर्कतासे जैनाचार्योंने लक्ष्य दिया है उतना अन्यने नहीं। यही कारण है कि अकलङ्क, हरिभद्र, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि आदिके जैनन्यायशास्त्रके ग्रन्थोंका बहुभाग बौद्धोंके खंडनने ही रोक रखा है। धर्मकीर्तिके समयके विषयमें मैं विशेष ऊहापोह "अकलङ्कग्रन्थत्रय" की प्रस्तावना

१. वादन्याय परिशिष्ट पृ० VI.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

( पृ० १८ ) में कर आया हूँ। इनके प्रमाणवार्तिक, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका प्रभाचन्द्रको गहरा अभ्यास था। इन ग्रन्थोंकी अनेकों कारिकाएँ, खासकर प्रमाणवार्तिककी कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें उद्धृत हैं। मालूम होता है कि सम्बन्धपरीक्षाकी अथ से इति तक २३ कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सम्बन्धवादके पूर्वपक्षमें ज्योंकी त्यों रखी गई हैं, और खण्डित हुई हैं। विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इसकी कुछ कारिकाएँ ही उद्धृत हैं। वादन्यायका "हसति हसति स्वामिनि" आदि श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत है। संवेदनाद्वैतके पूर्वपक्षमें धर्मकीर्तिके 'सहोपलम्भनियमात्' आदि हेतुओंका निर्देशकर बहुविध विकल्पजालोंसे खण्डन किया गया है। वादन्यायकी "असाधनाङ्गवचन-मदोषोद्भावनं द्वयोः" कारिकाका और इसके विविध व्याख्यानोंका सयुक्तिक उत्तर प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दिया गया है। इन सब ग्रन्थोंके अवतरण और उनसे की गई तुलना न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणीमें देखनी चाहिए।

प्रज्ञाकरगुप्त और प्रभाचन्द्र—धर्मकीर्तिके व्याख्याकारोंमें प्रज्ञाकरगुप्तका अपना खास स्थान है। उन्होंने प्रमाणवार्तिकपर प्रमाणवार्तिकालङ्कार नामकी विस्तृत व्याख्या लिखी है इनका समय भी ईसाकी ७वीं शताब्दीका अन्तिम भाग और आठवींका प्रारम्भिक भाग है। इनकी प्रमाणवार्तिकालङ्कार टीका वार्तिकालङ्कार और अलंकारके नामसे भी प्रख्यात रही है। इन्हींके वार्तिकालङ्कारसे भावना विधि नियोगकी विस्तृत चर्चा विद्यानन्दके ग्रन्थों द्वारा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें अवतीर्ण हुई है। इतना विशेष है कि—विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने प्रज्ञाकरगुप्तकृत भावना विधि आदिके खंडनका भी स्थान-स्थानपर विशेष समालोचन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ३८० ) में प्रज्ञाकरके भाविकारणवाद और भूतकारणवादका उल्लेख प्रज्ञाकरका नाम देकर किया गया है। प्रज्ञाकरगुप्तने अपने इस मतका प्रतिपादन प्रमाणवार्तिकालङ्कारमें किया है।[1] भिक्षु राहुल सांकृत्यायनके पास इसकी हस्तलिखित कापी है। प्रभाचन्द्रने धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह उनके शिष्य प्रज्ञाकरके वार्तिकालङ्कारका भी आलोचन किया है।

प्रभाचन्द्रने जो ब्राह्मणत्वजातिका खण्डन लिखा है, उसमें शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहके साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्तके वार्तिकालङ्कारका भी प्रभाव मालूम होता है। ये बौद्धाचार्य अपनी संस्कृतिके अनुसार सदैव जातिवादपर खड्गहस्त रहते थे। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके निम्नलिखित श्लोकमें जातिवादके मदको जडता-का चिह्न बताया है—

"वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये॥"

उत्तराध्ययनसूत्रमें 'कम्मुणा बम्हणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ' लिखकर कर्मणा जातिका स्पष्ट समर्थन किया गया है।

दि० जैनाचार्योंमें[2] वराङ्गचरित्रके कर्ता जटासिंहनन्दिने वराङ्गचरितके २५वें अध्यायमें ब्राह्मणत्व-जातिका निरास किया है। और भी रविषेण, अमितगति आदिने जातिवादके खिलाफ थोड़ा बहुत लिखा है पर तर्कग्रन्थोंमें सर्वप्रथम हम प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थोंमें जन्मना जातिका सयुक्तिक खण्डन यथेष्ट विस्तारके साथ पाते हैं।

---

१. इसके अवतरण अकलंकग्रन्थत्रयकी प्रस्तावना, पृ० २७ में देखना चाहिए।

२. इन आचार्योंके ग्रन्थोंके अवतरणके लिए देखो न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ७७८, टि० ९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्णकगोमि और प्रभाचन्द्र—प्रमाणवार्तिकके तृतीयपरिच्छेदपर धर्मकीर्तिकी स्वोपज्ञवृत्ति भी उपलब्ध है। इस वृत्तिपर कर्णकगोमिकी विस्तृत टीका है। इस टीकामें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कारका 'अलङ्कार' शब्दसे उल्लेख है। इसमें मण्डनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका 'आहुर्विधातृ' श्लोक उद्धृत है। अतः इनका समय ई० ८वीं सदीका पूर्वार्ध संभव है। न्यायकुमुदचन्द्रके शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, स्फोटवाद आदि प्रकरणोंपर कर्णकगोमिकी स्ववृत्तिटीका अपना पूरा असर रखती है। इसके अवतरण इन प्रकरणोंके टिप्पणोंमें देखना चाहिये।

शान्तरक्षित, कमलशील और प्रभाचन्द्र—तत्त्वसंग्रहकार[1] शान्तरक्षित तथा तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाके रचयिता कमलशील नालन्दाविश्वविद्यालयके आचार्य थे। शान्तरक्षितका समय ई० ७०५ से ७६२ तथा कमलशीलका समय ई० ७१३ से ७६३ है। शान्तरक्षितकी अपेक्षा कमलशीलकी प्रावाहिक प्रसादगुणमयी भाषाने प्रभाचन्द्रको अत्यधिक आकृष्ट किया है। यों तो प्रभाचन्द्रके प्रायः प्रत्येक प्रकरणपर कमलशीलकी पञ्जिका अपना उन्मुक्त प्रभाव रखती है पर इसके लिए षट्पदार्थपरीक्षा, शब्दब्रह्मपरीक्षा, ईश्वरपरीक्षा, प्रकृतिपरीक्षा, शब्दनित्यत्वपरीक्षा आदि परीक्षाएँ खासतौरसे द्रष्टव्य हैं। तत्त्वसंग्रहकी सर्वज्ञपरीक्षामें कुमारिलकी पचासों कारिकाएँ उद्धृत कर पूर्वपक्ष किया गया है। इनमेंसे अनेकों कारिकाएँ ऐसी हैं जो कुमारिलके श्लोकवार्तिकमें नहीं पाई जातीं। कुछ ऐसी ही कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें भी उद्धृत हैं। संभव है कि ये कारिकाएँ कुमारिलके ग्रन्थसे न लेकर तत्त्वसंग्रहसे ही ली गई हों। तात्पर्य यह कि प्रभाचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें तत्त्वसंग्रह और उसकी पञ्जिका अग्रस्थान पानेके योग्य है।

अर्चट और प्रभाचन्द्र—धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दुपर अर्चटकृत टीका उपलब्ध है। इसका उल्लेख अनन्तवीर्यने अपनी सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनेकों स्थलोंमें किया है। 'हेतुलक्षणसिद्धि' में तो धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दुके साथही साथ अर्चटकृत विवरणका भी खण्डन है। अर्चटका समय भी करीब ईसाकी ९वीं शताब्दी होना चाहिये। अर्चटने अपने हेतुबिन्दुविवरणमें सहकारित्व दो प्रकारका बताया है—१ एकार्थकारित्व, २ परस्परातिशयाधायकत्व। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० १०) में कारकसाकल्यवादकी समीक्षा करते समय सहकारित्वके यही दो विकल्प किये हैं।

धर्मोत्तर और प्रभाचन्द्र—धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुपर आ० धर्मोत्तरने टीका रची है। भिक्षु राहुलजी द्वारा लिखित टिबेटियन गुरुपरम्परा[2]के अनुसार इनका समय ई० ७२५ के आसपास है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० २) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २०) में सम्बन्ध, अभिधेय, शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनरूप अनुबन्धत्रयकी चर्चामें, जो उन्मत्तवाक्य, काकदन्तपरीक्षा, मातृविवाहोपदेश तथा सर्वज्वरहरतक्षकचूड़ारत्नालङ्कारोपदेशके उदाहरण दिए हैं वे धर्मोत्तरकी न्यायबिन्दुटीका (पृ० २) के प्रभावसे अछूते नहीं हैं। इनकी शब्दरचना करीब-करीब एक जैसी है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २६) में प्रत्यक्ष शब्दकी व्याख्या करते समय अक्षाश्रितत्वको प्रत्यक्षशब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त बताया है और अक्षाश्रितत्वोपलक्षित अर्थसाक्षात्कारित्वको प्रवृत्तिनिमित्त। ये प्रकार भी न्यायबिन्दुटीका (पृ० ११) से अक्षरशः मिलते हैं।

ज्ञानश्री और प्रभाचन्द्र—ज्ञानश्रीने क्षणभंगाध्याय आदि अनेक प्रकरण लिखे हैं। उदयनाचार्यने

१. देखो, तत्त्वसंग्रहकी प्रस्तावना, पृ० Xovi

२. देखो, वादन्यायका परिशिष्ट।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने आत्मतत्त्वविवेकमें ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्यायका नामोल्लेखपूर्वक आनुपूर्वीसे खण्डन किया है। उदयनाचार्यने अपनी लक्षणावली तर्कम्बरांक ( ९०६ ) शक, ई० ९८४ में समाप्त की थी। अतः ज्ञानश्रीका समय ई० ९८४ से पहिले तो होना ही चाहिये। भिक्षु राहुल सांकृत्यायनजीके नोट्स देखनेसे ज्ञात हुआ है कि—ज्ञानश्रीके क्षणभंगाध्याय या अपोहसिद्धि(?)के प्रारम्भमें यह कारिका है—

"अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते।"

विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें भी यह कारिका उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने भी अपोहवादके पूर्वपक्षमें "अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां" कारिका उद्धृत की है। वाचस्पतिमिश्र ( ई० ८४१ ) के ग्रन्थोंमें ज्ञानश्रीकी समालोचना नहीं है पर उदयनाचार्य ( ई० ९८४ ) के ग्रन्थोंमें है, इसलिए भी ज्ञानश्रीका समय ईसाकी १०वीं शताब्दीके बाद तो नहीं जा सकता।

जयसिंहराशिभट्ट और प्रभाचन्द्र—भट्ट श्री जयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ गायकवाड सीरीजमें प्रकाशित हुआ है। इनका समय ईसाकी ८वीं शताब्दी है। तत्त्वोपप्लवग्रन्थमें प्रमाण-प्रमेय आदि सभी तत्त्वोंका बहुविध विकल्पजालसे खण्डन किया गया है। आ० विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम तत्त्वोपप्लववादीका पूर्वपक्ष देखा जाता है। प्रभाचन्द्रने संशयज्ञानका पूर्वपक्ष तथा बाधकज्ञानका पूर्वपक्ष तत्त्वोपप्लव ग्रन्थसे ही किया है और उसका उतने ही विकल्पों द्वारा खण्डन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ६४८ ) में 'तत्त्वोपप्लववादि' का दृष्टान्त भी दिया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ३३९ ) में भी तत्त्वोपप्लववादिका दृष्टान्त पाया जाता है। तात्पर्य यह कि परमतके खण्डनमें क्वचित् तत्त्वोपप्लववादिकृत विकल्पोंका उपयोग कर लेनेपर भी प्रभाचन्द्रने स्थान-स्थानपर तत्त्वोपप्लववादिके विकल्पोंकी भी समीक्षा की है।

कुन्दकुन्द और प्रभाचन्द्र—दिगम्बर आचार्योंमें आ० कुन्दकुन्दका विशिष्ट स्थान है। इनके सारत्रय—प्रवचनसार, पञ्चास्तिकायसमयसार और समयसार—के सिवाय बारसअणुवेक्खा अष्टपाहुड आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें इनका समय ईसाकी प्रथमशताब्दी सिद्ध किया है। कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुड ( गा० ३७ ) में केवलीको आहार और निहारसे रहित बताकर कवलाहारका निषेध किया है। सूत्रप्राभृत ( गा० २३–३६ ) में स्त्रीको प्रव्रज्याका निषेध करके स्त्रीमुक्तिका निरास किया है। कुन्दकुन्दके इस मूलमार्गका दार्शनिकरूप हम प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें केवलिकवलाहारवाद तथा स्त्रीमुक्तिवादके रूपमें पाते हैं। यद्यपि शाकटायनने अपने केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंमें दिगम्बरोंकी मान्यताका विस्तृत खण्डन किया है; जिससे ज्ञात होता है कि शाकटायनके सामने दिगम्बराचार्योंका उक्त सिद्धान्तद्वयका समर्थक विकसित साहित्य रहा है। पर आज हमारे सामने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ ही इन दोनों मान्यताओंके समर्थकरूपमें समुपस्थित हैं। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रवचनसारकी 'जियदु य मरदु य' गाथा, भावपाहुडकी 'एगो मे सस्सदो' गाथा, तथा प्रा० सिद्धभक्तिकी 'पुंवेदं वेदन्ता' गाथा उद्धृत की है। प्राकृत दशभक्तियाँ भी कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं।

समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र—आद्यस्तुतिकार स्वामि समन्तभद्राचार्यके बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है। किन्हीं विद्वानोंका विचार है कि इनका समय विक्रमकी पाँचवीं या छठवीं शताब्दी होना चाहिये। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रसे "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः" "मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्" "तदेव च स्यान्न तदेव" इत्यादि श्लोक उद्धृत किए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाका उपसंहार करते हुए यह श्लोक लिखा है कि—

"श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥ १२३ ॥"

अर्थात् तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रसे दीप्तरत्नोंके उद्भवके प्रोत्थानारम्भकाल—प्रारम्भिक समय-में, शास्त्रकारने, पापोंका नाश करनेके लिए, मोक्षके पथको बतानेवाला, तीर्थस्वरूप जो स्तवन किया था और जिस स्तवनकी स्वामीने मीमांसा की है, उसीका विद्यानन्दने अपनी स्वल्पशक्तिके अनुसार सत्यवाक्य और सत्यार्थकी सिद्धिके लिए विवेचन किया है। अथवा, जो दीप्तरत्नोंके उद्भव—उत्पत्तिका स्थान है उस अद्भुत सलिलनिधिके समान तत्त्वार्थशास्त्रके प्रोत्थानारम्भकाल—उत्पत्तिका निमित्त बताते समय या प्रोत्थान-उत्थानिका भूमिका बाँधनेके प्रारम्भिक समयमें शास्त्रकारने जो मंगलस्तोत्र रचा और जिस स्तोत्रमें वर्णित आप्तकी स्वामीने मीमांसा की उसीकी मैं ( विद्यानन्द ) परीक्षा कर रहा हूँ।

वे इस श्लोकमें स्पष्ट सूचित करते हैं कि स्वामी समन्तभद्रने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोकमें वर्णित जिस आप्तकी मीमांसा की है उसी आप्तकी मैंने परीक्षा की है। वह मंगलस्तोत्र तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रसे दीप्त रत्नोंके उद्भवके प्रारम्भिक समयमें या तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बताते समय शास्त्रकारने बनाया था। यह तत्त्वार्थशास्त्र यदि तत्त्वार्थसूत्र है तो उसका मंथन करके रत्नोंके निकालने-वाले या उसकी उत्थानिका बाँधनेवाले—उसकी उत्पत्तिका निमित्त बतानेवाले आचार्य पूज्यपाद हैं। यह 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक स्वयं सूत्रकारका तो नहीं मालूम होता, क्योंकि पूज्यपाद, भट्टाकलङ्कदेव और विद्यानन्दने सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें इसका व्याख्यान नहीं किया है। यदि विद्यानन्द इसे सूत्रकारकृत ही मानते होते तो वे अवश्य ही श्लोकवार्तिकमें उसका व्याख्यान करते। परन्तु यही विद्यानन्द आप्तपरीक्षा ( पृ० ३ ) के प्रारम्भमें इसी श्लोकको सूत्रकारकृत भी लिखते हैं। यथा—

"किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते—मोक्षमार्गस्य नेतारं'''' इस पंक्तिमें यही श्लोक सूत्रकारकृत कहा गया है। किन्तु विद्यानन्दकी शैलीका ध्यानसे समीक्षण करनेपर यह स्पष्टरूपसे विदित हो जाता है कि वे अपने ग्रन्थोंमें किसी भी पूर्वाचार्यको सूत्रकार और किसी भी पूर्वग्रंथको सूत्र लिखते हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ( पृ० १८४ ) में वे अकलंकदेवका सूत्रकार शब्दसे तथा राजवार्तिकका सूत्र शब्दसे उल्लेख करते हैं—"तेन इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्' इत्येतत्सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः, प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्म-वेदनम् ॥ ४ ॥ सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलंकावबोधने" इस अवतरणमें 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' वाक्य राज-वार्तिक ( पृ० ३८ ) का है तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं' श्लोक न्यायविनिश्चय ( श्लो० ३ ) का है। अतः मात्र सूत्रकारके नामसे 'मोक्षमार्गस्य नेतारं" श्लोकको उद्धृत करनेके कारण हम 'विद्यानन्दका झुकाव इसे मूल सूत्रकारकृत माननेकी ओर है' यह नहीं समझ सकते। अन्यथा वे इसका व्याख्यान श्लोकवार्तिकमें अवश्य करते। अतः इस पंक्तिमें सूत्रकार शब्दसे भी इद्धरत्नोंके उद्भवकर्ता या तत्त्वार्थशास्त्रकी भूमिका बाँधनेवाले आचार्यका ही ग्रहण करना चाहिए। आप्तपरीक्षाके—

"इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं कुविवादनिवृत्तये ॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस अनुष्टुप् श्लोकमें तत्त्वार्थशास्त्रादौ पद 'प्रोत्थानारम्भकाले' पदके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। ३२ अक्षरवाले इस संक्षिप्त श्लोकमें इससे अधिककी गुंजाइश ही नहीं है। 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक वस्तुतः सर्वार्थसिद्धिका ही मंगल-श्लोक है। यदि पूज्यपाद स्वयं भी इसे सूत्रकारकृत मानते होते तो उनके द्वारा उसका व्याख्यान सर्वार्थसिद्धिमें अवश्य किया जाता। और जब समन्तभद्रने इसी श्लोकके ऊपर अपनी आप्त-मीमांसा बनाई है, जैसा कि विद्यानन्दका उल्लेख[1] है, तो समन्तभद्र कमसे कम पूज्यपादके समकालीन तो सिद्ध होते ही हैं। पं० सुखलालजीका यह तर्क कि—"यदि समन्तभद्र पूज्यपादके प्राक्कालीन होते तो वे अपने इस युगप्रधान आचार्यकी आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृतिका उल्लेख किए बिना नहीं रहते" हृदयको लगता है। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाणोंसे किसी आचार्यके समयका स्वतन्त्र भावसे साधन बाधन नहीं होता फिर भी विचारकी एक स्पष्ट कोटि तो उपस्थित हो ही जाती है। और जब विद्यानन्दके उल्लेखोंके प्रकाशमें इसका विचार करते हैं तब यह पर्याप्त पुष्ट मालूम होता है। समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित "विरूपकार्यारम्भाय" आदि कारिकाओंके पूर्वपक्षोंकी समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने संभवतः दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्धदर्शनकी इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती।

हेतुबिन्दुके अर्चटकृत विवरणमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी "द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः" कारिकाके खंडन करनेवाले ३०–३५ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। ये श्लोक दुर्वेकमिश्रकी हेतुबिन्दुटीकानुटीकाके लेखानुसार स्वयं अर्चटने ही बनाए हैं। अर्चटका समय ९वीं सदी है। कुमारिलके मीमांसाश्लोक-वार्तिकमें समन्तभद्रकी "घटमौलिसुवर्णार्थी" कारिकासे समानता रखनेवाले निम्न श्लोक पाये जाते हैं—

"वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता॥"

—मी० श्लो०, पृ० ६१९

कुमारिलका समय ईसाकी ७वीं सदी है। अतः समन्तभद्रकी उत्तरावधि सातवीं सदी मानी जा सकती है। पूर्वावधिका नियामक प्रमाण दिग्नागका समय होना चाहिए। इस तरह समन्तभद्रका समय ईसाकी ५वीं और सातवीं शताब्दीका मध्यभाग अधिक संभव है। यदि विद्यानन्दके उल्लेखमें ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो समन्तभद्रकी स्थिति पूज्यपादके बाद या समसमयमें होनी चाहिए।

पूज्यपादके जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत प्राचीनसूत्रपाठमें "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" सूत्र पाया जाता है। इस सूत्रमें यदि इन्हीं समन्तभद्रका निर्देश है तो इसका निर्वाह समन्तभद्रको पूज्यपादका समकालीन-वृद्ध मानकर भी किया जा सकता है।

१. आ० विद्यानन्द अष्टसहस्रीके मंगलश्लोकमें भी लिखते हैं कि—
"शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयाऽस्य॥
अर्थात्—शास्त्र तत्त्वार्थशास्त्रके अवतार—अवतरणिका—भूमिकाके समय रची गई स्तुतिमें वर्णित आप्तकी मीमांसा करनेवाले आप्तमीमांसा नामक ग्रन्थका व्याख्यान किया जाता है। यहाँ 'शास्त्रावतार-रचितस्तुति' पद आप्तपरीक्षाके 'प्रोत्थानारम्भकाल' पदका समानार्थक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र—आ० देवनन्दिका अपर नाम पूज्यपाद था। ये विक्रमकी पाँचवीं और छठीं सदीके ख्यात आचार्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिपर [1]तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण नामकी लघुवृत्ति लिखी है। इसके सिवाय इन्होंने जैनेन्द्रव्याकरणपर शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास लिखा है। पूज्यपादकी संस्कृत सिद्धभक्तिसे 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' पद भी न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें जहाँ कहीं भी व्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण देनेकी आवश्यकता हुई है वहाँ प्रायः जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए गए हैं।

धनञ्जय और प्रभाचन्द्र—'संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास' के लेखकद्वयने धनञ्जयका समय ई० १२वें शतकका मध्य निर्धारित किया है ( पृ० १७३ )। और अपने इस मतकी पुष्टिके लिए के० बी० पाठक महाशयका यह मत भी उद्धृत किया है कि—"धनञ्जयने द्विसन्धानमहाकाव्यकी रचना ई० ११२३ और ११४० के मध्यमें की है।" डॉ० पाठक और उक्त इतिहासके लेखकद्वय अन्य कई जैन कवियोंके समय निर्धारणकी भाँति धनञ्जयके समयमें भी भ्रान्ति कर बैठे हैं। क्योंकि विचार करनेसे धनञ्जयका समय ईसाकी ८वीं सदीका अन्त और नवींका प्रारम्भिक भाग सिद्ध होता है—

१—जल्हण ( ई० द्वादशशतक ) विरचित सूक्तिमुक्तावलीमें राजशेखरके नामसे धनञ्जयकी प्रशंसामें निम्नलिखित पद्य उद्धृत है—

"द्विसन्धाने निपुणतां सतां चक्रे धनञ्जयः।
यया जातं फलं तस्य स तां चक्रे धनञ्जयः॥"

इस पद्यमें राजशेखरने धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका मनोमुग्धकर सरणिसे निर्देश किया है। संस्कृत साहित्यके इतिहासके लेखकद्वय लिखते हैं कि—"यह राजशेखर प्रबन्धकोशका कर्ता जैन राजशेखर है। यह राजशेखर ई० १३४८ में विद्यमान था।" आश्चर्य है कि १२वीं शताब्दीके विद्वान् जल्हणके द्वारा विरचित ग्रन्थमें उल्लिखित होनेवाले राजशेखरको लेखकद्वय १४वीं शताब्दीका जैन राजशेखर बताते हैं। यह तो मोटी बात है कि १२वीं शताब्दीके जल्हणने १४वीं शताब्दीके जैन राजशेखरका उल्लेख न करके १०वीं शताब्दीके प्रसिद्ध काव्यमीमांसाकार राजशेखरका ही उल्लेख किया है। इस उल्लेखसे धनञ्जयका समय ९वीं शताब्दीके अन्तिम भागके बाद तो किसी भी तरह नहीं जाता। ई० ९६० में विरचित सोमदेवके यशस्तिलक चम्पूमें राजशेखरका उल्लेख होनेसे इनका समय करीब ई० ९१० ठहरता है।

२—वादिराजसूरि अपने पार्श्वनाथचरित ( पृ० ४ ) में धनञ्जयकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

"अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः।
बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्थेव प्रियाः कथम्॥"

इस श्लिष्ट श्लोकमें 'अनेकभेदसन्धानाः' पदसे धनञ्जयके 'द्विसन्धानकाव्य' का उल्लेख बड़ी कुशलतासे किया गया है। वादिराजसूरिने पार्श्वनाथचरित ९४७ शक ( ई० १०२५ ) में समाप्त किया था। अतः धनञ्जयका समय ई० १०वीं शताब्दीके बाद तो किसी भी तरह नहीं जा सकता।

३—आ० वीरसेनने अपनी धवलाटीका[2] ( अमरावतीकी प्रति, पृ० ३८७ ) में धनञ्जयको अनेकार्थनाममालाका निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

१. देखो, अनेकान्त वर्ष १, पृ० १९७। प्रेमीजी सूचित करते हैं कि इसकी प्रति बंबईके ऐलक पन्नालाल-सरस्वती भवनमें मौजूद है।

२. देखो, धवलटीका प्रथम भागकी प्रस्तावना, पृ० ६२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"हेतावेवं प्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये।
प्रादुर्भावे समाप्तौ च इतिशब्दं विदुर्बुधाः॥"

आ० वीरसेनने धवलाटीकाकी समाप्ति शक ७३८ ( ई० ८१६ ) में की थी। श्रीमान् प्रेमीजीने बनारसीविलासकी उत्थानिकामें लिखा है कि "ध्वन्यालोकके कर्त्ता आनन्दवर्धन, हरचरित्रके कर्त्ता रत्नाकर और जल्हणने धनञ्जयकी स्तुति की है।" संस्कृत साहित्यके संक्षिप्त इतिहासमें आनन्दवर्धनका समय ई० ८४०–७०, एवं रत्नाकरका समय ई० ८५० तक निर्धारित किया है। अतः धनञ्जयका समय ८वीं शताब्दीका उत्तरभाग और नवीं शताब्दीका पूर्वभाग सुनिश्चित होता है। धनञ्जयने अपनी नाममालाके—

"प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥"

इस श्लोकमें अकलङ्कदेवका नाम लिया है। अकलङ्कदेव ईसाकी ८वीं सदीके आचार्य हैं अतः धनञ्जयका समय ८वीं सदीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सुसंगत है। आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ४०२ ) में धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका उल्लेख किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें इसी स्थलपर द्विसन्धानकी जगह त्रिसन्धान नाम लिया गया है।

रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र—रविभद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्याचार्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका समुपलब्ध है। ये अकलङ्कके प्रकरणोंके तलद्रष्टा, विवेचयिता, व्याख्याता और मर्मज्ञ थे। प्रभाचन्द्रने इनकी उक्तियोंसे ही दुरवगाह अकलङ्कवाङ्मयका सुष्ठु अभ्यास और विवेचन किया था। प्रभाचन्द्र अनन्तवीर्यके प्रति अपनी कृतज्ञताका भाव न्यायकुमुदचन्द्रमें एकाधिक बार प्रदर्शित करते हैं। इनकी सिद्धिविनिश्चयटीका अकलंकवाङ्मयके टीकासाहित्यका शिरोरत्न है। उसमें सैकड़ों मतमतान्तरोंका उल्लेख करके उनका सविस्तर निरास किया गया है। इस टीकामें धर्मकीर्ति, अर्चट धर्मोत्तर, प्रज्ञाकरगुप्त, आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध धर्मकीर्तिसाहित्यके व्याख्याकारोंके मत उनके ग्रन्थोंके लम्बे-लम्बे अवतरण देकर उद्धृत किए गए हैं। यह टीका प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंपर अपना विचित्र प्रभाव रखती है। शान्तिसूरिने अपनी जैनतर्कवार्तिकवृत्ति ( पृ० ९८ ) में 'एके अनन्तवीर्यादयः' पदसे संभवतः इन्हीं अनन्तवीर्यके मतका उल्लेख किया है।

विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र—आ० विद्यानन्दका जैनतार्किकोंमें अपना विशिष्ट स्थान है। इनकी श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनटीका आदि तार्किककृतियाँ इनके अतुल तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख अध्ययनका पदे-पदे अनुभव कराती हैं। इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय आदि नहीं दिया है। आ० प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र दोनों ही प्रमुखग्रन्थोंपर विद्यानन्दकी कृतियोंकी सुनिश्चित अमिट छाप है। प्रभाचन्द्रको विद्यानन्दके ग्रन्थोंका अनूठा अभ्यास था। उनकी शब्दरचना भी विद्यानन्दकी शब्दभंगीसे पूरी तरह प्रभावित है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथमपरिच्छेदके अन्तमें—

"विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्"

इस श्लोकांशमें श्लिष्टरूपसे विद्यानन्दका नाम लिया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें पत्रपरीक्षासे पत्रका लक्षण तथा अन्य एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है। अतः विद्यानन्दके ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके लिए उपजीव्य निर्विवादरूपसे सिद्ध हो जाते हैं।

आ० विद्यानन्द अपने आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें 'सत्यवाक्यार्थसिद्धयै' 'सत्यवाक्याधिपाः' विशेषणसे तत्कालीन राजाका नाम भी प्रकारान्तरसे सूचित करते हैं। बाबू कामताप्रसादजी ( जैनसिद्धान्तभास्कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाग ३, किरण ३, पृ० ८७ ) लिखते हैं कि—"बहुत संभव है कि उन्होंने गंगवाड़ि प्रदेशमें बहुवास किया हो, क्योंकि गंगवाड़ि प्रदेशके राजा राजमल्लने भी गंगवंशमें होनेवाले राजाओंमें सर्वप्रथम 'सत्यवाक्य' उपाधि या अपरनाम धारण किया था। उपर्युक्त श्लोकोंमें यह संभव है कि विद्यानन्दजीने अपने समयके इस राजाके 'सत्यवाक्याधिप' नामको ध्वनित किया हो। युक्त्यनुशासनालंकारमें उपर्युक्त श्लोक प्रशस्ति रूप है और उसमें रचयिता द्वारा अपना नाम और समय सूचित होना ही चाहिए। समयके लिए तत्कालीन राजाका नाम ध्वनित करना पर्याप्त है। राजमल सत्यवाक्य विजयादित्यका लड़का था और वह सन् ८१६ के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। उनका समय भी विद्यानन्दके अनुकूल है। युक्त्यनुशासनालङ्कारके अन्तिम श्लोकके "प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः श्रीसत्यवाक्याधिपैः" इस अंशमें सत्यवाक्याधिप और विजय दोनों शब्द हैं, जिनसे गंगराज सत्यवाक्य और उसके पिता विजयादित्यका नाम ध्वनित होता है।" इस अवतरणसे यह सुनिश्चित हो जाता है कि विद्यानन्दने अपनी कृतियाँ राजमल सत्यवाक्य ( ८१६ ई० ) के राज्यकालमें बनाई हैं। आ० विद्यानन्दने सर्वप्रथम अपना तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ बनाया है, तदुपरान्त अष्टसहस्री और विद्यानन्दमहोदय, इसके अनन्तर आपने आप्तपरीक्षा आदि परीक्षान्तनामवाले लघु प्रकरण तथा युक्त्यनुशासनटीका; क्योंकि अष्टसहस्रीमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका तथा आप्तपरीक्षा आदिमें अष्टसहस्री और विद्यानन्दमहोदयका उल्लेख पाया जाता है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीमें, जो उनकी आद्य रचनाएँ हैं, 'सत्यवाक्य' नाम नहीं लिया है, पर आप्तपरीक्षा आदिमें 'सत्यवाक्य' नाम लिया है। अतः मालूम होता है कि विद्यानन्द श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीको सत्यवाक्यके राज्यसिंहासनासीन होनेके पहिले ही बना चुके होंगे। विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें मंडनमिश्रके मतका खंडन है और अष्टसहस्रीमें सुरेश्वरके सम्बन्धवार्तिकसे ३।४ कारिकाएँ भी उद्धृत की गई हैं। मंडनमिश्र और सुरेश्वरका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग माना जाता है। अतः विद्यानन्दका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सयुक्तिक मालूम होता है। प्रभाचन्द्रके सामने इनकी समस्त रचनाएँ रही हैं। तत्त्वोपप्लववादका खंडन तो विद्यानन्दको अष्टसहस्रीमें ही विस्तारसे मिलता है, जिसे प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है। इसी तरह अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिकमें पाई जानेवाली भावना विधि नियोगके विचारकी दुरवगाह चर्चा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रसन्नरूपसे अवतीर्ण हुई है। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २०६) में न्यायदर्शनके 'पूर्ववत्' आदि अनुमानसूत्रका निरास करते समय केवल भाष्यकार और वार्तिककारका ही मत पूर्वपक्ष रूपसे उपस्थित किया है। वे न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकारके अभिप्रायको अपने पूर्वपक्षमें शामिल नहीं करते। वाचस्पतिमिश्रने तात्पर्यटीका ई० ८४१ के लगभग बनाई थी। इससे भी विद्यानन्दके उक्त समयकी पुष्टि होती है। यदि विद्यानन्दका ग्रन्थरचनाकाल ई० ८४१ के बाद होता तो वे तात्पर्यटीका उल्लेख किये बिना न रहते।

अनन्तकीर्ति और प्रभाचन्द्र—लघीयस्त्रयादि संग्रहमें अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण मुद्रित हैं। लघीयस्त्रयादिसंग्रहकी प्रस्तावनामें पं० नाथूरामजी प्रेमीने इन अनन्तकीर्तिके समयकी उत्तरावधि विक्रम संवत् १०८२ के पहिले निर्धारित की है, और इस समयके समर्थनमें वादिराजके पार्श्वनाथचरितका यह श्लोक उद्धृत किया है—

"आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता।
अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गेव लक्ष्यते॥"

वादिराजने पार्श्वनाथचरितकी रचना विक्रम संवत् १०८२ में की थी। संभव तो यह है कि इन्हीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनन्तकीर्तिने जीवसिद्धिकी तरह लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थ बनाये हों। सिद्धिविनिश्चय-टीकामें अनन्तवीर्यने भी एक अनन्तकीर्तिका उल्लेख किया है। यदि पार्श्वनाथचरितमें स्मृत अनन्तकीर्ति और सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित अनन्तकीर्ति एक ही व्यक्ति हैं तो मानना होगा कि इनका समय प्रभाचन्द्रके समयसे पहिले है; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धिविनिश्चयटीकाकार अनन्तवीर्यका सबहुमान स्मरण किया है। अस्तु। अनन्तकीर्तिके लघुसर्वज्ञसिद्धि तथा बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थोंका और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणोंका आभ्यन्तर परीक्षण यह स्पष्ट बताता है कि इन ग्रन्थोंमें एक-का दूसरेके ऊपर पूरा-पूरा प्रभाव है।

बृहत्सर्वज्ञसिद्धि—( पृ० १८१ से २०४ तक ) के अन्तिम पृष्ठ तो कुछ थोड़ेसे हेरफेरसे न्यायकुमुद-चन्द्र ( पृ० ८३८ से ८४७ ) के मुक्तिवाद प्रकरणके साथ अपूर्व सादृश्य रखते हैं। इन्हें पढ़कर कोई भी साधारण व्यक्ति कह सकता है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेका पुस्तक सामने रखकर अनुसरण किया है। मेरा तो यह विश्वास है कि अनन्तकीर्तिकृत बृहत्सर्वज्ञसिद्धिका ही न्यायकुमुदचन्द्रपर प्रभाव है। उदाहरणार्थ—

किन्तु अज्ञो जनः दुःखाननुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिक-मुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्तते। उक्तञ्च—तदात्वसुखसंज्ञेषु भावे-ष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ॥—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८४२।

"किन्त्वतज्ज्ञो जनो दुःखाननुषक्तसुखसाधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् संसारान्तःपतितेषु दुःखानुषक्तसुख-साधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्त्र्यादिकं परित्यज्य आत्मस्नेहादात्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादि-कमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु आतुरस्तादात्विकसुखसाधनं दध्यादिकं परित्यज्य पेयादावारोग्यसाधने प्रवर्तते। तथा च कस्यचिद्विद्वुषः सुभाषितम्—तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परी-क्षकाः ॥"—बृहत्सर्वज्ञसिद्धि, पृ० १८१।

इस तरह यह समूचा ही प्रकरण इसी प्रकारके शब्दानुसरणसे ओतप्रोत है।

शाकटायन और प्रभाचन्द्र—राष्ट्रकूटवंशीय राजा अमोघवर्षके राज्यकाल ( ईस्वी ८१४-८७७ ) में शाकटायन नामके प्रसिद्ध वैयाकरण हो गए हैं। ये [1]यापनीय संघके आचार्य थे। यापनीयसंघका बाह्य आचार बहुत कुछ दिगम्बरोंसे मिलता जुलता था। ये नग्न रहते थे। श्वेताम्बर आगमोंको आदरकी दृष्टिसे देखते थे। आ० शाकटायनने अमोघवर्षके नामसे अपने शाकटायनव्याकरणपर 'अमोघवृत्ति' नामकी टीका बनाई थी। अतः इनका समय भी लगभग ई० ८०० से ८७५ तक समझना चाहिए। यापनीयसंघके अनुयायी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी कुछ-कुछ बातोंको स्वीकार करते थे। एक तरहसे यह संघ दोनों सम्प्रदायों-के जोड़नेके लिए शृंखलाका कार्य करता था। आचार्य मलयगिरिने अपनी नन्दीसूत्रकी टीका ( पृ० १५ ) में शाकटायनको 'यापनीययतिग्रामाग्रणी' लिखा है—"शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणीः स्वोपज्ञशब्दानु-शासनवृत्तौ"। शाकटायन आचार्यने अपनी अमोघवृत्तिमें छेदसूत्र निर्युक्ति कालिकसूत्र आदि श्वे० ग्रन्थोंका

१. देखो—पं० नाथूरामप्रेमीका 'यापनीय साहित्यकी खोज' ( अनेकान्त वर्ष ३, किरण १ ) तथा प्रो० ए० एन्० उपाध्यायका 'यापनीयसंघ' ( जैनदर्शन वर्ष ४, अंक ७ ) लेख।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़े आदरसे उल्लेख किया है। आचार्य शाकटायनने केवलिकवलाहार तथा स्त्रीमुक्तिके समर्थनके लिए स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति नामके दो प्रकरण बनाए हैं[1]। दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके परस्पर विलगावमें ये दोनों सिद्धान्त ही मुख्य माने जाते हैं। यों तो दिगम्बर ग्रन्थोंमें कुन्दकुन्दाचार्य, पूज्यपाद आदिके ग्रन्थोंमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका सूत्ररूपसे निरसन किया गया है, परन्तु इन्हीं विषयोंके पूर्वोत्तरपक्ष स्थापित करके शास्त्रार्थका रूप आ० प्रभाचन्द्रने ही अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिया है। श्वेताम्बरोंके तर्कसाहित्यमें हम सर्वप्रथम हरिभद्रसूरिकी ललितविस्तरामें स्त्रीमुक्तिका संक्षिप्त समर्थन देखते हैं, परन्तु इन विषयोंको शास्त्रार्थका रूप सन्मतिटीकाकार अभयदेव, उत्तराध्ययन पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरि तथा स्याद्वादरत्नाकरकार वादिदेवसूरिने ही दिया है। पीछे तो यशोविजय उपाध्याय तथा मेघविजयगणि आदिने पर्याप्त साम्प्रदायिक रूपसे इनका विस्तार किया है। इन विवादग्रस्त विषयोंपर लिखे गए उभयपक्षीय साहित्यका ऐतिहासिक तथा तात्त्विक दृष्टिसे सूक्ष्म अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति विषयोंके समर्थनका प्रारम्भ श्वेताम्बर आचार्योंकी अपेक्षा यापनीयसंघवालोंने ही पहिले तथा दिलचस्पीके साथ किया है। इन विषयोंको शास्त्रार्थका रूप देनेवाले प्रभाचन्द्र, अभयदेव तथा शान्तिसूरि करीब-करीब समकालीन तथा समदेशीय थे। परन्तु इन आचार्योंने अपने पक्षके समर्थनमें एक दूसरेका उल्लेख या एक दूसरेकी दलीलोंका साक्षात् खंडन नहीं किया। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका जो विस्तृत पूर्वपक्ष लिखा गया है वह किसी श्वेताम्बर आचार्यके ग्रन्थका न होकर यापनीयाग्रणी शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंसे ही लिया गया है। इन ग्रन्थोंके उत्तरपक्षमें शाकटायनके उक्त दोनों प्रकरणोंकी एक-एक दलीलका शब्दशः पूर्वपक्ष करके सयुक्तिक निरास किया गया है। इसी तरह अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका और शान्तिसूरिकी उत्तराध्ययन पाइयटीका और जैनतर्कवार्तिकमें शाकटायनके इन्हीं प्रकरणोंके आधारसे ही उक्त बातोंका समर्थन किया गया है। हाँ, वादिदेवसूरिके रत्नाकरमें इन मतभेदोंमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सामने-सामने आते हैं। रत्नाकरमें प्रभाचन्द्रकी दलीलें पूर्वपक्ष रूपमें पाई जाती हैं। तात्पर्य यह कि—प्रभाचन्द्रने स्त्रीमुक्तिवाद तथा केवलिकवलाहारवादमें श्वेताम्बर आचार्योंकी बजाय शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंको ही अपने खंडनका प्रधान लक्ष्य बनाया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८६९) के पूर्वपक्षमें शाकटायनके स्त्रीमुक्ति प्रकरणकी यह कारिका भी प्रमाण रूपसे उद्धृत की गई है—

"गार्हस्थ्येऽपि सुमत्त्वा विख्याताः शीलवत्तया जगति।
सीतादयः कथं तास्तपसि विशीला विसत्त्वाश्च ॥—स्त्रीमु० श्लो० ३१

अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र—जैनेन्द्रव्याकरणपर आ० अभयनन्दिकृत महावृत्ति उपलब्ध है। इसी महावृत्तिके आधारसे प्रभाचन्द्रने 'शब्दाम्भोजभास्कर[2]' नामका जैनेन्द्रव्याकरणका महान्यास बनाया है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी' नामक लेखमें[3] जैनेन्द्रव्याकरणके प्रचलित दो सूत्र पाठोंमेंसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन और पूज्यपादकृत सिद्ध किया है। इसी पुरातनसूत्रपाठपर प्रभाचन्द्रने अपना न्यास बनाया है। प्रेमीजीने अपने उक्त गवेषणापूर्ण लेखमें महावृत्तिकार अभयनन्दिको चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका गुरु बताया है और उनका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वभाग

१. ये प्रकरण जैनसाहित्यसंशोधक खंड २, अंक ३–४ में मुद्रित हुए हैं।
२. इसका परिचय 'प्रभाचन्द्रके ग्रंथ' शीर्षक स्तम्भमें देखना चाहिए।
३. जैन साहित्यसंशोधक भाग १, अंक २।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्धारित किया है। आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु भी यही अभयनन्दि थे। गोम्मटसार कर्मकाण्ड ( गा० ४३६ ) की निम्नलिखित गाथासे भी यही बात पुष्ट होती है—

"जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदवदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं॥"

इस गाथासे तथा कर्मकाण्डकी गाथा नं० ७८४, ८९६ तथा लब्धिसार गाथा ६४८से यह सुनिश्चित हो जाता है[1] कि वीरनन्दिके गुरु अभयनन्दि ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु थे। आ० नेमिचन्द्रने तो वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि तकका गुरुरूपसे स्मरण किया है। इन सब उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि अभयनन्दि, उनके शिष्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि, तथा इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि सभी प्रायः नेमिचन्द्रके समकालीन वृद्ध थे।

वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनन्दिका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शकसंवत् ९४७, ई० १०२५ में पूर्ण हुआ था। अतः वीरनन्दिकी उत्तरावधि ई० १०२५ तो सुनिश्चित है। नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीने गोम्मटसार ग्रन्थ चामुण्डरायके सम्बोधनार्थ बनाया था। चामुण्डराय गंगवंशीय महाराज मारसिंह द्वितीय ( ९७५ ई० ) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। चामुण्डरायने श्रवणबेल्गुलस्थ बाहुबलि गोम्मटेश्वरकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा ई० ९८१ में कराई थी, तथा अपना चामुण्डपुराण ई० ९७८ में समाप्त किया था। अतः आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका समय ई० ९८० के आसपास सुनिश्चित किया जा सकता है। और लगभग यही समय आचार्य अभयनन्दि आदिका होना चाहिए। इन्होंने अपनी महावृत्ति ( लिखित पृ० २२१ ) में भर्तृहरि ( ई० ६५० ) की वाक्यपदीयका उल्लेख किया है। पृ० ३९३ में माघ ( ई० ७वीं सदी ) काव्यसे 'सटाच्छटाभिन्न' श्लोक उद्धृत किया है तथा ३।२।५५ की वृत्तिमें 'तत्त्वार्थवार्तिकमधीयते' प्रयोगसे अकलंकदेव ( ई० ८वीं सदी ) के तत्त्वार्थराजवार्तिकका उल्लेख किया है। अतः इनका समय ९वीं शताब्दीसे पहिले तो नहीं ही है। यदि यही अभयनन्दि जैनेन्द्र महावृत्तिके रचयिता हैं तो कहना होगा कि उन्होंने ई० ९६० के लगभग अपनी महावृत्ति बनाई होगी। इसी महावृत्तिपर ई० १०६० के लगभग आ० प्रभाचन्द्रने अपना शब्दाम्भोजभास्कर न्यास बनाया है; क्योंकि इसकी रचना न्यायकुमुदचन्द्रके बाद की गई है और न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेव ( राज्य १०५६ से ) के राज्यके प्रारम्भकालमें बनाया गया है।

मूलाचारकार और प्रभाचन्द्र—मूलाचार ग्रन्थके कर्त्ताके विषयमें विद्वान् मतभेद रखते हैं। कोई उसे कुन्दकुन्दकृत कहते हैं तो कोई वट्टकेरिकृत। जो हो, पर इतना निश्चित है कि मूलाचारकी सभी गाथाएँ स्वयं उसके कर्त्ताने नहीं रचीं हैं। उसमें अनेकों ऐसी प्राचीन गाथाएँ हैं, जो कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें, भगवती आराधनामें तथा आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और सम्मतितर्क आदिमें भी पाई जाती हैं। संभव है कि गोम्मटसारकी तरह यह भी एक संग्रह ग्रन्थ हो। ऐसे संग्रहग्रन्थोंमें प्राचीन गाथाओंके साथ कुछ संग्रहकार रचित गाथाएँ भी होती हैं। गोम्मटसारमें बहुभाग स्वरचित है जबकि मूलाचारमें स्वरचित गाथाओंका बहुभाग नहीं मालूम होता। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ८४५ ) में "एगो मे सस्सदो" "संजोगमूलं जीवेन" ये दो गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये गाथाएँ मूलाचारमें ( २।४८, ४९ ) दर्ज हैं। इनमें पहिली गाथा कुन्दकुन्दके भावपाहुड तथा नियमसारमें भी पाई जाती है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ३३१ ) में "आचेलक्कुद्देसिय" आदि गाथांश दशविध स्थितिकल्पका निर्देश करनेके लिए उद्धृत है। यह गाथा मूला-

१. देखो, त्रिलोकसारकी प्रस्तावना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार ( गाथा नं० ९०९ ) में तथा भगवतीआराधनामें ( गाथा ४२१ ) विद्यमान है। यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि प्रभाचन्द्रने इस गाथाको श्वेताम्बर आगममें आचेलक्यके समर्थनका प्रमाण बतानेके लिए श्वेताम्बर आगमके रूपमें उद्धृत किया है। यह गाथा जीतकल्पभाष्य ( गा० १९७२ ) में पाई जाती है। गाथाओंकी इस संक्रान्त स्थितिको देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि—कुछ प्राचीन गाथाएँ परम्परासे चली आई हैं, जिन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है।

नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती और प्रभाचन्द्र—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती वीरसेनापति श्री चामुण्डरायके समकालीन थे। चामुण्डराय गंगवंशीय महाराज मारसिंह द्वितीय ( ९७५ ई० ) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। इन्हींके राज्यकालमें चामुण्डरायने गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठा ( सन् ९८१ ) कराई थी। आ० नेमिचन्द्रने इन्हीं चामुण्डरायको सिद्धान्त परिज्ञान करानेके लिए गोम्मटसार ग्रन्थ बनाया था। यह ग्रन्थ प्राचीन सिद्धान्तग्रन्थोंका संक्षिप्त संस्करण है। न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० २५४ ) में 'लोयायासपएसे' गाथा उद्धृत है। यह गाथा जीवकांड तथा द्रव्यसंग्रहमें पाई जाती है। अतः आपाततः यही निष्कर्ष निकल सकता है[1] कि यह गाथा प्रभाचन्द्रने जीवकांड या द्रव्यसंग्रहसे उद्धृत की होगी; परन्तु अन्वेषण करनेपर मालूम हुआ कि यह गाथा बहुत प्राचीन है और सर्वार्थसिद्धि ( ५।३९ ) तथा श्लोकवार्तिक ( पृ० ३९९ ) में भी यह उद्धृत की गई है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ३०० ) में 'विग्गहगइमावण्णा' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा भी जीवकांडमें है। परन्तु यह गाथा भी वस्तुतः प्राचीन है और धवला-टीका तथा उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमें मौजूद है।

प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र—रविभद्रके शिष्य अनन्तवीर्य आचार्य, अकलंक-के प्रकरणोंके ख्यात टीकाकार विद्वान् थे। प्रमेयरत्नमालाके टीकाकार अनन्तवीर्य उनसे पृथक् व्यक्ति हैं; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रथम अनन्तवीर्यका स्मरण किया है, और द्वितीय अनन्तवीर्य अपनी प्रमेयरत्नमालामें इन्हीं प्रभाचन्द्रका स्मरण करते हैं। वे लिखते हैं[2] कि प्रभाचन्द्र-के वचनोंको ही संक्षिप्त करके यह प्रमेयरत्नमाला बनाई जा रही है। प्रो० ए० एन० उपाध्यायने[3] प्रमेय-रत्नमालाकार अनन्तवीर्यके समयका अनुमान ग्यारहवीं सदी किया है, जो उपयुक्त है। क्योंकि आ० हेमचन्द्र ( १०८८-११७३ ई० ) की प्रमाणमीमांसापर शब्द और अर्थ दोनों दृष्टिसे प्रमेयरत्नमालाका पूरा-पूरा प्रभाव है। तथा प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका प्रभाव प्रमेयरत्नमालापर है। आ० हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसाने प्रायः प्रमेयरत्नमालाके द्वारा ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डको पाया है।

देवसेन और प्रभाचन्द्र—[4]देवसेन श्रीविमलसेन गणीके शिष्य थे। इन्होंने धारानगरीके पार्श्वनाथ मन्दिरमें माघ सुदी दशमी विक्रमसंवत् ९९० ( ई० ९३३ ) में अपना दर्शनसार ग्रन्थ बनाया था। दर्शन-

---

१. प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथम संस्करणके संपादक पं० बंशीधरजी शास्त्री, सोलापुरने प्रमेयक० की प्रस्ता-वनामें यही निष्कर्ष निकाला भी है।

२. "प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति।
मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः॥
तथापि तद्वचोऽपूर्वरचनारुचिरं सताम्।
चेतोहरं भृतं यद्वन्नद्या नवघटे जलम्॥"

३. देखो, जैनदर्शन वर्ष ४, अंक ९।

४. नयचक्रकी प्रस्तावना, पृ० ११।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारके बाद इन्होंने भावसंग्रह ग्रंथकी रचना की थी; क्योंकि उसमें दर्शनसारकी अनेकों गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं। इनके आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्रसंग्रह तथा आलापपद्धति ग्रन्थ भी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ३०० ) तथा न्यायकुमुदचन्द ( पृ० ८५६ ) के कवलाहारवादमें देवसेनके भावसंग्रह ( गा० ११० ) की यह गाथा उद्धृत की है—

"णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥"

यद्यपि देवसेनसूरिने दर्शनसार ग्रन्थके अन्तमें लिखा है—

"पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण॥
रइयो दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धं माहसुद्धदसमीए॥"

अर्थात् पूर्वाचार्यकृत गाथाओंका संचय करके यह दर्शनसार ग्रन्थ बनाया गया है। तथापि बहुत खोज करनेपर भी यह गाथा किसी प्राचीन ग्रंथमें नहीं मिल सकी है। देवसेन धारानगरीमें ही रहते थे, अतः धारानिवासी प्रभाचन्द्रके द्वारा भावसंग्रहसे भी उक्त गाथाका उद्धृत किया जाना असंभव नहीं है। चूँकि दर्शनसारके बाद भावसंग्रह बनाया गया है, अतः इसका रचनाकाल संभवतः विक्रम संवत् ९९७ (ई० ९४०) के आसपास ही होगा।

श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र—जैनेन्द्रके प्राचीन सूत्रपाठपर आचार्य श्रुतकीर्तिकृत पंचवस्तुप्रक्रिया उपलब्ध है।[1] श्रुतकीर्तिने अपनी प्रक्रियाके अन्तमें श्रीमद्वृत्तिशब्दसे अभयनन्दिकृत महावृत्ति और न्यासशब्दसे संभवतः प्रभाचन्द्रकृत न्यास, दोनोंका ही उल्लेख किया है। यदि न्यासशब्द पूज्यपादके जैनेन्द्रन्यासका निर्देशक हो तो 'टीकामाल' शब्दसे तो प्रभाचन्द्रकी टीकाका उल्लेख किया ही गया है। यथा—

"सूत्रस्तम्भसमुद्भूतं प्रविलसन्न्यासोरुरत्नक्षिति,
श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्यौघशय्यातलम्।
टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमम्,
प्रासादं पृथुपञ्चवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात्॥"

कनडी भाषाके चन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अग्गलकविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बताया है—

"इति परमपुरुनाथकुलभूभृत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिन्नाथश्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिश्रीमदग्गलदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते"। यह चरित्र शक संवत् १०११, ई० १०८९ में बनकर समाप्त हुआ था। अतः श्रुतकीर्तिका समय लगभग १०८० ई० मानना युक्तिसंगत है। इन श्रुतकीर्तिने न्यासको जैनेन्द्र व्याकरण रूपी प्रासादकी रत्नभूमि की उपमा दी है। इससे शब्दाम्भोजभास्करका रचना समय लगभग ई० १०६० समर्थित होता है।

श्वे० आगमसाहित्य और प्रभाचन्द्र—भ० महावीरकी अर्धमागधी दिव्यध्वनिको गणधरोंने द्वादशांगी रूपमें गूंथा था। उस समय उन अर्धमागधी भाषामय द्वादशांग आगमोंकी परम्परा श्रुत और स्मृत रूपमें रही, लिपिबद्ध नहीं थी। इन आगमोंका आखरी संकलन वीर सं० ९८० ( वि० ५१० ) में श्वेता-

१. देखो, प्रेमीजीका 'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्यदेवनन्दी' लेख जैनसा० सं० भाग १, अंक २।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

म्बराचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणने किया था। अंगग्रंथोंके सिवाय कुछ अंगबाह्य या अनंगात्मक श्रुत भी हैं। छेदसूत्र अनंगश्रुतमें शामिल है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ८६८ ) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें कल्पसूत्र ( ५।२० ) से "नो कप्पइ णिग्गंथीए अचेलाए होत्तए" यह सूत्रवाक्य उद्धृत किया है।

तत्त्वार्थभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं। एक तो वह, जिसपर स्वयं वाचक उमास्वातिका स्वोपज्ञभाष्य प्रसिद्ध है, और दूसरा वह जिसपर पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि है। दिगम्बर परम्परामें पूज्यपादसम्मत सूत्रपाठ और श्वेताम्बरपरम्परामें भाष्यसम्मत सूत्रपाठ प्रचलित है। उमास्वातिके स्वोपज्ञभाष्यके कर्तृत्वके विषयमें आजकल विवाद चल रहा है। मुख्तारसा० आदि कुछ विद्वान् भाष्यकी उमास्वातिकर्तृकताके विषयमें सन्दिग्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिगम्बरसूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए हैं। उन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ८५९ ) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें तत्त्वार्थभाष्यको सम्बन्धकारिकाओंमेंसे "श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रसंसिद्धाः" कारिकांश उद्धृत किया है। तत्त्वार्थराजवार्तिक ( पृ० १० ) में भी "अनंताः सामायिकमात्रसिद्धाः" वाक्य उद्धृत मिलता है। इसी तरह तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पाई जानेवाली ३२ कारिकाएँ राजवार्तिकके अन्तमें 'उक्तञ्च' लिखकर उद्धृत हैं। पृ० ३६१ में भाष्यकी 'दग्धे बीजे' कारिका उद्धृत की गई है। इत्यादि प्रमाणोंके आधारसे यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि प्रस्तुत भाष्य अकलङ्कदेवके सामने भी था। उनने इसके कुछ मन्तव्योंकी समीक्षा भी की है।

सिद्धसेन और प्रभाचन्द्र—आ० सिद्धसेनके सन्मतितर्क, न्यायावतार, द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके[1] सन्मतितर्कपर अभयदेवसूरिने विस्तृत व्याख्या लिखी है। डॉ० जैकोबी न्यायावतारके प्रत्यक्ष लक्षणमें अभ्रान्त पद देखकर इनको धर्मकीर्तिका समकालीन, अर्थात् ईसाकी ७वीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं। पं० सुखलाल जी इन्हें विक्रमकी पाँचवीं सदीका विद्वान् सिद्ध करते थे। पर अब उनका विश्वास है कि "सिद्धसेन ईसाकी छठी या सातवीं सदीमें हुए हों और उन्होंने संभवतः धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंको देखा हो[2]।" न्यायावतारकी रचनामें न्यायप्रवेशके साथ ही साथ न्यायबिन्दु भी अपना यत्किञ्चित् स्थान रखता ही है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ४३७ ) में पक्षप्रयोगका समर्थन करते समय 'धानुष्क' का दृष्टान्त दिया है। इसकी तुलना न्यायावतारके श्लोक १४–१६ से भलीभाँति की जा सकती है। न केवल मूलश्लोक से ही, किन्तु इन श्लोकोंकी सिद्धर्षिकृत व्याख्या भी न्यायकुमुदचन्द्रकी शब्दरचनासे तुलनीय है।

धर्मदासगणि और प्रभाचन्द्र—श्वे० आचार्य धर्मदासगणिका उपदेशमाला ग्रन्थ प्राकृतगाथानिबद्ध है। प्रसिद्धि तो यह रही है कि ये महावीरस्वामीके दीक्षित शिष्य थे। पर यह इतिहासविरुद्ध है; क्योंकि इन्होंने अपनी उपदेशमालामें वज्रसूरि आदिके नाम लिए हैं। अस्तु। उपदेशमालापर सिद्धर्षिसूरिकृत प्राचीन टीका उपलब्ध है।[3] सिद्धर्षिने उपमितिभवप्रपञ्चाकथा वि० सं० ९६२ ज्येष्ठ शुद्ध पंचमीके दिन समाप्त की थी। अतः धर्मदासगणिकी उत्तरावधि विक्रमकी ९वीं शताब्दी माननेमें कोई बाधा नहीं है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ३३० ) में उपदेशमाला ( गा० १५ ) की 'वरिससयदिक्खयाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू' इत्यादि गाथा प्रमाणरूपसे उद्धृत की है।

हरिभद्र और प्रभाचन्द्र—आ० हरिभद्र श्वे० सम्प्रदायके युगप्रधान आचार्योंमेंसे हैं। कहा जाता

१. देखो, गुजराती सन्मतितर्क, पृ० ४०।
२. इंग्लिश सन्मतितर्ककी प्रस्तावना।
३. जैनसाहित्यनो इतिहास, पृ० १८६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि इन्होंने १४०० के करीब ग्रन्थोंकी रचना की थी। मुनि श्री जिनविजयजीने अनेक प्रबल प्रमाणोंसे इनका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। मेरा इसमें इतना संशोधन है—कि इनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक होनी चाहिए; क्योंकि जयन्त भट्टकी न्यायमंजरीका 'गम्भीरगर्जितारम्भ' श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयमें शामिल हुआ है। मैं विस्तारसे लिख चुका हूँ कि जयन्तने अपनी मंजरी ई० ८०० के करीब बनाई है अतः हरिभद्रके समयकी उत्तरावधि कुछ और लम्बानी चाहिए। उस युगमें १०० वर्षकी आयु तो साधारणतया अनेक आचार्योंकी देखी गई है। हरिभद्रसूरिके दार्शनिक ग्रन्थोंमें 'षड्दर्शनसमुच्चय' एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका—

"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शब्दश्चोपमया सह।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥ ७३ ॥"

यह श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ५०५ ) में उद्धृत है। यद्यपि इसी भावका एक श्लोक—"प्रत्यक्षमनुमानश्च शाब्दञ्चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षडेते साध्यसाधकाः ॥" इस शब्दावलीके साथ कमलशीलकी तत्त्वसंग्रहपञ्जिका ( पृ० ४५० ) में मिलता है और उससे संभावना की जा सकती है कि जैमिनिकी षट्प्रमाणसंख्याका निदर्शक यह श्लोक किसी जैमिनिमतानुयायी आचार्यके ग्रन्थसे लिया गया होगा। यह संभावना हृदयको लगती भी है। परन्तु जबतक इसका प्रसाधक कोई समर्थ प्रमाण नहीं मिलता तबतक उसे हरिभद्रकृत माननेमें ही लाघव है। और बहुत कुछ संभव है कि प्रभाचन्द्रने इसे षड्दर्शनसमुच्चयसे ही उद्धृत किया हो। हरिभद्रने अपने ग्रन्थोंमें पूर्वपक्षके पल्लवन और उत्तरपक्षके पोषणके लिए अन्यग्रंथकारोंकी कारिकाएँ, पर्याप्त मात्रामें, कहीं उन आचार्योंके नामके साथ और कहीं बिना नाम लिए ही शामिल की हैं। अतः कारिकाओंके विषयमें यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि ये कारिकाएँ हरिभद्रकी स्वरचित हैं या अन्यरचित होकर संगृहीत हैं? इसका एक और उदाहरण यह है कि—

"विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्काराः रूपमेव च।
समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ॥
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः समुदायः स सम्मतः।
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना यका ॥
स मार्ग इति विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते।
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ॥
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च....."

ये चार श्लोक षड्दर्शनसमुच्चयके बौद्धदर्शनमें मौजूद हैं। इसी आनुपूर्वीसे ये ही श्लोक किञ्चित् शब्दभेदके साथ जिनसेनके आदिपुराण ( पर्व ५, श्लोक ४२–४५ ) में भी विद्यमान हैं। रचनासे तो ज्ञात होता है कि ये श्लोक किसी बौद्धाचार्यने बनाए होंगे, और उसी बौद्धग्रन्थसे षड्दर्शनसमुच्चय और आदिपुराणमें पहुँचे हों। हरिभद्र और जिनसेन प्रायः समकालीन हैं, अतः यदि ये श्लोक हरिभद्रके होकर आदिपुराणमें आए हैं तो इसे उस समयके असाम्प्रदायिक भावकी महत्त्वपूर्ण घटना समझनी चाहिए। हरिभद्रने तो शास्त्रवार्तासमुच्चयमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके श्लोक उद्धृतकर अपनी षड्दर्शनसमुच्चायक बुद्धिके प्रेरणा बीजको ही मूर्तरूपमें अंकुरित किया है। यदि न्यायप्रवेशवृत्तिकार हरिभद्र ये ही हरिभद्र हैं तो उस वृत्ति ( पृ० १३ ) में पाई जानेवाली पक्षशब्दकी 'पच्यते व्यक्तीक्रियते योऽर्थः सः पक्षः' इस व्युत्पत्तिकी अस्पष्ट छाया न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ४३८ ) में की गई पक्षकी व्युत्पत्तिपर आभासित होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र—श्रीसिद्धर्षिगणि श्वे० आचार्य दुर्गस्वामीके शिष्य थे। इन्होंने ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी, विक्रम संवत् ९६२ ( १ मई ९०६ ई० ) के दिन उपमितिभवप्रपञ्चा कथा को समाप्ति की थी। सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतारपर भी इनकी एक टीका उपलब्ध है। न्यायावतार ( श्लो० १६ ) में पक्षप्रयोगके समर्थनके प्रसंगमें लिखा है कि—"जिस तरह लक्ष्यनिर्देशके विना अपनी धनुर्विद्याका प्रदर्शन करनेवाले धनुर्धारीके गुण-दोषोंका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता, गुण भी दोषरूपसे तथा दोष भी गुणरूपसे प्रतिभासित हो सकते हैं, उसी तरह पक्षका प्रयोग किए विना साधनवादीके साधन सम्बन्धी गुण-दोष भी विपरीत रूपमें प्रतिभासित हो सकते हैं, प्राश्निक तथा प्रतिवादी आदिको उनका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता।" न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ४३७ ) के 'प्रक्षप्रयोगविचार' प्रकरणमें भी पक्षप्रयोगके समर्थनमें धनुर्धारीका दृष्टान्त दिया गया है। उसकी शब्दरचना तथा भावव्यञ्जनामें न्यायावतारके मूलश्लोकके साथ ही साथ सिद्धर्षिकृत व्याख्याका भी पर्याप्त शब्दसादृश्य पाया जाता है। अवतरणोंके लिए देखो—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ४३७, टि० १।

अभयदेव और प्रभाचन्द्र—चन्द्रगच्छमें प्रद्युम्नसूरि बड़े ख्यात आचार्य थे। अभयदेवसूरि इन्हीं प्रद्युम्नसूरिके शिष्य थे। न्यायवनसिंह और तर्कपञ्चानन इनके विरुद थे। सन्मतितर्ककी गुजराती प्रस्तावना ( पृ० ८३ ) में श्रीमान् पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने इनका समय विक्रमकी दशवीं सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है। उत्तराध्ययनकी पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरिने उत्तराध्ययनटीकाकी प्रशस्तिमें एक अभयदेवको प्रमाणविद्याका गुरु लिखा है। पं० सुखलालजीने शान्तिसूरिके गुरुरूपमें इन्हीं अभयदेवसूरिकी संभावना की है। प्रभावकचरित्रके उल्लेखानुसार शान्तिसूरिका स्वर्गवास वि० सं० १०९६में हुआ था। इन्हीं शान्तिसूरिने धनपालकविकी तिलकमञ्जरी आख्यायिकाका संशोधन किया था, और उसपर एक टिप्पण लिखा था। धनपाल कवि मुञ्ज तथा भोज दोनोंकी राजसभाओंमें सम्मानित हुए थे। इन सब घटनाओंको मद्देनजर रखते हुए अभयदेवसूरिका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके अन्तिम भाग तक मान लेनेमें कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। अभयदेवसूरिकी प्रामाणिकप्रकाण्डताका जीवन्त रूप उनकी सन्मतिटीकामें पद-पदपर मिलता है। इस सुविस्तृत टीकाको 'वादमहार्णव' के नामसे भी प्रसिद्धि रही है।

प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रकी अपेक्षा प्रमेयकमलमार्त्तण्डका अकल्पित सादृश्य इस टीकामें पाया जाता है। अभयदेवसूरिने सन्मतिटीकामें स्त्रीमुक्ति और केवलिकवलाहारका समर्थन किया है। इसमें दी गई दलीलोंमें तथा प्रभाचन्द्रके द्वारा किए गए उक्त वादोंके खण्डनकी युक्तियोंमें परस्पर कोई पूर्वोत्तरपक्षता नहीं देखी जाती। अभयदेव, शान्तिसूरि और प्रभाचन्द्र करीब-करीब समकालीन और समदेशीय थे। इसलिए यह अधिक संभव था कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति जैसे साम्प्रदायिक प्रकरणोंमें एक दूसरेका खंडन करते। पर हम इनके ग्रन्थोंमें परस्पर खंडन नहीं देखते। इसका कारण मेरी समझमें तो यही आता है कि उस समय दिगम्बर आचार्य यापनीयोंके साथ ही इस विषयकी चर्चा करते होंगे। यही कारण है कि जब प्रभाचन्द्रने शाकटायनके स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति प्रकरणोंका ही शब्दशः खंडन किया है तब श्वेताम्बराचार्य अभयदेव और शान्तिसूरिने शाकटायनकी दलीलोंके आधारसे ही अपने ग्रंथोंके उक्त प्रकरण पुष्ट किए हैं। वादिदेवसूरिने अवश्य ही प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंके उक्त प्रकरणोंको पूर्वपक्षमें प्रभाचन्द्रका नाम लेकर उपस्थित किया है।

सन्मतितर्कके सम्पादक श्रीमान् पं० सुखलालजी और बेचरदासजीने सन्मतितर्क प्रथम भाग (पृ० १३) की[1] गुजराती प्रस्तावनामें लिखा है कि—"जो के आ टीकामाँ सैकड़ों दार्शनिकग्रन्थों नु दोहन जणाय छे,

१. गुजराती सन्मतितर्क, पृ० ८४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छतां सामान्यरीते मीमांसककुमारिलभट्टनुं श्लोकवार्तिक, नालन्दाविश्वविद्यालयना आचार्य शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह ऊपरनी कमलशीलकृत पंजिका अने दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड अने न्यायकुमुदचन्द्रोदय विगेरे ग्रन्थोनुं प्रतिबिम्ब मुख्यपणे आ टीकामां छे।" अर्थात् सन्मतितर्कटीकापर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तत्त्वसंग्रहपंजिका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब पड़ा है। सन्मतितर्कके विद्वद्रूप सम्पादकोंकी उक्त बातसे सहमति रखते हुए भी मैं उसमें इतना परिवर्धन और कर देना चाहता हूँ कि—"प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका सन्मतितर्कसे शब्दसादृश्य मात्र साक्षात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होनेके कारण ही नहीं है, किन्तु तीनों ग्रन्थोंके बहुभागमें जो अकल्पित सादृश्य पाया जाता है वह तृतीयराशिमूलक भी है। ये तृतीय राशिके ग्रन्थ हैं—भट्टजयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह, व्योमशिवकी व्योमवती, जयन्तकी न्यायमञ्जरी, शान्तरक्षित और कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रह और उसकी पंजिका तथा विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा आदि प्रकरण। इन्हीं तृतीयराशिके ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब सन्मतिटीका और प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें आया है।" सन्मतितर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि सन्मतितर्कका प्रमेयकमलमार्त्तण्डके साथ ही अधिक शब्दसादृश्य है। न्यायकुमुदचन्द्रमें जहाँ भी यत्किञ्चित् सादृश्य देखा जाता है वह प्रमेयकमलमार्त्तण्डप्रयुक्त ही है साक्षात् नहीं। अर्थात् प्रमेयकमलमार्त्तण्डके जिन प्रकरणोंके जिस सन्दर्भसे सन्मतितर्कका सादृश्य है उन्हीं प्रकरणोंमें न्यायकुमुदचन्द्रसे भी शब्दसादृश्य पाया जाता है। इससे यह तर्कणा की जा सकती है कि—सन्मतितर्ककी रचनाके समय न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना नहीं हो सकी थी। न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेवके राज्यमें सन् १०५७ के आसपास रचा गया था जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्तिसे विदित है। सन्मतितर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी तुलनाके लिए देखो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड प्रथम अध्यायके टिप्पण तथा न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें दिए गए सन्मतिटीकाके अवतरण।

**वादि देवसूरि और प्रभाचन्द्र**—[1]देवसूरि श्रीमुनिचन्द्रसूरिके शिष्य थे। प्रभावकचरित्रके लेखानुसार मुनिचन्द्रने शान्तिसूरिसे प्रमाणविद्याका अध्ययन किया था। ये प्राग्वाटवंशके रत्न थे। इन्होंने वि० सं० ११४३में गुर्जर देशको अपने जन्मसे पूत किया था। ये भडोंच नगरमें ९ वर्षकी अल्पवयमें वि० सं० ११५२में दीक्षित हुए थे तथा वि० सं० ११७४में इन्होंने आचार्यपद पाया था। राजर्षि कुमारपालके राज्यकालमें वि० सं० १२२६में इनका स्वर्गवास हुआ। प्रसिद्ध है कि—वि० सं० ११८१ वैशाख शुद्ध पूर्णिमाके दिन सिद्धराजकी सभामें इनका दिगम्बरवादी कुमुदचन्द्रसे वाद हुआ था और इसी वादमें विजय पानेके कारण देवसूरि वादि देवसूरि कहे जाने लगे थे। इन्होंने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार नामक सूत्र ग्रन्थ तथा इसी सूत्रकी स्याद्वादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुखसूत्रका अपने ढंगसे किया गया दूसरा संस्करण ही है। इन्होंने परीक्षामुखके ६ परिच्छेदोंका विषय ठीक उसी क्रमसे अपने सूत्रके आद्य ६ परिच्छेदोंमें यत्किञ्चित् शब्दभेद तथा अर्थभेदके साथ ग्रथित किया है। परीक्षामुखके अतिरिक्त इसमें नयपरिच्छेद नामक दो परिच्छेद और जोड़ गए हैं। माणिक्यनन्दिके सूत्रोंके सिवाय अकलंकके स्वविवृतियुक्त लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय तथा विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका भी पर्याप्त साहाय्य इस सूत्रग्रन्थमें लिया गया है। इस तरह भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें विशकलित जैन-पदार्थोंका शब्द एवं अर्थदृष्टिसे सुन्दर संकलन इस सूत्रग्रन्थमें हुआ है।

परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामकी विस्तृत व्याख्या है तथा अकलंकदेवके लघीयस्त्रयपर इन्हीं प्रभाचन्द्रका न्यायकुमुदचन्द्र नामका बृहत्काय टीकाग्रन्थ है। प्रभाचन्द्रने इन मूल ग्रंथोंकी

१. देखो, जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० २४८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्याके साथ ही साथ मूलग्रन्थसे सम्बद्ध विषयोंपर विस्तृत लेख भी लिखे हैं। इन लेखोंमें विविध विकल्प-जालोंसे परपक्षका खंडन किया गया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके तीक्ष्ण एवं आह्लादक प्रकाशमें जब हम स्याद्वादरत्नाकरको तुलनात्मक दृष्टिसे देखते हैं तब वादिदेवसूरिकी गुणग्राहिणी संग्रहदृष्टि-की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। इनकी संग्राहक बीजबुद्धि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रसे अर्थ शब्द और भावोंको इतने चेतश्चमत्कारक ढंगसे चुन लेती है कि अकेले स्याद्वादरत्नाकरके पढ़ लेनेसे न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्डका यावद्विषय विशद रीतिसे अवगत हो जाता है। वस्तुतः यह रत्ना-कर उक्त दोनों ग्रंथोंके शब्द-अर्थरत्नोंका सुन्दर आकर ही है। यह रत्नाकर मार्त्तण्डकी अपेक्षा चन्द्र ( न्याय-कुमुदचन्द्र ) से ही अधिक उद्वेलित हुआ है। प्रकरणोंके क्रम और पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षके जमानेकी पद्धतिमें कहीं-कहीं तो न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है कि दोनों ग्रन्थोंकी पाठशुद्धिमें एक दूसरेका मूलप्रतिकी तरह उपयोग किया जा सकता है।

प्रतिबिम्बवाद नामक प्रकरणमें वादि देवसूरिने अपने रत्नाकर ( पृ० ८६५ ) में न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ४५५ ) में निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खंडन करनेका प्रयास किया है। प्रभाचन्द्रका मत है कि—प्रति-बिम्बकी उत्पत्तिमें जल आदि द्रव्य उपादान कारण हैं तथा चन्द्र आदि बिम्ब निमित्तकारण। चन्द्रादि बिम्बोंका निमित्त पाकर जल आदिके परमाणु प्रतिबिम्बाकारसे परिणत हो जाते हैं।

वादि देवसूरि कहते हैं कि—मुखादिबिम्बोंसे छायापुद्गल निकलते हैं और वे जाकर दर्पण आदिमें प्रतिबिम्ब उत्पन्न करते हैं। यहाँ छायापुद्गलोंका मुखादि बिम्बोंसे निकलनेका सिद्धान्त देवसूरिने अपने पूर्वाचार्य श्रीहरिभद्रसूरिके धर्मसारप्रकरणका अनुसरण करके लिखा है। वे इस समय यह भूल जाते हैं कि हम अपने ही ग्रन्थमें नैयायिकोंके चक्षुसे रश्मियोंके निकलनेके सिद्धान्तका खंडन कर चुके हैं। जब हम भास्वर-रूपवाली आँखसे भी रश्मियोंका निकलना युक्ति एवं अनुभवसे विरुद्ध बताते हैं तब मुख आदि मलिन बिम्बों-से छायापुद्गलोंके निकलनेका समर्थन किस तरह किया जा सकता है? मजेदार बात तो यह है कि इस प्रकरणमें भी वादि देवसूरि न्यायकुमुदचन्द्रके साथही साथ प्रमेयकमलमार्त्तण्डका भी शब्दशः अनुसरण करते हैं, और न्यायकुमुदचन्द्रमें निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खंडनकी धुनमें स्वयं ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डके उसी आशयके शब्दोंको सिद्धान्त मान बैठते हैं। वे रत्नाकरमें ( पृ० ६९८ ) ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दानु-सरण करते हुए लिख जाते हैं कि—"स्वच्छताविशेषाद्धि जलदर्पणादयो मुखादित्यादिप्रतिबिम्बाकारविकार-धारिणः सम्पद्यन्ते।"—अर्थात् विशेष स्वच्छताके कारण जल और दर्पण आदि ही मुख और सूर्य आदि बिम्बोंके आकारवाली पर्यायों को धारण करते हैं। कवलाहारके प्रकरणमें इन्होंने प्रभाचन्दके न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दी गई दलीलोंका नामोल्लेख पूर्वक पूर्वपक्षमें निर्देश किया है और उनका अपनी दृष्टिसे खंडन भी किया है। इस तरह वादि देवसूरिने जब रत्नाकर लिखना प्रारम्भ किया होगा तब उनकी आँखोंके सामने प्रभाचन्द्रके ये दोनों ग्रन्थ बराबर नाचते रहे हैं।

हेमचन्द्र और प्रभाचन्द्र—विक्रमकी १२वीं शताब्दीमें आ० हेमचन्द्रसे जैनसाहित्यके हेमयुगका प्रारम्भ होता है। हेमचन्द्रने व्याकरण, काव्य, छन्द, योग, न्याय आदि साहित्यके सभी विभागोंपर अपनी प्रौढ़ संग्राहक लेखनी चलाकर भारतीय साहित्यके भंडारको खूब समृद्ध किया है। अपने बहुमुख पाण्डित्यके कारण ये 'कलिकालसर्वज्ञ' के नामसे भी ख्यात हैं। इनका जन्म-समय कार्तिकी पूर्णिमा विक्रमसंवत् ११४५ है। वि० सं० ११५४ ( ई० सन् १०९७ ) में ८ वर्षकी लघुवयमें इन्होंने दीक्षा धारण की थी। विक्रम-संवत् ११६६ ( ई० सन् १११० ) में २१ वर्षकी अवस्थामें सूरिपद पर प्रतिष्ठित हुए। ये महाराज जयसिंह



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धराज तथा राजर्षि कुमारपालकी राजसभाओंमें सबहुमान लब्धप्रतिष्ठ थे। वि० सं० १२२९ ( ई० ११७३ ) में ८४ वर्षकी आयुमें ये दिवंगत हुए। इनकी न्यायविषयक रचना प्रमाणमीमांसा जैनन्यायके ग्रन्थोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। प्रमाणमीमांसाके निग्रहस्थानके निरूपण और खंडनके समूचे प्रकरणमें तथा अनेकान्तमें दिए गए आठ दोषोंके परिहारके प्रसंगमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दशः अनुसरण किया गया है। प्रमाणमीमांसाके अन्य स्थलोंमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी छाप साक्षात् न पड़कर प्रमेयरत्नमालाके द्वारा पड़ी है। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यने प्रमेयकमलमार्त्तण्डको ही संक्षिप्त-कर प्रमेयरत्नमालाकी रचना की है। अतः मध्यकदवाली प्रमाणमीमांसामें बृहत्काय प्रमेयकमलमार्त्तण्डका सीधा अनुसरण न होकर अपने समान परिमाणवाली प्रमेयरत्नमालाका अनुसरण होना ही अधिक संगत मालूम होता है। प्रमाणमीमांसाके प्रायः प्रत्येक प्रकरणपर प्रमेयरत्नमालाकी शब्दरचनाने अपनी स्पष्ट छाप लगाई है। इस तरह आ० हेमचन्द्रने कहीं साक्षात् और कहीं परम्परया प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डको अपनी प्रमाणमीमांसा बनाते समय मद्देनजर रखा है। प्रमेयरत्नमाला और प्रमाणमीमांसाके स्थलोंकी तुलना के लिए सिंघी सीरिजसे प्रकाशित प्रमाणमीमांसाके भाषा टिप्पण देखना चाहिए।

मलयगिरि और प्रभाचन्द्र—विक्रमकी १२वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा तेरहवीं शताब्दीका प्रारम्भ जैनसाहित्यका हेमयुग कहा जाता है। इस युगमें आ० हेमचन्द्रके सहविहारी, प्रख्यात टीकाकार आचार्य मलयगिरि हुए थे। मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, नन्दीसूत्र आदि अनेकों आगमिकग्रन्थोंपर संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं। आवश्यकनिर्युक्तिकी टीका ( पृ० ३७१ A. ) में वे अकलंकदेवके 'नयवाक्यमें भी स्यात्पदका प्रयोग करना चाहिए' इस मतसे असहमति जाहिर करते हैं। इसी प्रसंगमें वे पूर्वपक्षरूपसे लघीय-स्त्रयस्वविवृति ( का० ६२ ) का 'नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्' यह वाक्य उद्धृत करते हैं। और इस वाक्यके साथ ही साथ प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ६९१ ) से उक्त वाक्यकी व्याख्या भी उद्धृत करते हैं। व्याख्याका उद्धरण इस प्रकारसे लिया गया है—"अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता नयोऽपि नय-प्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति।"—इस अवतरणसे यह निश्चित हो जाता है कि मलयगिरिके सामने लघीयस्त्रयकी न्यायकुमुदचन्द्र नामकी व्याख्या थी।

अकलंकदेवने प्रमाण, नय और दुर्नयकी निम्नलिखित परिभाषाएँ की हैं—अनन्तधर्मात्मक वस्तुको अखंडभावसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। एकधर्मको मुख्य तथा अन्यधर्मोंको गौण करनेवाला, उनकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान नय है। एकधर्मको ही ग्रहण करके जो अन्य धर्मोंका निषेध करता है—उनकी अपेक्षा नहीं रखता वह दुर्नय कहलाता है। अकलंकने प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें भी नयान्तरसापेक्षता दिखाने के लिए 'स्यात्' पदके प्रयोगका विधान किया है।

आ० मलयगिरि कहते हैं कि—जब नयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब 'स्यात्' शब्दसे सूचित होनेवाले अन्य अशेषधर्मोंको भी विषय करनेके कारण नयवाक्य नयरूप न होकर प्रमाणरूप ही हो जायगा। इनके मतसे जो नय एक धर्मको अवधारणपूर्वक विषय करके इतरनयसे निरपेक्ष रहता है वही नय कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होंने सभी नयोंको मिथ्यावाद कहा है। मलयगिरिके कोषमें सुनय नामका कोई शब्द ही नहीं है। जब स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब वह प्रमाणकोटिमें पहुँचेगा तथा जब नयान्तरनिरपेक्ष रहेगा तब वह नयकोटिमें जाकर मिथ्यावाद हो जायगा। इन्होंने अकलंकदेवके इस तत्त्वको मद्दे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नजर नहीं रखा कि—नयवाक्यमें स्यात् शब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्मोंका मात्र सद्भाव ही जाना जाता है, सो भी इसलिए कि कोई वादी उनका ऐकान्तिक निषेध न समझ ले। प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें स्यात्शब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्म प्रधानभावसे विषय नहीं होते। यही तो प्रमाण और नयमें भेद है कि—जहाँ प्रमाणमें अशेष ही धर्म एकरूपसे—अखण्डभावसे विषय होते हैं वहाँ नयमें एकधर्म मुख्य होकर अन्य अशेषधर्म गौण हो जाते हैं, 'स्यात्' शब्दसे मात्र उनका सद्भाव सूचित होता रहता है। दुर्नयमें एकधर्म ही विषय होकर अन्य अशेषधर्मोंका तिरस्कार हो जाता है। अतः दुर्नयसे सुनयका पार्थक्य करनेके लिए सुनयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग आवश्यक है। मलयगिरिके द्वारा की गई अकलंककी यह समालोचना उन्हीं तक सीमित रही। हेमचन्द्र आदि सभी आचार्य अकलंकके उक्त प्रमाण, नय और दुर्नयके विभागको निर्विवादरूपसे मानते आए हैं। इतना ही नहीं, उपाध्याय यशोविजयने मलगिरिकी इस समालोचनाका सयुक्तिक उत्तर गुरुतत्त्वविनिश्चय (पृ० १७ B.) में दे ही दिया है। उपाध्यायजी लिखते हैं कि यदि नयान्तरसापेक्ष नयका प्रमाणमें अन्तर्भाव किया जायगा तो व्यवहारनय तथा शब्दनय भी प्रमाण ही हो जायँगे। नयवाक्यमें होनेवाला स्यात्पदका प्रयोग तो अनेक धर्मोंका मात्र द्योतन करता है, वह उन्हें विवक्षितधर्मकी तरह नयवाक्यका विषय नहीं बनाता। इसलिए नयवाक्यमें मात्र स्यात्पदका प्रयोग होनेसे वह प्रमाण कोटिमें नहीं पहुँच सकता।

देवभद्र और प्रभाचन्द्र—देवभद्रसूरि मलधारिगच्छके श्रीचन्द्रसूरिके शिष्य थे। इन्होंने न्यायावतारटीकापर एक टिप्पण लिखा है। श्रीचन्द्रसूरिने वि० संवत् ११९३ (सन् ११३६) के दिवालीके दिन 'मुनिसुव्रतचरित्र' पूर्ण किया था[1]। अतः इनके साक्षात् शिष्य देवभद्रका समय भी करीब सन् ११५० से १२०० तक सुनिश्चित होता है। देवभद्रने अपने न्यायावतार टिप्पणमें प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्रके निम्नलिखित दो अवतरण लिए हैं—

१—"परिमण्डलाः परमाणवः तेषां भावः····पारिमण्डल्यं वर्तुलत्वम्, न्यायकुमुदचन्द्रे प्रभाचन्द्रेणाप्येवं व्याख्यातत्वात्।" (पृ० २५)

२—"प्रभाचन्द्रस्तु न्यायकुमुदचन्द्रे विभाषा सद्धर्मप्रतिपादको ग्रन्थविशेषः तां विदन्ति अधीयते वा वैभाषिकाः इत्युवाच।" (पृ० ७९)

ये दोनों अवतरण न्यायकुमुदचन्द्रमें क्रमशः पृ० ४३८ पं० १३ तथा पृ० ३९० पं० १ में पाए जाते हैं। इसके सिवाय न्यायावतारटिप्पणमें अनेक स्थानोंपर न्यायकुमुदचन्द्रका प्रतिबिम्ब स्पष्टरूपसे झलकता है।

मल्लिषेण और प्रभाचन्द्र—आ० हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके ऊपर मल्लिषेणकी स्याद्वादमंजरी नामकी टीका मुद्रित है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायके नागेन्द्रगच्छीय श्रीउदयप्रभसूरिके शिष्य थे। स्याद्वादमंजरीके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि—इन्होंने शक संवत् १२१४ (ई० १२९३) में दीपमालिकाका शनिवारके दिन जिनप्रभसूरिकी सहायतासे स्याद्वादमंजरी पूर्ण की थी। स्याद्वादमंजरीकी शब्दरचनापर न्यायकुमुदचन्द्रका एक विलक्षण प्रभाव है। मल्लिषेणने का० १४की व्याख्यामें विधिवादकी चर्चा की है। इसमें उन्होंने विधिवादियोंके आठ मतोंका निर्देश किया है। साथही साथ अपनी ग्रन्थमर्यादाके विचारसे इन मतोंके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षोंके विशेष परिज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ देखनेका अनुरोध निम्नलिखित शब्दोंमें किया है—"एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपक्षं न्यायकुमुदचन्द्रादवसेयम्।" इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है कि मल्लिषेण न केवल न्यायकुमुदचन्द्रके विशिष्ट अभ्यासी ही थे किन्तु वे स्याद्वादमंजरीमें

१. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० २५३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्चचित या अल्पचर्चित विषयोंके ज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्रको प्रमाणभूत आकरग्रन्थ मानते थे। न्याय-कुमुदचन्द्रमें विधिवादकी विस्तृत चरचा पृ० ५७३ से ५९८ तक है।

गुणरत्न और प्रभाचन्द्र—विक्रमकी १५वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें तपागच्छमें श्रीदेवसुन्दरसूरि एक प्रभावक आचार्य हुए थे। इनके पट्टशिष्य गुणरत्नसूरिने हरिभद्रकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' पर तर्करहस्य-दीपिका नामकी बृहद्वृत्ति लिखी है। गुणरत्नसूरिने अपने क्रियारत्नसमुच्चय ग्रन्थकी प्रतियोंका लेखनकाल विक्रम संवत् १४६८ दिया है। अतः इनका समय भी विक्रमकी १५वीं सदीका उत्तरार्ध सुनिश्चित है। गुण-रत्नसूरिने षड्दर्शनसमुच्चय टीकाके जैनमत निरूपणमें मोक्षतत्त्वका सविस्तर विशद विवेचन किया है। इस प्रकरणमें इन्होंने स्वाभिमत मोक्षस्वरूपके समर्थनके साथही साथ वैशेषिक, सांख्य, वेदान्ती तथा बौद्धोंके द्वारा माने गए मोक्षस्वरूपका बड़े विस्तारसे निराकरण भी किया है। इस परखंडनके भागमें न्यायकुमुदचन्द्रका मात्र अर्थ और भावकी दृष्टिसे ही नहीं, किन्तु शब्दरचना तथा युक्तियोंके कोटिक्रमकी दृष्टिसे भी पर्याप्त अनु-सरण किया गया है। इस प्रकरणमें न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है[1] कि इससे न्यायकुमुद-चन्द्रके पाठकी शब्दशुद्धि करनेमें भी पर्याप्त सहायता मिली है। इसके सिवाय इस वृत्तिके अन्य स्थलोंपर खासकर परपक्ष खंडनके भागोंपर न्यायकुमुदचन्द्रकी शुभ्रज्योत्स्ना जहाँ-तहाँ छिटक रही है।

यशोविजय और प्रभाचन्द्र—उपाध्याय यशोविजयजी विक्रमकी १८वीं सदीके युगप्रवर्तक विद्वान् थे। इन्होंने विक्रम संवत् १६८८ (ईस्वी १६३१) में पं० नयविजयजीके पास दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होंने काशीमें नव्यन्यायका अध्ययनकर बादमें किसी विद्वान्पर विजय पानेसे 'न्यायविशारद' पद प्राप्त किया था। श्रीविजयप्रभसूरिने वि० सं० १७१८ में इन्हें 'वाचक-उपाध्याय' का सम्मानित पद दिया था। उपा-ध्याय यशोविजय वि० सं० १७४३ (सन् १६८६) में अनशन पूर्वक स्वर्गस्थ हुए थे। दशवीं शताब्दीसे ही नव्यन्यायके विकासने भारतीय दर्शनशास्त्रमें एक अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। यद्यपि दसवीं सदीके बाद अनेकों बुद्धिशाली जैनाचार्य हुए पर कोई भी उस नव्यन्यायके शब्दजालके जटिल अध्ययनमें नहीं पड़ा। उपाध्याय यशोविजय ही एकमात्र जैनाचार्य हैं जिन्होंने नव्यन्यायका समग्र अध्ययनकर उसी नव्यपद्धतिसे जैनपदार्थोंका निरूपण किया है। इन्होंने सैकड़ों ग्रन्थ बनाए हैं। इनका अध्ययन अत्यन्त तलस्पर्शी तथा बहुमुखी था। सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्योंके ग्रन्थोंका इन्होंने विधिवत् पारायण किया। इनकी तीक्ष्ण दृष्टिसे धर्मभूषणयतिकी छोटीसी पर सुविशद रचनावाली न्यायदीपिका भी नहीं छूटी। जैनतर्कभाषामें अनेक जगह न्यायदीपिकाके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं। इनके शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका आदि बृहद्ग्रन्थोंके परपक्ष खंडनवाले अंशोंमें प्रभाचन्द्रके विविध विकल्पजाल स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बित हैं। इन्होंने प्रभाचन्द्रका केवल अनुसरण ही नहीं किया है किन्तु साम्प्रदायिक स्त्रीमुक्ति और कवलाहार जैसे प्रकरणोंमें प्रभाचन्द्रके मन्तव्यों-की समालोचना भी की है।

उपरिलिखित वैदिक-अवैदिकदर्शनोंकी तुलनासे प्रभाचन्द्रके अगाध, तलस्पर्शी, सूक्ष्म दार्शनिक अध्य-यनका यत्किञ्चित् आभास हो जाता है। बिना इस प्रकारके बहुश्रुत अवलोकनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे जैनदर्शनके प्रतिनिधि ग्रन्थोंके प्रणयनका उल्लास ही नहीं हो सकता था। जैनदर्शनके मध्ययुगीन ग्रन्थोंमें प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ये पूर्वयुगीन ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब लेकर भी पारदर्शी दर्पणकी तरह उत्तरकालीन ग्रन्थोंके लिए आधारभूत हुए हैं, और यही इनकी अपनी विशेषता है। बिना इस आदान-प्रदानके दार्शनिक साहित्यका विकास इस रूपमें तो हो ही नहीं सकता।

१. देखो—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८१६ में ८४७ तकके टिप्पण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभाचन्द्रका आयुर्वेदज्ञान—प्रभाचन्द्र शुष्क तार्किक ही नहीं थे; किन्तु उन्हें जीवनोपयोगी आयुर्वेदका भी परिज्ञान था। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ४२४ ) में वे बधिरता तथा अन्य कर्णरोगोंके लिए बलातैलका उल्लेख करते हैं। न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ६६९ ) में छाया आदिको पौद्गलिक सिद्ध करते समय उनमें गुणोंका सद्भाव दिखानेके लिए उनने वैद्यकशास्त्रका निम्नलिखित श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

"आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला।
कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहरं ( करं ) तमः॥

यह श्लोक राजनिघण्टु आदिमें कुछ पाठभेदके साथ पाया जाता है। इसी तरह वैशेषिकोंके गुण-पदार्थका खंडन करते समय ( न्यायकु०, पृ० २७५ ) वैद्यकतन्त्रमें प्रसिद्ध विशद, स्थिर, खर, पिच्छलत्व आदि गुणोंके नाम लिए हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ८ ) में नड्वलोदक—तृणविशेषके जलसे पादरोगकी उत्पत्ति बताई है।

प्रभाचन्द्रकी कल्पनाशक्ति—सामान्यतः वस्तुकी अनन्तात्मकता या अनेकधर्माधारताकी सिद्धिके लिए अकलंक आदि आचार्योंने चित्रज्ञान, सामान्यविशेष, मेचकज्ञान और नरसिंह आदिके दृष्टान्त दिए हैं। पर प्रभाचन्द्रने एक ही वस्तुकी अनेकरूपताके समर्थनके लिए न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ३६९ ) में 'उमेश्वर' का दृष्टान्त भी दिया है। वे लिखते हैं कि जैसे एक ही शिव वामाङ्गमें उमा-पार्वतीरूप होकर भी दक्षिणाङ्गमें विरोधी शिवरूपको धारण करते हैं और अपने अर्धनारीश्वररूपको दिखाते हुए अखंड बने रहते हैं उसी तरह एक ही वस्तु विरोधी दो या अनेक आकारोंको धारण कर सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए।

उदारविचार—आ० प्रभाचन्द्र सच्चे तार्किक थे। उनकी तर्कणाशक्ति और उदार विचारोंका स्पष्ट परिचय ब्राह्मणत्व जातिके खण्डनके प्रसङ्गमें मिलता है। इस प्रकरणमें उन्होंने ब्राह्मणत्व जातिके नित्यत्व और एकत्वका खण्डन करके उसे सदृशपरिणमन रूप ही सिद्ध किया है। वे जन्मना जातिका खण्डन बहुविध विकल्पोंसे करते हैं और स्पष्ट शब्दोंमें उसे गुणकर्मानुसारिणी मानते हैं। वे ब्राह्मणत्वजातिनिमित्तक वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदिके व्यवहारको भी क्रियाविशेष और यज्ञोपवीत आदि चिह्नसे उपलक्षित व्यक्ति-विशेषमें ही करनेकी सलाह देते हैं—

"ननु ब्राह्मणत्वादिसामान्यानभ्युपगमे कथं भवतां वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारः स्यात्? इत्यप्यचोद्यम्; क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायाः तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः। तन्न भवत्कल्पितं नित्यादिस्वभावं ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्ध्यतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारो युक्तः।"

—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ७७८। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ० ४८६

"प्रश्न—यदि ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ नहीं हैं तब जैनमतमें वर्णाश्रमव्यवस्था और ब्राह्मणत्व आदि जातियोंसे सम्बन्ध रखनेवाला तप दान आदि व्यवहार कैसे होगा? उत्तर—जो व्यक्ति यज्ञोपवीत आदि चिह्नोंको धारण करें तथा ब्राह्मणोंके योग्य विशिष्ट क्रियाओंका आचरण करे उनमें ब्राह्मणत्व जातिसे सम्बन्ध रखनेवाली वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदि व्यवहार भलीभाँति किये जा सकते हैं। अतः आपके द्वारा माना गया नित्य आदि स्वभाववाला ब्राह्मणत्व किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, इसलिये ब्राह्मण आदि व्यवहारोंको क्रियानुसार ही मानना युक्तिसंगत है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ४८७ ) में और भी स्पष्टतासे लिखते हैं कि—"ततः सदृशक्रियापरिणामादिनिबन्धनैवेयं ब्राह्मणक्षत्रियादिव्यवस्था—इसलिये यह समस्त ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि व्यवस्था सदृश क्रिया रूप सदृश परिणमन आदिके निमित्तसे ही होती है।"

बौद्धोंके धम्मपद और श्वेताम्बर आगम उत्तराध्ययनसूत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें ब्राह्मणत्व जातिको गुण और कर्मके अनुसार बताकर उसकी जन्मना माननेके सिद्धान्तका खण्डन किया है—

"न जटाहिं न गोत्तेहिं न जच्चा होति ब्राह्मणो।
जम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥
न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसंभवं।"—धम्मपद गाथा ३९३
"कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"—उत्तरा० २५।३३

दिगम्बर आचार्योंमें वराङ्गचरित्रके कर्ता श्री जटासिंहनन्दि कितने स्पष्ट शब्दोंमें जातिको क्रिया-निमित्तक लिखते हैं—

"क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णांश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥"
—वराङ्गचरित २५।११

"शिष्टजन इन ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंको 'अहिंसा आदि व्रतोंका पालन, रक्षा करना, खेती आदि करना, तथा शिल्पवृत्ति' इन चार प्रकारकी क्रियाओंसे ही मानते हैं। यह सब वर्णव्यवस्था व्यवहारमात्र है। क्रियाके सिवाय और कोई वर्णव्यवस्थाका हेतु नहीं है।"

ऐसे ही विचार तथा उद्गार पद्मपुराणकार रविषेण, आदिपुराणकार जिनसेन, तथा धर्मपरीक्षाकार अमितगति आदि आचार्योंके पाए जाते हैं[1]। आ० प्रभाचन्द्रने, इन्हीं वैदिक संस्कृति द्वारा अनभिभूत, परम्परागत जैनसंस्कृतिके विशुद्ध विचारोंका, अपनी प्रखर तर्कधारासे परिसिंचनकर पोषण किया है। यद्यपि ब्राह्मणत्वजातिके खण्डन करते समय प्रभाचन्द्रने प्रधानतया उसके नित्यत्व और ब्रह्मप्रभवत्व आदि अंशोंके खण्डनके लिए इस प्रकरणको लिखा है और इसके लिखनेमें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालङ्कार तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहने पर्याप्त प्रेरणा दी है परन्तु इससे प्रभाचन्द्रकी अपनी जातिविषयक स्वतन्त्र चिन्तनवृत्तिमें कोई कमी नहीं आती। उन्होंने उसके हर एक पहलूपर विचार करके ही अपने उक्त विचार स्थिर किए।

## प्रभाचन्द्रका समय

**कार्यक्षेत्र और गुरुकुल**—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदिकी प्रशस्तिमें 'पद्मनन्दि सिद्धान्त' को अपना गुरु लिखा है। [2]श्रवणबेल्गोलाके शिलालेख ( नं० ४० ) में गोल्लाचार्यके शिष्य पद्मनन्दि सैद्धान्तिकका उल्लेख है। और इसी शिलालेखमें आगे चलकर प्रथिततर्कग्रन्थकार, शब्दाम्भोरुहभास्कर प्रभाचन्द्रका शिष्यरूपसे वर्णन किया गया है। प्रभाचन्द्रके प्रथिततर्कग्रन्थकार और शब्दाम्भोरुहभास्कर ये दोनों विशेषण यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड

१. देखो—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ७७८, टि० ९।
२. जैनशिलालेखसंग्रह माणिकचन्द्रग्रन्थमाला।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे प्रथित तर्कग्रन्थोंके रचयिता थे तथा शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रन्यासके कर्त्ता भी थे। इसी शिलालेखमें पद्मनन्दि सैद्धान्तिकको अविद्धकर्णादिक और कौमारदेवव्रती लिखा है। इन विशेषणोंसे ज्ञात होता है कि—पद्मनन्दि सैद्धान्तिकने कर्णवेध होनेके पहिले ही दीक्षा धारण की होगी और इसीलिए ये कौमारदेवव्रती कहे जाते थे। ये मूलसंघान्तर्गत नन्दिगणके प्रभेदरूप देशीगणके श्रीगोल्लाचार्यके शिष्य थे। प्रभाचन्द्रके सधर्मा श्रीकुलभूषणमुनि थे। कुलभूषण मुनि भी सिद्धान्त शास्त्रोंके पारगामी और चारित्रसागर थे। इस शिलालेखमें कुलभूषणमुनिकी शिष्यपरम्पराका वर्णन है, जो दक्षिणदेशमें हुई थी। तात्पर्य यह कि आ० प्रभाचन्द्र मूलसंघान्तर्गत नन्दिगणकी आचार्यपरम्परामें हुए थे। इनके गुरु पद्मनन्दिसैद्धान्त थे और सधर्मा थे कुलभूषणमुनि। मालूम होता है कि प्रभाचन्द्र पद्मनन्दिसे शिक्षा-दीक्षा लेकर धारानगरीमें चले आए, और यहीं उन्होंने अपने ग्रन्थोंकी रचना की। ये धाराधीश भोजके मान्य विद्वान् थे। प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी "श्रीभोजदेवराज्ये धारानिवासिना" आदि अन्तिम प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि—यह ग्रन्थ धारानगरीमें भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र, आराधनागद्यकथाकोश और महापुराणटिप्पणकी अन्तिम प्रशस्तियोंके "श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना" शब्दोंसे इन ग्रन्थोंकी रचना भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवके राज्यमें हुई ज्ञात होती है। इसलिए प्रभाचन्द्रका कार्यक्षेत्र धारानगरी ही मालूम होता है। संभव है कि इनकी शिक्षा-दीक्षा दक्षिणमें हुई हो।

श्रवणबेल्गोलाके शिलालेख नं० ५५ में मूलसंघके देशीगणके देवेन्द्रसैद्धान्तदेवका उल्लेख है। इनके शिष्य चतुर्मुखदेव और चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दि थे। इसी शिलालेखमें इन गोपनन्दिके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"अवर सधर्मरु-

श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरश्मिच्छटा-
च्छायाकुङ्कुमपङ्कलिप्तचरणाम्भोजातलक्ष्मीधवः।
न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्जरोदोमणिः,
स्थेयात्पण्डितपुण्डरीकतरणिः श्रीमान् प्रभाचन्द्रमाः॥ १७॥
श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्योऽधृष्यः प्रवादिभिः।
पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादिगजाङ्कुशः॥ १८॥"

इन श्लोकोंमें वर्णित प्रभाचन्द्र भी धाराधीश भोजराजके द्वारा पूज्य थे, न्यायरूप कमलसमूह (प्रमेयकमल) के दिनमणि (मार्त्तण्ड) थे, शब्दरूप अब्ज (शब्दाम्भोज) के विकास करनेको रोदोमणि (भास्कर) के समान थे। पंडित रूपी कमलोंके प्रफुल्लित करनेवाले सूर्य थे, रुद्रवादि गजोंको वश करनेके लिए अंकुशके समान थे तथा चतुर्मुखदेवके शिष्य थे। क्या इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र और पद्मनन्दि सैद्धान्तके शिष्य, प्रथिततर्कग्रन्थकार एवं शब्दाम्भोजभास्कर प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं? इस प्रश्नका उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है, पर इसमें एक ही बात नयी है। वह है—गुरुरूपसे चतुर्मुखदेवके उल्लेख होनेकी। मैं समझता हूँ कि—यदि प्रभाचन्द्र धारामें आनेके बाद अपने ही देशीयगणके श्री चतुर्मुखदेवको आदर और गुरुकी दृष्टिसे देखते हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पर यह सुनिश्चित है कि प्रभाचन्द्रके आद्य और परमादरणीय उपास्य गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्त ही थे। चतुर्मुखदेव द्वितीय गुरु या गुरुसम हो सकते हैं। यदि इस शिलालेखके प्रभाचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता एक ही व्यक्ति हैं तो यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजके समकालीन थे। इस शिलालेखमें प्रभाचन्द्रको गोपनन्दिका सधर्मा कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है। हलेबेल्गोलके एक शिलालेख ( नं० ४९२, जैनशिलालेखसंग्रह ) में होय्सलनरेश एरेयङ्ग द्वारा गोपनन्दि पण्डितदेवको दिए गए दानका उल्लेख है। यह दान पौष शुद्ध १३, संवत् १०१५ में दिया गया था। इस तरह सन् १०९४ में प्रभाचन्द्रके सधर्मा गोपनन्दिकी स्थिति होनेसे प्रभाचन्द्रका समय सन् १०६५ तक माननेका पूर्ण समर्थन होता है।

समयविचार—आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें डॉ० पाठक, प्रेमीजी[1] तथा मुख्तार सा० आदिका प्रायः सर्वसम्मत मत यह रहा है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ईसाकी ८वीं शताब्दीके उत्तरार्ध एवं नवीं शताब्दीके पूर्वार्धवर्ती विद्वान् थे। और इसका मुख्य आधार है जिनसेनकृत आदिपुराणका यह श्लोक—

"चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥"

अर्थात्—'जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोंके समान धवल है उन प्रभाचन्द्रकविकी स्तुति करता हूँ। जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत्को आह्लादित किया था।' इस श्लोकमें चन्द्रोदयसे न्यायकुमुदचन्द्रोदय ( न्यायकुमुदचन्द्र ) ग्रन्थका सूचन समझ गया है। आ० जिनसेनने अपने गुरु वीरसेनकी अधूरी जयधवला टीकाको शक सं० ७५९ ( ईसवी ८३७ ) की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण किया था। इस समय अमोघवर्षका राज्य था। जयधवलाकी समाप्तिके अनन्तर ही आ० जिनसेनने आदिपुराणकी रचना की थी। आदिपुराण जिनसेनकी अन्तिम कृति है। वे इसे अपने जीवनमें पूर्ण नहीं कर सके थे। उसे इनके शिष्य गुणभद्रने पूर्ण किया था। तात्पर्य यह कि जिनसेन आचार्यने ईसवी ८४० के लगभग आदिपुराणकी रचना प्रारम्भ की होगी। इसमें प्रभाचन्द्र तथा उनके न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख मानकर डॉ० पाठक आदिने निर्विवादरूपसे प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा नवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है।

सुहृद्वर पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना ( पृ० १२३ ) में डॉ०[2] पाठक आदिके मतका निरास करते हुए प्रभाचन्द्रका समय ई० ९५० से १०२० तक निर्धारित किया है। इस निर्धारित समयकी शताब्दियाँ तो ठीक हैं पर दशकोंमें अन्तर है। तथा जिन आधारोंसे यह समय

१. श्रीमान् प्रेमीजीका विचार अब बदल गया है। वे अपने "श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र" लेख (अनेकान्त वर्ष ४ अंक, १) में महापुराणटिप्पणकार प्रभाचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और गद्यकथाकोश आदिके कर्त्ता प्रभाचन्द्रका एक ही व्यक्ति होना सूचित करते हैं। वे अपने एक पत्रमें मुझे लिखते हैं कि—हम समझते हैं कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता प्रभाचन्द्र ही महापुराणटिप्पणके कर्त्ता हैं। और तत्त्वार्थवृत्तिपद ( सर्वार्थसिद्धिके पदोंका प्रकटीकरण ), समाधितंत्रटीका, आत्मानुशासनतिलक, क्रियाकलापटीका, प्रवचनसारसरोजभास्कर ( प्रवचनसारकी टीका ) आदिके कर्त्ता, और शायद रत्नकरण्डटीकाके कर्त्ता भी वही हैं।"

२. पं० कैलाशचन्द्रजीने आदिपुराणके 'चन्द्रांशुशुभ्रयशसं' श्लोकमें चन्द्रोदयकार किसी अन्य प्रभाचन्द्रकविका उल्लेख बताया है, जो ठीक है। पर उन्होंने आदिपुराणकार जिनसेनके द्वारा न्यायकुमुदचन्द्रकार प्रभाचन्द्रके स्मृत होनेमें बाधक जो अन्य तीन हेतु दिए हैं वे बलवत् नहीं मालूम होते। यतः (१) आदिपुराणकार इसके लिए बाध्य नहीं माने जा सकते कि यदि वे प्रभाचन्द्रका स्मरण करते हैं तो उन्हें प्रभाचन्द्रके द्वारा स्मृत अनन्तवीर्य और विद्यानन्दका स्मरण करना ही चाहिए। विद्यानन्द और अनन्तवीर्यका समय ईसाकी नवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है, और इसलिए वे आदिपुराणकारके समकालीन होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चित किया गया है वे भी अभ्रान्त नहीं हैं। पं० जीने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीकाका प्रभाव देखकर प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ९५० ई० और पुष्पदन्तकृत महापुराणके प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणको वि० सं० १०८० (ई० १०२३) में समाप्त मानकर उत्तरावधि १०२० ई० निश्चित की है। मैं 'व्योमशिव और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय व्योमशिवका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित कर आया हूँ। इसलिए मात्र व्योमशिवके प्रभावके कारण ही प्रभाचन्द्रका समय ई० ९५० के बाद नहीं जा सकता। महापुराणके टिप्पणकी वस्तुस्थिति तो यह है कि—पुष्पदन्तके महापुराणपर श्रीचन्द्र आचार्यका भी टिप्पण है और प्रभाचन्द्र आचार्यका भी। बलात्कारगणके श्रीचन्द्रका टिप्पण भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। इसकी प्रशस्ति निम्नलिखित है—

"श्री विक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराणविषमपदविवरणं सागरसेनसैद्धान्तान्

---

हैं। यदि प्रभाचन्द्र भी ईसाकी नवीं शताब्दीके विद्वान् होते, तो भी वे अपने समकालीन विद्यानन्द आदि आचार्योंका स्मरण करके भी आदिपुराणकार द्वारा स्मृत हो सकते थे। (२) 'जयन्त और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय मैं जयन्तका समय ई० ७५० से ८४० तक सिद्ध कर आया हूँ। अतः समकालीन-वृद्ध जयन्तसे प्रभावित होकर भी प्रभाचन्द्र आदिपुराणमें उल्लेख्य हो सकते हैं। (३) गुणभद्रके आत्मानुशासनसे 'अन्धादयं महानन्धः' श्लोक उद्धृत किया जाना अवश्य ऐसी बात है जो प्रभाचन्द्रका आदिपुराणमें उल्लेख होनेकी बाधक हो सकती है। क्योंकि आत्मानुशासनके "जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्। गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम्॥" इस अन्तिमश्लोकसे ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ जिनसेन स्वामीकी मृत्युके बाद बनाया गया है; क्योंकि वही समय जिनसेनके पादोंके स्मरणके लिए ठीक जँचता है। अतः आत्मानुशासनका रचनाकाल सन् ८५० के करीब मालूम होता है। आत्मानुशासनपर प्रभाचन्द्रकी एक टीका उपलब्ध है। उसमें प्रथम श्लोकका उत्थान वाक्य इस प्रकार है—"बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः सम्बोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारक सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवः ·" अर्थात्—गुणभद्र स्वामीने विषयोंकी ओर चंचल चित्तवृत्तिवाले बड़े धर्मभाई (?) लोकसेनको समझानेके बहाने आत्मानुशासन ग्रन्थ बनाया है। ये लोकसेन गुणभद्रके प्रियशिष्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें इन्हीं लोकसेनको स्वयं गुणभद्रने 'विदितसकलशास्त्र, मुनीश, कवि अविकलवृत्त' आदि विशेषण दिए हैं। इससे इतना अनुमान तो सहज ही किया जा सकता है कि आत्मानुशासन उत्तरपुराणके बाद तो नहीं बनाया गया; क्योंकि उस समय लोकसेन मुनि विषयव्यामुग्धबुद्धि न होकर विदितसकलशास्त्र एवं अविकलवृत्त हो गए थे। अतः लोकसेनकी प्रारम्भिक अवस्थामें, उत्तरपुराणकी रचनाके पहिले ही आत्मानुशासनका रचा जाना अधिक संभव है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने विद्वद्रत्नमाला (पृ० ७५) में यही संभावना की है। आत्मानुशासन गुणभद्रकी प्रारम्भिक कृति ही मालूम होती है। और गुणभद्रने इसे उत्तरपुराणके पहिले जिनसेनकी मृत्युके बाद बनाया होगा। परन्तु आत्मानुशासनकी आन्तरिक जाँच करनेसे हम इस परिणामपर पहुँचे हैं कि इसमें अन्य कवियोंके सुभाषितोंका भी यथावसर समावेश किया गया है। उदाहरणार्थ—आत्मानुशासनका ३२ वाँ पद्य 'नेता यस्य बृहस्पतिः' भर्तृहरिके नीतिशतकका ८८वां श्लोक है, आत्मानुशासनका ६७ वाँ पद्य 'यदेतत्स्वच्छन्दं' वैराग्यशतकका ५०वाँ श्लोक है। ऐसी स्थितिमें 'अन्धादयं महानन्धः' सुभाषित पद्य भी गुणभद्रका स्वरचित ही है यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। तथापि किसी अन्य प्रबल प्रमाणके अभावमें अभी इस विषयमें अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिज्ञाय मूलटिप्पणिकाञ्चालोक्य कृतमिदं समुच्चयटिप्पणम् अज्ञपातभीतेन श्रीमद्बला ( त्कार ) गणश्री-संघाचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना निजदोर्दण्डाभिभूतरिपुराज्यविजयिनः श्रीभोजदेवस्य ॥ १०२ ॥ इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्य (?) विरचितं समाप्तम् ।"

प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यमें लिखा गया है । इसकी प्रशस्तिके श्लोक रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनासे न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना ( पृ० १२० ) में उद्धृत किये गये हैं । श्लोकोंके अनन्तर—"श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलङ्केन श्रीप्रभाचन्द्रपण्डितेन महापुराणटिप्पणके शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति" यह पुष्पिकालेख है । इस तरह महापुराणपर दोनों आचार्योंके पृथक्-पृथक् टिप्पण हैं । इसका खुलासा प्रेमीजीके लेख[1]से स्पष्ट हो ही जाता है । पर टिप्पण-लेखकने श्रीचन्द्रकृत टिप्पणके 'श्रीविक्रमादित्य' वाले प्रशस्तिलेखके अन्तमें भ्रमवश 'इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्यविरचितं समाप्तम्' लिख दिया है । इसीलिए डॉ० पी० एल० वैद्य[2], प्रो० हीरालालजी तथा पं० कैलाशचन्द्रजीने भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका रचनाकाल संवत् १०८० समझ लिया है । अतः इस भ्रान्त आधारसे प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि सन् १०२० नहीं ठहराई जा सकती । अब हम प्रभाचन्द्रके समयकी निश्चित अवधिके साधक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं —

१–प्रभाचन्द्रने पहिले प्रमेयकमलमार्त्तण्ड बनाकर ही न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना की है । मुद्रित प्रमेयकमलमार्त्तण्डके अन्तमें "श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतिपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ।" यह पुष्पिकालेख पाया जाता है । न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमें उक्त पुष्पिकालेख 'श्रीभोजदेवराज्ये' की जगह 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' पदके साथ जैसाका तैसा उपलब्ध है । अतः इस स्पष्ट लेखसे प्रभाचन्द्रका समय जयसिंहदेवके राज्यके कुछ वर्षों तक, अन्ततः सन् १०६५ तक माना जा सकता है । और यदि प्रभाचन्द्रने ८५ वर्षकी आयु पाई हो तो उनकी पूर्वावधि सन् ९८० मानी जानी चाहिए ।

श्रीमान् मुख्तारसा०[3] तथा पं० कैलाशचन्द्रजी[4] प्रमेयकमल० और न्यायकुमुदचन्द्रके अन्तमें पाए जानेवाले उक्त 'श्रीभोजदेवराज्ये और जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेशखोंको स्वयं प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते । मुख्तारसा० इस प्रशस्तिवाक्यको टीकाटिप्पणकार द्वितीय प्रभाचन्द्रका मानते हैं तथा पं० कैलाशचन्द्रजी इसे पीछेके किसी व्यक्तिकी करतूत बताते हैं । पर प्रशस्तिवाक्यको प्रभाचन्द्रकृत नहीं माननेमें दोनोंके आधार जुदे-जुदे हैं । मुख्तारसा० प्रभाचन्द्रको जिनसेनके पहिलेका विद्वान् मानते हैं, इसलिए 'भोजदेवराज्ये' आदिवाक्य वे स्वयं उन्हीं प्रभाचन्द्रका नहीं मानते । पं० कैलाशचन्द्रजी प्रभाचन्द्रको ईसाकी १०वीं और ११वीं शताब्दीका विद्वान् मानकर भी महापुराणके टिप्पणकार श्रीचन्द्रके टिप्पणके अन्तिमवाक्यको भ्रमवश प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणका अन्तिमवाक्य समझ लेनेके कारण उक्त प्रशस्तिवाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानना चाहते । मुख्तारसा० ने एक हेतु यह भी दिया है[5] कि—प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी कुछ प्रतियोंमें यह अन्तिमवाक्य नहीं पाया जाता । और इसके लिए भाण्डारकर इन्स्टीट्यूटकी प्राचीन प्रतियोंका हवाला दिया है । मैंने भी इस

१. देखो पं० नाथूरामजी प्रेमी लिखित 'श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र' शीर्षक लेख अनेकान्त वर्ष ४, किरण १ ।
२. महापुराणकी प्रस्तावना, पृ० XIV ।
३. रत्नकरण्ड-प्रस्तावना, पृ० ५९-६० ।
४. न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना, पृ० १२२ ।
५. रत्नकरण्ड० प्रस्तावना, पृ० ६० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थका पुनः सम्पादन करते समय जैनसिद्धान्तभवन, आराकी प्रतिके पाठान्तर लिए हैं। इसमें भी उक्त 'भोजदेवराज्ये' वाला वाक्य नहीं है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादनमें जिन आ०, ब०, श्र०, और भां० [1]प्रतियोंका उपयोग किया है, उनमें आ० और ब० प्रतिमें 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्ति लेख नहीं है। हाँ, भां० और श्र० प्रतियाँ, जो ताड़पत्रपर लिखी हैं, उनमें 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्तिवाक्य है। इनमें भां० प्रति शालिवाहनशक १७६४ की लिखी हुई है। इस तरह [2]प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी किन्हीं प्रतियोंमें उक्त प्रशस्तिवाक्य नहीं है, किन्हींमें 'श्रीपद्मनन्दि' श्लोक नहीं है तथा कुछ प्रतियोंमें सभी श्लोक और प्रशस्ति वाक्य हैं। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमें 'जयसिंहदेवराज्ये' प्रशस्तिवाक्य नहीं है। श्रीमान् मुख्तारसा० प्रायः इसीसे उक्त प्रशस्तिवाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते।

इसके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि—लेखक प्रमादवश प्रायः मौजूद पाठ तो छोड़ देते हैं पर किसी अन्यकी प्रशस्ति अन्यग्रन्थमें लगानेका प्रयत्न कम करते हैं। लेखक आखिर नकल करनेवाले लेखक ही तो हैं, उनमें इतनी बुद्धिमानीकी भी कम संभावना है कि वे 'श्री भोजदेवराज्ये' जैसी सुन्दर गद्य प्रशस्तिको स्वकपोलकल्पित करके उसमें जोड़ दें। जिन प्रतियोंमें उक्त प्रशस्ति नहीं है तो समझना चाहिए कि लेखकोंके प्रमादसे उनमें वह प्रशस्ति लिखी ही नहीं गई। जब अन्य अनेक प्रमाणोंसे प्रभाचन्द्रका समय करीब-करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्यकाल तक पहुँचता है तब इन प्रशस्तिवाक्योंको टिप्पणकारकृत या किसी पीछे होनेवाले व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्रीभोजदेवराज्ये' या श्री जयसिंहदेवराज्ये' प्रशस्तियाँ सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रने ही बनाई हैं। और जिन-जिन ग्रन्थोंमें ये प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं वे प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थ होने चाहिए।

२—यापनीयसंघाग्रणी शाकटायनाचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिवाय केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरण लिखे हैं। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघवर्षके राज्यकाल (ई० ८१४से ८७७) में रची थी। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शाकटायनके इन दोनों प्रकरणोंका खंडन आनुपूर्वीसे किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्तिप्रकरणसे एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० ९००से पहिले नहीं माना जा सकता।

---

१. देखो, इनका परिचय न्यायकु० प्र० भागके सम्पादकीयमें।

२. पं० नाथूरामजी प्रेमी अपनी नोटबुकके आधारसे सूचित करते हैं कि—"भाण्डारकर इन्स्टीट्यूटकी नं० ८३६ (सन् १८७५-७६) की प्रतिमें प्रशस्तिका 'श्रीपद्मनन्दि' वाला श्लोक और 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नहीं। वहींकी नं० ६३८ (सन् १८७५-७६) वाली प्रतिमें 'श्री पद्मनन्दि' श्लोक है पर 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नहीं है। पहिली प्रति संवत् १४८९ तथा दूसरी संवत् १७५५ की लिखी हुई है।" वीरवाणीविलास भवनके अध्यक्ष पं० लोकनाथ पार्श्वनाथशास्त्री अपने यहाँकी ताडपत्रकी दो पूर्ण प्रतियोंको देखकर लिखते हैं कि—"प्रतियोंकी अन्तिम प्रशस्तिमें मुद्रितपुस्तकानुसार प्रशस्ति श्लोक पूरे हैं और 'श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना' आदि वाक्य हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी प्रतियोंमें बहुत शैथिल्य है, परन्तु करीब ६०० वर्ष पहिले लिखित होगी। उन दोनों प्रतियोंमें शकसंवत् नहीं है।" सोलापुरकी प्रतिमें "श्रीभोजदेवराज्ये" प्रशस्ति नहीं है। दिल्लीकी आधुनिक प्रतिमें भी उक्तवाक्य नहीं है। अनेक प्रतियोंमें प्रथम अध्यायके अन्तमें पाए जानेवाले "सिद्धं सर्वजनप्रबोध" श्लोककी व्याख्या नहीं है। इन्दौरकी तुकोगंजवाली प्रतिमें प्रशस्तिवाक्य है और उक्त श्लोककी व्याख्या भी है। खुरईकी प्रतिमें 'भोजदेवराज्ये' प्रशस्ति नहीं है, पर चारों प्रशस्ति श्लोक हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३–सिद्धसेनदिवाकरके न्यायावतारपर सिद्धर्षिगणिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र' की तुलनामें बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रने न्यायावतारके साथही साथ इस वृत्तिको भी देखा है। सिद्धर्षिने ई० ९०६ में अपनी उपमितिभवप्रपञ्चाकथा बनाई थी। अतः न्यायावतारवृत्तिके द्रष्टा प्रभाचन्द्रका समय सन् ९१० के पहिले नहीं माना जा सकता।

४–भासर्वज्ञका न्यायसार ग्रंथ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासर्वज्ञकी स्वोपज्ञ न्यायभूषणा नामकी वृत्ति थी। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमें इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। न्यायलीलावतीकारके कथनसे[1] ज्ञात होता है कि भूषण क्रियाको संयोग रूप मानते थे। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० २८२ ) में भासर्वज्ञके इस मतका खंडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके छठवें अध्यायमें जिन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासोंका निरूपण है वे सब न्यायसारसे ही लिए गए हैं। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र[2] विद्याभूषण इनका समय ई० ९०० के लगभग मानते हैं। अतः प्रभाचन्द्रका समय भी ई० ९०० के बाद ही होना चाहिए।

५–आ० देवसेनने अपने दर्शनसार ग्रन्थ ( रचनासमय ९९० वि० ९३३ ई० ) के बाद भावसंग्रह ग्रन्थ बनाया है। इसकी रचना संभवतः सन् ९४० के आसपास हुई होगी। इसकी एक 'णोकम्मकम्महारो' गाथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत है। यदि यह गाथा स्वयं देवसेनकी है तो प्रभाचन्द्रका समय सन् ९४० के बाद होना चाहिए।

६–आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० बनानेके बाद शब्दाम्भोजभास्कर नामका जैनेन्द्रन्यास रचा था। यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद इसीके आधारसे बनाया गया है। मैं 'अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते हुए लिख आया हूँ कि नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचनाकाल अनुमानतः ९६० ई० होना चाहिए। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० ९६० से पहिले नहीं माना जा सकता।

७–पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराणपर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा है। इसकी प्रशस्ति रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावना ( पृ० ६१ ) में दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् ९६५ ई० में समाप्त किया था[3]। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र ही इस टिप्पणकर्ता हैं। यदि यही प्रभाचन्द्र इसके रचयिता हैं, तो कहना होगा कि प्रभाचन्द्रका समय ई० ९६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण इन्होंने न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके प्रशस्तिश्लोकोंका एवं पुष्पिकालेखका पूरा-पूरा अनुकरण किया गया है, प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्यकाल तक निश्चित करनेमें साधक तो हो ही सकते हैं।

८–श्रीधर और प्रभाचन्द्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंपर श्रीधरकी कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् ९९१ में समाप्त की थी। अतः

---

१. देखो, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० २८२, टि० ५।

२. न्यायसार प्रस्तावना, पृ० ५।

३. देखो, महापुराणकी प्रस्तावना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ई० १९० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना संगत मालूम होता है।

९–श्रवणबेल्गोलाके लेख नं० ४० ( ६४ ) में एक पद्मनन्दिसैद्धान्तिकका उल्लेख है और इन्हींके शिष्य कुलभूषणके सधर्मा प्रभाचन्द्रको शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार लिखा है—

"अविद्धकर्णादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।
कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः ॥ १५ ॥
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारांनिधि,
सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा-
चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्रीकुन्दकुन्दान्वयः ॥ १६ ॥"

उस लेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र, शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार विशेषणोंके बलसे शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रन्यास और प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंके कर्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही हैं। धवलाटीका, पु० २ की प्रस्तावनामें ताड़पत्रीय प्रतिका इतिहास बताते हुए प्रो० हीरालालजीने इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्रके समयपर सयुक्तिक ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। उसका सारांश यह है–"उक्त शिलालेखमें कुलभूषणसे आगेकी शिष्यपरम्परा इस प्रकार है—कुलभूषणके सिद्धान्तवारांनिधि सद्वृत्त कुलचन्द्र नामके शिष्य हुए, कुलचन्द्रदेवके शिष्य माघनन्दि मुनि हुए, जिन्होंने कोल्लापुरमें तीर्थ स्थापन किया। इनके श्रावक शिष्य थे—सामन्तकेदार नाकरस, सामन्त निम्बदेव और सामन्त कामदेव। माघनन्दिके शिष्य हुए—गण्डविमुक्तदेव, जिनके एक छात्र सेनापति भरत थे, व दूसरे शिष्य भानुकीर्ति और देवकीर्ति, आदि। इस शिलालेखमें बताया है कि महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेवने कोल्लापुरकी रूपनारायण वसदिके अधीन केल्लंगरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था, तथा जिननाथपुरमें एक दानशाला स्थापित की थी। उन्हीं अपने गुरुकी परोक्ष विनयके लिए महाप्रधान सर्वाधिकारि हिरिय भंडारी, अभिनवगङ्गदंडनायक श्री हुल्लराजने उनकी निषद्या निर्माण कराई, तथा गुरुके अन्य शिष्य लक्खनन्दि, माधव और त्रिभुवनदेवने महादान व पूजाभिषेक करके प्रतिष्ठा की। देवकीर्तिके समयपर प्रकाश डालनेवाला शिलालेख नं० ३९ है। इसमें देवकीर्तिकी प्रशस्तिके अतिरिक्त उनके स्वर्गवासका समय शक १०८५ सुभानु संवत्सर आषाढ शुक्ल ९ बुधवार सूर्योदयकाल बतलाया गया है। और कहा गया है कि उनके शिष्य लक्खनन्दि माधवचन्द्र और त्रिभुवनमल्लने गुरुभक्तिसे उनकी निषद्याकी प्रतिष्ठा कराई। देवकीर्ति पद्मनन्दिसे पाँच पीढी तथा कुलभूषण और प्रभाचन्द्रसे चार पीढी बाद हुए हैं। अतः इन आचार्योंको देवकीर्तिके समयसे १००–१२५ वर्ष अर्थात् शक ९५० ( ई० १०२८ ) के लगभग हुए मानना अनुचित न होगा। उक्त आचार्योंके कालनिर्णयमें सहायक एक और प्रमाण मिलता है—कुलचन्द्र मुनिके उत्तराधिकारी माघनन्दि कोल्लापुरीय कहे गए हैं। उनके गृहस्थ शिष्य निम्बदेव सामन्तका उल्लेख मिलता है जो शिलाहारनरेश गंडरादित्यदेवके एक सामन्त थे। शिलाहार गंडरादित्यदेवके उल्लेख शक सं० १०३० से १०५८ तकके लेखोंमें पाए जाते हैं। इससे भी पूर्वोक्त कालनिर्णयकी पुष्टि होती है।"

यह विवेचन शक सं० १०८५ में लिखे गए शिलालेखोंके आधारसे किया गया है। शिलालेखकी वस्तुओंका ध्यानसे समीक्षण करनेपर यह प्रश्न होता है कि जिस तरह प्रभाचन्द्रके सधर्मा कुलभूषणकी शिष्य-परम्परा दक्षिण प्रान्तमें चली उस तरह प्रभाचन्द्रकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता? मुझे तो इसका संभाव्य कारण यही मालूम होता है कि पद्मनन्दिके एक शिष्य कुलभूषण तो दक्षिणमें ही रहे और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे प्रभाचन्द्र उत्तर प्रांतमें आकर धारा नगरीके आसपास रहे हैं। यही कारण है कि दक्षिणमें उनकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस शिलालेखीय अंकगणनासे निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रभाचन्द्र भोजदेव और जयसिंह दोनोंके समयमें विद्यमान थे। अतः उनकी पूर्वावधि सन् ९९० के आसपास माननेमें कोई बाधक नहीं है।

१०—वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें अनेकों पूर्वाचार्योंका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शक सं० ९४७ (ई० १०२५) में बनकर समाप्त हुआ था। इन्होंने अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय प्रकरणपर न्यायविनिश्चयविवरण या न्यायविनिश्चयतात्पर्यावद्योतनी व्याख्यानरत्नमाला नामकी विस्तृत टीका लिखी है। इस टीकामें पचासों जैन-जैनेतर आचार्योंके ग्रन्थोंसे प्रमाण उद्धृत किए गए हैं। संभव है कि वादिराजके समयमें प्रभाचन्द्रकी प्रसिद्धि न हो पाई हो, अन्यथा तर्कशास्त्रके रसिक वादिराज अपने इस यशस्वी ग्रन्थकारका नामोल्लेख किए बिना न रहते। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाण स्वतन्त्रभावसे किसी आचार्यके समयके साधक या बाधक नहीं होते फिर भी अन्य प्रबल प्रमाणोंके प्रकाशमें इन्हें प्रसङ्गसाधनके रूपमें तो उपस्थित किया ही जा सकता है। यही अधिक संभव है कि वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन और सम-व्यक्तित्वशाली रहे हैं अतः वादिराजने अन्य आचार्योंके साथ प्रभाचन्द्रका उल्लेख नहीं किया है।

अब हम प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधिके नियामक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—ईसाकी चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् अभिनवधर्मभूषणने न्यायदीपिका (पृ० १६) में प्रमेयकमलमार्त्तण्डका उल्लेख किया है। इन्होंने अपनी न्यायदीपिका वि० सं० १४४२ (ई० १३८५) में बनाई थी[1]। ईसाकी १३वीं शताब्दीके विद्वान् मल्लिषेणने अपनी स्याद्वादमञ्जरी (रचना समय ई० १२९३) में न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख किया है। ईसाकी १२वीं शताब्दीके विद्वान् आ० मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्तिटीका (पृ० ३७१ A.) ने लघीयस्त्रयकी एक कारिकाका व्याख्यान करते हुए 'टीकाकारके' नामसे न्यायकुमुदचन्द्रमें की गई उक्त कारिकाकी व्याख्या उद्धृत की है। ईसाकी १२वीं शताब्दीके विद्वान् देवभद्रने न्यायावतारटीकाटिप्पण (पृ० २१, ७६) में तथा माणिक्यचन्द्रने काव्यप्रकाशकी टीका (पृ० १४) में प्रभाचन्द्र और उनके न्यायकुमुदचन्द्रका नामोल्लेख किया है। अतः इन १२वीं शताब्दी तकके विद्वानोंके उल्लेखोंके आधारसे यह प्रामाणिकरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र ई० १२वीं शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं।

२—रत्नकरण्डश्रावकाचार और समाधितन्त्रपर प्रभाचन्द्रकृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार[2] ने इन दोनों टीकाओंको एक ही प्रभाचन्द्रके द्वारा रची हुई सिद्ध किया है। आपके मतसे ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयितासे भिन्न हैं। रत्नकरण्डटीकाका उल्लेख पं० आशाधरजी द्वारा अनागारधर्मामृत टीका (अ० ८, श्लो० ९३) में किये जानेके कारण इस टीकाका रचनाकाल वि० सं० १३०० से पहिलेका अनुमान किया गया है; क्योंकि अनागारधर्मामृत टीका वि० सं० १३०० में बनकर समाप्त हुई थी। अन्ततः मुख्तारसा० इस टीकाका रचनाकाल विक्रमकी १३वीं शताब्दीका मध्यभाग मानते हैं। अस्तु, फिलहाल मुख्तारसा० के निर्णयके अनुसार इसका रचनाकाल वि० १२५० (ई० ११९३) ही मानकर प्रस्तुत विचार करते हैं।

---

१. स्वामी, समन्तभद्र, पृ० २२७।

२. रत्नकरण्डश्रावकाचार भूमिका, पृ० ६६ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रत्नकरण्डश्रावचार ( पृ० ६ ) में केवलिकवलाहारके खंडनमें न्यायकुमुदचन्द्रगत शब्दावलीका पूरा-पूरा अनुसरण करके लिखा है कि—''तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात् ।'' इसी तरह समाधितन्त्र टीका ( पृ७ १५ ) में लिखा है कि—''यैः पुनर्योगसांख्यैः मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः ।'' इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ इन टीकाओंसे पहिले रचे गए हैं । अतः प्रभाचन्द्र ईसाकी १२वीं शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं ।

३—वादिदेवसूरिका जन्म वि० सं० ११४३ तथा स्वर्गवास वि० सं० १२२२ में हुआ था । ये वि० सं० ११७४ में आचार्यपदपर प्रतिष्ठित हुए थे । संभव है इन्होंने वि० सं० ११७५ ( ई० १११८ ) के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकरकी रचना की होगी । स्याद्वादरत्नाकरमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका न केवल शब्दार्थानुसरण ही किया गया है किन्तु कवलाहारसमर्थन प्रकरणमें तथा प्रतिबिम्ब चर्चामें प्रभाचन्द्र और प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका नामोल्लेख करके खंडन भी किया गया है । अतः प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि अन्ततः ई० ११०० सुनिश्चित हो जाती है ।

४—जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठपर श्रुतकीर्तिने पंचवस्तुप्रक्रिया बनाई है ।[1] श्रुतकीर्ति कनड़ीचन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अग्गलकविके गुरु थे । अग्गलकविने शक १०११ ई० १०८९ में चन्द्रप्रभचरित पूर्ण किया था । अतः श्रुतकीर्तिका समय भी लगभग ई० १०७५ होना चाहिए । इन्होंने अपनी प्रक्रियामें एक न्यास ग्रन्थका उल्लेख किया है । संभव है कि यह प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर नामका ही न्यास हो । यदि ऐसा है तो प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि ई० १०७५ मानी जा सकती है । शिमोगा जिलेके शिलालेख नं० ४६ से ज्ञात होता है कि पूज्यपादने भी जैनेन्द्र न्यासकी रचना की थी । यदि श्रुतकीर्तिने न्यास पदसे पूज्यपादकृत न्यासका निर्देश किया है तब 'टीकामाल' शब्दसे सूचित होनेवाली टीकाकी मालामें तो प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करको पिरोया हो जा सकता है । इस तरह प्रभाचन्द्रके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उल्लेखोंके आधारसे हम प्रभाचन्द्रका समय सन् ९८० से १०६५ तक निश्चित कर सकते हैं । इन्हीं उल्लेखोंके प्रकाशमें जब हम प्रमेयकमलमार्त्तण्डके 'श्री भोजदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेख तथा न्यायकुमुदचन्द्रके 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखको देखते हैं तो वे अत्यन्त प्रामाणिक मालूम होते हैं । उन्हें किसी टीका टिप्पणकारका या किसी अन्य व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता ।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रभाचन्द्रके समयकी पूर्वावधि और उत्तरावधि करीब-करीब भोजदेव और जयसिंह देवके समय तक ही आती है । अतः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें पाए जानेवाले प्रशस्ति लेखोंकी प्रामाणिकता और प्रभाचन्द्रकर्तृतामें सन्देहको कोई स्थान नहीं रहता । इसलिए प्रभाचन्द्रका समय ई० ९८० से १०६५ तक माननेमें कोई बाधा नहीं है[2] ।

---

१. देखो, इसी लेखका ''श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र'' अंश ।

२. प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथमसंस्करणके सम्पादक पं० वंशीधरजी शास्त्री, सोलापुरने उक्त संस्करणके उपोद्घातमें श्रीभोजदेवराज्ये प्रशस्तिके अनुसार प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सूचित किया है । और आपने इसके समर्थनके लिए 'नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकी गाथाओंका प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत होना' यह प्रमाण उपस्थित किया है । पर आपका यह प्रमाण अभ्रान्त नहीं है; प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें 'विग्गहगइमावण्णा' और 'लोयायासपएसे' गाथाएँ उद्धृत हैं । पर ये गाथाएँ नेमिचन्द्रकृत नहीं हैं । पहिली गाथा धवलाटीका ( रचनाकाल ई० ८१६ ) में उद्धृत है और उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमें भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ**

आ० प्रभाचन्द्रके जितने ग्रन्थोंका अभी तक अन्वेषण किया गया है उनमें कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं तथा कुछ व्याख्यात्मक। उनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( परीक्षामुखव्याख्या ), न्यायकुमुदचन्द्र ( लघीयस्त्रय व्याख्या ), तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण ( सर्वार्थसिद्धि व्याख्या ), और शाकटायनन्यास ( शाकटायनव्याकरणव्याख्या ) इन चार ग्रन्थोंका परिचय न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। यहाँ उनके शब्दाम्भोज-भास्कर ( जैनेन्द्रव्याकरण महान्यास ); प्रवचनसारसरोजभास्कर ( प्रवचनसारटीका ) और गद्यकथाकोशका परिचय दिया जाता है। महापुराणटिप्पण आदि भी इन्हींके ग्रन्थ हैं। इस परिचयके पहिले हम 'शाकटायनन्यास' के कर्तृत्वपर विचार करते हैं—

भाई पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने शिलालेख तथा किंवदन्तियोंके आधारसे शाकटायनन्यासको प्रभाचन्द्रकृत लिखा है[1]। शिमोगा जिलेके नगरताल्लुकेके शिलालेख नं० ४६ ( एपि० कर्ना० पु० ८, भा० २, पृ० २६६-२७३ ) में प्रभाचन्द्रकी प्रशंसापरक ये दो श्लोक हैं—

"माणिक्यनन्दिजिनराजवाणीप्राणाधिनाथः परवादिमर्दी।
चित्रं प्रभाचन्द्र इह क्षमायां मार्त्तण्डवृद्धौ नितरां व्यदीपित॥
[2]सुखि···न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः।
शाकटायनकृत्सूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे॥"

जैनसिद्धान्तभवन, आरामें वर्धमानमुनिकृत दशभक्त्यादिमहाशास्त्र है। उसमें भी ये श्लोक हैं। उनमें 'सुखि....' की जगह 'सुखीशे' तथा 'व्रतीन्दवे' के स्थानमें 'प्रभेन्दवे' पाठ है। यह शिलालेख १६ वीं शताब्दीका

---

पाई जाती है। दूसरी गाथा पूज्यपाद ( ई० ६वीं ) कृत सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत है। अतः इन प्राचीन गाथाओंको नेमिचन्द्रकृत नहीं माना जा सकता। अवश्य ही इन्हें नेमिचन्द्रने जीवकाण्ड और द्रव्यसंग्रहमें संगृहीत किया है। अतः इन गाथाओंका उद्धृत होना ही प्रभाचन्द्रके समयको ११वीं सदी नहीं साध सकता।

१. न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना, पृ० १२५।

२. इस शिलालेखके अनुवादमें राइस सा० ने आ० पूज्यपादको ही न्यायकुमुदचन्द्रोदय और शाकटायनन्यासका कर्ता लिख दिया है। यह गलती आपसे इसलिये हुई कि इस श्लोकके बाद ही पूज्यपादकी प्रशंसा करनेवाला एक श्लोक है, उसका अन्वय आपने भूलसे "सुखि" इत्यादि श्लोकके साथ कर दिया है। वह श्लोक यह है—

"न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो,
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद,
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः॥"

थोड़ी-सी सावधानीसे विचार करनेपर यह स्पष्ट मालूम होता है कि 'सुखि' इत्यादि श्लोकके चतुर्थ्यन्त पदोंका 'न्यास' वाले श्लोकसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ब्र० शीतलप्रसादजीने 'मद्रास और मैसूरप्रान्तके स्मारक' में तथा प्रो० हीरालालजीने 'जैनशिलालेख संग्रह' की भूमिका ( पृ० १४१ ) में भी राइस सा० का अनुसरण करके इसी गलतीको दुहराया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और वर्धमानमुनिका समय भी १६वीं शताब्दी ही है। शाकटायनन्यासके प्रथम दो अध्यायोंकी प्रतिलिपि स्याद्वादविद्यालयके सरस्वतीभवनमें मौजूद है। उसको सरसरी तौरसे पलटनेपर मुझे इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें निम्नलिखित कारणोंसे सन्देह उत्पन्न हुआ है—

१–इस ग्रन्थमें मंगलश्लोक नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें मंगलाचरण नियमित रूपसे करते हैं[1]।

२–सन्धियोंके अन्तमें तथा ग्रन्थमें कहीं भी प्रभाचन्द्रका नामोल्लेख नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें 'इति प्रभाचन्द्रविरचिते' आदि पुष्पिकालेख या 'प्रमेन्दुजिनः' आदि रूपसे अपना नामोल्लेख करनेमें नहीं चूकते।

३–प्रभाचन्द्र अपनी टीकाओंके प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर आदि नाम रखते हैं जब कि इस ग्रन्थके इन श्लोकोंमें इसका कोई खास नाम सूचित नहीं होता—

"शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यान्वर्थनामतः।
प्रसिद्धस्य महामोघवृत्तेरपि विशेषतः॥
सूत्राणां च विवृतिर्लिख्यते च यथामति।
ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति (?) क्रियते नामनामतः॥"

४–शाकटायन यापनीयसंघके आचार्य थे और प्रभाचन्द्र थे कट्टर दिगम्बर। इन्होंने शाकटायनके स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिप्रकरणोंका खंडन भी किया है। अतः शाकटायनके व्याकरणपर प्रभाचन्द्रके द्वारा न्यास लिखा जाना कुछ समझमें नहीं आता।

५–इस न्यासमें शाकटायनके लिए प्रयुक्त 'संघाधिपति, महाश्रमणसंघप' आदि विशेषणोंका समर्थन है। यापनीय आचार्यके इन विशेषणोंके समर्थनकी आशा प्रभाचन्द्र द्वारा नहीं की जा सकती। यथा—

"एवंभूतमिदं शास्त्रं चतुरध्यायरूपतः, संघाधिपतिः श्रीमानाचार्यः शाकटायनः।
महतारभते तत्र महाश्रमणसंघपः, श्रमेण शब्दतत्त्वं च विशदं च विशेषतः॥

महाश्रमणसंघाधिपतिरित्यनेन मनः समाधानमाख्यायते। विषयेषु विक्षिप्तचेतसो न मनः समाधि - असमाहितचेतसश्च किं नाम शास्त्रकरणम्, आचार्य इति तु शब्दविद्याया गुरुत्वं शाकटायन इति अन्वयबुद्धि-प्रकर्षः, विशुद्धान्वयो हि शिष्टैरुपलीयते। महाश्रमणसंघाधिपतेः सन्मार्गानुशासनं युक्तमेव....."

६–प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें जैनेन्द्रव्याकरणसे ही सूत्रोंके उद्धरण दिए हैं जिसपर उनका शब्दाम्भोजभास्कर न्यास है। यदि शाकटायनपर भी उनका न्यास होता तो वे एकाध स्थानपर तो शाकटायनव्याकरणके सूत्र उद्धृत करते।

---

१. मैसूर यूनि० में न्यासग्रन्थकी दूसरे अध्यायके चौथे पादके १२४ सूत्र तककी कापी है (नं० A. 605)। उसमें निम्नलिखित मंगलश्लोक है—

"प्रणम्य जयिनः प्राप्तविश्वव्याकरणाश्रियः। शब्दानुशासनस्येयं वृत्तेर्विवरणोद्यमः॥
अस्मिन् भाष्याणि भाष्यन्ते वृत्तयो वृत्तिमाश्रिताः। न्यासा न्यस्ताः कृताः टीकाः पारं पारायणान्ययुः॥
तत्र वृत्ता (त्या) दावयं मंगलश्लोकः श्रीवीरममृतमित्यादि।"

परन्तु इन श्लोकोंकी रचनाशैली प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदिके मंगलश्लोकोंसे अत्यन्त विलक्षण है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७–प्रभाचन्द्र अपने पूर्वग्रन्थोंका उत्तरग्रन्थोंमें प्रायः उल्लेख करते हैं। यथा न्यायकुमुदचन्द्रमें तत्पूर्वकालीन प्रमेयकमलमार्त्तण्डका तथा शब्दाम्भोजभास्करमें न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोंका उल्लेख पाया जाता है। यदि शाकटायनन्यास उन्होंने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके पहिले बनाया होता तो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिमें शाकटायनव्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण होते और इस न्यासका उल्लेख भी होता। यदि यह उत्तरकालीन रचना है तो इसमें प्रमेयकमल आदिका उल्लेख होना चाहिए था जैसा कि शब्दाम्भोजभास्करमें देखा जाता है।

८–शब्दाम्भोजभास्करमें प्रभाचन्द्रकी भाषाकी जो प्रसन्नता तथा प्रावाहिकता है वह इस दुरूह न्यासमें नहीं देखी जाती। इस शैलीवैचित्र्यसे भी इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें सन्देह होता है। प्रभाचन्द्रने शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास बनाया था और इसलिए उनकी न्यासकारके रूपसे भी प्रसिद्धि रही है। मालूम होता कि वर्धमानमुनिने प्रभाचन्द्रकी इसी प्रसिद्धिके आधारसे इन्हें शाकटायनन्यासका कर्ता लिख दिया है। मुझे तो ऐसा लगता है कि यह न्यास स्वयं शाकटायनने ही बनाया होगा। अनेक वैयाकरणोंने अपने ही व्याकरणपर न्यास लिखे हैं।

शब्दाम्भोजभास्कर—श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ४० ( ६४ ) में प्रभाचन्द्रके लिये 'शब्दाम्भोजदिवाकरः' विशेषण भी दिया गया है। इस अर्थगर्भ विशेषणसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे प्रथिततर्क ग्रन्थोंके कर्ता प्रथिततर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्र ही शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रव्याकरण महान्यासके रचयिता हैं। ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवनकी अधूरी प्रतिके आधारसे इसका टूक परिचय यहाँ दिया जाता है। यह प्रति संवत् १९८० में देहलीकी प्रतिसे लिखाई गई है। इसमें जैनेन्द्रव्याकरणके मात्र तीन अध्यायका ही न्यास है सो भी बीचमें जगह-जगह त्रुटित है। ३९ से ६७ नं० के पत्र इस प्रतिमें नहीं हैं। प्रारम्भके २८ पत्र किसी दूसरे लेखकने लिखे हैं। पत्रसंख्या २२८ है। एक पत्रमें १३ से १५ तक पंक्तियाँ और एक पंक्तिमें ३९ से ४३ तक अक्षर हैं। पत्र बड़ी साइजके हैं। मंगलाचरण—

"श्रीपूज्यपादमकलङ्कमनन्तबोधम्, शब्दार्थसंशयहरं निखिलेषु बोधम्।
सच्छब्दलक्षणमशेषमतः प्रसिद्धं वक्ष्ये परिस्फुटमलं प्रणिपत्य सिद्धम्॥ १॥
सविस्तरं यद् गुरुभिः प्रकाशितं महामतीनामभिधानलक्षणम्।
मनोहरैः स्वल्पपदैः प्रकाश्यते महद्भिरुपदिष्टि याति सर्वापिमार्गे ( ? )
···तदुक्त कृतशिक्ष ( ? ) श्लाघ्यते तद्धि तस्य।
किमुक्तमखिलज्ञैर्भाषमाणे गणेन्द्रो विविक्तमखिलार्थं श्लाघ्यतेऽतो मुनीन्द्रैः॥ ३॥

शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायतार्हनिशम्,
यो यः सारतरो विचारचतुरस्तल्लक्षणांशो गतः।
तं स्वीकृत्य तिलोत्तमेव विदुषां चेतश्चमत्कारकः,
सुव्यक्तैरसमैः प्रसन्नवचनैर्न्यासः समारभ्यते॥ ४॥

श्रीपूज्यपादस्वामि ( भी ) विनेयानां शब्दसाधुत्वासाधुत्वविवेकप्रतिपत्त्यर्थं शब्दलक्षणप्रणयनं कुर्वाणो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकमभिलषन्निष्टदेवतास्तुतिविषयं नमस्कुर्वन्नाह–लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य···"

यह न्यास अभयनन्दिकृत जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है। इसमें महावृत्तिके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं और कहीं उनका व्याख्यान भी किया है। यथा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"सिद्धिरनेकान्तात्–प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा श्रोत्रग्राह्यतया परमार्थतोपेता प्रकृत्यादिविभागेन च शब्दानां सिद्धिरनेकान्ताद् भवतीत्यर्थाधिकार आशास्त्रपरिसमाप्तेर्वेदितव्यः। अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकः अन्तः स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः अनेकात्मा इत्यर्थः"—महावृत्ति, पृ० २।

"द्विविधा च शब्दानां सिद्धिः व्यवहाररूपा परमार्थरूपा चेति। तत्र प्रकृतीत्य (?) विकारागमादिविभागेन रूपा तत्सिद्धिः तद्भेदस्यात्र प्राधान्यात्। श्रोत्रग्राह्यौ (ह्याः) परमार्थतो ये प्रकृत्यादिविभागाः प्रमाणनयादिभिरभिगमोपायैः शब्दानां तत्त्वप्रतिपत्तिः परमार्थरूपा सिद्धिः तद्भेदस्यात्र प्राधान्यात्, सामयिकेषां सिद्धिरनेकान्ताद्भवतीत्येषोऽधिकारः आशास्त्रपरिसमाप्तेर्वेदितव्यः। अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह–अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनेकान्तः अनेकान्तात्मक इत्यर्थः—शब्दाम्भोजभास्कर, पृ० २ A।

इस तुलनासे तथा तृतीयाध्यायके अन्तमें लिखे गये इस श्लोकसे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है—

"नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने। प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने॥"

इस श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार किया गया है। प्रत्येक पादकी समाप्तिमें "इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दाम्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः" इसी प्रकारके पुष्पिकालेख हैं।

तृतीय अध्यायके अन्तमें निम्नलिखित पुष्पिका तथा श्लोक है—

"इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दाम्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः॥ श्रीवर्धमानाय नमः॥

सन्मार्गप्रतिबोधको बुधजनैः संस्तूयमानो हठात्।
अज्ञानान्धतमोपहः क्षितितले श्रीपूज्यपादो महान्॥
सार्वैः सन्ततसन्निधिनियतः पूर्वापरानुक्रमः।
शब्दाम्भोजदिवाकरोऽस्तु सहसा नः श्रेयसे यं च वै॥
नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने।
प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने॥ छ॥

श्री वासुपूज्याय नमः। श्री नृपतिविक्रमादित्यराज्येन संवत् १९८० मासोत्तममासे चैत्रशुक्लपक्षे एकादश्यां ११ श्री महावीर संवत् २४४९। हस्ताक्षर छाजूराम जैन विजेश्वरी लेखक पालम (सूबा देहली)"

जैनेन्द्रव्याकरणके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं–एक तो वह जिसपर अभयनन्दिने महावृत्ति, तथा श्रुतकीर्तिने पञ्चवस्तु नामकी प्रक्रिया बनाई है; और दूसरा वह जिसपर सोमदेवसूरिकृत शब्दार्णवचन्द्रिका है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने[1] अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठको ही प्राचीन तथा पूज्यपादकृत मूलसूत्रपाठ सिद्ध किया है। प्रभाचन्द्रने इसी अभयनन्दिसम्मत प्राचीन सूत्रपाठपर ही अपना यह शब्दाम्भोजभास्कर[2] नामका महान्यास बनाया है।

---

१. देखो—'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी' लेख, जैनसाहित्य संशोधक भाग १, अंक २।

२. पंडित नाथूलालजी शास्त्री, इन्दौर सूचित करते हैं कि तुकोगंज, इन्दौरके ग्रन्थभण्डारमें भी शब्दाम्भोजभास्करके तीन ही अध्याय हैं। उसका मंगलाचरण तथा अन्तिम प्रशस्तिलेख बम्बईकी प्रतिके ही समान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आ० प्रभाचन्द्रने इस ग्रन्थको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रकी रचनाके बाद बनाया है जैसा कि उनके निम्नलिखित वाक्यसे सूचित होता है—

"तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रपञ्चतः प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्याय-कुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम् ।"

प्रभाचन्द्र अपने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ३२९ ) में प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ देखनेका अनुरोध इसी तरहके शब्दोंमें करते हैं—"एतच्च प्रमेयकमलमार्त्तण्डे सप्रपञ्चं प्रपञ्चितमिह द्रष्टव्यम् ।"

व्याकरण जैसे शुष्क शब्दविषयक इस ग्रन्थमें प्रभाचन्द्रकी प्रसन्न लेखनीसे प्रसूत दर्शनशास्त्रकी क्वचित् अर्थप्रधान चर्चा इस ग्रन्थके गौरवको असाधारणतया बढ़ा रही है । इसमें विधिविचार, कारक-विचार, लिंगविचार जैसे अनूठे प्रकरण हैं जो इस ग्रन्थको किसी भी दर्शनग्रन्थकी कोटिमें रख सकते हैं । इसमें समन्तभद्रके युक्त्यनुशासन तथा अन्य अनेक आचार्योंके पद्योंको प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है । पृ० ९१ में 'विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता' प्रयोगका हृदयग्राही व्याख्यान किया है । इस तरह क्या भाषा, क्या विषय और क्या प्रसन्नशैली, हर एक दृष्टिसे प्रभाचन्द्रका निर्मल और प्रौढ़ पाण्डित्य इस ग्रन्थमें उदात्तभावसे निहित है ।

प्रवचनसारसरोजभास्कर—यह प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलको विकसित करनेके लिए मार्त्तण्ड बनाने-के पहिले प्रवचनसारसरोजके विकासार्थ भास्करका उदय किया हो तो कोई अनहोनी बात न होकर अधिक संभव और निश्चित बात मालूम होती है । ( प्रमेय ) कमलमार्त्तण्ड, ( न्याय ) कुमुदचन्द्र, ( शब्द ) अम्भोज-भास्कर जैसे सुन्दर नामोंकी कल्पिका प्रभाचन्द्रीय बुद्धिने ही ( प्रवचनसार ) सरोजभास्करका उदय किया है । इस ग्रन्थकी संवत् १५५५ की लिखी हुई जीर्ण प्रति हमारे सामने है । यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बईकी है । इसका परिचय संक्षेपमें इस प्रकार है—

पत्रसंख्या ५३, श्लोकसंख्या १७४६, साइज १३ × ६ । एक पत्रमें १२ पंक्तियाँ तथा एक पंक्तिमें ४२-४३ अक्षर हैं । लिखावट अच्छी और शुद्ध प्राय है । प्रारम्भ—

"ओं नमः सर्वज्ञाय शिष्याशयः ।
वीरं प्रवचनसारं निखिलार्थं निर्मलजनानन्दम् ।
वक्ष्ये सुखावबोधं निर्वाणपदं प्रणम्याप्तम् ॥

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः सकललोकोपकारकं मोक्षमार्गमध्ययनरुचिविनेयाशयवशेनोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं शास्त्रस्यादौ नमस्कुर्वन्नाह ॥ छ ॥ एस सुरासुर····।"

अन्त—"इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे शुभोपयोगाधिकारः समाप्तः ॥ छ ॥ संवत् १५५५ वर्षे माघमासे शुक्लपक्षे पूर्ण( र्णि )मायां तिथौ गुरुवासरे गिरिपुरे व्या० पुरुषोत्तम लि० ग्रन्थ-संख्या षट्चत्वारिंशदधिकानि सप्तदशशतानि ॥ १७४६ ॥"

मध्यकी सन्धियोंका पुष्पिकालेख—"इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे···" है ।

इस टीकामें जगह-जगह उद्धृत दार्शनिक अवतरण, दार्शनिक व्याख्यापद्धति एवं सरल प्रसन्नशैली

---

है । पं० भुजबलीजी शास्त्रीके पत्रसे ज्ञात हुआ है कि कारकलके मठमें भी इसकी प्रति है । इस प्रतिमें भी तीन अध्यायका न्यास है । प्रेमीजी सूचित करते हैं कि बंबईके भवनमें इसकी एक प्राचीन प्रति है उसमें चतुर्थ अध्यायके तीसरे पादके २११वें सूत्र तकका न्यास है, आगे नहीं है । हो सकता है कि यह प्रभाचन्द्रकी अन्तिम कृति ही हो और इसलिए पूर्ण न हो सकी हो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसे न्यायकुमुदचन्द्रादिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी कृति सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त है। अवतरण–(गा० २।१०) "नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्मासौ तुलान्तयोः" ( गा० २।२८ ) "स्वोपात्तकर्मवशाद् भवाद् भवान्तरावाप्तिः संसारः" इनमें दूसरा अवतरण राजवार्तिकका तथा प्रथम किसी बौद्ध ग्रन्थका है। ये दोनों अवतरण प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद०में भी पाए जाते हैं। इस व्याख्याकी दार्शनिक शैलीके नमूने—

( गा० २।१३ ) "यदि हि द्रव्यं स्वयं सदात्मकं न स्यात् तदा स्वयमसदात्मकं सत्तातः पृथग्वा ? तत्राद्यः पक्षो न भवति; यदि सत् सद्रूपं द्रव्यं तदा असद्रूपं ध्रुवं निश्चयेन न तं तत् भवति। कथं केन प्रकारेण द्रव्यं खरविषाणवत्। हवदिपुणो अण्णं वा। अथ सत्तातः पुनरन्यद्वा पृथग्भूतं द्रव्यं भवति तदा अतः पृथग्भूतस्यापि सत्त्वे सत्ताकल्पना व्यर्था। सत्तासम्बन्धात्सत्त्वे चान्योन्याश्रयः सिद्धे हि तत्सत्त्वे सत्तासम्बन्धसिद्धिः तस्याश्च सम्बन्धसिद्धौ सत्यां तत्सत्त्वसिद्धिरिति। तत्सत्त्वसिद्धिमन्तरेणापि सत्तासम्बन्धे खपुष्पादेरपि तत्प्रसङ्गः। तस्मात् द्रव्यं स्वयं सत्ता स्वयमेव सदभ्युपगन्तव्यम्।" ( गा० २।१६ ) "....तथाहि–द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रवत्तांस्तान् गुणपर्यायान् गुणपर्यायैर्वा द्रोष्यते द्रुतं वा द्रव्यमिति। गम्यते उपलभ्यते द्रव्यमनेनेति गुणः। द्रव्यं वा द्रव्यान्तरात् येन विशिष्यते स गुणः। इत्येतस्मादर्थविशेषात् यद् द्रव्यस्य गुणरूपे गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेणाभवनं एसो एष हि अतद्भावः।" इन गाथाओंकी अमृतचन्द्रीय और जयसेनीय टीकाओंसे इस टीकाकी तुलना करनेपर इसकी दार्शनिकप्रसूतता अपने आप झलक मारती है। इस टीकाका जयसेनीयटीकापर प्रभाव है और जयसेनीयटीकासे यह निश्चय ही पूर्वकालीन है।

अमृतचन्द्राचार्यने प्रवचनसारकी जिन ३६ गाथाओंकी व्याख्या नहीं की है प्रायः वे गाथाएँ प्रवचनसारसरोजभास्करमें यथास्थान व्याख्यात हैं। जयसेधीय टीकामें प्रभाचन्द्रका अनुसरण करते हुए इन गाथाओंकी व्याख्या की गई है। हाँ, जयसेनीयटीकामें दो-तीन गाथाएँ अति रिक्त भी हैं। इस टीकाका लक्ष्यहै गाथाओंका संक्षेपसे खुलासा करना। परन्तु प्रभाचन्द्र प्रारम्भसे ही दर्शनशास्त्रके विशिष्ट अभ्यासी रहे हैं इसलिए जहाँ खास अवसर आया वहाँ उन्होंने संक्षेपसे दार्शनिक मुद्दोंका भी निर्देश किया है।

प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें भावत्रिभंगीकार श्रुतमुनिके 'सारत्रयनिपुण प्रभाचन्द्र' के उल्लेखसे प्रवचनसारसरोजभास्करके कर्त्ताका समय १४वीं सदीका प्रारम्भिक भाग सूचित किया है। परन्तु यह संभावना किसी दृढ़ आधारसे नहीं की गई है।

जयसेनीय टीकापर इसका प्रभाव होनेसे ये उनसे प्राक्कालीन तो हैं ही। आ० जयसेन अपनी टीकामें ( पृ० २९ ) केवलिकवलाहारके खंडनका उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि—"अन्येपि पिण्डशुद्धिकथिता बहवो दोषाः ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्या अत्र चाध्यात्मग्रन्थत्वान्नोच्यन्ते।" सम्भव है यहाँ तर्कशास्त्रसे प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिकी विवक्षा हो। अस्तु, मुझे तो यह संक्षिप्त पर विशद टीका प्रभाचन्द्राचार्यकी प्रारम्भिककृति मालूम होती है।

**गद्यकथाकोश**—यह ग्रन्थ भी इन्हीं प्रभाचन्द्रका मालूम होता है। इसकी प्रतिमें ८९वीं कथाके बाद "श्रीजयसिंहदेवराज्ये" [1]प्रशस्ति है। इसके प्रशस्ति श्लोकोंका प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदिके प्रशस्तिश्लोकोंसे पूरा-पूरा सादृश्य है। इसका मंगलश्लोक यह है—

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना, पृ० १२२ —
"यैराराध्य चतुर्विधामनुपमामाराधनां निर्मलाम्।
प्राप्तं सर्वसुखास्पदं निरुपमं स्वर्गापवर्गप्रदा ( ? )।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रणम्य मोक्षप्रदमस्तदोषं प्रकृष्टपुण्यप्रभवं जिनेन्द्रम् ।
वक्ष्येऽत्र भव्यप्रतिबोधनार्थमाराधनासत्सुकथाप्रबन्धः ॥"

८९वीं कथाके अनन्तर "जयसिंहदेवराज्ये" प्रशस्ति लिखकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया है। इसके अनन्तर भी कुछ कथाएँ लिखी हैं। और अन्तमें "सुकोमलैः सर्वसुखावबोधैः" श्लोक तथा "इति भट्टारक-प्रभाचन्द्रकृतः कथाकोशः समाप्तः" यह पुष्पिकालेख है। इस तरह इसमें दो स्थलोंपर ग्रन्थसमाप्तिकी सूचना है जो खासतौरसे विचारणीय है। हो सकता है कि प्रभाचन्द्रने प्रारम्भकी ८९ कथाएँ ही बनाई हों और बादकी कथाएँ किसी दूसरे भट्टारकप्रभाचन्द्रने। अथवा लेखकने भूलसे ८९वीं कथाके बाद ही ग्रन्थसमाप्ति-सूचक पुष्पिकालेख लिख दिया हो। इसको खासतौरसे जाँचे बिना अभी विशेष कुछ कहना शक्य नहीं है।

मेरे विचारसे प्रभाचन्द्रने तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण और प्रवचनसारसरोजभास्कर भोजदेवके राज्यसे पहिले अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें बनाए होंगे यही कारण है कि उनमें 'भोजदेवराज्ये' या 'जयसिंहदेवराज्ये' कोई प्रशस्ति नहीं पाई जाती और न उन ग्रन्थोंमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिका उल्लेख ही पाया जाता है। इस तरह हम प्रभाचन्द्रकी ग्रन्थरचनाका क्रम इस प्रकार समझते हैं—तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, प्रवचनसार-सरोजभास्कर, [1]प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर, महापुराणटिप्पण और गद्यकथा-कोश। श्रीमान् प्रेमीजीने [2]रत्नकरण्डटीका, समाधितन्त्रटीका क्रियाकलापटीका[3], आत्मानुशासनतिलका[4]

---

तेषां धर्मकथाप्रपञ्चरचनास्वाराधना संस्थिता ।
स्थेयात् कर्मविशुद्धिहेतुरमला चन्द्रार्कतारावधि ॥ १ ॥
सुकोमलैः सर्वसुखावबोधैः पदैः प्रभाचन्द्रकृतः प्रबन्धः ।
कल्याणकालेऽथ जिनेश्वराणां सुरेन्द्रदत्तीव विराजतेऽसौ ॥ २ ॥

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपञ्चपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिल-मलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्कथाप्रबन्धः कृतः ।"

१. योगसूत्रपर भोजदेवकी राजमार्त्तण्ड नामक टीका पाई जाती है। संभव है प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और राज-मार्त्तण्ड नाम परस्पर प्रभावित हों।

२. पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीका और समाधितन्त्रटीकाको एकही प्रभाचन्द्र द्वारा रचित सिद्ध किया है; जो ठीक है। पर आपने इन प्रभाचन्द्रको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रसे भिन्न सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है वह वस्तुतः दृढ़ प्रमाणोंपर अवलम्बित नहीं है। आपके मुख्यप्रमाण हैं कि—"प्रभाचन्द्रका आदि-पुराणकारने स्मरण किया है इसलिए ये ईसाकी नवमशताब्दीके विद्वान् हैं, और इस टीकामें यशस्ति-लकचम्पू ( ई० ९५९ ), वसुनन्दिश्रावकाचार ( अनुमानतः वि० की १३वीं शताब्दीका पूर्व भाग ) तथा पद्मनन्दि उपासकाचार ( अनुमानतः वि० सं० ११८० ) के श्लोक उद्धृत पाए जाते हैं, इसलिए यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी नहीं हो सकती।" इनके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि—जब प्रभाचन्द्रका समय अन्य अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध होता है तब यदि ये टीकाएँ भी उन्हीं प्रभाचन्द्रकी ही हों तो भी इसमें यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृतके वाक्योंका उद्धृत होना अस्वाभाविक एवं अनैतिहासिक नहीं है। वसुनन्दि और पद्मनन्दिका समय भी विक्रमकी १२ वीं और तेरहवीं सदी अनुमानमात्र है, कोई दृढ़ प्रमाण इसके साधक नहीं दिए गए हैं। पद्मनन्दि शुभचन्द्रके शिष्य थे यह बात पद्मनन्दिके ग्रन्थसे तो नहीं मालूम होती। वसुनन्दिकी 'पडिगह-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि ग्रन्थोंकी भी प्रभाचन्द्रकृत होनेकी संभावना की है, वह खास तौरसे विचारणीय है।

---

मुच्चट्ठाणं' गाथा स्वयं उन्हींकी बनाई है या अन्य किसी आचार्यकी यह भी अभी निश्चित नहीं है। पद्मनन्दिश्रावकाचारके 'अध्रुवाशरणे' आदि श्लोक भी रत्नकरण्डटीकामें पद्मनन्दिका नाम लेकर उद्धृत नहीं हैं और न इन श्लोकोंके पहिले 'उक्तं च, तथा चोक्तम्' आदि कोई पद ही दिया गया है जिससे इन्हें उद्धृत ही माना जाय। तात्पर्य यह कि मुख्तार सा० ने इन टीकाओंके प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत न होने में जो प्रमाण दिए हैं वे दृढ़ नहीं हैं। रत्नकरण्डटीका तथा समाधितन्त्रटीकामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका एक साथ विशिष्टशैलीसे उल्लेख होना इसकी सूचना करता है कि ये टीकाएँ भी प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी ही होनी चाहिए। वे उल्लेख इस प्रकार हैं—

"तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्"—रत्नक० टी०, पृ० ६। "यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।"—समाधितन्त्रटी०, पृ० १५।

इन दोनों अवतरणोंकी प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करके निम्नलिखित अवतरणसे तुलना करनेपर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि शब्दाम्भोजभास्करके कर्त्ताने ही उक्त टीकाओंको बनाया है—

"तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम्।"—शब्दाम्भोजभास्कर।

प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमें पाई जानेवाली अञ्जनचोर आदिकी कथाओंसे रत्नकरण्डटीकागत कथाओंका अक्षरशः सादृश्य है। इति।

३. क्रियाकलापटीकाकी एक लिखित प्रति बम्बईके सरस्वती भवनमें है। उसके मंगल और प्रशस्ति श्लोक निम्नलिखित हैं—

मंगल– "जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्धं प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम्।
अनन्तबोधादिभवं गुणौघं क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये॥"

प्रशस्ति– "वन्दे मोहतमोविनाशनपटुस्त्रैलोक्यदीपप्रभुः,
संसृद्धतिसमन्वितस्य निखिलस्नेहस्य संशोषकः।
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रकिरणः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः,
तच्छिष्यात्प्रकटार्थतां स्तुतिपदं प्राप्तं प्रभाचन्द्रतः॥ १॥
यो रात्रौ दिवसे पृथि प्रयतां (?) दोषा यतीनां कुतो प्योपाताः (?)
प्रलयं तु'''रमलस्तेषां महादर्शितः।
श्रीमद्गौतमनाभिभिर्गणधरैर्लोकत्रयोद्द्योतकैः, सव्यक्तं (?)
सकलोऽप्यसौ यतिपतेर्जातिः प्रभाचन्द्रतः॥ २॥
यः (यत्) सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितौष्ठद्वयम्,
नो वाञ्छाकलितन्त दोषमलिनं न श्वासतुद्ध (रुद्ध) क्रमम्।
शान्तामर्थविषयैः (मर्षविषैः) समं परशु (पशु) गणैराकर्णितं कर्णतः,
तद्वत् सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वकः॥ ३॥"

इन प्रशस्तिश्लोकोंसे ज्ञात होता है कि जिन प्रभाचन्द्रने क्रियाकलापटीका रची हैं वे पद्मनन्दि-सैद्धान्तिकके शिष्य थे। न्यायकुमुदचन्द्र आदिके कर्ता प्रभाचन्द्र भी पद्मनन्दिसैद्धान्तिकके ही शिष्य थे, अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियाकलापटीका और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके कर्ता एक ही प्रभाचन्द्र हैं इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। प्रशस्तिश्लोकोंकी रचनाशैली भी प्रमेयकमल० आदिकी प्रशस्तियोंसे मिलती-जुलती है।

४. आत्मानुशासनतिलककी प्रति श्री प्रेमीजीने भेजी है। उसका मंगल और प्रशस्ति इस प्रकार है—

मंगल– "वीरं प्रणम्य भववारिनिधिप्रपोतमुद्द्योतिताखिलपदार्थमनल्पपुण्यम्।
निर्वाणमार्गमनवद्यगुणप्रबन्धमात्मानुशासनमहं प्रवरं प्रवक्ष्ये ॥"

प्रशस्ति– "मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोदयं निर्मलम्,
भव्यार्थं परमं प्रभेन्दुकृतिना व्यक्तैः प्रसन्नैः पदैः।
व्याख्यानं वरमात्मशासनमिदं व्यामोहविच्छेदतः,
सूक्तार्थेषु कृतादरैरहरहश्चेतस्यलं चिन्त्यताम् ॥ १ ॥

इतिश्री आत्मानुशासन ( नं ) सतिलक ( कं ) प्रभाचन्द्राचार्यविरचित ( तं ) सम्पूर्णम्।"



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तत्त्वार्थवृत्ति और श्रुतसागर सूरि

## १ ग्रन्थविभाग

### तत्त्व और तत्त्वाधिगमके उपाय

आजसे २५००–२६०० वर्ष पूर्व इस भारतभूमिके बिहार प्रदेशमें दो महान् नक्षत्रोंका उदय हुआ था, जिनकी प्रभासे न केवल भारत ही आलोकित हुआ था किन्तु सुदूर एशियाके चीन, जापान, तिब्बत आदि देश भी प्रकाशित हुए थे। आज भी विश्वमें जिनके कारण भारतका मस्तक गर्वोन्नत है, वे थे निग्गंठनाथपुत्त वर्धमान और शौद्धोदनि–गौतम बुद्ध। इनके उदयके २५० वर्ष पहले तीर्थंकर पार्श्वनाथने काशी देशमें जन्म लिया था और श्रमणपरंपराके चातुर्याम संवरका जगत्को उपदेश दिया था। बुद्धने बोधिलाभके पहिले पार्श्वनाथकी परंपराके केशलुंच, आदि उग्रतपोंको तपा था, पर वे इस मार्गमें सफल न हो सके और उनने मध्यम मार्ग निकाला। निग्गंठनाथपुत्त साधनोंकी पवित्रता और कठोर आत्मानुशासनके पक्षपाती थे। वे नग्न रहते थे, किसी भी प्रकारके परिग्रहका संग्रह उन्हें हिंसाका कारण मालूम होता था। मात्र लोकसंग्रहके लिए आचारके नियमोंको मृदु करना उन्हें इष्ट नहीं था। संक्षेपमें बुद्ध मातृहृदय दयामूर्ति थे और निग्गंठनाथपुत्त पितृचेतस्क साधनामय संशोधक योगी थे। बुद्धके पास जब उनके शिष्य आकर कहते थे—'भन्ते, जन्ताघरकी अनुज्ञा दीजिए, या तीन चीवरकी अनुज्ञा दीजिए' तो दयालु बुद्ध शिष्यसंग्रहके लिए उनकी सुविधाओंका ध्यान रखकर आचारको मृदु कर उन्हें अनुज्ञा देते थे। महावीरकी जीवनचर्या इतनी अनुशासित थी कि उनके संघके शिष्योंके मनमें यह कल्पना ही नहीं आती थी कि आचारके नियमोंको मृदु करानेका प्रस्ताव भी महावीरसे किया जा सकता है। इस तरह महावीरकी संघपरम्परामें चुने हुए अनुशासित दीर्घ तपस्वी थे, जब कि बुद्धका संघ मृदु, मध्यम, सुकुमार सभी प्रकारके भिक्षुओंका संग्राहक था। यद्यपि महावीरकी तपस्याके नियम अत्यन्त अहिंसक, अनुशासनबद्ध और स्वावलंबी थे फिर भी उस समय उनका संघ काफी बड़ा था। उसकी आचारनिष्ठा दीर्घ तपस्या और अनुशासनकी साक्षी पाली साहित्यमें पग-पगपर मिलती है।

महावीर कालमें ६ प्रमुख संघनायकोंकी चर्चा पिटक साहित्य और आगम साहित्यमें आती है। बौद्धोंके पाली ग्रन्थोंमें उनकी जो चर्चा है उस आधारसे उनका वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं—

१–अजितकेशकम्बलि—भौतिकवादी, उच्छेदवादी।
२–मक्खलिगोशाल—नियतिवादी, संसारशुद्धिवादी।
३–पूरण कश्यप—अक्रियावादी।
४–प्रक्रुध कात्यायन—शाश्वतार्थवादी, अन्योन्यवादी।
५–संजयवेलट्ठिपुत्त—संशयवादी, अनिश्चयवादी या विक्षेपवादी।
६–बुद्ध—अव्याकृतवादी, चतुरार्यसत्यवादी, अभौतिक क्षणिक अनात्मवादी।
७–निग्गंठनाथपुत्त—स्याद्वादी, चातुर्यामसंवरवादी।

अजितकेशकम्बलिका कहना था कि—"दान, यज्ञ तथा होम सब कुछ नहीं है। भले बुरे कर्मोंका फल नहीं मिलता। न इहलोक है, न परलोक है, न माता है, न पिता है, न अयोनिज (औपपातिक देव) सत्य है, और न इहलोकमें वैसे ज्ञानी और समर्थश्रमण या ब्राह्मण हैं जो इसलोक और परलोकको स्वयं जानकर और साक्षात्कारकर कहेंगे। मनुष्य पाँच महाभूतोंसे मिलकर बना है। मनुष्य जब मरता है तब पृथ्वी



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महापृथ्वीमें, जल-जलमें, तेज-तेजमें, वायु-वायुमें और इंद्रियाँ आकाशमें लीन हो जाती हैं। लोग मरे हुए मनुष्यको खाटपर रखकर ले जाते हैं, उसकी निन्दा प्रशंसा करते हैं। हड्डियाँ उजली हो बिखर जाती हैं और सब कुछ भस्म हो जाता है। मूर्ख लोग जो दान देते हैं उसका कोई फल नहीं होता। आस्तिकवाद झूठा है। मूर्ख और पंडित सभी शरीरके नष्ट होते ही उच्छेदको प्राप्त हो जाते हैं। मरनेके बाद कोई नहीं रहता।"

इस तरह अजितका मत उच्छेद या भौतिकवादका प्रख्यापक था।

२–मक्खलिगोशालका मत—"सत्त्वोंके क्लेशका कोई हेतु नहीं है, प्रत्यय नहीं है। बिना हेतुके और बिना प्रत्ययके ही सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वोंकी शुद्धिका कोई हेतु नहीं है, कोई प्रत्यय नहीं है। बिना हेतुके और बिना प्रत्ययके सत्त्व शुद्ध होते हैं। अपने कुछ नहीं कर सकते हैं, पराये भी कुछ नहीं कर सकते हैं, (कोई) पुरुष भी कुछ नहीं कर सकता है, बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुषका कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अपने वशमें नहीं है, निर्बल, निर्वीर्य, भाग्य और संयोगके फेरसे छै जातियोंमें उत्पन्न हो सुख और दुःख भोगते हैं। वे प्रमुख योनियाँ चौदह लाख छियासठ सौ हैं। पाँच सौ पाँच कर्म, तीन अर्ध कर्म (केवल मनसे शरीरसे नहीं), बासठ प्रतिपदाएँ (मार्ग), बासठ अन्तरकल्प, छै अभिजातियाँ, आठ पुरुषभूमियाँ, उन्नीस सौ आजीवक, उनचास सौ परिव्राजक, उनचास सौ नाग-आवास, बीस सौ इंद्रियाँ, तीस सौ नरक, छत्तीस रजोधातु, सात संज्ञी (होशवाले) गर्भ सात, असंज्ञी गर्भ, सात निर्ग्रन्थ गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात पिशाच, सात स्वर, सात सौ सात गाँठ, सात सौ सात प्रपात, सात सौ सात स्वप्न, और अस्सी लाख छोटे बड़े कल्प हैं, जिन्हें मूर्ख और पंडित जानकर और अनुगमनकर दुःखोंका अंत कर सकते हैं। वहाँ यह नहीं है—इस शील या व्रत या तप, ब्रह्मचर्यसे मैं अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूँगा। परिपक्व कर्मको भोगकर अन्त करूँगा। सुख दुःख द्रोण (–नाप) से तुले हुए हैं, संसारमें घटना-बढ़ना उत्कर्ष, अपकर्ष नहीं होता। जैसे कि सूतकी गोली फेंकनेपर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही मूर्ख और पंडित दौड़कर—आवागमनमें पड़कर, दुःखका अन्त करेंगे।"

गोशालक पूर्ण भाग्यवादी था। स्वर्ग, नरक आदि मानकर भी उनकी प्राप्ति नियत समझता था, उसके लिए पुरुषार्थ कोई आवश्यक या कार्यकारी नहीं था। मनुष्य अपने नियत कार्यक्रमके अनुसार सभी योनियोंमें पहुँच जाता है। यह मत पूर्ण नियतिवादका प्रचारक था।

३–पूरण कश्यप—"करते कराते, छेदन करते, छेदन कराते, पकाते पकवाते, शोक करते, परेशान होते, परेशान कराते, चलते चलाते, प्राण मारते, बिना दिये लेते, सेंध काटते, गाँव लूटते, चोरी करते, बटमारी करते, परस्त्रीगमन करते, झूठ बोलते भी, पाप नहीं किया जाता। छुरेसे तेज चक्र द्वारा जो इस पृथ्वीके प्राणियोंका (कोई) एक मांसका खलियान, एक मांसका पुञ्ज बना दे; तो इसके कारण उसको पाप नहीं, पापका आगम नहीं होगा। यदि घात करते कराते, काटते, कटाते, पकाते पकवाते, गंगाके दक्षिण तीरपर भी जाये; तो भी इसके कारण उसको पाप नहीं, पापका आगम नहीं होगा। दान देते, दान दिलाते, यज्ञ करते, यज्ञ कराते, यदि गंगाके उत्तर तीर भी जाये, तो इसके कारण उसको पुण्य नहीं, पुण्यका आगम नहीं होगा। दान दम संयमसे, सत्य बोलनेसे न पुण्य है, न पुण्यका आगम है।"

पूरण कश्यप परलोकमें जिनका फल मिलता है ऐसे किसी भी कर्मको पुण्य या पापरूप नहीं समझता था। इस तरह पूरण कश्यप पूर्ण अक्रियावादी था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४–प्रकुध कात्यायनका मत था—"यह सात काय ( समूह ) अकृत–अकृतविध–अनिर्मित–निर्माण-रहित, अबध्य–कूटस्थ, स्तम्भवत् ( अचल ) हैं। यह चल नहीं होते, विकारको प्राप्त नहीं होते; न एक-दूसरेको हानि पहुँचाते हैं; न एक-दूसरेके सुख, दुःख या सुख-दुःखके लिए पर्याप्त हैं। कौनसे सात ? पृथिवी-काय, अपकाय, तेज काय, वायु-काय, सुख, दुःख और जीवन यह सात काय अकृत० सुख-दुःखके योग्य नहीं हैं। यहाँ न हन्ता ( –मारनेवाला ) है, न घातयिता ( –हनन करनेवाला ). न सुननेवाला, न सुनानेवाला, न जाननेवाला, न जतलानेवाला। जो तीक्ष्ण शस्त्रसे शीश भी काटे ( तो भी ) कोई किसीको प्राणसे नहीं मारता। सातों कायोंसे अलग, विवर ( –खाली जगह ) में शस्त्र ( –हथियार ) गिरता है।"

यह मत अन्योन्यवाद या शाश्वतवाद कहलाता था।

५–संजय वेलट्ठि पुत्तका मत था—"यदि आप पूछें. क्या परलोक है ? और यदि मैं समझूँ कि परलोक है, तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरहसे भी नहीं कहता, मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं है', मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं नहीं है।' परलोक नहीं है०। परलोक है भी और नहीं भी०, परलोक न है और न नहीं है०। अयोनिज (–औप-पातिक) प्राणी हैं०। अयोनिज प्राणी नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं०। अच्छे बुरे काम के फल हैं, नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं०। तथागत मरनेके बाद होते हैं, नहीं होते हैं०। यदि मुझे ऐसा पूछें और मैं ऐसा समझूँ कि मरनेके बाद तथागत न रहते हैं और न नहीं रहते हैं तो मैं ऐसा आपको कहूँ। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता।"

संजय स्पष्टतः संशयालु क्या घोर अनिश्चयवादी या आज्ञानिक था। उसे तत्त्वकी प्रचलित चतु-ष्कोटियोंमेंसे एकका भी निर्णय नहीं था। पालीपिटकमें इसे 'अमराविक्षेपवाद' नाम दिया है। भले ही हमलोगोंकी समझमें यह विक्षेपवादी ही हो पर संजय अपने अनिश्चयमें निश्चित था।

६–बुद्ध—अव्याकृतवादी थे। उनने इन दस बातोंको अव्याकृत[1] बतलाया है। १–लोक शाश्वत है ? २–लोक अशाश्वत है ? ३–लोक अन्तवान् है ? ४–लोक अनन्त है ? ५–वही जीव वही शरीर है ? ६–जीव अन्य और शरीर अन्य है ? ७–मरनेके बाद तथागत रहते हैं ? ८–मरनेके बाद तथागत नहीं रहते ? ९–मरनेके बाद तथागत होते भी हैं नहीं भी होते ? १०–मरनेके बाद तथागत नहीं होते, नहीं नहीं होते ?

इन प्रश्नोंमें लोक आत्मा और परलोक या निर्वाण इन तीन मुख्य विवादग्रस्त पदार्थोंको बुद्धने अव्या-कृत कहा। दीघनिकायके पोट्ठवादसुत्तमें इन्हीं प्रश्नोंको अव्याकृत कहकर [2]अनेकांशिक कहा है। जो व्याकर-णीय हैं उन्हें 'ऐकांशिक' अर्थात् एक सुनिश्चितरूपमें जिनका उत्तर हो सकता है कहा है। जैसे दुःख आर्यसत्य है हो ? उसका उत्तर हो 'है ही' इस एक अंशरूपमें दिया जा सकता है। परन्तु लोक आत्मा और निर्वाण-

---

१. "सस्सतो लोको इतिपि, असस्सतो लोको इतिपि, अन्तवा लोको इतिपि, अनन्तवा लोको इतिपि, तं जीवं त सरीरं इतिपि, अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीर इतिपि, होति तथागतो परम्मरणा इतिपि, होतिच न च होति च तथागतो पम्मरणा इतिपि, नेव होति न नहोति तथागतो परम्मरणा इतिपि।"—मज्झिमनि० चूलमालुक्यसुत्त।

२. "कतमे च ते पोट्ठपाद मया अनेकसिका धम्मा देसिता पञ्ञत्ता ? सस्सतो लोको ति वा पोट्ठपाद मया अनेकसिको धम्मो देसितो पञ्ञतो। असस्सतो लोको ति खो पोट्ठपाद मया अनेकसिको. ."—दीघनि० पोट्ठपादसुत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संबंधी प्रश्न अनेकांशिक हैं अर्थात् इनका उत्तर हाँ या न इनमेंसे किसी एकके द्वारा नहीं दिया जा सकता। कारण बुद्धने स्वयं बताया है कि यदि वही जीव वही शरीर कहते हैं तो उच्छेदवाद अर्थात् भौतिकवादका प्रसंग आता है जो बुद्धको इष्ट नहीं और यदि अन्य जीव और अन्य शरीर कहते हैं तो नित्य आत्मवादका प्रसंग आता है जो भी बुद्धको इष्ट नहीं था। बुद्धने प्रश्नव्याकरण चार प्रकारका बताया है—(१) एकांश ( है या नहीं एकमें ) व्याकरण, प्रतिपृच्छाव्याकरणीय प्रश्न, विभज्य व्याकरणीय प्रश्न और स्थापनीय प्रश्न। जिन प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत कहा है उन्हें अनेकांशिक भी कहा है अर्थात् उनका उत्तर एक है या नहीं में नहीं दिया जा सकता। फिर इन प्रश्नोंके बारेमें कुछ कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्याके लिए उपयोगी नहीं और न निर्वेद, निरोध, शांति, परमज्ञान या निर्वाणके लिए आवश्यक है।

इस तरह बुद्ध जब आत्मा, लोक और निर्वाणके सम्बन्धमें कुछ भी कहनेको अनुपयोगी बताते हैं तो उसका सीधा अर्थ यही ज्ञात होता है कि वे इन तत्त्वोंके सम्बन्धमें अपना निश्चित मत नहीं बना सके थे। शिष्योंके तत्त्वज्ञानके झगड़ेमें न डालनेकी बात तो इसलिए समझमें नहीं आती कि जब उस समयका प्रत्येक मतप्रचारक इनके विषयमें अपने मतका प्रतिपादन करता था, उसका समर्थन करता था, जगह-जगह इन्हींके विषयमें वाद रोपे जाते थे, तब उस हवासे शिष्योंकी बुद्धिको अचलित रखना दुःशक ही नहीं अशक्य ही था। बल्कि इन अव्याकृत कोटिकी सृष्टि ही उन्हें बौद्धिक हीनताका कारण बनती होगी।

बुद्धका इन्हें अनेकांशिक कहना भी अर्थपूर्ण हो सकता है। अर्थात् वे एकान्त न मानकर अनेकांश मानते तो थे पर चूंकि निग्गंठनाथपुत्तने इस अनेकांशताका प्रतिपादन सियावाद अर्थात् स्याद्वादसे करना प्रारम्भ कर दिया था, अतः विलक्षणशैली स्थापनके लिए उनने इन्हें अव्याकृत कह दिया हो। अन्यथा अनेकांशिक और अनेकान्तवादमें कोई खास अन्तर नहीं मालूम होता। यद्यपि संजयवेलट्ठिपुत्त, बुद्ध और निग्गंठनाथपुत्त इन तीनोंका मत अनेकांशको लिए हुए है, पर संजय उन अनेक अंशोंके सम्बन्धमें स्पष्ट अनिश्चयवादी है। वह साफ-साफ कहता है कि "यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ कि परलोक है या नहीं है आदि"। बुद्ध कहते हैं यह अव्याकृत है। इस अव्याकृति और संजयकी अनिश्चितिमें क्या सूक्ष्म अन्तर है सो तो बुद्ध ही जानें, पर व्यवहारतः शिष्योंके पल्ले न तो संजय ही कुछ दे सके और न बुद्ध ही। बल्कि संजयके शिष्य अपना यह मत बना भी सके होंगे कि—इन आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका निश्चय नहीं हो सकता, किन्तु बुद्धशिष्योंका इन पदार्थोंके विषयमें बुद्धिभेद आज तक बना हुआ है। आज श्री राहुल सांकृत्यायन बुद्धके मतको अभौतिक अनात्मवाद जैसा उभयप्रतिषेधी नाम देते हैं। इधर आत्मा शब्दसे नित्यत्वका डर है उधर भौतिक कहनेसे उच्छेदवादका भय है। किंतु यदि निर्वाणदशामें दीपनिर्वाणकी तरह चित्तसन्ततिका निरोध हो जाता है तो भौतिकवादसे क्या विशेषता रह जाती है? चार्वाक हर एक जन्ममें आत्माकी भूतोंसे उत्पत्ति मानकर उनका भूतविलय मरणकालमें मान लेता है। बुद्धने इस चित्तसन्ततिको पंचस्कंधरूप मानकर उसका विलय हर एक मरणके समय न मानकर संसारके अन्तमें माना। जिस प्रकार रूप एक मौलिक तत्त्व अनादि अनन्त धारारूप है उस प्रकार चित्तधारा न रही, अर्थात् चार्वाकका भौतिकत्व एक जन्मका है जब कि बुद्धका भौतिकत्व एक संसारका। इस प्रकार बुद्ध तत्त्वज्ञानकी दिशामें संजय या भौतिकवादी अजितके विचारोंमेंही दोलान्दोलित रहे और अपनी इस दशामें भिक्षुओंको न डालनेकी शुभेच्छासे उनने इनका अव्याकृत रूपसे उपदेश दिया। उनने शिष्योंको समझा दिया कि इस वाद-प्रतिवादसे निर्वाण नहीं मिलेगा, निर्वाणके लिए चार आर्यसत्योंका ज्ञान ही आवश्यक है। बुद्धने कहा कि दुःख, दुःखके कारण, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधका मार्ग इन चार आर्यसत्योंको जानो। इनके यथार्थ ज्ञानसे दुःखनिरोध होकर मुक्ति हो जायगी। अन्य किसी ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निग्गंठनाथपुत्त—निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावीर स्याद्वादी और सप्ततत्त्वप्रतिपादक थे। उनके विषयमें यह प्रवाद था कि निग्गंठनाथपुत्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, उन्हें सोते जागते हर समय ज्ञानदर्शन उपस्थित रहता है। ज्ञातपुत्र वर्धमानने उस समयके प्रत्येक तीर्थंकरकी अपेक्षा वस्तुतत्त्वका सर्वांगीण साक्षात्कार किया था। वे न संजयकी तरह अनिश्चयवादी थे और न बुद्धकी तरह अव्याकृतवादी और न गोशालक आदिकी तरह भूतवादी ही। उनने प्रत्येक वस्तुको परिणामीनित्य बताया। आजतक उस समयके प्रचलित मतवादियोंके तत्त्वोंका स्पष्ट पता नहीं मिलता। बुद्धने स्वयं कितने तत्त्व या पदार्थ माने थे यह आजभी विवादग्रस्त है। पर महावीरके तत्त्व आजतक निर्विवाद चले आए हैं। महावीरने वस्तुतत्त्वका एक स्पष्टदर्शन प्रस्तुत किया उनने कहा कि—इस जगत्में कोई द्रव्य या सत् नया उत्पन्न नहीं होता और जो द्रव्य या सत् विद्यमान हैं उनमें प्रतिक्षण परिवर्त्तन होनेपरभी उनका अत्यंत विनाश नहीं हो सकता। पर कोई भी पदार्थ दो क्षणतक एक पर्यायमें नहीं रहता, प्रतिक्षण नूतन पर्याय उत्पन्न होती है पूर्व पर्याय विनष्ट होती है पर उस मौलिक तत्त्वका आत्यन्तिक उच्छेद नहीं होता, उसकी धारा प्रवाहित रहती है। चित्तसन्तति निर्वाणावस्थामें शुद्ध हो जाती है पर दीपककी तरह बुझकर अस्तित्वविहीन नहीं होती। रूपान्तर तो हो सकता है पदार्थान्तर नहीं और न अपदार्थ ही या पदार्थविलय ही। इस संसारमें अनन्त चेतन आत्माएँ अनन्त पुद्गल परमाणु, एक आकाश द्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्य कालपरमाणु इतने मौलिक द्रव्य हैं। इनकी संख्यामें कमी नहीं हो सकती और न एक भी नूतन द्रव्य उत्पन्न होकर इनकी संख्यामें एककी भी वृद्धि कर सकता है। प्रतिक्षण परिवर्तन प्रत्येक द्रव्यका होता रहता है उसे कोई नहीं रोक सकता, यह उसका स्वभाव है।

महावीरकी जो मातृकात्रिपदी समस्त द्वादशांगका आधार बनी, वह यह है—"उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" अर्थात् प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है, विनष्ट होता है, और ध्रुव है। उत्पाद और विनाशसे पदार्थ रूपान्तरको प्राप्त होता है पर ध्रुवसे अपना मौलिक अस्तित्व नहीं खोता। जगत्से किसी भी 'सत्' का समूल विनाश नहीं होता। इतनी ही ध्रुवता है। इसमें न कूटस्थनित्यत्व जैसे शाश्वतवादका प्रसंग है और न सर्वथा उच्छेदवादका ही। मूलतः प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है। उसमें यही अनेकांशता या अनेकान्तता या अनेकधर्मात्मकता है। इसके प्रतिपादनके लिए महावीरने एक खास प्रकारकी भाषा-शैली बनाई थी। उस भाषाशैलीका नाम स्याद्वाद है। अर्थात् अमुक निश्चित अपेक्षासे वस्तु ध्रुव है और अमुक निश्चित अपेक्षासे उत्पादव्ययवाली। अपने मौलिक सत्त्वसे च्युत न होनेके कारण उसे ध्रुव कहते हैं तथा प्रतिक्षण रूपान्तर होनेके कारण उत्पादव्ययवाली या अध्रुव कहते हैं। ध्रुव कहते समय अध्रुव अंशका लोप न हो जाय और अध्रुव कहते समय ध्रुव अंशका उच्छेद न समझा जाय इसलिए 'सिया' या 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् 'स्यात् ध्रुव है' इसका अर्थ है कि अपने मौलिक अस्तित्वकी अपेक्षा वस्तु ध्रुव है, पर ध्रुवमात्र ही नहीं है इसमें ध्रुवत्वके सिवाय अन्य धर्म भी हैं इसकी सूचनाके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग आवश्यक है। इसी तरह रूपान्तरकी दृष्टिसे वस्तुमें अध्रुवत्व ही है पर वस्तु अध्रुवमात्र ही नहीं है उसमें अध्रुवत्वके सिवाय अन्य धर्म भी विद्यमान है इसकी सूचना 'स्यात्' पद देता है। तात्पर्य यह कि 'स्यात्' शब्द वस्तुमें विद्यमान अविवक्षित शेष धर्मोंकी सूचना देता है। बुद्ध जिस भाषाके सहज प्रकारको नहीं पा सके या प्रयोगमें नहीं लाये और जिसके कारण उन्हें अनेकांशिक प्रश्नोंको अव्याकृत कहना पड़ा उस भाषाके सहज प्रकारको महावीरने दृढ़ताके साथ व्यवहारमें लिया। पाली साहित्यमें 'स्यात्' 'सिया' शब्द का प्रयोग इसी निश्चित प्रकारकी सूचनाके लिए हुआ है। यथा मज्झिमनिकायके महाराहुलोवादसुत्तमें आपोधातुका वर्णन करते हुए लिखा है कि—"कतमा च राहुल आपोधातु ? आपोधातु सिया अज्झत्तिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिया वाहिरा।" अर्थात् आपोधातु कितने प्रकारकी है। एक आभ्यन्तर और दूसरी बाह्य। यहाँ आभ्यन्तर धातुके साथ 'सिया'—स्याद् शब्दका प्रयोग आपोधातुके आभ्यन्तरके सिवाय द्वितीय प्रकारकी सूचनाके लिए है। इसी तरह बाह्यके साथ 'सिया' शब्दका प्रयोग बाह्यके सिवाय आभ्यन्तर भेदकी सूचना देता है। तात्पर्य यह कि न तो तेजोधातु बाह्यरूप ही है और न आभ्यन्तर रूप ही। इस उभयरूपताकी सूचना 'सिया'—स्यात्' शब्द देता है। यहाँ न तो स्यात् शब्दका शायद अर्थ है और न संभवतः और न कदाचित् ही, क्योंकि तेजोधातु शायद आभ्यन्तर और शायद बाह्य नहीं है और न संभवतः आभ्यन्तर और बाह्य और न कदाचित् आभ्यन्तर और कदाचित् बाह्य, किन्तु सुनिश्चित रूपसे आभ्यन्तर और बाह्य उभय अंशवाली है। इसी तरह महावीरने प्रत्येक धर्मके साथ 'सिया-स्यात्' शब्द जोड़कर अविवक्षित शेष धर्मोंकी सूचना दी है। 'स्यात्' शब्दको शायद संभव या कदाचित्का पर्यायवाची कहना सिद्धान्त भ्रमपूर्ण है।

महावीरने वस्तुतत्त्वको अनन्तधर्मात्मक देखा और जाना। प्रत्येक पदार्थ अनन्त ही गुण पर्यायोंका अखण्ड आधार है। उसका विराट् रूप पूर्णतया ज्ञानका विषय हो भी जाय पर शब्दोंके द्वारा तो नहीं ही कहा जा सकता। कोई ऐसा शब्द नहीं जो उसके पूर्ण रूपको स्पर्श कर सके। शब्द एक निश्चित दृष्टिकोणसे प्रयुक्त होते हैं और वस्तुके एक ही धर्मका कथन करते हैं। इस तरह जब स्वभावतः विवक्षानुसार अमुक धर्मका प्रतिपादन करते हैं तब अविवक्षित धर्मोंकी सूचनाके लिए एक ऐसा शब्द अवश्य ही रखना चाहिए जो वक्ता या श्रोताको भूलने न दे। 'स्यात्' शब्दका यही कार्य है, वह श्रोताको वस्तुके अनेकान्त स्वरूपका द्योतक करा देता है। यद्यपि बुद्धने इस अनेकांशिक सत्यके प्रकाशनकी स्याद्वादवाणीको न अपनाकर उन्हें अव्याकृत कोटिमें डाला है, पर उनका चित्त वस्तुकी अनेकांशिकताको स्वीकार अवश्य करता था।

निग्गंठनाथपुत्त महावीर ने वैदिक क्रियाकाण्डको उतना ही निरर्थक और श्रेयःप्रतिरोधी मानते थे जितना कि बुद्ध, और आचार अर्थात् चरित्रको वे मोक्षका अन्तिम साधन मानते थे। पर उनने यह साक्षात् अनुभव किया कि जबतक विश्वव्यवस्था और खासकर उस आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें शिष्य निश्चित विचार नहीं बना लेता है जिस आत्माको दुःख होता है और जिसे दुःखकी निवृत्ति करके निर्वाण पाना है तबतक वह मानसविचिकित्सासे मुक्त होकर साधना कर ही नहीं सकता। जब बाह्यजगत्के प्रत्येक क्षोकेमें यह आवाज गूँज रही हो कि—"आत्मा देहरूप है या देहसे भिन्न? परलोक क्या है? निर्वाण क्या है?" और अन्यतीर्थिक अपना मत प्रचारित कर रहे हों, इसीको लेकर वाद रोपे जाते हों उस समय शिष्योंको यह कहकर तत्काल चुप तो किया जा सकता है कि 'क्या रखा है इस विवादसे कि आत्मा है, हमें तो दुःखनिवृत्तिके लिए प्रयास करना चाहिए' परन्तु उनकी मानसशल्य और बुद्धिविचिकित्सा नहीं निकल सकती और वे इस बौद्धिकहीनता और विचारदीनताके हीनतर भावोंसे अपने चित्तकी रक्षा नहीं कर सकते। संघमें इन्हीं अन्यतीर्थिकोंके शिष्य और खासकर वैदिक ब्राह्मण भी दीक्षित होते थे। जब ये सब पंचमेल व्यक्ति जो मूल आत्माके विषयमें विभिन्न मत रखते हों और चर्चा भी करते हों तो मानस अहिंसक कैसे रह सकते हैं? जबतक उनका समाधान वस्तुस्थिति मूलक न हो जाय तब तक वे कैसे परस्पर समता और अहिंसाका वातावरण बना सकते होंगे?

महावीरने तत्त्वका साक्षात्कार किया और उनने धर्मकी सीधी परिभाषा बताई वस्तुका स्वरूपस्थित होना—"वत्थुसभावो धम्मो"—जिस वस्तुका जो स्वरूप है उसका उस पूर्णस्वरूपमें स्थिर होना ही धर्म है। अग्नि यदि अपनी उष्णताको लिए हुए है तो वह धर्मस्थित है। यदि वह वायुके झोंकोंसे स्पन्दित हो रही है तो कहना होगा कि वह चंचल है अतः अपने निश्चलस्वरूपसे च्युत होनेके कारण उतने अंशमें धर्मस्थित नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जल जबतक अपने स्वाभाविक शीतस्पर्शमें है तबतक वह धर्मस्थित है। यदि वह अग्निके संसर्गसे स्वरूप-च्युत हो जाता है तो वह अधर्मरूप हो जाता है और इस परसंयोगजन्य विभावपरिणतिको हटा देना ही जल-की मुक्ति है उसकी धर्मप्राप्ति है। रोगीके यदि अपने आरोग्यस्वरूपका भान न कराया जाय तो वह रोगको विकार क्यों मानेगा और क्यों उसकी निवृत्तिके लिए चिकित्सामें प्रवृत्ति करेगा? जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा तो स्वरूप आरोग्य है। इस अपथ्य आदिसे मेरा स्वाभाविक आरोग्य विकृत हो गया है, तभी वह उस आरोग्य प्राप्तिके लिए चिकित्सा कराता है। भारतकी राष्ट्रीय कांग्रेसने प्रत्येक भारतवासीको जब यह स्वरूप-बोध कराया कि–"तुम्हें भी अपने देशमें स्वतंत्र रहनेका अधिकार है इन परदेशियोंने तुम्हारी स्वतन्त्रता विकृत कर दी है, तुम्हारा इस प्रकार शोषण करके पददलित कर रहे हैं। भारत सन्तानों, उठो, अपने स्वातन्त्र्य-स्वरूपका भान करो" तभी भारतने अँगड़ाई ली और परतंत्रताका बन्धन तोड़ स्वातन्त्र्य प्राप्त किया। स्वातन्त्र्यस्वरूपका भान किए बिना उसके सुखदरूपकी झाँकी पाए बिना केवल परतन्त्रता तोड़नेके लिए वह उत्साह और सन्नद्धता नहीं आ सकती थी। अतः उस आधारभूत आत्माके मूलस्वरूपका ज्ञान प्रत्येक मुमुक्षको सर्वप्रथम होना ही चाहिए जिसे बन्धनमुक्त होना है।

भगवान् महावीरने मुमुक्षके लिए दुःख अर्थात् बन्ध, दुःखके कारण अर्थात् मिथ्यात्व आदि आस्रव, मोक्ष अर्थात् दुःखनिवृत्तिपूर्वक स्वरूपप्राप्ति और मोक्षके कारण संवर अर्थात् नूतन बन्धके कारणोंका अभाव और निर्जरा अर्थात् पूर्वसंचित दुःखकारणोंका क्रमशः विनाश, इस तरहके चतुरार्यसत्यकी तरह बन्ध, मोक्ष, आस्रव, संवर और निर्जरा इन पाँच तत्त्वोंके ज्ञानके साथ ही साथ जिस जीवको यह सब बन्ध मोक्ष होता है उस जीवका ज्ञान भी आवश्यक बताया है। शुद्ध जीवको बन्ध नहीं हो सकता। बन्ध दोमें होता है। अतः जिस कर्म-पुद्गलसे यह जीव बँधता है उस अजीव तत्त्वको भी जानना चाहिए जिससे उसमें राग-द्वेष आदिकी धारा आगे न चले। अतः मुमुक्षके लिए जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका ज्ञान आवश्यक है।

**जीव**—आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है। अनन्त है। अमूर्त है। चैतन्यशक्तिवाला है। ज्ञानादि पर्यायोंका कर्त्ता है। कर्मफलका भोक्ता है। स्वयंप्रभु है। अपने शरीरके आकारवाला है। मुक्त होते ही ऊर्ध्वगमनकर लोकान्तमें पहुँच जाता है।

भारतीय दर्शनोंमें प्रत्येकने कोई न कोई पदार्थ अनादि माने हैं। परम नास्तिक चार्वाक भी पृथ्वी आदि महाभूतोंको अनादि मानता है। ऐसे किसी क्षणकी कल्पना नहीं आती जिसके पहले कोई क्षण न रहा हो। समय कबसे प्रारम्भ हुआ इसका निर्देश असंभव है। इसी तरह समय कब तक रहेगा यह उत्तरावधि बताना भी असंभव है। जिस प्रकार काल आनादि अनन्त है उसकी पूर्वावधि और उत्तरावधि निश्चित नहीं की जा सकती उसी तरह आकाशकी कोई क्षेत्रकृत मर्यादा नहीं बताई जा सकती। 'सर्वतो ह्यनन्तं तत्' सभी ओरसे वह अनन्त है। आकाश और कालकी तरह हम प्रत्येक सद्के विषयमें यह कह सकते हैं कि उसका न किसी खास क्षणमें नूतन उत्पाद हुआ है और न किसी समय उसका समूल विनाश ही होगा। "नाऽसतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः" अर्थात् किसी असत्का सद्रूपसे उत्पाद नहीं होता और न किसी सत्का समूल विनाश ही हो सकता है। जितने गिने हुए सत् हैं उनकी संख्यामें वृद्धि नहीं हो सकती और उनकी संख्यामेंसे किसी एककी भी एक ही हो सकती है। रूपान्तर प्रत्येकका होता रहता है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा एक स्वतंत्र सत् है तथा पुद्गल परमाणु स्वतन्त्र सत्। अनादिसे यह आत्मा पुद्गलसे सम्बद्ध ही मिलता आया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनादिबद्ध माननेका कारण—आज आत्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म कर्मशरीरसे बद्ध मिलता है। आज इसका ज्ञान और सुख यहाँ तक कि जीवन भी शरीराधीन है। शरीरमें विकार होनेसे ज्ञानतन्तुओंमें क्षीणता आते ही स्मृतिभ्रंश आदि देखे ही जाते हैं। अतः आज संसारी आत्मा शरीरबद्ध होकर ही अपनी गतिविधि करता है। यदि आत्मा शुद्ध होता तो शरीरसम्बन्धका कोई हेतु ही नहीं था। शरीरसम्बन्ध या पुनर्जन्मके कारण हैं—राग, द्वेष, मोह और कषायादिभाव। शुद्ध आत्मामें ये विभावभाव हो ही नहीं सकते। चूँकि आज ये विभाव और उनका फल शरीरसम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभवमें आ रहा है अतः मानना होगा कि आज तक इनकी अशुद्ध परम्परा चली आई है।

भारतीय दर्शनोंमें यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर विधिमुखसे नहीं दिया जा सकता। ब्रह्ममें अविद्याका कब उत्पन्न हुई? प्रकृति और पुरुषका संयोग कब हुआ? आत्मासे शरीरसम्बन्ध कब हुआ? इसका एकमात्र उत्तर है-अनादिसे। दूसरा प्रकार है कि—यदि ये शुद्ध होते तो इनका संयोग हो ही नहीं सकता था। शुद्ध होनेके बाद कोई ऐसा हेतु नहीं रह जाता जो प्रकृतिसंसर्ग या अविद्योत्पत्ति होने दे। उसी तरह आत्मा यदि शुद्ध हो जाता है तो कोई कारण उसके अशुद्ध होनेका या पुद्गलसंयोगका नहीं रह जाता। जब दो स्वतंत्र सत्ताक द्रव्य हैं तब उनका संयोग चाहे जितना भी पुराना क्यों न हो नष्ट किया जा सकता है और दोनोंको पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—खानिसे सर्वप्रथम निकाले गये सोनेमें कीट असंख्य कालसे लगी होगी पर प्रयोगसे चूँकि वह पृथक् की जाती है, अतः यह निश्चय किया जाता है कि सुवर्ण अपने शुद्धरूपमें इस प्रकार है तथा कीट इस प्रकार। सारांश यह कि जीव और पुद्गलका बंध अनादि है। चूँकि वह दो द्रव्योंका बन्ध है अतः स्वरूपबोध हो जानेपर वह पृथक् किया जा सकता है।

आज जीवका ज्ञान दर्शन सुख राग द्वेष आदि सभी भाव बहुत कुछ इस जीवन पर्यायके अधीन है। एक मनुष्य जीवन भर अपने ज्ञानका उपयोग विज्ञान या धर्मके अध्ययनमें लगाता है। जवानीमें उसके मस्तिष्कमें भौतिक उपादान अच्छे थे, प्रचुर मात्रामें थे, तो वे ज्ञानतन्तु चैतन्यको जगाए रखते थे। बुढ़ापा आनेपर उसका मस्तिष्क शिथिल पड़ जाता है। विचारशक्ति लुप्त होने लगती है। स्मरण नहीं रहता। वही व्यक्ति अपनी जवानीमें लिखे गये लेखकों को बुढ़ापेमें पढ़ता है तो उसे स्वयं आश्चर्य होता है। वह विश्वास नहीं करता कि यह उसीने लिखा होगा। मस्तिष्ककी यदि कोई भौतिक ग्रन्थि बिगड़ जाती है तो मनुष्य पागल हो जाता है। दिमागका यदि कोई पेंच कस गया या ढीला हो गया तो उन्माद, सन्देह आदि अनेक प्रकारकी धारायें जीवनको ही बदल देती हैं। मुझे एक ऐसे योगीका प्रत्यक्ष अनुभव है जिसे शरीरकी नसोंका विशिष्ट ज्ञान था। वह मस्तिष्ककी एक किसी खास नसको दबाता था तो मनुष्यको हिंसा और क्रोधके भाव उत्पन्न हो जाते थे। दूसरे ही क्षण दूसरी नसके दबाते ही अत्यन्त दया और करुणाके भाव होते थे और वह रोने लगता था। एक तीसरी नसके दबाते ही लोभका तीव्र उदय होता था और यह इच्छा होती थी कि चोरी कर लें। एक नसके दबाते ही परमात्मभक्तिकी ओर मनकी गति होने लगती थी। इन सब घटनाओंसे एक इस निश्चित परिणामपर तो पहुँच ही सकते हैं कि हमारी सारी शक्तियाँ जिनमें ज्ञान दर्शन सुख राग द्वेष कषाय आदि हैं, इस शरीर पर्यायके अधीन हैं। शरीरके नष्ट होते ही जीवन भरमें उपार्जित ज्ञान आदि पर्यायशक्तियाँ बहुत कुछ नष्ट हो जाती हैं। परलोक तक इनके कुछ सूक्ष्म संस्कार जाते हैं।

आज इस अशुद्ध आत्माकी दशा अर्धभौतिक जैसी हो रही है। इन्द्रियाँ यदि न हों तो ज्ञानकी शक्ति बनी रहनेपर भी ज्ञान नहीं हो सकता। आत्मामें सुननेकी और देखनेकी शक्ति मौजूद है पर यदि आँखें फूट जायँ और कान फट जायँ तो वह शक्ति रखी रह जायगी और देखना-सुनना नहीं हो सकेगा। विचारशक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यमान है पर मन यदि ठीक नहीं है तो विचार नहीं किये जा सकते। पक्षाघात यदि हो जाय तो शरीर देखनेमें वैसा ही मालूम होता है पर सब शून्य। निष्कर्ष यह कि अशुद्ध आत्माकी दशा और इसका सारा विकास पुद्गलके अधीन हो रहा है। जीवननिमित्त भी खान-पान श्वासोच्छ्वास आदि सभी साधन भौतिक ही अपेक्षित होते हैं। इस समय यह जीव जो भी विचार करता है, देखता है, जानता है या क्रिया करता है उसका एक जातिका संस्कार आत्मापर पड़ता है और उस संस्कारकी प्रतीक एक भौतिक रेखा मस्तिष्कमें खिंच जाती है। दूसरे, तीसरे, चौथे जो भी विचार या क्रियाएँ होती हैं उन सबके संस्कारोंको यह आत्मा धारण करता है और उनकी प्रतीक टेढ़ी-सीधी, गहरी-उथली, छोटी-बड़ी नाना प्रकारकी रेखाएँ मस्तिष्कमें भरे हुए मक्खन जैसे भौतिक पदार्थपर खिंचती चली जाती हैं। जो रेखा जितनी गहरी होगी वह उतने ही अधिक दिनों तक उस विचार या क्रियाकी स्मृति करा देती है। तात्पर्य यह कि आजका ज्ञान शक्ति और सुख आदि सभी पर्याय शक्तियाँ हैं जो इस शरीर-पर्याय तक ही रहती हैं।

व्यवहारनयसे जीवको मूर्तिक माननेका अर्थ यही है कि अनादिसे यह जीव शरीरसम्बद्ध ही मिलता आया है। स्थूल शरीर छोड़नेपर भी सूक्ष्म कर्म शरीर सदा इसके साथ रहता है। इसी सूक्ष्म कर्म शरीरके नाशको ही मुक्ति कहते हैं। जीव पुद्गल दो द्रव्य ही ऐसे हैं जिनमें क्रिया होती है तथा विभाव या अशुद्ध परिणमन होता है। पुद्गलका अशुद्ध परिणमन पुद्गल और जीव दोनोंके निमित्तसे होता है जबकि जीवका अशुद्ध परिणमन यदि होगा तो पुद्गलके ही निमित्तसे। शुद्ध जीवमें अशुद्ध परिणमन न तो जीवके निमित्तसे हो सकता है और न पुद्गलके निमित्तसे। अशुद्ध जीवके अशुद्ध परिणमनकी धारामें पुद्गल या पुद्गलसम्बद्ध जीव निमित्त होता है। जैन सिद्धान्तने जीवको देहप्रमाण माना है। यह अनुभवसिद्ध भी है। शरीरके बाहर उस आत्माके अस्तित्व माननेका कोई खास प्रयोजन नहीं रह जाता और न यह तर्कगम्य ही है। जीवके ज्ञानदर्शन आदि गुण उसके शरीरमें ही उपलब्ध होते हैं शरीरके बाहर नहीं। छोटे बड़े शरीरके अनुसार असंख्यातप्रदेशी आत्मा संकोच-विकोच करता रहता है। चार्वाकका देहात्मवाद तो देहको ही आत्मा मानता है तथा देहकी परिस्थितिके साथ आत्माका भी विनाश आदि स्वीकार करता है। जैनका देहपरिमाण-आत्मवाद पुद्गलदेहसे आत्मद्रव्यकी अपनी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है। न तो देहकी उत्पत्तिसे आत्माकी उत्पत्ति होती है और न देहके विनाशसे आत्मविनाश। जब कर्मशरीरकी शृंखलासे यह आत्मा मुक्त हो जाता है तब अपनी शुद्ध चैतन्य दशामें अनन्तकाल तक स्थिर रहता है। प्रत्येक द्रव्यमें एक अगुरुलघुगुण होता है जिसके कारण उसमें प्रतिक्षण परिणमन होते रहनेपर भी न तो उसमें गुरुत्व ही आता है और न लघुत्व ही। द्रव्य अपने स्वरूपमें सदा परिवर्तन करते रहते भी अपनी अखण्ड मौलिकताको भी नहीं खोता।

आजका विज्ञान भी हमें बताता है कि जीव जो भी विचार करता है उसकी टेढ़ी-सीधी, उथली-गहरी रेखाएँ मस्तिष्कमें भरे हुए मक्खन जैसे श्वेत पदार्थमें खिंचती जाती हैं और उन्हींके अनुसार स्मृति तथा वासनाएँ उद्बुद्ध होती हैं। जैन कर्म सिद्धान्त भी यही है कि—रागद्वेष प्रवृत्तिके कारण केवल संस्कार ही आत्मापर नहीं पड़ता किन्तु उस संस्कारकी यथासमय उद्बुद्ध करानेवाले कर्मद्रव्यका संबंध भी होता जाता है। यह कर्मद्रव्य पुद्गल द्रव्य ही है। मन, वचन, कायकी प्रत्येक क्रियाके अनुसार शुक्ल या कृष्ण कर्म पुद्गल आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त हो जाते हैं। ये विशेष प्रकारके कर्मपुद्गल बहुत कुछ तो स्थूल शरीरके भीतर ही पड़े रहते हैं जो मनोभावोंके अनुसार आत्माके सूक्ष्म कर्मशरीरमें शामिल होते जाते हैं, कुछ बाहिरसे भी आते हैं। जैसे तपे हुए लोहेके गोलेको पानीसे भरे हुए बर्तनमें छोड़िये तो वह गोला जलके भरे हुए बहुतसे परमाणुओंको जिस तरह अपने भीतर सोख लेता है उसी तरह अपनी गरमी और भापसे बाहिरके परमाणुओंको भी खींचता है। लोहेका



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोला जब तक गरम रहता है, पानीमें उथल-पुथल पैदा करता रहता है, कुछ परमाणुओंको लेगा, कुछको निकालेगा, कुछको भाप बनाएगा, एक अजीबसी परिस्थिति समस्त वातावरणमें उपस्थित कर देता है। उसी तरह जब यह आत्मा रागद्वेषादिसे उत्तप्त होता है तब शरीरमें एक अद्भुत हलनचलन उपस्थित करता है। क्रोध आते ही आँखें लाल हो जाती हैं, खूनकी गति बढ़ जाती है, मुँह सूखने लगता है, नथुने फड़कने लगते हैं। कामवासनाका उदय होते ही सारे शरीरमें एक विलक्षण प्रकारका मन्थन शुरू होता है। और जब तक वह कषाय या वासना शांत नहीं हो लेती, यह चहल-पहल-मन्थन आदि नहीं रुकता। आत्माके विचारोंके अनुसार पुद्गल द्रव्योंमें परिणमन होता है और विचारोंके उत्तेजक पुद्गल द्रव्य आत्माके वासनामय सूक्ष्म कर्मशरीरमें शामिल होते जाते हैं। जब-जब उन कर्मपुद्गलोंपर दबाव पड़ता है तब-तब वे कर्मपुद्गल फिर उन्हीं रागादि भावोंको आत्मामें उत्पन्न कर देते हैं। इसी तरह रागादि भावोंसे नए कर्मपुद्गल कर्मशरीरमें शामिल होते हैं तथा उन कर्मपुद्गलोंके परिपाकके अनुसार नूतन रागादि भावोंकी सृष्टि होती है। फिर नए कर्मपुद्गल बँधते हैं फिर उनके परिपाकके समय रागादिभाव होते हैं। इस तरह रागादिभाव और कर्म पुद्गलबन्धका चक्र बराबर चलता रहता है जबतक कि चरित्रके द्वारा रागादि भावोंको रोक नहीं दिया जाता। इस बन्ध परम्पराका वर्णन आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें इस प्रकार किया है—

"जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥"

अर्थात् जीवके द्वारा किये गए राग-द्वेष-मोह आदि परिणामोंको निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्वतः ही कर्मरूपसे परिणत हो जाते हैं। आत्मा अपने चिदात्मक भावोंसे स्वयं परिणत होता है, पुद्गल कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। जीव और पुद्गल एक-दूसरेके परिणमनमें परस्पर निमित्त होते हैं।

सारांश यह कि जीवकी वासनाओं राग-द्वेष-मोह आदिकी और पुद्गल कर्मबन्धकी धारा बीजवृक्ष-सन्ततिकी तरह अनादिसे चालू है। पूर्वबद्ध कर्मके उदयसे इस समय राग-द्वेष आदि उत्पन्न हुए हैं, इनमें जो जीवकी आसक्ति और लगन होती है वह नूतन कर्मबन्ध करती है। उस बद्धकर्मके परिपाकके समय फिर राग-द्वेष होते हैं, फिर उनमें आसक्ति और मोह होनेसे नया कर्म बँधता है। यहाँ इस शंकाको कोई स्थान नहीं है कि—'जब पूर्वकर्मसे रागद्वेषादि तथा रागद्वेषादिसे नूतन कर्मबन्ध होता है तब इस चक्रका उच्छेद ही नहीं हो सकता, क्योंकि हर एक कर्म रागद्वेष आदि उत्पन्न करेगा और हर एक राग-द्वेष कर्मबन्धन करेंगे।' कारण यह है कि पूर्वकर्मके उदयसे होनेवाले कर्मफलभूत रागद्वेष वासना आदिका भोगना कर्मबन्धक नहीं होता किन्तु भोगकालमें जो नूतन राग-द्वेषरूप अध्यवसान भाव होते हैं वे बन्धक होते हैं। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टिका कर्मभोग निर्जराका कारण होता है और मिथ्यादृष्टिका बन्धका कारण। सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वकर्मके उदयकालमें होनेवाले राग-द्वेष आदिको विवेकपूर्वक शान्त तो करता है, पर उनमें नूतन अध्यवसान नहीं करता, अतः पुराने कर्म तो अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जाते हैं और नूतन आसक्ति न होनेके कारण नवीन बन्ध होता नहीं अतः सम्यग्दृष्टि तो दोनों तरफसे हलका हो चलता है जब कि मिथ्यादृष्टि कर्मफलके समय होनेवाले राग, द्वेष, वासना आदिके समय उनमें की गई नित नई आसक्ति और लगनके परिणामस्वरूप नूतन कर्मोंको और भी दृढ़तासे बाँधता है, और इस तरह मिथ्यादृष्टिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मचक्र और भी तेजीसे चालू रहता है। जिस प्रकार हमारे भौतिक मस्तिष्कपर अनुभवकी असंख्य सीधी-टेढ़ी, गहरी-उथली रेखाएँ पड़ती रहती हैं, एक प्रबल रेखा आई तो उसने पहिलेकी निर्बल रेखाको साफ कर दिया और अपना गहरा प्रभाव कायम कर दिया, दूसरी रेखा पहिलेकी रेखाको या तो गहरा कर देती है या साफ कर देती है और इस तरह अन्तमें कुछ ही अनुभव रेखाएँ अपना अस्तित्व कायम रखती हैं, उसी तरह आज कुछ राग-द्वेषादि जन्य संस्कार उत्पन्न हुए कर्मबन्धन हुआ, पर दूसरे ही क्षण शील, व्रत, संयम और श्रुत आदिकी पूत भावनाओंका निमित्त मिला तो पुराने संस्कार धुल जायेंगे या क्षीण हो जायेंगे, यदि दुबारा और भी तीव्र रागादि भाव हुए तो प्रथमबद्ध कर्म पुद्गलमें और भी तीव्र फलदात्री अनुभागशक्ति पड़ जायगी। इस तरह जीवनके अन्तमें कर्मोंका बन्ध, निर्जरा, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि होते-होते जो रोकड़ बाकी रहती है वही सूक्ष्म कर्मशरीरके रूपमें परलोक तक जाती है। जैसे तेज अग्नि-पर उबलती हुई बटलोईमें दाल, चावल, शाक जो भी डालिए उसका ऊपर-नीचे जाकर उफान लेकर नीचे बैठकर अन्तमें एक पाक बन जाता है, उसी तरह प्रतिक्षण बँधनेवाले अच्छे या बुरे कर्मोंमें शुभभावोंसे शुभकर्मोंमें रसप्रकर्ष और स्थितिवृद्धि होकर अशुभकर्मोंमें रसापकर्ष और स्थितिहानि होकर अनेक प्रकारके ऊँचनीच परिवर्तन होते-होते अन्तमें एक जातिका पाकयोग्य स्कन्ध बन जाता है, जिसके क्रमोदयसे रागादि सुखदुःखादि भाव उत्पन्न होते हैं। अथवा, जैसे उदरमें जाकर आहारका मल-मूत्र, स्वेद आदि रूपसे कुछ भाग बाहर निकल जाता है कुछ वहीं हजम होकर रक्तादि धातु रूपसे परिणत होता है और आगे जाकर वीर्यादिरूप बन जाता है, बीचमें चूरन-चटनी आदिके योगसे लघुपाक दीर्घपाक आदि अवस्थाएँ भी होती हैं पर अन्तमें होनेवाले परिपाकके अनुसार ही भोजनमें सुपाकी दुष्पाकी आदि व्यवहार होता है, उसी तरह कर्मका भी प्रतिसमय होनेवाले शुभ-अशुभ विचारोंके अनुसार तीव्र मन्द मध्यम मृदु मृदुतर आदि रूपसे परिवर्तन बराबर होता रहता है। कुछ कर्म संस्कार ऐसे हैं जिनमें परिवर्तन नहीं होता और उनका फल भोगना ही पड़ता है, पर ऐसे कर्म बहुत कम हैं जिनमें किसी जातिका परिवर्तन न हो। अधिकांश कर्मोंमें अच्छे-बुरे विचारके अनुसार उत्कर्षण ( स्थिति और अनुभागकी वृद्धि ), अपकर्षण ( स्थिति और अनुभागकी हानि ), संक्रमण ( एकका दूसरे रूपमें परिवर्तन ), उदीरणा ( नियत समयसे पहिले उदयमें ले आना ) आदि होते रहते हैं और अन्तमें शेष कर्मबन्धका एक नियत परिपाकक्रम बनता है। उसमें भी प्रतिसमय परिवर्तनादि होते हैं। तात्पर्य यह कि यह आत्मा अपने भले-बुरे विचारों और आचारोंसे स्वयं बन्धनमें पड़ता है और ऐसे संस्कारों-को अपनेमें डाल लेता है जिनसे छुटकारा पाना सहज नहीं होता। जैन सिद्धान्तने उन विचारोंके प्रतिनिधि-भूत कर्मद्रव्यका इस आत्मासे बंध माना है जिससे उस कर्मद्रव्यपर भार पड़ते ही या उसका उदय आते ह वे भाव आत्मामें उदित होते हैं।

जगत् भौतिक है। वह पुद्गल और आत्मा दोनोंसे प्रभावित होता है। कर्मका एक भौतिक पिण्ड, जो विशिष्ट शक्तिका केन्द्र है, आत्मासे सम्बद्ध हो गया तब उसकी सूक्ष्म पर तीव्र शक्तिके अनुसार बाह्य पदार्थ भी प्रभावित होते हैं। बाह्य पदार्थोंके समवधानके अनुसार कर्मोंका यथासम्भव प्रदेशोदय या फलोदय रूपसे परिपाक होता रहता है। उदयकालमें होनेवाले तीव्र मन्द मध्यम शुभ-अशुभ भावोंके अनुसार आगे उदय आनेवाले कर्मोंके रसदानमें अन्तर पड़ जाता है। तात्पर्य यह है कि बहुत कुछ कर्मोंका फल देना या अन्य रूप-में देना या न देना हमारे पुरुषार्थके ऊपर निर्भर है।

इस तरह जैनदर्शनमें यह आत्मा अनादिसे अशुद्ध माना गया है और प्रयोगसे शुद्ध हो सकता है। शुद्ध होनेके बाद फिर कोई कारण अशुद्ध होनेका नहीं रह जाता। आत्माके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मके निमित्तसे भी होता है। अतः कर्म निमित्तके हट जानेपर आत्मा अपने अन्तिम आकारमें रह जाता है और ऊर्ध्व लोकमें लोकाग्रभागमें स्थिर हो अपने अनन्त चैतन्यमें प्रतिष्ठित हो जाता है।

इस आत्माका स्वरूप उपयोग है। आत्माकी चैतन्यशक्तिको उपयोग कहते हैं। यह चिति शक्ति बाह्य अभ्यन्तर कारणोंसे यथासंभव ज्ञानाकार पर्यायको और दर्शनाकार पर्यायको धारण करती है। जिस समय यह चैतन्यशक्ति ज्ञेयको जानती है उस समय साकार होकर ज्ञान कहलाती है तथा जिस समय मात्र चैतन्याकार रहकर निराकर रहती है तब दर्शन कहलाती है। ज्ञान और दर्शन क्रमसे होनेवाली पर्यायें हैं। निरावरण दशामें चैतन्य अपने शुद्ध चैतन्य रूपमें लीन रहता है। इस अनिर्वचनीय स्वरूपमात्र प्रतिष्ठित आत्ममात्र दशाको ही निर्वाण कहते हैं। निर्वाण अर्थात् वासनाओंका निर्वाण। स्वरूपसे अमूर्तिक होकर भी यह आत्मा अनादि कर्मबन्धनबद्ध होनेके कारण मूर्तिक हो रहा है और कर्मबन्धन हटते ही फिर अपनी शुद्ध अमूर्तिक दशामें पहुँच जाता है। यह आत्मा अपनी शुभ-अशुभ परिणतियोंका कर्त्ता है। और उनके फलोंका भोक्ता है। उसमें स्वयं परिणमन होता है। उपादान रूपसे यही आत्मा रागद्वेष मोह अज्ञान क्रोध आदि विकार परिणामोंको धारण करता है और उसके फलोंको भोगता है। संसार दशामें कर्मके अनुसार नानाविध योनियोंमें शरीरोंका धारण करता है पर मुक्त होते ही स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करता है और लोकाग्रभागमें सिद्धलोकमें स्वरूपप्रतिष्ठित हो जाता है।

अतः महावीरने बन्ध मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वोंके सिवाय इस आत्माका भी ज्ञान आवश्यक बताया जिसे शुद्ध होना है तथा जो अशुद्ध हो रहा है। आत्माकी अशुद्ध दशा स्वरूपप्रच्युतिरूप है और यह स्वस्वरूपको भूलकर परपदार्थोंमें ममकार और अहंकार करनेके कारण हुई है। अतः इस अशुद्ध दशाका अन्त भी स्वरूपज्ञानसे ही हो सकता है। जब इस आत्माको यह तत्त्वज्ञानहोता है कि—"मेरा स्वरूप तो अनन्त चैतन्यमय वीतराग निर्मोह निष्कषाय शान्त निश्चल अप्रमत्त ज्ञानरूप है। इस स्वरूपको भूलकर पर पदार्थोंमें ममकार तथा शरीरको अपना माननेके कारण रागद्वेष मोह कषाय प्रमाद मिथ्यात्व आदि विकासरूप मेरा परिणमन हो गया है और इन कषायोंकी ज्वालामें मेरा रूप समल और चंचल हो रहा है। यदि पर पदार्थों से ममकार और रागादिभावोंसे अहंकार हट जाय तथा आत्मपरविवेक हो जाय तो यह अशुद्ध दशा ये वासनाएँ अपने आप क्षीण हो जायँगी॥" तो यह विकारोंको क्षीण करता हुआ निर्विकार चैतन्यरूप होता जाता है। इसी शुद्धिकरणको मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष जबतक शुद्ध आत्मस्वरूपका बोध न हो तबतक कैसे हो सकता है?

बुद्धके तत्त्वज्ञानका प्रारम्भ दुःखसे होता है और उसकी समाप्ति दुःखनिवृत्तिमें होती है। पर महावीर बन्ध और मोक्षके आधारभूत आत्माको ही मूलतः तत्त्वज्ञानका आधार बनाते हैं। बुद्धको आत्मा शब्दसे ही चिढ़ है। वे समझते हैं कि आत्मा अर्थात् उपनिषद्वादियोंका नित्य आत्मा। और नित्य आत्मामें स्नेह होनेके कारण स्वबुद्धि और दूसरे पदार्थोंमें परबुद्धि होने लगती है। स्व-पर विभागसे रागद्वेष और रागद्वेषसे यह संसार बन जाता है। अतः सर्वानर्थमूल यह आत्मदृष्टि है। पर वे इस ओर ध्यान नहीं देते कि 'आत्मा' की नित्यता या अनित्यता राग और विरागका कारण नहीं है। राग और विराग तो स्वरूपानवबोध और स्वरूपबोधसे होते हैं। रागका कारणपर पदार्थोंमें ममकार करना है। जब इस आत्माको समझाया जायगा कि "मूर्ख, तेरा स्वरूप तो निर्विकार अखण्ड चैतन्य है। तेरा इन स्त्री-पुत्र शरीरादिमें ममत्व करना विभाव है, स्वभाव नहीं।" तब यह सहज ही अपने निर्विकार सहज स्वभावकी ओर दृष्टि डालेगा और इसी विवेक दृष्टि या सम्यग्दर्शनसे पर पदार्थोंसे रागद्वेष हटाकर स्वरूपमें लीन होने लगेगा। इसीके कारण आस्रव रुकते हैं और चित्त निरास्रव होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मदृष्टि ही बन्धोच्छेदिका—विश्वका प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्यायोंका स्वामी है। जिस तरह अनन्त चेतन अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं उसी तरह अनन्त पुद्गल परमाणु एक धर्म द्रव्य ( गति सहायक ), एक अधर्म द्रव्य ( स्थिति सहकारी ), एक आकाशद्रव्य ( क्षेत्र ) असंख्य कालाणु अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिवर्तित होता है। परिवर्तनका अर्थ विलक्षण परिणमन ही नहीं होता। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और कालद्रव्य इनका विभाव परिणमन नहीं होता, ये सदा सदृश परिणमन ही करते हैं। प्रतिक्षण परिवर्तन होनेपर भी एक जैसे बने रहते हैं। इनका शुद्ध परिणमन ही रहता है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले पुद्गल परमाणु प्रतिक्षण शुद्ध परिणमन भी करते हैं। इनका अशुद्ध परिणमन है स्कन्ध बनना। जिस समय ये शुद्ध परमाणुकी दशामें रहते हैं उस समय इनका शुद्ध परिणमन होता है और जब ये दो या अधिक मिलकर स्कन्ध बन जाते हैं तब अशुद्ध परिणमन होता है। जीव जबतक संसार दशामें है और अनेकविध सूक्ष्म कर्मशरीरसे बद्ध होनेके कारण अनेक स्थूल शरीरोंको धारण करता है तब तक इसका विभाव या विकारी परिणमन है। जब स्वरूप-बोधके द्वारा पर पदार्थोंसे मोह हटाकर स्वरूपमात्र-मग्न होता है तब स्थूल शरीरके साथ ही सूक्ष्म कर्मशरीरका भी उच्छेद होनेपर निर्विकार शुद्ध चैतन्य भाव हो जाता है और अनन्त कालतक अपनी शुद्ध चिन्मात्र दशामें बना रहता है। फिर इसका विभाव या अशुद्ध परिणमन नहीं होता क्योंकि विभाव परिणमनकी उपादानभूत रागादि सन्तति उच्छिन्न हो चुकी है। इस प्रकार द्रव्य स्थिति है। जो पर्याय प्रथमक्षणमें है वह दूसरे क्षणमें नहीं रहती है। कोई भी पर्याय दो क्षण ठहरनेवाली नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका उपादान है। दूसरा द्रव्य चाहे वह सजातीय हो या विजातीय, निमित्त ही हो सकता है, उपादान नहीं। पुद्गलमें अपनी योग्यता ऐसी है जो दूसरे परमाणुसे सम्बन्ध करके स्वभावतः अशुद्ध बन जाता है पर आत्मा स्वभावसे अशुद्ध नहीं बनता। एक बार शुद्ध होनेपर वह कभी भी फिर अशुद्ध नहीं होगा।

इस तरह इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील अनन्तद्रव्यमय लोकमें मैं एक आत्मा हूँ। मेरा किसी दूसरे आत्मा या पुद्गल आदि द्रव्योंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं अपने चैतन्यका स्वामी हूँ, मात्र चैतन्यरूप हूँ। यह शरीर अनन्त पुद्गल परमाणुओंका एक पिण्ड है, इसका मैं स्वामी नहीं हूँ। यह सब पर द्रव्य है। इसके लिए पर पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि करना ही संसार है। मैं एक व्यक्ति हूँ। आजतक मैंने पर पदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन करानेकी अनधिकार चेष्टा की। मैंने यह भी अनधिकार चेष्टा की कि संसारके अधिकसे अधिक पदार्थ मेरे अधीन हों, जैसा मैं चाहूँ वैसा परिणमन करें। उनकी वृत्ति मेरे अनुकूल हो। पर मूर्ख, तू तो एक व्यक्ति है। अपने परिणमन पर अर्थात् अपने विचारोंपर और अपनी क्रियापर ही अधिकार रख सकता है, पर पदार्थोंपर तेरा वास्तविक अधिकार क्या है? यह अनधिकार चेष्टा ही रागद्वेषको उत्पन्न करती है। तू चाहता है कि—शरीर प्रकृति स्त्री पुत्र परिजन आदि सब तेरे इशारेपर चलें, संसारके समस्त पदार्थ तेरे अधीन हों, तू त्रैलोक्यको इशारेपर नचानेवाला एकमात्र ईश्वर बन जाय। पर यह सब तेरी निरधिकार चेष्टाएँ हैं। तू जिस तरह संसारके अधिकतम पदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन कराके अपने अधीन करना चाहता है उसी तरह तेरे जैसे अनन्त मूढ़ चेतन भी यही दुर्वासना लिए हैं और दूसरे द्रव्योंको अपने अधीन करना चाहते हैं। इसी छीनाझपटीमें संघर्ष होता है, हिंसा होती है, रागद्वेष होता है और अन्ततः दुःख। सुख और दुःखकी स्थूल परिभाषा यह है कि 'जो चाहे सो होवे' इसे कहते हैं सुख और 'चाहे कुछ और होवे कुछ, या जो चाहे सो न हो' यही है दुःख। मनुष्यकी चाह सदा यही रहती है कि मुझे सदा इष्टका संयोग रहे, अनिष्टका संयोग न हो, चाहके अनुसार समस्त भौतिक जगत् और चेतन परिणत होते रहें,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर चिर यौवन रहे, स्त्री स्थिरयौवना हो, मृत्यु न हो, अमरत्व प्राप्त हो, धन-धान्य हों, प्रकृति अनुकूल रहे, और न जाने कितनी प्रकारकी 'चाह' इस शेखचिल्ली मानवको होती रहती है। उन सबका निचोड़ यह है कि जिन्हें हम चाहें उनका परिणमन हमारे इशारेपर हो, तब इस मूढ मानवको क्षणिक सुखका आभास हो सकता है। बुद्धने जिस दुःख को सर्वानुभूत बताया वह सब अभावकृत ही तो है। महावीरने इस तृष्णाका कारण बताया—स्वरूपरूपकी मर्यादाका अज्ञान। यदि मनुष्यको यह पता हो कि जिनकी मैं चाह करता हूँ, जिनकी तृष्णा करता हूँ वे पदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं तो एक चिन्मात्र हूँ, तो उसे अनुचित तृष्णा ही उत्पन्न न होगी।

इस मानवने अपने आत्माके स्वरूप और उसके अधिकारकी सीमाको न जानकर सदा मिथ्या आचरण किया और पर पदार्थोंके निमित्तसे जगत्में अनेक कल्पित ऊँच-नीच भावोंकी सृष्टि कर मिथ्या अहंकारका पोषण किया। शरीराश्रित या जीविकाश्रित ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णोंको लेकर ऊँच-नीच व्यवहारकी भेदक भित्ति खड़ीकर मानवको मानवसे इतना जुदा कर दिया जो एक उच्चाभिमानी मांसपिंड दूसरेकी छायासे या दूसरेको छूनेसे अपनेको अपवित्र मानने लगा। बाह्य परपदार्थोंके संग्रही और परिग्रहीको सम्राट् राजा आदि संज्ञाएँ देकर तृष्णाकी पूजा की। इस जगत्में जितने संघर्ष और हिंसाएँ हुई हैं वे सब पर पदार्थोंकी छीनाझपटीके कारण ही हुई हैं। अतः जब तक मुमुक्षु अपने वास्तविक रूपको तथा तृष्णाके मूल कारण 'परत्र आत्मबुद्धि'को नहीं समझ लेता तब तक दुःखनिवृत्तिकी समुचित भूमिका ही तैयार नहीं हो सकती। बुद्धने संक्षेपमें पंच स्कन्धोंको दुःख कहा है, पर महावीरने उसके भीतरी तत्त्वज्ञानको बताया—चूँकि ये स्कन्ध आत्मरूप नहीं है अतः इनका संसर्ग ही अनेक रागादिभावोंका सर्जक है, अतः ये दुःखस्वरूप हैं। अतः निराकुल सुखका उपाय आत्ममात्र-निष्ठा और पर पदार्थोंसे ममत्वका हटाना ही है। इसके लिए आत्मदृष्टि ही आवश्यक है। आत्मदर्शनका उपर्युक्त प्रकार परपदार्थोंमें द्वेष करना नहीं सिखाता किन्तु यह बताता है कि इनमें जो तुम्हारी तृष्णा फैल रही है वह अनधिकार चेष्टा है। वास्तविक अधिकार तो तुम्हारा अपने विचार और अपनी प्रवृत्तिपर ही है। इस तरह आत्माके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान हुए बिना दुःखनिवृत्ति या मुक्तिकी संभावना ही नहीं की जा सकती। अतः धर्मकीर्तिकी यह आशंका भी निर्मूल है कि—

"आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥"—प्रमाण वा० १।२२१

अर्थात् आत्माको माननेपर दूसरोंको पर मानना होगा। स्व और पर विभाग होते ही स्वका परिग्रह और परसे द्वेष होगा। परिग्रह और द्वेष होनेसे रागद्वेषमूलक सैकड़ों अन्य दोष उत्पन्न होते हैं।

यहाँ तक तो ठीक है कि कोई व्यक्ति आत्माको स्व और आत्मेतरको पर मानेगा। पर स्व-परविभाग-से परिग्रह और द्वेष कैसे होंगे? आत्मस्वरूपका परिग्रह कैसा? परिग्रह तो शरीर आदि पर पदार्थोंका और उसके सुखसाधनोंका होता है जिन्हें आत्मदर्शी व्यक्ति छोड़ेगा ही, ग्रहण नहीं करेगा। उसे तो जैसे स्त्री आदि सुखसाधनपर हैं वैसे शरीर भी। राग और द्वेष भी शरीरादिके सुखसाधनों और असाधनोंसे होते हैं सो आत्मदर्शीको क्यों होंगे? उलटे आत्मदृष्टा शरीरादिनिमित्तक यावत् रागद्वेष द्वन्द्वोंके त्यागका ही स्थिर प्रयत्न करेगा। हाँ, जिसने शरीरस्कन्धको ही आत्मा माना है उसे अवश्य आत्मदर्शनसे शरीरदर्शन प्राप्त होगा और शरीरके इष्टानिष्टनिमित्तक पदार्थोंमें परिग्रह और द्वेष हो सकते हैं, किन्तु जो शरीरको भी पर ही मान रहा है तथा दुःखका कारण समझ रहा है वह क्यों उसमें तथा उसके इष्टानिष्ट साधनोंमें रागद्वेष करेगा?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः शरीरादिसे भिन्न आत्मस्वरूपका परिज्ञान ही रागद्वेषकी जड़को काट सकता है और वीतरागताको प्राप्त करा सकता है।

आत्मदर्शी व्यक्ति जहाँ अपने आत्मस्वरूपको उपादेय समझता है वहाँ यह भी तो समझता है कि शरीरादि पर पदार्थ आत्माके हितकारक नहीं हैं। इनमें रागद्वेष करना ही आत्माको बन्धमें डालनेवाला है। आत्माको स्वरूपमात्रप्रतिष्ठारूप सुखके लिए किसी साधनके ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु जिन शरीरादि परपदार्थोंमें सुखसाधनत्वकी मिथ्याबुद्धि कर रखी है वह मिथ्याबुद्धि ही छोड़ना है। आत्मगुणका दर्शन आत्ममात्रमें लीनताका कारण होगा न कि बन्धनकारक पर पदार्थोंके ग्रहणका। शरीरादि पर पदार्थोंमें होनेवाला आत्माभिनिवेश अवश्य रागादिका सर्जक हो सकता है किन्तु शरीरादिसे भिन्न आत्मतत्त्वका दर्शन क्यों शरीरादिमें रागादि उत्पन्न करेगा ? यह तो धर्मकीर्ति तथा उनके अनुयायियोंका आत्मतत्त्वके अव्याकृत होनेके कारण दृष्टिव्यामोह है जो वे अँधेरेमें उसका शरीरस्कन्धस्वरूप ही स्वरूप टटोल रहे हैं और आत्म-दृष्टिको मिथ्यादृष्टि कहनेका दुःसाहस कर रहे हैं। एक ओर वे पृथिवी आदि भूतोंसे आत्माकी उत्पत्तिका खंडन भी करते हैं दूसरी ओर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंसे व्यतिरिक्त किसी आत्माको मानना भी नहीं चाहते। इनमें वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध चेतनात्मक हो सकते हैं पर रूपस्कन्धको चेतन कहना चार्वाकके भूतात्मवादसे कोई विशेषता नहीं रखता। जब बुद्ध स्वयं आत्माको अव्याकृतकोटिमें डाल गए तो उनके शिष्योंका युक्तिमूलक दार्शनिक क्षेत्रोंमें भी आत्माके विषयमें परस्पर विरोधी दो विचारोंमें दोलित रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आज राहुल सांकृत्यायन बुद्धके इन विचारोंको 'अभौतिकअनात्मवाद' जैसे उभयप्रतिषेधक नामसे पुकारते हैं। वे यह नहीं बता सकते कि आखिर फिर आत्माका स्वरूप है क्या ? क्या उसको रूपस्कन्धकी तरह स्वतन्त्र सत्ता है ? क्या वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये स्कन्ध भी रूपस्कन्धकी तरह स्वतन्त्र सत् हैं ? और यदि निर्वाणमें चित्तसन्तति निरुद्ध हो जाती है तो चार्वाकके एकजन्म तक सीमित देहात्मवादसे इस अनेकजन्म-सीमित देहात्मवादमें क्या मौलिक विशेषता रहती है ? अन्तमें तो उसका निरोध हुआ ही।

महावीर इस असंगतिजालमें न तो स्वयं पड़े और न शिष्योंको ही उनने इसमें डाला। यही कारण है जो उन्होंने आत्माका पूरा-पूरा निरूपण किया और उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना। जैसा कि मैं पहिले लिख आया हूँ कि धर्मका लक्षण है वस्तुका स्व-स्वभावमें स्थिर होना। आत्माका खालिस आत्मरूपमें लीन होना ही धर्म है और मोक्ष है। यह मोक्ष आत्मतत्त्वकी जिज्ञासाके बिना हो ही नहीं सकता।

आत्मा तीन प्रकारके हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो आत्माएँ शरीरादिको ही अपना रूप मानकर उनकी ही प्रिय साधनामें लगे रहते हैं वे बहिर्मुख बहिरात्मा हैं। जिन्हें स्वपरविवेक या भेदविज्ञान उत्पन्न हो गया है, शरीरादि बहिःपदार्थोंसे आत्मदृष्टि हट गई है वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं। जो समस्त कर्ममल कलंकोंसे रहित होकर शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपमें मग्न हैं वे परमात्मा हैं। एक ही आत्मा अपने स्वरूपका यथार्थ परिज्ञानकर अन्तर्दृष्टि हो क्रमशः परमात्मा बन जाता है। अतः आत्मधर्मकी प्राप्तिके लिए या बन्धमोक्षके लिए आत्मतत्त्वका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है।

जिस प्रकार आत्मतत्त्वका ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार जिन अजीवोंके सम्बन्धसे आत्मा विकृत होता है, उसमें विभावपरिणति होती है उस अजीवतत्त्वके ज्ञानकी भी आवश्यकता है। जब तक इस अजीवतत्त्वको नहीं जानेंगे तब तक किन दोमें बन्ध हुआ यह मूल बात ही अज्ञात रह जाती है। अतः अजीवतत्त्वका ज्ञान जरूरी है। अजीवतत्त्वमें चाहे धर्म, अधर्म, आकाश और कालका सामान्य ज्ञान ही हो पर पुद्गलका किंचित्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष ज्ञान अपेक्षित है। शरीर स्वयं पुद्गलपिंड है। यह चेतनके संसर्गसे चेतनायमान हो रहा है। जगत्में रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले यावत् पदार्थ पौद्गालिक हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु सभी पौद्गलिक हैं। इनमें किसीमें कोई गुण उद्भूत रहता है किसीमें कोई गुण। अग्निमें रस अनुद्भूत है, वायुमें रूप अनुद्भूत है जलमें गन्ध अनुद्भूत है। पर, ये सब विभिन्न जातीय द्रव्य नहीं हैं किन्तु एक पुद्गलद्रव्य ही हैं। शब्द, प्रकाश, छाया, अन्धकार आदि पुद्गल स्कन्धकी पर्यायें हैं। विशेषतः मुमुक्षुके लिए यह जानना जरूरी है कि शरीर पुद्गल है और आत्मा इससे पृथक् है। यद्यपि आज अशुद्ध दशामें आत्माका ९९ प्रतिशत विकास और प्रकाश शरीराधीन है। शरीरके पुर्जोंके बिगड़ते ही वर्तमान ज्ञानविकास रुक जाता है और शरीरके नाश होनेपर वर्तमानशक्तियाँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं फिर भी आत्मा स्वतन्त्र और शरीरके अतिरिक्त भी उसका अस्तित्व परलोकके कारण सिद्ध है। आत्मा अपने सूक्ष्म कार्मण शरीरके अनुसार वर्तमान स्थूल शरीरके नष्ट हो जानेपर भी दूसरे स्थूल शरीरको धारण कर लेता है। आज आत्माके सात्त्विक, राजस या तामस सभी प्रकारके विचार या संस्कार शरीरकी स्थितिके अनुसार विकसित होते हैं। अतः मुमुक्षुके लिए इस शरीर पुद्गलकी प्रकृतिका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है जिससे वह इसका उपयोग आत्मविकासमें कर सके, ह्रासमें नहीं। यदि उत्तेजक या अपथ्य आहार-विहार होता है तो कितना ही पवित्र विचार करनेका प्रयत्न किया जाय पर सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए बुरे संस्कार और विचारोंका शमन करनेके लिए या क्षीण करनेके लिए उनके प्रबल निमित्तभूत शरीरकी स्थिति आदिका परिज्ञान करना ही होगा। जिन पर पदार्थोंसे आत्माको विरक्त होना है या उन्हें पर समझकर उनके परिणमनपर जो अनधिकृत स्वामित्वके दुर्भाव आरोपित हैं उन्हें नष्ट करना है उस परका कुछ विशेष ज्ञान तो होना ही चाहिए, अन्यथा विरक्ति किससे होगी? सारांश यह कि जिसे बंधन होता है और जिससे बंधता है उन दोनों तत्त्वोंका यथार्थ दर्शन हुए बिना बन्ध परम्परा कट नहीं सकती। इस तत्त्वज्ञानके बिना चारित्रकी ओर उत्साह ही नहीं हो सकता। चारित्रकी प्रेरणा विचारोंसे ही मिलती है।

बन्ध—बन्ध दो पदार्थोंके विशिष्ट सम्बन्धको कहते हैं। बन्ध दो प्रकारका है—एक भावबन्ध और दूसरा द्रव्यबन्ध। जिन राग-द्वेष, मोह आदि विभावोंसे कर्मवर्गणाओंका बंध होता है उन रागादिभावोंको भावबंध कहते हैं और कर्मवर्गणाओंका आत्मप्रदेशोंसे सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गलका है। यह निश्चित है कि दो द्रव्योंका संयोग ही हो सकता है तादात्म्य नहीं। पुद्गलद्रव्य परस्परमें बन्धको प्राप्त होते हैं तो एक विशेष प्रकारके संयोगको ही प्राप्त करते हैं। उनमें स्निग्धता और रूक्षताके कारण एक रासायनिक मिश्रण होता है जिससे उस स्कन्धके अन्तर्गत सभी परमाणुओंकी पर्याय बदलती है और वे ऐसी स्थितिमें आ जाते हैं कि अमुक समय तक उन सबकी एक जैसी ही पर्यायें होती रहती हैं। स्कन्धके रूप रसादिका व्यवहार तदन्तर्गत परमाणुओंके रूपरसादिपरिणमनकी औसतसे होता है। कभी-कभी एक ही स्कन्धके अमुक अंशमें रूप रसादि अमुक प्रकारके हो जाते हैं और दूसरी ओर दूसरे प्रकारके। एक ही आम स्कन्ध एक ओर पककर पीला मीठा और सुगन्धित हो जाता है तो दूसरी ओर हरा खट्टा और विलक्षण गन्धवाला बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि स्कन्धमें शिथिल या दृढ़ बन्धके अनुसार तदन्तर्गत परमाणुओंके परिणमनकी औसतसे रूपरसादि व्यवहार होते हैं। स्कन्ध अपनेमें स्वतन्त्र कोई द्रव्य नहीं है। किन्तु वह अमुक परमाणुओंकी विशेष अवस्था ही है। और अपने आधारभूत परमाणुओंके अधीन ही उसकी दशा रहती है। पुद्गलोंके बन्धमें यही रासायनिकता है कि उस अवस्थामें उनका स्वतन्त्र विलक्षण परिणमन नहीं हो सकता किन्तु एक जैसा परिणमन होता रहता है। परन्तु आत्मा और कर्मपुद्गलोंका ऐसा रासायनिक मिश्रण हो ही नहीं सकता। यह बात जुदा है कि कर्मस्कन्धके आ जानेसे आत्माके परिणमनमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलक्षणता आ जाय और आत्माके निमित्तसे कर्मस्कन्धकी परिणति विलक्षण हो जाय पर इससे आत्मा और पुद्गलकर्मके बन्धको रासायनिक मिश्रण नहीं कह सकते। क्योंकि जीव और कर्मके बन्धमें दोनोंकी एक जैसी पर्याय नहीं होती। जीवकी पर्याय चेतन रूप होगी, पुद्गलकी अचेतनरूप। पुद्गलका परिणमन रूप, रस गन्धादिरूप होगा, जीवका चैतन्यके विकाररूप। हाँ, यह वास्तविक स्थिति है कि नूतन कर्मपुद्गलोंका पुराने बँधे हुए कर्मशरीरके साथ रासायनिक मिश्रण हो और वह उस पुराने कर्मपुद्गलके साथ बँधकर उसी स्कन्धमें शामिल हो जाय। होता भी यही है। पुराने कर्मशरीरसे प्रतिक्षण अमुक परमाणु झरते हैं और दूसरे कुछ नए शामिल होते हैं। परन्तु आत्मप्रदेशोंसे उनका बन्ध रासायनिक बिलकुल नहीं है। वह तो मात्र संयोग है। प्रदेशबन्धकी व्याख्या तत्त्वार्थसूत्रकारने यही की है—"नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः।" (तत्त्वार्थसूत्र ८।२४) अर्थात् योगके कारण समस्त आत्मप्रदेशोंपर सूक्ष्म पुद्गल आकर एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं। इसीका नाम प्रदेशबन्ध है। द्रव्यबन्ध भी यही है। अतः आत्मा और कर्मशरीरका एकक्षेत्रावगाहके सिवाय अन्य कोई रासायनिक मिश्रण नहीं होता। रासायनिक मिश्रण नवीन कर्मपुगद्लोंका प्राचीन कर्मपुद्गलोंमें ही हो सकता है, आत्मप्रदेशोंसे नहीं।

जीवके रागादिभावोंसे जो योगक्रिया अर्थात् आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द होता है उससे कर्मवर्गणाएँ खिंचती हैं। वे शरीरके भीतरसे भी खिंचती हैं बाहिरसे भी। खिंचकर आत्मप्रदेशोंपर या प्राक्बद्ध कर्मशरीरसे बन्धको प्राप्त होती हैं। इस योगसे उन कर्मवर्गणाओंमें प्रकृति अर्थात् स्वभाव पड़ता है। यदि वे कर्मपुद्गल किसीके ज्ञानमें बाधा डालने रूप क्रियासे खिंचे हैं तो उनमें ज्ञानावरणका स्वभाव पड़ेगा और यदि रागादि कषायसे तो उनमें चारित्रावरणका। आदि। तात्पर्य यह कि आए हुए कर्म पुद्गलोंको आत्मप्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाही कर देना और उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि स्वभावोंका पड़ जाना योगसे होता है। इन्हें प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कषायोंकी तीव्रता और मन्दताके अनुसार उस कर्मपुद्गलमें स्थिति और फल देनेकी शक्ति पड़ती है यह स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कहलाता है। ये दोनों बन्ध कषायसे होते हैं। केवली अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्तिको रागादि कषाय नहीं होतीं अतः उनके योगके द्वारा जो कर्मपुद्गल आते हैं वे द्वितीय समयमें झड़ जाते हैं, उनका स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता। बन्ध प्रतिक्षण होता रहता है और जैसा कि मैं पहिले लिख आया हूँ कि उसमें अनेक प्रकारका परिवर्तन प्रतिक्षण-भावी कषायादिके अनुसार होता रहता है। अन्तमें कर्मशरीरकी जो स्थिति रहती है उसके अनुसार फल मिलता है। उन कर्मनिषेकोंके उदयसे वातावरणपर वैसा-वैसा असर पड़ता है। अन्तरंगमें वैसे-वैसे भाव होते हैं। आयुबंन्धके अनुसार स्थूल शरीर छोड़नेपर उन-उन योनियोंमें जीवको नया स्थूल शरीर धारण करना पड़ता है। इस तरह यह बन्धचक्र जबतक राग-द्वेष, मोह, वासनाएँ आदि विभाव भाव हैं बराबर चलता रहता है।

बन्धहेतु आस्रव—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्धके कारण हैं। इन्हें आस्रव-प्रत्यय भी कहते हैं। जिन भावोंके द्वारा कर्मोंका आस्रव होता है उन्हें भावास्रव कहते हैं और कर्मद्रव्यका आना द्रव्यास्रव कहलाता है। पुद्गलोंमें कर्मत्व प्राप्त हो जाना भी द्रव्यास्रव कहलाता है। आत्मप्रदेशतक उनका आना द्रव्यास्रव है। जिन भावोंसे वे कर्म खिंचते हैं उन्हें भावास्रव कहते हैं। प्रथमक्षणभावी भावोंको भावास्रव कहते हैं और अग्रिम क्षणभावी भावोंको भावबन्ध। भावास्रव जैसा तीव्र मन्द मध्यमात्मक होगा तज्जन्य आत्मप्रदेशपरिस्पन्दसे वैसे कर्म आयेंगे और आत्मप्रदेशोंसे बँधेंगे। भावबन्धके अनुसार उस



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्कन्धमें स्थिति और अनुभाग पड़ेगा। इन आस्रवोंमें मुख्य अनन्तकर्मबन्धक आस्रव है मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादृष्टि। यह जीव अपने आत्मस्वरूपको भूलकर शरीरादि पर द्रव्योंमें आत्मबुद्धि करता है और इसके समस्त विचार और क्रियाएँ उन्हीं शरीराश्रित व्यवहारोंमें उलझी रहती हैं। लौकिक यशोलाभ आदिकी दृष्टिसे ही यह धर्म जैसी क्रियाओंका आचरण करता है। स्व-पर विवेक नहीं रहता। पदार्थोंके स्वरूपमें भ्रान्ति बनी रहती है। तात्पर्य यह कि लक्ष्यभूत कल्याणमार्गमें ही इसकी सम्यक् श्रद्धा नहीं होती। वह सहज और गृहीत दोनों प्रकारकी मिथ्यादृष्टियोंके कारण तत्त्वरुचि नहीं कर पाता। अनेक प्रकारकी देवगुरु तथा लोकमूढ़ताओंको धर्म समझता है। शरीर और शरीराश्रित स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादिके मोहमें उचित, अनुचितका विवेक किए बिना भीषण अनर्थ परम्पराओंका सृजन करता है। तुच्छ स्वार्थके लिए मनुष्य जीवनको व्यर्थ ही खो देता है। अनेक प्रकारके ऊँच-नीच भेदोंकी सृष्टि करके मिथ्या अहंकारका पोषण करता है। जिस किसी भी देवको, जिस किसी भी वेषधारी गुरुको, जिस किसी भी शास्त्रको भय आशा स्नेह और लोभसे माननेको तैयार हो जाता है। न उसका अपना कोई सिद्धान्त है और न व्यवहार। थोड़ेसे प्रलोभनसे वह सब अनर्थ करनेको प्रस्तुत हो जाता है। जाति, ज्ञान, पूजा, कुल, बल, ऋद्धि, तप और शरीर आदिके कारण मदमत्त होता है और अन्योंको तुच्छ समझकर उनका तिरस्कार करता है। भय, आकांक्षा, घृणा, अन्यदोषप्रकाशन आदि दुर्गुणोंका केन्द्र होता है। इसकी प्रवृत्तिके मूलमें एक ही बात है और वह स्व-स्वरूपविभ्रम। उसे आत्मस्वरूपका कोई श्रद्धान नहीं। अतः वह बाह्य पदार्थोंमें लुभाया रहता है। यही मिथ्यादृष्टि सब दोषोंकी जननी है, इसीसे अनन्त संसारका बन्ध होता है। दर्शनमोहनीय नामक कर्मके उदयमें यह दृष्टिमूढ़ता होती है।

अविरति—चारित्रमोह नामक कर्मके उदयसे मनुष्यको चारित्र धारण करनेके परिणाम नहीं हो पाते। वह चाहता भी है तो भी कषायोंका ऐसा तीव्र उदय रहता है जिससे न तो सकलचारित्र धारण कर पाता है और न देशचारित्र। कषाएँ चार प्रकारकी हैं—

१—अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ—अनन्त संसारका बंध करानेवाली, स्वरूपाचरणचारित्रका प्रतिबन्ध करनेवाली, प्रायः मिथ्यात्वसहचारिणी कषाय। पत्थरकी रेखाके समान।

२—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ—देशचारित्र-अणुव्रतोंको धारण करनेके भावोंको न होने देनेवाली कषाय। इसके उदयसे जीव श्रावकके व्रतोंको भी ग्रहण नहीं कर पाता। मिट्टीके रेखाके समान।

३—प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ—सम्पूर्ण चारित्रकी प्रतिबन्धिका कषाय। इसके उदयसे जीव सकल त्याग करके सम्पूर्ण व्रतोंको धारण नहीं कर पाता। धूलि रेखाके समान।

४—संज्वलन क्रोध मान माया लोभ—पूर्ण चारित्रमें किंचिन्मात्र दोष उत्पन्न करनेवाली कषाय। यथाख्यातचारित्रकी प्रतिबन्धिका। जलरेखाके समान।

इस तरह इन्द्रियोंके विषयोंमें तथा प्राणसंयममें निरर्गल प्रवृत्ति होनेसे कर्मोंका आस्रव होता है। अविरतिका निरोधकर विरतिभाव आनेपर कर्मोंका आस्रव नहीं होता।

प्रमाद—असावधानीको प्रमाद कहते हैं। कुशल कर्मोंमें अनादरका भाव होना प्रमाद है। पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें लीन होनेके कारण, राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजनकथा इन चार विकथाओंमें रस लेनेके कारण, क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंमें लिप्त रहनेके कारण, निद्रा और प्रणयमग्न होनेके कारण कर्त्तव्यपथमें अनादरका भाव होता है। इस असावधानीसे कुशलकर्मके प्रति अनास्था तो होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही है, साथही साथ हिंसाकी भूमिका भी तैयार होने लगती है। हिंसाके मुख्य हेतुओंमें प्रमादका स्थान ही प्रमुख है। बाह्यमें जीवका घात हो या न हो किन्तु असावधान और प्रमादी व्यक्तिको हिंसाका दोष सुनिश्चित है। प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले अप्रमत्त साधकके द्वारा बाह्य हिंसा होनेपर भी वह अहिंसक है। अतः प्रमाद आस्रवका मुख्य द्वार है। इसीलिए भ० महावीरने बारबार गौतम गणधरको चेताया है कि "समयं गोयम मा पमादए।" अर्थात् गौतम, किसी भी समय प्रमाद न करो।

कषाय—आत्माका स्वरूप स्वभावतः शान्त और निर्विकारी है। परन्तु क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाएँ आत्माको कस देती हैं और इसे स्वरूपच्युत कर देती हैं। ये चारों आत्माकी विभाव दशाएँ हैं। क्रोधकषाय द्वेष रूप है यह द्वेषका कार्य और द्वेषको उत्पन्न करती है। मान यदि क्रोधको उत्पन्न करता है तो द्वेष रूप है। लोभ रागरूप है। माया यदि लोभको जागृत करती है तो रागरूप है। तात्पर्य यह कि राग, द्वेष, मोहकी दोषत्रिपुटीमें कषायका भाग ही मुख्य है। मोहरूप मिथ्यात्व दूर हो जानेपर भी सम्यग्दृष्टिको राग-द्वेष रूप कषायें बनी रहती हैं। जिसमें लोभ कषाय तो पदप्रतिष्ठा और यशोलिप्साके रूपमें बड़े-बड़े मुनियोंको भी स्वरूपस्थित नहीं होने देती। यह रागद्वेष रूप द्वन्द्व ही समस्त अनर्थोंका मूल हेतु है। यही प्रमुख आस्रव है। न्यायसूत्र, गीता और पालीपिटकोंमें भी इसी द्वन्द्वको ही पापमूल बताया है। जैनशास्त्रोंका प्रत्येक वाक्य कषायशमनका ही उपदेश देता है। इसीलिए जैनमूर्तियाँ वीतरागता और अकिञ्चनताकी प्रतीक होती हैं। उसमें न द्वेषका साधन आयुध है और न रागका आधार स्त्री आदिका साहचर्य ही। वे तो परम वीतरागता और अकिंचनताका पावन सन्देश देती हैं।

इन कषायोंके सिवाय—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (ग्लानि) स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद यो ९ नोकषायें हैं। इनके कारण भी आत्मामें विकार परिणति उत्पन्न होती है। अतः ये भी आस्रव हैं।

योग—मन, वचन और कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो परिस्पन्द अर्थात् क्रिया होती है उसे योग कहते हैं। योगकी साधारण प्रसिद्धि चित्तवृत्तिनिरोध रूप ध्यानके अर्थमें है पर जैन परम्परामें चूँकि मन, वचन और कायसे होनेवाली आत्माकी क्रिया कर्मपरमाणुओंसे योग अर्थात् सम्बन्ध करानेमें कारण होती है अतः इसे योग कहते हैं और योगनिरोधको ध्यान कहते हैं। आत्मा सक्रिय है। उसके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है। मन, वचन और कायके निमित्तसे सदा उसमें क्रिया होती रहती है। यह क्रिया जीवन्मुक्तको भी बराबर होती है। परमुक्तिसे कुछ समय पहिले अयोगकेवली अवस्थामें मन, वचन, कायकी क्रियाका निरोध होता है और आत्मा निर्मल और निश्चल बन जाता है। सिद्ध अवस्थामें आत्माके पूर्ण शुद्धरूपका आविर्भाव होता है न उनमें कर्मजन्य मलिनता रहती और न योगजन्य चंचलता ही। प्रधानरूपसे आस्रव तो योग ही है। इसीके द्वारा कर्मोंका आगमन होता है। शुभ योग पुण्यकर्मका आस्रव कराता है तथा अशुभ योग पाप-कर्मके आस्रवका कारण होता है। सबका शुभचिन्तन तथा अहिंसक विचारधारा शुभ मनोयोग है। हित मित प्रिय सम्भाषण शुभ वचनयोग है। परको बाधा न देनेवाली यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति शुभ काययोग है। इस तरह इस आस्रव तत्त्वका ज्ञान मुमुक्षुको अवश्य ही होना चाहिए। साधारण रूपसे यह तो उसे ज्ञात कर ही लेना चाहिए कि हमारी अमुक प्रवृत्तियोंसे शुभास्रव होता है और अमुक प्रवृत्तियोंसे अशुभास्रव, तभी वह अनिष्ट प्रवृत्तियोंसे अपनी रक्षा कर सकेगा।

सामान्यतया आस्रव दो प्रकारका होता है—एक तो कषायानुरञ्जित योगसे होनेवाला साम्परायिक आस्रव जो बन्धका हेतु होकर संसारकी वृद्धि करता है तथा दूसरा केवल योगसे होनेवाला ईर्यापथ आस्रव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो कषाय न होनेसे आगे बन्धनका कारण नहीं होता। यह आस्रव जीवन्मुक्त महात्माओंके वर्तमान शरीर-सम्बन्ध तक होता रहता है। यह जीवस्वरूपका विघातक नहीं होता।

प्रथम साम्परायिक आस्रव कषायानुरंजित योगसे होनेके कारण बन्धक होता है। कषाय और योग प्रवृत्ति शुभरूप भी होती है और अशुभरूप भी। अतः शुभ और अशुभ योगके अनुसार आस्रव भी शुभास्रव या पुण्यास्रव और अशुभास्रव अर्थात् पापास्रवके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है। साधारणतया सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य कर्म हैं और शेष ज्ञानावरण आदि घातिया और अघातियाँ कर्मप्रकृतियाँ पापरूप हैं। इस आस्रवमें कषायोंके तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, आधार और शक्ति आदिकी दृष्टिसे तारतम्य होता है। संरम्भ ( संकल्प ), समारंभ ( सामग्री जुटना ), आरम्भ ( कार्य-की शुरुआत, कृत (स्वयं करना), कारित ( दूसरोंसे कराना ), अनुमत ( कार्यकी अनुमोदना करना ) मन, वचन, काय, योग और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें परस्पर मिलकर ३ × ३ × ३ × ४ × १०८ प्रकारके हो जाते हैं। इनसे आस्रव होता है। आगे ज्ञानावरण आदि कर्मोंमें प्रत्येकके आस्रव कारण बताते हैं—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण—ज्ञानी और दर्शनयुक्त पुरुषकी या ज्ञान और दर्शनकी प्रशंसा सुनकर भीतरी द्वेषवश उनकी प्रशंसा नहीं करना तथा मनमें दुष्टभावोंका लाना ( प्रदोष ) ज्ञानका और ज्ञानके साधनोंका अपलाप करना ( निह्नव ) योग्य पात्रको भी मात्सर्यवश ज्ञान नहीं देना, ज्ञानमें विघ्न डालना, दूसरेके द्वारा प्रकाशित ज्ञानकी अविनय करना, ज्ञानका गुण कीर्तन न करना, सम्यग्ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहकर ज्ञानके नाशका अभिप्राय रखना आदि यदि ज्ञानके सम्बन्धमें हैं तो ज्ञानावरणके आस्रवके कारण होते है और यदि दर्शनके सम्बन्धमें हैं तो दर्शनावरणके आस्रवके कारण हो जाते हैं। इसी तरह आचार्य और उपाध्यायसे शत्रुता रखना, अकाल अध्ययन, अरुचिपूर्वक पढ़ना, पढ़नेमें आलस करना, व्याख्यानको अनादरपूर्वक सुनना, तीर्थोपरोध, बहुश्रुतके समक्ष भी ज्ञानका गर्व करना, मिथ्या उपदेश देकर दूसरेके मिथ्या ज्ञानमें कारण बनना, बहुश्रुतका अपमान करना, लोभादिवश तत्त्वज्ञानके पक्षका त्याग करके अतत्त्वज्ञानीय पक्षको ग्रहण करना, असम्बद्ध प्रलाप, सूत्र विरुद्ध व्याख्यान, कपटसे ज्ञानार्जन करना, शास्त्र विक्रय आदि जितने ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञानके साधनोंमें विघ्न और द्वेषोत्पादक भाव और क्रियाएँ होती हैं उन सबसे आत्मापर ऐसा संस्कार पड़ता है जो ज्ञानावरण कर्मके आस्रवका हेतु होता है।

देव, गुरु आदिके दर्शनमें मात्सर्य करना, दर्शनमें अन्तराय करना, किसीकी आँख फोड़ देना, इन्द्रियोंका अभिमान करना, नेत्रोंका अहंकार करना, दीर्घ निद्रा, अतिनिद्रा, आलस्य, सम्यग्दृष्टिमें दोषोद्भावन, कुशास्त्र प्रशंसा, गुरुजुगुप्सा आदि दर्शनके विघातक भाव और क्रियाएँ दर्शनावरणका आस्रव कराती हैं।

असातावेदनीय—अपनेमें परमें और दोनोंमें दुःख शोक आदि उत्पन्न करनेसे आसातावेदनीयका आस्रव होता है। स्व पर या उभयमें दुःख उत्पन्न करना, इष्टवियोगमें अत्यधिक विकलता और शोक करना, निन्दा, मानभंग या कर्कशवचन आदिसे भीतर ही भीतर जलना, परितापके कारण अश्रुपातपूर्वक बहु विलाप करना, छाती कूटकर या सिर फोड़कर आक्रन्दन करना, दुःखसे आँखें फोड़ लेना या आत्महत्या कर लेना, इस प्रकार रोना-चिल्लाना कि सुननेवाले भी रो पड़ें, शोक आदिसे लंघन करना, अशुभ प्रयोग, पर-निन्दा, पिशुनता, अदया, अंग-उपांगोंका छेदन भेदन ताड़न, त्रास, अँगुली आदिसे तर्जन करना, वचनोंसे भर्त्सना करना, रोधन, बंधन, दमन, आत्म प्रशंसा, क्लेशोत्पादन, बहुपरिग्रह, आकुलता, मन, वचन, कायकी कुटिलता, पाप कार्योंसे आजीविका करना, अनर्थदण्ड, विषमिश्रण, बाण जाल पिंजरा आदिका बनाना इत्यादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जितने कार्य स्वयंमें परमें या दोनोंमें दुःख आदिके उत्पादक हैं वे सब असातावेदनीय कर्मके आस्रवमें कारण होते हैं।

सातावेदनीय—प्राणिमात्रपर दयाका भाव, मुनि और श्रावकके व्रत धारण करनेवाले व्रतियोंपर अनुकम्पाके भाव, परोपकारार्थ दान देना, प्राणिरक्षा, इन्द्रियजय, क्षान्ति अर्थात् क्रोध, मान, मायाका त्याग, शौच अर्थात् लोभका त्याग, रागपूर्वक संयम धारण करना, अकामनिर्जरा अर्थात् शान्तिसे कर्मोंके फलका भोगना, कायक्लेश रूप कठिन बाह्यतप, अर्हंत्पूजा आदि शुभ राग, मुनि आदिकी सेवा आदि स्व पर तथा उभयमें निराकुलता सुखके उत्पादक विचार और क्रियाएँ सातावेदनीयके आस्रवका कारण होती हैं।

दर्शनमोहनीय—जीवन्मुक्त केवली शास्त्र संघ धर्म और देवोंकी निन्दा करना, इनमें अवर्णवाद अर्थात् अविद्यमान दोषोंका कथन करना दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व कर्मका आस्रव करता है। केवली रोगी होते हैं, कवलाहारी होते हैं, नग्न रहते हैं पर वस्त्रयुक्त दिखाई देते हैं, इत्यादि केवलीका अवर्णवाद है। शास्त्रमें मांसाहार आदिका समर्थन करना श्रुतका अवर्णवाद है। शास्त्र मुनि आदि मलिन हैं, स्नान नहीं करते, कलिकालके साधु हैं इत्यादि संघका अवर्णवाद है। धर्म करना व्यर्थ है, अहिंसा कायरता है आदि धर्मका अवर्णवाद है। देव मद्यपायी और मांसभक्षी होते हैं आदि देवोंका अवर्णवाद है। सारांश यह कि देव, गुरु, धर्म, संघ और श्रुतके सम्बन्धमें अन्यथा विचार और मिथ्या धारणाएँ मिथ्यात्वको पोषण करती हैं और इससे दर्शनमोहका आस्रव होता है जिससे यथार्थ तत्त्वरुचि नहीं हो पाती।

चारित्रमोहनीय—स्वयं और परमें कषाय उत्पन्न करना, व्रतशीलवान् पुरुषोंमें दूषण लगाना, धर्मका नाश करना, धर्ममें अन्तराय करना, देश संयमियोंसे व्रत और शीलका त्याग कराना, मात्सर्यादिसे रहित सज्जन पुरुषोंमें मतिविभ्रम उत्पन्न करना, आर्त्त और रौद्र परिणाम आदि कषायकी तीव्रताके साधन कषाय चारित्रमोहनीयके आस्रवके कारण हैं। समीचीन धार्मिकोंकी हँसी करना, दीनजनोंको देखकर हँसना, काम विकारके भावों पूर्वक हँसना, बहु प्रलाप तथा निरन्तर भाँडों जैसी हँसोड़ प्रवृत्तिसे हास्य नोकषायका आस्रव होता है। नाना प्रकार क्रीड़ा, विचित्र क्रीड़ा, देशादिके प्रति अनौत्सुक्य, व्रत शील आदिमें अरुचि आदि रति नोकषाय आस्रवके हेतु हैं। दूसरोंमें अरति उत्पन्न करना, रतिका विनाश करना, पापशीलजनोंका संसर्ग, पाप क्रियाओंको प्रोत्साहन देना आदि अरति नोकषायके आस्रवके कारण हैं। अपने और दूसरेमें शोक उत्पन्न करना, शोकयुक्तका अभिनन्दन, शोकके वातावरणमें रुचि आदि शोक नोकषायके कारण हैं। स्व और परको भय उत्पन्न करना, निर्दयता, दूसरोंको त्रास देना, आदि भयके आस्रवके कारण हैं। पुण्यक्रियाओंमें जुगुप्सा करना, पर निन्दा आदि जुगुप्साके आस्रवके कारण हैं। परस्त्रीगमन, स्त्रीके स्वरूपको धारण करना, असत्य वचन, परवञ्चना, परदोष दर्शन, वृद्ध होकर भी युवकों जैसी प्रवृत्ति करना आदि स्त्रीवेदके आस्रवके हेतु हैं। अल्पक्रोध, मायाका अभाव, गर्वका अभाव, स्त्रियोंमें अल्प आसक्ति, ईर्षाका न होना, रागवर्धक वस्तुओंमें अनादर, स्वदारसन्तोष, परस्त्रीत्याग आदि पुंवेदके आस्रवके कारण हैं। प्रचुर कषाय, गुह्येन्द्रियोंका विनाश, परांगनाका अपमान, स्त्री या पुरुषोंमें अनंगक्रीड़ा, व्रतशीलयुक्त पुरुषोंको कष्ट उत्पन्न करना, तीव्रराग आदि नपुंसक वेदनीय नोकषायके आस्रवके हेतु हैं।

नरकायु—बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायुका आस्रव कराते हैं। मिथ्यादर्शन, तीव्रराग, मिथ्याभाषण, परद्रव्यहरण, निःशीलता, तीव्र वैर, परोपकार न करना, यतिविरोध, शास्त्रविरोध, कृष्णलेश्या रूप अतितामसपरिणाम, विषयोंमें अतितृष्णा, रौद्र ध्यान, हिंसादि क्रूर कार्योंमें प्रवृत्ति, बाल वृद्ध स्त्री हत्या आदि क्रूरकर्म नरकायुके आस्रवके कारण होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिर्यंचायु—छल कपट आदि मायाचार, मिथ्या अभिप्रायसे धर्मोपदेश देना, अधिक आरम्भ, अधिक परिग्रह, निःशीलता, परवञ्चकता, नील लेश्या और कपोत लेश्या रूप तामस परिणाम। मरणकालमें आर्त्तध्यान, क्रूरकर्म, भेद करना, अनर्थोद्भावन, सोना-चाँदी आदिको खोटा करना, कृत्रिम चन्दनादि बनाना, जाति कुल शीलमें दूषण लगाना, सद्गुणोंका लोप, दोष दर्शन आदि पाशव भाव तिर्यंचायुके आस्रवके कारण होते हैं।

मनुष्यायु—अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह, विनय, भद्र स्वभाव, निष्कपट व्यवहार, अल्पकषाय, मरण-कालमें संक्लेश न होना, मिथ्यात्वी व्यक्तिमें भी नम्रभाव, सुखबोध्यता, अहिंसकभाव, अल्पक्रोध, दोषरहितता, क्रूरकर्मोंमें अरुचि, अतिथिसत्कारतत्परता, मधुर वचन, जगत्में अल्प आसक्ति, अनसूया, अल्पसंक्लेश, गुरु आदिकी पूजा, कापोत और पीतलेश्याके राजस और अल्प सात्त्विक भाव, निराकुलता आदि मानवभाव मनुष्यायुके आस्रवके कारण होते हैं। स्वाभाविक मृदुता और निरभिमान वृत्ति मनुष्यायुके आस्रवके असाधारण हेतु हैं।

देवायु—सराग संयम अर्थात् अभ्युदयकी कामना रहते हुए संयम धारण करना, श्रावकके व्रत, समता पूर्वक कर्मोंका फल भोगनारूप अकामनिर्जरा, संन्यासी, एकदण्डी, त्रिदण्डी, परमहंस आदि तापसोंका बालतप और सम्यक्त्व आदि सात्त्विक परिणाम देवायुके कारण होते हैं।

नाम कर्म—मन, वचन, कायकी कुटिलता, विसंवादन अर्थात् श्रेयोमार्गमें अश्रद्धा उत्पन्न करके उससे च्युत करना, मिथ्यादर्शन, पैशुन्य, अस्थिरचित्तता, झूठे बाँट तराजू गज आदि रखना, मिथ्या साक्षी देना, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, परद्रव्य ग्रहण, असत्यभाषण, अधिक परिग्रह, सदा विलासीवेश धारण करना, रूपमद, कठोरभाषण, असभ्य भाषण, आक्रोश, जान बूझकर छैल छबीला वेश धारण करना, वशीकरण चूर्ण आदिका प्रयोग, मन्त्र आदिके प्रयोगसे दूसरोंमें कुतूहल उत्पन्न करना, देवगुरु पूजाके बहाने गन्ध माला धूप आदि लाकर अपने रागकी पुष्टि करना, पर विडम्बना, परोपहास, ईंटोंके भट्टे लगाना, दावानल प्रज्वलित कराना, प्रतिमा तोड़ना, मन्दिर ध्वंस, उद्यान उजाड़ना, तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ, पापजीविका आदि कार्योंसे अशुभ शरीर आदिके उत्पादक अशुभ नामकर्मका आस्रव होता है।

इनसे विपरीत मन, वचन, कायकी सरलता, ऋजु प्रवृत्ति आदिसे सुन्दर शरीरोत्पादक शुभनाम कर्मका आस्रव होता है।

तीर्थंकर नाम—निर्मल सम्यग्दर्शन, जगद्धितैषिता, जगत्के तारनेकी प्रकृष्ट भावना, विनयसम्पन्नता, निरतिचार शीलव्रतपालन, निरन्तर ज्ञानोपयोग, संसार दुःखभीरुता, यथाशक्ति तप, यथाशक्ति त्याग, समाधि, साधु सेवा, अर्हन्त आचार्य बहुश्रुत और प्रवचनमें भक्ति, आवश्यक क्रियाओंमें सश्रद्ध निरालस्य प्रवृत्ति, शासन प्रभावना, प्रवचन वात्सल्य आदि सोलह भावनाएँ जगदुद्धारक तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवका कारण होती हैं। इनमें सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाली जगदुद्धारकी तीव्र भावना ही मुख्य है।

नीचगोत्र—परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, परगुणविलोप, अपनेमें अविद्यमान गुणोंका प्रख्यापन, जाति-मद, कुलमद, बलमद, रूपमद, श्रुतमद, ज्ञानमद, ऐश्वर्यमद, तपोमद, परापमान, परहास्यकरण, परपरिवादन, गुरुतिरस्कार, गुरुओंसे टकराकर चलना, गुरु दोषोद्भावन, गुरु विभेदन, गुरुओंको स्थान न देना, भर्त्सना करना, स्तुति न करना, विनय न करना, उनका अपमान करना, आदि नीचगोत्रके आस्रवके कारण हैं।

उच्चगोत्र—पर प्रशंसा, आत्मनिन्दा, पर सद्गुणोद्भावन, स्वसद्गुणाच्छादन, नीचैर्वृत्ति—नम्रभाव,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्मद भाव रूप अनुत्सेक, परका अपमान, हास परिहास न करना, मृदुभाषण आदि उच्चगोत्रके आस्रवके कारण होते हैं।

अन्तराय—दूसरोंके दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यमें विघ्न करना, दानकी निन्दा करना, देवद्रव्यका भक्षण, परवीर्यापहरण, धर्मोच्छेद, अधर्माचरण, परनिरोध, बन्धन, कर्णछेदन गुह्यछेदन, इन्द्रिय विनाश आदि विघ्नकारक विचार और क्रियाएँ अन्तराय कर्मका आस्रव कराती हैं।

सारांश यह कि इन भावोंसे उन उन कर्मोंको स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध विशेष रूपसे होता है। वैसे आयुके सिवाय अन्य सात कर्मोंका आस्रव न्यूनाधिक भावसे प्रतिसमय होता रहता है। आयुका आस्रव आयुके त्रिभागमें होता है।

मोक्ष—बन्धनमुक्तिको मोक्ष कहते हैं। बन्धके कारणोंका अभाव होनेपर तथा संचित कर्मोंकी निर्जरा होनेपर समस्त कर्मोंका सकल उच्छेद होना मोक्ष है। आत्माकी वैभाविकी शक्तिका संसार अवस्थामें विभाव परिणमन हो रहा था। विभाव परिणमनके निमित्त हट जानेसे मोक्षदशामें उसका स्वभाव परिणमन हो जाता है। जो आत्माके गुण विकृत हो रहे थे वे ही स्वाभाविक दशामें आ जाते हैं। मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है, अज्ञान ज्ञान और अचारित्र चारित्र। तात्पर्य यह कि आत्माका सारा नक्शा ही बदल जाता है। जो आत्मा मिथ्यादर्शनादि रूपसे अनादिकालसे अशुद्धिका पुंज बना हुआ था वही निर्मल निश्चल और अनन्त चैतन्यमय हो जाता है। उसका आगे सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। वह चैतन्य निर्विकल्प है। वह निस्तरंग समुद्रकी तरह निर्विकल्प निश्चल और निर्मल है। न तो निर्वाण दशामें आत्माका अभाव होता है और न वह अचेतन ही हो जाता है। जब आत्मा एक स्वतन्त्र मौलिक द्रव्य है तब उसका अभाव हो ही नहीं सकता। उसमें परिवर्तन कितने ही हो जायँ पर अभाव नहीं हो सकता। किसीकी भी यह सामर्थ्य नहीं जो जगत्के किसी भी एक सत्का समूल उच्छेद कर सके।

बुद्धसे जब प्रश्न किया गया कि—'मरनेके बाद तथागत होते हैं या नहीं तो उनने इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमें डाल दिया था। यही कारण हुआ कि बुद्धके शिष्योंने निर्वाणके विषयमें दो तरहकी कल्पनाएँ कर डालीं। एक निर्वाण वह जिसमें चित्त सन्तति निरास्रव हो जाती है और दूसरा निर्वाण वह जिसमें दीपकके समान चित्त सन्तति भी बुझ जाती है अर्थात् उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पाँच स्कन्ध रूप ही आत्माको माननेका यह सहज परिणाम था कि निर्वाण दशामें उसका अस्तित्व न रहे। आश्चर्य है कि बुद्ध निर्वाण और आत्माके परलोकगामित्वका निर्णय बताए बिना कही दुःख निवृत्तिके उपदेशके सर्वांगीण औचित्यका समर्थन करते रहे। यदि निर्वाणमें चित्तसन्ततिका निरोध हो जाता है, वह दीपककी तरह बुझ जाती है अर्थात् अस्तित्वशून्य हो जाती है तो उच्छेदवादके दोषसे बुद्ध कैसे बचे? आत्माके नास्तित्वसे इनकार तो इसी भयसे करते थे कि यदि आत्माको नास्ति कहते हैं तो उच्छेदवादका प्रसंग आता है और अस्ति कहते हैं तो शाश्वतवादका प्रसंग आता है। निर्वाणावस्थामें उच्छेद मानने और मरणके बाद उच्छेद माननेमें तत्त्वदृष्टिसे कोई विशेष अन्तर नहीं है। बल्कि चार्वाकका सहज उच्छेद सबको सुकर क्या अयत्नसाध्य होनेसे सहजग्राह्य होगा और बुद्धका निर्वाणोत्तर उच्छेद अनेक प्रकारके ब्रह्मचर्यवास ध्यान आदिसे साध्य होनेके कारण दुर्ग्राह्य होगा। अतः मोक्ष अवस्थामें शुद्ध चित्त सन्ततिकी सत्ता मानना ही उचित है।

मोक्षके कारण—१ संवर—संवर रोकनेको कहते हैं। सुरक्षाका नाम संवर है। जिन द्वारोंसे कर्मोंका आस्रव होता था उन द्वारोंका, निरोध कर देना संवर कहलाता है। आस्रवका मूल कारण योग है। अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगनिवृत्ति ही मूलतः संवरके पदपर प्रतिष्ठित हो सकती है। पर, मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको सर्वथा रोकना संभव नहीं है। शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए आहार करना, मलमूत्रका विसर्जन करना चलना फिरना, बोलना, रखना, उठाना आदि क्रियाएँ करनी ही पड़ती हैं। अतः जितने अंशोंमें मन, वचन, कायकी क्रियाओंका निरोध है उतने अंशको गुप्ति कहते हैं। गुप्ति अर्थात् रक्षा। मन, वचन और कायकी अकुशल प्रवृत्तियोंसे रक्षा करना। यह गुप्ति ही संवरका प्रमुख कारण है। गुप्तिके अतिरिक्त समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आदिसे संवर होता है। समिति आदिमें जितना निवृत्तिका भाग है उतना संवरका कारण होता है और प्रवृत्तिका अंश शुभबन्धका हेतु होता है।

समिति—सम्यक् प्रवृत्ति, सावधानीसे कार्य करना। ईर्या समिति–देखकर चलना। भाषा समिति–हित मित प्रिय वचन बोलना। एषणा समिति–विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेना। आदान-निक्षेपण समिति–देख शोधकर किसी भी वस्तुका रखना उठाना। उत्सर्ग समिति–निर्जन्तु स्थानपर मलमूत्रका विसर्जन करना।

धर्म—आत्मस्वरूपमें धारण करानेवाले विचार और प्रवृत्तियाँ धर्म हैं। उत्तम क्षमा–क्रोधका त्याग करना। क्रोधके कारण उपस्थित होनेपर भी विवेकबारिसे उन्हें शान्त करना। कायरता दोष है और क्षमा गुण। जो क्षमा आत्मामें दीनता उत्पन्न करे वह धर्म नहीं। उत्तम मार्दव–मृदुता, कोमलता, विनयभाव, मानका त्याग। ज्ञान पूजा कुल जाति बल ऋद्धि तप और शरीर आदिकी किंचित् विशिष्टताके कारण आत्मस्वरूपको न भूलना, इनका अहंकार न करना। अहंकार दोष है, स्वमान गुण है। उत्तम आर्जव–ऋजुता, सरलता, मन वचन कायमें कुटिलता न होकर सरलभाव होना। जो मनमें हो, तदनुसारी ही वचन और जीवन व्यवहारका होना। मायाका त्याग-सरलता गुण है। भोंदूपन दोष है। उत्तम शौच–शुचिता, पवित्रता, निर्लोभ वृत्ति, प्रलोभनमें नहीं फँसना। लोभ कषायका त्यागकर मनमें पवित्रता लाना। शौच गुण है पर बाह्य सोला और चौकापन्थ आदिके कारण छू-छू करके दूसरोंसे घृणा करना दोष है। उत्तम सत्य–प्रामाणिकता, विश्वास परिपालन, तथ्य स्पष्ट भाषण। सच बोलना धर्म है परन्तु परनिन्दाके लिए दूसरोंके दोषोंका ढिंढोरा पीटना दोष है। पर बाधाकारी सत्य भी दोष हो सकता है। उत्तम संयम–इन्द्रिय विजय, प्राणि रक्षण। पाँचों इन्द्रियोंकी विषय प्रवृत्तिपर अंकुश रखना, निरर्गल प्रवृत्तिको रोकना, वश्येन्द्रिय होना। प्राणियोंकी रक्षाका ध्यान रखते हुए खान-पान जीवन व्यवहारको अहिंसाकी भूमिकापर चलाना। संयम गुण है पर भावशून्य बाह्य-क्रियाकाण्डमेंका अत्यधिक आग्रह दोष है। उत्तम तप–इच्छानिरोध। मनकी आशा तृष्णाओंको रोककर प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य ( सेवाभाव ) स्वाध्याय और व्युत्सर्ग ( परिग्रहत्याग ) में चित्तवृत्ति लगाना। ध्यान–चित्तकी एकाग्रता। उपवास, एकाशन, रसत्याग, एकान्तसेवन, मौन, शरीरको सुकुमार न होने देना आदि बाह्यतप हैं। इच्छानिवृत्ति रूप तप गुण है और मात्र बाह्य कायक्लेश, पंचाग्नि तपना, हठयोगकी कठिन क्रियायें बालतप हैं। उत्तमत्याग–दान देना, त्यागकी भूमिकापर आना। शक्त्यनुसार भूखोंको भोजन, रोगीको औषधि, अज्ञाननिवृत्तिके लिए ज्ञानके साधन जुटाना और प्राणिमात्रको अभय देना। समाज और देशके निर्माणके लिए तन धन आदि साधनोंका त्याग। लाभ पूजा नाम आदिके लिए किया जानेवाला दान उत्तम दान नहीं है। उत्तम आकिंचन्य–अकिञ्चनभाव, बाह्यपदार्थोंमें ममत्व भावका त्याग। धन-धान्य आदि बाह्यपरिग्रह तथा शरीरमें 'यह मेरा स्वरूप नहीं है, आत्माका धन तो उसका शुद्ध चैतन्यरूप है' 'नास्तिमें किञ्चन'–मेरा कुछ नहीं है आदि भावनाएँ आकिञ्चन्य हैं। कर्त्तव्यनिष्ठ रहकर भौतिकतासे दृष्टि हटाकर विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करना। उत्तम ब्रह्मचर्य–ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूपमें विचरण करना। स्त्रीसुखसे विरक्त होकर समस्त शारीरिक मानसिक आत्मिक शक्तियोंको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मविकासोन्मुख करना। मनःशुद्धिके बिना केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य न तो शरीरको ही लाभ पहुँचाता है और न मन और आत्मा में ही पवित्रता लाता है।

अनुप्रेक्षा—सद्भावनाएँ आत्मविचार। ऐसी भावनाओंको सदा चित्तमें भाते रहना चाहिये। इन विचारोंसे सुसंस्कृत चित्त समय आनेपर विचलित नहीं हो सकता, सभी द्वन्द्वोंमें समताभाव रख सकता है और कर्मोंके आस्रवको रोककर संवरकी ओर ले जा सकता है।

परीषहजय—साधकको भूख प्यास ठंड गरमी बरसात डांस मच्छर चलने फिरने सोनेमें आनेवाली कंकड़ आदि बाधाएँ, बध आक्रोश मल रोग आदिकी बाधाओंको शान्तिसे सहना चाहिए। नग्न रहते हुए भी स्त्री आदिको देखकर अविकृत बने रहना चाहिए। चिरतपस्या करनेपर भी यदि कोई ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त न हो तो भी तपस्याके प्रति अनादर नहीं होना चाहिए। कोई सत्कार-पुरस्कार करे तो हर्ष न करे तो खेद नहीं करना चाहिए। यदि तपस्यासे कोई विशेष ज्ञान प्राप्त हो गया हो तो अहंकार और प्राप्त न हुआ हो तो खेद नहीं करना चाहिए। भिक्षावृत्तिसे भोजन करते हुए भी दीनताका भाव आत्मामें नहीं आने देना चाहिए। इस तरह परीषहजयसे चारित्रमें दृढ़ निष्ठा होती है और इससे आस्रव रुककर संवर होता है।

चारित्र—चारित्र अनेक प्रकारका है। इसमें पूर्ण चारित्र मुनियोंका होता है तथा देशचारित्र श्रावकोंका। मुनि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन व्रतोंका पूर्णरूपमें पालन करता है तथा श्रावक इनको एक अंशसे। मुनियोंके महाव्रत होते हैं तथा श्रावकोंके अणुव्रत। इनके सिवाय सामायिक आदि चारित्र भी होते हैं। सामायिक—समस्त पापक्रियाओंका त्याग, समताभावकी आराधना। छेदोपस्थापना—यदि व्रतोंमें दूषण आ गया हो तो फिरसे उसमें स्थिर होना। परिहारविशुद्धि—इस चारित्रवाले व्यक्तिके शरीरमें इतना हलकापन आ जाता है जो सर्वत्र गमन करते हुए भी इसके शरीरसे हिंसा नहीं होती। सूक्ष्मसाम्पराय—अन्य सब कषायोंका उपशम या क्षय होनेपर जिसके मात्र सूक्ष्म लोभकषाय रह जाती है उसके सूक्ष्मसाम्परायचारित्र होता है। यथाख्यातचारित्र—जीवन्मुक्त व्यक्तिके समस्त कषायोंके क्षय होनेपर होता है। जैसा आत्माका स्वरूप है वैसा ही उसका प्राप्त हो जाना यथाख्यात है। इस तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आदिकी किलेबन्दी होनेपर कर्मशत्रुके प्रवेशका कोई अवसर नहीं रहता और पूर्णसंवर हो जाता है।

निर्जरा—गुप्ति आदिसे सर्वतः संवृत व्यक्ति आगामी कर्मोंके आस्रवको तो रोक ही देता है साथ ही साथ पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करके क्रमशः मोक्षको प्राप्त करता है। निर्जरा झड़नेको कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है—(१) औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा (२) अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा। तप आदि साधनाओंके द्वारा कर्मोंको बलात् उदयमें लाकर बिना फल दिये ही झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक क्रमसे प्रति समय कर्मोंका फल देकर झड़ जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रतिसमय हर एक प्राणीके होती ही रहती है और नूतन कर्म बँधते जाते हैं। गुप्ति, समिति और खासकर तपरूपी अग्निके द्वारा कर्मोंको उदयकालके पहिले ही भस्म कर देना अविपाक निर्जरा या औपक्रमिक निर्जरा है। सम्यग्दृष्टि, श्रावक, मुनि, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशान्तमोह गुणस्थानवाला, क्षपकश्रेणीवाले, क्षीणमोही और जीवन्मुक्त व्यक्ति क्रमशः असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। 'कर्मोंकी गति टल नहीं सकती' यह एकान्त नहीं है। यदि आत्मामें पुरुषार्थ हो और वह साधना करे तो समस्त कर्मोंको अन्तर्मुहूर्तमें ही नष्ट कर सकता है। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।" अर्थात् सैकड़ों कल्पकाल बीत जानेपर भी बिना भोगे कर्मोंका क्षय नहीं हो सकता—यह मत जैनोंको



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्य नहीं। जैन तो यह कहते हैं कि "ध्यानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते क्षणात्।" अर्थात् ध्यान-रूपी अग्नि सभी कर्मोंको क्षण भरमें भस्म कर सकती है। ऐसे अनेक दृष्टान्त मौजूद हैं—जिन्होंने अपनी प्राक्साधनाका इतना बल प्राप्त कर लिया था कि साधुदीक्षा लेते ही उन्हें कैवल्य लाभ हो गया। पुरानी वासनाओंको और राग, द्वेष आदि कुसंस्कारोंको नष्ट करनेका एकमात्र मुख्य साधन है ध्यान अर्थात् चित्त-वृत्तियोंका निरोध करके उसे एकाग्र करना।

इस प्रकार भगवान् महावीरने बन्ध ( दुःख ) बन्धके कारण ( आस्रव ) मोक्ष और मोक्षके कारण—संवर, निर्जरा इन पाँच तत्त्वोंके साथ ही साथ आत्मतत्त्वके ज्ञानकी भी खास आवश्यकता बताई जिसे बन्धन और मोक्ष होता है तथा उस अजीव तत्त्वके ज्ञानकी जिसके कारण अनादिसे यह जीव बन्धनबद्ध हो रहा है।

मोक्षके साधन—वैदिक संस्कृति विचार या ज्ञानसे मोक्ष मानती है जब कि श्रमण संस्कृति आचार अर्थात् चारित्रको मोक्षका साधन स्वीकार करती है। यद्यपि वैदिक संस्कृतिमें तत्त्वज्ञानके साथ ही साथ वैराग्य और संन्यासको भी मुक्तिका अंग माना है पर वैराग्य आदिका उपयोग तत्त्वज्ञानकी पुष्टिमें होता है अर्थात् वैराग्यसे तत्त्वज्ञान परिपूर्ण होता है और फिर मुक्ति। जैन तीर्थङ्करोंने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" ( तत्त्वार्थसूत्र १।१ ) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षका मार्ग कहा है। ऐसा सम्यग्ज्ञान जो सम्यक्चारित्रका पोषक या वर्द्धक नहीं है मोक्षका साधन नहीं हो सकता। जो ज्ञान जीवनमें उतरकर आत्मशोधन करे वही मोक्षका कारण है। अन्ततः सच्ची श्रद्धा और ज्ञानका फल चारित्रशुद्धि है। ज्ञान थोड़ा भी हो पर यदि उसने जीवनशुद्धिमें प्रेरणा दी है तो वह सम्यग्ज्ञान है। अहिंसा, संयम और तप साधनात्मक वस्तुएँ हैं, ज्ञानात्मक नहीं। अतः जैनसंस्कृतिने कोरे ज्ञानको भार ही बताया है। तत्त्वोंकी सच्ची श्रद्धा खासकर धर्मकी श्रद्धा मोक्ष-प्रासादका प्रथम सोपान है। आत्मधर्म अर्थात् आत्मस्वभावका और आत्मा तथा शरीरादि परपदार्थका स्वरूपज्ञान होना—इनमें भेदविज्ञान होना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यक्दर्शन अर्थात् आत्मस्वरूपका स्पष्ट दर्शन, अपने लक्ष्य और कल्याण-मार्गकी दृढ़ प्रतीति। भय, आशा, स्नेह और लोभादि किसी भी कारणसे जो श्रद्धा चल और मलिन न हो सके, कोई साथ दे या न दे पर भीतरसे जिसके प्रति जीवनकी भी बाजी लगानेवाला परमावगाढ़ संकल्प हो वह जीवन्त श्रद्धा सम्यक्दर्शन है। इस ज्योति-के जगते ही साधकको अपने तत्त्वका स्पष्ट दर्शन होने लगता है। उसे स्वानुभूति—अर्थात् आत्मानुभव प्रतिक्षण होता है। वह समझता है कि धर्म आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें है, बाह्य पदार्थाश्रित क्रियाकाण्डमें नहीं। इसी-लिए उसकी परिणति एक विलक्षण प्रकारकी हो जाती है। उसे आत्मकल्याण, मानवजातिका कल्याण, देश और समाजके कल्याणके मार्गका स्पष्ट भान हो जाता है। अपने आत्मासे भिन्न किसी भी परपदार्थकी अपेक्षा ही दुःखका कारण है। सुख स्वाधीन वृत्तिमें है। अहिंसा भी अन्ततः यही है कि हमारा परपदार्थसे स्वार्थ-साधनका भाव कम हो। जैसे स्वयं जीवित रहनेकी इच्छा है उसी तरह प्राणिमात्रका भी जीवित रहनेका अधिकार स्वीकार करें।

स्वरूपज्ञान और स्वाधिकार मर्यादाका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। उसके प्रति दृढ़ श्रद्धा सम्यग्दर्शन है और तद्रूप होनेके यावत् प्रयत्न सम्यक्चारित्र है। यथा—प्रत्येक आत्मा चैतन्यका धनी है। प्रतिक्षण पर्याय बदलते हुए भी उसकी अविच्छिन्न धारा अनन्तकाल तक चलती रहेगी। उसका कभी समूल नाश न होगा। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यपर कोई अधिकार नहीं है। रागादि कषायें और वासनाएँ आत्माका निजरूप नहीं हैं, विकारभाव हैं। शरीर भी पर है। हमारा स्वरूप तो चैतन्यमात्र है। हमारा अधिकार अपनी गुणपर्यायोंपर है। अपने विचार और अपनी क्रियाओंको हम जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं। दूसरेको बनाना बिगाड़ना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारा स्वाभाविक अधिकार नहीं है । यह अवश्य है कि दूसरा हमारे बनने बिगड़नेमें निमित्त होता है पर निमित्त उपादानकी योग्यताका ही विकास करता है । यदि उपादान कमजोर है तो निमित्तके द्वारा अत्यधिक प्रभावित हो सकता । अतः बनना बिगड़ना बहुत कुछ अपनी भीतरी योग्यतापर ही निर्भर है । इस तरह अपने आत्माके स्वरूप और स्वाधिकारपर अटल श्रद्धा होना और आचार व्यवहारमें इसका उल्लंघन न करनेकी दृढ़ प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है ।

## सम्यग्दर्शनका सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शनका अर्थ मात्र यथार्थ देखना या वास्तविक पहिचान ही नहीं है, किन्तु उस दर्शनके पीछे होनेवाली दृढ़ प्रतीति, जीवन्त श्रद्धा और उसको कायम रखनेके लिए प्राणोंकी भी बाजी लगा देनेका अटूट विश्वास ही वस्तुतः सम्यग्दर्शनका स्वरूपार्थ है ।

सम्यग्दर्शनमें दो शब्द हैं सम्यक् और दर्शन । सम्यक् शब्द सापेक्ष है, उसमें विवाद हो सकता है । एक मत जिसे सम्यक् समझता है दूसरा मत उसे सम्यक् नहीं मानकर मिथ्या मानता है । एक ही वस्तु परिस्थिति विशेषमें एकको सम्यक् और दूसरोंको मिथ्या हो सकती है । दर्शनका अर्थ देखना या निश्चय करना है । इसमें भी भ्रान्तिकी सम्भावना है । सभी मत अपने-अपने धर्मको दर्शन अर्थात् साक्षात्कार किया हुआ बताते हैं, अतः कौन सम्यक् और कौन असम्यक् तथा कौन दर्शन और कौन अदर्शन ये प्रश्न मानव मस्तिष्कको आन्दोलित करते रहते हैं । इन्हीं प्रश्नोंके समाधानमें जीवनका लक्ष्य क्या है ? धर्मकी आवश्यकता क्यों है ? आदि प्रश्नोंका समाधान निहित है ।

सम्यक्दर्शन एक क्रियात्मक शब्द है, अर्थात् सम्यक्-अच्छी तरह दर्शन-देखना । प्रश्न यह है कि—'क्यों देखना, किसको देखना और कैसे देखना ।' 'क्यों देखना' तो इसलिए कि मनुष्य स्वभावतः मननशील और दर्शनशील प्राणी होते हैं । उनका मन यह तो विचारता ही है कि—यह जीवन क्या है ? क्या जन्मसे मरण तक ही इसकी धारा है या आगे भी ? जिन्दगी भर जो अनेक द्वन्दों और संघर्षोंसे जूझना है वह किसलिए ? अतः जब इसका स्वभाव ही मननशील है तथा संसारमें सैकड़ों मत प्रचारक मनुष्यको बलात् वस्तुस्वरूप दिखाते हुए चारों ओर घूम रहे हैं, 'धर्म डूबा, संस्कृति डूबी, धर्मकी रक्षा करो, संस्कृतिको बचाओ' आदि धर्म प्रचारकोंके नारे मनुष्यके कानके पर्दे फाड़ रहे हैं तब मनुष्यको न चाहनेपर भी देखना तो पड़ेगा ही । यह तो करीब-करीब निश्चित ही है कि मनुष्य या कोई भी प्राणी अपने लिए ही सब कुछ करता है, उसे सर्वप्रिय वस्तु अपनी ही आत्मा है । उपनिषदोंमें आता है कि "आत्मनो वै कामाय सर्वं प्रियं भवति ।" कुटुम्ब स्त्री पुत्र तथा शरीरका भी ग्रहण अपनी आत्माकी तुष्टिके लिए किया जाता है । अतः 'किसको देखना' इस प्रश्नका उत्तर है कि सर्वप्रथम उस आत्माको ही देखना चाहिए जिसके लिए यह सब कुछ किया जा रहा है, और जिसके न रहनेपर यह सब कुछ व्यर्थ है, वही आत्मा द्रष्टव्य है, उसीका सम्यक्दर्शन हमें करना चाहिए । 'कैसे देखना' इस प्रश्नका उत्तर धर्म और सम्यग्दर्शनका निरूपण है ।

जैनाचार्योंने 'वत्थुसभावो धम्मो' यह धर्मकी अन्तिम परिभाषा की है । प्रत्येक वस्तुका अपना निज स्वभाव ही धर्म है तथा स्वभावसे च्युत होना अधर्म है । मनुष्यका मनुष्य रहना धर्म है पशु बनना अधर्म है । आत्मा जब तक अपने स्वरूपमें है धर्मात्मा है, जहाँ स्वरूपसे च्युत हुआ अधर्मात्मा बना । अतः जब स्वरूपस्थिति ही धर्म है तब धर्मके लिए भी स्वरूपका जानना नितान्त आवश्यक है । यह भी जानना चाहिए कि आत्मा स्वरूपच्युत क्यों होता है ? यद्यपि जलका गरम होना उसकी स्वरूपच्युति है, एतावता वह अधर्म है पर जल चूँकि जड़ है, अतः उसे यह भान ही नहीं होता कि मेरा स्वरूप नष्ट हो गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जैन तत्त्वज्ञान तो यह कहता है कि जिस प्रकार अपने स्वरूपसे च्युत होना अधर्म है उसी प्रकार दूसरेको स्वरूपसे च्युत करना भी अधर्म है। स्वयं क्रोध करके शान्तस्वरूपसे च्युत होना जितना अधर्म है उतना ही दूसरेके शान्तस्वरूपमें विघ्न करके उसे स्वरूपच्युत करना भी अधर्म है। अतः ऐसी प्रत्येक विचारधारा, वचनप्रयोग और शारीरिक प्रवृत्ति अधर्म है जो अपनेको स्वरूपच्युत करती हो या दूसरेकी स्वरूपच्युतिका कारण होती हो।

आत्माके स्वरूपच्युत होनेका मुख्य कारण है—स्वरूप और स्वाधिकारकी मर्यादाका अज्ञान। संसारमें अनन्त अचेतन और अनन्त चेतन द्रव्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। प्रत्येक अपने स्वरूपमें परिपूर्ण है। इन सबका परिणमन मूलतः अपने उपादानके अनुसार होकर भी दूसरेके निमित्तसे प्रभावित होता है। अनन्त अचेतन द्रव्योंका यद्यपि संयोगोंके आधारसे स्वरसतः परिणमन होता रहता है। पर जड़ होनेके कारण उनमें बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं हो सकती। जैसी-जैसी सामग्री जुटती जाती है वैसा-वैसा उनका परिणमन होता रहता है। मिट्टीमें यदि विष पड़ जाय तो उसका विषरूप परिणमन हो जायगा यदि क्षार पड़ जाय तो खारा परिणमन हो जायगा। चेतन द्रव्य ही ऐसे हैं जिनमें बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होती है। ये अपनी प्रवृत्ति तो बुद्धिपूर्वक करते ही हैं साथ ही साथ अपनी बुद्धिके अनधिकार उपयोगके कारण दूसरे द्रव्योंको अपने अधीन करनेकी कुचेष्टा भी करते हैं। यह सही है कि जबतक आत्मा अशुद्ध या शरीर परतन्त्र है तब तक उसे परपदार्थोंकी आवश्यकता होगी और वह परपदार्थोंके बिना जीवित भी नहीं रह सकता। पर इस अनिवार्य स्थितिमें भी उसे यह सम्यक्दर्शन तो होना ही चाहिए कि—'यद्यपि आज मेरी अशुद्ध दशामें शरीरादिके परतन्त्र होनेके कारण नितान्त परवश स्थिति है और इसके लिए यत्किंचित् परसंग्रह आवश्यक है पर मेरा निसर्गतः परद्रव्योंपर कोई अधिकार नहीं है, प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना स्वामी है।" इस परम व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी उद्घोषणा जैनतत्त्वज्ञानियोंने अत्यन्त निर्भयतासे की है। और इसके पीछे हजारों राजकुमार राजपाट छोड़कर इस व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी उपासनामें लगते आए हैं। यही सम्यग्दर्शनकी ज्योति है।

प्रत्येक आत्मा अपनी तरह जगत्में विद्यमान अनन्त आत्माओंका भी यदि समान-आत्माधिकार स्वीकार कर ले और अचेतन द्रव्योंके संग्रह या परिग्रहको पाप और अनधिकार चेष्टा मान ले तो जगत्में युद्ध संघर्ष हिंसा द्वेष आदि क्यों हों? आत्माके स्वरूपच्युत होनेका मुख्य कारण है परसंग्रहाभिलाषा और परपरिग्रहेच्छा। प्रत्येक मिथ्यादर्शी आत्मा यह चाहता है कि संसारके समस्त जीवधारी उसके इशारेपर चलें, उसके अधीन रहें, उसकी उच्चता स्वीकार करें। इसी व्यक्तिगत अनधिकार चेष्टाके फलस्वरूप जगत्में जाति वर्ण रंग आदिप्रयुक्त वैषम्यकी सृष्टि हुई है। एक जातिमें उच्चत्वका अभिमान होनेपर उसने दूसरी जातियोंको नीचा रखनेका प्रयत्न किया। मानवजातिके काफी बड़े भागको अस्पृश्य घोषित किया गया। गौररंगवालोंकी शासक जाति बनी। इस जाति वर्ण और रंगके आधारसे गुट बने और इन गिरोहोंने अपने वर्गकी उच्चता और लिप्साकी पुष्टिके लिए दूसरे मनुष्योंपर अवर्णनीय अत्याचार किए। स्त्रीमात्र भोगकी वस्तु रही। स्त्री और शूद्रका दर्जा अत्यन्त पतित समझा गया। जैन तीर्थंकरोंने इन अनधिकार चेष्टाको मिथ्यादर्शन कहा और बताया कि इस अनधिकार चेष्टाको समाप्त किये बिना सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः मूलतः सम्यग्दर्शन-आत्मस्वरूपदर्शन और आत्माधिकारके ज्ञानमें ही परिसमाप्त है। शास्त्रोंमें इसका ही स्वानुभव, स्वानुभूति, स्वरूपानुभव जैसे शब्दोंसे वर्णन किया गया है। जैन परम्परामें सम्यक्दर्शनके विविधरूप पाए जाते हैं। १—तत्त्वार्थश्रद्धान २—जिनदेव शास्त्र गुरुका श्रद्धान ३—आत्मा और परका भेदज्ञान आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदेव, जैनशास्त्र और जैनगुरुकी श्रद्धाके पीछे भी वही आत्मसमानाधिकारकी बात है। जैनदेव परम वीतरागताके प्रतीक हैं। उस वीतरागता और आत्ममात्रत्वके प्रति सम्पूर्ण निष्ठा रखे बिना शास्त्र और गुरुभक्ति भी अधूरी है। अतः जैनदेव शास्त्र और गुरुकी श्रद्धाका वास्तविक अर्थ किसी व्यक्तिविशेषकी श्रद्धा न होकर उन गुणोंके प्रति अटूट श्रद्धा है जिन गुणोंके वे प्रतीक हैं।

आत्मा और पदार्थोंका विवेकज्ञान भी उसी आत्मदर्शनकी ओर इशारा करता है। इसी तरह तत्त्वार्थ-श्रद्धानमें उन्हीं आत्माको बन्ध करनेवाले और आत्माकी मुक्तिमें कारणभूत तत्त्वोंकी श्रद्धा ही अपेक्षित है। इस विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन आत्मस्वरूपदर्शन और आत्माधिकारका परिज्ञान तथा उसके प्रति अटूट जीवन्त श्रद्धारूप ही है। सम्यग्द्रष्टाके जीवनमें परिग्रहसंग्रह और हिंसाका कोई स्थान नहीं रह सकता। वह तो मात्र अपनी आत्मापर ही अपना अधिकार समझकर जितनी दूसरी आत्माओंको या अन्य जड़द्रव्योंको अधीन करनेकी चेष्टाएँ हैं उन सभीको अधर्म ही मानता है। इस तरह यदि प्रत्येक मानवको यह आत्मस्वरूप और आत्माधिकारका परिज्ञान हो जाय और वह जीवनमें इसके प्रति निष्ठावान हो जाय तो संसारमें परम शान्ति और सहयोगका साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

सम्यग्दर्शनके इस अन्तरस्वरूपकी जगह आज बाहरी पूजा-पाठने ले ली है। अमुक पद्धतिसे पूजन और अमुक प्रकारकी द्रव्यसे पूजा आज सम्यक्त्व समझी जाती है। जो महावीर और पद्मप्रभु वीतरागताके प्रतीक थे, आज उनकी पूजा व्यापारलाभ, पुत्रप्राप्ति, भूतबाधाशान्ति जैसी क्षुद्र कामनाओंकी पूर्तिके लिए ही की जाने लगी है। इतना ही नहीं, इन तीर्थंकरोंका 'सच्चा दरबार' कहलाता है। इनके मन्दिरोंमें शासन-देवता स्थापित हुए हैं और उनकी पूजा और भक्तिने ही मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया है। और यह सब हो रहा है सम्यग्दर्शनके पवित्र नामपर।

जिस सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न चाण्डालको स्वामी समन्तभद्रने देवके समान बताया उसी सम्यग्दर्शनकी ओटमें और शास्त्रोंकी ओटमें जातिगत उच्चत्व नीचत्वके भावका प्रचार किया जा रहा है। जिस बाह्य-पदार्थाश्रित या शरीराश्रित भावोंके विनाशके लिए आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शनका उपदेश दिया गया था उन्हीं शरीराश्रित पिण्डशुद्धि आदिके नामपर ब्राह्मणधर्मकी वर्णाश्रमव्यवस्थाको चिपटाया जा रहा है। इस तरह जबतक हमें सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होगा तबतक न जाने क्या-क्या अलाय-बलाय उसके पवित्र नामसे मानव-जातिका पतन करती रहेगी। अतः आत्मस्वरूप और आत्माधिकारको मर्यादाको पोषण करनेवाली धारा ही सम्यग्दर्शन है अन्य नहीं। यही धर्म है।

जिस प्रकार मिथ्यादर्शन दो प्रकारका उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके भी निसर्गज—अर्थात् बुद्धिपूर्वक प्रयत्नके बिना अनायास प्राप्त होनेवाला और अधिगमज अर्थात् बुद्धिपूर्वक—परोपदेशसे सीखा हुआ, इस प्रकार दो भेद हैं। जन्मान्तरसे आये हुए सम्यग्दर्शन संस्कारका निसर्गजमें ही समावेश है। अतः जबतक माँ बाप, शिक्षक, समाजके नेता, धर्मगुरु और धर्मप्रचारक आदिको सम्यग्दर्शनका सम्यग्दर्शन न होगा तबतक ये अनेक निरर्थक क्रियाकाण्डों और विचारशून्य रूढ़ियोंकी शराब धर्म और सम्यग्दर्शनके नामपर नूतनपीढ़ी-को पिलाते जायँगे और निसर्गमिथ्यादृष्टियोंकी सृष्टि करते जायँगे। अतः नई पीढ़ीके सुधारके लिए व्यक्ति को सम्यग्दर्शन प्राप्त करना होगा। हमें उस मूलभूत तत्त्व—आत्मस्वरूप और आत्माधिकारको इन नेताओंको समझाना होगा और इनसे करबद्ध प्रार्थना करनी होगी कि इन कच्चे बच्चोंपर दया करो, इन्हें सम्यग्दर्शन और धर्मके नामपर बाह्यगत उच्चत्वनीचत्व शरीराश्रित पिण्डशुद्धि आदिमें न उलझाओ, थोड़ा-थोड़ा आत्म-दर्शन करने दो। परम्परागत रूढ़ियोंको धर्मका जामा मत पहिनाओ। बुद्धि और विवेकको जाग्रत् होने दो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धाके नामपर बुद्धि और विवेककी ज्योतिको मत बुझाओ। अपनी प्रतिष्ठा स्थिर रखनेके लिए पीढ़ीके विकासको मत रोको। स्वयं समझो जिससे तुम्हारे संपर्कमें आनेवाले लोगोंमें समझदारी आवे। रूढ़िचक्रका आम्नाय परम्परा आदिके नामपर आँख मूँदकर अनुसरण न करो। तुम्हारा यह पाप नई पीढ़ीको भोगना पड़ेगा। भारतकी परतन्त्रता हमारे पूर्वजोंकी ही गलती या संकुचित दृष्टिका परिणाम थी, और आज जो स्वतन्त्रता मिली वह गान्धीयुगके सम्यग्द्रष्टाओंके पुरुषार्थका फल है। इस विचारधाराको प्राचीनता, हिन्दुत्व, धर्म और संस्कृतिके नामपर फिर तमःछन्न मत करो।

सारांश यह कि आत्मस्वरूप और आत्माधिकारके पोषक उपबृंहक परिवर्धक और संशोधक कर्त्तव्योंका प्रचार करो जिससे सम्यग्दर्शनकी परम्परा चले। व्यक्तिका पाप व्यक्तिको भोगना ही साधनों की सत्ता है।

## अध्यात्म और नियतिवादका सम्यग्दर्शन

पदार्थस्थिति—"नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः"—जगतमें जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नहीं हो सकता और सर्वथा नए किसी असत्का सद्रूपमें उत्पाद नहीं हो सकता। जितने मौलिक द्रव्य इस जगतमें अनादिसे विद्यमान हैं अपनी अवस्थाओंमें परिवर्तित होते रहते हैं। अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल अणु, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश और असंख्य कालाणु इनसे यह लोक व्याप्त है। ये छह जातिके द्रव्य मौलिक हैं, इनमेंसे न तो एक भी द्रव्य कम हो सकता है और न कोई नया उत्पन्न होकर इनकी संख्यामें वृद्धि ही कर सकता है। कोई भी द्रव्य अन्यद्रव्यरूपमें परिणमन नहीं कर सकता। जीव जीव ही रहेगा पुद्गल नहीं हो सकता। जिस तरह विजातीय द्रव्यरूपमें किसी भी द्रव्यका परिणमन नहीं होता उसी तरह एक जीव दूसरे सजातीय जीवद्रव्यरूप या एक पुद्गल दूसरे सजातीय पुद्गलद्रव्यरूपमें परिणमन भी नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों-अवस्थाओंकी धारामें प्रवाहित है। वह किसी भी विजातीय या सजातीय द्रव्यान्तरकी धारामें नहीं मिल सकता। यह सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तरमें असंक्रान्ति ही प्रत्येक द्रव्यकी मौलिकता है। इन द्रव्योंमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और कालद्रव्योंका परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है, इनमें विकार नहीं होता, एक जैसा परिणमन प्रतिसमय होता रहता है। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें शुद्धपरिणमन भी होता है तथा अशुद्ध परिणमन भी। इन दो द्रव्योंमें क्रियाशक्ति भी है जिससे इनमें हलन-चलन, आना-जाना आदि क्रियाएँ होती हैं। शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं, वे जहाँ हैं वहीं रहते हैं। आकाश सर्वव्यापी है। धर्म और अधर्म लोकाकाशके बराबर हैं। पुद्गल और काल अणुरूप हैं। जीव असंख्यातप्रदेशी है और अपने शरीरप्रमाण विविध आकारोंमें मिलता है। एक पुद्गलद्रव्य ही ऐसा है जो सजातीय अन्य पुद्गलद्रव्योंसे मिलकर स्कन्ध बन जाता है और कभी-कभी इनमें इतना रासायनिक मिश्रण हो जाता है कि उसके अणुओंकी पृथक् सत्ताका भान करना भी कठिन होता है। तात्पर्य यह कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्यमें अशुद्ध परिणमन होता है और वह एक दूसरेके निमित्तसे। पुद्गलमें इतनी विशेषता है कि उसकी अन्य सजातीय पुद्गलोंसे मिलकर स्कन्ध-पर्याय भी होती है पर जीवकी दूसरे जीवसे मिलकर स्कन्ध पर्याय नहीं होती। दो विजातीय द्रव्य बँधकर एक पर्याय प्राप्त नहीं कर सकते। इन दो द्रव्योंके विविध परिणमनोंका स्थूलरूप यह दृश्य जगत् है।

द्रव्य-परिणमन—प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य है। पूर्वपर्याय नष्ट होती है उत्तर उत्पन्न होती है पर मूलद्रव्यकी धारा अविच्छिन्न चलती है। यही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता प्रत्येक द्रव्यका निजी स्वरूप है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्योंका सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। जीवद्रव्यमें जो मुक्त जीव हैं उनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणमन शुद्ध ही होता है कभी भी अशुद्ध नहीं होता। संसारी जीव और अनन्त पुद्गलद्रव्यका शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही प्रकारका परिणमन होता है। इतनी विशेषता है कि जो संसारी जीव एकबार मुक्त होकर शुद्ध परिणमनका अधिकारी हुआ वह फिर कभी भी अशुद्ध नहीं होगा, पर पुद्गलद्रव्यका कोई नियम नहीं है। वे कभी स्कन्ध बनकर अशुद्ध परिणमन करते हैं तो परिमाणुरूप होकर अपनी शुद्ध अवस्थामें आ जाते हैं फिर स्कन्ध बन जाते हैं। इस तरह उनका विविध परिणमन होता रहता है। जीव और पुद्गलमें वैभाविकी शक्ति है, उसके कारण विभाव परिणमनको भी प्राप्त होते हैं।

द्रव्यगतशक्ति—धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक एक एक हैं। कालाणु असंख्यात है। प्रत्येक कालाणुमें एक-जैसी शक्तियाँ हैं। वर्तना करनेकी जितने अविभागप्रतिच्छेदवाली शक्ति एक कालाणुमें है वैसी ही दूसरे कालाणुमें। इस तरह कालाणुओंमें परस्पर शक्ति-विभिन्नता या परिणमनविभिन्नता नहीं है। पुद्गलद्रव्यके एक अणुमें जितनी शक्तियाँ हैं उतनी ही और वैसी ही शक्तियाँ परिणमनयोग्यताएँ अन्य पुद्गलाणुओंमें हैं। मूलतः पुद्गल-अणुद्रव्योंमें शक्तिभेद, योग्यताभेद या स्वभावभेद नहीं है। यह तो सम्भव है कि कुछ पुद्गलाणु मूलतः स्निग्ध स्पर्शवाले हों और दूसरे मूलतः रूक्ष, कुछ शीत और कुछ उष्ण, पर उनके ये गुण भी नियत नहीं हैं, रूक्षगुणवाला भी अणु स्निग्धगुणवाला बन सकता है तथा स्निग्धगुण-वाला भी रूक्ष, शीत भी उष्ण बन सकता है उष्ण भी शीत। तात्पर्य यह कि पुद्गलाणुओंमें ऐसा कोई जातिभेद नहीं है जिससे किसी भी पुद्गलाणुका पुद्गलसम्बन्धी कोई परिणमन न हो सकता हो। पुद्गल-द्रव्यके जितने भी परिणमन हो सकते हैं उन सबकी योग्यता और शक्ति प्रत्येक पुद्गलाणुमें स्वभावतः है। यही द्रव्यशक्ति कहलाती है। स्कन्ध अवस्थामें पर्यायशक्तियाँ विभिन्न हो सकती हैं। जैसे किसी अग्निस्कन्धमें सम्मिलित परमाणुका उष्णस्पर्श तेजोरूप था, पर यदि वह अग्निस्कन्धसे जुदा हो जाय तो उसका शीतस्पर्श तथा कृष्णरूप हो सकता है, और यदि वह स्कन्ध ही भस्म बन जाय तो सभी परमाणुओंका रूप और स्पर्श आदि बदल सकते हैं।

सभी जीवद्रव्योंकी मूल स्वभावशक्तियाँ एक जैसी हैं, ज्ञानादि अनन्तगुण और अनन्त चैतन्यपरिण-मनकी शक्ति मूलतः प्रत्येक जीवद्रव्यमें है। हाँ, अनादिकालीन अशुद्धताके कारण उनका विकास विभिन्न प्रकारसे होता है। चाहे भव्य हो या अभव्य दोनों ही प्रकारके प्रत्येक जीव एक-जैसी शक्तियोंके आधार हैं। शुद्ध दशामें सभी एक जैसी शक्तियोंके स्वामी बन जाते हैं और प्रतिसमय अखण्ड शुद्ध परिणमनमें लीन रहते हैं। संसारी जीवोंमें भी मूलतः सभी शक्तियाँ हैं। इतना विशेष है कि अभव्यजीवोंमें केवलज्ञानादि शक्तियोंके आविर्भावकी शक्ति नहीं मानी जाती। उपर्युक्त विवेचनसे एक बात निर्बाधरूपसे स्पष्ट हो जाती है कि चाहे द्रव्य चेतन हो या अचेतन, प्रत्येक मूलतः अपनी-अपनी चेतन-अचेतन शक्तियोंका धनी है उनमें कहीं कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं है। अशुद्ध दशामें अन्य पर्यायशक्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं और विलीन होती रहती हैं।

परिणमनके नियतत्वकी सीमा—उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि द्रव्योंमें परिणमन होनेपर भी कोई भी द्रव्य सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपमें परिणमन नहीं कर सकता। अपनी धारामें सदा उसका परिणमन होता रहता है। द्रव्यगत मूल स्वभावकी अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यके अपने परिणमन नियत हैं। किसी भी पुद्गलाणुके वे सभी पुद्गलसम्बन्धी परिणमन यथासमय हो सकते हैं और किसी भी जीवके जीव-सम्बन्धी अनन्त परिणमन। यह तो सम्भव है कि कुछ पर्यायशक्तियोंसे सीधा सम्बन्ध रखनेवाले परिणमन कारणभूत पर्यायशक्तिके न होनेपर न हों। जैसे प्रत्येक पुद्गलपरमाणु यद्यपि घट बन सकता है फिर भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जबतक अमुक परमाणु मिट्टी स्कन्धरूप पर्यायको प्राप्त न होंगे तब तक उनमें मिट्टीरूप पर्यायशक्तिके विकाससे होनेवाली घटपर्याय नहीं हो सकती। परन्तु मिट्टी पर्यायसे होनेवाली घट, सकोरा आदि जितनी पर्यायें सम्भवित हैं वे निमित्तके अनुसार कोई भी हो सकती हैं। जैसे जीवमें मनुष्यपर्यायमें आँखसे देखनेकी योग्यता विकसित है तो वह अमुक समयमें जो भी सामने आयेगा उसे देखेगा। यह कदापि नियत नहीं है कि अमुक समयमें अमुक पदार्थको ही देखनेकी उसमें योग्यता है शेषकी नहीं, या अमुक पदार्थमें उस समय उसके द्वारा ही देखे जानेकी योग्यता है अन्यके द्वारा नहीं। मतलब यह कि परिस्थितिवश जिस पर्यायशक्तिका द्रव्यमें विकास हुआ है उस शक्तिसे होनेवाले यावत्कार्योंमेंसे जिस कार्यकी सामग्री या बलवान् निमित्त मिलेंगे उसके अनुसार उसका वैसा परिणमन होता जायगा। एक मनुष्य गद्दीपर बैठा है उस समय उसमें हँसना-रोना, आश्चर्य करना, गम्भीरतासे सोचना आदि अनेक कार्योंकी योग्यता है। यदि बहुरूपिया सामने आजाय और उसकी उसमें दिलचस्पी हो तो हँसनेरूप पर्याय हो जायगी। कोई शोकका निमित्त मिल जाय तो रो भी सकता है। अकस्मात् बात सुनकर आश्चर्यमें डूब सकता है और तत्त्वचर्चा सुनकर गम्भीरतापूर्वक सोच भी सकता है। इसलिए यह समझना कि 'प्रत्येक द्रव्यका प्रतिसमयका परिणमन नियत है उसमें कुछ भी हेर-फेर नहीं हो सकता और न कोई हेर-फेर कर सकता है' द्रव्यके परिणमनस्वभावको गम्भीरतासे न सोचनेके कारण भ्रमात्मक है। द्रव्यगत परिणमन नियत हैं। अमुक स्थूलपर्यायगत शक्तियोंके परिणमन भी नियत हो सकते हैं, जो उस पर्यायशक्तिके सम्भावनीय परिणमनोंमेंसे किसी एकरूपमें निमित्तानुसार सामने आते हैं। जैसे एक अंगुली अगले समय टेढ़ी हो सकती है, सीधी रह सकती है, टूट सकती है, घूम सकती है, जैसी सामग्री और कारण-कलाप मिलेंगे उसमें विद्यमान इन सभी योग्यताओंमेंसे अनुकूल योग्यताका विकास हो जायगा। उस कारणशक्तिसे वह अमुक परिणमन भी नियत कराया जा सकता है जिसकी पूरी सामग्री अविकल हो और प्रतिबन्धक कारणकी सम्भावना न हो, ऐसी अन्तिमक्षणप्राप्त शक्तिसे वह कार्य नियत ही होगा, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिक्षणका परिणमन सुनिश्चित है उसमें जिसे जो निमित्त होता है नियतिचक्रके पेटमें पड़कर ही वह उसका निमित्त बनेगा ही। यह अति-सुनिश्चित है कि हरएक द्रव्यका प्रतिसमय कोई न कोई परिणमन होना ही चाहिए। पुराने संस्कारोंके परिणामस्वरूप कुछ ऐसे निश्चित कार्यकारणभाव बनाए जा सकते हैं जिनसे यह नियत किया जा सकता है कि अमुक समयमें इस द्रव्यका ऐसा परिणमन होना ही, पर इस कारणताकी अवश्यंभाविता सामग्रीकी अविकलता तथा प्रतिबन्धक-कारणकी शून्यतापर ही निर्भर है। जैसे हल्दी और चूना दोनों एक जलपात्रमें डाले गये तो यह अवश्यंभावी है कि उनका लालरंगका परिणमन हो। एक बात यहाँ यह खासतौरसे ध्यानमें रखने की है कि अचेतन परमाणुओंमें बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं हो सकती। उनमें अपने संयोगोंके आधारसे ही क्रिया होती है, भले ही वे संयोग चेतन द्वारा मिलाए गए हों या प्राकृतिक कारणोंसे मिले हों। जैसे पृथिवी-में कोई बीज पड़ा हो तो सरदी गरमीका निमित्त पाकर उसमें अंकुर आ जायगा और वह पल्लवित पुष्पित होकर पुनः बीजको उत्पन्न कर देगा। गरमीका निमित्त पाकर जल भाप बन जायगा। पुनः सरदीका निमित्त पाकर भाप जलके रूपमें बरसकर पृथिवीको शस्यश्यामल बना देगा। कुछ ऐसे भी अचेतन द्रव्योंके परिणमन हैं जो चेतन निमित्तसे होते हैं जैसे मिट्टीका घड़ा बनना या रुईका कपड़ा बनना। तात्पर्य यह कि अतीतके संस्कारवश वर्तमान क्षणमें जितनी और जैसी योग्यताएँ विकसित होंगी और जिनके विकासके अनुकूल निमित्त मिलेंगे द्रव्योंका वैसा-वैसा परिणमन होता जायगा। भविष्यका कोई निश्चित कार्यक्रम द्रव्योंका बना हुआ हो और उसी सुनिश्चित अनन्त क्रमपर यह जगत चल रहा हो यह धारणा ही भ्रम-पूर्ण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियताऽनियतत्ववाद—जैनदृष्टिसे द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं पर उनके प्रतिक्षणके परिणमन अनिवार्य होकर भी अनियत हैं। एक द्रव्यकी उस समयकी योग्यतासे जितने प्रकारके परिणमन हो सकते हैं उनमेंसे कोई भी परिणमन जिसके निमित्त और अनुकूल सामग्री मिल जायगी हो जायगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्यकी शक्तियाँ तथा उनसे होनेवाले परिणमनोंकी जाति सुनिश्चित है। कभी भी पुद्गलके परिणमन जीवमें तथा जीवके परिणमन पुद्गलमें नहीं हो सकते। पर प्रतिसमय कैसा परिणमन होगा यह अनियत है। जिस समय जो शक्ति विकसित होगी तथा अनुकूल निमित्त मिल जायगा उसके बाद वैसा परिणमन हो जायगा। अतः नियतत्व और अनियतत्त्व दोनों धर्म सापेक्ष हैं, अपेक्षा भेदसे सम्भव हैं।

जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्यका ही खेल यह जगत है। इनकी अपनी द्रव्यशक्तियाँ नियत हैं। संसारमें किसीकी शक्ति नहीं जो द्रव्यशक्तियोंमेंसे एकको भी कम कर सके या एकको बढ़ा सके। इनका आविर्भाव और तिरोभाव पर्यायके कारण होता रहता है। जैसे मिट्टी पर्यायको प्राप्त पुद्गलसे तेल नहीं निकल सकता, वह सोना नहीं बन सकती, यद्यपि तेल और सोना भी पुद्गल ही बनता है, क्योंकि मिट्टी पर्यायवाले पुद्गलों-की वह योग्यता तिरोभूत है, उसमें घट आदि बननेकी, अंकुरको उत्पन्न करनेकी, बर्तनोंके शुद्ध करनेकी, प्राकृतिक चिकित्सामें उपयोग आनेकी आदि पचासों पर्याय योग्यताएँ विद्यमान हैं। जिसकी सामग्री मिलेगी अगले क्षणमें वही पर्याय उत्पन्न होगी। रेत भी पुद्गल है पर इस पर्यायमें घड़ा बननेकी योग्यता तिरोभूत है, अप्रकट है, उसमें सीमेंटके साथ मिलकर दीवालपर पुष्ट लेप करनेकी योग्यता प्रकट है, वह काँच बन सकती है या बही पर लिखी जानेवाली काली स्याहीका शोषण कर सकती है। मिट्टी पर्यायमें ये योग्यताएँ अप्रकट हैं। तात्पर्य यह कि :—

(१) प्रत्येक द्रव्यकी मूलद्रव्यशक्तियाँ नियत हैं उनकी संख्यामें न्यूनाधिकता कोई नहीं कर सकता। पर्यायके अनुसार कुछ शक्तियाँ प्रकट रहती हैं और कुछ अप्रकट। इन्हें पर्याय योग्यता कहते हैं। (२) यह नियत है कि चेतन का अचेतनरूपसे तथा अचेतनका चेतनरूपसे परिणमन नहीं हो सकता। (३) यह भी नियत है कि एक चेतन या अचेतन द्रव्यका दूसरे सजातीय चेतन या अचेतन द्रव्य रूपसे परिणमन नहीं हो सकता। (४) यह भी नियत है कि दो चेतन मिलकर एक संयुक्त सदृश पर्याय उत्पन्न नहीं कर सकते जैसे कि अनेक अचेतन परमाणु मिलकर अपनी संयुक्त सदृश घट पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं। (५) यह भी नियत है कि द्रव्यमें उस समय जितनी पर्याय योग्यताएँ हैं उनमें जिसके अनुकूल निमित्त मिलेंगे वही परिणमन आगे होगा, शेष योग्यताएँ केवल सद्भावमें रहेंगी। (६) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्यका कोई न कोई परिणमन अगले क्षणमें अवश्य होगा। यह परिणमन द्रव्यगत मूल योग्यताओं और पर्यायगत प्रकट योग्यताओंकी सीमाके भीतर ही होगा, बाहर कदापि नहीं। (७) यह भी नियत है कि निमित्त उपादान द्रव्यकी योग्यताका ही विकास करता है, उसमें नूतन सर्वथा असद्भूत परिणमन उपस्थित नहीं कर सकता। (८) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणमनका उपादान होता है। उस समयकी पर्याययोग्यतारूप उपादानशक्तिकी सीमाके बाहिरका कोई परिणमन निमित्त नहीं ला सकता। परन्तु—

(१) यही एक बात अनियत है कि 'अमुक समयमें अमुक परिणमन ही होगा।' मिट्टीकी पिंडपर्यायमें घड़ा, सकोरा, सुराई, दिया आदि अनेक पर्यायोंके प्रकटानेकी योग्यता है। कुम्हारकी इच्छा और क्रिया आदि का निमित्त मिलनेपर उनमेंसे जिसकी अनकूलता होगी वह पर्याय अगले क्षणमें उत्पन्न हो जायगी। यह कहना कि 'उस समय मिट्टीकी यही पर्याय होनी थी, उनका मेल भी सद्भाव रूपसे होना था, पानीकी यही पर्याय होनी थी' द्रव्य और पर्यायगत योग्यताके अज्ञानका फल है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियतिवाद नहीं—जो होना होगा वह होगा ही, हमारा कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है, इस प्रकारके निष्क्रिय नियतिवादके विचार जैनतत्त्वस्थितिके प्रतिकूल हैं। जो द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं उनमें हमारा कोई पुरुषार्थ नहीं, हमारा पुरुषार्थ तो कोयलेकी हीरापर्यायके विकास करानेमें है। यदि कोयलेके लिए उसकी हीरापर्यायके विकासके लिए आवश्यक सामग्री न मिले तो या तो वह जलकर भस्म बनेगा या फिर खानिमें ही पड़े-पड़े समाप्त हो जायगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि जिसमें उपादान शक्ति नहीं है उसका परिणमन भी निमित्तसे हो सकता है या निमित्तमें यह शक्ति है जो निरुपादानको परिणमन करा सके।

नियतिवाद-दृष्टिविष—एकबार 'ईश्वरवाद'के विरुद्ध छात्रोंने एक प्रहसन खेला था। उसमें एक ईश्वरवादी राजा था, जिसे यह विश्वास था कि ईश्वरने समस्त दुनियाके पदार्थोंका कार्यक्रम निश्चित कर दिया है। प्रत्येक पदार्थकी अमुक समयमें यह दशा होगी इसके बाद यह इस प्रकार सब सुनिश्चित है। कोई अकार्य होता तो राजा सदा यह कहता था कि—'हम क्या कर सकते हैं? ईश्वरने ऐसा ही नियत किया था। ईश्वरके नियतिचक्रमें हमारा हस्तक्षेप उचित नहीं 'ईश्वरकी मर्जी'। एकबार कुछ गुण्डोंने राजाके सामने ही रानीका अपहरण किया। जब रानीने रक्षार्थ चिल्लाहट शुरू की और राजाको क्रोध आया तब गुण्डोंके सरदारने जोरसे कहा—'ईश्वरकी मर्जी'। राजाके हाथ ढीले पड़ते हैं और वे गुण्डे रानीको उसके सामने ही उठा ले जाते हैं। गुण्डे रानीको भी समझाते हैं कि 'ईश्वरकी मर्जी यही थी' रानी भी 'विधिविधान' में अटल विश्वास रखती थी और उन्हें आत्म समर्पण कर देती है। राज्यमें अव्यवस्था फैलती है और परचक्रका आक्रमण होता है और राजाकी छातीमें दुश्मनकी जो तलवार घुसती है वह भी 'ईश्वरकी मर्जी' इस जहरीले विश्वासविषसे बुझी हुई थी और जिसे राजाने विधिविधान मानकर ही स्वीकार किया था। राजा और रानी, गुण्डों और शत्रुओंके आक्रमणके समय 'ईश्वरकी मर्जी' 'विधिकाविधान' इन्हीं ईश्वरास्त्रोंका प्रयोग करते थे और ईश्वरसे ही रक्षाकी प्रार्थना करते थे। पर न मालूम उस समय ईश्वर क्या कर रहा था? ईश्वर भी क्या करता? गुण्डे और शत्रुओंका कार्यक्रम भी उसीने बनाया था और वे भी 'ईश्वरकी मर्जी' और 'विधिविधान'की दुहाई दे रहे थे। इस ईश्वरवादमें इतनी गुंजाइश थी कि यदि ईश्वर चाहता तो अपने विधानमें कुछ परिवर्तन कर देता। आज श्री कानजी स्वामीकी 'वस्तुविज्ञानसार' पुस्तकको पलटते समय उस प्रहसनकी याद आ गई और ज्ञात हुआ कि यह नियतिवादका कालकूट 'ईश्वरवाद'से भी भयंकर है। ईश्वरवादमें इतना अवकाश है कि यदि ईश्वर की भक्तिकी जाय या सत्कार्य किया जाय तो ईश्वरके विधानमें हेरफेर हो जाता है। ईश्वर भी हमारे सत्कर्म और दुष्कर्मोंके अनुसार ही फलका विधान करता है। पर यह नियतिवाद अभेद्य है। आश्चर्य तो यह है कि इसे 'अनन्त पुरुषार्थ'का नाम दिया जाता है। यह कालकूट कुन्दकुन्द, अध्यात्म, सर्वज्ञ, सम्यग्दर्शन और धर्मकी शक्करमें लपेट कर दिया जा रहा है। ईश्वरवादी साँपके जहरका एक उपाय ( ईश्वर ) तो है पर इस नियतिवादी कालकूटका, इस भीषण दृष्टिविषका कोई उपाय नहीं; क्योंकि हर एक द्रव्यकी हर समयकी पर्याय नियत है।

मर्मान्त वेदना तो तब होती है जब इस मिथ्या एकांत विषको अनेकान्त अमृतके नामसे कोमलमति नई पीढ़ीको पिलाकर उन्हें अनन्त पुरुषार्थी कहकर सदाके लिए पुरुषार्थसे विमुख किया जा रहा है।

पुण्य और पाप क्यों?—जब प्रत्येक जीवका प्रतिसमयका कार्यक्रम निश्चित है, अर्थात् परकर्तृत्व तो है ही नहीं, साथ ही स्वकर्तृत्व भी नहीं है, तब क्या पुण्य और क्या पाप? किसी मुसलमानने जैनप्रतिमा तोड़ी, तो जब मुसलमानको उस समय प्रतिमाको तोड़ना ही था, प्रतिमाको उस समय टूटना ही था, सब कुछ नियत था तो बिचारे मुसलमान का क्या अपराध? वह तो नियतिचक्रका दास था। एक याज्ञिक ब्राह्मण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बकरेकी बलि चढ़ाना है तो क्यों उसे हिंसक कहा जाय—'देवीकी ऐसी ही पर्याय होनी थी, बकरेके गलेको कटना ही था, छुरेको उसकी गर्दनके भीतर घुसना ही था, ब्राह्मणके मुँहमें मांस जाना ही था, वेदमें ऐसा लिखा ही जाना था।' इस तरह पूर्वनिश्चित योजनानुसार जब घटनाएँ घट रही हैं तब उस विचारेको क्यों हत्यारा कहा जाय ? हत्याकाण्डरूपी घटना अनेक द्रव्योंके सुनिश्चित परिणमनका फल है। जिस प्रकार ब्राह्मणके छुरेका परिणमन बकरेके गलेके भीतर घुसनेका नियत था उसी प्रकार बकरेके गलेका परिणमन भी अपने भीतर छुरा घुसवानेका निश्चित था। जब इन दोनों नियत घटनाओंका परिणाम बकरेका बलिदान है तो इसमें क्यों ब्राह्मणको हत्यारा कहा जाय ? किसी स्त्रीका शील भ्रष्ट करनेवाला व्यक्ति क्यों दुराचारी गुण्डा कहा जाय ? स्त्रीका परिणमन ऐसा ही होना था और पुरुषका भी ऐसा ही, दोनों के नियत परिणमनोंका नियत मेलरूप दुराचार भी नियत ही था फिर उसे गुण्डा और दुराचारी क्यों कहा जाय ? इस तरह इस श्रोत्र विषरूप जिसके सुननेसे ही हम तो एक महानियति चक्रके अंश हैं और उसके परिचलनके अनुसार प्रतिक्षण चल रहे हैं। यदि हिंसा करते हैं तो नियत है, व्यभिचार करते हैं तो नियत है, चोरी करते हैं तो नियत है, पापचिन्ता करते हैं तो नियत है। हमारा पुरुषार्थ कहाँ होगा ? कोई भी क्षण इस नियतिभूतकी मौजूदगीसे रहित नहीं है, जब हम साँस लेकर कुछ अपना भविष्य निर्माण कर सकें।

भविष्य निर्माण कहाँ ? इस नियतिवादमें भविष्य निर्माणकी सारी योजनाएँ हवा हैं। जिसे हम भविष्य कहते हैं वह भी नियतिचक्रमें सुनिश्चित है और होगा ही। जैन दृष्टि तो यह कहती है कि—तुममें उपादान योग्यता प्रति समय अच्छे और बुरे बनने की, सत् और असत् होने की है, जैसा पुरुषार्थ करोगे, जैसी सामग्री जुटाओगे अच्छे बुरे भविष्यका निर्माण स्वयं कर सकोगे।" पर जब नियतिचक्र निर्माण करनेकी बातपर ही कुठाराघात करके उसे नियत या सुनिश्चित कहता है तब हम क्या पुरुषार्थ करें ? हमारा हमारे ही परिणमनपर अधिकार नहीं है क्योंकि वह नियत है। पुरुषार्थभ्रष्टताका इससे व्यापक उपदेश दूसरा नहीं हो सकता। इस नियतिचक्रमें सबका सब कुछ नियत है उसमें अच्छा क्या ? बुरा क्या ? हिंसा और अहिंसा क्या ?

सबसे बड़ा अस्त्र सर्वज्ञत्व—नियतिवादी या तथोक्त अध्यात्मवादियोंका सबसे बड़ा तर्क है कि—'सर्वज्ञ है या नहीं ? यदि सर्वज्ञ है तो वह त्रिकालज्ञ होगा अर्थात् भविष्यज्ञ भी होगा। फलतः वह प्रत्येक पदार्थका अनन्तकाल तक प्रतिक्षण जो होना है उसे ठीक रूपमें जानता है। इस तरह प्रत्येक परमाणुकी प्रतिसमयकी पर्याय सुनिश्चित है उनका परस्पर जो निमित्तनैमित्तिकजाल है वह भी उसके ज्ञानके बाहिर नहीं है।' सर्वज्ञ माननेका दूसरा अर्थ है नियतिवादी होना। पर, आज जो सर्वज्ञ नहीं मानते उनके सामने हम नियतितन्त्रको कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? जिस अध्यात्मवादके मूलमें हम नियतिवादको पनपाते हैं उस अध्यात्मदृष्टिसे सर्वज्ञता व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। निश्चयनयसे तो आत्मज्ञतामें ही उसका पर्यवसान होता है, जैसा कि स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसार ( गा. १५८ ) में लिखा है—

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥"

अर्थात्—केवली भगवान् व्यवहारनयसे सब पदार्थोंको जानते देखते हैं। निश्चयसे केवलज्ञानी अपनी आत्माको ही जानता देखता है।

अध्यात्मशास्त्रगत निश्चयनयकी भूतार्थता और परमार्थता तथा व्यवहारनयकी अभूतार्थता और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरमार्थता पर विचार करनेसे तो अध्यात्मशास्त्रमें पूर्णज्ञानका पर्यवसान अन्ततः आत्मज्ञानमें ही होता है। अतः सर्वज्ञत्वकी दलीलका अध्यात्मचिन्तनमूलक पदार्थव्यवस्थामें उपयोग करना उचित नहीं है।

समग्र और अप्रतिबद्ध कारण ही हेतु—अकलंकदेवने उस कारण को हेतु स्वीकार किया है जिसके द्वितीयक्षणमें नियमसे कार्य उत्पन्न हो जाय। उसमें भी यह शर्त है कि जब उसकी शक्ति में कोई प्रतिबन्ध उपस्थित न हो तथा सामग्र्यन्तर्गत अन्य कारणोंकी विकलता न हो। जैसे अग्नि धूमकी उत्पत्तिमें अनुकूल कारण है पर यह तभी कारण हो सकती है जब इसकी शक्ति किसी मन्त्र आदि प्रतिबन्धकने न रोकी हो तथा धूमोत्पादक सामग्री-गीला ईंधन आदि पूरे रूपसे विद्यमान हो। यदि कारणका अमुक कार्यरूपमें परिणमन नियत हो तो प्रत्येक कारण को हेतु बनाया जा सकता था। पर कारण तबतक कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता जब तक उसकी सामग्री पूर्ण न हो और शक्ति अप्रतिबद्ध न हो। इसका स्पष्ट अर्थ है कि शक्तिकी अप्रतिबद्धता और सामग्री की पूर्णता जबतक नहीं होगी तबतक अमुक अनुकूल भी कारण अपना अमुक परिणमन नहीं कर सकता। अग्निमें यदि गीला ईंधन डाला जाय तो ही धूम उत्पन्न होगा अन्यथा वह धीरे-धीरे राख बन जायगी। यह बिल्कुल निश्चित नहीं है कि उसे उस समय राख बनना ही है या धूम पैदा करना ही है। यह तो अनुकूल सामग्री जुटाने की बात है। जिस परिणमनकी सामग्री जुटेगी वही परिणमन उसका होगा।

## निश्चय और व्यवहार का सम्यग्दर्शन

"यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः" अर्थात् भावशून्य क्रियाएँ सफल नहीं होतीं। यह भाव क्या है जिसके बिना समस्त क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं? यह भाव है निश्चयदृष्टि। निश्चयनय परनिरपेक्ष आत्मस्वरूपको कहता है। परमवीतरागता पर उसकी दृष्टि रहती है। जो क्रियाएँ इस परम-वीतरागताकी साधक और पोषक हों वे ही सफल हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें बताया है कि "निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।" अर्थात् निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ। इस भूतार्थता और अभूतार्थताका क्या अर्थ है? 'जब आत्मामें इस समय राग, द्वेष, मोह आदि भाव उत्पन्न हो रहे हैं, आत्मा इन भावों रूपसे परिणमन कर रहा है, तब परनिरपेक्ष सिद्धवत् स्वरूपके दर्शन उसमें कैसे किए जा सकते हैं?' यह शंका व्यवहार्य है, और इसका समाधान भी सीधा और स्पष्ट है कि—प्रत्येक आत्मामें सिद्धके समान अनन्त चैतन्य है, एक भी अविभाग प्रतिच्छेदकी न्यूनता किसी आत्माके चैतन्यमें नहीं है। सबकी आत्मा असंख्यातप्रदेशवाली है, अखण्ड द्रव्य है। मूल द्रव्यदृष्टिसे सभी आत्माओंकी स्थिति एक प्रकार-की है। विभाव परिणमनके कारण गुणोंके विकासमें न्यूनाधिकता आ गई है। संसारी आत्माएँ विभाव पर्यायोंको धारण कर नानारूपमें परिणत हो रही हैं। इस परिणमनमें मूल द्रव्यकी स्थिति जितनी सत्य और भूतार्थ है उतनी ही उसकी विभावपरिणतिरूप व्यवहार स्थिति भी सत्य और भूतार्थ है। पदार्थपरिणमनकी दृष्टिसे निश्चय और व्यवहार दोनों भूतार्थ और सत्य हैं। निश्चय जहाँ मूल द्रव्यस्वभावको विषय करता है, वहाँ व्यवहार परसापेक्ष पर्यायको विषय करता है, निर्विषय कोई नहीं है। व्यवहारको अभूतार्थता इतनी ही है कि वह जिन विभाव पर्यायोंको विषय करता है वे विभाव पर्याएँ हेय हैं, उपादेय नहीं, शुद्ध द्रव्य-स्वरूप उपादेय है, यही निश्चयकी भूतार्थता है। जिस प्रकार निश्चय द्रव्यके मूल स्वभावको विषय करता है उसी प्रकार शुद्ध सिद्ध पर्याय भी निश्चय का विषय है। तात्पर्य यह कि परनिरपेक्ष द्रव्य स्वरूप और परनिरपेक्ष पर्याएँ निश्चयका विषय हैं और परसापेक्ष परिणमन व्यवहारके विषय हैं। व्यवहारकी अभूतार्थता वहाँ है जहाँ आत्मा कहता है कि "मैं राजा हूँ, मैं विद्वान् हूं, मैं स्वस्थ हूं, मैं ऊँच हूँ, यह नीच है, मेरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्माधिकार है, इसका धर्माधिकार नहीं है आदि" । तब अन्तर्दृष्टि कहता है कि राजा, विद्वान्, स्वस्थ, ऊँच, नीच आदि बाह्यापेक्ष होनेसे हेय हैं, इन रूप तुम्हारा मूलस्वरूप नहीं है, वह तो सिद्धके समान शुद्ध है उसमें न कोई राजा है न रंक, न कोई ऊँच न नीच, न कोई रूपवान् न कुरूपी । उसकी दृष्टिमें सब अखण्ड चैतन्यमय समस्वरूप समानाधिकार हैं । इस व्यवहारमें अहंकारको उत्पन्न करनेका जो जहर है, भेद खड़ा करनेकी जो कुटेव है, निश्चय उसीको नष्ट करता है और अभेद अर्थात् समत्वकी ओर दृष्टिको ले जाता है और कहता है कि—मूर्ख, क्या सोच रहा है, जिसे तू नीच और तुच्छ समझ रहा है वह भी अनन्त चैतन्यका अखण्ड मौलिक द्रव्य है, परकृत भेदसे तू अहंकारकी सृष्टि कर रहा है और भेदका पोषण कर रहा है, शरीराश्रित ऊँच-नीचभावकी कल्पनासे धर्माधिकार जैसे भीषण अहंकारकी बात बोलता है ? इस अनन्त विभिन्नतामय अहंकारपूर्ण व्यवहारसंसारमें निश्चय ही एक अमृतशलाका है जो दृष्टिमें व्यवहारका भेदविष नहीं चढ़ने देती ।

पर ये निश्चयकी चर्चा करने वाले ही जीवनमें अनन्त भेदोंको कायम रखना चाहते हैं । व्यवहार-लोपका भय पग-पगपर दिखाते हैं । यदि दस्सा मंदिरमें आकर पूजा कर लेता है तो इन्हें व्यवहारलोपका भय व्याप्त हो जाता है । भाई, व्यवहारका विष दूर करना ही तो निश्चयका कार्य है । जब निश्चयके प्रसारका अवसर आता है तो क्यों व्यवहारलोपसे डरते हो ? कबतक इस हेय व्यवहारसे चिपटे रहोगे और धर्मके नामपर भी अहंकारका पोषण करते रहोगे ? अहंकारके लिए और क्षेत्र पड़े हुए हैं, उन कुक्षेत्रोंमें तो अहंकार कर ही रहे हो ? बाह्य विभूतिके प्रदर्शनसे अन्य व्यवहारोंमें दूसरोंसे श्रेष्ठ बनने का अभिमान पुष्ट कर ही लेते हो, इस धर्मक्षेत्रको तो समताकी भूमि बनने दो । धर्मके क्षेत्रको तो धनके प्रभुत्वसे अछूता रहने दो । आखिर यह अहंकारकी विषबेल कहाँ तक फैलाओगे ? आज विश्व इस अहंकारकी भीषण ज्वालाओंमें भस्मसात् हुआ जा रहा है । गोरे कालेका अहंकार, हिन्दू मुसलमानका अहंकार, धनी निर्धनका अहंकार, सत्ताका अहंकार, ऊँच-नीचका अहंकार, छूत-अछूतका अहंकार आदि इस सहस्रजिह्व अहंकारनागकी नागदमनी औषधि निश्चय दृष्टि ही है । यह आत्ममात्रको समभूमिपर लाकर उसकी आँखें खोलती हैं कि—देखो, मूलमें तुम सब कहाँ भिन्न हो ? और अन्तिम लक्ष्य भी तुम्हारा वही समस्वरूपस्थिति प्राप्त करना है । तब क्यों बीचके पड़ावोंमें अहंकारका सर्जन करके उच्चत्वकी मिथ्या प्रतिष्ठाके लिए एक दूसरेके खूनके प्यासे हो रहे हो ? धर्मका क्षेत्र तो कमसे कम ऐसा रहने दो जहाँ तुम्हें स्वयं अपनी मूलदशाका भान हो और दूसरे भी उसी समदशाका भान कर सकें । "सम्मीलने नयनयोः न हि किंचिदस्ति"—आँख मुँदजाने पर यह सब भेद तुम्हारे लिए कुछ नहीं है । परलोकमें तुम्हारे साथ वह अहंकारविष तो चला जायगा पर यह जो भेदसृष्टि कर जाओगे उसका पाप मानवसमाजको भोगना पड़ेगा । यह मूढ़ मानव अपने पुराने पुरुषों द्वारा किये गये पापको भी बापके नामपर पोषता रहना चाहता है । अतः मानवसमाजकी हितकामनासे भी निश्चय-दृष्टि–आत्मसमत्वकी दृष्टि को ग्रहण करो और पराश्रित व्यवहारको नष्ट करके स्वयं शान्तिलाभ करो और दूसरोंको उसका मार्ग निष्कंटक कर दो ।

समयसारका सार यही है । कुन्दकुन्दकी आत्मा समयसारके गुणगानसे, उसके ऊपर अर्घ चढ़ानेसे, उसे चांदी सोनेमें मढ़ानेसे सन्तुष्ट नहीं हो सकती । वह तो समयसारको जीवनमें उतारनेसे ही प्रसन्न हो सकती है । यह जातिगत ऊँचनीच भाव, यह धर्मस्थानोंमें किसीका अधिकार किसीका अनधिकार इन सब विषोंका समयसारके अमृतके साथ क्या मेल ? यह निश्चयमिथ्यात्वी निश्चयको उपादेय और भूतार्थ तो कहेगा पर जीवनमें निश्चयकी उपेक्षाके ही कार्य करेगा, उसकी जड़ खोदने का ही प्रयास करेगा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चयनयका वर्णन तो कागजपर लिखकर सामने टाँग लो। जिससे सदा तुम्हें अपने ध्येयका भान रहे। सच पूछो तो भगवान् जिनेन्द्रकी प्रतिमा उसी निश्चयनयकी प्रतिकृति है। जो निपट वीतराग होकर हमें आत्ममात्रसत्यता, सर्वात्मसमत्व और परमवीतरागताका पावन सन्देश देती है। पर व्यवहारमूढ़ मानव उसका मात्र अभिषेक कर बाह्यपूजा करके ही कर्त्तव्यकी इतिश्री समझ लेता है। उलटे अपनेमें मिथ्या धर्मात्मत्वके अहंकारका पोषण कर मंदिरमें भी चौका लगानेका दुष्प्रयत्न करता है। 'अमुक मन्दिरमें आ सकता है अमुक नहीं' इन विधिनिषेधोंकी कल्पित अहंकारपोषक दीवारें खड़ी करके धर्म, शास्त्र और परम्पराके नामपर तथा संस्कृतिरक्षाके नामपर सिरफुड़ौवल और मुकदमेबाजीकी स्थिति उत्पन्न की जाती है और इस तरह रौद्रानन्दी रूपका नग्न प्रदर्शन इन धर्मस्थानोंमें आये दिन होता रहता है।

इसी धारणावश निश्चयमूढ़ 'मैं सिद्ध हूँ, निर्विकार हूँ, कर्मबन्धनमुक्त हूँ' आदि वर्तमानकालीन प्रयोग करने लगते हैं। और उसका समर्थन उपर्युक्त भ्रान्तधारणाके कारण करने लगते हैं। पर कोई भी समझदार आजकी नितान्त अशुद्ध दशामें अपनेको शुद्ध माननेका भ्रान्त साहस भी नहीं कर सकता। यह कहना तो उचित है कि मुझमें सिद्ध होनेकी योग्यता है, मैं सिद्ध हो सकता हूँ, या सिद्धका मूल द्रव्य जितने प्रदेशवाला, जितने गुणधर्मवाला है, उतने ही प्रदेशवाला, उतने ही गुणधर्मवाला मेरा भी है। अन्तर इतना ही है कि सिद्धके सब गुण निरावरण हैं और मेरे सावरण। इस तरह शक्ति प्रदेश और अविभाग प्रतिच्छेदोंकी दृष्टिसे समत्व कहना जुदी बात है। वह समानता तो सिद्धके समान निगोदियासे भी है। पर इससे मात्र द्रव्योंकी मौलिक एकजातीयताका निरूपण होता है न कि वर्तमान कालीन पर्यायका। वर्तमान पर्यायोंमें तो अन्तरं महदन्तरम् है।

इसीतरह निश्चयनय केवल द्रव्यको विषय करता है यह धारणा भी मिथ्या है। वह तो पर निरपेक्ष स्वभावको विषय करनेवाला है चाहे वह द्रव्य हो या पर्याय। सिद्ध पर्याय परनिरपेक्ष स्वभावभूत है, उसे निश्चयनय अवश्य विषय करेगा। जिस प्रकार द्रव्यके मूलस्वरूप पर दृष्टि रखनेसे आत्मस्वरूपकी प्रेरणा मिलती है उसी तरह सिद्ध पर्यायपर भी दृष्टि रखनेसे आत्मोन्मुखता होती है। अतः निश्चय और व्यवहारका सम्यग्दर्शन करके हमें निश्चयनयके लक्ष्य-आत्मसमत्वको जीवनव्यवहारमें उतारनेका प्रयत्न करना चाहिए। धर्म-अधर्मकी भी यही कसौटी हो सकती है। जो क्रियाएँ आत्मस्वभावकी साधक हों परमवीतरागता और आत्मसमताकी ओर ले जाँय वे धर्म हैं, शेष अधर्म।

### परलोक का सम्यग्दर्शन

धर्मक्षेत्रमें सब ओरसे 'परलोक सुधारो' की आवाज सुनाई देती है। परलोकका अर्थ है मरणोत्तर जीवन। हरएक धर्म यह दावा करता है कि उसके बताए हुए मार्गपर चलनेसे परलोक सुखी और समृद्ध होगा। जैनधर्ममें भी परलोकके सुखोंका मोहक वर्णन मिलता है। स्वर्ग और नरकका सांगोपांग विवेचन सर्वत्र पाया जाता है। संसारमें चार गतियाँ हैं—मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति और देवगति। नरक अत्यन्त दुःखके स्थान हैं और स्वर्ग सांसारिक अभ्युदयके स्थान। इनमें सुधार करना मानवशक्तिके बाहरकी बात है। इनकी जो रचना जहाँ है सदा वैसी रहनेवाली है। स्वर्गमें एक देवको कमसे कम सदायौवना बत्तीस देवियाँ अवश्य मिलती हैं। शरीर कभी रोगी नहीं होता। खाने-पीनेकी चिन्ता नहीं। सब मनःकामना होते ही समुपस्थित हो जाता है। नरकमें सब दुःख ही दुःखकी सामग्री है।

यह निश्चित है कि एक स्थूल शरीरको छोड़कर आत्मा अन्य स्थूल शरीरको धारण करता है। यही परलोक कहलाता है। मैं यह पहिले विस्तारसे बता आया हूँ कि आत्मा अपने पूर्वशरीरके साथ ही साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस पर्यायमें उपार्जित किये गए ज्ञान विज्ञान शक्ति आदिको वहीं छोड़ देता है, मात्र कुछ सूक्ष्म संस्कारोंके साथ परलोकमें प्रवेश करता है। जिस योनिमें जाता है वहाँके वातावरणके अनुसार विकसित होकर बढ़ता है। अब यह विचारनेकी बात है कि मनुष्यके लिए मरकर उत्पन्न होनेके दो स्थान तो ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य इसी जन्ममें सुधार सकता है, अर्थात् मनुष्य योनि और पशु योनि इन दो जन्मस्थानोंके संस्कार और वातावरणको सुधारना तो मनुष्यके हाथमें है ही। अपने स्वार्थकी दृष्टिसे भी आधे परलोकका सुधारना हमारी रचनात्मक प्रवृत्तिकी मर्यादामें है। बीज कितना ही परिपुष्ट क्यों न हो यदि खेत ऊबड़-खाबड़ है, उसमें कास आदि हैं, सांप, चूहे, छछूंदर आदि रहते हैं तो उस बीजकी आधी अच्छाई तो खेतकी खराबी और गन्दे वातावरणसे समाप्त हो जाता है। अतः जिस प्रकार चतुर किसान बीजकी उत्तमताकी चिन्ता करता है उसी प्रकार खेतको जोतने बखरने, उसे जीवजन्तुरहित करने, घास फूस उखाड़ने आदिकी भी पूरी-पूरी कोशिश करता ही है, तभी उसकी खेती समृद्ध और आशातीत फलप्रसूत होती है। इसी तरह हमें भी अपने परलोकके मनुष्यसमाज और पशुसमाज रूप दो खेतोंको इस योग्य बना लेना चाहिए कि कदाचित् इनमें पुनः शरीर धारण करना पड़ा तो अनुकूल सामग्री और सुन्दर वातावरण तो मिल जाय। यदि प्रत्येक मनुष्यको यह दृढ़ प्रतीति हो जाय कि हमारा परलोक यही मनुष्य समाज है और परलोक सुधारनेका अर्थ इसी मानव समाजकी सुधारना है तो इस मानवसमाजका नक्शा ही बदल जाय। इसी तरह पशुसमाजके प्रति भी सद्भावना उत्पन्न हो सकती है और उनके खानेपीने रहने आदिका समुचित प्रबन्ध हो सकता है। अमेरिकाकी गाएँ रेडियो सुनती हैं। और सिनेमा देखती हैं। वहाँकी गोशालाएँ यहाँके मानव घोंसलोंसे अधिक स्वच्छ और व्यवस्थित हैं।

परलोक अर्थात् दूसरे लोग, परलोकका सुधार अर्थात् दूसरे लोगोंका—मानवसमाजका सुधार। जब यह निश्चित है कि मरकर इन्हीं पशुओं और मनुष्योंमें भी जन्म लेनेकी सम्भावना है तो समझदारी और सम्यग्दर्शनकी बात तो यह है कि इस मानव और पशु समाजमें आए हुए दोषोंको निकालकर इन्हें निर्दोष बनाया जाय। यदि मनुष्य अपने कुकृत्योंसे मानवजातिमें क्षय, सुजाक, कोढ़, मृगी आदि रोगोंकी सृष्टि करता है, इसे नीतिभ्रष्ट, आचारविहीन, कलह केन्द्र और शराबखोर आदि बना देता है तो वह कैसे अपने मानव परलोकको सुखी कर सकेगा। आखिर उसे भी इसी नरकभूत समाजमें जन्म लेना पड़ेगा। इसी तरह गाय, भैंस आदि पशुओंकी दशा यदि मात्र मनुष्यके ऐहिक स्वार्थके ही आधारपर चली तो उनका कोई सुधार नहीं हो सकता। उनके प्रति सद्भाव हो। यह समझें कि कदाचित् हमें इन योनियोंमें जन्म लेना पड़ा तो यही भोग हमें भोगना पड़ेंगे। जो परम्पराएँ हम इनमें डाल रहे हैं उन्हींके चक्रमें हमें भी पिसना पड़ेगा। जैसा करोगे वैसा भरोगे, इसका वास्तविक अर्थ यही है कि यदि अपने कुकृत्योंसे इस मानव समाज और पशु समाजको कलंकित करोगे तो परलोकमें कदाचित् इन्हीं समाजोंमें आना पड़ा तो उन अपने कुकृत्योंका भोग भोगना ही पड़ेगा।

मानव समाजका सुख दुःख तत्कालीन समाज व्यवस्थाका परिणाम है। अतः परलोकका सम्यग्दर्शन यही है कि जिस आधे परलोकका सुधार हमारे हाथमें है उसका सुधार ऐसी सर्वोदयकारिणी व्यवस्था करके करें जिससे स्वर्गमें उत्पन्न होनेकी इच्छा ही न हो। यही मानवलोकसे भी अधिक सर्वाभ्युदय कारक बन जाय। हमारे जीवनके असदाचार असंयम कुटेव बीमारी आदि सीधे हमारे वीर्यकणको प्रभावित करते हैं और उससे जन्म लेनेवाली सन्ततिके द्वारा मानवसमाजमें वे सब बीमारियाँ और चरित्रभ्रष्टताएँ फैल जाती हैं अतः इनसे परलोक बिगड़ता है। इसका तात्पर्य यही है कि खोटे संस्कार सन्तति द्वारा उस मानवजातिमें घर कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेते हैं जो मानवजाति कभी हमारा पुनः परलोक बन सकती है। हमारे कुकृत्योंसे नरक बना हुआ यही मानवसमाज हमारे पुनर्जन्मका स्थान हो सकता है। यदि हमारा जीवन मानव-समाज और पशुजातिके सुधार और उद्धारमें लग जाता है तो नरकमें जन्म लेनेका मौका ही नहीं आ सकता। कदाचित् नरकमें पहुँच भी गए तो अपने पूर्व संस्कारवश नारकियोंको भी सुधारनेका प्रयत्न किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि हमारा परलोक यही हमसे भिन्न अखिल मनुष्य समाज और पशुजाति हैं जिनका सुधार हमारे परलोकका आधा सुधार है।

दूसरा परलोक है—हमारी सन्तति। हमारे इस शरीरसे होनेवाले यावत् सत्कर्म और दुष्कर्मोंके रक्तद्वारा जीवित संस्कार हमारी सन्ततिमें आते हैं। यदि हममें कोढ़, क्षय या सुजाक जैसी संक्रामक बीमारियाँ हैं तो इसका फल हमारी सन्ततिको भोगना पड़ेगा। असदाचार और शराबखोरी आदिसे होनेवाले पापसंस्कार रक्तद्वारा हमारी सन्ततिमें अंकुरित होंगे तथा बालकके जन्म लेनेके बाद वे पल्लवित पुष्पित और फलित होकर मानवजातिको नरक बनायेंगे। अतः परलोकको सुधारनेका अर्थ है सन्ततिको सुधारना और सन्ततिको सुधारनेका अर्थ है अपनेको सुधारना। जब तक हमारी इस प्रकारकी अन्तर्मुखी दृष्टि न होगी तब तक हम मानव जातिके भावी प्रतिनिधियोंके जीवनमें उन असंख्य काली रेखाओंको अंकित करते जायेंगे जो सीधे हमारे असंयम और पापाचारका फल है।

एक परलोक है—शिष्यपरम्परा। जिस प्रकार मनुष्यका पुनर्जन्म रक्तद्वारा अपनी सन्ततिमें होता है उसी तरह विचारों द्वारा मनुष्यका पुनर्जन्म अपने शिष्योंमें या आसपासके लोगोंमें होता है। हमारे जैसे आचार-विचार होंगे, स्वभावतः शिष्योंके जीवनमें उनका असर होगा ही। मनुष्य इतना सामाजिक प्राणी है कि वह जान या अनजानमें अपने आसपासके लोगोंको अवश्य ही प्रभावित करता है। बापको बीड़ी पीता देखकर छोटे बच्चोंको झूठे ही लकड़ीकी बीड़ी पीनेका शौक होता है और यह खेल आगे जाकर व्यसनका रूप ले लेता है। शिष्य परिवार मोमका पिंड है। उसे जैसे साँचेमें ढाला जायगा ढल जायगा। अतः मनुष्यके ऊपर अपने सुधार-बिगाड़की जबाबदारी तो है ही साथ ही साथ मानव समाजके उत्थान और पतनमें भी उसका साक्षात् और परम्परया खास हाथ है। रक्तजन्य सन्तति तो अपने पुरुषार्थद्वारा कदाचित् पितृजन्य कुसंस्कारोंसे मुक्त भी हो सकती है पर यह विचारसन्तति यदि जहरीली विचारधारासे बेहोश हुई तो इसे होशमें लाना बड़ा दुष्कर कार्य है। आजका प्रत्येक व्यक्ति इस नूतनपीढ़ी पर ही आँख गड़ाए हुए है। कोई उसे मजहबकी शराब पिलाना चाहता है तो कोई हिन्दुत्वकी, तो कोई जाति की तो कोई अपनी कुल परम्परा की। न जाने कितने प्रकारकी विचारधाराओंकी रंग बिरंगी शराबें मनुष्यकी दुर्बुद्धिने तैयार की हैं और अपने वर्गका उच्चत्व, स्वसत्ता स्थायित्व और स्थिर स्वार्थोंकी संरक्षाके लिए विविध प्रकारके धार्मिक सांस्कृतिक सामाजिक और राष्ट्रीय आदि सुन्दर मोहक पात्रोंमें ढाल-ढालकर भोली नूतन पीढ़ीको पिलाकर उन्हें स्वरूपच्युत किया जा रहा है। वे इसके नशेमें उस मानवसमत्वाधिकारको भूलकर अपने भाइयोंका खून बहानेमें भी नहीं हिचकिचाते। इस मानवसंहारयुगमें पशुओंके सुधार और उनकी सुरक्षाकी बात तो सुनता ही कौन है? अतः परलोक सुधारके लिए हमें परलोकके सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता है। हमें समझना होगा कि हमारा पुरुषार्थ किस प्रकार उस परलोकको सुधार सकता है।

परलोकमें स्वर्गके सुखादिके लोभसे इस जन्ममें कुछ चारित्र या तपश्चरणको करना तो लम्बा व्यापार है। यदि ३२ देवियोंके महासुखकी तीव्रकामनासे इस जन्ममें एक बूढ़ी स्त्रीको छोड़कर ब्रह्मचर्य धारण किया जाता है तो यह केवल प्रवञ्चना है। न यह चारित्रका सम्यग्दर्शन है और न परलोकका। यह तो कामना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अनुचित पोषण है, कषायकी पूर्तिका दुष्प्रयत्न है। अतः परलोक सम्बन्धी सम्यग्दर्शन साधकके लिए अत्यावश्यक है।

## कर्मसिद्धान्तका सम्यग्दर्शन

जैन सिद्धान्तने सर्वग्रासी ईश्वरसे जिस किसी तरह मुक्ति दिलाकर यह घोषणा की थी कि प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है। वह स्वयं अपने भाग्यका विधाता है। अपने कर्मका कर्त्ता और उसके फलका भोक्ता है। परन्तु जिस पक्षीकी चिरकालसे पिंजरेमें परतन्त्र रहनेके कारण सहज उड़नेकी शक्ति कुण्ठित हो गई है उसे पिंजड़ेसे बाहर भी निकाल दीजिए तो वह पिंजड़ेकी ओर ही झपटता है। इसी तरह यह जीव अनादिसे परतन्त्र होनेके कारण अपने मूल स्वातन्त्र्य-आत्मसमानाधिकारको भूला हुआ है। उसे इसकी याद दिलाते हैं तो कभी वह भगवान्का नाम लेता है, तो कभी किसी देवी देवताका। और कुछ नहीं तो 'करमगति टालो नाहिं टलै' का नारा किसीने छीन ही नहीं लिया। 'विधिका विधान' 'भवितव्यता अमिट है' आदि नारे बच्चेसे बड़े तक सभीकी जबानपर चढ़े हुए हैं। ईश्वरकी गुलामीसे हटे तो यह कर्मकी गुलामी गले आ पड़ी।

मैंने बन्धतत्त्वके विवेचनमें कर्मका स्वरूप विस्तारसे लिखा है। हमारे विचार, वचन व्यवहार और शारीरिक क्रियाओंके संस्कार हमारी आत्मापर प्रतिक्षण पड़ते हैं और उन संस्कारोंको प्रबोध देनेवाले पुद्गल स्कन्ध आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त हो जाते हैं। आजका किया हुआ हमारा कर्म कल दैव बन जाता है। पुराकृत कर्मको ही दैव विधि भाग्य आदि शब्दोंसे कहते हैं। जो कर्म हमने किया है, जिसे हमने बोया है उसे चाहें तो दूसरे क्षण ही उखाड़कर फेंक सकते हैं। हमारे हाथमें कर्मोंकी सत्ता है। उनकी उदीरणा—समयसे पहिले उदयमें लाकर झड़ा देना, संक्रमण-सताको असाता और असाताको साता बना देना, उत्कर्षण—स्थिति और फल देनेकी शक्तिमें वृद्धि कर देना, अपकर्षण—स्थिति और फलदानशक्ति ह्रास कर देना, उपशम—उदयमें न आने देना, क्षय—नाश करना, उद्वेलन—क्षयोपशम आदि विविध दशायें हमारे पुरुषार्थके अधीन हैं। अमुक कोई कर्म बँधा इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वह वज्रलेप हो गया। बँधनेके बाद भी हमारे अच्छे-बुरे विचार और प्रवृत्तियोंसे उसकी अवस्थामें सैकड़ों प्रकारके परिवर्तन होते रहते हैं। हाँ, कुछ कर्म ऐसे जरूर बँध जाते हैं जिन्हें टालना कठिन होता है उनका फल उसी रूपमें भोगना पड़ता है। पर ऐसा कर्म सौ में एक ही शायद होता है।

सीधीसी बात है—पुराना संस्कार और पुरानी वासना हमारे द्वारा ही उत्पन्न की गई थी। यदि आज हमारे आचार-व्यवहारमें शुद्धि आती है तो पुराने संस्कार धीरे-धीरे या एक ही झटकेमें समाप्त हो ही जायेंगे। यह तो बलाबलकी बात है। यदि आजकी तैयारी अच्छी है तो प्राचीनको नष्ट किया जा सकता है, यदि कमजोरी है तो पुराने संस्कार अपना प्रभाव दिखायेंगे ही। ऐसी स्वतन्त्र स्थितिमें 'कर्मगति टाली नाहीं टलै" जैसे क्लीबविचारोंका क्या स्थान है? ये विचार तो उस समय शान्ति देनेके लिए हैं जब पुरुषार्थ करनेपर भी कोई प्रबल आघात आ जावे, उस समय सान्त्वना और सांस लेनेके लिए इनका उपयोग है। कर्म बलवान् था, पुरुषार्थ उतना प्रबल नहीं हो सका अतः फिर पुरुषार्थ कीजिए। जो अवश्यंभावी बातें हैं उनके द्वारा कर्मकी गतिको अटल बताना उचित नहीं है। एक शरीर धारण किया है, समयानुसार वह जीर्ण शीर्ण होगा ही। अब यहाँ यह कहना कि 'कितना भी पुरुषार्थ कर लो मृत्युसे बच नहीं सकते और इसलिए कर्मगति अटल है' वस्तुस्वरूपके अज्ञानका फल है। जब वह किंचित्काल स्थायी पर्याय है तो आगे पीछे उसे जीर्ण शीर्ण होना ही पड़ेगा। इसमें पुरुषार्थ इतना ही है कि यदि युक्त आहार-विहार और संयमपूर्वक चला जायगा तो जिन्दगी लम्बी और सुखपूर्वक चलेगी। यदि असदाचार और असंयम करोगे तो शरीर क्षय आदि रोगों-



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का घर होकर जल्दी क्षीण हो जायगा। इसमें कर्मकी क्या अटलता है ? यदि कर्म वस्तुतः अटल होता तो ज्ञानी जीव त्रिगुप्ति आदि साधनाओं द्वारा उसे क्षणभरमें काटकर सिद्ध नहीं हो सकेंगे। पर इस आशयकी पुरुषार्थप्रवण घोषणाएँ मूलतः शास्त्रोंमें मिलती ही हैं।

स्पष्ट बात है कि कर्म हमारी क्रियाओं और विचारोंके परिणाम हैं। प्रतिकूल विचारोंके द्वारा पूर्व-संस्कार हटाए जा सकते हैं। कर्मकी दशाओंमें विविध परिवर्तन जीवके भावोंके अनसार प्रतिक्षण होते ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रास्तेमें पड़ा हुआ एक पत्थर सैकड़ों जीवोंके सैकड़ों प्रकारके परिणमनमें तत्काल निमित्त बन जाता है, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उस पत्थर को उत्पन्न करनेमें उन सैकड़ों जीवोंके पुण्य-पापने कोई कार्य किया है। संसारके पदार्थोंकी उत्पत्ति अपने-अपने कारणोंसे होती है। उत्पन्न पदार्थ एक दूसरेकी साता असाताके लिए कारण हो जाते हैं। एक ही पदार्थ समयभेदसे एकजीव या नानाजीवोंके राग-द्वेष और उपेक्षाका निमित्त होता रहता है। किसीका त्रैकालिक रूप सदा एकसा नहीं रहता। अतः कर्मका सम्यग्दर्शन करके हमें अपने पुरुषार्थको पहिचान कर स्वात्मदृष्टि हो तदनुकूल सत्पुरुषार्थमें लगना चाहिए। वही पुरुषार्थ सत् है जो आत्मस्वरूप का साधक हो और आत्माधिकारकी मर्यादाको न लाँघता हो।

संसारके अनन्त अचेतन पदार्थोंका परिणमन यद्यपि उनकी उपादान योग्यताके अनुसार होता है पर उनका विकास पुरुष निमित्तसे अत्यधिक प्रभावित होता है। प्रत्येक परमाणुमें पुद्गलकी वे सब शक्तियाँ हैं जो किसी भी एक पुद्गलाणु द्रव्यमें हो सकती हैं अतः उपादान योग्यताकी कमी तो किसीमें भी नहीं है। रह जाती है पर्याययोग्यता, सो पर्याययोग्यता, परिणमनोंके अनुसार बदल जायगी। रेत पर्यायसे मामूली कुम्हार आदि निमित्तोंसे घटरूप परिणमनका विकास नहीं हो सकता जैसे कि मिट्टीका हो जाता है पर काँचकी भट्टीमें या चीनी मिट्टीके कारखानेमें उसी रेत पर्यायका काँचके घड़े रूपसे और चीनी मिट्टीके घड़े रूपसे स्थिरतर सुन्दर परिणमन विकसित हो जाता है। अचेतन पदार्थोंके परिणमन जैसे स्वतः बुद्धिशून्य होनेके कारण संयोगाधीन हैं वैसे चेतन पदार्थोंके परिणमन मात्र संयोगाधीन ही नहीं हैं। जबतक यह आत्मा परतन्त्र है तबतक उसे कुछ संयोगाधीन परिणमन करना भी पड़ते हों फिर भी वह उन संयोगोंसे मुक्त होकर उन परिणमनोंसे मुक्ति पा सकते हैं। चेतन अपनी स्वशक्तिकी तरतमताके अनुसार अपने परिणमनोंमें स्वाधीन बन सकता है। उसमें कर्म अर्थात् हमारे पुराने संस्कार तभी तक बाधक हो सकते हैं जबतक हम अपने प्रयोगों द्वारा उनपर विजय नहीं पा लेते। उन पुराने संस्कार और विकारोंसे जो पुद्गलद्रव्य हमारी आत्मासे बँधा था, उसको अपनी स्वतः सामर्थ्य कुछ नहीं है उसे बल तो हमारे संस्कार और हमारी वासनाओंसे ही प्राप्त होता है।

इसके सम्बन्धमें सांख्यकारिकामें बहुत उपयुक्त दृष्टान्त वेश्या का दिया है। जिस प्रकार वेश्या हमारी वासनाओंका बल पाकर ही हमें नानाप्रकारसे नचाती है, हम उसके इशारेपर चलते हैं, उसे ही अपना सर्वस्व मानते हैं, चूमते हैं, चाँटते हैं, जैसा वह कहती है वैसा करते हैं। पर जिस समय हम स्वयं वासनानिर्मुक्त होकर स्वरूपदर्शी होते हैं उस समय वेश्या का बल समाप्त हो जाता है और वह हमारी गुलाम होकर हमें रिझानेकी चेष्टा करती है, पुनः वासना जाग्रत करनेका प्रयत्न करती है। यदि हम पक्के रहे तो वह स्वयं असफल प्रयत्न होकर हमें छोड़ देती है, और समझती है कि अब इनपर रंग नहीं जम सकता। यही हालत कर्मपुद्गलकी है। वह तो हमारी वासनाओंका बल पाकर ही सस्पन्द होता है। बंधा भी हमारी वासनाओंके कारण ही था और छूटेगा या निःसार होगा तो हमारी वासनानिर्मुक्त परिणतिसे ही। कर्मका बल हमारी वासना है और वह यदि निर्बल होगा तो हमारी वीतरागतासे ही। शास्त्रोंमें मोहनीयको कर्मोंका राजा कहा है और ममकार तथा अहंकारको मोहराजका मन्त्री। मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन, राग और द्वेष। बाह्य पदार्थोंमें ये 'मेरे हैं' इस ममकारसे तथा 'मैं ज्ञानी हूँ' 'रूपवान्' हूँ इत्यादि अहंकारसे राग द्वेषकी सृष्टि होती है और मोहराज की सेना तैयार हो जाती है। जिस समय इस मोहराजका पतन हो जाता है उस समय सेना अपने आप निर्वीर्य होकर तितर-बितर हो जाती है। साथ रह गया इन कुभावोंके साथ बँधने वाला पुद्गल। सो वह तो विचारा पर द्रव्य है। वह यदि आत्मामें पड़ा भी रहा तो भी हानिकारक नहीं। सिद्धशिलापर भी सिद्धोंके पास अनन्त पुद्गलाणु पड़े होंगे पर वे उनमें रागादि उत्पन्न नहीं कर सकते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि उनमें भीतरसे वे कुभाव नहीं है। अतः मोहनीयके नष्ट होते ही, वीतरागता आते ही वह बँधा हुआ द्रव्य भी झड़ जायगा, या न भी झड़ा वहाँ ही बना रहा तो भी उसमें जो कर्मपना आया है वह समाप्त हो जायगा, वह मात्र पुद्गलपिंड रह जायगा। कर्मपना तो हमारी ही वासनासे उसमें आया था सो समाप्त हो जायगा। "करम विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई। अग्नि सहे घनघात लोहकी संगति पाई।" यह स्तुति हम रोज पढ़ते हैं। इसमें कर्मशास्त्रका सारा तत्त्व भरा हुआ है। तात्पर्य यह कि—कर्म हमारी लगाई हुई खेती है उसे हमीं सींचते हैं। चाहें तो उसे निर्जीव कर दें, चाहें तो सजीव। पर पुरानी परतन्त्रता के कारण आत्मा इतना निर्बल हो गया है कि उसकी अपनी कोई आवाज ही नहीं रह गई है। आत्मामें जितना सम्यग्दर्शन और स्वरूप-स्थितिका बल आयगा उतना ही वह सबल होगा और पुरानी वासनाएँ समाप्त होतीं जायँगी। इस तरह कर्मके यथार्थ रूपको समझ कर हमें अपनी शक्तिको पहिचान करनी चाहिए और उन सद्गुणों और सत्प्रवृत्तियोंका संवर्धन तथा पोषण करना चाहिए जिससे पुरानी कुवासनाएँ नष्ट होकर वीतराग चिन्मय स्वरूपकी पुनः प्रतिष्ठा हो।

## शास्त्रका सम्यग्दर्शन

वैदिक परम्परा और जैनपरम्परामें महत्त्वका मौलिक भेद यह है कि वैदिक परम्परा धर्म-अधर्म-व्यवस्थाके लिए वेदोंको प्रमाण मानती है जब कि जैन परम्पराने वेद या किसी शास्त्रको केवल शास्त्र होनेके ही कारण प्रमाणता स्वीकार नहीं की है। धर्म-अधर्मकी व्यवस्थाके लिए पुरुषके तत्त्वज्ञानमूलक अनुभवको प्रमाण माना है। वैदिक परम्परामें स्पष्ट घोषणा कि—'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्' अर्थात् धर्मव्यवस्थामें अन्तिम प्रमाण वेद है। इसीलिए वेदपक्षवादी मीमांसकने पुरुषकी सर्वज्ञतासे ही इनकार कर दिया है। वह धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके सिवाय अन्य पदार्थोंका यथासंभव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ज्ञान मानता है, पर धर्मका ज्ञान वेदके ही द्वारा मानता है। जब कि जैन परम्परा प्रारम्भसे ही वीतरागी पुरुषके तत्त्वज्ञानमूलक वचनोंको धर्मादिमें प्रमाण मानती आई है। इसीलिए इस परम्परामें पुरुषकी सर्वज्ञता स्वीकृत हुई है। इस विवेचनसे इतना स्पष्ट है कि कोई भी शास्त्र मात्र शास्त्र होनेके कारण ही जैन परम्पराको स्वीकार्य नहीं हो सकता जब तक कि उसके वीतराग—यथार्थवेदिप्रणीतत्वका निश्चय न हो जाय। साक्षात् सर्वज्ञकृतत्वके निश्चय या सर्वज्ञप्रणीत मूल-परम्परागतत्वके निश्चयके बिना कोई भी शास्त्र धर्मके विषयमें प्रमाणकोटिमें उपस्थित नहीं किया जा सकता।

वेदकी गुलामीको जैन तत्त्वज्ञानियोंने हमारे ऊपरसे उतारकर हमें पुरुषानुभवमूलक पौरुषेय वचनोंको परीक्षापूर्वक माननेकी राय दी है। पर शास्त्रोंके नामपर अनेक मूल परम्परामें अनिर्दिष्ट विषयोंके संग्राहक भी शास्त्र तैयार हो गये हैं। अतः हमें यह विवेक तो करना ही होगा कि इस शास्त्रके द्वारा प्रतिपाद्य विषय मूल अहिंसापरम्परासे मेल खाते हैं या नहीं? अथवा तत्कालीन ब्राह्मणधर्मके प्रभावसे प्रभावित हुए हैं। श्री पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तारने ग्रन्थपरीक्षाके तीन भागोंमें अनेक ऐसे ही ग्रन्थोंकी आलोचना की है जो उमास्वामी और पूज्यपाद जैसे युगनिर्माता आचार्योंके नामपर बनाए गए हैं। जिस जन्मना जातिव्यवस्थाका जैन संस्कृतिने अस्वीकार किया था कुछ पुराणग्रन्थोंमें वही अनेक संस्कार और परिकरोंके साथ विराजमान हैं। जैनसंस्कृति बाह्य आडम्बरोंसे शून्य अध्यात्म-अहिंसक संस्कृति है। उसमें प्राणिमात्रका अधिकार है। ब्राह्मणधर्ममें धर्मका उच्चाधिकारी ब्राह्मण है जब कि जैन संस्कृतिने धर्मका प्रत्येक द्वार मानवमात्रके लिए उन्मुक्त रखा है। किसी भी जातिका किसी भी वर्णका मानव धर्मके उच्च स्तर तक बिना किसी रुकावटके पहुँच सकता है। पर कालक्रमसे यह संस्कृति ब्राह्मणधर्मसे पराभूत हो गई है और इसमें ही वर्णव्यवस्था और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जातिगत उच्चनीच भाव आदि शामिल हो गये हैं। तर्पण श्राद्ध उपाध्यायप्रथा आदि इसमें भी प्रचलित हुए हैं। यज्ञोपवीतादि संस्कारोंने जोर पकड़ा है। दक्षिणमें तो जैन और ब्राह्मणमें फर्क करना भी कठिन हो गया है। तदनुसार ही अनेक ग्रन्थोंकी रचनाएँ हुईं और सभी शास्त्रके नामपर प्रचलित हैं। त्रिवर्णाचार और चर्चासागर जैसे ग्रन्थ भी शास्त्रके खातेमें खतयाए हुए हैं। शासन देवताओंकी पूजा प्रतिष्ठा दायभाग आदिके शास्त्र भी बने हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि मात्र शास्त्र होनेके कारण ही हर एक पुस्तक प्रमाण और ग्राह्य नहीं कही जा सकती। अनेक टीकाकारोंने भी मूलग्रन्थका अभिप्राय समझनेमें भूलें की हैं। अस्तु।

हमें यह तो मानना ही होगा कि शास्त्र पुरुषकृत हैं। यद्यपि वे महापुरुष विशिष्ट ज्ञानी और लोक कल्याणकी सद्भावनावाले थे पर क्षायोपशमिकज्ञानवश या परम्परावश मतभेदकी गुंजायश तो हो ही सकती है। ऐसे अनेक मतभेद गोम्मटसार आदिमें स्वयं उल्लिखित हैं। अतः शास्त्र विषयक सम्यग्दर्शन भी प्राप्त करना होगा कि शास्त्रमें किस युगमें किस पात्रके लिए किस विवक्षासे क्या बात लिखी गई है? उनका ऐतिहासिक पर्यवेक्षण भी करना होगा। दर्शनशास्त्रके ग्रन्थोंमें खण्डन मण्डनके प्रसंगमें तत्कालीन या पूर्वकालीन ग्रन्थोंका परस्परमें आदान-प्रदान पर्याप्त रूपसे हुआ है। अतः आत्म-संशोधकको जैन संस्कृतिकी शास्त्र विषयक दृष्टि भी प्राप्त करनी होगी। हमारे यहाँ गुणकृत प्रमाणता है। गुणवान् वक्ताके द्वारा कहा गया वह शास्त्र जिसमें हमारी मूलधारासे विरोध न आता हो, प्रमाण है।

इसीतरह हमें मन्दिर, संस्था, समाज, शरीर, जीवन, विवाह आदिका सम्यग्दर्शन करके सभी प्रवृत्तियोंको पुनः रचना आत्मसमत्वके आधारसे करनी चाहिए तभी मानव जातिका कल्याण और व्यक्तिकी मुक्ति हो सकेगी।

तत्त्वाधिगम के उपाय

"ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः॥" —लघीय०

अकलंकदेवने लघीयस्त्रय स्ववृत्तिमें बताया है कि जीवादि तत्त्वोंका सर्वप्रथम निक्षेपोंके द्वारा न्यास करना चाहिए, तभी प्रमाण और नयसे उनका यथावत् सम्यग्ज्ञान होता है। ज्ञान प्रमाण होता है। आत्मादिको रखनेका उपाय न्यास है। ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं। प्रमाण और नय ज्ञानात्मक उपाय हैं और निक्षेप वस्तुरूप है। इसीलिए निक्षेपोंमें नययोजना कषायपाहुडचूर्णि आदिमें की गई है कि अमुक नय अमुक निक्षेपको विषय करता है।

निक्षेप—निक्षेपका अर्थ है रखना अर्थात् वस्तुका विश्लेषण कर उसकी स्थितिकी जितने प्रकारकी संभावनाएँ हो सकती हैं उनको सामने रखना। जैसे 'राजाको बुलाओ' यहाँ राजा और बुलाना इन दो पदोंका अर्थबोध करना है। राजा अनेक प्रकारके होते हैं यथा 'राजा' इस शब्दको भी राजा कहते हैं, पट्टीपर लिखे हुए 'राजा' इन अक्षरोंको भी राजा कहते हैं, जिस व्यक्तिका नाम राजा है उसे भी राजा कहते हैं, राजाके चित्रको या मूर्तिको भी राजा कहते हैं, शतरंजके मुहरोंमें भी एक राजा होता है, जो आगे राजा होनेवाला है उसे भी लोग आजसे ही राजा कहने लगते हैं, राजाके ज्ञानको भी राजा कहते हैं, जो वर्तमानमें शासनाधिकारी है उसे भी राजा कहते हैं। अतः हमें कौन राजा विवक्षित है? बच्चा यदि राजा माँगता है तो उस समय किस राजाकी आवश्यकता होगी, शतरंजके समय कौन राजा अपेक्षित होता है। अनेक प्रकारके राजाओंसे अप्रस्तुतका निराकरण करके विवक्षित राजाका ज्ञान करा देना निक्षेपका प्रयोजन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। राजाविषयक संशयका निराकरण कर विवक्षित राजाविषयक यथार्थबोध करा देना ही निक्षेपका कार्य है। इसी तरह बुलाना भी अनेक प्रकारका होता है। तो 'राजाको बुलाओ' इस वाक्यमें जो वर्तमान शासनाधिकारी है वह भावराजा विवक्षित है, न शब्दराजा, न ज्ञानराजा, न लिपिराजा, न मूर्तिराजा, न भावीराजा आदि। पुरानी परम्परामें अपने विवक्षित अर्थका सटीक ज्ञान करानेके लिए प्रत्येक शब्दके संभावित वाच्यार्थोंको सामने रखकर उनका विश्लेषण करनेकी परिपाटी थी। आगमोंमें प्रत्येक शब्दका निक्षेप किया गया है। यहाँ तक कि 'शेष' शब्द और 'च' शब्द भी निक्षेप विधिमें भुलाये नहीं गये हैं। शब्द, ज्ञान और अर्थ तीन प्रकारसे व्यवहार चलते हैं। कहीं शब्दव्यवहारसे कार्य चलता है तो कहीं ज्ञानसे, तो कहीं अर्थसे। बच्चेको डरानेके लिए शेर शब्द पर्याप्त है। शेरका ध्यान करनेके लिए शेरका ज्ञान भी पर्याप्त है। पर सरकसमें तो शेर पदार्थ ही चिंघाड़ सकता है।

विवेचनीय पदार्थ जितने प्रकारका हो सकता है उतने सब संभावित प्रकार सामने रखकर अप्रस्तुतका निराकरण करके विवक्षित पदार्थको पकड़ना निक्षेप है। तत्त्वार्थसूत्रकारने इस निक्षेपको चार भागोंमें बाँटा है—शब्दात्मक व्यवहारका प्रयोजक नामनिक्षेप है, इसमें वस्तुमें उस प्रकारके गुण, जाति, क्रिया आदिका होना आवश्यक नहीं है जैसा उसे नाम दिया जा रहा है। किसी अन्धेका नाम भी नयनसुख हो सकता है और किसी सूखकर काँटा हुए दुर्बल व्यक्तिको भी महावीर कहा जा सकता है। ज्ञानात्मक व्यवहारका प्रयोजक स्थापना निक्षेप है। इस निक्षेपमें ज्ञानके द्वारा तदाकार या अतदाकारमें विवक्षित वस्तुकी स्थापना कर ली जाती है और संकेत ज्ञानके द्वारा उसका बोध करा दिया जाता है। अर्थात्मक निक्षेप द्रव्य और भावरूप होता है। जो पर्याय आगे होनेवाली है उसमें योग्यताके बलपर आज भी वह व्यवहार करना अथवा जो पर्याय हो चुकी है उसका व्यवहार वर्तमानमें भी करना द्रव्यनिक्षेप है जैसे युवराजको राजा कहना और राजपदका जिसने त्याग कर दिया है उसको भी राजा कहना। वर्तमानमें उस पर्यायवाले व्यक्तिमें ही वह व्यवहार करना भावनिक्षेप है, जैसे सिंहासन स्थित शासनाधिकारीको राजा कहना। आगमोंमें द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिको मिलाकर यथासंभव पाँच, छह और सात निक्षेप भी उपलब्ध होते हैं परन्तु इस निक्षेपका प्रयोजन इतना ही है कि शिष्यको अपने विवक्षित पदार्थका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय। धवला टीकामें ( पृ० ३१ ) निक्षेपके प्रयोजनोंका संग्रह करनेवाली यह प्राचीन गाथा उद्धृत है—

"अवगयनिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च॥"

अर्थात्—अप्रकृतका निराकरण करनेके लिए, प्रकृतका निरूपण करनेके लिए, संशयका विनाश करनेके लिए और तत्त्वार्थका निर्णय करनेके लिए निक्षेपकी उपयोगिता है।

**प्रमाण, नय और स्याद्वाद**—निक्षेप विधिसे वस्तुको फैलाकर अर्थात् उसका विश्लेषण कर प्रमाण और नयके द्वारा उसका अधिगम करनेका क्रम शास्त्रसम्मत और व्यवहारोपयोगी है। ज्ञानकी गति दो प्रकारसे वस्तुको जाननेकी होती है। एक तो अमुक अंशके द्वारा पूरी वस्तुको जाननेकी और दूसरी उसी अमुक अंशको जाननेकी। जब ज्ञान पूरी वस्तुको ग्रहण करता है तब वह प्रमाण कहा जाता है तथा जब वह एक अंशको जानता है तब नय। पर्वतके एक भागके द्वारा पूरे पर्वतका अखण्ड भावसे ज्ञान प्रमाण है और उसी अंशका ज्ञान नय है। सिद्धान्तमें प्रमाणको सकलादेशी तथा नयको विकलादेशी कहा है उसका यही तात्पर्य है कि प्रमाण ज्ञात वस्तुभागके द्वारा सकल वस्तुको ही ग्रहण करता है जब कि नय उसी विकल अर्थात् एक अंशको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही ग्रहण करता है। जैसे आँखसे घटके रूपको देखकर रूपमुखेन पूर्ण घटका ग्रहण करना सकलादेश है और घटमें रूप है इस रूपांशको जानना विकलादेश अर्थात् नय है। अनन्तधर्मात्मक वस्तुका यावत् विशेषोंके साथ सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण करना तो अल्पज्ञानियोंके वशकी बात नहीं है वह तो पूर्ण ज्ञानका कार्य हो सकता है। पर प्रमाणज्ञान तो अल्पज्ञानियोंका भी कहा जाता है। अतः प्रमाण और नयकी भेदक रेखा यही है कि जब ज्ञान अखंड वस्तु पर दृष्टि रखे तब प्रमाण तथा जब अंशपर दृष्टि रखे तब नय। वस्तुमें सामान्य और विशेष दोनों प्रकारके धर्म पाए जाते हैं। प्रमाण ज्ञान सामान्यविशेषात्मक पूर्ण वस्तुको ग्रहण करता है जब कि नय केवल सामान्य अंशको या विशेष अंशको। यद्यपि केवल सामान्य और केवल विशेषरूप वस्तु नहीं है पर नय वस्तुको अंशभेद करके ग्रहण करता है। वक्ताके अभिप्रायविशेषको ही नय कहते हैं। नय जब विवक्षित अंशको ग्रहण करके भी इतर अंशोंका निराकरण नहीं करता उनके प्रति तटस्थ रहता है तब सुनय कहलाता है और जब वही एक अंशका आग्रह करके दूसरे अंशोंका निराकरण करने लगता है तब दुर्नय कहलाता है।

नय—विचार व्यवहार साधारणतया तीन भागोंमें बाँटे जा सकते हैं—१–ज्ञानाश्रयी, २–अर्थाश्रयी ३–शब्दाश्रयी। अनेक ग्राम्य व्यवहार या लौकिक व्यवहार संकल्पके आधारसे ही चलते हैं। जैसे रोटी बनाने या कपड़ा बुननेकी तैयारीके समय रोटी बनाता हूँ, कपड़ा बुनता हूँ, इत्यादि व्यवहारोंमें संकल्पमात्रमें ही रोटी या कपड़ा व्यवहार किया गया है। इसी प्रकार अनेक प्रकारके औपचारिक व्यवहार अपने ज्ञान या संकल्पके अनुसार हुआ करते हैं। दूसरे प्रकारके व्यवहार अर्थाश्रयी होते हैं—अर्थमें एक ओर एक नित्य व्यापी और सन्मात्ररूपसे चरम अभेद की कल्पना की जा सकती है तो दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेद की। इन दोनों अन्तोंके बीच अनेक अवान्तर भेद और अभेदोंका स्थान है। अभेद कोटि औपनिषद अद्वैतवादियों की है। दूसरी कोटि वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिकनिरंश-परमाणुवादी बौद्धों की है। तीसरी कोटिमें पदार्थको अनेक प्रकारसे व्यवहारमें लानेवाले नैयायिक वैशेषिक आदि दर्शन हैं। तीसरे प्रकारके शब्दाश्रित व्यवहारोंमें भिन्न कालवाचक, भिन्न कारकोंमें निष्पन्न, भिन्न वचनवाले, भिन्न पर्यायवाले और विभिन्न क्रियावाचक शब्द एक अर्थको या अर्थकी एक पर्यायको नहीं कह सकते। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिए। इस तरह इन ज्ञान, अर्थ और शब्दका आश्रय लेकर होनेवाले विचारोंके समन्वयके लिए नयदृष्टियोंका उपयोग है।

इसमें संकल्पाधीन यावत् ज्ञानाश्रित व्यवहारोंके ग्राहक नैगमनयको संकल्पमात्रग्राही बताया है। तत्त्वार्थभाष्यमें अनेक ग्राम्य व्यवहारोंका तथा औपचारिक लोकव्यवहारोंका स्थान इसी नयकी विषयमर्यादा में निश्चित किया है।

आ० सिद्धसेनने अभेदग्राही नैगमका संग्रहनयमें तथा भेदग्राही नैगमका व्यवहार नयमें अन्तर्भाव किया है। इससे ज्ञात होता है कि वे नैगमको संकल्पमात्रग्राही मानकर अर्थग्राही स्वीकार करते हैं। अकलंकदेवने यद्यपि राजवार्तिकमें पूज्यपादका अनुसरण करके नैगमनयको संकल्पमात्रग्राही लिखा है फिर भी लघीयस्त्रय (का० ३९) में उन्होंने नैगमनयको अर्थके भेदको या अभेदको ग्रहण करनेवाला भी बताया है। इसीलिए इन्होंने स्पष्ट रूपसे नैगम आदि ऋजुसूत्रान्त चार नयोंको अर्थनय माना है।

अर्थाश्रित अभेदव्यवहारका, जो "आत्मैवेदं सर्वम्" आदि उपनिषद्वाक्योंसे व्यक्त होता है, परसंग्रहनयमें अन्तर्भाव होता है। यहाँ एक बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि जैनदर्शनमें दो या अधिक द्रव्योंमें अनुस्यूत सत्ता रखनेवाला कोई सत् नामका सामान्यपदार्थ नहीं है। अनेक द्रव्योंका सद्रूपसे जो संग्रह किया जाता है वह सत्सादृश्यके निमित्तसे ही किया जाता है न कि सदेकत्वकी दृष्टिसे। हाँ, सदेकत्वकी दृष्टि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से प्रत्येक सत्की अपनी क्रमवर्ती पर्यायोंका और सहभावी गुणोंका अवश्य संग्रह हो सकता है, पर दो सत्में अनुस्यूत कोई एक सत्त्व नहीं है। इस परसंग्रहके आगे तथा एक परमाणुकी वर्तमानकालीन एक अर्थपर्यायसे पहिले होनेवाले यावत् मध्यवर्ती भेदोंका व्यवहारनयमें समावेश होता है। इन अवान्तर भेदोंको न्यायवैशेषिक आदि दर्शन ग्रहण करते हैं। अर्थकी अन्तिम देशकोटि परमाणुरूपता तथा चरमकालकोटि क्षणमात्रस्थायिताको ग्रहण करनेवाली बौद्ध दृष्टि ऋजुसूत्रकी परिधिमें आती है। यहाँतक अर्थको सामने रखकर भेद तथा अभेद ग्रहण करनेवाले अभिप्राय बताये गये हैं। इसके आगे शब्दाश्रित विचारोंका निरूपण किया जाता है।

काल, कारक, संख्या धातुके साथ लगनेवाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदिकी दृष्टिसे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके वाच्य अर्थ भी भिन्न-भिन्न हैं, इस कालादिभेदसे शब्दभेद मानकर अर्थभेद माननेवाली दृष्टिका शब्दनयमें समावेश होता है। एक ही साधनमें निष्पन्न तथा एक कालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं; इन पर्यायवाची शब्दोंके भेदसे अर्थभेद माननेवाला समभिरूढनय है। एवम्भूतनय कहता है कि जिस समय जो अर्थ जिस क्रियामें परिणत हो उसी समय उसमें तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिए। इसकी दृष्टिसे सभी शब्द क्रियावाची हैं। गुणवाचक शुक्लशब्द भी शुचिभवनरूप क्रियासे, जातिवाचक अश्वशब्द आशुगमनरूप क्रियासे, क्रियावाचक चलति शब्द चलनेरूप क्रियासे, नामवाचक यदृच्छाशब्द देवदत्त आदि भी 'देवने इसको दिया' इस क्रियासे निष्पन्न हुए हैं। इस तरह ज्ञान, अर्थ और शब्दको आश्रय लेकर होनेवाले ज्ञाताके अभिप्रायोंका समन्वय इन नयोंमें किया गया है। यह समन्वय एक खास शर्तपर हुआ है। वह शर्त यह है कि कोई भी दृष्टि या अभिप्राय अपने प्रतिपक्षी अभिप्रायका निराकरण नहीं कर सकेगा। इतना हो सकता है कि जहाँ एक अभिप्रायकी मुख्यता रहे वहाँ दूसरा अभिप्राय गौण हो जाय। यही सापेक्षभाव नयका प्राण है, इसीसे नय सुनय कहलाता है। आ० समन्तभद्र आदिने सापेक्षको सुनय तथा निरपेक्षको दुर्नय बतलाया है।

इस संक्षिप्त कथनमें सूक्ष्मतासे देखा जाय तो दो प्रकारकी दृष्टियाँ ही मुख्यरूपसे कार्य करती हैं एक अभेददृष्टि और दूसरी भेददृष्टि। इन दृष्टियोंका अवलम्बन चाहे ज्ञान हो या अर्थ अथवा शब्द, पर कल्पना भेद या अभेद दो ही रूपसे की जा सकती है। उस कल्पनाका प्रकार चाहे कालिक, दैशिक या स्वारूपिक कुछ भी क्यों न हो। इन दो मूल आधारभूत दृष्टियोंको द्रव्यनय और पर्यायनय कहते हैं। अभेदको ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिकनय है तथा भेदग्राही पर्यायार्थिकनय है। इन्हें मूलनय कहते हैं, क्योंकि समस्त नयोंके मूल आधार यही दो नय होते हैं। नैगमादिनय तो इन्हींकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं। द्रव्यास्तिक, मातृकापदास्तिक, निश्चयनय, शुद्धनय आदि शब्द द्रव्यार्थिकके अर्थमें तथा उत्पन्नास्तिक, पर्यायास्तिक, व्यवहारनय, अशुद्धनय आदि पर्यायार्थिकके अर्थमें व्यवहृत होते हैं।

इन नयोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं अल्पविषयता है। नैगमनय संकल्पग्राही होनेसे सत् असत् दोनोंको विषय करता था इसलिए सन्मात्रग्राही संग्रहनय उससे सूक्ष्म एवं अल्पविषयक होता है। सन्मात्रग्राही संग्रहनयसे सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्पविषयक एवं सूक्ष्म हुआ। त्रिकालवर्ती सद्विशेषग्राही व्यवहारनयसे वर्तमानकालीन सद्विशेष-अर्थपर्यायग्राही ऋजुसूत्र सूक्ष्म है। शब्दभेद होनेपर भी अभिन्नार्थग्राही ऋजुसूत्रसे कालादि भेदसे शब्दभेद मानकर भिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायभेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाले शब्दनयसे पर्यायवाची शब्दोंके भेदसे अर्थभेदग्राही समभिरूढ़ अल्पविषयक एवं सूक्ष्मतर हुआ। क्रियाभेदसे अर्थभेद नहीं माननेवाले समभिरूढ़से क्रियाभेद होनेपर भी अर्थभेदग्राही एवम्भूतनय परमसूक्ष्म एवं अत्यल्पविषयक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नय-दुर्नय—नय वस्तुके एक अंशको ग्रहण करके भी अन्य धर्मोंका निराकरण नहीं करता उन्हें गौण करता है। दुर्नय अन्यधर्मोंका निराकरण करता है। नय सापेक्ष होता है दुर्नय निरपेक्ष। प्रमाण उभयधर्म-ग्राही है। अकलङ्कदेवने बहुत सुन्दर लिखा है—"धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च, प्रमाणात् तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च" (अष्टश० अष्टसह० पृ० २९०) अर्थात् प्रमाण तत् और अतत् सभी अंशोंसे पूर्ण वस्तुको जानता है, नयसे केवल तत्-विवक्षित अंशकी प्रतिपत्ति होती है और दुर्नय अपने अविषय अंशोंका निराकरण करता है। नय धर्मान्तरोंकी उपेक्षा करता है जबकि दुर्नय धर्मान्तरोंकी हानि अर्थात् निराकरण करनेकी दुष्टता करता है। प्रमाण सकलादेशी और नय विकलादेशी होता है। यद्यपि दोनोंका कथन शब्दसे होता है फिर भी दृष्टिभेद होनेसे यह अन्तर हो जाता है। यथा, 'स्यादस्ति घटः' यह वाक्य जब सकलादेशी होगा तब अस्तिके द्वारा पूर्ण वस्तुको ग्रहण कर लेगा। जब यह विकालदेशी होगा तब अस्तिको मुख्यतया शेषधर्मोंको गौण करेगा। विकला-देशी नय विवक्षित एक धर्मको मुख्यरूपसे तथा शेषको गौणरूपसे ग्रहण करते हैं जबकि सकलादेशी प्रमाणका प्रत्येक वाक्य पूर्ण वस्तुको समानभावसे ग्रहण करता है। सकलादेशी वाक्योंमें भिन्नताका कारण है—शब्दो-च्चारणकी मुख्यता। जिस प्रकार एक पूरे चौकोण कागजको क्रमशः चारों कोने पकड़कर पूराका पूरा उठाया जा सकता है उसी प्रकार अनन्तधर्मा वस्तुके किसी भी धर्मके द्वारा पूरीकी पूरी वस्तु ग्रहण की जा सकती है। इसमें वाक्योंमें परस्पर भिन्नता इतनी ही है कि उस धर्मके द्वारा या तद्वाचक शब्दप्रयोग करके वस्तुको ग्रहण कर रहे हैं। इसी शब्दप्रयोगकी मुख्यता से प्रमाणसप्तभंगीका प्रत्येक वाक्य भिन्न हो जाता है। नयसप्तभंगी-में एक धर्मप्रधान होता है तथा अन्यधर्म गौण। इसमें मुख्यधर्म ही गृहीत होता है, शेषका निराकरण तो नहीं होता पर ग्रहण भी नहीं होता। यही सकलादेश और विकलादेशका पार्थक्य है। 'स्यात्' शब्दका प्रयोग दोनों-में होता है। सकलादेशमें प्रयुक्त होनेवाला स्यात् शब्द यह बताता है कि जैसे अस्तिमुखेन सकल वस्तुका ग्रहण किया गया है वैसे 'नास्ति' आदि अनन्त मुखोंसे भी ग्रहण हो सकता है। विकलादेशका स्यात् शब्द विवक्षित धर्मके अतिरिक्त अन्य शेष धर्मोंका वस्तुमें अस्तित्व सूचित करता है।

स्याद्वाद का कथन प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ के खण्ड ४ में पृष्ठ ८२, ८३, ८४ में दिया चुका है।

संजयने जब लोकके शाश्वत और अशाश्वत आदिके बारेमें स्पष्ट कह दिया कि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ और बुद्धने कह दिया कि इनके चक्करमें न पड़ो, इसका जानना उपयोगी नहीं है, तब महावीरने उन प्रश्नोंका वस्तुस्थितिके अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्योंकी जिज्ञासा का समाधान कर उनकी बौद्धिक दीनतासे त्राण दिया। इन प्रश्नोंका विस्तृत स्वरूप विवेचन प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थके इसी खण्ड के पृष्ठ ९० से ९६ पर दिया जा चुका है।

सदादि अनुयोग—प्रमाण और नयके द्वारा जाने गए तथा निक्षेपके द्वारा अनेक संभवित रूपोंमें सामने रखे गए पदार्थोंसे ही तत्त्वज्ञानोपयोगी प्रकृत अर्थका यथार्थ बोध हो सकता है। उन निक्षेपके विषय-भूत पदार्थोंमें दृढ़ताकी परीक्षाके लिए या पदार्थके अन्य विविध रूपोंके परिज्ञानके लिए अनुयोग अर्थात् अनु-कूल प्रश्न या पश्चाद्भावी प्रश्न होते हैं। जिनसे प्रकृत पदार्थकी वास्तविक अवस्थाका पता लग जाता है। प्रमाण और नय सामान्यतया तत्त्वका ज्ञान कराते हैं। निक्षेप विधिसे अप्रकृतका निराकरण कर प्रस्तुतको छांट लिया जाता है। फिर छंटी हुई प्रस्तुत वस्तुका निर्देशादि और सदादि द्वारा सविवरण पूरी अवस्थाओं-का ज्ञान किया जाता है। निक्षेपसे छंटी हुई वस्तुका क्या नाम है? (निर्देश) कौन उसका स्वामी है? (स्वामित्व) कैसे उत्पन्न होती है? (साधन) कहाँ रहती है? (अधिकरण), कितने काल तक रहती है?



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

( स्थिति ) कितने प्रकारकी है ? ( विधान ), उसकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिसे क्या स्थिति है। अस्तित्वका ज्ञान 'सत्' है। उसके भेदोंकी गिनती संख्या है। वर्तमान निवास क्षेत्र है। त्रैकालिक निवासपरिधि स्पर्शन है। ठहरनेकी मर्यादा काल है। अमुक अवस्थाको छोड़कर पुनः उस अवस्थामें प्राप्त होने तकके विरहकालको अन्तर कहते हैं। औपशमिक आदि भाव हैं। परस्पर संख्याकृत तारतम्यका विचार अल्पबहुत्व है। सारांश यह कि निक्षिप्त पदार्थका निर्देशादि और सदादि अनुयोगोंके द्वारा यथावत् सविवरण ज्ञान प्राप्त करना मुमुक्षुकी अहिंसा आदि साधनाओंके लिए आवश्यक है। जीवरक्षा करनेके लिए जीवकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिकी दृष्टिसे परिपूर्ण स्थितिका ज्ञान अहिंसकको जरूरी ही है।

इस तरह प्रमाण नय निक्षेप और अनुयोगोंके द्वारा तत्त्वोंका यथार्थ अधिगम करके उनकी दृढ़ प्रतीति और अहिंसादि चारित्रकी परिपूर्णता होनेपर यह आत्मा बन्धनमुक्त होकर स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। यही मुक्ति है।

"श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।
परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्मानेकान् व्यावहारिकान् ॥ ७३ ॥
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥ ५४ ॥
अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदां गतैः ।
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशनः ॥ ७५ ॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।
तपोनिर्जीर्णकर्मायं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥ ७६ ॥

अर्थात्—अनेकान्तरूप जीवादि पदार्थोंको श्रुत-शास्त्रोंसे सुनकर प्रमाण और अनेक नयोंके द्वारा उनका यथार्थ परिज्ञान करना चाहिए। उन पदार्थोंके अनेक व्यावहारिक और पारमार्थिक गुण-धर्मोंकी परीक्षा नय दृष्टियोंसे की जाती है। नयदृष्टियोंके विषयभूत निक्षेपोंके द्वारा वस्तुका अर्थ ज्ञान और शब्द आदि रूपसे विश्लेषण कर उसे फैलाकर उनमेंसे अप्रकृतको छोड़ प्रकृतको ग्रहण कर लेना चाहिए। उस छँटे हुए प्रकृत अंशका निर्देश आदि अनुयोगोंसे अच्छी तरह बारबार पूँछकर सविवरण पूर्णज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इस तरह जीवादि पदार्थोंका खासकर आत्मतत्त्वका जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणा स्थानोंमें दृढ़तर ज्ञान करके उनपर गाढ़ विश्वास रूप सम्यग्दर्शनकी वृद्धि करनी चाहिए। इस तत्त्वश्रद्धा और तत्त्वज्ञानके होनेपर परपदार्थोंसे विरक्ति इच्छानिरोधरूप तप और चारित्र आदिसे समस्त कुसंस्कारोंका विनाश कर पूर्व कर्मोंकी निर्जरा कर, यह आत्मा विमुक्त होकर अनन्त चैतन्यमय स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है।

### ग्रन्थका बाह्य स्वरूप

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र जैनपरम्परा की गीता, बाइबिल, कुरान या जो कहिए एक पवित्र ग्रन्थ है। इसमें बन्धनमुक्तिके कारणोंका सांगोपांग विवेचन है। जैनधर्म और जैनदर्शनके समस्त मूल आधारोंकी संक्षिप्त सूचना इस सूत्र ग्रन्थसे मिल जाती है। भ० महावीरके उपदेश अर्धमागधी भाषामें होते थे जो उस समय मगध और विहारकी जनबोली थी। शास्त्रोंमें बताया है कि यह अर्धमागधी भाषा अठारह महाभाषा और सातसौ लघुभाषाओंके शब्दोंसे समृद्ध थी। एक कहावत है—"कोस-कोस पर पानी बदले चारकोस पर पर बानी।" सो यदि मगध देश काशीदेश और विहार देशमें चार-चार कोसपर बदलनेवाली बोलियोंकी वास्तविक गणना की जाय तो वे ७१८ से कहीं अधिक हो सकती होंगी। अठारह महाभाषाएँ मुख्य-मुख्य अठारह जन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदोंकी राजभाषाएँ कही जाती थीं। इनमें नाममात्रका ही अन्तर था। क्षुल्लकभाषाओंका अन्तर तो उच्चारण की टोनका ही समझना चाहिए। जो हो, पर महावीरका उपदेश उस समयकी लोकभाषामें होता था जिसमें संस्कृत जैसी वर्गभाषाका कोई स्थान नहीं था। बुद्धकी पालीभाषा और महावीरकी अर्धमागधी भाषा करीब-करीब एक जैसी भाषाएँ हैं। इनमें वही चारकोसकी बानी वाला भेद है। अर्धमागधीको सर्वार्धमागधी भाषा भी कहते हैं और इसका विवेचन करते हुए लिखा है—

"अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकम् अर्धं च सर्वदेशभाषात्मकम्" अर्थात्—भगवान्की भाषामें आधे शब्द तो मगध देशकी भाषा मागधीके थे और आधे शब्द सभी देशोंकी भाषाओंके थे। तात्पर्य यह कि अर्धमागधी भाषा वह लोकभाषा थी जिसे प्रायः सभी देशके लोग समझ सकते थे। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि महावीरकी जन्मभूमि मगध देश थी, अतः मागधी उनकी मातृभाषा थी और उन्हें अपना विश्वशान्तिका अहिंसा सन्देश सब देशोंकी कोटि-कोटि उपेक्षित और पतित जनता तक भेजना था अतः उनकी बोलीमें सभी देशोंकी बोलीके शब्द शामिल थे और यह भाषा उस समयकी सर्वाधिक जनताकी अपनी बोली थी अर्थात् सबकी बोली थी।

जनबोलीमें उपदेश देनेका कारण बतानेवाला एक प्राचीन श्लोक मिलता है—

"बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्र्यकांक्षिणाम्।
प्रतिबोधनाय तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥"

अर्थात्—बालक, स्त्री या मूर्खसे मूर्ख लोगोंको, जो अपने चारित्र्यको समुन्नत करना चाहते हैं, प्रतिबोध देनेके लिए भगवान्का उपदेश प्राकृत अर्थात् स्वाभाविक जनबोलीमें होता था न कि संस्कृत अर्थात् बनी हुई बोली—कृत्रिम वर्गभाषामें। इन जनबोलीके उपदेशोंका संकलन 'आगम' कहा जाता है। इसका बड़ा विस्तार था। उस समय लेखनका प्रचार नहीं हुआ था। सब उपदेश कण्ठपरम्परा से सुरक्षित रहते थे। एक दूसरेसे सुनकर इनकी धारा चलती थी अतः ये 'श्रुत' कहे जाते थे। महावीरके निर्वाणके बाद यह श्रुत परम्परा लुप्त होने लगी और ६८३ वर्ष बाद एक अंगका पूर्ण ज्ञान भी शेष न रहा। अंगके एक देशका ज्ञान रहा। श्वेताम्बर परम्परामें बौद्ध संगीतियोंकी तरह वाचनाएँ हुईं और अन्तिम वाचना देवर्धिगणि क्षमाश्रमणके तत्त्वावधानमें वीर संवत् ९८० वि० सं० ५१० में वलभीमें हुई। इसमें आगमोंका त्रुटित-अत्रुटित जो रूप उपलब्ध था संकलित हुआ। दिगम्बर परम्परामें ऐसा कोई प्रयत्न हुआ या नहीं इसकी कुछ भी जानकारी नहीं है। दिगम्बर परम्परामें विक्रमकी द्वितीय-तृतीय शताब्दीमें आचार्य भूतबलि, पुष्पदन्त और गुणधरने षट्खंडागम और कसायपाहुडकी रचना आगमाश्रित साहित्यके आधारसे की। पीछे कुन्दकुन्द आदि आचार्योंने आगम परम्पराको केन्द्रमें रखकर तदनुसार स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना की।

अनुमान है कि विक्रमकी तीसरी-चौथी शताब्दीमें उमास्वामी भट्टारकने इस तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की थी। इसीसे जैन परम्परामें संस्कृतग्रन्थनिर्माणयुग प्रारम्भ होता है। इस तत्त्वार्थसूत्रकी रचना इतने मूलभूत तत्त्वोंको संग्रह करनेकी असाम्प्रदायिक दृष्टिसे हुई है कि इसे दोनों जैन सम्प्रदाय थोड़े बहुत पाठभेदसे प्रमाण मानते आए हैं। श्वे० परम्परामें जो पाठ प्रचलित है उसमें और दिगम्बर पाठमें कोई विशिष्ट साम्प्रदायिक मतभेद नहीं है। दोनों परम्पराओंके आचार्योंने इसपर दर्जों टीका ग्रन्थ लिखे हैं। इस सूत्र ग्रन्थको दोनों परम्पराओंमें एकता स्थापना का मूल आधार बनाया जा सकता है।

इसे मोक्षशास्त्र भी कहते हैं क्योंकि इसमें मोक्षके मार्ग और तदुपयोगी जीवादि तत्त्वोंका ही सविस्तार निरूपण है। इसमें दश अध्याय हैं। प्रथमके चार अध्यायोंमें जीवका, पांचवेंमें अजीव का, छठवें और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सातवें अध्यायमें आस्रवका, आठवें अध्यायमें बन्धका, नौवें में संवरका तथा दशवें अध्यायमें मोक्षका वर्णन है। प्रथम अध्यायमें मोक्षकामार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको बताकर जीवादि सात तत्त्वोंके अधिगमके उपाय प्रमाण, नय, निक्षेप और निर्देशादि सदादि अनुयोगोंका वर्णन है। पाँच ज्ञान उनका विषय आदिका निरूपण करके उनमें प्रत्यक्ष, परोक्ष विभाग उनका सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और नयोंका विवेचन, किया गया है। द्वितीय अध्यायमें जीवके औपशमिक आदि भाव, जीवका लक्षण, शरीर, इन्द्रियाँ, योनि, जन्म आदिका सविस्तार निरूपण है। तृतीय अध्यायमें जीवके निवासभूत–अधोलोक और मध्यलोक गत भूगोलका उसके निवासियोंकी आयु कायस्थिति आदिका पूरा-पूरा वर्णन है। चौथे अध्यायमें ऊर्ध्वलोकका, देवोंके भेद, लेश्याएँ, आयु, काय, परिवार आदिका वर्णन है। पांचवें अध्यायमें अजीवतत्त्व अर्थात् पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, और काल द्रव्योंका समग्र वर्णन है। द्रव्योंकी प्रदेश संख्या, उनके उपकार, शब्दादिका पुद्गल पर्यायत्व, स्कन्ध बननेकी प्रक्रिया आदि पुद्गल द्रव्यका सर्वांगीण विवेचन है। छठवें अध्यायमें ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रवका सविस्तार निरूपण है। किन-किन वृत्तियों और प्रवृत्तियोंसे किस-किस कर्मका आस्रव होता है, कैसे आस्रवमें विशेषता होती है, कौन कर्म पुण्य है, और कौन पाप आदिका विशद विवेचन है। सातवें अध्यायमें शुभ आस्रवके कारण, पुण्यरूप अहिंसादि व्रतोंका वर्णन है। इसमें व्रतोंकी भावनाएँ उनके लक्षण, अतिचार आदिका स्वरूप बताया गया है। आठवें अध्यायमें प्रकृतिबन्ध आदि चारों बन्धोंका, कर्मप्रकृतियोंका उनकी स्थिति आदिका निरूपण है। नौवें अध्यायमें संवर तत्त्वका पूरा-पूरा निरूपण है। इसमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा परिषहजय, चारित्र, तप, ध्यान आदिका सभेदप्रभेद निरूपण है। दशवें अध्यायमें मोक्षका वर्णन है। सिद्धोंमें भेद किन निमित्तोंसे हो सकता है। जीव ऊर्ध्वगमन क्यों करता है? सिद्ध अवस्था में कौन-कौन भाव अवशिष्ट रह जाते हैं आदिका निरूपण है।

यह अकेला तत्त्वार्थसूत्र जैन ज्ञान, जैन भूगोल, खगोल, जैनतत्त्व, कर्मसिद्धान्त, जैन चारित्र आदि समस्त मुख्य-मुख्य विषयोंका अपूर्व आकर है।

मंगल श्लोक—'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगल श्लोक है या नहीं यह विषय विवादमें पड़ा हुआ है। यह श्लोक उमास्वामि कर्तृक है इसका स्पष्ट उल्लेख श्रुतसागरसूरिने तत्त्वार्थवृत्तिमें किया है। वे इसकी उत्थानिकामें लिखते हैं कि–द्वैयाक नामक भव्यके प्रश्नका उत्तर देनेके लिए उमास्वामि भट्टारकने यह मंगल श्लोक बनाया। द्वैयाकका प्रश्न है–'भगवन्, आत्माका हित क्या है?' उमास्वामी उसका उत्तर 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्रमें देते हैं। पर उन्हें उत्तर देनेके पहिले मंगलाचरण करनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। श्रुतसागरके पहिले विद्यानन्दि आचार्यने आप्तपरीक्षा (पृ० ३) में भी इस श्लोकको सूत्रकारके नामसे उद्धृत किया है। पर यही विद्यानन्द 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः उमास्वामिप्रभृतिभिः' जैसे वाक्य भी आप्त परीक्षा (पृ० ५४) में लिखते हैं जो उमास्वामिके साथ ही साथ प्रभृति शब्दसे सूचित होनेवाले आचार्योंको भी तत्त्वार्थसूत्रकार माननेका या सूत्र शब्दको गौणार्थताका प्रसंग उपस्थित करते हैं। यद्यपि अभयनन्दि श्रुतसागर जैसे पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकारोंने इस श्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मंगल लिख दिया है पर इनके इस लेखमें निम्नलिखित अनुपपत्तियाँ हैं जो इस श्लोकको पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धिका मंगल श्लोक माननेको बाध्य करती हैं—

१–पूज्यपादने इस मंगलश्लोककी न तो उत्थानिका लिखी और न व्याख्या की। इस मंगलश्लोकके बाद ही प्रथमसूत्रकी उत्थानिका शुरू होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२–अकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिकमें न इस श्लोककी व्याख्या करते हैं और न इसके पदोंपर कुछ ऊहा-पोह ही करते हैं।

३–विद्यानन्द स्वयं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इसकी व्याख्या नहीं करते। इनने प्रसंगतः इस श्लोकके प्रतिपाद्य अर्थका समर्थन अवश्य किया है। यदि विद्यानन्द स्वयं ऐतिहासिक दृष्टिसे इसके कर्तृत्वके सम्बन्ध-में असंदिग्ध होते तो वे इसकी यथावद् व्याख्या भी करते।

४ तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्याकार समस्त श्वेताम्बरीय आचार्योंने इस श्लोककी व्याख्या नहीं की और न तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें इस श्लोककी चर्चा ही की है।

यह श्लोक इतना असाम्प्रदायिक और जैन आप्त स्वरूपका प्रतिनिधित्व करनेवाला है कि इसे सूत्र-कारकृत होनेपर कोई भी कितना भी कट्टर श्वे० आचार्य छोड़ नहीं सकता था।

अनेकान्त पत्रके पांचवें वर्षके अंकोंमें इस श्लोकके ऊपर अनुकूल-प्रतिकूल चरचा चल चुकी है। फिर भी मेरा मत उपर्युक्त कारणोंके आधारसे इस श्लोकको मूलसूत्रकारकृत माननेका नहीं है। यह श्लोक पूज्य-पाद ने सर्वार्थसिद्धि टीकाके प्रारम्भमें बनाया है इस निश्चयको बदलनेका कोई प्रबल हेतु अभीतक मेरी समझमें नहीं आया।

लोकवर्णन और भूगोल—जैनधर्म और जैनदर्शन जिस प्रकार अपने सिद्धान्तोंके स्वतन्त्र प्रतिपादक होनेसे अपना मौलिक और स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं उस प्रकार जैन गणित या जैन भूगोल आदिका स्वतन्त्र स्थान नहीं है। कोई भी गणित हो, वह दो और दो चार ही कहेगा। आजके भूगोलको चाहे जैन लिखें या अजैन जैसा देखेगा या सुनेगा वैसा ही लिखेगा। उत्तरमें हिमालय और दक्षिणमें कन्याकुमारी ही जैन भूगोल में रहेगी। तथ्य यह है कि धर्म और दर्शन जहाँ अनुभवके आधारपर परिवर्तित और संशोधित होते रहते हैं वहाँ भूगोल अनुभवके अनुसार नहीं किन्तु वस्तुगत परिवर्तनके अनुसार बदलता है। एक नदी जो पहिले अमुक गाँवसे बहती थी कालक्रमसे उसकी धारा मीलों दूर चली जाती है। भूकम्प, ज्वालामुखी और बाढ़ आदि प्राकृतिक परिवर्तनकारणोंसे भूगोलमें इतने बड़े परिवर्तन हो जाते हैं जिसकी कल्पना भी मनुष्यको नहीं हो सकती। हिमालयके अमुक भागोंमें मगर और बड़ी-बड़ी मछलियोंके अस्थि-पंजरोंका मिलना इस बातका अनुमापक है कि वहाँ कभी जलीय भाग था। पुरातत्त्वके अन्वेषणोंने ध्वंसावशेषोंसे यह सिद्ध कर दिया है कि भूगोल कभी स्थिर नहीं रहता वह कालक्रमसे बदलता जाता है। राज्य परिवर्तन भी अन्तः-भौगिलिक सीमाओंको बदलनेमें कारण होते हैं। पर समग्र भूगोलका परिवर्तन मुख्यतया जलका स्थल और स्थलका जलभाग होनेके कारण ही होता है। गाँवों और नदियोंके नाम भी उत्तरोत्तर अपभ्रष्ट होते जाते हैं और कुछके कुछ बन जाते हैं। इस तरह कालचक्रका ध्रुवभावी प्रभाव भूगोलका परिवर्तन बराबर करता रहता है। जैन शास्त्रोंमें जो भूगोल और खगोलका वर्णन मिलता है उसकी परम्परा करीब तीन हजार वर्ष पुरानी है। आजके भूगोलसे उसका मेल भले ही न बैठे पर इतने मात्रसे उस परम्पराकी स्थिति सर्वथा सन्दिग्ध नहीं कही जा सकती। आजसे २॥-३ हजार वर्ष पहिले सभी सम्प्रदायोंमें भूगोल और खगोलके विषयमें प्रायः यही परम्परा प्रचलित थी जो जैन परम्परामें प्रचलित थी जो जैन परम्परामें निबद्ध है। बौद्ध, वैदिक और जैन तीनों परम्पराके भूगोल और खगोल सम्बन्धी वर्णन करीब-करीब एक जैसे हैं। वही जम्बू-द्वीप, विदेह, सुमेरु, देवकुरु, उत्तरकुरु, हिमवान् आदि नाम और वैसीही लाखों योजनकी गिनती। इनका तुलनात्मक अध्ययन हमें इस निष्कर्षपर पहुँचाता है कि उस समय भूगोल और खगोलकी जो परम्परा श्रुतानु-श्रुत परिपाटीसे जैनाचार्योंको मिली उसे उन्होंने लिपिबद्ध कर दिया है। उस समय भगोलका यही रूप रहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होगा जैसा कि हमें प्रायः भारतीय परम्पराओंमें मिलता है। आज हमें जिस रूपमें मिलता है उसे उसी रूपमें माननेमें क्या आपत्ति है ? भूगोलका रूप सदा शाश्वत तो रहता नहीं। जैन परम्परा इस ग्रन्थके तीसरे और चौथे अध्यायके पढ़नेसे ज्ञात हो सकती है। बौद्ध और वैदिक परम्पराके भूगोल और खगोलका वर्णन इस प्रकार है—

## बौद्ध परम्परा अभिधर्मकोशके आधारसे

असंख्यात वायुमण्डल हैं जो कि नीचेके भागमें सोलह लाख योजन गम्भीर है। जयमण्डल ११२०००० योजन गहरा है। जयमण्डलमें ऊपर ८००००० योजन भागको छोड़कर नीचेका भाग ३२०००० योजन भाग सुवर्णमय है। जलमण्डल और काञ्चनमण्डलका व्यास १२०२३४० योजन है और परिधि ३६४०३५० योजन है।

काञ्चनमण्डलमें मेरु, युगन्धर, ईषाधर, खदिरक्, सुदर्शन, अश्वकर्ण, वितनक और निमिन्धर ये ८ पर्वत हैं। ये पर्वत एक दूसरेको घेरे हुए हैं। निमिन्धर पर्वतको घेरकर जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय और उत्तरकुरु ये चार द्वीप हैं। सबसे बाहर चक्रवाल पर्वत है। सात पर्वत सुवर्णमय हैं। चक्रवाल लोहमय है। मेरुके ४ रंग हैं। उत्तरमें सुवर्णमय, पूर्वमें रजतमय, दक्षिणमें नीलमणिमय और पश्चिममें वैदूर्यमय है। मेरु पर्वत ८०००० योजन जलके नीचे है और इतना ही जलके ऊपर है। मेरु पर्वतकी ऊँचाईसे अन्य पर्वतोंकी ऊँचाई क्रमशः आधी-आधी होती गई है। इस प्रकार चक्रवाल पर्वतकी ऊँचाई ३१२॥ योजन है। सब पर्वतोंका आधा भाग जलके ऊपर है। इन पर्वतोंके बीचमें सात सीता ( समुद्र ) हैं। प्रथम समुद्रका विस्तार ८०००० योजन है। अन्य समुद्रोंका विस्तार क्रमशः आधा-आधा होता गया है। अन्तिम समुद्रका विस्तार ३२०००० योजन है।

मेरु दक्षिण भागमें जम्बूद्वीप शकटके समान अवस्थित है। मेरुके पूर्व भागमें पूर्वविदेह अर्धचन्द्राकार है। मेरुके पश्चिम भागमें अवरगोदानीय मण्डलाकार है। इसका परिधि ७५०० योजन है। और व्यास २५०० योजन है। मेरुके उत्तरभागमें उत्तर कुरुद्वीप चतुष्कोण है। इसकी सीमाका मान ८००० योजन है। चारों द्वीपोंके मध्यमें आठ अन्तर द्वीप हैं। उनके नाम ये हैं—देह, विदेह, पूर्वविदेह, कुरु कौरव, चामर अवर चामर, शाठ और उत्तरमंत्री। मार द्वीपमें राक्षस रहते हैं। अन्य द्वीपोंमें मनुष्य रहते हैं।

जम्बूद्वीपके उत्तर भागमें पहले तीन फिर तीन और फिर तीन इस प्रकार ९ कीटाद्रि हैं। इसके बाद हिमालय है। हिमालयके उत्तरमें पचास योजन विस्तृत अनवतप्त नामका सरोवर है। इसके बाद गन्धमादन पर्वत है। अनवतप्त सरोवरमें गंगा, सिंधु, वक्षु और सीता ये चार नदियाँ निकली हैं। अनवतप्तके समीपमें जम्बूवृक्ष है जिससे इस द्वीपका नाम जम्बूद्वीप पड़ा।

जम्बूद्वीपके नीचे बीस योजन परिमाण अवीचि नरक है। इसके बाद प्रतापन, तपन, महारौरव रौरव, संघात, कालसूत्र और संजीवक—ये सात नरक हैं। इस प्रकार कुल आठ नरक हैं। नरकोंमें चारों पार्श्वोंमें असिपत्रवन, श्यामशबलस्थान, अयःशाल्मलीवन और वैतरणी नदी ये चार उत्सद ( अधिक पीड़ाके स्थान ) हैं। जम्बूद्वीपके अधोभागमें तथा महानरकोंके धरातलमें आठ शीतलनरक भी हैं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—अर्बुद, निरर्बुद, अटट, हहव, उत्पलपद्म और महापद्म।

मेरु पर्वतके अधोभागमें ( अर्थात् युगन्धर पर्वतके समतलमें ) चन्द्रमा और सूर्य भ्रमण करते हैं। चन्द्रमण्डलका विस्तार ५० योजन है तथा सूर्यमण्डलका विस्तार ५१ योजन है। चारों द्वीपोंमें एक साथ ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्धरात्रि, सूर्यास्त, मध्याह्न और सूर्योदय होते हैं, अर्थात् जिस समय जम्बूद्वीपमें मध्याह्न होता है उसी समय उत्तरकुरुमें अर्धरात्रि, पूर्वविदेहमें सूर्यास्त और अवरगोदानीयमें सूर्योदय होता है। चन्द्रमाकी विकलांगताका दर्शन सूर्यके समीप होनेसे तथा अपनी छायासे आवृत्त होनेके कारण होता है।

मेरुके चार विभाग हैं। ये चारों विभाग क्रमशः दस हजार योजनके अन्तरालसे ऊपर हैं। पूर्वमें पहिले विभागमें करोटपाणि यक्ष रहते हैं। इनका राजा धृतराष्ट्र है। दक्षिणमें द्वितीय भागमें मालाधर यक्ष रहते हैं। इनका राजा विरुढक है। पश्चिममें तीसरे भागमें सदामद देव रहते हैं। इनका राजा विरूपाक्ष है। उत्तरमें चौथे भागमें चातुर्महाराजिक देव रहते हैं। इनका राजा वैश्रवण है। मेरुके समान अन्य सात पर्वतोंमें भी देव रहते हैं।

त्रायस्त्रिंश स्वर्गलोकका विस्तार ८०००० योजन है। वहाँ चारों दिशाओंके बीचमें वज्रपाणिदेव रहते हैं। त्रायस्त्रिंशलोकके मध्यभागमें सुदर्शन नामका सुवर्णमय नगर है। इस नगरके मध्यमें वैजयन्त नामका इन्द्रका प्रासाद है। यह नगर बाह्य भागमें चार उद्यानोंसे सुशोभित है। इन उद्यानोंकी चारों दिशाओंमें बीस योजनके अन्तरालसे देवोंके क्रीड़ास्थल हैं। पूर्वोत्तर दिग्भागमें पारिजात देवद्रुम हैं। दक्षिण-पश्चिम भागमें सुधर्मा नामकी देव सभा है। त्रायस्त्रिंश लोकसे ऊपर याम, तुषित, निर्माणरति, और परनिर्मितवशवर्ती देव विमानोंमें रहते हैं। महाराजिक और त्रायस्त्रिंशदेव मनुष्योंके समान कामसेवन करते हैं। याम आलिंगनसे, तुषित पाणिसंयोगसे, निर्माणरति हास्यसे और परनिर्मितवशवर्ती देव अवलोकनसे कामसुखका अनुभव करते हैं। कामधातुमें देव पाँच या दस वर्षके बालक जैसे उत्पन्न होते हैं। रूपधातुमें पूर्ण शरीरधारी और वस्त्र सहित उत्पन्न होते हैं। ऋद्धिबल अथवा अन्य देवोंकी सहायताके बिना देव अपने ऊपर देवलोकको नहीं देख सकते।

जम्बूद्वीपवासी मनुष्योंका परिमाण ( शरीरकी ऊँचाई ) ३॥ या ४ हाथ है। पूर्वविदेहवासी मनुष्यों का परिणाम ७ या ८ हाथ है। गोदानीयवासियोंका परिमाण १४ या १६ हाथ है। और उत्तर कुरुवासी मनुष्योंका परिमाण २८ या ३२ हाथ है। चातुर्महाराजिक देवोंका परिमाण पावकोश, त्रायस्त्रिंशदेवोंका आधाकोश, यामोंका पौनकोश, तुषितोंका एक कोश, निर्माणरतियोंका सवाकोश और परिनिर्मितवशवर्ती देवोंका परिमाण डेढ़ कोश है।

उत्तरकुरुमें मनुष्योंकी आयु एक हजार वर्ष है। पूर्व विदेहमें ५०० वर्ष आयु है। गौदानीयमें २५० वर्ष आयु है। लेकिन जम्बू-द्वीपमें मनुष्योंकी आयु निश्चित नहीं है। कल्पके अन्तमें दस वर्षकी आयु रह जाती है। उत्तरकुरुमें आयुके बीच मृत्यु नहीं होती है। अन्य पूर्वविदेह आदि द्वीपोंमें तथा देवलोकमें बीचमें मृत्यु होती है।

### वैदिक परम्परा योगदर्शन-व्यासभाष्यके आधारसे

भुवन विन्यास—लोक सात होते हैं। प्रथम लोकका नाम भूलोक है। अन्तिम अवीचि नरकसे लेकर मेरुपृष्ठ तक भूलोक है। द्वितीय लोकका नाम अन्तरिक्ष लोक है। मेरुपृष्ठसे लेकर ध्रुव तक अन्तरिक्ष लोक है। अन्तरिक्षलोकमें ग्रह, नक्षत्र और तारा हैं। इसके ऊपर स्वर्लोक है। स्वर्लोकके भेद हैं—माहेन्द्रलोक, प्राजापत्यमहर्लोक और ब्रह्मलोक आदि। ब्रह्मलोकके तीन भेद हैं—जनलोक, तपलोक और सत्यलोक। इस प्रकार स्वर्लोकके पाँच भेद होते हैं।

अवीचिनरकसे ऊपर छह महानरक हैं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—महाकाल, अम्बरी, रौरव, महारौरव, कालसूत्र और अन्धतामिस्र। ये नरक क्रमशः घन ( शिलाशकल आदि पार्थिव पदार्थ ), सलिल,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनल, अनिल, आकाश और तमके आधार ( आश्रय ) हैं। महानरकोंके अतिरिक्त कुम्भीपाक आदि अनन्त उपनरक भी हैं। इन नरकोंमें अपने-अपने कर्मोंके अनुसार दीर्घायुवाले प्राणी उत्पन्न होकर दुःख भोगते हैं। अवीचिनरकसे नीचे सात पाताललोक हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल।

**भूलोकका विस्तार**—इस पृथ्वीपर सात द्वीप हैं। भूलोकके मध्यमें सुमेरु नामक स्वर्णमय पर्वतराज है जिसके शिखर रजत, वैडूर्य, स्फटिक, हेम और मणिमय हैं। सुमेरु पर्वतके दक्षिणपूर्वमें जम्बू नामका वृक्ष है जिसके कारण लवणोदधिसे वेष्टित द्वीपका नाम जम्बूद्वीप है। सूर्य निरन्तर मेरुकी प्रदक्षिणा करता रहता है। मेरुसे उत्तरदिशामें नील, श्वेत और शृंगवान् ये तीन पर्वत हैं। प्रत्येक पर्वतका विस्तार दो हजार योजन है। इन पर्वतोंके बीचमें रमणक, हिरण्मय और उत्तरकुरु ये तीन क्षेत्र हैं। प्रत्येक क्षेत्रका विस्तार नौ योजन है। नीलगिरि मेरुसे लगा हुआ है। नीलगिरिके उत्तरमें रमणक क्षेत्र है। श्वेतपर्वतके उत्तरमें हिरण्यमय क्षेत्र है। शृंगवान् पर्वतके उत्तरमें उत्तरकुरु है। मेरुसे दक्षिण दिशामें भी निषध, हेमकूट और हिम नामक दो-दो हजार योजन विस्तारवाले तीन पर्वत हैं। इन पर्वतोंके बीचमें हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारत ये तीन क्षेत्र हैं। प्रत्येक क्षेत्रका विस्तार नौ हजार योजन है।

मेरुसे पूर्वमें माल्यवान् पर्वत है। माल्यवान् पर्वतसे समुद्रपर्यन्त भद्राश्व नामक देश है—इस देशमें भद्राश्वनामक क्षेत्र है। मेरुसे पश्चिममें गन्धमादन पर्वत है। गन्धमादन पर्वतसे समुद्रपर्यन्त केतुमाल नामक देश है—क्षेत्रका नाम भी केतुमाल है। मेरुके अधोभागमें इलावृत नामक क्षेत्र है। इसका विस्तार पचास हजार योजन है। इस प्रकार जम्बूद्वीपमें नौ क्षेत्र हैं। एक लाख योजन विस्तारवाला यह जम्बूद्वीप दो लाख योजन विस्तारवाले लवण समुद्रसे घिरा हुआ है। जम्बूद्वीपके विस्तारसे क्रमशः दूने-दूने विस्तार वाले छह द्वीप और हैं—शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मल, मगध और पुष्करद्वीप। सातों द्वीपोंको घेरे हुए सात समुद्र हैं। जिनके पानीका स्वाद क्रमशः इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, मांड, दूध और मीठा जैसा है। सातों द्वीप तथा सातों समुद्रों का परिमाण पचास करोड़ योजन है।

पातालोंमें, समुद्रोंमें और पर्वतोंपर असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि देव रहते हैं। सम्पूर्ण द्वीपोंमें पुण्यात्मा देव और मनुष्य रहते हैं। मेरु पर्वत देवोंकी उद्यानभूमि है। वहाँ मिश्रवन, नन्दन, चैत्ररथ, सुमानस इत्यादि उद्यान हैं। सुधर्मा नामकी देवसभा है। सुदर्शन नगर है तथा इस नगरमें वैजयन्त प्रासाद है। ग्रह, नक्षत्र और तारा ध्रुव ( ज्योतिर्विशेष ) मेरुके ऊपर स्थित हैं। इनका भ्रमण वायुके विक्षेपसे होता है।

**स्वर्लोकका वर्णन**—माहेन्द्रलोकमें छह देवनिकाय हैं—त्रिदश, अग्निष्वात्तायाम्य, तुषित, अपरिनिर्मितवशवर्ति और परिनिर्मितवशवर्ति। ये देव संकल्पसिद्ध ( संकल्पमात्रसे सब कुछ करनेवाले ) अणिमा आदि ऋद्धि तथा ऐश्वर्यसे सम्पन्न, एक कल्पकी आयु वाले, औपपादिक ( माता-पिताके संयोगके बिना लक्षणमात्रमें जिनका शरीर उत्पन्न हो जाता है ) तथा उत्तमोत्तम अप्सराओंसे युक्त होते हैं। महर्लोकमें पाँच देवनिकाय हैं— कुमुद, ऋभव, प्रतर्दन, अञ्जनाभ और प्रचिताभ। ये देव महाभूतोंको वशमें रखनेमें स्वतन्त्र होते हैं तथा ध्यानमात्रसे तृप्त हो जाते हैं। इनकी आयु एक हजार कल्पकी है। प्रथम ब्रह्मलोक ( जनलोक में ) चार देवनिकाय हैं—ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर। ये देव भूत और इन्द्रियों को वशमें रखनेवाले होते हैं। ब्रह्मपुरस्थित देवोंकी आयु दो हजार कल्पकी है। अन्य देवनिकायोंमें आयु क्रमशः दूनी-दूनी है। द्वितीय ब्रह्मलोकमें ( तपोलोकमें ) तीन देवनिकाय हैं—आभास्वर, महाभास्वर और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्यमहाभास्वर। ये देव भूत और इन्द्रिय और अन्तःकरणको वशमें रखनेवाले होते हैं। इनकी आयु पहले निकायकी अपेक्षा क्रमशः दूनी है। ये देव ऊर्ध्वरेतस् होते हैं तथा ध्यानमात्रसे तृप्त हो जाते हैं। इनका ज्ञान ऊर्ध्वलोक तथा अधोलोकमें अप्रतिहत होता है। तृतीय ब्रह्मलोक ( सत्यलोक ) में चार देवनिकाय हैं–अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ और संज्ञा-संज्ञि। इन देवोंके घर नहीं होते। इनका निवास अपनी आत्मामें ही होता है। क्रमशः ये ऊपर स्थित हैं। प्रधान ( प्रकृति ) को वशमें रखनेवाले तथा एक सर्गकी आयुवाले हैं। अच्युतदेव सवितर्क ध्यानसे सुखी रहते हैं। शुद्धनिवासदेव सविचार ध्यानसे सुखी रहते हैं। सत्याभदेव आनन्दमात्र ध्यानसे सुखी रहते हैं। संज्ञासंज्ञि देव अस्मितामात्र ध्यानसे सुखी रहते हैं। ये सात लोक तथा अवान्तर सात लोक सब ब्रह्मलोक ( ब्रह्माण्ड ) के अन्तर्गत् हैं।

## वैदिक परम्परा श्रीमद्भागवतके आधारसे

भूलोकका वर्णन—यह भूलोक सात द्वीपोंमें विभाजित है। जिनमें प्रथम जम्बूद्वीप है। इसका विस्तार एक लाख योजन है तथा यह कमलपत्रके समान गोलाकार है।

इस द्वीपमें आठ पर्वतोंसे विभक्त नौ क्षेत्र हैं। प्रत्येक क्षेत्रका विस्तार नौ हजार योजन है। मध्यमें इलावृत नामका क्षेत्र है। इस क्षेत्रके मध्यमें सुवर्णमय मेरु पर्वत है। मेरुकी ऊँचाई नियुतयोजन प्रमाण है। मूलमें मेरु पर्वत सोलह हजार योजन पृथ्वीके अन्दर है तथा शिखर पर बत्तीस हजार योजन फैला हुआ है। मेरुके उत्तरमें नील, श्वेत तथा शृंगवान् ये तीन मर्यादागिरि हैं जिनके कारण रम्यक, हिरण्मय और कुरुक्षेत्रोंका विभाग होता है। इसी प्रकार मेरुसे दक्षिणमें निषध, हेमकूट, हिमालय ये तीन पर्वत हैं जिनके द्वारा हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारत इन तीन क्षेत्रोंका विभाग होता है। इलावृत क्षेत्रसे पश्चिममें माल्यवान् पर्वत है जो केतुमाल देशकी सीमाका कारण है। इलावृतसे पूर्वमें गन्धमादन पर्वत है जिससे भद्राश्व देशका विभाग होता है। मेरुके चारों दिशाओंमें मन्दर, मेरुमन्दर, सुपार्श्व और कुमुद ये चार अवष्टम्भ पर्वत हैं। चारों पर्वतोंपर आम्र, जम्बू, कदम्ब और न्यग्रोध ये चार विशालवृक्ष हैं। चारों पर्वतोंपर चार तालाब हैं जिनका जल दूध, मधु, इक्षुरस तथा मिठाई जैसे स्वादका है। नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक और सर्वतोभद्र ये चार देवोद्यान हैं। इन उद्योनोंमें देव देवांगनाओं सहित विहार करते हैं। मन्दर पर्वतके ऊपर ११ सौ योजन ऊँचे आम्र वृक्षसे पर्वतके शिखर जैसे स्थूल और अमृतके समान रसवाले फल गिरते हैं। मन्दर पर्वतसे अरुणोदा नदी निकलकर पूर्वमें इलावृत क्षेत्रमें बहती है। अरुणोदा नदीका जल आम्र वृक्षके फलोंके कारण अरुण रहता है। इसी प्रकार मेरुमन्दर पर्वतके ऊपर जम्बूद्वीप वृक्षके फल गिरते हैं मेरुमन्दरपर्वतसे जम्बू नामकी नदी निकलकर दक्षिणमें इलावृत क्षेत्रमें बहती है। जम्बूवृक्षके फलोंके रससे युक्त होनेके कारण इस नदीका नाम जम्बू नदी है। सुपार्श्व पर्वतपर कदम्ब वृक्ष है। सुपार्श्व पर्वतसे पाँच नदियाँ निकलकर पश्चिम में इलावृत क्षेत्रमें बहती हैं। कुमुद पर्वतपर शातवल्श नामका बट वृक्ष है। कुमुद पर्वतसे पयोनदी, दधिनदी, मधुनदी, घृतनदी, गुडनदी, अन्ननदी, अम्बरनदी, शय्यासननदी, आभरणनदी आदि सब कामोंको तृप्त करने वाली नदियाँ निकलकर उत्तरमें इलावृत क्षेत्रमें बहती हैं। इन नदियोंके जलके सेवन करनेसे कभी भी जरा, रोग, मृत्यु, उपसर्ग आदि नहीं होते हैं। मेरुके मूलमें कुरंग, कुरर, कुसुम्भ आदि बीस पर्वत हैं। मेरुसे पूर्वमें जठर और देवकूट, पश्चिममें पवन और परिपात्र, दक्षिणमें कैलाश और करवीर, उत्तरमें त्रिशृंग और मकर इस प्रकार आठ पर्वत हैं। मेरुके शिखरपर भगवानकी शातकौम्भी नामकी चतुष्कोण नदी है। इस नगरीके चारों ओर आठ लोकपालोंके आठ नगर हैं।

सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा इस प्रकार चार नदियाँ चारों दिशाओंमें बहती हुई समुद्रमें



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवेश करती हैं। सीता नदी ब्रह्मसदनकेसर, अचल आदि पर्वतोंके शिखरोंसे नीचे-नीचे होकर गन्धमादन पर्वतके शिखरपर गिरकर भद्राश्व क्षेत्रमें बहती हुई पूर्वमें क्षार समुद्रमें मिलती है। इसी प्रकार चक्षु नदी माल्यवान् पर्वतके शिखरसे निकलकर केतुमाल क्षेत्रमें बहती हुई समुद्रमें मिलती है। भद्रा नदी मेरुके शिखर से निकलकर शृंगवान् पर्वतके शिखरसे होकर उत्तरकुरुमें बहती हुई उत्तरके समुद्रमें मिलती है। अलकनन्दा नदी ब्रह्मसदन पर्वतसे निकलकर भारतक्षेत्रमें बहती हुई दक्षिणके समुद्रमें मिलती है। इसी प्रकार अनेक नद और नदियाँ प्रत्येक क्षेत्रमें बहती हैं। भारतवर्ष ही कर्मक्षेत्र है। शेष आठ क्षेत्र स्वर्गवासी पुरुषोंके स्वर्गभोगसे बचे हुए पुण्योंके भोगनेके स्थान हैं।

अन्य द्वीपोंका वर्णन—जिस प्रकार मेरु पर्वत जम्बूद्वीपसे घिरा हुआ है उसी प्रकार जम्बूद्वीप भी अपने ही समान परिमाण और विस्तारवाले खारे जलके समुद्रसे परिवेष्टित है। क्षार समुद्र भी अपनेसे दूने प्लक्षद्वीपसे घिरा हुआ है। जम्बूद्वीपमें जितना बड़ा जामुनका पेड़ है उतने ही विस्तारवाला यहाँ प्लक्ष, ( पाकर ) का वृक्ष है। इसीके कारण इसका नाम प्लक्षद्वीप हुआ। इस द्वीपमें शिव, यवस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत और अभय ये सात क्षेत्र हैं। मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान्, सुपर्ण, हिरण्यष्ठीव और मेघमाल ये सात पर्वत हैं। अरुण, नृम्ण, आंगिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतम्भरा और सत्यम्भरा ये सात नदियाँ हैं।

प्लक्षद्वीप अपने ही समान विस्तारवाले इक्षुरसके समुद्रसे घिरा हुआ है। उससे आगे उससे दुगुने परिमाणवाला शाल्मली द्वीप है जो उतने ही परिमाणवाले मदिराके सागरसे घिरा हुआ है। इस द्वीपमें शाल्मली ( सेमर ) का वृक्ष है जिसके कारण इस द्वीपका नाम शाल्मलीद्वीप हुआ। इस द्वीपमें सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ष, पारिभद्र और अविज्ञात ये सात क्षेत्र हैं। स्वरस, शतशृंग, वामदेव, कुन्द, मुकुन्द, पुष्पवर्ष और सहस्रश्रुति ये सात पर्वत हैं। अनुमति, सिनीवाली, सरस्वती, कुहु, रजनी, नन्दा और राका ये नदियाँ हैं।

मदिराके समुद्रसे आगे उसके दूने विस्तारवाला कुशद्वीप है। यह द्वीप अपने ही परिमाणवाले घृतके समुद्रसे घिरा हुआ है। इसमें एक कुशोंका झाड़ है इसीसे इस द्वीपका नाम कुशद्वीप है। इस द्वीपमें भी सात क्षेत्र हैं, चक्र, चतुःशृंग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोमा और द्रविण ये सात पर्वत हैं। रसकुल्या, मधुकुल्या, मित्रवृन्दा, देवगर्भा, घृतच्युता, और मन्त्रमाला ये सात नदियाँ हैं।

घृत समुद्रसे आगे उससे द्विगुण परिमाणवाला क्रौञ्चद्वीप है। यह द्वीप भी अपने समान विस्तारवाले दूधके समुद्रसे घिरा हुआ है। यहाँ क्रौञ्च नामका एक बहुत बड़ा पर्वत है उसीके कारण इसका नाम क्रौञ्चद्वीप हुआ। इस द्वीपमें भी सात क्षेत्र हैं। शुक्ल, वर्धमान, भोजन, उपबर्हिण, नन्द, नन्दन और सर्वतोभद्र ये सात पर्वत हैं। तथा अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, वृतिरूपवती, पवित्रवती और शुक्ला ये सात नदियाँ हैं।

इसी प्रकार क्षीरसमुद्रसे आगे उसके चारों ओर बत्तीस लाख योजन विस्तारवाला शाकद्वीप है जो अपने ही समान परिमाणवाले मठेके समुद्रसे घिरा हुआ है। इसमें शाक नामका एक बहुत बड़ा वृक्ष है वही इस द्वीपके नामका कारण है। इस द्वीपमें भी सात क्षेत्र, सात पर्वत तथा सात नदियाँ हैं।

इसी प्रकार मठेके समुद्रसे आगे उससे दूने विस्तारवाला पुष्कर द्वीप है। वह चारों ओर अपने समान विस्तारवाले मीठे जलके समुद्रसे घिरा हुआ है। वहाँ एक बहुत बड़ा पुष्कर ( कमल ) है जो इस द्वीपके नामका कारण है। इस द्वीपके बीचोंबीच इसके पूर्वीय और पश्चिमीय विभागोंकी मर्यादा निश्चित करने-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाला मानसोत्तर नामका एक पर्वत है। यह दस हजार योजन ऊँचा और इतना ही लम्बा है।

इस द्वीपके आगे लोकालोक नामका एक पर्वत है। लोकालोक पर्वत सूर्यसे प्रकाशित और अप्रकाशित भूभागोंके बीचमें स्थित है इसीसे इसका यह नाम पड़ा। यह इतना ऊँचा और इतना लम्बा है कि इसके एक ओरसे तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाली सूर्यसे लेकर ध्रुव पर्यंत समस्त ज्योतिमण्डलकी किरणें दूसरी ओर नहीं जा सकती।

समस्त भूगोल पचास करोड़ योजन है। इसका चौथाई भाग (१२॥ करोड़ योजन) यह लोकालोक पर्वत है।

इस प्रकार भूलोकका परिमाण समझना चाहिए। भूलोकके परिमाणके समान ही द्युलोकका भी परिमाण है। इन दोनों लोकोंके बीचमें अन्तरिक्ष लोक है, जिसमें सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और ताराओंका निवास है। सूर्यमण्डलका विस्तार दस हजार योजन है और चन्द्रमण्डलका विस्तार बारह हजार योजन है।

अतल आदि नीचेके लोकोंका वर्णन—भूलोकके नीचे अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पातालके नामके सात भू-विवर (बिल) हैं। ये क्रमशः नीचे-नीचे दस दस हजार योजनकी दूरी पर स्थित हैं। प्रत्येक बिलकी लम्बाई चौड़ाई भी दस दस हजार योजन की है। ये भूमिके बिल भी एक प्रकारके स्वर्ग हैं। इनमें स्वर्गसे भी अधिक विषयभोग, ऐश्वर्य, आनन्द, सन्तानसुख और धन-संपत्ति है।

नरकोंका वर्णन—समस्त नरक अट्ठाइस हैं। जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिसत्रवन, सूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभाजन, सन्दंश, तप्तसूर्मि, वज्रकण्टकशाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि, अयःपान, क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटरोधन, पर्यावर्तन और सूचीमुख।

जो पुरुष दूसरोंके धन, सन्तान अथवा स्त्रियोंका हरण करता है उसे अत्यन्त भयानक यमदूत कालपाशमें बाँधकर बलात्कारसे तामिस्र नरकमें गिरा देता है। इसी प्रकार जो पुरुष किसी दूसरेको धोखा देकर उसकी स्त्री आदिको भोगता है वह अन्धतामिस्र नरकमें पड़ता है। जो पुरुष इस लोकमें यह शरीर ही मैं हूँ और ये स्त्री, धनादि मेरे हैं ऐसी बुद्धिसे दूसरे प्राणियोंसे द्रोह करके अपने कुटुम्बके पालन-पोषणमें ही लगा रहता है वह रौरव नरकमें गिरता है। जो क्रूर मनुष्य इस लोकमें अपना पेट पालनेके लिए जीवित पशु या पक्षियोंको राँधता है उसे यमदूत कुम्भीपाक नरकमें ले जाकर खौलते हुए तेलमें राँधते हैं। जो पुरुष इस लोकमें खटमल आदि जीवोंकी हिंसा करता है वह अन्धकूप नरकमें गिरता है। इस लोकमें यदि कोई पुरुष अगम्या स्त्रीके साथ सम्भोग करता है अथवा कोई स्त्री अगम्य पुरुषसे व्यभिचार करती है तो यमदूत उसे तप्तसूर्मि नरकमें ले जाकर कोड़ोंसे पीटते हैं। तथा पुरुषको तपाए हुए लोहेकी स्त्री-मूर्तिसे और स्त्रीको तपायी हुई पुरुष-प्रतिमासे आलिंगन कराते हैं। जो पुरुष इस लोकमें पशु आदि सभीके साथ व्यभिचार करता है उसे यमदूत वज्रकण्टकशाल्मली नरकमें ले जाकर वज्रके समान कठोर काँटोंवाली सेमरके वृक्षपर चढ़ाकर फिर नीचेकी ओर खींचते हैं। जो राजा या राजपुरुष इस लोकमें श्रेष्ठकुलमें जन्म पाकर भी धर्मकी मर्यादाका उच्छेद करते हैं वे उस मर्यादातिक्रमके कारण मरने पर वैतरणी नदीमें पटके जाते हैं। यह नदी नरकोंकी खाईके समान है। यह नदी मल, मूत्र, पीव, रक्त, केश, नख, हड्डी, चर्बी, मांस, मज्जा आदि अपवित्र पदार्थोंसे भरी हुई है। जो पुरुष इस लोकमें नरमेधादिके द्वारा भैरव, यक्ष, राक्षस, आदिका यजन करते हैं उन्हें वे पशुओंकी तरह मारे गये पुरुष यमलोकमें राक्षस होकर तरह-तरहकी यातनाएँ देते हैं तथा रक्षोगणभोजन नामक नरकमें कसाइयोंके समान कुल्हाड़ीसे काट काटकर उसका लोहू पीते हैं तथा जिस प्रकार वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मांसभोजी पुरुष इस लोकमें उनका मांस भक्षण करके आनन्दित होते थे उसी प्रकार वे भी उनका रक्तपान करते और आनन्दित होकर नाचते-गाते हैं।

इसी प्रकार अन्य नरकोंमें भी प्राणी अपने-अपने क्रमके अनुसार दुःख भोगते हैं।

## वैदिक परम्परा ( विष्णुपुराणके आधारसे )

भूलोकका वर्णन—इस पृथ्वीपर सात द्वीप हैं जिनके नाम ये हैं—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर। ये द्वीप लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और जल इन सात समुद्रोंसे घिरे हुए हैं।

सब द्वीपोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीपके मध्यमें सुवर्णमय मेरु पर्वत है जो ८४ हजार योजन ऊँचा है। मेरुके दक्षिणमें हिमवान्, हेमकूट और निषध पर्वत हैं तथा उत्तरमें नील, श्वेत और शृंगी पर्वत हैं। मेरुके दक्षिणमें भारत, किम्पुरुष और हरिवर्ष ये तीन क्षेत्र हैं तथा उत्तरमें रम्यक, हिरण्मय और उत्तरकुरु ये तीन क्षेत्र हैं। मेरुके पूर्वमें भद्राश्व क्षेत्र है तथा पश्चिममें केतुमाल क्षेत्र है। इन दोनों क्षेत्रोंके बीचमें इलावृत क्षेत्र है। इलावृत क्षेत्रके पूर्वमें मन्दर, दक्षिणमें गन्धमादन, पश्चिममें विपुल, उत्तरमें सुपार्श्व पर्वत हैं। मेरुके पूर्वमें शीतान्त, चक्रमुञ्च, कुरारी, माल्यवान् वैकङ्का आदि पर्वत हैं। दक्षिणमें त्रिकूट, शिशिर, पतङ्ग, रुचक, निषध आदि पर्वत हैं, पश्चिममें शिखिवास, वैदूर्य, कपिल, गन्धमादन आदि पर्वत हैं और उत्तरमें शंखकूट, ऋषभ, हंस, नाग आदि पर्वत हैं।

मेरुके पूर्वमें चैत्ररथ, दक्षिणमें गन्धमादन, पश्चिममें वैभ्राज और उत्तरमें नन्दनवन हैं। अरुणोद, महाभद्र, असितोद और मानस ये सरोवर हैं।

मेरुके ऊपर जो ब्रह्मपुरी है उसके पासमें गंगानदी चारों दिशाओंमें बहती है। सीता नदी भद्राश्व-क्षेत्रसे होकर पूर्व समुद्रमें मिलती है। अलकनन्दा नदी भरतक्षेत्रसे होकर समुद्रमें प्रवेश करती है। चक्षुः-नदी केतुमाल क्षेत्रमें बहती हुई समुद्रमें मिलती है और भद्रानदी उत्तरकुरुमें बहती हुई समुद्रमें प्रवेश करती है।

इलावृतक्षेत्रके पूर्वमें जठर और देवकूट, दक्षिणमें गन्धमादन और कैलाश और पश्चिममें निषध और पारिपात्र और उत्तरमें त्रिशृंग और जारुधि पर्वत हैं। पर्वतोंके बीचमें सिद्धचारण देवोंसे सेवित खाई है और उनमें मनोहर नगर तथा वन हैं।

समुद्रके उत्तरमें तथा हिमालयके दक्षिणमें भारत क्षेत्र है। इसमें भरतकी सन्तति रहती है। इसका विस्तार नौ हजार योजन है। इस क्षेत्रमें महेंद्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विंध्य और पारिपात्र ये सात क्षेत्र हैं।

इस क्षेत्रमें इन्द्रद्वीप, कशेरुमान, ताम्रवर्ण, गंधहस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वारुण और सागर-संवृत ये नव द्वीप हैं। हिमवान् पर्वतसे शतद्रु, चन्द्रभागा आदि नदियाँ निकली हैं। पारिपात्र पर्वतसे वेदमुख, स्मृतिमुख आदि नदियाँ निकली हैं। विंध्य पर्वतसे नर्मदा, सुरसा आदि नदियाँ निकली हैं। ऋषि पर्वतसे तापी, पयोष्णि, निर्विन्ध्या आदि नदियाँ निकली हैं। सह्य पर्वतसे गोदावरी, भीमरथी, कृष्णवेणी आदि नदियाँ निकली हैं। मलय पर्वतसे कृतमाल, ताम्रपर्णी आदि नदियाँ निकली हैं। महेन्द्र पर्वतसे त्रिसामा, आर्यकुल्या, आदि नदियाँ निकली हैं। शुक्तिमान् पर्वतसे त्रिकुल्या, कुमारी आदि नदियाँ निकली हैं।

प्लक्षद्वीप—इस द्वीपमें शान्तिमय, शिशिर, सुखद, आनन्द, शिव, क्षेमक और ध्रुव ये सात क्षेत्र हैं। तथा गोमेद्र, चन्द्र, नारद, दुन्दुभि, सामक, सुमन और वैभ्राज ये सात पर्वत हैं। अनुतप्ता, शिखी, विपाशा, त्रिदिवा, क्रमु, अमृता और सुकृता ये सात नदियाँ हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शाल्मलिद्वीप—इस द्वीपमें श्वेत, हरित, जीमूत, रोहित, वैद्युत, मानस और सुप्रभ ये सात क्षेत्र हैं। कुमुद, उन्नत, बलाहक, द्रोण, कङ्क, महिष और ककुद्म ये सात पर्वत हैं। योनि, तोया, वितृष्णा, चन्द्रा, शुक्ला, विमोचनी और निवृत्ति ये सात नदियाँ हैं।

कुशद्वीप—इस द्वीपमें उद्भिद्, वेणुमत्, वैरथ, लम्बन, धृति, प्रभाकर और कपिल ये सात क्षेत्र हैं, विद्रुम, हेमशैल, द्युतिमान्, पुष्पवान्, कुशेशय, हरि और मन्दराचल ये सात पर्वत हैं। धूतपापा, शिवा, पवित्रा, संमति, विद्युदंभा, महो आदि सात नदियाँ हैं।

क्रौञ्च द्वीप—इस द्वीपमें कुशल, मन्दक, उष्ण, पीवर, अन्धकारक, मुनि और दुन्दुभि ये सात क्षेत्र हैं। क्रौञ्च, वामन, अन्धकारक, देववृत, पुण्डरीकवान्, दुन्दुभि और महाशैल ये सात पर्वत हैं। गौरी, कुमुद्वती, सन्ध्या, रात्रि, मनोजवा, क्षान्ति और पुण्डरीका ये सात नदियाँ हैं।

शाक द्वीप—इस द्वीपमें जलद, कुमार, सुकुमार, मनीचक, कुसुमोद, मौदाकि और महाद्रुम ये सात क्षेत्र हैं। उदयगिरि, जलाधर, वतक, श्याम, अस्तगिरि, अञ्जिकेय और केसरी ये सात पर्वत हैं। सुकुमारी, कुमारी, नलिनी, धेनुका, इक्षु, वेणुका और गभस्ती ये सात नदियाँ हैं।

पुष्कर द्वीप—इस द्वीपमें महावीर और धातकीखण्ड ये दो क्षेत्र हैं। मानुषोत्तर पर्वत पुष्करद्वीपके बीचमें स्थित है। अन्य पर्वत तथा नदियाँ इस द्वीपमें नहीं हैं।

भूगोलकी इन परम्पराओंका तुलनात्मक अध्ययन हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि आजसे दो ढाई हजार वर्ष पहिले भूगोल और लोक वर्णनकी करीब-करीब एक जैसी अनुश्रुतियाँ प्रचलित थीं। जैन अनुश्रुतिको प्रकृत तत्त्वार्थसूत्रके तृतीय और चतुर्थ अध्यायमें निबद्ध किया गया है। लोकका पुरुषाकार वर्णन भी योगभाष्यमें पाया जाता है। अतः ऐतिहासिक और उस समयकी साधनसामग्रीकी दृष्टिसे भारतीय परम्पराओंका लोकवर्णन अपनी खास विशेषता रखता है। आजके उपलब्ध भूगोलमें प्राचीन स्थानोंकी खोज करनेपर बहुत कुछ तथ्य सामने आ सकता है।

प्रस्तुतवृत्ति—इस वृत्तिका नाम तत्त्वार्थवृत्ति है जैसा कि स्वयं श्रुतिसागरसूरिने ही प्रारम्भमें लिखा है—"वक्ष्ये तत्त्वार्थवृत्तिं निजविभवतयाऽहं श्रुतोदन्वदाख्यः।" अर्थात् मैं श्रुतसागर अपनी शक्तिके अनुसार तत्त्वार्थवृत्तिको कहूँगा। अध्यायोंके अन्तमें आनेवाली पुष्पिकाओंमें इसके 'तत्त्वार्थटीकायाम्', 'तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ' ये दो प्रकारके उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि द्वितीय उल्लेखमें इसका 'तात्पर्य' यह नाम सूचित किया गया है, परन्तु स्वयं श्रुतसागरसूरिको तत्त्वार्थवृत्ति यही नाम प्रचारित करना इष्ट था। वे इस ग्रन्थके अन्तमें इसे तत्त्वार्थवृत्ति ही लिखते हैं। यथा—"एषा तत्त्वार्थवृत्तिः यैर्विचार्यते" आदि। तत्त्वार्थटीका यह एक साधारण नाम है, जो कदाचित् पुष्पिकामें लिखा भी गया हो, पर प्रारम्भ श्लोक और अन्तिम उपसंहारवाक्यमें 'तत्त्वार्थवृत्ति' इन समुल्लेखोंके बलसे इसका 'तत्त्वार्थवृत्ति' नाम ही फलित होता है।

इस तत्त्वार्थवृत्तिको श्रुतसागरसूरिने स्वतंत्रवृत्तिके रूपमें बनाया है। परन्तु ग्रन्थके पढ़ते ही यह भान होता है कि यह पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धिकी ही व्याख्या है। इसमें सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ तो प्रायः पूराका पूरा ही समा गया है। कहीं सर्वार्थसिद्धिकी पंक्तियोंको दो चार शब्द नए जोड़कर अपना लिया है, कहीं उनकी व्याख्या की है, कहीं विशेषार्थ दिया है और कहीं उसके पदोंको सार्थकता दिखाई है। अतः प्रस्तुतवृत्तिको सर्वार्थसिद्धिकी अविकल व्याख्या तो नहीं कह सकते। हाँ, सर्वार्थसिद्धि को लगानेमें इससे सहायता पूरी-पूरी मिल जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतसागरसूरि अनेक शास्त्रोंके पण्डित थे। उनने स्वयं ही अपना परिचय प्रथम अध्याय की पुष्पिका में दिया है। उसका भाव यह है—'अनवद्य गद्य पद्य विद्याके विनोदसे जिनकी मति पवित्र है, उन मतिसागर यतिराजकी प्रार्थनाको पूरा करनेमें समर्थ, तर्क, व्याकरण, छन्द, अलङ्कार साहित्यादिशास्त्रमें जिनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण है, देवेन्द्रकीर्ति भट्टारकके प्रशिष्य और विद्यानन्दिदेवके शिष्य श्रुतसागरसूरिके द्वारा रचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, प्रचण्ड-अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंके पाण्डित्यका प्रदर्शन करानेवाली तत्त्वार्थटीकाका प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।"

इन्होंने अपनेको स्वयं कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम, उभयभाषाकविचक्रवर्ती, तार्किका शिरोमणि, परमागमप्रवीण आदि विशेषणोंसे भी अलंकृत किया है।

इन्होंने सर्वार्थसिद्धिके अभिप्रायके उद्घाटनका पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। सत्संख्यासूत्रमें सर्वार्थसिद्धि-के सूत्रात्मक वाक्योंकी उपपत्तियाँ इसका अच्छा उदाहरण है। जैसे—

१—सर्वार्थसिद्धिमें क्षेत्रप्ररूपणामें सयोगकेवलीका क्षेत्र लोकका असंख्येय भाग, असंख्येय बहुभाग और सर्वलोक बताया है। इसका अभिप्राय इस प्रकार बताया है—"लोकका असंख्येय भाग दण्ड, कपाट, समुद्घात-की अपेक्षा है। सो कैसे ? यदि केवली कायोत्सर्गसे स्थित है तो दण्ड समुद्घातको प्रथम समयमें बारह अंगुल प्रमाण समवृत्त या मूलशरीर प्रमाण समवृत्त रूपसे करते हैं। यदि बैठे हुए हैं तो शरीरसे तिगुना या वात-वलयसे कम पूर्ण लोक प्रमाण दण्ड समुद्घात करते हैं। यदि पूर्वाभिमुख हैं तो कपाट समुद्घातको उत्तर-दक्षिण एक धनुषप्रमाण प्रथम समयमें करते हैं। यदि उत्तराभिमुख हैं तो पूर्व-पश्चिम करते हैं। इस प्रकार लोकका असंख्यातैकभाग होता है। प्रतर अवस्थामें केवली तीन वातवलयकम पूर्णलोकको निरन्तर आत्म-प्रदेशोंसे व्याप्त करते हैं। अतः लोकका असंख्यात बहुभाग क्षेत्र हो जाता है। पूरण अवस्थामें सर्वलोक क्षेत्र हो जाता है।

२—वेदकसम्यक्त्वकी छ्यासठ सागर स्थिति—सौधर्मस्वर्गमें २ सागर, शुक्रस्वर्गमें १६ सागर, शतारमें १८ सागर, अष्टम ग्रैवेयकमें ३० सागर, इस प्रकार छ्यासठ सागर हो जाते हैं। अथवा सौधर्ममें दो बार उत्पन्न होनेपर ४ सागर, सनत्कुमारमें ७ सागर, ब्रह्म स्वर्गमें १० सागर, लान्तवमें १४ सागर, नवम ग्रैवेयकमें ३१ सागर, इस प्रकार ६६ सागर स्थिति होती है। अन्तिम ग्रैवेयककी स्थितिमें मनुष्यायुओं-का जितना काल होगा उतना कम समझना चाहिये।

३—सासादन सम्यग्दृष्टिका लोकका देशोन ८ भाग या १२ भाग स्पर्शन—परस्थान विहारकी अपेक्षा सासादन सम्यग्दृष्टि देव नीचे तीसरे नरक तक जाते हैं तथा ऊपर अच्युत स्वर्ग तक। सो नीचे दो राजू और ऊपर ६ राजू, इस प्रकार आठ राजू हो जाते हैं। छठवें नरकका सासादन मारणान्तिक समुद्घात मध्यलोक तक ५ राजू और लोकान्तवर्ती बादरजलकाय या वनस्पतिकायमें उत्पन्न होनेके कारण ७ राजू, इस प्रकार १२ राजू हो जाते हैं। कुछ प्रदेश सासादनके स्पर्शयोग्य नहीं होते अतः देशोन समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार समस्त सूत्रमें सर्वार्थसिद्धिके अभिप्रायको खोलनेका पूर्ण प्रयत्न किया गया है। न केवल इसी सूत्रको ही, किन्तु समग्र ग्रन्थको ही लगानेका विद्वत्तापूर्ण प्रयास किया गया है।

परन्तु शास्त्रसमुद्र इतना अगाध और विविध भंग तरंगोंसे युक्त है कि उसमें कितना भी कुशल अवगाहक क्यों न हो चक्करमें आ ही जाता है। इसीलिए बड़े-बड़े आचार्योंने अपने छद्मस्थज्ञान और चंचल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षायोपशमिक उपयोगपर विश्वास न करके स्वयं लिख दिया है कि—"को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे" श्रुतसागरसूरि भी इसके अपवाद नहीं हैं। यथा—

१—सर्वार्थसिद्धिमें "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" (५।४१) सूत्रकी व्याख्यामें 'निर्गुण' इस विशेषणकी सार्थकता बताते हुए लिखा है कि—"निर्गुण इति विशेषणं द्व्यणुकादिनिवृत्त्यर्थम्, तान्यपि हि कारणभूतपरमाणुद्रव्याश्रयाणि गुणवन्ति तु तस्मात् 'निर्गुणाः' इति विशेषणात्तानि निवर्तितानि भवन्ति।" अर्थात् द्व्यणुकादि स्कन्ध नैयायिकोंकी दृष्टिसे परमाणुरूप कारणद्रव्यमें आश्रित होनेसे द्रव्याश्रित हैं और रूपादि गुणवाले होनेसे गुणवाले भी हैं अतः इनमें भी उक्त गुणका लक्षण अतिव्याप्त हो जायगा। इसलिए इनकी निवृत्तिके लिए 'निर्गुणाः' यह विशेषण दिया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए श्रुतसागरसूरि लिखते हैं कि—

"निर्गुणाः इति विशेषणं द्व्यणुकत्र्यणुकादिस्कन्धनिषेधार्थम्, तेन स्कन्धाश्रया गुणा गुणा नोच्यन्ते। कस्मात्? कारणभूतपरमाणुद्रव्याश्रयत्वात्, तस्मात् कारणात् निर्गुणा इति विशेषणात् स्कन्धगुणा गुणा न भवन्ति पर्यायाश्रयत्वात्।" अर्थात्—'निर्गुणाः' यह विशेषण द्व्यणुक, त्र्यणुकादि स्कन्धके निषेधके लिए है। इससे स्कन्धमें रहनेवाले गुण गुण नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे कारणभूत परमाणुद्रव्यमें रहते हैं। इसलिए स्कन्धके गुण गुण नहीं हो सकते क्योंकि वे पर्यायमें रहते हैं। यह हेतुवाद बड़ा विचित्र है और जैन सिद्धान्तके प्रतिकूल भी। जैनसिद्धान्तमें रूपादि चाहे घटादिस्कन्धोंमें रहनेवाले हों या परमाणुमें, सभी गुण कहे जाते हैं। ये स्कन्धके गुणोंको गुण ही नहीं कहना चाहते क्योंकि वे पर्यायाश्रित हैं। यदि वे यह कहते कि कारणपरमाणुओंको छोड़कर स्कन्धकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है और इसलिए स्कन्धाश्रित गुण स्वतंत्र नहीं है तो कदाचित् संगत भी था। पर इस कथनका प्रकृत 'निर्गुण' पदकी सार्थकतासे कोई मेल नहीं बैठता। इस असंगतिके कारण आगेके शंकासमाधानमें भी असंगति हो गई है। यथा—सर्वार्थसिद्धिमें है कि—घटकी संस्थान-आकार आदि पर्याएँ भी द्रव्याश्रित हैं और स्वयं गुणरहित हैं अतः उन्हें भी गुण कहना चाहिए। इसका समाधान यह कर दिया गया है कि जो हमेशा द्रव्याश्रित हों, रूपादि गुण सदा द्रव्याश्रित रहते हैं, जब कि घटके संस्थानादि सदा द्रव्याश्रित नहीं हैं। इस शंका-समाधानका सर्वार्थसिद्धिका पाठ यह है—

"ननु पर्याया अपि घटसंस्थानादयो द्रव्याश्रया निर्गुणाश्च, तेषामपि गुणत्वं प्राप्नोति। द्रव्याश्रया इति वचनान्नित्यं द्रव्यमाश्रित्य वर्तन्ते, गुणा इति विशेषणात् पर्यायाश्च निवर्तिता भवन्ति, ते हि कादाचित्का इति।"

इस शंकासमाधानको श्रुतसागर सूरि इस रूपमें उपस्थित करते हैं—

"ननु घटादिपर्यायाश्रिताः संस्थानादयो ये गुणा वर्तन्ते, तेषामपि संस्थानादीनां गुणत्वमास्कन्दति द्रव्याश्रयत्वात्, सतो घटपटादयोऽपि द्रव्याणीत्युच्यन्ते। साध्वभाणि भवता। ये नित्यं द्रव्यमाश्रित्य वर्तन्ते त एव गुणा भवन्ति न तु पर्यायाश्रया गुणा भवन्ति, पर्यायाश्रिता गुणाः कदाचित्काः कदाचिद्भवा वर्तन्ते इति।"

इस अवतरणमें श्रुतसागरसूरि संस्थानादिको घटादिका गुण कह रहे हैं, और उनका कादाचित्क होनेका उल्लेख है फिर भी उसका अन्यथा अर्थ किया गया है।

२—सर्वार्थसिद्धि (८।२) में जीव शब्दकी सार्थकता बताते हुए लिखा है कि "अमूर्तिरहस्त आत्मा कथं कर्मादत्ते? इति चोदितः सन् जीव इत्याह। जीवनाज्जीवः प्राणधारणायुःसम्बन्धात् नार्युविरहा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिति।" अर्थात्–'हाथरहित अमूर्त आत्मा कैसे कर्म ग्रहण करता है' इस शंकाका उत्तर है 'जीव' पदका ग्रहण। प्राणधारण और आयुसंबंधके कारण जीव बना हुआ आत्मा कर्म ग्रहण करता है, आयुसम्बन्धसे रहित होकर सिद्ध अवस्थामें नहीं। यहाँ श्रुतसागरसूरि 'नायुर्विरहात्' वाले अंशको इस रूपमें लिखते हैं—"आयुः सम्बन्धविरहे जीवस्यानाहारकत्वात् एकद्वित्रिसमयपर्यन्तं कर्म नादत्ते जीवः एकं द्वौ त्रीन् वाऽनाहारक इति वचनात्।" अर्थात् आयुसम्बन्धके बिना जीव अनाहारक रहता है और वह एक दो तीन समय तक कर्मको ग्रहण नहीं करता क्योंकि एक दो तीन समय तक अनाहारक रहता है ऐसा कथन है। यहाँ कर्मग्रहणकी बात है, पर श्रुतसागरसूरि उसे नोकर्म ग्रहणरूप आहारमें लगा रहे हैं, जिसका कि आयुसम्बन्धविरहसे कोई मेल नहीं है। संसार अवस्थामें कभी भी जीव आयुसंबंधसे शून्य नहीं होता। विग्रहगतिमें उसके आयुसम्बन्ध होता ही है।

३—सर्वार्थसिद्धि ( ८।२ ) में ही 'सः' शब्दकी सार्थकता इसलिए बताई गई है कि इससे गुणगुणिबन्धकी निवृत्ति हो जाती है। नैयायिकादि शुभ-अशुभ क्रियाओंसे आत्मामें ही 'अदृष्ट' नामके गुणकी उत्पत्ति मानते हैं उसीसे आगे फल मिलता है। इसे ही बन्ध कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें यही गुणगुणिबन्ध कहलाता है। आत्मा गुणीमें अदृष्ट नामके उसीके गुणका सम्बन्ध हो गया। इसका व्याख्यान श्रुतसागरसूरि इस प्रकार करते हैं—

"तेन गुणगुणिबन्धो न भवति। यस्मिन्नेव प्रदेशे जीवस्तिष्ठति तस्मिन्नेव प्रदेशे केवलज्ञानादिकं न भवति किंतु अपरत्रापि प्रसरति।" अर्थात्–इसलिए गुणगुणिबन्ध–गुणका गुणिके प्रदेशों तक सीमित रहना नहीं होता। जिस प्रदेशमें जीव है उसी प्रदेशमें ही केवलज्ञानादि नहीं रहते किन्तु वह अन्यत्र भी फैलता है। यहाँ, गुणगुणिबन्धका अनोखा ही अर्थ किया है, और यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि गुणी चाहे अल्पदेशोंमें रहे पर गुण उसके साथ बद्ध नहीं है वह अन्यत्र भी जा सकता है। जो स्पष्टतः सिद्धांतसमर्थित नहीं है।

४—पृ० २७० पृ० ११ में एकेन्द्रियके भी असंप्राप्तासृपाटिका संहननका विधान किया है।

५—२७५ में सर्व मूलप्रकृतियोंके अनुभागको स्वमुखसे विपाक मानकर भी 'मतिज्ञानावरणका मति ज्ञानावरणरूपसे ही विपाक होता है' यह उत्तरप्रकृतिका दृष्टान्त उपस्थित किया गया है।

६—पृ० २८१ में गुणस्थानोंका वर्णन करते समय लिखा है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पहुँचनेवाला जीव प्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें ही दर्शनमोहनीयकी तीन, अनन्तानुबन्धी चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम करता है। जो सिद्धान्तविरुद्ध है क्योंकि प्रथमोशमसम्यक्त्वमें दर्शनमोहनीयकी केवल एक प्रकृति मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी चार इस तरह पाँच प्रकृतियोंके उपशमसे ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व बताया गया है। सातका उपशम तो जिनके एकबार सम्यक्त्व हो चुकता है उन जीवोंके दुबारा प्रथमोशमके समय होता है।

७—आदाननिक्षेपसमितिमें—मयूरपिच्छके अभावमें वस्त्रादिके द्वारा प्रतिलेखनका विधान किया गया है, यह दिगम्बर परम्पराके अनुकूल नहीं है।

८—सूत्र ८।४७ में द्रव्यलिंगकी व्याख्या करते हुए श्रुतसागरसूरिने असमर्थ मुनियोंको अपवादरूपसे वस्त्रादिग्रहण इन शब्दोंमें स्वीकार किया है—

"केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलशब्दवाच्यं कौशेयादिकं गृह्णन्ति, न तत् प्रक्षालयन्ति, न तत् सीव्यन्ति, न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति, अपरकाले परिहरन्ति। केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषा लज्जितत्वात् तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुर्वन्तीति व्याख्यानामाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेण अपवादरूपं ज्ञातव्यम्। 'उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलवान्' इत्युत्सर्गेण तावद् यथोक्तमाचेलक्यं प्रोक्तमस्ति, आर्यासमर्थदोषवच्छरीराद्यपेक्षया अपवादव्याख्याने न दोषः।"

अर्थात् भगवती आराधनाके अभिप्रायानुसार असमर्थ या दोषयुक्त शरीरवाले साधु शीतकालमें वस्त्र ले लेते हैं, पर वे न तो उसे धोते हैं न सीते हैं और न उसके लिए प्रयत्न ही करते हैं, दूसरे समयमें उसे छोड़ देते हैं। उत्सर्गलिंग तो अचेलकता है पर आर्या असमर्थ और दोषयुक्त शरीरवालोंकी अपेक्षा अपवादलिंगमें भी दोष नहीं है।

भगवती आराधना ( गा० ४२१ ) की अपराजितसूरिकृत विजयोदया टीकामें कारणापेक्ष यह अपवादमार्ग स्वीकार किया गया है। इसका कारण स्पष्ट है कि अपराजितसूरि यापनीयसंघके आचार्य थे और यापनीय आगमवाचनाओंको प्रमाण मानते थे। उन आगमोंमें आए हुए उल्लेखोंके समन्वयके लिए अपराजितसूरिने यह व्यवस्था स्वीकार की है। परन्तु श्रुतसागरसूरि तो कट्टर दिगम्बर थे, वे कैसे इस चक्करमें आ गये ?

**भाषा और शैली**—तत्त्वार्थवृत्तिकी शैली सरल और सुबोध है। प्रत्येक स्थानमें नूतन पर सुमिल शब्दोंका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। सैद्धान्तिक बातोंका खुलासा और दर्शनगुत्थियोंके सुलझानेका प्रयत्न स्थान-स्थानपर किया गया है। भाषाके ऊपर तो श्रुतसागरसूरिका अद्भुत अधिकार है। जो क्रिया एक जगह प्रयुक्त है वही दूसरे वाक्यमें नहीं मिल सकती। प्रमाणोंको उद्धृत करनेमें तो इनके श्रुतसागरत्वका पूरा पूरा परिचय मिल जाता है। इस वृत्तिमें निम्नलिखित ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका उल्लेख नाम लेकर किया गया है। अनिर्दिष्टकर्तृक गाथाएँ और श्लोक भी इस वृत्तिमें पर्याप्त रूपमें संगृहीत हैं। इस वृत्तिमें उमास्वामी ( उमास्वाति भी ) समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्रदेव, योगीन्द्रदेव, मतिसागर, देवेन्द्रकीर्तिभट्टारक आदि ग्रन्थकारोंके तथा सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, अष्टसहस्री, भगवतीआराधना, संस्कृतमहापुराणपंजिका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंके नामोल्लेख हैं। इनके अतिरिक्त सोमदेवके यशस्तिलकचम्पू, आशाधरके प्रतिष्ठापाठ, वसुनन्दिश्रावकाचार, आत्मानुशासन, आदिपुराण, त्रिलोकसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, पंचसंग्रह, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, बारसअणुवेक्खा, परमात्मप्रकाश, आराधनासार, गोम्मटसार, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्रुतभक्ति, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, नीतिसार, द्रव्यसंग्रह, कातन्त्रसूत्र, सिद्धभक्ति, हरिवंशपुराण, षड्दर्शनसमुच्चय, पाणिनिसूत्र, इष्टोपदेश, न्यायसंग्रह ज्ञानार्णव, अष्टांगहृदय, द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशतिका, शाकटायनव्याकरण, तत्त्वसार, सागारधर्मामृत आदि ग्रन्थोंके श्लोक गाथा आदि उद्धृत किये गये हैं।

इस प्रकार यह वृत्ति अतिशयपाण्डित्यपूर्ण और प्रमाणसंग्रहा है। श्रुतसागरसूरिने इसे सर्वोपयोगी बनानेका पूरा प्रयत्न किया है।

## ग्रन्थकार

इस विभागमें सूत्रकार उमास्वामी और वृत्तिकारके समय आदिका परिचय कराना अवसर प्राप्त है। सूत्रकार उमास्वामीके संबंधमें अनेक विवाद हैं—वे किस आम्नायके थे ? क्या तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पाई जानेवाली प्रशस्ति उनकी लिखी है ? क्या तत्त्वार्थभाष्य स्वोपज्ञ नहीं है ? मूल सूत्रपाठ कौन है ? वे कब हुए थे ? आदि। इन संबंधमें श्रीमान् पं० सुखलालजीने अपने तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनामें पर्याप्त विवेचन किया है और उमास्वामीको श्वे० परम्पराका बताया है, तत्त्वार्थभाष्य स्वोपज्ञ है और उसकी प्रशस्तिमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। इनने उमास्वामीके समयकी अवधि विक्रमकी दूसरीसे पाँचवीं सदी तक निर्धारित की है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने भारतीय विद्याके सिंघी स्मृति अंकमें "उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र और उनका सम्प्रदाय" शीर्षक लेखमें उमास्वातिको यापनीय संघका आचार्य सिद्ध किया है। इसके प्रमाणमें उनने मैसूरके नगरतालुकें ४६ नं० के शिलालेखमें आया हुआ यह श्लोक उद्धृत किया है—

"तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारम् उमास्वामिमुनीश्वरम्।
श्रुतिकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्॥"

इस श्लोकमें उमास्वामीको 'श्रुतकेवलिदेशीय' विशेषण दिया है और यही विशेषण यापनीय-संघाग्रणी शाकटायन आचार्यको भी लगाया जाता है। अतः उमास्वामी यापनीयसंघकी परम्परामें हुए हैं। इधर पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार उमास्वामीको दिगम्बर परम्पराका स्वीकार करते हैं तथा भाष्यको स्वोपज्ञ नहीं मानते। यद्यपि यह भाष्य अकलंकदेवसे पुराना है क्योंकि इनने राजवार्तिकमें भाष्यगत कारिकाएँ उद्धृत की हैं और भाष्यमान्य सूत्रपाठकी आलोचना की है तथा भाष्यकी पंक्तियोंको वार्तिक भी बनाया है।

इस तरह तत्त्वार्थसूत्र, भाष्य और उमास्वामीके सम्बन्धके अनेक विवाद हैं जो गहरी छानबीन और स्थिर गवेषणाकी अपेक्षा रखते हैं।

वृत्तिकर्ता श्रुतसागरसूरि वि० १६वीं शताब्दीके विद्वान् हैं। इनके समय आदिके सम्बन्धमें श्रीमान् प्रेमीजीने 'जैन साहित्य और इतिहास'में सांगोपांग विवेचन किया है। उनका वह लेख यहाँ साभार उद्धृत किया जाता है।

## श्रुतसागरसूरि

ये मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगणमें हुए हैं और इनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था। विद्यानन्दि-देवेन्द्रकीर्तिके और देवेन्द्रकीर्ति पद्मनन्दिके[1] शिष्य और उत्तराधिकारी थे। विद्यानन्दिके बाद मल्लिभूषण और उनके बाद लक्ष्मीचन्द्र भट्टारक-पदपर आसीन हुए थे। श्रुतसागर शायद गद्दीपर बैठे ही नहीं, फिर भी वे भारी विद्वान् थे। मल्लिभूषणको उन्होंने अपना गुरुभाई लिखा है।

विद्यानन्दिका भट्टारक-पट्ट गुजरातमें ही किसी स्थानपर था, परन्तु कहाँ पर था, इसका उल्लेख नहीं मिला।[2]

श्रुतसागरके भी अनेक शिष्य होंगे, जिनमें एक शिष्य श्रीचन्द्र थे जिनकी बनाई हुई वैराग्यमणिमाला उपलब्ध है। आराधनाकथाकोश, नेमिपुराण आदि ग्रन्थोंके कर्ता ब्रह्म नेमिदत्तने भी जो मल्लिभूषणके शिष्य थे—श्रुतसागरको गुरुभावसे स्मरण किया है और मल्लिभूषणकी वही गुरुपरम्परा दी है जो श्रुतसागरके ग्रन्थोंमें मिलती है। उन्होंने सिंहनन्दिका भी उल्लेख किया है जो मालवाकी गद्दीके भट्टारक थे और जिनकी प्रार्थनासे श्रुतसागरने यशस्तिलककी टीका लिखी थी।

श्रुतसागरने अपनेको कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम, उभयभाषाकविचक्रवर्ती, व्याकरणकमलमार्तण्ड,

---

१. ये पद्मनन्दि वही मालूम होते हैं जिनके विषयमें कहा जाता है कि गिरिनार पर सरस्वती देवीसे उन्होंने कहला दिया था कि दिगम्बर पन्थ ही सच्चा है। इन्हींकी एक शिष्य शाखामें सकलकीर्ति, विजयकीर्ति और शुभचन्द्र भट्टारक हुए हैं।

२. इनकी गद्दी सूरतमें थी। देखो 'दानवीर माणिकचन्द्र' पृ० ३७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तार्किकशिरोमणि, परमागमप्रवीण, नवनवतिमहामहावादिविजेता आदि विशेषणोंसे अलंकृत किया है। ये विशेषण उनकी अहम्मन्यताको खूब अच्छी तरह प्रकट करते हैं।

वे कट्टर तो थे ही, असहिष्णु भी बहुत ज्यादा थे। अन्य मतोंका खण्डन और विरोध तो औरोंने भी किया है, परन्तु इन्होंने तो खण्डनके साथ बुरी तरह गालियाँ भी दी हैं। सबसे ज्यादा आक्रमण इन्होंने मूर्ति-पूजा न करनेवाले लोंकागच्छ (ढूंढ़ियों) पर किया है।.....

अधिकतर टीकाग्रन्थ ही श्रुतसागरने रचे हैं, परन्तु उन टीकाओंमें मूल ग्रन्थकर्ताके अभिप्रायोंकी अपेक्षा उन्होंने अपने अभिप्रायोंको ही प्रधानता दी है। दर्शनपाहुडकी २४वीं गाथाकी टीकामें उन्होंने जो अपवाद वेषकी व्याख्या की है, वह यही बतलाती है। वे कहते हैं कि दिगम्बर मुनि चर्याके समय चटाई आदिसे अपने नग्नत्वकी ढाँक लेता है। परन्तु यह उनका खुदका ही अभिप्राय है, मूलका नहीं। इसी तरह तत्त्वार्थटीका ( संयमश्रुतप्रतिसेवनादि सूत्रकी टीका ) में जो द्रव्यलिंगी मुनिको कम्बलादि ग्रहणका विधान किया है वह भी उन्हींका अभिप्राय है, मूल ग्रन्थकर्ताका नहीं।

श्रुतसागरके ग्रन्थ

१–यशस्तिलकचन्द्रिका—आचार्य सोमदेवके प्रसिद्ध यशस्तिलक चम्पूकी यह टीका है और निर्णय-सागर प्रेसकी काव्यमालामें प्रकाशित हो चुकी है। यह अपूर्ण है। पांचवें आश्वासके थोड़ेसे अंशकी टीका नहीं है। जान पड़ता है, यही उनकी अन्तिम रचना है। इसकी प्रतियाँ अन्य अनेक भण्डारोंमें उपलब्ध हैं, परन्तु सभी अपूर्ण हैं।

२–तत्त्वार्थवृत्ति—यह श्रुतसागरटीकाके नामसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी एक प्रति बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वती भवनमें मौजूद है जो वि० सं० १८४२ की लिखी हुई है। श्लोकसंख्या नौ हजार है। इसकी एक भाषावचनिका भी हो चुकी है।

३–तत्त्वत्रयप्रकाशिका—श्री शुभचन्द्राचार्यके ज्ञानार्णव या योगप्रदीपके अन्तर्गत जो गद्यभाग है, यह उसीकी टीका है। इसकी एक प्रति स्व० सेठ माणिकचन्द्रजीके ग्रन्थसंग्रहमें है।

४–जिनसहस्रनामटीका—यह पं० आशाधरकृत सहस्रनामकी विस्तृत टीका है। इसकी भी एक प्रति उक्त सेठजीके ग्रन्थसंग्रहमें है। पं० आशाधरने अपने सहस्रनामकी स्वयं भी एक टीका लिखी है जो उपलब्ध है।

५–औदार्य चिन्तामणि—यह प्राकृतव्याकरण है और हेमचन्द्र तथा त्रिविक्रमके व्याकरणोंसे बड़ा है। इसकी प्रति बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वतीभवनमें है ( ४६८ क ), जिसकी पत्रसंख्या ५६ है। यह स्वोपज्ञवृत्तियुक्त है।

६–महाभिषेक टीका—पं० आशाधरके नित्यमहोद्योतकी यह टीका है। यह उस समय बनाई गई है जबकि श्रुतसागर देशव्रती या ब्रह्मचारी थे।

७–व्रतकथाकोश—इसमें आकाशपञ्चमी, मुकुटसप्तमी, चन्दनषष्ठी, अष्टाह्निका आदि व्रतोंकी कथायें हैं। इसकी भी एक प्रति बम्बईके सरस्वती भवनमें है और यह भी उनकी देशव्रती या ब्रह्मचारी अवस्थाकी रचना है।

८–श्रुतस्कन्धपूजा—यह छोटी-सी नौ पत्रोंकी पुस्तक है। इसकी भी एक प्रति बंबईके सरस्वती-भवनमें है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके सिवाय श्रुतसागरके और भी कई ग्रन्थोंके[1] नाम ग्रन्थसूचियोंमें मिलते हैं। परन्तु उनके विषयमें जबतक वे देख न लिये जायँ, निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

## समय विचार

इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें रचनाका समय नहीं दिया है परन्तु यह प्रायः निश्चित है कि ये विक्रमकी १३वीं शताब्दीमें हुए हैं। क्योंकि—

१–महाभिषेककी टीकाकी जिस प्रतिकी प्रशस्ति आगे दी गई है वह विक्रम संवत् १५८२ की लिखी हुई है और वह भट्टारक मल्लिभूषणके उत्तराधिकारी लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञानसागरके पढ़नेके लिये दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्रका उल्लेख श्रुतसागरने स्वयं अपने टीका ग्रन्थोंमें कई जगह किया है।

२–ब्र० नेमिदत्तने श्रीपालचरित्रकी रचना वि० सं० १५८५में की थी और वे मल्लिभूषणके शिष्य थे। आराधनाकथाकोशकी प्रशस्तिमें उन्होंने मल्लिभूषणका [2]गुरु रूपमें उल्लेख किया है और साथ ही श्रुतसागरका भी जयकार[3] किया है, अर्थात् कथाकोशकी रचनाके समय श्रुतसागर मौजूद थे।

३–स्व० बाबा दुलीचन्दजीकी सं० १९५४में लिखी गई ग्रन्थसूचीमें श्रुतसागरका समय वि० सं० १५५० लिखा हुआ है।

४–षट्प्राभृतटीकामें लोंकागच्छपर तीव्र आक्रमण किये गये हैं और यह गच्छ वि० सं० १५३०के लगभग स्थापित हुआ था। अतएव उससे ये कुछ समय पीछे ही हुए होंगे। सम्भव है, ये लोंकाशाहके समकालीन ही हों।[4]

---

१. पं० परमानन्दजीने अपने लेखमें सिद्धभक्ति टीका, सिद्धचक्राष्टक पूजा टीका, श्रीपालचरित, यशोधरचरित ग्रन्थोंके भी नाम दिए हैं। इन्होंने व्रतकथाकोशके अन्तर्गत २४ कथाओंको स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर ग्रन्थ संख्या ३६ कर दी है। इसका कारण बताया है कि—चूँकि भिन्न-भिन्न कथाएं भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके लिए विभिन्न व्यक्तियोंके अनुरोधसे बनाई हैं अतः वे सब स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। यथा पल्यविधान व्रतकथा ईडरके राठौर वंशी राजा भानुभूपति ( समय वि० सं० १५५२ के बाद ) के राज्यकालमें मल्लिभूषण गुरुके उपदेशसे रची गई है।

२. श्री भट्टारक मल्लिभूषणगुरुर्भूयात्सतां शर्मणे ॥ ६ ॥

३. जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतिनिचयलसत्पुण्यपण्यः श्रुताब्धिः ॥ ७१ ॥

४. पं० परमानन्दजी सरसावाने अपने ब्रह्मश्रुतसागर और उनका साहित्य लेखमें लिखा है कि—भट्टारक विद्यानन्दिके वि० सं० १४९९ से वि० १५२३ तकके ऐसे मूर्ति लेख पाए जाते हैं जिनकी प्रतिष्ठाएँ विद्यानन्दिने स्वयं की हैं अथवा जिनमें आ० विद्यानन्दिके उपदेशसे प्रतिष्ठित होनेका समुल्लेख पाया जाता है आदि। श्रीमान् प्रेमीजीकी सूचनानुसार मैंने मूर्ति लेखोंकी खोज की तो नाहरजी कृत जैनलेख-संग्रह लेख नं० १८० में संवत् १५३३ में विद्यानन्दि भट्टारकका उल्लेख है तथा लेख नं० २८६ में संवत् १५३५ में विद्यानन्दि गुरुका उल्लेख है। इसी तरह 'दानवीर माणिकचन्द' पुस्तक पृ० ४ पर एक धातुकी प्रतिमाका लेख सं० १४२९ का है जिसमें विद्यानन्दि गुरुका उल्लेख है। यदि यह संवत् ठीक है तो भट्टारक विद्यानन्दिका समय १४२९ से १५३४ तक मानना होगा और इनके शिष्य श्रुतसागरका समय भी १६वीं सदी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## ग्रन्थ-प्रशस्तियाँ

१— श्री विद्यानन्दिगुरोर्बुद्धिगुरोः पादपङ्कजभ्रमरः ।
श्री श्रुतसागर इति देशव्रती तिलकष्टीकते स्मेदम् ॥

इति ब्रह्मश्रीश्रुतसागर कृता महाभिषेक टीका समाप्ता ।

२— संवत् १५५२ वर्षे चैत्रमासे शुक्लपक्षे पञ्चम्यां तिथौ रवौ श्रीआदिजिनचैत्यालय श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीदेवेन्द्रकीर्ति-देवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीविद्यानन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्र-देवास्तेषां शिष्यवरब्रह्मश्रीज्ञानसागरपठनार्थं आर्याश्रीविमलचेली भट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रदीक्षिता विनयश्रिया स्वयं लिखित्वा प्रदत्तं महाभिषेकभाष्यम् । शुभं भवतु । कल्याणं भूयात् श्रीरस्तु ॥

—आशाधरकृतमहाभिषेककी टीका[1]

३— इति श्रीपद्मनन्दि-देवेन्द्रकीर्ति-विद्यानन्दि-मल्लिभूषणाम्नायेन भट्टारकश्रीमल्लिभूषणगुरुपरमा-भीष्टगुरुभ्रात्रा गुर्जरदेशसिंहासनस्थभट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्राभिमतेन मालवदेशभट्टारकश्रीसिंहनन्दिप्रार्थनया यतिश्रीसिद्धान्तसागरव्याख्याकृतिनिमित्तं नवनवतिमहावादिस्याद्वादलब्धविजयेन तर्क-व्याकरणछन्दोलंकार-सिद्धान्तसाहित्यादिशास्त्रनिपुणमतिना व्याकरणाद्यनेकशास्त्रचुञ्चुना सूरिश्रीश्रुतसागरेण विरचितायां यशस्ति-लकचन्द्रिकाभिधानायां यशोधरमहाराजचरितचम्पूमहाकाव्यटीकायां यशोधरमहाराजराजलक्ष्मीविनोदवर्णनं नाम तृतीयाश्वासचन्द्रिका परिसमाप्ता ।

—यशस्तिलकटीका

४— श्रीपद्मनन्दिपरमात्मपरः पवित्रो देवेन्द्रकीर्तिरथ साधुजनाभिवन्द्यः ।
विद्यादिनन्दिवरसूरिरनल्पबोधः श्रीमल्लिभूषण इतोऽस्तु च मङ्गलं मे ॥
अदः पट्टे भट्टादिकमतघटापट्टनपटु-
घटद्धर्मव्याप्तः स्फुटपरमभट्टारकपदः ।
प्रभापुञ्जः सद्यद्विजितवरवीरस्मरनरः
सुधीर्लक्ष्मीचन्द्रश्चरणचतुरोऽसौ विजयते ॥ ३ ॥
आलम्बनं सुविदुषां हृदयाम्बुजानामानन्दनं मुनिजनस्य विमुक्तिसेतोः ।
सट्टीकनं विविधशास्त्रविचारचारुचेतश्चमत्कृत्कृतं श्रुतसागरेण ॥ ४ ॥
श्रुतसागरकृतिवरवचनामृतपानमत्र यैर्विहितम् ।
जन्मजरामरणहरं निरन्तरं तैः शिवं लब्धम् ॥ ५ ॥
अस्ति स्वस्ति समस्तसङ्घतिलकं श्रीमूलसङ्घोऽनघं,
वृत्तं यत्र मुमुक्षुवर्गशिवदं संसेवितं साधुभिः ।
विद्यानन्दिगुरुस्त्विहास्ति गुणवद्गच्छे गिरः साम्प्रतं,
तच्छिष्यश्रुतसागरेण रचिता टीका चिरं नन्दतु ॥ ६ ॥

इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां जिननामसहस्रटीकायाम् तत्त्वार्थसूत्रविवरणो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥
श्रीविद्यानन्दिगुरुभ्यो नमः ।

—जिनसहस्रनामटीका

---

१. स्व० सेठ माणिकचन्द्रजी जौहरीके भण्डारकी प्रति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५— आचार्यैरिह शुद्धतत्त्वमतिभिः श्रीसिंहनन्द्याह्वयैः
सम्प्रार्थ्य श्रुतसागरं कृतिवरं भाष्यं शुभं कारितम् ।
गद्यानां गुणवत्प्रियं विनयतो ज्ञानार्णवस्यान्तरे
विद्यानन्दिगुरुप्रसादजनितं देयादमेयं सुखम् ॥
इति श्री ज्ञानार्णवस्थितगद्यटीका तत्त्वत्रयप्रकाशिका समाप्ता ।

—तत्त्वत्रयप्रकाशिका

६— इत्युभयभाषाकविचक्रवर्तिव्याकरणकमलमार्तण्डतार्किकशिरोमणि-परमागमप्रवीण-सूरिश्रीदेवेन्द्रकीर्ति-प्रशिष्यमुमुक्षुविद्यानन्दिभट्टारकान्तेवासि श्रीमूलसंघपरमात्मविदुष ( ? ) सूरिश्रीश्रुतसागरविरचिते औदार्य-चिन्तामणिनाम्नि स्वोपज्ञवृत्तिनि प्राकृतव्याकरणे संयुक्ताव्ययनिरूपणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

—औदार्य चिन्तामणि

७— सुदेवेन्द्रकीर्तिश्च विद्यादिनन्दी गरीयान् गुरुर्मेऽर्हदादिप्रबन्दी ।
तयोर्विद्धि मां मूलसङ्घे कुमारं श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥
सम्यक्त्वसुरत्नं सकलजन्तुकरुणाकरणम् ।
श्रुतसागरमेतं भजत समेतं निखिलजने परितः शरणम् ॥

—इति श्रुतस्कन्धपूजाविधिः ।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# जैनदर्शन और विश्वशान्ति

विश्वशान्तिके लिए जिन विचारसहिष्णुता, समझौतेकी भावना, वर्ण, जाति, रंग और देश आदिके भेदके बिना सबके समानाधिकारकी स्वीकृति, व्यक्तिस्वातन्त्र्य और दूसरेके आन्तरिक मामलोंमें हस्तक्षेप न करना आदि मूलभूत आधारोंकी अपेक्षा है उन्हें दार्शनिक भूमिकापर प्रस्तुत करनेका कार्य जैनदर्शनने बहुत पहलेसे किया है। उसने अपनी अनेकान्तदृष्टिसे विचारनेकी दिशामें उदारता, व्यापकता और सहिष्णुताका ऐसा पल्लवन किया है, जिससे व्यक्ति दूसरेके दृष्टिकोणको भी वास्तविक और तथ्यपूर्ण मान सकता है। इसका स्वाभाविक फल है कि समझौतेकी भावना उत्पन्न होती है। जब तक हम अपने ही विचार और दृष्टिकोणको वास्तविक और तथ्य मानते हैं तब तक दूसरेके प्रति आदर और प्रामाणिकताका भाव ही नहीं हो पाता। अतः अनेकान्तदृष्टि दूसरोंके दृष्टिकोणके प्रति सहिष्णुता, वास्तविकता और समादरका भाव उत्पन्न करती है।

जैनदर्शन अनन्त आत्मवादी है। वह प्रत्येक आत्माको मूलमें समानस्वभाव और समानधर्मवाला मानता है। उनमें जन्मना किसी जातिभेद या अधिकारभेदको नहीं मानता। वह अनन्त जड़पदार्थोंका भी स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। इस दर्शनने वास्तव बहुत्वको मानकर व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी साधार स्वीकृति दी है। वह एक द्रव्यके परिणमनपर दूसरे द्रव्यका अधिकार नहीं मानता। अतः किसी भी प्राणीके द्वारा दूसरे प्राणी का शोषण, निर्दलन या स्वायत्तीकरण ही अन्याय है। किसी चेतनका अन्य जड़ पदार्थोंको अपने अधीन करने की चेष्टा करना भी अनधिकार चेष्टा है। इसी तरह किसी देश या राष्ट्रका दूसरे देश या राष्ट्रको अपने अधीन करना, उसे अपना उपनिवेश बनाना ही मूलतः अनधिकार चेष्टा है, अतएव हिंसा और अन्याय है।

वास्तविक स्थिति ऐसी होनेपर भी जब आत्माका शरीरसंधारण और समाजनिर्माण जड़पदार्थोंके बिना संभव नहीं है; तब यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि आखिर शरीरयात्रा, समाजनिर्माण और राष्ट्रसंरक्षा आदि कैसे किए जाँय? जब अनिवार्य स्थितिमें जड़पदार्थोंका संग्रह और उनका यथोचित विनियोग आवश्यक हो गया, तब यह उन सभी आत्माओंको ही समान भूमिका और समान अधिकारसे चादरपर बैठकर सोचना चाहिये कि 'जगत्के उपलब्ध साधनोंका कैसे विनियोग हो?" जिससे प्रत्येक आत्माका अधिकार सुरक्षित रहे और ऐसी समाजका निर्माण संभव हो सके, जिसमें सबको समान अवसर और सबकी समानरूपसे प्रारम्भिक आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सके। यह व्यवस्था ईश्वरनिर्मित होकर या जन्मजात वर्गसंरक्षणके आधारसे कभी नहीं जम सकती, किन्तु उन सभी समाजके घटक अंगोंकी जाति, वर्ण, रंग और देश आदिके भेदके बिना निरुपाधि समानस्थितिके आधारसे ही बन सकती है। समाजव्यवस्था ऊपरसे बदलनी नहीं चाहिये, किन्तु उसका विकास सहयोगपद्धतिसे सामाजिक भावनाकी भूमिपर होना चाहिये, तभी सर्वोदयी समाज-रचना हो सकती है। जैनदर्शनने व्यक्तिस्वातन्त्र्यको मूलरूपमें मानकर सहयोगमूलक समाजरचना का दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया है। इसमें जब प्रत्येक व्यक्ति परिग्रहके संग्रहको अनधिकारवृत्ति मानकर ही अनिवार्य या अत्यावश्यक साधनोंके संग्रहमें प्रवृत्ति करेगा, सो भी समाजके घटक अन्य व्यक्तियोंको समानाधिकारी समझकर उनकी भी सुविधाका विचार करके ही; तभी सर्वोदयी समाजका स्वस्थ निर्माण संभव हो सकेगा।

निहित स्वार्थवाले व्यक्तियोंने जाति, वंश और रंग आदिके नामपर जो अधिकारोंका संरक्षण ले रखा है तथा जिन व्यवस्थाओंने वर्गविशेषको संरक्षण दिये हैं, वे मूलतः अनधिकार चेष्टाएँ हैं। उन्हें मानव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हित और नवसमाजरचनाके लिए स्वयं समाप्त होना ही चाहिए और समान अवसरवाली परम्पराका सर्वाभ्युदयकी दृष्टिसे विकास होना चाहिए।

इस तरह अनेकान्तदृष्टिसे विचारसहिष्णुता और परसम्मानकी वृत्ति जग जानेपर मन दूसरेके स्वार्थ को अपना स्वार्थ माननेकी ओर प्रवृत्त होकर समझौतेकी ओर सदा झुकने लगता है। जब उसके स्वाधिकार के साथ-ही-साथ स्वकर्त्तव्यका भी भाव उदित होता है; तब वह दूसरेके आन्तरिक मामलोंमें जबरदस्ती टाँग नहीं अड़ाता। इस तरह विश्वशान्तिके लिए अपेक्षित विचारसहिष्णुता, समानाधिकारकी स्वीकृति और आन्तरिक मामलोंमें अहस्तक्षेप आदि सभी आधार एक व्यक्तिस्वातन्त्र्यके मान लेनेसे ही प्रस्तुत हो जाते हैं। और जब तक इन सर्वसमतामूलक अहिंसक आधारोंपर समाजरचनाका प्रयत्न न होगा, तब तक विश्वशान्ति स्थापित नहीं हो सकती। आज मानवका दृष्टिकोण इतना विस्तृत, उदार और व्यापक हो गया है जो वह विश्वशान्तिकी बात सोचने लगा है। जिस दिन व्यक्तिस्वातन्त्र्य और समानाधिकारकी बिना किसी विशेषसंरक्षणके सर्वसामान्यप्रतिष्ठा होगी, वह दिन मानवताके मंगलप्रभातका पुण्यक्षण होगा। जैनदर्शनने इन आधारोंको सैद्धान्तिक रूप देकर मानवकल्याण और जीवनकी मंगलमय निर्वाहपद्धतिके विकासमें अपना पूरा भाग अर्पित किया है। और कभी भी स्थायी विश्वशान्ति यदि संभव होगी, तो इन्हीं मूल आधारोंपर ही वह प्रतिष्ठित हो सकती है।

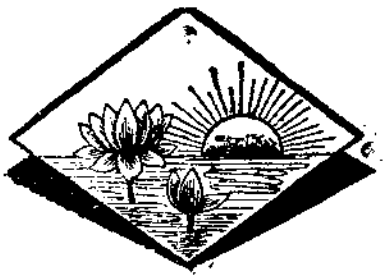
भारत राष्ट्रके प्राण पं० जवाहरलाल नेहरूने विश्वशान्तिके लिए जिन पंचशील या पंचशिलाओंका उद्घोष किया था और बाडुङ्ग सम्मेलनमें जिन्हें सर्वसंमतिसे स्वीकृति मिली, उन पंचशीलोंकी बुनियाद अनेकान्तदृष्टि—समझौतेकी वृत्ति, सहअस्तित्वकी भावना, समन्वयके प्रति निष्ठा और वर्ण, जाति, रंग आदिके भेदोंसे ऊपर उठकर मानवमात्रके सम-अभ्युदयकी कामनापर ही तो रखी गई है। और इन सबके पीछे है मानवका सम्मान और अहिंसामूलक आत्मौपम्यकी हार्दिक श्रद्धा। आज नवोदित भारतकी इस सर्वोदयी परराष्ट्रनीतिने विश्वको हिंसा, संघर्ष और युद्धके दावानलसे मोड़कर सहअस्तित्व, भाईचारा और समझौते की सद्भावनारूप अहिंसाकी शीतल छायामें लाकर खड़ा कर दिया है। वह सोचने लगा है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपनी जगह जीवित रहनेका अधिकार है, उसका अस्तित्व है, परके शोषणका उसे गुलाम बनानेका कोई अधिकार नहीं है, परमें उसका अस्तित्व नहीं है। यह परके मामलोंमें अहस्तक्षेप और स्वास्तित्वकी स्वीकृति ही विश्वशान्तिका मूलमन्त्र है। यह सिद्ध हो सकती है—अहिंसा, अनेकान्तदृष्टि और जीवनमें भौतिक साधनोंकी अपेक्षा मानवके सम्मानके प्रति निष्ठा होनेसे। भारत राष्ट्रने तीर्थङ्कर महावीर और बोधिसत्त्व गौतमबुद्ध आदि सन्तोंकी अहिंसाको अपने संविधान और परराष्ट्रनीतिका आधार बनाकर विश्वको एक बार फिर भारतकी आध्यात्मिकताकी झाँकी दिखा दी है। आज उन तीर्थङ्करोंकी साधना और तपस्या सफल हुई है कि समस्त विश्व सह-अस्तित्व और समझौतेकी वृत्तिकी ओर झुककर अहिंसकभावनासे मानवताकी रक्षाके लिए सन्नद्ध हो गया है।

व्यक्तिकी मुक्ति, सर्वोदयी समाजका निर्माण और विश्वकी शान्तिके लिए जैनदर्शनके पुरस्कर्ताओंने यही निधियाँ भारतीय संस्कृतिके आध्यात्मिक कोषागारमें आत्मोत्सर्ग और निर्ग्रन्थताकी तिल-तिल साधना करके संजोई है। आज वह धन्य हो गया कि उसकी उस अहिंसा, अनेकान्तदृष्टि और अपरिग्रहभावनाकी ज्योतिसे विश्वका हिंसान्धकार समाप्त होता जा रहा है और सब सबके उदयमें अपना उदय मानने लगे हैं।

राष्ट्रपिता पूज्य बापूकी आत्मा इस अंशमें सन्तोषकी साँस ले रही होगी कि उनने अहिंसा संजीवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का व्यक्ति और समाजसे आगे राजनैतिक क्षेत्रमें उपयोग करनेका जो प्रशस्त मार्ग सुझाया था और जिसकी अटूट श्रद्धामें उनने अपने प्राणोंका उत्सर्ग किया, आज भारतने दृढ़तासे उसपर अपनी निष्ठा ही व्यक्त नहीं की, किन्तु उसका प्रयोग नव एशियाके जागरण और विश्वशान्तिके क्षेत्रमें भी किया है। और भारतकी 'भा' इसीमें है कि वह अकेला भी इस आध्यात्मिक दीपको संजोता चले, उसे स्नेह दान देता हुआ उसीमें जलता चले और प्रकाशकी किरणें बखेरता चले। जीवनका सामंजस्य, नवसमाजनिर्माण और विश्वशान्तिके यही मूलमन्त्र हैं। इनका नाम लिये बिना कोई विश्वशान्तिकी बात भी नहीं कर सकता।





Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तत्त्व-निरूपण

## तत्त्वव्यवस्थाका प्रयोजन

पदार्थव्यवस्थाकी दृष्टिसे यह विश्व षट्द्रव्यमय है, परन्तु मुमुक्षुको जिनके तत्त्वज्ञानकी आवश्यकता मुक्तिके लिए है, वे तत्त्व सात हैं। जिस प्रकार रोगीको रोग-मुक्तिके लिए रोग, रोगके कारण, रोगमुक्ति और रोगमुक्तिका उपाय इन चार बातोंका जानना चिकित्साशास्त्रमें आवश्यक बताया है, उसी तरह मोक्ष-की प्राप्तिके लिए संसार, संसारके कारण, मोक्ष और मोक्षके उपाय इस मूलभूत चतुर्व्यूहका जानना नितान्त आवश्यक है। विश्वव्यवस्था और तत्त्वनिरूपणके जुदे-जुदे प्रयोजन हैं। विश्वव्यवस्थाका ज्ञान न होनेपर भी तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी साधना की जा सकती है, पर तत्त्वज्ञान न होनेपर विश्वव्यवस्थाका समग्र ज्ञान भी निरर्थक और अनर्थक हो सकता है।

रोगीके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह अपनेको रोगी समझे। जब तक उसे अपने रोगका भान नहीं होता, तब तक वह चिकित्साके लिए प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। रोगके ज्ञानके बाद रोगीको यह जानना भी आवश्यक है कि उसका रोग नष्ट हो सकता है। रोगकी साध्यताका ज्ञान ही उसे चिकित्सामें प्रवृत्ति कराता है। रोगीको यह जानना भी आवश्यक है कि यह रोग अमुक कारणोंसे उत्पन्न हुआ है, जिससे वह भविष्यमें उन अपथ्य आहार-विहारोंसे बचा रहकर अपनेको नीरोग रख सके। रोगको नष्ट करनेके उपायभूत औषधोपचारका ज्ञान तो आवश्यक है ही; तभी तो मौजूदा रोगका औषधोपचारसे समूल नाश करके वह स्थिर आरोग्यको पा सकता है। इसी तरह 'आत्मा बँधा है, इन कारणोंसे बँधा है, वह बन्धन टूट सकता है और इन उपायोंसे टूट सकता है।' इन मूलभूत चार मुद्दोंमें तत्त्वज्ञानकी परिसमाप्ति भारतीय दर्शनोंने की है।

## बौद्धोंके चार आर्यसत्य

म० बुद्धने भी निर्वाणके लिए चिकित्साशास्त्रकी तरह दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्योंका[1] उपदेश दिया है। वे कभी भी 'आत्मा क्या है, परलोक क्या है' आदिके दार्शनिक विवादोंमें न तो स्वयं गये और न शिष्योंको ही जाने दिया। इस सम्बन्धका बहुत उपयुक्त उदाहरण मिलिन्द प्रश्नमें दिया गया है कि 'जैसे किसी व्यक्तिको विषसे बुझा हुआ तीर लगा हो और जब बन्धुजन उस तीरको निकालनेके लिए विषवैद्यको बुलाते हैं, तो उस समय उसकी यह मीमांसा करना जिस प्रकार निरर्थक है कि 'यह तीर किस लोहेसे बना है? किसने इसे बनाया? कब बनाया यह कबतक स्थिर रहेगा? यह विषवैद्य किस गोत्रका है?' उसी तरह आत्माकी नित्यता और परलोक आदिका विचार निरर्थक है, वह न तो बोधिके लिए और न निर्वाणके लिए ही उपयोगी है।

इन आर्यसत्योंका वर्णन इस प्रकार है। दुःख-सत्य—जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, मरण भी दुःख है, शोक, परिवेदन, विकलता, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, इष्टाप्राप्ति आदि सभी दुःख हैं। संक्षेपमें पाँचों उपादान स्कन्ध ही दुःखरूप हैं। समुदय-सत्य—कामकी तृष्णा, भवकी तृष्णा और विभवकी तृष्णा दुःखको उत्पन्न करनेके कारण समुदय कही जाती है। जितने इन्द्रियोंके प्रिय विषय हैं, इष्ट रूपादि हैं, इनका

---

१. "सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा।
निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमयं क्रमः॥"—अभिध० को० ६।२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वियोग न हो, वे सदा बने रहें, इस तरह उनसे संयोगके लिए चित्तकी अभिनन्दिनी वृत्तिको तृष्णा कहते हैं। यही तृष्णा समस्त दुःखोंका कारण है। निरोध-सत्य—तृष्णाके अत्यन्त निरोध या विनाशको निरोध-आर्यसत्य कहते हैं। दुःख-निरोधका मार्ग है—आष्टांगिक मार्ग। सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वचन, सम्यक्कर्म, सम्यक् आजीवन, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। नैरात्म्य-भावना ही मुख्य-रूपसे मार्ग है। बुद्धने आत्मदृष्टि या सत्त्वदृष्टिको ही मिथ्यादर्शन कहा है। उनका कहना[1] है कि एक आत्माको शाश्वत या स्थायी समझकर ही व्यक्ति स्नेहवश उसके सुखमें तृष्णा करता है। तृष्णाके कारण उसे दोष नहीं दिखाई देते और गुणदर्शन कर पुनः तृष्णावश सुखसाधनोंमें ममत्व करता है। उन्हें ग्रहण करता है। तात्पर्य यह कि जब तक 'आत्माभिनिवेश' है तब तक वह संसारमें रुलता है। इस एक आत्माके माननेसे वह अपनेको स्व और अन्यको पर समझता है। स्व-परविभागसे राग और द्वेष होते हैं, और ये राग-द्वेष ही समस्त संसार परम्पराके मूल स्रोत हैं। अतः इस सर्वानर्थमूल[2] आत्मदृष्टिका नाश कर नैरात्म्य-भावनासे दुःख-निरोध होता है।

**बुद्धका दृष्टिकोण**

उपनिषद्का तत्त्वज्ञान जहाँ आत्मदर्शनपर जोर देता है और आत्मदर्शनको ही मोक्षका परम साधन मानता है और मुमुक्षके लिए आत्मज्ञानको ही जीवनका सर्वोच्च साध्य समझता है, वहाँ बुद्धने इस आत्म-दर्शनको ही संसारका मूल कारण माना है। आत्मदृष्टि, सत्त्वदृष्टि, सत्कायदृष्टि, ये सब मिथ्यादृष्टियाँ हैं। औपनिषद तत्त्वज्ञानकी ओटमें, याज्ञिक क्रियाकाण्डको जो प्रश्रय मिल रहा था उसीकी यह प्रतिक्रिया थी कि बुद्धको 'आत्मा' शब्दसे ही घृणा हो गई थी। आत्माको स्थिर मानकर उसे स्वर्गप्राप्ति आदिके प्रलोभन से अनेक क्रूर यज्ञोंमें होनेवाली हिंसाके लिए उकसाया जाता था। इस शाश्वत आत्मवादसे ही राग और द्वेषकी अमरबेलें फैलती हैं। मजा तो यह है कि बुद्ध और उपनिषद्वादी दोनों ही राग, द्वेष और मोहका अभाव कर वीतरागता और वासनानिर्मुक्तिको अपना चरम लक्ष्य मानते थे, पर साधन दोनोंके इतने जुदे थे कि एक जिस आत्मदर्शनको मोक्षका कारण मानता था, दूसरा उसे संसारका मूलबीज। इसका एक कारण और भी था कि बुद्धका मानस दार्शनिककी अपेक्षा सन्त ही अधिक था। वे ऐसे गोलगोल शब्दोंको बिलकुल हटा देना चाहते थे, जिनका निर्णय न हो सके या जिनकी ओटमें मिथ्या धारणाओं और अन्धविश्वासोंकी सृष्टि होती हो। 'आत्मा' शब्द उन्हें ऐसा ही लगा। बुद्धकी नैरात्म्य-भावनाका उद्देश्य 'बोधिचर्यावतार' (पृ० ४४९) में इस प्रकार बताया है—

'यतस्ततो वाऽस्तु भयं यद्यहं नाम किंचन।
अहमेव न किञ्चिच्चेत् कस्य भीतिर्भविष्यति।"

---

१. "यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत्स संसारे॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयो. सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥" —प्र० वा० १।२१९-२१

२. "तस्मादनादिसन्ततितुल्यजातीयबीजिकाम्।
उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः॥" —प्रमाणवा० १।२५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—यदि 'मैं नामका कोई पदार्थ होता तो उसे इससे या उससे भय हो सकता था, परन्तु जब 'मैं' ही नहीं है, तब भय किसे होगा ?

बुद्ध जिस प्रकार इस 'शश्वत आत्मवाद' रूपी एक अन्तको खतरा मानते थे, उसी तरह वे भौतिकवादको भी दूसरा अन्त समझकर उसे खतरा ही मानते थे। उन्होंने न तो भौतिकवादियोंके उच्छेदवादको ही माना और न उपनिषद्वादियोंके शाश्वतवादको ही। इसीलिए उनका मत 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' के रूपमें व्यवहृत होता है। उन्होंने आत्मासम्बन्धी प्रश्नोंको अव्याकृत कोटिमें डाल दिया था और भिक्षुओंको स्पष्ट रूपसे कह दिया था कि 'आत्माके सम्बन्धमें कुछ भी कहना या सुनना न बोधिके लिए, न ब्रह्मचर्यके लिए और न निर्वाणके लिए ही उपयोगी है।' इस तरह बुद्धने उस आत्माके ही सम्बन्धमें कोई भी निश्चित बात नहीं कही, जिसे दुःख होता है और जो दुःख-निवृत्तिकी साधना करना चाहता है।

## १. आत्मतत्त्व :

### जैनोंके सात तत्त्वोंका मूल आत्मा

निग्गंठ नाथपुत्त महाश्रमण महावीर भी वैदिक क्रियाकाण्डको निरर्थक और श्रेयःप्रतिरोधी मानते थे, जितना कि बुद्ध। वे आचार अर्थात् चारित्रको ही मोक्षका अन्तिम साधन मानते थे। परन्तु उनने यह साक्षात्कार किया कि जब तक विश्वव्यवस्था और खासकर उस आत्माके विषयमें शिष्य निश्चित विचार नहीं बना लेते, जिस आत्माको दुःख होता है और जिसे निर्वाण पाना है, तब तक वे मानससंशयसे मुक्त होकर साधना कर ही नहीं सकते। जब मगध और विदेहके कोनेमें ये प्रश्न गूँज रहे हों कि—'आत्मा देहरूप है या देहसे भिन्न ? परलोक क्या है ? निर्वाण क्या है ?' और अन्य तीर्थिक इन सबके सम्बन्धमें अपने मतोंका प्रचार कर रहे हों, और इन्हीं प्रश्नोंपर वाद रोपे जाते हों, तब शिष्योंको यह कहकर तत्काल भले ही चुप कर दिया जाय कि "क्या रखा है इस विवादमें कि आत्मा क्या है और कैसी है ? हमें तो दुःख-निवृत्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिये।" परन्तु इससे उनके मनकी शल्य और बुद्धिकी विचिकित्सा नहीं निकल सकती थी, और वे इस बौद्धिक हीनता और विचार-दीनताके हीनतर भावोंसे अपने चित्तकी रक्षा नहीं कर सकते थे। संघमें तो विभिन्न मतवादियोंके शिष्य, विशेषकर वैदिक ब्राह्मण विद्वान् भी दीक्षित होते थे। जब तक इन सब पंचमेल व्यक्तियोंके, जो आत्माके विषयमें विभिन्न मत रखते थे और उसकी चर्चा भी करते थे; संशयका वस्तुस्थितिमूलक समाधान न हो जाता, तब तक वे परस्पर समता और मानस अहिंसाका वातावरण नहीं बना सकते थे। कोई भी धर्म अपने सुस्थिर और सुदृढ़ दर्शनके बिना परीक्षक-शिष्योंको अपना अनुयायी नहीं बना सकता। श्रद्धामूलक भावना तत्काल कितना ही समर्पण क्यों न करा ले पर उसका स्थायित्व विचारशुद्धिके बिना कथमपि संभव नहीं है।

यही कारण है कि भगवान् महावीरने उस मूलभूत आत्मतत्त्वके स्वरूपके विषयमें मौन नहीं रखा और अपने शिष्योंको यह बताया कि धर्म वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति ही है। जिस वस्तुका जो स्वरूप है, उसका उस पूर्ण स्वरूपमें स्थिर होना ही धर्म है। अग्नि जब तक अपनी उष्णताको कायम रखती है, तबतक वह धर्मस्थित है। यदि दीपशिखा वायुके झोंकोंसे स्पन्दित हो रही है और चंचल होनेके कारण अपने निश्चल स्वरूपसे च्युत हो रही है, तो कहना होगा कि वह उतने अंशमें धर्मस्थित नहीं है। जल जब तक स्वाभाविक शीतल है, तभी तक धर्म-स्थित है। यदि वह अग्निके संसर्गसे स्वरूपच्युत होकर गर्म हो जाता है, तो वह धर्म-स्थित नहीं है। इस परसंयोगजन्य विकार-परिणतिको हटा देना ही जलकी धर्म-प्राप्ति है। उसी तरह आत्माका वीतरागत्व, अनन्तचैतन्य, अनन्तसुख आदि स्वरूप परसंयोगसे राग, द्वेष, तृष्णा, दुःख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि विकाररूपसे परिणत होकर अधर्म बन रहा है। जबतक आत्माके यथार्थ स्वरूपका निश्चय और वर्णन न किया जाय तब तक यह विकारी आत्मा कैसे अपने स्वतन्त्र स्वरूपको पानेके लिए उच्छ्वास भी ले सकता है ? रोगीको जब तक अपने मूलभूत आरोग्य स्वरूपका ज्ञान न हो तब तक उसे यही निश्चय नहीं हो सकता कि मेरी यह अस्वस्थ अवस्था रोग है। वह उस रोगको विकार तो तभी मानेगा जब उसे अपनी आरोग्य अवस्थाका यथार्थ दर्शन हो, और जब तक वह रोगको विकार नहीं मानता तब तक वह रोग-निवृत्तिके लिए चिकित्सामें क्यों प्रवृत्ति करेगा ? जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा स्वरूप तो आरोग्य है, अपथ्यसेवन आदि कारणोंसे मेरा मूल स्वरूप विकृत हो गया है, तभी वह उस स्वरूपभूत आरोग्यकी प्राप्तिके लिए चिकित्सा कराता है। रोगनिवृत्ति स्वयं साध्य नहीं है, साध्य है स्वरूपभूत आरोग्यकी प्राप्ति। उसी तरह जब तक उस मूल-भूत आत्माके स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान नहीं होगा और परसंयोगसे होनेवाले विकारोंको आगन्तुक होनेसे विनाशी न माना जायगा, तब तक दुःखनिवृत्तिके लिए प्रयत्न ही नहीं बन सकता।

यह ठीक है कि जिसे बाण लगा है, उसे तत्काल प्राथमिक सहायता ( First aid ) के रूपमें आवश्यक है कि वह पहले तीरको निकलवा ले; किन्तु इतनेमें ही उसके कर्त्तव्यकी समाप्ति नहीं हो जाती। वैद्यको यह अवश्य देखना होगा कि वह तीर किस विषसे बुझा हुआ है और किस वस्तुका बना हुआ है। यह इसलिए कि शरीरमें उसने कितना विकार पैदा किया होगा और उस घावको भरनेके लिए कौन-सी मलहम आवश्यक होगी। फिर यह जानना भी आवश्यक है कि वह तीर अचानक लग गया या किसीने दुश्मनीसे मारा है और ऐसे कौन उपाय हो सकते हैं, जिनसे आगे तीर लगनेका अवसर न आवे। यही कारण है कि तीरकी भी परीक्षाकी जाती है, तीर मारनेवालेकी भी तलाशकी जाती है और घावकी गहराई आदि भी देखी जाती है। इसीलिये यह जानना और समझना मुमुक्षुके लिए नितान्त आवश्यक है कि आखिर मोक्ष है क्या वस्तु ? जिसकी प्राप्तिके लिए मैं प्राप्त सुखका परित्याग करके स्वेच्छासे साधनाके कष्ट झेलनेके लिए तैयार होऊँ ? अपने स्वातन्त्र्य स्वरूपका भान किये बिना और उसके सुखद रूपकी झाँकी पाये बिना केवल परतन्त्रता तोड़नेके लिए वह उत्साह और सन्नद्धता नहीं आ सकती, जिसके बलपर मुमुक्षु तपस्या और साधनाके घोर कष्टोंको स्वेच्छासे झेलता है। अतः उस आधारभूत आत्माके मूल स्वरूपका ज्ञान मुमुक्षुको सर्वप्रथम होना ही चाहिए, जो कि बँधा है और जिसे छूटना है। इसीलिए भगवान् महावीरने बंध ( दुःख ), आस्रव ( दुःखके कारण ), मोक्ष ( निरोध ), संवर और निर्जरा ( निरोध-मार्ग ) इन पाँच तत्त्वोंके साथ ही साथ उस जीव तत्त्वका ज्ञान करना भी आवश्यक बताया, जिस जीवको यह संसार होता है और जो बन्धन काटकर मोक्ष पाना चाहता है।

बंध दो वस्तुओंका होता है। अतः जिस अजीवके सम्पर्कसे इसकी विभावपरिणति हो रही है और जिसमें राग-द्वेष करनेके कारण उसकी धारा चल रही है और जिन कर्मपुद्गलोंसे बद्ध होनेके कारण यह जीव स्वस्वरूपसे च्युत है उस अजीवतत्त्वका ज्ञान भी आवश्यक है। तात्पर्य यह कि जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व मुमुक्षुके लिए सर्वप्रथम ज्ञातव्य हैं।

## तत्त्वोंके दो रूप

आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व दो-दो प्रकारके होते हैं। एक द्रव्यरूप और दूसरे भावरूप। जिन मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप आत्मपरिणामोंसे कर्मपुद्गलोंका आना होता है, वे भाव भावास्रव कहे जाते हैं और पुद्गलोंमें कर्मत्वका आ जाना द्रव्यास्रव है; अर्थात् भावास्रव जीवगत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याय है और द्रव्यास्रव पुद्गलगत। जिन कषायोंसे कर्म बँधते हैं वे जीवगत कषायादि भाव भावबंध हैं और पुद्गलकर्मका आत्मासे सम्बन्ध हो जाना द्रव्यबन्ध है। भावबन्ध जीवरूप है और द्रव्यबन्ध पुद्गलरूप। जिन क्षमा आदि धर्म, समिति, गुप्ति और चारित्रोंसे नये कर्मोंका आना रुकता है वे भाव भावसंवर हैं और कर्मोंका रुक जाना द्रव्यसंवर है। इसी तरह पूर्वसंचित कर्मोंका निर्जरण जिन तप आदि भावोंसे होता है वे भाव भावनिर्जरा हैं और कर्मोंका झड़ना द्रव्यनिर्जरा है। जिन ध्यान आदि साधनोंसे मुक्ति प्राप्त होती है वे भाव भावमोक्ष हैं और कर्मपुद्गलोंका आत्मासे सम्बन्ध टूट जाना द्रव्यमोक्ष है।

तात्पर्य यह कि आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तत्त्व भावरूपमें जीवकी पर्याय हैं और द्रव्यरूपमें पुद्गल की। जिस भेदविज्ञानसे—आत्मा और परके विवेकज्ञानसे—कैवल्यकी प्राप्ति होती है उस आत्मा और परमें ये सातों तत्त्व समा जाते हैं। वस्तुतः जिस परकी परतन्त्रताको हटाना है और जिस स्वको स्वतन्त्र होना है उन स्व और परके ज्ञानमें ही तत्त्वज्ञानकी पूर्णता हो जाती है। इसीलिए संक्षेपमें मुक्तिका मूल साधन 'स्वपर-विवेकज्ञान' को बताया गया है।

## तत्त्वोंकी अनादिता

भारतीय दर्शनोंमें सबने कोई-न-कोई पदार्थ अनादि माने ही हैं। नास्तिक चार्वाक भी पृथ्वी आदि महाभूतोंको अनादि मानता है। ऐसे किसी क्षणकी कल्पना नहीं की जा सकती, जिसके पहले कोई अन्य क्षण न रहा हो। समय कबसे प्रारम्भ हुआ और कब तक रहेगा, यह बतलाना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार काल अनादि और अनन्त है और उसकी पूर्वावधि निश्चित नहीं की जा सकती, उसी तरह आकाशकी भी कोई क्षेत्रगत मर्यादा नहीं बताई जा सकती—"सर्वतो हि अनन्तं तत्" आदि अन्त सभी ओरसे आकाश अनन्त है। आकाश और कालकी तरह हम प्रत्येक सत्के विषयमें यह कह सकते हैं कि उसका न किसी खास क्षणमें नूतन उत्पाद हुआ है और न किसी समय उसका समूल विनाश ही होगा।

"भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।"

—पंचास्तिकाय गा० १५

"नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

—भगवद्गीता २।१६

अर्थात्—किसी असत्का सत् रूपसे उत्पाद नहीं होता और न किसी सत्का अत्यन्त विनाश ही होता है। जितने गिने हुए सत् हैं, उनकी संख्यामें न एककी वृद्धि हो सकती है और न एककी हानि। हाँ, रूपान्तर प्रत्येकका होता रहता है, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा एक स्वतन्त्र सत् है और पुद्गलपरमाणु भी स्वतन्त्र सत्। अनादिकालसे यह आत्मा पुद्गलसे उसी तरह सम्बद्ध मिलता है जैसे कि खानिसे निकाला गया सोना मैलसे संयुक्त मिलता है।

## आत्माको अनादिबद्ध माननेका कारण

आज आत्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म कर्मशरीरसे बद्ध मिलता है। इसका ज्ञान संवेदन, सुख, दुःख और यहाँ तक कि जीवन-शक्ति भी शरीराधीन है। शरीरमें विकार होनेसे ज्ञानतंतुओंमें क्षीणता आ जाती है और स्मृतिभ्रंश तथा पागलपन आदि देखे जाते हैं। संसारी आत्मा शरीरबद्ध होकर ही अपनी गतिविधि करता है। यदि आत्मा शुद्ध होता तो शरीरसम्बन्धका कोई कारण नहीं था। शरीरसम्बन्ध या पुनर्जन्मके कारण हैं—राग, द्वेष, मोह और कषायादिभाव। शुद्ध आत्मामें ये विभाव परिणाम हो ही नहीं सकते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूंकि आज ये विभाव और उनका फल—शरीरसम्बन्ध प्रत्यक्षसे अनुभवमें आ रहा है, अतः मानना होगा कि आज तक इनकी अशुद्ध परम्परा ही चली आई है।

भारतीय दर्शनोंमें यही एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर विधिमुखसे नहीं दिया जा सकता। ब्रह्ममें अविद्या कब उत्पन्न हुई? प्रकृति और पुरुषका संयोग कब हुआ? आत्मासे शरीरसम्बन्ध कब हुआ? इन सब प्रश्नोंका एक मात्र उत्तर है—'अनादि' से। किसी भी दर्शनने ऐसे समयकी कल्पना नहीं की है जिस समय समग्र भावसे ये समस्त संयोग नष्ट होंगे और संसार समाप्त हो जायगा। व्यक्तिशः अमुक आत्माओंसे पुद्गलसंसर्ग या प्रकृतिसंसर्गका वह रूप समाप्त हो जाता है, जिसके कारण उसे संसरण करना पड़ता है। इस प्रश्नका दूसरा उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि यदि ये शुद्ध होते तो इनका संयोग ही नहीं हो सकता था। शुद्ध होनेके बाद कोई ऐसा हेतु नहीं रह जाता जो प्रकृतिसंसर्ग, पुद्गलसम्बन्ध या अविद्योत्पत्ति होने दे। इसीके अनुसार यदि आत्मा शुद्ध होता तो कोई कारण उसके अशुद्ध होनेका या शरीरसम्बन्धका नहीं था। जब ये दो स्वतन्त्रसत्ताक द्रव्य हैं तब उनका संयोग चाहे वह जितना ही पुराना क्यों न हो; नष्ट किया जा सकता है और दोनोंको पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—खदानसे सर्वप्रथम निकाले गये सोनेमें कीट आदि मैल कितना ही पुराना या असंख्य कालसे लगा हुआ क्यों न हो, शोधक प्रयोगोंसे अवश्य पृथक् किया जा सकता है और सुवर्ण अपने शुद्ध रूपमें लाया जा सकता है। तब यह निश्चय हो जाता है कि सोनेका शुद्ध रूप यह है तथा मैल यह है। सारांश यह कि जीव और पुद्गलका बंध अनादिसे है और वह बन्ध जीवके अपने राग-द्वेष आदि भावोंके कारण उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जब ये रागादिभाव क्षीण होते हैं, तब वह बंध आत्मामें नये विभाव उत्पन्न नहीं कर सकता और धीरे-धीरे या एक झटकेमें ही समाप्त हो सकता है। चूंकि यह बन्ध दो स्वतन्त्र द्रव्योंका है, अतः टूट सकता है या उस अवस्थामें तो अवश्य पहुँच सकता है जब साधारण संयोग बना रहनेपर भी आत्मा उससे निस्संग और निर्लेप बन जाता है।

आज इस अशुद्ध आत्माकी दशा अर्धभौतिक जैसी हो रही है। इन्द्रियाँ यदि न हों तो सुनने और देखने आदिकी शक्ति रहनेपर भी वह शक्ति जैसी-की-तैसी रह जाती है और देखना और सुनना नहीं होता। विचारशक्ति होनेपर भी यदि मस्तिष्क ठीक नहीं है तो विचार और चिन्तन नहीं किये जा सकते। यदि पक्षाघात हो जाय तो शरीर देखनेमें वैसा ही मालूम होता है पर सब शून्य हो जाता है। निष्कर्ष यह कि अशुद्ध आत्माकी दशा और इसका सारा विकास बहुत कुछ पुद्गलके अधीन हो रहा है। और तो जाने दीजिए, जीभके अमुक-अमुक हिस्सोंमें अमुक-अमुक रसोंके चखनेकी निमित्तता देखी जाती है। यदि जीभके आधे हिस्सेमें लकवा मार जाय तो शेष हिस्सेसे कुछ रसोंका ज्ञान हो पाता है, कुछका नहीं। इस जीवनके ज्ञान, दर्शन, सुख, राग, द्वेष, कलाविज्ञान आदि सभी भाव बहुत कुछ इसी जीवनपर्यायके अधीन हैं।

एक मनुष्य जीवन भर अपने ज्ञानका उपयोग विज्ञान या धर्मके अध्ययनमें लगाता है, जवानीमें उसके मस्तिष्कमें भौतिक उपादान अच्छे और प्रचुर मात्रामें थे, तो उसके तन्तु चैतन्यको जगाये रखते थे। बुढ़ापा आनेपर जब उसका मस्तिष्क शिथिल पड़ जाता है तो विचारशक्ति लुप्त होने लगती है और स्मरण मन्द पड़ जाता है। वही व्यक्ति अपनी जवानीमें लिखे गए लेखको यदि बुढ़ापेमें पढ़ता है तो उसे स्वयं आश्चर्य होता है। कभी-कभी तो उसे यह विश्वास ही नहीं होता कि यह उसीने लिखा होगा। मस्तिष्ककी यदि कोई ग्रन्थि बिगड़ जाती है तो मनुष्य पागल हो जाता है। दिमागका यदि कोई पुरजा कस गया, ढीला हो गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो उन्माद, सन्देह, विक्षेप और उद्वेग आदि अनेक प्रकारकी धाराएँ जीवनको ही बदल देती हैं। मस्तिष्कके विभिन्न भागोंमें विभिन्न प्रकारके चेतनभावोंको जागृत करनेके विशेष उपादान रहते हैं।

मुझे एक ऐसे योगीका अनुभव है जिसे शरीरके नशोंका विशिष्ट ज्ञान था। वह मस्तिष्ककी किसी खास नसको दबाता था तो मनुष्यको हिंसा और क्रोधके भाव उत्पन्न हो जाते थे। दूसरे ही क्षण किसी अन्य नसके दबाते ही दया और करुणाके भाव जागृत होते थे और वह व्यक्ति रोने लगता था, तीसरी नसके दबाते ही लोभका तीव्र उदय होता था और यह इच्छा होती थी कि चोरी कर लें। इन सब घटनाओंसे हम एक इस निश्चित परिणामपर तो पहुँच ही सकते हैं कि हमारी सारी पर्यायशक्तियाँ, जिनमें ज्ञान, दर्शन, सुख, धैर्य, राग, द्वेष और कषाय आदि शामिल हैं, इस शरीरपर्यायके निमित्तसे विकसित होती हैं। शरीरके नष्ट होते ही समस्त जीवन भरमें उपार्जित ज्ञानादि पर्यायशक्तियाँ प्रायः बहुत कुछ नष्ट हो जाती हैं। परलोक तक इनके कुछ सूक्ष्म संस्कार ही जाते हैं।

## व्यवहारसे जीव मूर्तिक भी है

जैनदर्शनमें व्यवहारसे जीवको मूर्तिक माननेका अर्थ है कि अनादिसे यह जीव शरीरसम्बद्ध ही मिलता आया है। स्थूल शरीर छोड़नेपर भी सूक्ष्म कर्मशरीर सदा इसके साथ रहता है। इसी सूक्ष्म कर्मशरीरके नाशको ही मुक्ति कहते हैं। चार्वाकका देहात्मवाद देहके साथ ही आत्माकी समाप्ति मानता है जब कि जैनके देहपरिमाण-आत्मवादमें आत्माकी स्वतन्त्र सत्ता होकर भी उसका विकास अशुद्ध दशामें देहाश्रित यानी देह-निमित्तिक माना गया है।

## आत्माकी दशा

आजका विज्ञान हमें बताता है कि जीव जो भी विचार करता है उसकी टेढ़ी-सीधी; और उथली-गहरी रेखायें मस्तिष्कमें भरे हुए मक्खन जैसे श्वेत पदार्थमें खिंचती जाती हैं, और उन्हींके अनुसार स्मृति तथा वासनाएँ उद्बुद्ध होती हैं। जैसे अग्निसे तपे हुए लोहेके गोलेको पानीमें छोड़नेपर वह गोला जलके बहुतसे परमाणुओंको अपने भीतर सोख लेता है और भाप बनाकर कुछ परमाणुओंको बाहर निकालता है। जब तक वह गर्म रहता है, पानीमें उथल-पुथल पैदा करता है। कुछ परमाणुओंको लेता है, कुछको निकालता है, कुछको भाफ बनाता, यानी एक अजीव ही परिस्थिति आस-पासके वातावरणमें उपस्थित कर देता है। उसी तरह जब यह आत्मा राग-द्वेष आदिसे उत्तप्त होता है; तब शरीरमें एक अद्भुत हलन-चलन उत्पन्न करता है। क्रोध आते ही आँखें लाल हो जाती हैं, खूनकी गति बढ़ जाती है, मुँह सूखने लगता है, और नथने फड़कने लगते हैं। जब कामवासना जागृत होती है तो सारे शरीरमें एक विशेष प्रकारका मन्थन शुरू होता है, और जब तक वह कषाय या वासना शान्त नहीं हो लेती; तब तक यह चहल-पहल और मन्थन आदि नहीं रुकता। आत्माके विचारोंके अनुसार पुद्गलद्रव्योंमें भी परिणमन होता है और उन विचारोंके उत्तेजक पुद्गल आत्माके वासनामय सूक्ष्म कर्मशरीरमें शामिल होते जाते हैं। जब-जब उन कर्मपुद्गलोंपर दबाव पड़ता है तब-तब वे फिर रागादि भावोंको जगाते हैं। फिर नये कर्मपुद्गल आते हैं और उन कर्म-पुद्गलोंके परिपाकके अनुसार नूतन रागादि भावोंकी सृष्टि होती है। इस तरह रागादि भाव और कर्म-पुद्गलोंके सम्बन्धका चक्र तब तक बराबर चालू रहता है, जब तक कि अपने विवेक और चारित्रसे रागादि भावोंको नष्ट नहीं कर दिया जाता।

सारांश यह कि जीवकी ये राग-द्वेषादि वासनाएँ और पुद्गलकर्मबन्धकी धारा बीज-वृक्षसन्ततिकी तरह अनादिसे चालू है। पूर्व संचित कर्मके उदयसे इस समय राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं और तत्कालमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो जीवकी आसक्ति या लगन होती है, वही नूतन कर्मबन्ध कराती है। यह आशंका करना कि 'जब पूर्वकर्मसे रागादि और रागादिसे नये कर्मका बन्ध होता है तब इस चक्रका उच्छेद कैसे हो सकता है?' उचित नहीं है; कारण यह है कि केवल पूर्वकर्मके फलका भोगना ही नये कर्मका बन्धक नहीं होता, किन्तु उस भोगकालमें जो नूतन रागादि भाव उत्पन्न होते हैं, उनसे बन्ध होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टिके पूर्वकर्मके भोग नूतन रागादिभावोंको नहीं करनेकी वजहसे निर्जराके कारण होते हैं जबकि मिथ्यादृष्टि नूतन रागादिसे बंध ही बंध करता है। सम्यग्दृष्टि पूर्वकर्मके उदयसे होनेवाले रागादिभावोंको अपने विवेकसे शान्त करता है और उनमें नई आसक्ति नहीं होने देता। यही कारण है कि उसके पुराने कर्म अपना फल देकर झड़ जाते हैं और किसी नये कर्मका उनकी जगह बन्ध नहीं होता। अतः सम्यग्दृष्टि तो हर तरफसे हलका हो चलता है; जब कि मिथ्यादृष्टि नित नयी वासना और आसक्तिके कारण तेजीसे कर्मबन्धनोंमें जकड़ता जाता है।

जिस प्रकार हमारे भौतिक मस्तिष्कपर अनुभवोंकी सीधी, टेढ़ी, गहरी, उथली आदि असंख्य रेखाएँ पड़ती रहती हैं, जब एक प्रबल रेखा आती है तो वह पहलेकी निर्बल रेखाको साफकर उस जगह अपना गहरा प्रभाव कायम कर देती है। यानी यदि वह रेखा सजातीय संस्कारकी है तो उसे और गहरा कर देती है और यदि विजातीय संस्कारकी है तो उसे पोंछ देती है। अन्तमें कुछ ही अनुभव-रेखाएँ अपना गहरा या उथला अस्तित्व कायम रखती हैं। इसी तरह आज जो रागद्वेषादिजन्य संस्कार उत्पन्न होते हैं और कर्मबन्धन करते हैं; वे दूसरे ही क्षण शील, व्रत और संयम आदिकी पवित्र भावनाओंसे धुल जाते हैं या क्षीण हो जाते हैं। यदि दूसरे ही क्षण अन्य रागादिभावोंका निमित्त मिलता है, तो प्रथमबद्ध पुद्गलोंमें और भी काले पुद्गलोंका संयोग तीव्रतासे होता जाता है। इस तरह जीवनके अन्तमें कर्मोंका बन्ध, निर्जरा, अपकर्षण ( घटती ), उत्कर्षण ( बढ़ती ), संक्रमण ( एक दूसरेके रूपमें बदलना ) आदि होते-होते जो रोकड़ बाकी रहती है वही सूक्ष्म कर्म-शरीरके रूपमें परलोक तक जाती है। जैसे तेज अग्निपर उबलती हुई बटलोईमें दाल, चावल, शाक आदि जो भी डाला जाता है उसकी ऊपर-नीचे अगल-बगलमें उफान लेकर अन्तमें एक खिचड़ी-सी बन जाती है, उसी तरह प्रतिक्षण बँधनेवाले अच्छे या बुरे कर्मोंमें, शुभभावोंसे शुभकर्मोंमें रस-प्रकर्ष और स्थितिवृद्धि होकर अशुभ कर्मोंमें रसहीनता और स्थितिच्छेद हो जाता है। अन्तमें एक पाकयोग्य स्कन्ध बच रहता है, जिसके क्रमिक उदयसे रागादि भाव और सुखादि उत्पन्न होते हैं।

अथवा जैसे पेटमें जठराग्निसे आहारका मल, मूत्र, स्वेद आदिके रूपसे कुछ भाग बाहर निकल जाता है, कुछ वहीं हजम होकर रक्तादि रूपसे परिणत होता है और आगे जाकर वीर्यादिरूप बन जाता है। बीचमें चूरण-चटनी आदिके संयोगसे उसकी लघुपाक, दीर्घपाक आदि अवस्थाएँ भी होती हैं, पर अन्तमें होनेवाले परिपाकके अनुसार ही भोजनको सुपच या दुष्पच कहा जाता है. उसी तरह कर्मका भी प्रतिसमय होनेवाले अच्छे और बुरे भावोंके अनुसार तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मध्यम, मृदुतर और मृदुतम आदि रूपसे परिवर्तन बराबर होता रहता है और अन्तमें जो स्थिति होती है, उसके अनुसार उन कर्मोंको शुभ या अशुभ कहा जाता है।

यह भौतिक जगत् पुद्गल और आत्मा दोनोंसे प्रभावित होता है। जब कर्मका एक भौतिक पिण्ड, जो विशिष्ट शक्तिका स्रोत है, आत्मासे सम्बद्ध होता है, तो उसकी सूक्ष्म और तीव्रशक्तिके अनुसार बाह्य



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थ भी प्रभावित होते हैं और प्राप्तसामग्रीके अनुसार उस संचित कर्मका तीव्र, मन्द और मध्यम आदि फल मिलता है। इस तरह यह कर्मचक्र अनादिकालसे चल रहा है और तब तक चालू रहेगा जब तक कि बन्धकारक मूलरागादिवासनाओंका नाश नहीं कर दिया जाता।

बाह्य पदार्थोंके—नोकर्मोंके समवधानके अनुसार कर्मोंका यथासम्भव प्रदेशोदय या फलोदय रूपसे परिपाक होता रहता है। उदयकालमें होनेवाले तीव्र, मध्यम और मन्द शुभाशुभ भावोंके अनुसार आगे उदयमें आनेवाले कर्मोंके रसदानमें भी अन्तर पड़ जाता है। तात्पर्य यह कि कर्मोंका फल देना, अन्य रूपमें देना या न देना, बहुत कुछ हमारे पुरुषार्थके ऊपर निर्भर करता है।

इस तरह जैन दर्शनमें यह आत्मा अनादिसे अशुद्ध माना गया है और प्रयोगसे यह शुद्ध हो सकता है। एक बार शुद्ध होनेके बाद फिर अशुद्ध होनेका कोई कारण नहीं रह जाता। आत्माके प्रदेशोंमें संकोच और विस्तार भी कर्मके निमित्तसे ही होता है। अतः कर्मनिमित्तके हट जानेपर आत्मा अपने अन्तिम आकारमें रह जाता है और ऊर्ध्वलोकके अग्र भागमें स्थिर हो अपने चैतन्यमें प्रतिष्ठित हो जाता है।

अतः भ० महावीरने बन्ध-मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वोंके सिवाय उस आत्माका ज्ञान भी आवश्यक बताया जिसे शुद्ध होना है और जो वर्तमानमें अशुद्ध हो रहा है। आत्माकी अशुद्ध दशा स्वरूप-प्रच्युतिरूप है। चूँकि यह दशा स्वस्वरूपको भूलकर परपदार्थोंमें ममकार और अहङ्कार करनेके कारण हुई है, अतः इस अशुद्ध दशाका अन्त भी स्वरूपके ज्ञानसे ही हो सकता है। इस आत्माको यह तत्त्वज्ञान होता है कि मेरा स्वरूप तो अनन्त चैतन्य, वीतराग, निर्मोह, निष्कषाय, शान्त, निश्चल, अप्रमत्त और ज्ञानरूप है। इस स्वरूपको भुलाकर परपदार्थोंमें ममकार और शरीरको अपना माननेके कारण, राग, द्वेष, मोह, कषाय, प्रमाद और मिथ्यात्व आदि विकाररूप मेरी दशा हो गयी है। इन कषायोंकी ज्वालासे मेरा स्वरूप समल और योगके कारण चञ्चल हो गया है। यदि परपदार्थोंसे ममकार और रागादि भावोंसे अहङ्कार हट जाय तथा आत्मपरविवेक हो जाय तो यह अशुद्ध दशा और ये रागादि वासनाएँ अपने आप क्षीण हो जाँयगी। इस तत्त्वज्ञानसे आत्मा विकारोंको क्षीण करता हुआ निर्विकार चैतन्यरूप हो जाता है। इसी शुद्धिको मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष जब तक शुद्ध आत्मस्वरूपका बोध न हो, तब तक कैसे हो सकता है?

## आत्मदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि

बुद्धके तत्त्वज्ञानका प्रारम्भ दुःखसे होता है और उसकी समाप्ति होती है दुःखनिवृत्तिमें। वे समझते हैं कि आत्मा अर्थात् उपनिषद्वादियोंका नित्य आत्मा और नित्य आत्मामें स्वबुद्धि और दूसरे पदार्थोंमें परबुद्धि होने लगती है। स्वपर विभागसे राग-द्वेषसे यह संसार बन जाता है। अतः समस्त अनर्थोंकी जड़ आत्मदृष्टि है। वे इस ओर ध्यान नहीं देते कि आत्माकी नित्यता और अनित्यता राग और विरागका कारण नहीं है। राग और विराग तो स्वरूपके अज्ञान और स्वरूपके सम्यग्ज्ञानसे होते हैं। रागका कारण है परपदार्थोंमें ममकार करना। जब इस आत्माको समझाया जाता है कि मूर्ख, तेरा स्वरूप तो निर्विकार, अखण्ड चैतन्य है, तेरा इन स्त्री-पुत्रादि तथा शरीरमें ममत्व करना विभाव है, स्वभाव नहीं, तब यह सहज ही अपने निर्विकार स्वभावकी ओर दृष्टि डालने लगता है और इसी विवेकदृष्टि या सम्यग्दर्शनसे परपदार्थोंसे रागद्वेष हट कर स्वरूपमें लीन होने लगता है। इसीके कारण आस्रव रुकते हैं और चित्त निरास्रव होने लगता है। इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील अनन्त द्रव्यमय लोकमें मैं एक आत्मा हूँ, मेरा किसी दूसरे आत्मा या पुद्गलद्रव्योंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं अपने चैतन्यका स्वामी हूँ। मात्र चैतन्यरूप हूँ। यह शरीर अनन्त पुद्गलपरमाणुओंका एक पिण्ड है। इसका मैं स्वामी नहीं हूँ। यह सब पर द्रव्य हैं। परपदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि करना ही संसार है। आजतक मैंने परपदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन करानेकी अनधिकार चेष्टा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही की है। मैंने यह भी अनधिकार चेष्टा की है कि संसारके अधिक-से-अधिक पदार्थ मेरे अधीन हों, जैसा मैं चाहूँ, वैसा वे परिणमन करें। उनकी वृत्ति मेरे अनुकूल हो। पर मूर्ख, तू तो एक व्यक्ति है। तू तो केवल अपने परिणमनपर अर्थात् अपने विचारों और क्रियापर ही अधिकार रख सकता है। परपदार्थोंपर तेरा वास्तविक अधिकार क्या है ? तेरी यह अनधिकार चेष्टा ही राग और द्वेषको उत्पन्न करती है। तू चाहता है कि शरीर, स्त्री, पुत्र, परिजन आदि सब तेरे इशारेपर चलें। संसारके समस्त पदार्थ तेरे अधीन हों, तू त्रैलोक्यको अपने इशारेपर नचानेवाला एकमात्र ईश्वर बन जाय। यह सब तेरी निरधिकार चेष्टाएँ हैं। तू जिस तरह संसारके अधिकतम पदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन कराके अपने अधीन करना चाहता है उसी तरह तेरे जैसे अनन्त मूढ़ चेतन भी यही दुर्वासना लिये हुए हैं और दूसरे द्रव्योंको अपने अधीन करना चाहते हैं। इसी छीना-झपटीमें संघर्ष होता है, हिंसा होती है, राग-द्वेष होते हैं और होता है अन्ततः दुःख ही दुःख।

सुख और दुःखकी स्थूल परिभाषा यह है कि 'जो चाहे सो होवे, इसे कहते हैं सुख और चाहे कुछ और होवे कुछ या जो चाहे वह न होवे इसे कहते हैं दुःख।' मनुष्यकी चाह सदा यही रहती है कि मुझे सदा इष्टका संयोग रहे और अनिष्टका संयोग न हो। समस्त भौतिक जगत् और अन्य चेतन मेरे अनुकूल परिणति करते रहें, शरीर नीरोग हो, मृत्यु न हो, धनधान्य हों, प्रकृति अनुकूल रहे आदि न जाने कितने प्रकारकी चाह इस शेखचिल्ली मानवको होती रहती है। बुद्धने जिस दुःखको सर्वानुभूत बताया है, वह सब अभावकृत ही तो है। महावीरने इस तृष्णाका कारण बताया है 'स्वरूपकी मर्यादाका अज्ञान', यदि मनुष्यको यह पता हो कि—'जिनकी मैं चाह करता हूँ, और जिनकी तृष्णा करता हूँ, वे पदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं तो एक चिन्मात्र हूँ' तो उसे अनुचित तृष्णा ही उत्पन्न न होगी। सारांश यह कि दुःखका कारण तृष्णा है, और तृष्णाकी उद्भूति स्वाधिकार एवं स्वरूपके अज्ञान या मिथ्याज्ञानके कारण होती है, परपदार्थोंको अपना माननेके कारण होती है। अतः उसका उच्छेद भी स्वस्वरूपके सम्यग्ज्ञान यानी स्वपरविवेकसे ही हो सकता है। इस मानवने अपने स्वरूप और अधिकारकी सीमाको न जानकर सदा मिथ्याज्ञान किया है और पर-पदार्थोंके निमित्तसे जगत्में अनेक कल्पित ऊँच-नीच भावोंकी सृष्टि कर मिथ्या अहंकारका पोषण किया है। शरीराश्रित या जीविकाश्रित ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णोंको लेकर ऊँच-नीच व्यवहारकी भेदक भित्ति खड़ी कर, मानवको मानवसे इतना जुदा कर दिया, जो एक उच्चाभिमानी मांसपिण्ड दूसरेकी छायासे या दूसरेको छूनेसे अपनेको अपवित्र मानने लगा। बाह्य परपदार्थोंके संग्रही और परिग्रहीको महत्त्व देकर इसने तृष्णाकी पूजा की। जगत्में जितने संघर्ष और हिंसाएँ हुई हैं वे सब परपदार्थोंकी छीना-झपटीके कारण हुई हैं। अतः जब तक मुमुक्षु अपने वास्तविक स्वरूपको तथा तृष्णाके मूल कारण 'परमें आत्मबुद्धि'को नहीं समझ लेता तब तक दुःख-निवृत्तिकी समुचित भूमिका ही तैयार नहीं हो सकती।

बुद्धने संक्षेपमें पाँच स्कन्धोंको दुःख कहा है। पर महावीरने उसके भीतरी तत्त्वज्ञानको भी बताया। चूंकि ये स्कन्ध आत्मस्वरूप नहीं हैं, अतः इनका संसर्ग ही अनेक रागादिभावोंका सर्जक है और दुःखस्वरूप है। निराकुल सुखका उपाय आत्ममात्रनिष्ठा और परपदार्थोंसे ममत्वका हटाना ही है। इसके लिए आत्माकी यथार्थदृष्टि ही आवश्यक है। आत्मदर्शनका यह रूप परपदार्थोंमें द्वेष करना नहीं सिखाता, किन्तु यह बताता है कि इनमें जो तुम्हारी यह तृष्णा फैल रही है, वह अनधिकार चेष्टा है। वास्तविक अधिकार तो तुम्हारा मात्र अपने विचार अपने व्यवहारपर ही है। अतः आत्माके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान हुए बिना दुःखनिवृत्ति या मुक्तिकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### नैरात्म्यवादकी असारता

अतः आ० धर्मकीर्तिकी यह आशंका भी निर्मूल है कि—

"आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषा प्रजायन्ते ॥"

—प्रमाणवा० १।२२१

अर्थात्—आत्माको 'स्व' माननेसे दूसरोंको 'पर' मानना होगा । स्व और पर विभाग होते ही स्वका परिग्रह और परसे द्वेष होगा । परिग्रह और द्वेष होनेसे रागद्वेषमूलक सैकड़ों अन्य दोष उत्पन्न होते हैं ।

यहाँ तक तो ठीक है कि कोई व्यक्ति आत्माको स्व माननेसे आत्मेतरकोपर मानेगा । पर स्वपर-विभागसे परिग्रह और द्वेष कैसे होंगे ? आत्मस्वरूपका परिग्रह कैसा ? परिग्रह तो शरीर आदि परपदार्थोंका और उसके सुखसाधनोंका होता है, जिन्हें आत्मदर्शी व्यक्ति छोड़ेगा ही, ग्रहण नहीं करेगा । उसे तो जैसे स्त्री आदि सुख-साधन 'पर' हैं वैसे शरीर भी । राग और द्वेष भी शरीरादिके सुख-साधनों और असाधनोंमें होते हैं, सो आत्मदर्शीको क्यों होंगे ? उलटे आत्मद्रष्टा शरीरादिनिमित्तक रागद्वेष आदि द्वन्द्वोंके त्यागका ही स्थिर प्रयत्न करेगा । हाँ, जिसने शरीरस्कन्धको ही आत्मा माना है उसे अवश्य आत्मदर्शनसे शरीरदर्शन प्राप्त होगा और शरीरके इष्टानिष्टनिमित्तक पदार्थोंमें परिग्रह और द्वेष हो सकते हैं, किन्तु जो शरीरको भी 'पर' ही मान रहा है तथा दुःखका कारण समझ रहा है वह क्यों उसमें तथा उसके इष्टानिष्ट साधनोंमें रागद्वेष करेगा ? अतः शरीरादिसे भिन्न आत्मस्वरूपका परिज्ञान ही रागद्वेषकी जड़को काट सकता है और वीतरागताको प्राप्त करा सकता है । अतः धर्मकीर्तिका आत्मदर्शनकी बुराइयोंका यह वर्णन भी नितान्त भ्रमपूर्ण है—

"यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः ।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्करुते ॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते ।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे ॥"

—प्रमाणवार्तिक १।२१९-२०

अर्थात्—जो आत्माको देखता है, उसे यह मेरा आत्मा है ऐसा नित्य स्नेह होता है । स्नेहसे आत्म-सुखमें तृष्णा होती है । तृष्णासे आत्माके अन्य दोषोंपर दृष्टि नहीं जाती, गुण-ही-गुण दिखाई देते हैं । आत्म-सुखमें गुण देखनेसे उसके साधनोंमें ममकार उत्पन्न होता है, उन्हें वह ग्रहण करता है । इस तरह जब तक आत्माका अभिनिवेश है तब तक संसार ही है ।

क्योंकि आत्मदर्शी व्यक्ति जहाँ अपने आत्मस्वरूपको उपादेय समझता है वहाँ यह भी समझता है कि शरीरादि परपदार्थ आत्माके हितकारक नहीं हैं । इनमें रागद्वेष करना ही आत्माको बंधमें डालनेवाला है । आत्माके स्वरूपभूत सुखके लिए किसी अन्य साधनके ग्रहणकी आवश्यकता नहीं है किन्तु जिन शरीरादि पर-पदार्थोंमें मिथ्याबुद्धि कर रखी है । उस मिथ्याबुद्धिका ही छोड़ना और आत्मगुणका दर्शन, आत्ममात्रमें लीनता-का कारण होगा न कि बन्धनकारक परपदार्थोंके ग्रहणका । शरीरादि परपदार्थोंमें होनेवाला आत्माभिनिवेश अवश्य रागादिका सर्जक होता है, किन्तु शरीरादिसे भिन्न आत्म-तत्त्वका दर्शन शरीरादिमें रागादि क्यों उत्पन्न करेगा ?

### पञ्चस्कन्ध रूप आत्मा नहीं :

यह तो धर्मकीर्ति तथा उनके अनुयायियोंका आत्मतत्त्वके अव्याकृत होनेका कारण दृष्टिव्यामोह ही है; जो वे उसका मात्र शरीरस्कन्ध ही स्वरूप मान रहे हैं और आत्मदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कह रहे हैं । एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओर वे पृथिव्यादि महाभूतोंसे आत्माकी उत्पत्तिका खण्डन भी करते हैं और दूसरी ओर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंसे भिन्न किसी आत्माको मानना भी नहीं चाहते। इनमें वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध चेतनात्मक हो सकते हैं पर, रूपस्कन्धको चेतन कहना चार्वाकके भूतात्मवादसे कोई विशेषता नहीं रखता है। जब बुद्ध स्वयं आत्माको अव्याकृत कोटिमें डाल गए हैं तो उनके शिष्योंका दार्शनिक क्षेत्रमें भी आत्माके विषयमें परस्परविरोधी दो विचारोंमें दोलित रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज महापंडित राहुल सांकृत्यायन बुद्धके इन विचारोंको 'अभौतिक अनात्मवाद जैसे उभय प्रतिषेधक' नामसे पुकारते हैं। वे यह नहीं बता सकते कि आखिर आत्माका स्वरूप है क्या ? क्या वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्ध भी रूपस्कन्धकी तरह स्वतंत्र सत् हैं ? क्या आत्माकी रूपस्कन्धकी तरह स्वतंत्र सत्ता है ? और यदि निर्वाणमें चित्तसंतति निरुद्ध हो जाती है तो चार्वाकके एक जन्म तक सीमित देहात्मवादसे इस अनेकजन्म-सीमित पर निर्वाणमें विनष्ट होनेवाले अभौतिक अनात्मवादमें क्या मौलिक विशेषता रह जाती है ? अन्तमें तो उसका निरोध हो ही जाता है।

महावीर इस असंगतिके जालमें न तो स्वयं पड़े और न शिष्योंको ही उनने इसमें डाला। यही कारण है जो उन्होंने आत्माका समग्रभावसे निरूपण किया है और उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि धर्मका लक्षण है स्वभावमें स्थिर होना। आत्माका अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन होना ही धर्म है और इसकी निर्मल और निश्चल शुद्ध परिणति ही मोक्ष है। यह मोक्ष आत्मतत्त्वकी जिज्ञासाके बिना हो ही नहीं सकता। परतंत्रताके बन्धनको तोड़ना स्वातंत्र्य सुखके लिए होता है। कोई वैद्य रोगीसे यह कहे कि 'तुम्हें इससे क्या मतलब कि आगे क्या होगा, दवा खाये जाओ; तो रोगी तत्काल वैद्य पर विश्वास करके दवा भले ही खाता जाय, परन्तु आयुर्वेदकी कक्षामें विद्यार्थियोंकी जिज्ञासाका समाधान इतने मात्रसे नहीं किया जा सकता। रोगकी पहचान भी स्वास्थ्यके स्वरूपको जाने बिना नहीं हो सकती। जिन जन्मरोगियोंको स्वास्थ्यके स्वरूपकी झाँकी ही नहीं मिली वे तो उस रोगको रोग ही नहीं मानते और न उसकी निवृत्तिकी चेष्टा ही करते हैं। अतः हर तरह मुमुक्षुके लिए आत्मतत्त्वका समग्र ज्ञान आवश्यक है।

## आत्माके तीन प्रकार

आत्मा तीन प्रकारके हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो शरीर आदि परपदार्थोंको अपना रूप मानकर उनकी ही प्रियभोगसामग्रीमें आसक्त हैं वे बहिर्मुख जीव बहिरात्मा हैं। जिन्हें स्वपर-विवेक या भेदविज्ञान उत्पन्न हो गया है, जिनकी शरीर आदि बाह्यपदार्थोंसे आत्मदृष्टि हट गई है वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं। जो समस्त कर्ममल-कलंकोंसे रहित होकर शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपमें मग्न हैं वे परमात्मा हैं। यही संसारी आत्मा अपने स्वरूपका यथार्थ परिज्ञानकर अन्तर्दृष्टि हो क्रमशः परमात्मा बन जाता है। अतः आत्मधर्मकी प्राप्ति या बन्धन-मुक्तिके लिये आत्मतत्त्वका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है।

## चारित्रका आधार

चारित्र अर्थात् अहिंसाकी साधनाका मुख्य आधार जीवतत्त्वके स्वरूप और उसके समान अधिकारकी मर्यादाका तत्त्वज्ञान ही बन सकता है। जब हम यह जानते और मानते हैं कि जगत्में वर्तमान सभी आत्माएँ अखंड और मूलतः एक-एक स्वतन्त्र समानशक्ति वाले द्रव्य हैं। जिस प्रकार हमें अपनी हिंसा रुचिकर नहीं है, हम उससे विकल होते हैं और अपने जीवनको प्रिय समझते हैं, सुख चाहते हैं, दुःखसे घबड़ाते हैं उसी तरह अन्य आत्माएँ भी यही चाहती हैं। यही हमारी आत्मा अनादिकालसे सूक्ष्म निगोद, वृक्ष, वनस्पति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कीड़ा, मकोड़ा, पशु, पक्षी आदि अनेक शरीरोंको धारण करती है और न जाने इसे कौन-कौन शरीर धारण करना पड़ेंगे। मनुष्योंमें जिन्हें हम नीच, अछूत आदि कहकर दुरदुराते हैं और अपनी स्वार्थपूर्ण सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं और बन्धनोंसे उन समानाधिकारी मनुष्योंके अधिकारोंका निर्दलन करके उनके विकासको रोकते हैं, उन नीच और अछूतोंमें भी हम उत्पन्न हुए होंगे। आज मनमें दूसरोंके प्रति उन्हीं कुत्सित भावोंको जाग्रत करके उस परिस्थितिका निर्माण अवश्य ही कर रहे हैं जिससे हमारी उन्हींमें उत्पन्न होनेकी अधिक सम्भावना है। उन सूक्ष्म निगोदसे लेकर मनुष्यों तकके हमारे सीधे सम्पर्कमें आनेवाले प्राणियोंके मूलभूत स्वरूप और अधिकारको समझे बिना हम उनपर करुणा, दया आदिके भाव ही नहीं ला सकते, और न समानाधिकारमूलक परम अहिंसाके भाव ही जाग्रत कर सकते हैं। चित्तमें जब उन समस्त प्राणियोंमें आत्मौपम्यकी पुण्य भावना लहर मारती है तभी हमारा प्रत्येक उच्छ्वास उनकी मंगलकामनासे भरा हुआ निकलता है और इस पवित्र धर्मको नहीं समझनेवाले संघर्षशील हिंसकोंके शोषण और निर्दलनसे पिसती हुई आत्माके उद्धारकी छटपटाहट उत्पन्न हो सकती है। इस तत्त्वज्ञानकी सुवाससे ही हमारी परिणति परपदार्थोंके संग्रह और परिग्रहकी दुष्प्रवृत्तिसे हटकर लोककल्याण और जीवसेवा की ओर झुकती है। अतः अहिंसाकी सर्वभूतमैत्रीकी उत्कृष्ट साधनाके लिए सर्वभूतोंके स्वरूप और अधिकारका ज्ञान तो पहले चाहिये ही। न केवल ज्ञान ही, किन्तु चाहिये उसके प्रति दृढ़ निष्ठा।

इसी सर्वात्मसमत्वकी मूलज्योति महावीर बननेवाले क्षत्रिय राजकुमार वर्धमानके मनमें जगी थी और तभी वे प्राप्तराजविभूतिको बन्धन मानकर बाहर-भीतरकी सभी गाँठें खोलकर परमनिर्ग्रन्थ बने और जगत्में मानवताको वर्णभेदकी चक्कीमें पीसनेवाले तथोक्त उच्चाभिमानियोंको झकझोरकर एक बार रुककर सोचनेका शीतल वातावरण उपस्थित कर सके। उनने अपने त्याग और तपस्याके साधक जीवनसे महत्ताका मापदण्ड ही बदल दिया और उन समस्त त्रासित, शोषित, अभिद्रावित और पीड़ित मनुष्यतनधारियोंको आत्मवत् समझ धर्मके क्षेत्रमें समानरूपसे अवसर देनेवाले समवसरणकी रचना की। तात्पर्य यह कि अहिंसाकी विविध प्रकारकी साधनाओंके लिए आत्माके स्वरूप और उसके मूल अधिकार-मर्यादाका ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना कि परपदार्थोंसे विवेक प्राप्त करनेके लिए 'पर' पुद्गलका ज्ञान। बिना इन दोनोंका वास्तविक ज्ञान हुए सम्यग्दर्शनकी वह अमरज्योति नहीं जल सकती, जिसके प्रकाशमें मानवता मुसकुराती है और सर्वात्मसमताका उदय होता है।

इस आत्मसमानाधिकारका ज्ञान और उसको जीवनमें उतारनेकी दृढ़निष्ठा ही सर्वोदयकी भूमिका हो सकती है। अतः वैयक्तिक दुःखकी निवृत्ति तथा जगत्में शान्ति स्थापित करनेके लिए जिन व्यक्तियोंसे यह जगत् बना है उन व्यक्तियोंके स्वरूप और अधिकारकी सीमाको हमें समझना ही होगा। हम उसकी तरफसे आँख मूँदकर तात्कालिक करुणा या दयाके आँसू बहा भी लें, पर उसका स्थायी इलाज नहीं कर सकते। अतः भगवान् महावीरने बन्धनमुक्तिके लिये जो 'बँधा है तथा जिससे बँधा है' इन दोनों तत्त्वोंका परिज्ञान आवश्यक बताया। बिना इसके बन्धपरम्पराके समूलोच्छेद करनेका सङ्कल्प ही नहीं हो सकता और चारित्रके प्रति उत्साह ही हो सकता है। चारित्रकी प्रेरणा तो विचारोंसे ही मिलती है।

२. अजीवतत्त्व

जिस प्रकार आत्मतत्त्वका ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार जिस अजीवके सम्बन्धसे आत्मा विकृत होता है, उसमें विभावपरिणति होती है उस अजीवतत्त्वके ज्ञानकी भी आवश्यकता है। जब तक हम इस अजीवतत्त्वको नहीं जानेंगे तब तक 'किन दोमें बन्ध हुआ है' यह मूल बात ही अज्ञात रह जाती है। अजीव-तत्त्वमें धर्म, अधर्म, आकाश और कालका भले ही सामान्यज्ञान हो; क्योंकि इनसे आत्माका कोई भला बुरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होता, परन्तु पुद्गल द्रव्यका किंचित् विशेषज्ञान अपेक्षित है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास और वचन आदि सब पुद्गलका ही है। जिसमें शरीर तो चेतनके संसर्गसे चेतनायमान हो रहा है। जगत्में रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले यावत् पदार्थ पौद्गलिक हैं। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि सभी पौद्गलिक हैं। इनमें किसीमें कोई गुण प्रकट रहता है और कोई अनुद्भूत। यद्यपि अग्निमें रस, वायुमें रूप और जलमें गन्ध अनुद्भूत है फिर भी ये सब पुद्गलजातीय ही पदार्थ हैं। शब्द, प्रकाश, छाया, अन्धकार, सर्दी, गर्मी सभी पुद्गल स्कन्धोंकी अवस्थाएँ हैं। मुमुक्षुके लिए शरीरकी पौद्गलिकताका ज्ञान तो इसलिए अत्यन्त जरूरी है कि उसके जीवनकी आसक्तिका मुख्य केन्द्र वही है। यद्यपि आज आत्माका ९९ प्रतिशत विकास और प्रकाश शरीराधीन है, शरीरके पुर्जोंके बिगड़ते ही वर्तमान ज्ञान-विकास रुक जाता है और शरीरके नाश होनेपर वर्तमान शक्तियाँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं, फिर भी आत्माका अपना स्वतंत्र अस्तित्व तेल-बत्तीसे भिन्न ज्योतिकी तरह है ही। शरीरका अणु-अणु जिसकी शक्तिसे संचालित और चेतनायमान हो रहा है वह अन्तः-ज्योति दूसरी ही है। यह आत्मा अपने सूक्ष्म कार्मणशरीरके अनुसार वर्तमान स्थूल शरीरके नष्ट हो जानेपर दूसरे स्थूल शरीरको धारण करता है। आज तो आत्माके सात्त्विक, राजस और तामस सभी प्रकारके विचार और संस्कार कार्मणशरीर और प्राप्त स्थूल शरीरके अनुसार ही विकसित हो रहे हैं। अतः मुमुक्षु के लिए इस शरीर—पुद्गलकी प्रकृतिका परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वह इसका उपयोग आत्माके विकासमें कर सके, ह्रासमें नहीं। यदि आहार-विहार उत्तेजक होता है तो कितना ही पवित्र विचार करने-का प्रयास किया जाय, पर सफलता नहीं मिल सकती। इसलिये बुरे संस्कार और विचारोंका शमन करनेके लिए या क्षीण करनेके लिए उनके प्रबल निमित्तभूत शरीरकी स्थिति आदिका परिज्ञान करना ही होगा। जिन परपदार्थोंसे आत्माको विरक्त होना है और जिन्हें 'पर' समझकर उनकी छीना-झपटीकी द्वन्द्वदशासे ऊपर उठना है और उनके परिग्रह और संग्रहमें ही जीवनका बहुभाग नहीं नष्ट करना है तो उस परको 'पर' समझना ही होगा।

### ३. बन्धतत्त्व

दो पदार्थोंके विशिष्ट सम्बन्धको बन्ध कहते हैं। बन्ध दो प्रकारका है—एक भावबन्ध और दूसरा द्रव्यबन्ध। जिन राग-द्वेष और मोह आदि विकारी भावोंसे कर्मका बन्धन होता है उन भावोंको भावबन्ध कहते हैं। कर्मपुद्गलोंका आत्मप्रदेशोंसे सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गलका सम्बन्ध है। यह तो निश्चित है कि दो द्रव्योंका संयोग ही हो सकता है, तादात्म्य अर्थात् एकत्व नहीं। दो मिलकर एक देखें, पर, एककी सत्ता मिटकर एक शेष नहीं रह सकता। जब पुद्गलाणु परस्परमें बन्धको प्राप्त होते हैं तो भी वे एक विशेष प्रकारके संयोगको ही प्राप्त करते हैं। उनमें स्निग्धता और रूक्षताके कारण एक रासायनिक मिश्रण होता है, जिसमें उस स्कन्धके अन्तर्गत सभी परमाणुओंकी पर्याय बदलती है और वे ऐसी स्थितिमें आ जाते हैं कि अमुक समय तक उन सबकी एक जैसी पर्याय होती रहती है। स्कन्ध अपनेमें कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है किन्तु वह अमुक परमाणुओंकी विशेष अवस्था ही है और अपने आधारभूत परमाणुओंके अधीन ही उसकी दशा रहती है। पुद्गलोंके बन्धमें यही रासायनिकता है कि उस अवस्थामें उनका स्वतंत्र विलक्षण परिणमन नहीं होकर प्रायः एक जैसा परिणमन होता है परन्तु आत्मा और कर्म-पुद्गलोंका ऐसा रासायनिक मिश्रण हो ही नहीं सकता। यह बात जुदा है कि कर्मस्कन्धके आ जानेसे आत्मा के परिणमनमें विलक्षणता आ जाती है और आत्माके निमित्तसे कर्मस्कन्धकी परिणति विलक्षण हो जाती है; पर इतने मात्रसे इन दोनोंके सम्बन्धको रासायनिकमिश्रण संज्ञा नहीं दी जा सकती; क्योंकि जीव और कर्मके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धमें दोनोंकी एक जैसी पर्याय नहीं होती। जीवकी पर्याय चेतनरूप होती है और पुद्गलकी अचेतनरूप। पुद्गलका परिणमन रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादिरूपसे होता है और जीव चैतन्यके विकासरूपसे।

**चार बन्ध**

यह वास्तविक स्थिति है कि नूतन कर्मपुद्गलोंका पुराने बँधे हुए कर्मशरीरके साथ रासायनिक मिश्रण हो जाय और वह नूतन कर्म उस पुराने कर्मपुद्गलके साथ बँधकर उसी स्कन्धमें शामिल हो जाय और होता भी यही है। पुराने कर्मशरीरसे प्रतिक्षण अमुक परमाणु खिरते हैं और उसमें कुछ दूसरे नये शामिल होते हैं। परन्तु आत्मप्रदेशोंसे उनका बन्ध रासायनिक हर्गिज नहीं है। वह तो मात्र संयोग है। यही प्रदेशबन्ध कहलाता है। प्रदेशबन्धकी व्याख्या तत्त्वार्थसूत्र ( ८।२४ ) में इस प्रकारकी है—"नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः।" अर्थात् योगके कारण समस्त आत्मप्रदेशोंपर सभी ओरसे सूक्ष्म कर्मपुद्गल आकर एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं—जिस क्षेत्रमें आत्मप्रदेश हैं उसी क्षेत्रमें वे पुद्गल ठहर जाते हैं। इसीका नाम प्रदेशबन्ध है और द्रव्यबन्ध भी यही है। अतः आत्मा और कर्मशरीरका एकक्षेत्रावगाहके सिवाय अन्य कोई रासायनिक मिश्रण नहीं हो सकता। रासायनिक मिश्रण यदि होता है तो प्राचीन कर्मपुद्गलोंसे ही नवीन कर्मपुद्गलोंका, आत्मप्रदेशोंसे नहीं।

जीवके रागादिभावोंसे जो योग अर्थात् आत्मप्रदेशोंमें हलन-चलन होता है उससे कर्मके योग्य पुद्गल खिंचते हैं। वे स्थूल शरीरके भीतरसे भी खिंचते हैं और बाहरसे भी। इस योगसे उन कर्मवर्गणाओंमें प्रकृति अर्थात् स्वभाव पड़ता है। यदि वे कर्मपुद्गल किसीके ज्ञानमें बाधा डालनेवाली क्रियासे खिंचे हैं तो उनमें ज्ञानके आचरण करनेका स्वभाव पड़ेगा और यदि रागादि कषायोंसे खिंचे हैं, तो चारित्रके नष्ट करनेका। तात्पर्य यह कि आए हुए कर्मपुद्गलोंको आत्मप्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाही कर देना तथा उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि स्वभावोंका पड़ जाना योगसे होता है। इन्हें प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कषायोंकी तीव्रता और मन्दताके अनुसार उस कर्मपुद्गलमें स्थिति और फल देनेकी शक्ति पड़ती है, यह स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कहलाता है। ये दोनों बन्ध कषायसे होते हैं। केवली अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्तिको रागादि कषाय नहीं होती, अतः उनके योगके द्वारा जो कर्मपुद्गल आते हैं वे द्वितीय समयमें झड़ जाते हैं। उनका स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता। यह बन्धचक्र, जबतक राग, द्वेष, मोह और वासनाएँ आदि विभाव भाव हैं, तब तक बराबर चलता रहता है।

**४. आस्रव-तत्त्व**

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्धके कारण हैं। इन्हें आस्रव-प्रत्यय भी कहते हैं। जिन भावोंसे कर्मोंका आस्रव होता है उन्हें भावास्रव कहते हैं और कर्मद्रव्यका आना द्रव्यास्रव कहलाता है। पुद्गलोंमें कर्मत्वपर्यायका विकास होना भी द्रव्यास्रव कहा जाता है। आत्मप्रदेशों तक उनका आना भी द्रव्यास्रव है। यद्यपि इन्हीं मिथ्यात्व आदि भावोंको भावबन्ध कहा है, परन्तु प्रथमक्षणभावी ये भाव चूँकि कर्मोंको खींचनेकी साक्षात् कारणभूत योगक्रियामें निमित्त होते हैं अतः भावास्रव कहे जाते हैं और अग्रिमक्षणभावी भाव भावबन्ध। भावास्रव जैसा तीव्र, मन्द और मध्यम होता है, तज्जन्य आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द अर्थात् योग क्रियासे कर्म भी वैसे ही आते हैं और आत्मप्रदेशोंसे बँधते हैं।

**मिथ्यात्व**

इन आस्रवोंमें मुख्य अनन्तकर्मबन्धक है मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादृष्टि। यह जीव अपने आत्मस्वरूपको भूलकर शरीरादि परद्रव्यमें आत्मबुद्धि करता है। इसके समस्त विचार और क्रियाएँ शरीराश्रित व्यवहारोंमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उलझी रहती हैं। लौकिक यश, लाभ आदिकी दृष्टिसे यह धर्मका आचरण करता है। इसे स्वपरविवेक नहीं रहता। पदार्थोंके स्वरूपमें भ्रान्ति बनी रहती है। तात्पर्य यह कि कल्याणमार्गमें इसकी सम्यक् श्रद्धा नहीं होती। यह मिथ्यात्व सहज और गृहीत दो प्रकारका होता है। इन दोनों मिथ्यादृष्टियोंसे इसे तत्त्वरुचि जागृत नहीं होती। यह अनेक प्रकारकी देव, गुरु तथा लोकमूढ़ताओंको धर्म मानता है। अनेक प्रकारके ऊँच-नीच भेदोंकी सृष्टि करके मिथ्या अहंकारका पोषण करता है। जिस किसी देवको, जिस किसी भी वेषधारी गुरुको, जिस किसी भी शास्त्रको भय, आशा, स्नेह और लोभसे माननेको तैयार हो जाता है। न उसका अपना कोई सिद्धान्त होता है और न व्यवहार। थोड़ेसे प्रलोभनसे वह सभी अनर्थ करनेको प्रस्तुत हो जाता है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीरके मदसे मत्त होता है और दूसरोंको तुच्छ समझ उनका तिरस्कार करता है। भय, स्वार्थ, घृणा, परनिन्दा आदि दुर्गुणोंका केन्द्र होता है। इसकी समस्त प्रवृत्तियोंके मूलमें एक ही कुटेव रहती है और वह है स्वरूपविभ्रम। उसे आत्मस्वरूपका कोई श्रद्धान नहीं होता, अतः वह बाह्यपदार्थोंमें लुभाया रहता है। यही मिथ्यादृष्टि समस्त दोषोंकी जननी है, इसीसे अनन्त संसारका बन्ध होता है।

### अविरति

सदाचार या चारित्र धारण करनेकी ओर रुचि या प्रवृत्ति नहीं होना अविरति है। मनुष्य कदाचित् चाहे भी, पर कषायोंका ऐसा तीव्र उदय होता है जिससे न तो वह सकलचारित्र धारण कर पाता है और न देशचारित्र ही।

क्रोधादि कषायोंके चार भेद चारित्रको रोकनेकी शक्तिकी अपेक्षासे भी होते हैं—

१. अनन्तानुबन्धी—अनन्त संसारका बन्ध करानेवाली, स्वरूपाचरणचारित्र न होने देनेवाली, पत्थरकी रेखाके समान कषाय। यह मिथ्यात्वके साथ रहती है।

२. अप्रत्याख्यानावरण—देशचारित्र अर्थात् श्रावकके अणुव्रतोंको रोकनेवाली, मिट्टीकी रेखाके समान कषाय।

३. प्रत्याख्यानावरण—सकलचारित्रको न होने देनेवाली, धूलिकी रेखाके समान कषाय।

४. संज्वलन कषाय—पूर्ण चारित्रमें किंचित् दोष उत्पन्न करनेवाली, जलरेखाके समान कषाय। इसके उदयसे यथाख्यातचारित्र नहीं हो पाता।

इस तरह इन्द्रियोंके विषयोंमें तथा प्राणिविषयक असंयममें निरर्गल प्रवृत्ति होनेसे कर्मोंका आस्रव होता है।

### प्रमाद

असावधानीको प्रमाद कहते हैं। कुशल कर्मोंमें अनादर होना प्रमाद है। पाँचों इन्द्रियोंके विषयमें लीन होनेके कारण; राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजनकथा आदि विकथाओंमें रस लेनेके कारण; क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंसे कलुषित होनेके कारण; तथा निद्रा और प्रणयमें मग्न होनेके कारण कुशल कर्त्तव्य मार्गमें अनादरका भाव उत्पन्न होता है। इस असावधानीसे कुशलकर्मके प्रति अनास्था तो होती ही है साथ-ही-साथ हिंसाकी भूमिका भी तैयार होने लगती है। हिंसाके मुख्य हेतुओंमें प्रमादका प्रमुख स्थान है। दूसरे प्राणीका घात हो या न हो, प्रमादी व्यक्तिको हिंसाका दोष सुनिश्चित है। प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले अप्रमत्त साधनके द्वारा बाह्य हिंसा होनेपर भी वह अहिंसक ही है। अतः प्रमाद हिंसाका मुख्य द्वार है। इसीलिए भगवान् महावीरने बार-बार गौतम गणधरको चेताया था कि "समयं गोयम मा पमायए" अर्थात् गौतम, क्षणभर भी प्रमाद न कर।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### कषाय

आत्माका स्वरूप स्वभावतः शान्त और निर्विकारी है। पर क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें उसे कस देती हैं और स्वरूपसे च्युत कर देती हैं। ये चारों आत्माकी विभाव दशाएँ हैं। क्रोध कषाय द्वेषरूप है। यह द्वेषका कारण और द्वेषका कार्य है। मान यदि क्रोधको उत्पन्न करता है तो द्वेषरूप है। लोभ रागरूप है। माया यदि लोभको जागृत करती है तो रागरूप है। तात्पर्य यह कि राग, द्वेष और मोहकी दोष-त्रिपुटीमें कषायका भाग ही मुख्य है। मोहरूपी मिथ्यात्वके दूर हो जानेपर सम्यग्दृष्टिको राग और द्वेष बने रहते हैं। इनमें लोभ कषाय तो पद, प्रतिष्ठा, यशकी लिप्सा और संघवृद्धि आदिके रूपमें बड़े-बड़े मुनियोंको भी स्वरूपस्थित नहीं होने देती। यह राग-द्वेषरूप द्वन्द्व ही समस्त अनर्थोंका मूल है। यही प्रमुख आस्रव है। न्यायसूत्र, गीता और पाली पिटकोंमें भी इस द्वन्द्वको पापका मूल बताया है। जैनागमोंका प्रत्येक वाक्य कषाय-शमनका ही उपदेश देता है। जैन उपासनाका आदर्श परम निर्ग्रन्थ दशा है। यही कारण है कि जैन मूर्तियाँ वीतरागता और अकिञ्चनताकी प्रतीक होती हैं। न उनमें द्वेषका साधन आयुध है और न रागका आधार स्त्री आदिका साहचर्य ही। वे सर्वथा निर्विकार होकर परमवीतरागता और अकिञ्चनताका पावन संदेश देती हैं।

इन कषायोंके सिवाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नव नोकषायें हैं। इनके कारण भी आत्मामें विकारपरिणति उत्पन्न होती है। अतः ये भी आस्रव हैं।

### योग

मन, वचन और कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो परिस्पन्द अर्थात् क्रिया होती है उसे 'योग कहते हैं। योगकी साधारण प्रसिद्धि योगभाष्य आदिमें यद्यपि चित्तवृत्तिके निरोधरूप ध्यानके अर्थमें है, परन्तु जैन परम्परामें चूँकि मन, वचन और कायसे होनेवाली क्रिया कर्मपरमाणुओंसे आत्माका योग अर्थात् सम्बन्ध कराती है, इसलिए इसे ही योग कहते हैं और इसके निरोधको ध्यान कहते हैं। आत्मा सक्रिय है, उसके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है। मन, वचन और कायके निमित्तसे सदा उसमें क्रिया होती रहती है। यह क्रिया जीवन्मुक्तके बराबर होती है। परममुक्तिसे कुछ समय पहले अयोगकेवली अवस्थामें मन, वचन और कायकी क्रियाका निरोध होता है, और तब आत्मा निर्मल और निश्चल बन जाता है। सिद्ध अवस्थामें आत्माके पूर्ण शुद्ध रूपका आविर्भाव होता है। न तो उसमें कर्मजन्य मलिनता ही रहती है और न योगकी चंचलता ही। सच पूछा जाय तो योग ही आस्रव है। इसीके द्वारा कर्मोंका आगमन होता है। शुभ योग पुण्यकर्मका आस्रव कराता है और अशुभयोग पापकर्मका। सबका शुभ चिन्तन यानी अहिंसक विचारधारा शुभ मनोयोग है। हित, मित, प्रिय वचन बोलना शुभ वचनयोग है और परको बाधा न देनेवाली यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति शुभ-काय होता है। और इनसे विपरीत चिन्तन, वचन तथा काय-प्रवृत्ति अशुभ मन-वचन-काययोग है।

### दो आस्रव

सामान्यतया आस्रव दो प्रकारका होता है। एक तो कषायानुरंजित योगसे होनेवाला साम्परायिक आस्रव—जो बन्धका हेतु होकर संसारकी वृद्धि करता है। दूसरा मात्र योगके होनेवाला ईर्यापथ आस्रव—जो कषायका लेप न होनेके कारण आगे बन्धन नहीं कराता। यह आस्रव जीवन्मुक्त महात्माओंके जब तक शरीरका सम्बन्ध है, तब तक होता है। इस तरह योग और कषाय, दूसरेके ज्ञानमें बाधा पहुँचाना, दूसरेको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कष्ट पहुँचाना, दूसरेकी निन्दा करना आदि जिस-जिस प्रकारके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय आदि क्रियाओंमें संलग्न होते हैं, उस-उस प्रकारसे उन-उन कर्मोंका आस्रव और बन्ध कराते हैं। जो क्रिया प्रधान होती है उससे उस कर्मका बन्ध विशेष रूपसे होता है, शेष कर्मोंका गौण। परभवमें शरीरादिकी प्राप्तिके लिए आयु कर्मका आस्रव वर्तमान आयुके त्रिभागमें होता है। शेष सात कर्मोंका आस्रव प्रतिसमय होता रहता है।

### ५. मोक्षतत्त्व

बन्धन-मुक्तिको मोक्ष कहते हैं। बन्धके कारणोंका अभाव होनेपर तथा संचित कर्मोंकी निर्जरा होनेसे समस्त कर्मोंका समूल उच्छेद होना मोक्ष है। आत्माकी वैभाविकी शक्तिका संसार अवस्थामें विभाव परिणमन होता है। विभाव परिणमनके निमित्त हट जानेसे मोक्ष दशामें उसका स्वाभाविक परिणमन हो जाता है। जो आत्माके गुण विकृत हो रहे थे वे ही स्वाभाविक दशामें आ जाते हैं। मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है, अज्ञान ज्ञान ज्ञान जाता है और अचारित्र चारित्र। इस दशामें आत्माका सारा नकशा ही बदल जाता है। जो आत्मा अनादिकालसे मिथ्यादर्शन आदि अशुद्धियों और कलुषताओंका पुञ्ज बना हुआ था, वही निर्मल, निश्चल और अनन्त चैतन्यमय हो जाता है। उसका आगे सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। वह निस्तरंग समुद्रकी तरह निर्विकल्प, निश्चल और निर्मल हो जाता है। न तो निर्वाण दशामें आत्माका अभाव होता है और न वह अचेतन ही हो जाता है। जब आत्मा एक स्वतन्त्र मौलिक द्रव्य है, तब उसके अभावकी या उसके गुणोंके उच्छेदकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रतिक्षण कितने ही परिवर्तन होते जाँय, पर विश्वके रंगमञ्चसे उसका समूल उच्छेद नहीं हो सकता।

### दीपनिर्वाणकी तरह आत्मनिर्वाण नहीं होता

बुद्धसे जब प्रश्न किया गया कि 'मरनेके बाद तथागत होते हैं या नहीं ?' तो उन्होंने इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमें डाल दिया था। यही कारण हुआ कि बुद्धके शिष्योंने निर्वाणके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ कीं। एक निर्वाण वह, जिसमें चित्तसन्तति निरास्रव हो जाती है, यानी चित्तका मैल धुल जाता है। इसे 'सोपधिशेष' निर्वाण कहते हैं। दूसरा निर्वाण वह, जिसमें दीपकके समान चित्तसंतति भी बुझ जाती है अर्थात् उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। यह 'निरुपधिशेष' निर्वाण कहलाता है। रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पंच स्कन्धरूप आत्मा माननेका यह सहज परिणाम था कि निर्वाण दशामें उसका अस्तित्व न रहे। आश्चर्य है कि बुद्ध निर्वाण और आत्माके परलोकगामित्वका निर्णय बताये बिना ही मात्र दुःखनिवृत्तिके सर्वाङ्गीण औचित्यका समर्थन करते रहे।

यदि निर्वाणमें चित्तसन्ततिका निरोध हो जाता है, वह दीपककी लौ को तरह बुझ जाती है, तो बुद्ध उच्छेदवादके दोषसे कैसे बच सके ? आत्माके नास्तित्वसे इनकार तो वे इसी भयसे करते थे कि आत्माको नास्ति माना जाता है तो चार्वाककी तरह उच्छेदवादका प्रसंग आता है। निर्वाण अवस्थामें उच्छेद मानने और मरणके बाद उच्छेद माननेमें तात्त्विक दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है। बल्कि चार्वाकका सहज उच्छेद सबको सुकर क्या अनायाससाध्य होनेसे सुग्राह्य होगा और बुद्धका निर्वाणोत्तर उच्छेद अनेक प्रकारके ब्रह्मचर्यवास और ध्यान आदिके कष्टसे साध्य होनेके कारण दुर्ग्राह्य होगा। जब चित्तसन्तति भौतिक नहीं है और उसकी संसार-कालमें प्रतिसंधि ( परलोकगमन ) होती है, तब निर्वाण अवस्थामें उसके समूलोच्छेदका कोई औचित्य समझमें नहीं आता। अतः मोक्ष अवस्थामें उस चित्तसंततिकी सत्ता मानना ही चाहिए, जो कि अनादिकालसे आस्रवमलोंसे मलिन हो रही थी और जिसे साधनाके द्वारा निरास्रव अवस्थामें पहुँचाया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है। तत्त्वसंग्रहपञ्जिका ( पृष्ठ १०४ ) में आचार्य कमलशीलने संसार और निर्वाणके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला यह प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥"

अर्थात्—रागादि क्लेश और वासनामय चित्तको संसार कहते हैं और जब वही चित्त रागादि क्लेश और वासनाओंसे मुक्त हो जाता है, तब उसे भवान्त अर्थात् निर्वाण कहते हैं। इस श्लोकमें प्रतिपादित संसार और मोक्षका स्वरूप ही युक्तिसिद्ध और अनुभवगम्य है। चित्तकी रागादि अवस्था संसार है और उसीकी रागादिरहितता मोक्ष[1] है। अतः समस्त कर्मोंके क्षयसे होनेवाला स्वरूपलाभ ही मोक्ष[2] है। आत्माके अभाव या चैतन्यके उच्छेदको मोक्ष नहीं कह सकते। रोगकी निवृत्तिका नाम आरोग्य है, न कि रोगीकी निवृत्ति या समाप्ति। दूसरे शब्दोंमें स्वास्थ्यलाभको आरोग्य कहते हैं, न कि रोगके साथ-साथ रोगीकी मृत्यु या समाप्तिको।

## निर्वाणमें ज्ञानादि गुणोंका सर्वथा उच्छेद नहीं होता

वैशेषिक बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव विशेषगुणोंके उच्छेदको मोक्ष कहते हैं। इनका मानना है कि इन विशेष गुणोंकी उत्पत्ति आत्मा और मनके संयोगसे होती है। मनके संयोगके हट जानेसे ये गुण मोक्ष अवस्थामें उत्पन्न नहीं होते और आत्मा उस दशामें निर्गुण हो जाता है। जहाँ तक इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और सांसारिक दुःख-सुखका प्रश्न है, ये सब कर्मजन्य अवस्थायें हैं, अतः मुक्तिमें इनकी सत्ता नहीं रहती। पर बुद्धिका अर्थात् ज्ञानका, जो कि आत्माका निज गुण है, उच्छेद सर्वथा नहीं माना जा सकता। हाँ, संसार अवस्थामें जो खंडज्ञान मन और इन्द्रियके संयोगसे उत्पन्न होता था, वह अवश्य ही मोक्ष अवस्थामें नहीं रहता, पर जो इसका स्वरूपभूत चैतन्य है, जो इन्द्रिय और मनसे परे है, उसका उच्छेद किसी भी तरह नहीं हो सकता। आखिर निर्वाण अवस्थामें जब आत्माको स्वरूपस्थिति वैशेषिकको स्वीकृत ही है तब यह स्वरूप यदि कोई हो सकता है तो वह उसका इन्द्रियातीत चैतन्य ही हो सकता है। संसार अवस्थामें यही चैतन्य इन्द्रिय, मन और पदार्थ आदिके निमित्तसे नानाविध विषयाकार बुद्धियोंके रूपमें परिणति करता था। इन उपाधियोंके हट जानेपर उसका स्वस्वरूपमग्न होना स्वाभाविक ही है। कर्मके क्षयोपशमसे होनेवाले क्षायोपशमिक ज्ञान तथा कर्मजन्य सुखदुःखादिका विनाश तो जैन भी मोक्ष अवस्थामें मानते हैं, पर उसके निज चैतन्यका विनाश तो स्वरूपोच्छेदक होनेसे कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

## मिलिन्द-प्रश्नके निर्वाण वर्णनका तात्पर्य

मिलिन्द-प्रश्नमें निर्वाणका जो वर्णन है उसके निम्नलिखित वाक्य ध्यान देने योग्य हैं। "तृष्णाके निरोध हो जानेसे उपादानका निरोध हो जाता है, उपादानके निरोधसे भवका निरोध हो जाता है, भवका निरोध होनेसे जन्म लेना बन्द हो जाता है, पुनर्जन्मके बन्द होनेसे बूढ़ा होना, मरना, शोक, रोना,

---

१. 'मुक्तिर्निर्मलता धियः।"—तत्त्वसंग्रह पृष्ठ १८४

२. "आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्॥" —सिद्धिवि० पृ० ३८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीटना, दुःख, बेचैनी और परेशानी सभी दुःख रुक जाते हैं। महाराज, इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।" ( पृ० ८५ )

"निर्वाण न कर्मके कारण, न हेतुके कारण और न ऋतुके कारण उत्पन्न होता है।" ( पृ० ३२९ )

"हाँ महाराज, निर्वाण निर्गुण है, किसीने इसे बनाया नहीं है। निर्वाणके साथ उत्पन्न होने और न उत्पन्न होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। उत्पन्न किया जा सकता है अथवा नहीं, इसका भी प्रश्न नहीं आता। निर्वाण वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों कालोंके परे है। निर्वाण न आँखसे देखा जा सकता है, न कानसे सुना जा सकता है, न नाकसे सूंघा जा सकता है, न जीभसे चखा जा सकता है और न शरीरसे छुआ जा सकता है। निर्वाण मनसे जाना जा सकता है। अर्हत् पदको पाकर भिक्षु विशुद्ध, प्रणीत, ऋजु तथा आवरणों और सांसारिक कामोंसे रहित मनसे निर्वाणको देखता है।" ( पृ० ३३२ )

"निर्वाणमें सुख ही सुख है, दुःखका लेश भी नहीं रहता" ( पृ० ३८६ )

"महाराज, निर्वाणमें ऐसी कोई भी बात नहीं है, उपमाएँ दिखा, व्याख्या कर, तर्क और कारणके साथ निर्वाणके रूप, स्थान, काल या डीलडौल नहीं दिखाये जा सकते।" ( पृ० ३८८ )

"महाराज, जिस तरह कमल पानीसे सर्वथा अलिप्त रहता है उसी तरह निर्वाण सभी क्लेशोंसे अलिप्त रहता है। निर्वाण भी लोगोंकी कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णाकी प्यासको दूर कर देता है।" ( पृ० ३९१ )

"निर्वाण दवाकी तरह क्लेशरूपी विषको शान्त करता है, दुःखरूपी रोगोंका अन्त करता है और अमृतरूप है। वह महासमुद्रकी तरह अपरम्पार है। वह आकाशकी तरह न पैदा होता है, न पुराना होता है, न मरता है, न आवागमन करता है, दुर्ज्ञेय है, चोरोंसे नहीं चुराया जा सकता, किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहता, स्वच्छन्द खुला और अनन्त है। वह मणिरत्नकी तरह सारी इच्छाओंको पूरा कर देता है, मनोहर है, प्रकाशमान है और बड़े कामका होता है। वह लाल चन्दनकी तरह दुर्लभ, निराली गंधवाला और सज्जनों द्वारा प्रशंसित है। वह पहाड़की चोटीकी तरह अत्यन्त ही ऊँचा, अचल, अगम्य, राग-द्वेषरहित और क्लेश बीजोंके उपजनेके अयोग्य है। वह जगह न तो पूर्व दिशाकी ओर है, न पश्चिम दिशाकी ओर, न उत्तर दिशाकी ओर और न दक्षिण दिशाकी ओर, न ऊपर, न नीचे और न टेढ़े। जहाँ कि निर्वाण छिपा है। निर्वाणके पाये जानेकी कोई जगह नहीं है, फिर भी निर्वाण है। सच्ची राह पर चल, मनको ठीक ओर लगा निर्वाणका साक्षात्कार किया जा सकता है।" ( पृ० ३९२-४०३ तक हिन्दी अनुवाद का सार )

इन अवतरणोंसे यह मालूम होता है कि बुद्ध निर्वाणका कोई स्थान विशेष नहीं मानते थे और न किसी कालविशेषमें उत्पन्न या अनुत्पन्नकी चर्चा इसके सम्बन्धमें की जा सकती है। वैसे उसका जो स्वरूप "इन्द्रियातीत सुखमय, जन्म, जरा, मृत्यु आदिके क्लेशोंसे शून्य" इत्यादि शब्दोंके द्वारा वर्णित होता है, वह शून्य या अभावात्मक निर्वाणका न होकर सुखरूप निर्वाण का है।

निर्वाणको बुद्धने आकाशकी तरह असंस्कृत कहा है। असंस्कृतका अर्थ है जिसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य न हों। जिसकी उत्पत्ति या अनुत्पत्ति आदिका कोई विवेचन नहीं हो सकता हो, वह असंस्कृत पदार्थ है। माध्यमिक कारिकाकी संस्कृत-परीक्षामें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको संस्कृतका लक्षण बताया है। सो यदि असंस्कृतता निर्वाणके स्थानके सम्बन्धमें है तो उचित ही है; क्योंकि यदि निर्वाण किसी स्थानविशेषपर है, तो वह जगत्की तरह सन्ततिकी दृष्टिसे अनादि अनन्त ही होगा; उसके उत्पाद-अनुत्पादकी चर्चा ही व्यर्थ है। किन्तु उसका स्वरूप जन्म, जरा, मृत्यु आदि समस्त क्लेशोंसे रहित सुखमय ही हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अश्वघोषने सौन्दरनन्दमें ( १६ । २८, २९ ) निर्वाण प्राप्त आत्माके सम्बन्धमें जो यह लिखा है[1] कि तेलके चुक जानेपर दीपक जिस तरह न किसी दिशाको, न किसी विदिशाको, न आकाशको और न पृथ्वी को जाता है किन्तु केवल बुझ जाता है, उसी तरह क्लेशोंका क्षय होनेपर किसी दिशा-विदिशा, आकाश या पातालको नहीं जाकर शान्त हो जाता है। यह वर्णन निर्वाणके स्थान विशेषकी तरफ ही लगता है न कि स्वरूपकी तरफ। जिस तरह संसारी आत्माका नाम, रूप और आकारादि बताया जा सकता है, उस तरह निर्वाण अवस्थाको प्राप्त व्यक्तिका स्वरूप नहीं समझाया जा सकता।

वस्तुतः बुद्धने आत्माके स्वरूपके प्रश्नको ही जब अव्याकृत करार दिया, तब उसकी अवस्थाविशेष—निर्वाणके सम्बन्धमें विवाद होना स्वाभाविक ही था। भगवान् महावीरने मोक्षके स्वरूप और स्थान दोनोंके सम्बन्धमें सयुक्तिक विवेचन किया है। समस्त कर्मोंके विनाशके बाद आत्माके निर्मल और निश्चल चैतन्य-स्वरूपकी प्राप्ति ही मोक्ष है और मोक्ष अवस्थामें यह जीव समस्त स्थूल और सूक्ष्म शारीरिक बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त होकर लोकके अग्रभागमें अन्तिम शरीरके आकार होकर ठहरता है। आगे गतिके सहायक धर्म-द्रव्यके न होनेसे गति नहीं होती।

### मोक्ष न कि निर्वाण

जैन परम्परामें मोक्ष शब्द विशेष रूपसे व्यवहृत होता है उसका सीधा अर्थ है छूटना अर्थात् अनादि-कालसे जिन कर्मबन्धनोंसे यह आत्मा जकड़ा हुआ था, उन बन्धनोंकी परतन्त्रताको काट देना। बन्धन कट जानेपर जो बँधा था, वह स्वतन्त्र हो जाता है। यही उसकी मुक्ति है किन्तु बौद्ध परम्परामें 'निर्वाण' अर्थात् दीपककी तरह बुझ जाना, इस शब्दका प्रयोग होनेसे उसके स्वरूपमें ही घुटाला हो गया है। क्लेशोंके बुझने की जगह आत्माका बुझना ही निर्वाण समझ लिया गया है। कर्मोंके नाश करनेका अर्थ भी इतना ही है कि कर्मपुद्गल जीवसे भिन्न हो जाते हैं उनका अत्यन्त विनाश नहीं होता[2]। किसी भी सत्का अत्यन्त विनाश न कभी हुआ है और न होगा। पर्यायान्तर होना ही 'नाश' कहा जाता है। जो कर्मपुद्गल अमुक आत्माके साथ संयुक्त होनेके कारण उस आत्माके गुणोंका घात करनेकी वजहसे उसके लिए कर्मत्व पर्यायको धारण किये थे, मोक्षमें उसकी कर्मत्व पर्याय नष्ट हो जाती है। यानी जिस प्रकार आत्मा कर्मबन्धनसे छूटकर शुद्ध सिद्ध हो जाता है उसी तरह कर्मपुद्गल भी अपनी पर्यायसे उस समय मुक्त हो जाते हैं। यों तो सिद्ध स्थान पर रहनेवाली आत्माओंके साथ पुद्गलों या स्कन्धोंका संयोग सम्बन्ध होता रहता है, पर उन पुद्गलोंकी उनके प्रति कर्मत्व पर्याय नहीं होती, अतः वह बन्ध नहीं कहा जा सकता। अतः जैन परम्परामें आत्मा और कर्मपुद्गलका सम्बन्ध छूट जाना ही मोक्ष है। इस मोक्षमें दोनों द्रव्य अपने निज स्वरूपमें बने रहते हैं, न तो आत्मा दीपककी तरह बुझ जाता है और न कर्मपुद्गलका ही सर्वथा समूल नाश होता है। दोनोंकी पर्यायान्तर हो जाती है। जीवको शुद्ध दशा और पुद्गलकी यथासंभव शुद्ध या अशुद्ध कोई भी अवस्था हो जाती है।

### ५ संवर-तत्त्व

संवर रोकनेको कहते हैं। सुरक्षाका नाम संवर है। जिन द्वारोंसे कर्मोंका आस्रव होता था, उन द्वारों का निरोध कर देना संवर कहलाता है। आस्रव योगसे होता है, अतः योगकी निवृत्ति ही मूलतः संवरके

---

१. श्लोक पृ० १३९ पर देखो।

२. जीवाद् विश्लेषणं भेदः सतो नात्यन्तसंक्षयः" —आप्तप० श्लोक ११५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदपर प्रतिष्ठित हो सकती है। किन्तु मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको सर्वथा रोकना संभव नहीं है। शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए आहार करना, मलमूत्रका विसर्जन करना, चलना-फिरना, बोलना, रखना, उठाना आदि क्रियाएँ करनी ही पड़ती हैं। अतः जितने अंशोंमें मन, वचन और कायकी क्रियाओंका निरोध है, उतने अंशको गुप्ति कहते हैं। गुप्ति अर्थात् रक्षा। मन, वचन और कायकी अकुशल प्रवृत्तियोंसे रक्षा करना। यह गुप्ति ही संवरणका साक्षात् कारण है। गुप्तिके अतिरिक्त समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आदिसे भी संवर होता है। समिति आदिमें जितना निवृत्तिका अंश है उतना संवरका कारण होता है और प्रवृत्तिका अंश शुभ बन्धका हेतु होता है।

### समिति

समिति अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति, सावधानीसे कार्य करना। समिति पाँच प्रकार की है। ईर्या समिति-चार हाथ आगे देखकर चलना। भाषा समिति—हित-मित-प्रिय वचन बोलना। एषणा समिति—विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेना। आदान-निक्षेपण समिति—देख-शोधकर किसी वस्तुका रखना, उठाना। उत्सर्ग समिति—देख-शोधकर निर्जन्तु स्थानपर मलमूत्रादिका विसर्जन करना।

### धर्म

आत्मस्वरूपकी ओर ले जानेवाले और समाजको संधारण करनेवाले विचार और प्रवृत्तियाँ धर्म हैं। धर्म दश हैं। उत्तम क्षमा—क्रोधका त्याग करना। क्रोधके कारण उपस्थित होनेपर वस्तुस्वरूपका विचारकर विवेकजलसे उसे शान्त करना। जो क्षमा कायरताके कारण हो और आत्मामें दीनता उत्पन्न करे वह धर्म नहीं है, वह क्षमाभास है, दूषण है। उत्तम मार्दव—मृदुता, कोमलता, विनयभाव, मानका त्याग। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर आदिकी किंचित् विशिष्टताके कारण आत्मस्वरूपको न भूलना, इनका मद न चढ़ने देना। अहंकार दोष है और स्वाभिमान गुण। अहंकारमें दूसरेका तिरस्कार छिपा है और स्वाभिमानमें दूसरेके मानका सम्मान है। उत्तम आर्जव—ऋजुता, सरलता, मायाचारका त्याग। मन, वचन और कायकी कुटिलताको छोड़ना। जो मनमें हो, वही वचनमें और तदनुसार ही कायकी चेष्टा हो, जीवन-व्यवहारमें एकरूपता हो। सरलता गुण है और भोंदूपन दोष। उत्तम शौच—शुचिता, पवित्रता, निर्लोभ वृत्ति, प्रलोभनमें नहीं फँसना। लोभ कषायका त्यागकर मनमें पवित्रता लाना। शौच गुण है, परन्तु बाह्य सोला और चौकापंथ आदिके कारण छू-छू करके दूसरोंसे घृणा करना दोष है। उत्तम सत्य—प्रामाणिकता, विश्वास-परिपालन, तथ्य और स्पष्ट भाषण। सच बोलना धर्म है, परन्तु परनिन्दाके अभिप्रायसे दूसरोंके दोषोंका ढिंढोरा पीटना दोष है। परको बाधा पहुँचानेवाला सत्य भी कभी दोष हो सकता है। उत्तम संयम—इन्द्रिय-विजय और प्राणि-रक्षा। पाँचों इन्द्रियोंकी विषय-प्रवृत्तिपर अंकुश रखना, उनकी निरर्गल प्रवृत्तिको रोकना, इन्द्रियोंको वशमें करना। प्राणियोंकी रक्षाका ध्यान रखते हुए, खान-पान और जीवन-व्यवहारको अहिंसाकी भूमिकापर चलाना। संयम गुण है, पर भाव-शून्य बाह्य क्रियाकाण्डका अत्यधिक आग्रह दोष है। उत्तम तप—इच्छानिरोध। मनकी आशा और तृष्णाओं को रोककर प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य (सेवा), स्वाध्याय और व्युत्सर्ग (परिग्रहत्याग) की ओर चित्तवृत्तिका मोड़ना। ध्यान करना भी तप है। उपवास, एकाशन, रससत्य, एकान्तवास, मौन, कायक्लेश शरीरको सुकुमार न होने देना आदि बाह्य तप हैं। इच्छानिवृत्ति करके अकिंचन बननारूप तप गुण है और मात्र कायक्लेश करना, पंचाग्नि तपना, हठयोगकी कठिन क्रियाएँ आदि बालतप हैं। उत्तम त्याग—दान देना, त्यागकी भूमिकापर आना। शक्त्यनुसार भूखोंको भोजन, रोगीको औषध, अज्ञाननिवृत्तिके लिए ज्ञानके साधन जुटाना और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणिमात्रको अभय देना। देश और समाजके निर्माणके लिए, तन, धन आदिका त्याग। लाभ, पूजा और ख्याति आदिके उद्देश्यसे किया जानेवाला त्याग या दान उत्तम त्याग नहीं है। उत्तम आकिञ्चन्य—अकिञ्चनभाव, बाह्य पदार्थोंमें ममत्वका त्याग। धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रह तथा शरीरमें यह मेरा नहीं है, आत्माका धन तो उसके चैतन्य आदि गुण हैं, 'नास्ति मे किंचन'—मेरा कुछ नहीं, आदि भावनाएँ आकिञ्चन्य हैं। भौतिकतासे हटकर विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करना। उत्तम ब्रह्मचर्य—ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूपमें विचरण करना। स्त्री-सुखसे विरक्त होकर समस्त शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंको आत्मविकासोन्मुख करना। मनकी शुद्धिके बिना केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य न तो शरीरको ही लाभ पहुँचाता है और न मन तथा आत्मामें ही पवित्रता लाता है।

### अनुप्रेक्षा

सद्विचार, उत्तम भावनाएँ और आत्मचिन्तन अनुप्रेक्षा है। जगत्की अनित्यता, अशरणता, संसारका स्वरूप, आत्माका अकेला ही फल भोगना, देहकी भिन्नता और उसकी अपवित्रता, रागादि भावोंकी हेयता, सदाचारकी उपादेयता, लोकस्वरूपका चिन्तन और बोधिकी दुर्लभता आदिका बार-बार विचार करके चित्तको सुसंस्कारी बनाना, जिससे वह द्वन्द्व दशामें समताभाव रख सके। ये भावनाएँ चित्तको आस्रवकी ओरसे हटाकर संवरकी तरफ झुकाती हैं।

### परीषहजय

साधकको भूख, प्यास, ठंडी, गरमी, डाँस-मच्छर, चलने-फिरने-सोने आदिमें कंकड़, काँटे आदिकी बाधाएँ, बध, आक्रोश और मल आदिकी बाधाओंको शान्तिसे सहना चाहिए। नग्न रहकर भी स्त्री आदिको देखकर प्रकृतिस्थ बने रहना, चिरतपस्या करनेपर भी यदि ऋद्धि-सिद्धि नहीं होती तो तपस्याके प्रति अनादर नहीं होना और यदि कोई ऋद्धि प्राप्त हो जाय तो उसका गर्व नहीं करना, किसीके सत्कार पुरस्कारमें हर्ष और अपमानमें खेद नहीं करना, भिक्षा-भोजन करते हुए भी आत्मामें दीनता नहीं आने दे इत्यादि परीषहोंके जयसे चारित्रमें दृढ़निष्ठा होती है और कर्मोंका आस्रव रुक कर संवर होता है।

### चारित्र

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका संपूर्ण परिपालन करना पूर्ण चारित्र है। चारित्रके सामायिक आदि अनेक भेद हैं। सामायिक—समस्त पापक्रियाओंका त्याग और समताभावकी आराधना। छेदोपस्थापना—व्रतोंमें दूषण लग जानेपर दोषका परिहार कर पुनः व्रतोंमें स्थिर होना। परिहारविशुद्धि—इस चारित्रके धारक व्यक्तिके शरीरमें इतना हलकापन आ जाता है कि सर्वत्र गमन आदि प्रवृत्तियाँ करनेपर भी उसके शरीरसे जीवोंकी विराधना—हिंसा नहीं होती। सूक्ष्मसाम्पराय—समस्त क्रोधादिकषायोंका नाश होनेपर बचे हुए सूक्ष्म लोभके नाशकी भी तैयारी करना। यथाख्यात—समस्त कषायोंके क्षय होनेपर जीवन्मुक्त व्यक्तिका पूर्ण आत्मस्वरूपमें विचरण करना। इस तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रसे कर्मशत्रुके आनेके द्वार बन्द हो जाते हैं। यही संवर है।

### ६. निर्जरा तत्त्व

गुप्ति आदिसे सर्वतः संवृत—सुरक्षित व्यक्ति आगे आनेवाले कर्मोंको तो रोक ही देता है, साथ ही पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करके क्रमशः मोक्षको प्राप्त करता है। निर्जरा झड़नेको कहते हैं। यह दो प्रकार की है—एक औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा और दूसरी अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा। तप आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधनाओंके द्वारा कर्मोंको बलात् उदयमें लाकर बिना फल दिये झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक क्रमसे प्रतिसमय कर्मोंका फल देकर झड़ते जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रतिसमय हर एक प्राणीके होती ही रहती है। इसमें पुराने कर्मोंकी जगह नूतन कर्म लेते जाते हैं। गुप्ति, समिति और खासकर तपरूपी अग्निसे कर्मोंको फल देनेके पहले ही भस्म कर देना अविपाक या औपक्रमिक निर्जरा है। 'कर्मोंकी गति टल ही नहीं सकती' यह एकान्त नियम नहीं है। आखिर कर्म हैं क्या ? अपने पुराने संस्कार ही वस्तुतः कर्म हैं। यदि आत्मामें पुरुषार्थ है, और वह साधना करे; तो क्षणमात्रमें पुरानी वासनाएँ क्षीण हो सकती हैं।

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।"

अर्थात् 'सैकड़ों कल्पकाल बीत जानेपर भी बिना भोगे कर्मोंका नाश नहीं हो सकता।' यह मत प्रवाहपतित साधारण प्राणियोंको लागू होता है। पर जो आत्मपुरुषार्थी साधक हैं उनकी ध्यानरूपी अग्नि तो क्षणमात्रमें समस्त कर्मोंको भस्म कर सकती है—

"ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्।"

ऐसे अनेक महात्मा हुए हैं, जिन्होंने अपनी साधनाका इतना बल प्राप्त कर लिया था कि साधु-दीक्षा लेते ही उन्हें कैवल्यकी प्राप्ति हो गई थी। पुरानी वासनाओं और राग, द्वेष तथा मोहके कुसंस्कारोंको नष्ट करनेका एकमात्र मुख्य साधन है—'ध्यान'—अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करके उसे एकाग्र करना।

इस प्रकार भगवान् महावीरने बन्ध ( दुःख ), बन्धके कारण ( आस्रव ), मोक्ष और मोक्षके कारण ( संवर और निर्जरा ) इन पाँच तत्त्वोंके साथ-ही-साथ उस आत्मतत्त्वके ज्ञानकी खास आवश्यकता बताई जिससे बन्धन और मोक्ष होता है। इसी तरह उस अजीव तत्त्वके ज्ञानकी भी आवश्यकता है जिससे बँधकर यह जीव अनादिकालसे स्वरूपच्युत हो रहा है।

## मोक्षके साधन

वैदिक संस्कृतिमें विचार या तत्त्वज्ञानको मोक्षका साधन माना है जब कि श्रमणसंस्कृति चारित्र अर्थात् आचारको मोक्षका साधन स्वीकार करती है। यद्यपि वैदिक संस्कृतिने तत्त्वज्ञानके साथ-ही-साथ वैराग्य और संन्यासको भी मुक्तिका अङ्ग माना है, पर वैराग्यका उपयोग तत्त्वज्ञानकी पुष्टिमें किया है, अर्थात् वैराग्यसे तत्त्वज्ञान पुष्ट होता है और फिर उससे मुक्ति मिलती है। पर जैन तीर्थंकरोंने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।" ( त० सू० १।१ ) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षका मार्ग बताया है। ऐसा सम्यग्ज्ञान जो सम्यक्चारित्रका पोषक या वर्धक नहीं है, मोक्षका साधन नहीं होता। जो ज्ञान जीवनमें उतरकर आत्मशोधन करे, वही मोक्षका साधन है। अन्ततः सच्ची श्रद्धा और ज्ञानका फल चारित्र-शुद्धि ही है। ज्ञान थोड़ा भी हो, पर यदि वह जीवनशुद्धिमें प्रेरणा देता है तो सार्थक है। अहिंसा, संयम और तप साधनाएँ हैं, मात्र ज्ञानरूप नहीं हैं। कोरा ज्ञान भार ही है यदि वह आत्मशोधन नहीं करता। तत्त्वोंकी दृढ़ श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन मोक्षमहलकी पहिली सीढ़ी है। भय, आशा, स्नेह और लोभसे जो श्रद्धा चल और मलिन हो जाती है वह श्रद्धा अन्धविश्वासकी सीमामें ही है। जीवन्त श्रद्धा वह है जिसमें प्राणों तककी बाजी लगाकर तत्त्वको कायम रखा जाता है। उस परम अवगाढ़ दृढ़ निष्ठाको दुनियाका कोई भी प्रलोभन विचलित नहीं कर सकता, उसे हिला नहीं सकता। इस ज्योतिके जगते ही साधकको अपने लक्ष्यका स्पष्ट दर्शन होने लगता है। उसे प्रतिक्षण भेदविज्ञान और स्वानुभूति होती है। वह समझता है कि धर्म आत्म-



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूपकी प्राप्तिमें है, न कि शुष्क बाह्य क्रियाकाण्डमें। इसलिये उसकी परिणति एक विलक्षण प्रकार की हो जाती है। आत्मकल्याण, समाजहित, देशनिर्माण और मानवताके उद्धारका स्पष्ट मार्ग उसकी आँखोंमें झूलता है और वह उसके लिये प्राणोंकी बाजी तक लगा देता है। स्वरूपज्ञान और स्वाधिकारकी मर्यादाका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और अपने अधिकार और स्वरूपकी सुरक्षाके अनुकूल जीवनव्यवहार बनाना सम्यक्-चारित्र है। तात्पर्य यह कि आत्माकी वह परिणति सम्यक्चारित्र है जिसमें केवल अपने गुण और पर्यायों तक ही अपना अधिकार माना जाता है और जीवन-व्यवहारमें तदनुकूल ही प्रवृत्ति होती है, दूसरेके अधिकारों-को हड़पनेकी भावना भी नहीं होती। यह व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी स्वावलम्बी चर्या ही परम सम्यक्चारित्र है। अतः श्रमणसंस्कृतिने जीवनसाधना अहिंसाके मौलिक समत्वपर प्रतिष्ठित की है, और प्राणिमात्रके अभय और जीवित रहनेका सतत विचार किया है। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे परिपुष्ट सम्यक्चारित्र ही मोक्षका साक्षात् साधन होता है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# षट्द्रव्य विवेचन

## छह द्रव्य

द्रव्यका सामान्य लक्षण यह है—जो मौलिक पदार्थ अपनी पर्यायोंको क्रमशः प्राप्त हो वह द्रव्य है। द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त[1] होता है। उसके मूल छह भेद हैं—१. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्म, ४. अधर्म, ५. आकाश और ६. काल। वे छहों द्रव्य प्रमेय होते हैं।

### १. जीव द्रव्य

जीव द्रव्यको, जिसे आत्मा भी कहते हैं, जैनदर्शनमें एक स्वतंत्र मौलिक माना है। उसका सामान्य-लक्षण उपयोग[2] है। उपयोग अर्थात् चैतन्यपरिणति। चैतन्य ही जीवका असाधारण गुण है जिससे वह समस्त जड़द्रव्योंसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे इस चैतन्यके ज्ञान और दर्शन रूपसे दो परिणमन होते हैं। जिस समय चैतन्य 'स्व' से भिन्न किसी ज्ञेयको जानता है उस समय वह 'ज्ञान' कहलाता है और जब चैतन्यमात्र चैतन्याकार रहता है, तब वह 'दर्शन' कहलाता है। जीव असंख्यात प्रदेशवाला है। चूंकि उसका अनादिकालसे सूक्ष्म कार्मण शरीरसे सम्बन्ध है, अतः वह कर्मोदयसे प्राप्त शरीरके आकारके अनुसार छोटे-बड़े आकारको धारण करता है। इसका स्वरूप निम्नलिखित गाथामें बहुत स्पष्ट बताया गया है—

"जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥"

—द्रव्यसंग्रह गाथा २

अर्थात्—जीव उपयोगरूप है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेहपरिमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है।

यद्यपि जीवमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चार पुद्गलके धर्म नहीं पाये जाते, इसलिए वह स्वभावसे अमूर्तिक है। फिर भी प्रदेशोंमें संकोच और विस्तार होनेसे वह अपने छोटे-बड़े शरीरके परिमाण हो जाता है। आत्माके आकारके विषयमें भारतीय दर्शनोंमें मुख्यतया तीन मत पाये जाते हैं।[3] उपनिषद्में आत्माके सर्वगत और व्यापक होनेका जहाँ उल्लेख मिलता है, वहाँ उसके [4]अंगुष्ठमात्र तथा अणुरूप होनेका भी कथन है।

---

१. "अपरिचत्तसहावेणुप्पायव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति बुच्चंति॥३॥"—प्रवचनसार।
"दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं।"—पंचा० गा० ९।

२. "उपयोगो लक्षणम्"—तत्त्वार्थसूत्र २।८।

३. "सर्वव्यापिनमात्मानम्।"—श्वे० १।१६।

४. "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः"—श्वे० ३।१३। कठो० ४।१२।
"अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा....."—छान्दो० ३।१४।३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### व्यापक आत्मवाद

वैदिक दर्शनोंमें प्रायः आत्माको अमूर्त और व्यापी स्वीकार किया है। व्यापक होनेपर भी शरीर और मनके सम्बन्धसे शरीरावच्छिन्न ( शरीरके भीतरके ) आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादि विशेष गुणोंकी उत्पत्ति होती है। अमूर्त होनेके कारण आत्मा निष्क्रिय भी है। उसमें गति नहीं होती। शरीर और मन चलता है, और अपनेसे सम्बद्ध आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादिकी अनुभूतिका साधन बनता जाता है।

इस व्यापक आत्मवादमें सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि—एक अखण्ड द्रव्य कुछ भागोंमें सगुण और कुछ भागोंमें निर्गुण कैसे रह सकता है? फिर जब सब आत्माओंका सम्बन्ध सबके शरीरोंके साथ है, तब अपने-अपने सुख, दुःख और भोगका नियम बनना कठिन है। अदृष्ट भी नियामक नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येकके अदृष्टका सम्बन्ध उसकी आत्माकी तरह अन्य शेष आत्माओंके साथ भी है। शरीरसे बाहर अपनी आत्माकी सत्ता सिद्ध करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। व्यापक-पक्षमें एकके भोजन करनेपर दूसरेको तृप्ति होनी चाहिए, और इस तरह समस्त व्यवहारोंका सांकर्य हो जायगा। मन और शरीरके सम्बन्धकी विभिन्नतासे व्यवस्था बैठाना भी कठिन है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसमें संसार और मोक्षकी व्यवस्थाएँ ही चौपट हो जाती हैं। यह सर्वसम्मत नियम है कि जहाँ गुण पाये जाते हैं, वहीं उसके आधारभूत द्रव्यका सद्भाव माना जाता है। गुणोंके क्षेत्रसे गुणीका क्षेत्र न तो बड़ा होता है, और न छोटा ही। सर्वत्र आकृतिमें गुणीके बराबर ही गुण होते हैं। अब यदि हम विचार करते हैं तो जब ज्ञानदर्शनादि आत्माके गुण हमें शरीरके बाहर उपलब्ध नहीं होते तब गुणोंके बिना गुणीका सद्भाव शरीरके बाहर कैसे माना जा सकता है?

### अणु आत्मवाद

इसी तरह आत्माको अणुरूप माननेपर, अँगूठेमें काँटा चुभनेसे सारे शरीरके आत्मप्रदेशोंमें कम्पन और दुःखका अनुभव होना असम्भव हो जाता है। अणुरूप आत्माकी सारे शरीरमें अतिशीघ्र गति माननेपर भी इस शंकाका उचित समाधान नहीं होता; क्योंकि क्रम अनुभवमें नहीं आता। जिस समय अणु आत्माका चक्षुके साथ सम्बन्ध होता है, उस समय भिन्नक्षेत्रवर्ती रसना आदि इन्द्रियोंके साथ युगपत् सम्बन्ध होना असंभव है। किन्तु नीबूको आँखसे देखते ही जिह्वा इन्द्रियमें पानीका आना यह सिद्ध करता है कि दोनों इन्द्रियोंके प्रदेशोंसे आत्मा युगपत् सम्बन्ध रखता है। सिरसे लेकर पैर तक अणुरूप आत्माके चक्कर लगानेमें कालभेद होना स्वाभाविक है जो कि सर्वांगीण रोमाञ्चादि कार्यसे ज्ञात होनेवाली युगपत् सुखानुभूतिके विरुद्ध है। यही कारण है कि जैनदर्शनमें आत्माके प्रदेशोंमें संकोच और विस्तारकी शक्ति मानकर उसे शरीरपरिमाणवाला स्वीकार किया है। एक ही प्रश्न इस सम्बन्धमें उठता है कि—'अमूर्तिक आत्मा कैसे छोटे-बड़े शरीरमें भरा रह सकता है, उसे तो व्यापक ही होना चाहिए या फिर अणुरूप?' किन्तु जब अनादिकालसे इस आत्मामें पौद्गलिक कर्मोंका सम्बन्ध है, तब उसके शुद्ध स्वभावका आश्रय लेकर किये जानेवाले तर्क कहाँ तक संगत हैं? 'इस प्रकारका एक अमूर्तिक द्रव्य है जिसमें कि स्वभावसे संकोच और विस्तार होता है।' यह माननेमें युक्तिका बल अधिक है; क्योंकि हमें अपने ज्ञान और सुखादि गुणोंका अनुभव अपने शरीरके भीतर ही होता है।

### भूत-चैतन्यवाद

चार्वाक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इस भूतचतुष्टयके विशिष्ट रासायनिक मिश्रणसे शरीरकी उत्पत्तिकी तरह आत्माकी भी उत्पत्ति मानते हैं। जिस प्रकार महुआ आदि पदार्थोंके सड़ानेसे शराब बनती है और उसमें मादक शक्ति स्वयं आ जाती है उसी तरह भूतचतुष्टयके विशिष्ट संयोगसे चैतन्य शक्ति भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न हो जाती है। अतः चैतन्य आत्माका धर्म न होकर शरीरका ही धर्म है और इसलिए जीवनकी धारा गर्भसे लेकर मरणपर्यन्त ही चलती है। मरण-कालमें शरीरयन्त्रमें विकृति आ जानेसे जीवन-शक्ति समाप्त हो जाती है। यह देहात्मवाद बहुत प्राचीन कालसे प्रचलित है और इसका उल्लेख उपनिषदोंमें भी देखा जाता है।

देहसे भिन्न आत्माकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए 'अहम्' प्रत्यय ही सबसे बड़ा प्रमाण है, जो 'अहं सुखी, अहं दुःखी' आदिके रूपमें प्रत्येक प्राणीके अनुभवमें आता है। मनुष्योंके अपने-अपने जन्मान्तरीय संस्कार होते हैं, जिनके अनुसार वे इस जन्ममें अपना विकास करते हैं। जन्मान्तरस्मरणकी अनेकों घटनाएँ सुनी गई हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इस वर्तमान शरीरको छोड़कर आत्मा नये शरीरको धारण करता है। यह ठीक है कि—इस कर्मपरतंत्र आत्माकी स्थिति बहुत कुछ शरीर और शरीरके अवयवोंके अधीन हो रही है। मस्तिष्कके किसी रोगसे विकृत हो जानेपर समस्त अर्जित ज्ञान विस्मृतिके गर्भमें चला जाता है। रक्तचापकी कमी-बेशी होनेपर उसका हृदयकी गति और मनोभावोंके ऊपर प्रभाव पड़ता है।

आधुनिक भूतवादियोंने भी थाइराइड और पिचुयेटरी ( Thyroyd and Pituatury ) ग्रन्थियोंमेंसे उत्पन्न होनेवाले हॉरमोन ( Hormone ) नामक द्रव्यके कम हो जानेपर ज्ञानादिगुणोंमें कमी आ जाती है, यह सिद्ध किया है। किन्तु यह सब देहपरिमाणवाले स्वतन्त्र आत्मतत्त्वके माननेपर ही संभव हो सकता है; क्योंकि संसारी दशामें आत्मा इतना परतन्त्र है कि उसके अपने निजी गुणोंका विकास भी बिना इन्द्रियादिके सहारे नहीं हो पाता। ये भौतिक द्रव्य उसके गुणविकासमें उसी तरह सहारा देते हैं, जैसे कि झरोखेसे देखनेवाले पुरुषको देखनेमें झरोखा सहारा देता है। [1]कहीं-कहीं जैन ग्रन्थोंमें जीवके स्वरूपका वर्णन करते समय पुद्गल विशेषण भी दिया है, यह एक नई बात है। वस्तुतः वहाँ उसका तात्पर्य इतना ही है कि जीवका वर्तमान विकास और जीवन जिन आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा और मन पर्याप्तियोंके सहारे होता है वे सब पौद्गलिक हैं। इस तरह निमित्तकी दृष्टिसे उसमें 'पुद्गल' विशेषण दिया गया है, स्वरूपकी दृष्टिसे नहीं। आत्मवादके प्रसंगमें जैनदर्शनका उसे शरीररूप न मानकर पृथक् द्रव्य स्वीकार करके भी शरीरपरिमाण मानना अपनी अनोखी सूझ है और इससे भौतिकवादियोंके द्वारा दिये जानेवाले आक्षेपोंका निराकरण हो जाता है।

## इच्छा आदि स्वतन्त्र आत्माके धर्म हैं

इच्छा, संकल्पशक्ति और भावनाएँ केवल भौतिक मस्तिष्ककी उपज नहीं कही जा सकतीं; क्योंकि किसी भी भौतिक यन्त्रमें स्वयं चलने, अपने आपको टूटनेपर सुधारने और अपने सजातीयको उत्पन्न करनेकी क्षमता नहीं देखी जाती। अवस्थाके अनुसार बढ़ना, घावका अपने आप भर जाना, जीर्ण हो जाना इत्यादि ऐसे धर्म हैं, जिनका समाधान केवल भौतिकतासे नहीं हो सकता। हजारों प्रकारके छोटे-बड़े यन्त्रोंका आविष्कार, जगत्के विभिन्न कार्य-कारणभावोंका स्थिर करना, गणितके आधारपर ज्योतिषविद्याका विकास, मनोरम कल्पनाओंसे साहित्याकाशको रंग-बिरंगा करना आदि बातें, एक स्वयं समर्थ, स्वयं चैतन्यशाली द्रव्यका ही कार्य हो सकती हैं। प्रश्न उसके व्यापक, अणु-परिमाण या मध्यम परिणामका हमारे सामने है। अनुभव-सिद्ध कार्यकारणभाव हमें उसे संकोच और विस्तार-स्वभाववाला स्वभावतः अमूर्तिक द्रव्य मानने को प्रेरित करता है। किसी असंयुक्त अखण्ड द्रव्यके गुणोंका विकास नियत प्रदेशोंमें नहीं हो सकता।

---

१. "जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।"

—उद्धृत, धवला टी० प्र० पु०, पृष्ठ, ११८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिस प्रकार आत्माको शरीरपरिमाण माननेपर भी देखनेकी शक्ति आँखमें रहनेवाले आत्मप्रदेशोंमें ही मानी जाती है और सूँघनेकी शक्ति नाकमें रहनेवाले आत्मप्रदेशोंमें ही, उसी तरह आत्माको व्यापक मान करके शरीरान्तर्गत आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादि गुणोंका विकास माना जा सकता है ? परन्तु शरीरप्रमाण आत्मामें देखने और सूँघनेकी शक्ति केवल उन-उन आत्मप्रदेशोंमें ही नहीं मानी गई है, अपितु सम्पूर्ण आत्मामें । वह आत्मा अपने पूर्ण शरीरमें सक्रिय रहता है, अतः वह उन-उन चक्षु, नाक आदि उपकरणोंके झरोखोंसे रूप और गंध आदिका परिज्ञान करता है । अपनी वासनाओं और कर्म-संस्कारोंके कारण उसकी अनन्त शक्ति इसी प्रकार छिन्न-विच्छिन्न रूपसे प्रकट होती है । जब कर्मवासनाओं और सूक्ष्म कर्मशरीरका संपर्क छूट जाता है, तब यह अपने अनन्त चैतन्य स्वरूपमें लीन हो जाता है । उस समय इसके आत्मप्रदेश अन्तिम समयके आकार रह जाते हैं; क्योंकि उनके फैलने और सिकुड़नेका कारण जो कर्म था, वह नष्ट हो चुका है; इसलिए उनका अन्तिम शरीरके आकार रह जाना स्वाभाविक ही है ।

संसार अवस्थामें उसकी इतनी परतंत्र दशा हो गई है कि वह अपनी किसी भी शक्तिका विकास बिना शरीर और इन्द्रियोंके सहारे नहीं कर सकता है । और तो जाने दीजिए, यदि उपकरण नष्ट हो जाता है, तो वह अपनी जाग्रत् शक्तिको भी उपयोगमें नहीं ला सकता । देखना, सूँघना, चखना, सुनना और स्पर्श करना ये क्रियायें जैसे इन्द्रियोंके बिना नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार विचारना, संकल्प और इच्छा आदि भी बिना मनके नहीं हो पाते; और मनकी गति विधि समग्र शरीर-यन्त्रके चालू रहनेपर निर्भर करती है । इसी अत्यन्त परनिर्भरताके कारण जगत्के अनेक विचारक इसकी स्वतंत्र सत्ता माननेको भी प्रस्तुत नहीं हैं । वर्तमान शरीरके नष्ट होते ही जीवनभरका उपार्जित ज्ञान, कला-कौशल और चिरभावित भावनाएँ सब अपने स्थूलरूपमें समाप्त हो जाती हैं । इनके अतिसूक्ष्म संस्कार-बीज ही शेष रह जाते हैं । अतः प्रतीति, अनुभव और युक्ति हमें सहज ही इस नतीजेपर पहुँचा देती हैं, कि आत्मा केवल भूतचतुष्टयरूप नहीं है, किन्तु उनसे भिन्न, पर उनके सहारे अपनी शक्तिको विकसित करनेवाला, स्वतंत्र, अखण्ड और अमूर्तिक पदार्थ है । इसकी आनन्द और सौन्दर्यानुभूति स्वयं इसके स्वतन्त्र अस्तित्वके खासे प्रमाण हैं । राग और द्वेषका होना तथा उनके कारण हिंसा आदिके आरम्भमें जुट जाना भौतिकयंत्रका काम नहीं हो सकता । कोई भी यन्त्र अपने आप चले, स्वयं बिगड़ जाय और बिगड़ने पर अपनी मरम्मत भी स्वयं कर ले, स्वयं प्रेरणा ले, और समझ-बूझकर चले, यह असंभव है ।

## कर्त्ता और भोक्ता

आत्मा स्वयं कर्मोंका कर्त्ता है और उनके फलोंका भोक्ता है । सांख्यकी तरह वह अकर्त्ता और अपरिणामी नहीं है और न प्रकृतिके द्वारा किये गए कर्मोंका भोक्ता ही । इस सर्वदा परिणामी जगत्में प्रत्येक पदार्थका परिणमन-चक्र प्राप्त सामग्रीसे प्रभावित होकर और अन्यको प्रभावित करके प्रतिक्षण चल रहा है । आत्माकी कोई भी क्रिया, चाहे वह मनसे विचारात्मक हो, या वचनव्यवहाररूप हो, या शरीरकी प्रवृत्तिरूप हो, अपने कार्मण शरीरमें और आसपासके वातावरणमें निश्चित असर डालती है । आज यह वस्तु सूक्ष्म कैमरा यन्त्रसे प्रमाणित की जा चुकी है । जिस कुर्सीपर एक व्यक्ति बैठता है, उस व्यक्तिके उठ जानेके बाद अमुक समय तक वहाँके वातावरणमें उस व्यक्तिका प्रतिबिम्ब कैमरेसे लिया गया है । विभिन्न प्रकारके विचारों और भावनाओंकी प्रतिनिधिभूत रेखाएँ मस्तिष्कमें पड़ती हैं । यह भी प्रयोगोंसे सिद्ध किया जा चुका है ।

चैतन्य इन्द्रियोंका धर्म भी नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रियोंके बने रहनेपर चैतन्य नष्ट हो जाता है । यदि प्रत्येक इन्द्रियका धर्म चैतन्य माना जाता है; तो एक इन्द्रियके द्वारा जाने गये पदार्थका इन्द्रियान्तरसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुसन्धान नहीं होना चाहिए। पर इमलीको या आमकी फाँकको देखते ही जीभमें पानी आ जाता है। अतः ज्ञात होता है कि आँख और जीभ आदि इन्द्रियोंका प्रयोक्ता कोई पृथक् सूत्र-संचालक है। जिस प्रकार शरीर अचेतन है उसी तरह इन्द्रियाँ भी अचेतन हैं, अतः अचेतनसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हो; तो उसके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदिका अन्वय चैतन्यमें उसी तरह होना चाहिए, जैसे कि मिट्टीके रूपादिका अन्वय मिट्टीसे उत्पन्न घड़ेमें होता है।

तुरन्त उत्पन्न हुए बालकमें दूध पीने आदिकी चेष्टाएँ उसके पूर्वभवके संस्कारों को सूचित करती हैं। कहा भी है—

"तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेः भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः॥"

—उद्धृत, प्रमेयरत्नमाला ४/८।

अर्थात्—तत्काल उत्पन्न हुए बालककी स्तनपानकी चेष्टासे, भूत, राक्षस आदिके सद्भावसे, परलोकके स्मरणसे और भौतिक रूपादि गुणोंका चैतन्यमें अन्वय न होनेसे एक अनादि अनन्त आत्मा पृथक् द्रव्य सिद्ध होता है, जो सबका ज्ञाता है।

## रागादि वातपित्तादिके धर्म नहीं

राग, द्वेष, क्रोध आदि विकार भी चैतन्यके ही होते हैं। वे वात, पित्त और कफ आदि भौतिक द्रव्योंके धर्म नहीं हैं, क्योंकि[1] वातप्रकृतिवालेके भी पित्तजन्य द्वेष और पित्तप्रकृतिवालेके भी कफजन्य राग और कफ-प्रकृतिवालेके भी वातजन्य मोह आदि देखे जाते हैं। वातादिकी वृद्धिमें रागादिकी वृद्धि नहीं देखी जाती, अतः इन्हें वात, पित्त आदिका धर्म नहीं माना जा सकता। यदि ये रागादि वातादिजन्य हों तो सभी वातादि-प्रकृतिवालोंके समान रागादि होने चाहिये। पर ऐसा नहीं देखा जाता। फिर वैराग्य, क्षमा और शान्ति आदि प्रतिपक्षी भावनाओंसे रागादिका क्षय नहीं होना चाहिये।

## विचार वातावरण बनाते हैं

इस तरह जब आत्मा और भौतिक पदार्थोंका स्वभाव ही प्रतिक्षण परिणमन करनेका है और वातावरणके अनुसार प्रभावित होनेका तथा वातावरणको भी प्रभावित करनेका है; तब इस बातके सिद्ध करनेकी विशेष आवश्यकता नहीं रहती कि हमारे अमूर्त व्यापारोंका भौतिक जगत्पर क्या असर पड़ता है? हमारा छोटे-से छोटा शब्द ईथरकी तरंगोंमें अपने वेगके अनुसार, गहरा या उथला कम्पन पैदा करता है। यह झनझनाहट रेडियो-यन्त्रोंके द्वारा कानोंसे सुनी जा सकती है। और जहाँ प्रेषक रेडियो-यन्त्र मौजूद हैं, वहाँसे तो यथेच्छ शब्दोंको निश्चित स्थानोंपर भेजा जा सकता है। ये संस्कार वातावरणपर सूक्ष्म और स्थूल रूपमें बहुत कालतक बने रहते हैं। कालकी गति उन्हें धुँधला और नष्ट करती है। इसी तरह जब आत्मा कोई अच्छा या बुरा विचार करता है, तो उसकी इस क्रियासे आस-पासके वातावरणमें एक प्रकारकी खलबली मच जाती है, और उस विचारकी शक्तिके अनुसार वातावरणमें क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। जगत्के कल्याण और मंगल-कामनाके विचार चित्तको हलका और प्रसन्न रखते हैं। वे प्रकाशरूप होते हैं और उनके संस्कार वातावरणपर एक रोशनी डालते हैं, तथा अपने अनुरूप पुद्गल परमाणुओंको अपने शरीरके भीतरसे ही, या शरीरके बाहरसे खींच लेते हैं। उन विचारोंके संस्कारोंसे प्रभावित उन पुद्गल द्रव्योंका सम्बन्ध अमुक काल-

---

१. 'व्यभिचारान्न वातादिधर्मः, प्रकृतिसंकरात्।'—प्रमाणवा० १।१५०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तक उस आत्माके साथ बना रहता है। इसीके परिपाकसे आत्मा कालान्तरमें अच्छे और बुरे अनुभव और प्रेरणाओंको पाता है। जो पुद्गल द्रव्य एक बार किन्हीं विचारोंसे प्रभावित होकर खिंचा या बँधा है, उसमें भी कालान्तरमें दूसरे-दूसरे विचारोंसे बराबर हेरफेर होता रहता है। अन्तमें जिस-जिस प्रकारके जितने संस्कार बचे रहते हैं; उस-उस प्रकारका वातावरण उस व्यक्तिको उपस्थित हो जाता है।

वातावरण और आत्मा इतने सूक्ष्म प्रतिबिम्बग्राही होते हैं कि ज्ञात या अज्ञात भावसे होनेवाले प्रत्येक स्पन्दनके संस्कारोंको वे प्रतिक्षण ग्रहण करते रहते हैं। इस परस्पर प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी क्रियाको हम 'प्रभाव' शब्दसे कहते हैं। हमें अपने समान स्वभाववाले व्यक्तिको देखते ही क्यों प्रसन्नता होती है? और क्यों अचानक किसी व्यक्तिको देखकर जी घृणा और क्रोधके भावोंसे भर जाता है? इसका कारण चित्तकी वह प्रतिबिम्बग्राहिणी सूक्ष्म शक्ति है, जो आँखोंकी दूरबीनसे शरीरकी स्थूल दीवारको पार करके सामनेवालेके मनोभावोंका बहुत कुछ आभास पा लेती है। इसीलिए तो एक प्रेमीने अपने मित्रके इस प्रश्नके उत्तरमें कि "तुम मुझे कितना चाहते हो?" कहा था कि "अपने हृदयमें देख लो।" कविश्रेष्ठ कालिदास तथा विश्वकवि टैगोरने प्रेमकी व्याख्या इन शब्दोंमें की है कि जिसको देखते ही हृदय किसी अनिर्वचनीय भावोंमें बहने लगे वही प्रेम है और सौंदर्य वह है जिसको देखते ही आँखें और हृदय कहने लगें कि 'न जाने तुम क्यों मुझे अच्छे लगते हो?" इसीलिए प्रेम और सौंदर्यकी भावनाओंके कम्पन एकाकार होकर भी उनके बाह्य आधार परस्पर इतने भिन्न होते हैं कि स्थूल विचारसे उनका विश्लेषण कठिन हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रभावका परस्पर आदान-प्रदान प्रतिक्षण चालू है। इसमें देश, काल और आकारका भेद भी व्यवधान नहीं दे सकता। परदेशमें गये पतिके ऊपर आपत्ति आनेपर पतिपरायणा नारीका सहसा अनमना हो जाना इसी प्रभावसूत्रके कारण होता है।

इसीलिए जगत्के महापुरुषोंने प्रत्येक भव्यको एक ही बात कही है कि 'अच्छा वातावरण बनाओ; मंगलमय भावोंको चारों ओर बिखेरो।' किसी प्रभावशाली योगीके अचिन्त्य प्रेम और अहिंसाकी विश्वमैत्री रूप संजीवन धारासे आसपासकी वनस्पतियोंका असमयमें पुष्पित हो जाना और जातिविरोधी साँप-नेवला आदि प्राणियोंका अपना साधारण वैर भूलकर उनके अमृतपूत वातावरणमें परस्पर मैत्रीके क्षणोंका अनुभव करना कोई बहुत अनहोनी बात नहीं है, यह तो प्रभावकी अचिन्त्य शक्तिका साधारण स्फुरण है।

## जैसी करनी वैसी भरनी

निष्कर्ष यह है कि आत्मा अपनी मन, वचन और कायकी क्रियाओंके द्वारा वातावरणसे उन पुद्गल परमाणुओंको खींच लेता है, या प्रभावित करके कर्मरूप बना देता है, जिनके सम्पर्कमें आते ही वह फिर उसी प्रकारके भावोंको प्राप्त होता है। कल्पना कीजिए कि एक निर्जन स्थानमें किसी हत्यारेने दुष्टबुद्धिसे किसी निर्दोष व्यक्तिकी हत्या की। मरते समय उसने जो शब्द कहे और चेष्टाएँ कीं वे यद्यपि किसी दूसरेने नहीं देखीं, फिर भी हत्यारेके मन और उस स्थानके वातावरणमें उनके फोटो बराबर अंकित हुए हैं। जब कभी भी वह हत्यारा शान्तिके क्षणोंमें बैठता है, तो उसके चित्तपर पड़ा हुआ वह प्रतिबिम्ब उसकी आँखोंके सामने झूलता है, और वे शब्द उसके कानोंसे टकराते हैं। वह उस स्थानमें जानेसे घबड़ाता है और स्वयं अपनेमें परेशान होता है। इसीको कहते हैं कि 'पाप सिरपर चढ़कर बोलता है।' इससे यह बात स्पष्ट समझमें आ जाती है कि हर पदार्थ एक कैमरा है, जो दूसरेके प्रभावको स्थूल या सूक्ष्म रूपसे ग्रहण करता रहता है; और उन्हीं प्रभावोंकी औसतसे चित्र-विचित्र वातावरण और अनेक प्रकारके अच्छे-बुरे मनोभावोंका सर्जन होता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि हर पदार्थ अपने सजातीयमें घुल-मिल जाता है, और विजातीयसे संघर्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। जहाँ हमारे विचारोंके अनुकूल वातावरण होता है, यानी दूसरे लोग भी करीब-करीब हमारी विचार-धाराके होते हैं वहाँ हमारा चित्त उनमें रच-पच जाता है, किन्तु प्रतिकूल वातावरणमें चित्तको आकुलता-व्याकुलता होती है। हर चित्त इतनी पहचान रखता है। उसे भुलावेमें नहीं डाला जा सकता। यदि तुम्हारे चित्तमें दूसरेके प्रति घृणा है, तो तुम्हारा चेहरा, तुम्हारे शब्द और तुम्हारी चेष्टाएँ सामनेवाले व्यक्तिमें सद्भावका संचार नहीं कर सकतीं और वातावरणको निर्मल नहीं बना सकतीं। इसके फलस्वरूप तुम्हें भी घृणा और तिरस्कार ही प्राप्त होता है। इसे कहते हैं—'जैसी करनी तैसी भरनी।'

हृदयसे अहिंसा और सद्भावनाका समुद्र कोई महात्मा अहिंसाका अमृत लिये क्यों खूँखार और बर्बरोंके बीच छाती खोलकर चला जाता है? उसे इस सिद्धान्तपर विश्वास रहता है कि जब हमारे मनमें इनके प्रति लेशमात्र दुर्भाव नहीं है और हम इन्हें प्रेमका अमृत पिलाना चाहते हैं तो ये कब तक हमारे सद्भावको ठुकरायेंगे। उसका महात्मत्व यही है कि वह सामनेवाले व्यक्तिके लगातार अनादर करनेपर भी सच्चे हृदयसे सदा उसकी हित-चिन्तना ही करता है। हम सब ऐसी जगह खड़े हुए हैं जहाँ चारों ओर हमारे भीतर-बाहरके प्रभावको ग्रहण करनेवाले कैमरे लगे हैं, और हमारी प्रत्येक क्रियाका लेखा-जोखा प्रकृतिकी उस महाबहीमें अंकित होता जाता है, जिसका हिसाब-किताब हमें हर समय भुगतना पड़ता है। वह भुगतान कभी तत्काल हो जाता है और कभी कालान्तरमें। पापकर्मा व्यक्ति स्वयं अपनेमें शंकित रहता है, और अपने ही मनोभावोंसे परेशान रहता है। उसकी यह परेशानी ही बाहरी वातावरणसे उसकी इष्टसिद्धि नहीं करा पाती।

चार व्यक्ति एक ही प्रकारके व्यापारमें जुटते हैं, पर चारोंको अलग-अलग प्रकारका जो नफा-नुकसान होता है, वह अकारण ही नहीं है। कुछ पुराने और कुछ तत्कालीन भाव वातावरणोंका निचोड़ उन-उन व्यक्तियोंके सफल, असफल या अर्धसफल होनेमें कारण पड़ जाते हैं। पुरुषकी बुद्धिमानी और पुरुषार्थ यही है कि वह सद्भाव और प्रशस्त वातावरणका निर्माण करे। इसीके कारण वह जिनके सम्पर्कमें आता है उनकी सदबुद्धि और हृदयकी रुझानको अपनी ओर खींच लेता है, जिसका परिणाम होता है—उसको लौकिक कार्योंकी सिद्धिमें अनुकूलता मिलना। एक व्यक्तिके सदाचरण और सद्विचारोंकी शोहरत जब चारों ओर फैलती है, तो वह जहाँ जाता है, आदर पाता है, उसे सम्मान मिलता और ऐसा वातावरण प्रस्तुत होता है, जिससे उसे अनुकूलता ही अनुकूलता प्राप्त होती जाती है। इस वातावरणसे जो बाह्य विभूति या अन्य सामग्रीका लाभ हुआ है उसमें यद्यपि परम्परासे व्यक्तिके पुराने संस्कारोंने काम लिया है; पर सीधे उन संस्कारोंने उन पदार्थोंको नहीं खींचा है। हाँ, उन पदार्थोंके जुटने और जुटानेमें पुराने संस्कार और उसके प्रतिनिधि पुद्गल द्रव्यके विपाकने वातावरण अवश्य बनाया है। उससे उन-उन पदार्थोंका संयोग और वियोग रहता है। यह तो बलाबलकी बात है। मनुष्य अपनी क्रियाओंसे जितने गहरे या उथले संस्कार और प्रभाव, वातावरण और अपनी आत्मापर डालता है उसीके तारतम्यसे मनुष्योंके इष्टा-निष्टका चक्र चलता है। तत्काल किसी कार्यका ठीक कार्यकारणभाव हमारी समझमें न भी आये, पर कोई भी कार्य अकारण नहीं हो सकता, यह एक अटल सिद्धान्त है। इसी तरह जीवन और मरणके क्रममें भी कुछ हमारे पुराने संस्कार और कुछ संस्कारप्रेरित प्रवृत्तियाँ तथा इहलोकका जीवन-व्यापार सब मिलाकर कारण बनते हैं।

### नूतन शरीर धारणकी प्रक्रिया

जब कोई भी प्राणी अपने पूर्व शरीरको छोड़ता है, तो उसके जीवन भरके विचारों, वचन-व्यवहारों और शरीरकी क्रियाओंसे जिस-जिस प्रकारके संस्कार आत्मापर और आत्मासे चिरसंयुक्त कार्मण-शरीरपर



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पड़े हैं, अर्थात् कार्मण-शरीरके साथ उन संस्कारोंके प्रतिनिधिभूत पुद्गल द्रव्योंका जिस प्रकारके रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि परिणमनोंसे युक्त होकर सम्बन्ध हुआ है, कुछ उसी प्रकारके अनुकूल परिणमनवाली परिस्थितिमें यह आत्मा नूतन जन्म ग्रहण करनेका अवसर खोज लेता है और वह पुराने शरीरके नष्ट होते ही अपने सूक्ष्म कार्मण शरीरके साथ उस स्थान तक पहुँच जाता है। इस क्रियामें प्राणीके शरीर छोड़नेके समयके भाव और प्रेरणाएँ बहुत कुछ काम करती हैं। इसीलिए जैन परम्परामें समाधिमरणको जीवनकी अन्तिम परीक्षाका समय कहा है; क्योंकि एक बार नया शरीर धारण करनेके बाद उस शरीरकी स्थिति तक लगभग एक जैसी परिस्थितियाँ बनी रहनेकी सम्भावना रहती है। मरणकालकी इस उत्क्रान्तिको सम्हाल लेनेपर प्राप्त परिस्थितियोंके अनुसार बहुत कुछ पुराने संस्कार और बँधे हुए कर्मोंमें हीनाधिकता होनेकी सम्भावना भी उत्पन्न हो जाती है।

जैन शास्त्रोंमें एक मारणान्तिक समुद्घात नामकी क्रियाका वर्णन आता है। इस क्रियामें मरणकालके पहले इस आत्माके कुछ प्रदेश अपने वर्तमान शरीरको छोड़कर भी बाहर निकलते हैं और अपने अगले जन्मके योग्य क्षेत्रको स्पर्शकर वापिस आ जाते हैं। इन प्रदेशके साथ कार्मण शरीर भी जाता है और उसमें जिस प्रकारके रूप, रस, गंध और स्पर्श आदिके परिणमनोंका तारतम्य है, उस प्रकारके अनुकूल क्षेत्रकी ओर ही उसका झुकाव होता है। जिसके जीवनमें सदा धर्म और सदाचारकी परम्परा रही है, उसके कार्मण शरीरमें प्रकाशमय, लघु और स्वच्छ परमाणुओंकी बहुलता होती है। इसलिए उसका गमन लघु होनेके कारण स्वभावतः प्रकाशमय लोककी ओर होता है। और जिसके जीवनमें हत्या, पाप, छल, प्रपञ्च, माया, मूर्च्छा आदिके काले, गुरु और मैले परमाणुओंका सम्बन्ध विशेषरूपसे हुआ है, वह स्वभावतः अन्धकार-लोककी ओर नीचेकी तरफ जाता है। यही बात सांख्य शास्त्रोंमें—

"धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण।"

—सांख्यका० ४४।

इस वाक्यके द्वारा कही गई है। तात्पर्य यह है कि आत्मा परिणामी होनेके कारण प्रतिसमय अपनी मन, वचन और कायकी क्रियाओंसे उन-उन प्रकारके शुभ और अशुभ संस्कारोंमें स्वयं परिणत होता जाता है, और वातावरणको भी उसी प्रकारसे प्रभावित करता है। ये आत्मसंस्कार अपने पूर्वबद्ध कार्मण शरीरमें कुछ नये कर्मपरमाणुओंका सम्बन्ध करा देते हैं, जिनके परिपाकसे वे संस्कार आत्मामें अच्छे या बुरे भाव पैदा करते हैं। आत्मा स्वयं उन संस्कारोंका कर्ता है और स्वयं ही उनके फलोंका भोक्ता है। जब यह अपने मूल स्वरूपकी ओर दृष्टि फेरता है, तब इस स्वरूपदर्शनके द्वारा धीरे-धीरे पुराने कुसंस्कारोंको काटकर स्वरूपस्थितिरूप मुक्ति पा लेता है। कभी-कभी किन्हीं विशेष आत्माओंमें स्वरूपज्ञानकी इतनी तीव्र ज्योति जग जाती है, कि उसके महाप्रकाशमें कुसंस्कारोंका पिण्ड क्षणभरमें ही विलीन हो जाता है और वह आत्मा इस शरीरको धारण किये हुए भी पूर्ण वीतराग और पूर्ण ज्ञानी बन जाता है। यह जीवन्मुक्त अवस्था है। इस अवस्थामें आत्मगुणोंके घातक संस्कारोंका समूल नाश हो जाता है। मात्र शरीरको धारण करनेमें कारणभूत कुछ अघातिया संस्कार शेष रहते हैं, जो शरीरके साथ समाप्त हो जाते हैं; तब यह आत्मा पूर्णरूपसे सिद्ध होकर अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करके लोकके ऊपरी छोरमें जा पहुँचता है। इस तरह यह आत्मा स्वयं कर्त्ता और स्वयं भोक्ता है, स्वयं अपने संस्कारों और बद्धकर्मोंके अनुसार असंख्य जीव-योनियोंमें जन्म-मरणके भारको ढोता रहता है। यह सर्वथा अपरिणामी और निर्लिप्त नहीं है, किन्तु प्रतिक्षण परिणामी है और वैभाविक या स्वाभाविक किसी भी अवस्थामें स्वयं बदलनेवाला है। यह निश्चित है कि एक बार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाभाविक अवस्थामें पहुँचनेपर फिर वैभाविक परिणमन नहीं होता, सदा शुद्ध परिणमन ही होता रहता है। ये सिद्ध कृतकृत्य होते हैं। उन्हें सृष्टि-कर्तृत्व आदिका कोई कार्य शेष नहीं रहता।

## सृष्टिचक्र स्वयं चालित है

संसारी जीव और पुद्गलोंके परस्पर प्रभावित करनेवाले संयोग-वियोगोंसे इस सृष्टिका महाचक्र स्वयं चल रहा है। इसके लिए किसी नियंत्रक, व्यवस्थापक, सुयोजक और निर्देशककी आवश्यकता नहीं है। भौतिक जगत्का चेतन जगत् स्वयं अपने बलाबलके अनुसार निर्देशक और प्रभावक बन जाता है। फिर यह आवश्यक भी नहीं है कि प्रत्येक भौतिक परिणमनके लिए किसी चेतन अधिष्ठाताकी नितान्त आवश्यकता हो। चेतन अधिष्ठाताके बिना भी असंख्य भौतिक परिवर्तन स्वयमेव अपनी कारण-सामग्रीके अनुसार होते रहते हैं। इस स्वभावतः परिणामी द्रव्योंके महासमुदायरूप जगत्को किसीने सर्व-प्रथम किसी समय चलाया हो, ऐसे कालकी कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिए उस जगत्को स्वयंसिद्ध और अनादि कहा जाता है। अतः न तो सर्वप्रथम इस जगत्-यन्त्रको चलानेके लिए किसी चालककी आवश्यकता है और न इसके अन्तर्गत जीवोंके पुण्य-पापका लेखा-जोखा रखनेवाले किसी महालेखककी, और अच्छे-बुरे कर्मोंका फल देनेवाले और स्वर्ग या नरक भेजनेवाले किसी महाप्रभुकी ही। जो व्यक्ति शराब पियेगा उसका नशा तीव्र या मन्द रूपमें उस व्यक्तिको अपने आप आयगा ही।

एक ईश्वर संसारके प्रत्येक अणु-परमाणुकी क्रियाका संचालक बने और प्रत्येक जीवके अच्छे-बुरे कार्योंका भी स्वयं वही प्रेरक हो और फिर वही बैठकर संसारी जीवोंके अच्छे-बुरे कर्मोंका न्याय करके उन्हें सुगति और दुर्गतिमें भेजे, उन्हें सुख-दुःख भोगनेको विवश करे यह कैसी क्रीड़ा है! दुराचारके लिए प्रेरणा भी वही दे, और दण्ड भी वही। यदि सचमुच कोई एक ऐसा नियन्ता है तो जगत्की विषमस्थितिके लिए मूलतः वही जवाबदेह है। अतः इस भूल-भुलैयाके चक्रसे निकलकर हमें वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे ही जगत्का विवेचन करना होगा और उस आधारसे ही जब तक हम अपने ज्ञानको सच्चे दर्शनकी भूमिपर नहीं पहुँचायेंगे, तब तक तत्त्वज्ञानकी दिशामें नहीं बढ़ सकते। यह कैसा अन्धेर है कि ईश्वर हत्या करनेवालेको भी प्रेरणा देता है, और जिसकी हत्या होती है उसे भी; और जब हत्या हो जाती है, तो वही एकको हत्यारा ठहराकर दण्ड भी दिलाता है। उसकी यह कैसी विचित्र लीला है। जब व्यक्ति अपने कार्यमें स्वतन्त्र ही नहीं है, तब वह हत्याका कर्त्ता कैसे? अतः प्रत्येक जीव अपने कार्योंका स्वयं प्रभु है, स्वयं कर्त्ता है और स्वयं भोक्ता है।

अतः जगत्-कल्याणकी दृष्टिसे और वस्तुके स्वाभाविक परिणमनकी स्थितिपर गहरा विचार करनेसे यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि यह जगत् स्वयं अपने परिणामी स्वभावके कारण प्राप्त सामग्रीके अनुसार परिवर्तमान है। उसमें विभिन्न व्यक्तियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलतासे अच्छेपन और बुरेपनकी कल्पना होती रहती है। जगत् तो अपनी गतिसे चला जा रहा है। 'जो करेगा, वही भोगेगा। जो बोयेगा, वही काटेगा।' यह एक स्वाभाविक व्यवस्था है। द्रव्योंके परिणमन कहीं चेतनसे प्रभावित होते हैं, कहीं अचेतनसे प्रभावित और कहीं परस्पर प्रभावित। इनका कोई निश्चित नियम नहीं है, जब जैसी सामग्री प्रस्तुत हो जाती है, तब वैसा परिणमन बन जाता है।

## जीवोंके भेद संसारी और मुक्त

जैसा कि ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट होता है, कि यह जीव अपने संस्कारोंके कारण स्वयं बँधा है और अपने पुरुषार्थसे स्वयं छूटकर मुक्त हो सकता है, उसीके अनुसार जीव दो श्रेणियोंमें विभाजित हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाते हैं। एक संसारी—जो अपने संस्कारोंके कारण नाना योनियोंमें शरीरोंको धारणकर जन्म-मरण रूपसे संसरण कर रहे हैं। (२) दूसरे मुक्त—जो समस्त कर्मसंस्कारोंसे छूटकर अपने शुद्ध चैतन्यमें सदा परिवर्तमान हैं। जब जीव मुक्त होता है, तब वह दीपशिखाकी तरह अपने ऊर्ध्व-गमन स्वभावके कारण शरीरके बन्धनोंको तोड़कर लोकाग्रमें जा पहुँचता है, और वहीं अनन्तकाल तक शुद्धचैतन्यस्वरूपमें लीन रहता है। उसके आत्मप्रदेशोंका आकार अन्तिम शरीरके आकारके समान बना रहता है; क्योंकि आगे उसके विस्तारका कारण नामकर्म नहीं रहता। जीवोंके प्रदेशोंका संकोच और विस्तार दोनों ही कर्मनिमित्तसे होते हैं। निमित्तके हट जानेपर जो अन्तिम स्थिति है, वही रह जाती है। यद्यपि जीवका स्वभाव ऊपरको गति करनेका है, किन्तु गति करनेमें सहायक धर्मद्रव्य चूँकि लोकके अन्तिम भाग तक ही है, अतः मुक्त जीवकी गति लोकाग्र तक ही होती है, आगे नहीं। इसीलिए सिद्धोंको 'लोकाग्रनिवासी' कहते हैं।

सिद्धात्माएँ चूँकि शुद्ध हो गई हैं, अतः उनपर किसी दूसरे द्रव्यका कोई प्रभाव नहीं पड़ता; और न वे परस्पर ही प्रभावित होती हैं। जिनका संसारचक्र एक बार रुक गया, फिर उन्हें संसारमें रुलनेका कोई कारण शेष नहीं रहता। इसलिए इन्हें अनन्तसिद्ध कहते हैं। जीवकी 'संसार-यात्रा कबसे शुरू' हुई, यह नहीं बताया जा सकता; पर 'कब समाप्त होगी' यह निश्चित बताया जा सकता है। असंख्य जीवोंने अपनी संसारयात्रा समाप्त करके मुक्ति पाई भी है। इन सिद्धोंके सभी गुणोंका परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है। ये कृतकृत्य हैं, निरंजन हैं और केवल अपने शुद्धचित्परिणमनके स्वामी हैं। इनकी यह सिद्धावस्था नित्य इस अर्थमें है कि वह स्वाभाविक परिणमन करते रहनेपर भी कभी विकृत या नष्ट नहीं होती।

यह प्रश्न प्रायः उठता है कि 'यदि सिद्ध सदा एकसे रहते हैं, तो उनमें परिणमन माननेकी क्या आवश्यकता है?' परन्तु इसका उत्तर अत्यन्त सहज है। और वह यह है कि जब द्रव्यकी मूलस्थिति ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है, तब किसी भी द्रव्यको चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध, इस मूल स्वभावका अपवाद कैसे माना जा सकता है? उसे तो अपने मूल स्वभावके अनुसार परिणमन करना ही होगा। चूँकि उनके विभाव परिणमनका कोई हेतु नहीं है, अतः उनका सदा स्वभावरूपसे ही परिणमन होता रहता है। कोई भी द्रव्य कभी भी परिणमनचक्रसे बाहर नहीं जा सकता। 'तब परिणमनका क्या प्रयोजन?' इसका सीधा उत्तर है—'स्वभाव'। चूँकि प्रत्येक द्रव्यका यह निज स्वभाव है, अतः उसे अनन्तकाल तक अपने स्वभावमें रहना ही होगा। द्रव्य अपने अगुरुलघुगुणके कारण न कम होता है और न बढ़ता है। वह परिणमनकी तीक्ष्ण धारपर चढ़ा रहनेपर भी अपना द्रव्यत्व नष्ट नहीं होने देता। यही अनादि अनन्त अविच्छिन्नता द्रव्यत्व है, और यही उसकी अपनी मौलिक विशेषता है। अगुरुलघुगुणके कारण उसके न तो प्रदेशोंमें ही न्यूनाधिकता होती है, और न गुणोंमें ही। उसके आकार और प्रकार भी सन्तुलित रहते हैं।

सिद्धका स्वरूप निम्नलिखित गाथामें बहुत स्पष्ट रूपसे कहा गया है—

"णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्ग-ठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता॥"

—नियमसार गा० ७२

अर्थात्—सिद्ध ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे रहित हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाध इन आठ गुणोंसे युक्त हैं। अपने पूर्व अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून आकारवाले हैं। नित्य हैं और उत्पाद-व्ययसे युक्त हैं, तथा लोकके अग्रभागमें स्थित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह जीवद्रव्य संसारी और मुक्त दो प्रकारोंमें विभाजित होकर भी मूल स्वभावसे समान गुण और समानशक्तिवाला है।

## पुद्गल द्रव्य

'पुद्गल' द्रव्यका सामान्य लक्षण[1] है—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे युक्त होना। जो द्रव्य स्कन्ध अवस्थामें पूरण अर्थात् अन्य-अन्य परमाणुओंसे मिलना और गलन अर्थात् कुछ परमाणुओंका बिछुड़ना, इस तरह उपचय और अपचयको प्राप्त होता है, वह 'पुद्गल' कहलाता है। समस्त दृश्य जगत् इस 'पुद्गल' का ही विस्तार है। मूल दृष्टिसे पुद्गलद्रव्य परमाणुरूप ही है। अनेक परमाणुओंसे मिलकर जो स्कन्ध बनता है, वह संयुक्तद्रव्य (अनेकद्रव्य) है। स्कन्धपर्याय स्कन्धान्तर्गत सभी पुद्गल-परमाणुओंकी संयुक्त पर्याय है। वे पुद्गल-परमाणु जब तक अपनी बंधशक्तिसे शिथिल या निबिड़रूपमें एक-दूसरेसे जुटे रहते हैं, तब तक स्कन्ध कहे जाते हैं। इन स्कन्धोंका बनाव और बिगाड़ परमाणुओंकी बंधशक्ति और भेदशक्तिके कारण होता है।

प्रत्येक[2] परमाणुमें स्वभावसे एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं। लाल, पीला, नीला, सफेद और काला इन पाँच रूपोंमेंसे कोई एक रूप परमाणुमें होता है जो बदलता भी रहता है। तीता, कडुवा, कषायला, खट्टा और मीठा इन पाँच रसोंमेंसे कोई एक रस परमाणुमें होता है, जो परिवर्तित भी होता रहता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध इन दो गन्धोंमेंसे कोई एक गन्ध परमाणुमें अवश्य होती है। शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, इन दो युगलोंमेंसे कोई एक-एक स्पर्श अर्थात् शीत और उष्णमेंसे एक और स्निग्ध तथा रूक्षमेंसे एक, इस तरह दो स्पर्श प्रत्येक परमाणुमें अवश्य होते हैं। बाकी मृदु, कर्कश, गुरु और लघु ये चार स्पर्श स्कन्ध-अवस्थाके हैं। परमाणु-अवस्थामें ये नहीं होते। यह एकप्रदेशी होता है। यह स्कन्धोंका कारण भी है और स्कन्धोंके भेदसे उत्पन्न होनेके कारण उनका कार्य भी है। पुद्गलकी परमाणु-अवस्था स्वाभाविक पर्याय है, और स्कन्ध-अवस्था विभाव-पर्याय है।

## स्कन्धोंके भेद

स्कन्ध अपने परिणमनोंकी अपेक्षा छह प्रकारके होते हैं[3] :—

(१) अतिस्थूल-स्थूल (बादर-बादर)—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वयं न मिल सकें, वे लकड़ो, पत्थर, पर्वत, पृथ्वी आदि अतिस्थूल-स्थूल हैं।

(२) स्थूल (बादर)—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वयं आपसमें मिल जायँ, वे स्थूल स्कन्ध हैं। जैसे कि दूध, घी, तेल, पानी आदि।

(३) स्थूल-सूक्ष्म (बादर-सूक्ष्म)—जो स्कन्ध दिखनेमें तो स्थूल हों, लेकिन छेदने-भेदने और ग्रहण करनेमें न आवें, वे छाया, प्रकाश, अन्धकार, चाँदनी आदि स्थूल-सूक्ष्म स्कन्ध हैं।

(४) सूक्ष्म-स्थूल (सूक्ष्म-बादर)—जो सूक्ष्म होकरके भी स्थूल रूपमें दिखें, वे पाँचों इन्द्रियोंके विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध हैं।

---

१. "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः"—तत्त्वार्थसू० ५।२३।

२. "एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।" —पंचास्तिकाय गा० ८१।

३. "अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इति धरादिगं होइ छब्भेयं॥"
—नियमसार गा० २१-२४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) सूक्ष्म—जो सूक्ष्म होनेके कारण इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण न किये जा सकते हों, वे कर्मवर्गणा आदि सूक्ष्म स्कन्ध हैं।

(६) अतिसूक्ष्म—कर्मवर्गणासे भी छोटे द्व्यणुक स्कन्ध तक सूक्ष्मसूक्ष्म हैं।

परमाणु परमातिसूक्ष्म है। वह अविभागी है। शब्दका कारण होकर भी स्वयं अशब्द है, शाश्वत होकर भी उत्पाद और व्ययवाला है—यानी त्रयात्मक परिणमन करनेवाला है।

## स्कन्ध आदि चार भेद

[1]पुद्गल द्रव्यके स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु ये चार विभाग भी होते हैं। अनन्तानन्त परमाणुओंसे स्कन्ध बनता है, उससे आधा स्कन्धदेश और स्कन्धदेशका आधा स्कन्धप्रदेश होता है। परमाणु सर्वतः अविभागी होता है। इन्द्रियाँ, शरीर, मन, इन्द्रियोंके विषय और श्वासोच्छ्वास आदि सब कुछ पुद्गल द्रव्यके ही विविध परिणमन[2] हैं।

## बन्धकी प्रक्रिया

इन परमाणुओंमें स्वाभाविक स्निग्धता और रूक्षता होनेके कारण परस्पर बन्ध[3] होता है, जिससे स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके शक्त्यंशकी अपेक्षा असंख्य भेद होते हैं, और उनमें तारतम्य भी होता रहता है। एक शक्त्यंश ( जघन्यगुण ) वाले स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओंका परस्पर बन्ध ( रासायनिक मिश्रण ) नहीं होता। स्निग्ध और स्निग्ध, रूक्ष और रूक्ष, स्निग्ध और रूक्ष, तथा रूक्ष और स्निग्ध परमाणुओंमें बन्ध तभी होगा, जब इनमें परस्पर गुणोंके शक्त्यंश दो अधिक हों, अर्थात् दो गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुका बन्ध चार गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुसे होगा। बन्धकालमें जो अधिक गुणवाला परमाणु है, वह कम गुणवाले परमाणुका अपने रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूपसे परिणमन करा लेता है। इस तरह दो परमाणुओंसे द्व्यणुक, तीन परमाणुओंसे त्र्यणुक और चार, पाँच आदि परमाणुओंसे चतुरणुक, पञ्चाणुक आदि स्कन्ध उत्पन्न होते रहते हैं। महास्कन्धोंके भेदसे भी दो अल्पस्कन्ध हो सकते हैं। यानी स्कन्ध, संघात और भेद दोनोंसे बनते हैं। स्कन्ध अवस्थामें परमाणुओंका परस्पर इतना सूक्ष्म परिणमन हो जाता है कि थोड़ी-सी जगहमें असंख्य परमाणु समा जाते हैं। एक सेर रूई और एक सेर लोहेमें साधारणतया परमाणुओंकी संख्या बराबर होनेपर भी उनके निविड और शिथिल बन्धके कारण रूई थुलथुली है और लोहा ठोस। रूई अधिक स्थानको रोकती है और लोहा कम स्थानको। इन पुद्गलोंके इसी सूक्ष्म परिणमनके कारण असंख्यातप्रदेशी लोकमें अनन्तानन्त परमाणु समाए हुए हैं। जैसा कि पहले

---

१. 'खंधा या खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इति ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा॥'

—पञ्चास्तिकाय गा० ७४–७५।

२. "शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्।"

—तत्त्वार्थसूत्र ५/१९।

३. "स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः। न जघन्यगुणानाम्। गुणसाम्ये सदृशानाम्। द्व्यधिकादिगुणानां तु। बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च।"

—तत्त्वार्थसूत्र ५।३३–३७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखा जा चुका है कि प्रत्येक द्रव्य परिणामी है। उसी तरह ये पुद्गल द्रव्य भी उस परिणमनके अपवाद नहीं हैं और प्रतिक्षण उपयुक्त स्थूल-बादरादि स्कन्धोंके रूपमें बनते-बिगड़ते रहते हैं।

## शब्द आदि पुद्गलकी पर्याय हैं

[1]शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश, उद्योत और गर्मी आदि पुद्गल द्रव्यकी ही पर्यायें हैं। शब्दको वैशेषिक आदि आकाशका गुण मानते हैं, किन्तु आजके विज्ञानने अपने रेडियो और ग्रामोफोन आदि विविध यन्त्रोंसे शब्दको पकड़कर और उसे इष्ट स्थानमें भेजकर उसकी पौद्गलिकता प्रयोगसे सिद्ध कर दी है। यह शब्द पुद्गलके द्वारा ग्रहण किया जाता है, पुद्गलसे धारण किया जाता है, पुद्गलोंसे रुकता है, पुद्गलोंको रोकता है, पुद्गल कान आदिके पर्दोंको फाड़ देता है और पौद्गलिक वातावरणमें अनुकम्पन पैदा करता है, अतः पौद्गलिक है। स्कन्धोंके परस्पर संयोग, संघर्षण और विभागसे शब्द उत्पन्न होता है। जिह्वा और तालु आदिके संयोगसे नाना प्रकारके भाषात्मक प्रायोगिक शब्द उत्पन्न होते हैं। इसके उत्पादक उपादान कारण तथा स्थूल निमित्त कारण दोनों ही पौद्गलिक हैं।

जब दो स्कन्धोंके संघर्षसे कोई एक शब्द उत्पन्न होता है, तो वह आस-पासके स्कन्धोंको अपनी शक्तिके अनुसार शब्दायमान कर देता है, अर्थात् उसके निमित्तसे उन स्कन्धोंमें भी शब्दपर्याय उत्पन्न हो जाती है। जैसे जलाशयमें एक कंकड़ डालने पर जो प्रथम लहर उत्पन्न होती है, वह अपनी गतिशक्तिसे पासके जलको क्रमशः तरंगित करती जाती है और यह 'वीचीतरंगन्याय' किसी-न-किसी रूपमें अपने वेगके अनुसार काफी दूर तक चालू रहता है।

## शब्द शक्तिरूप नहीं है

शब्द केवल शक्ति नहीं है, किन्तु शक्तिमान् पुद्गलद्रव्य-स्कन्ध है, जो वायु स्कन्धके द्वारा देशान्तरको जाता हुआ आसपासके वातावरणको झनझनाता जाता है। यन्त्रोंसे उसकी गति बढ़ाई जा सकती है और उसकी सूक्ष्म लहरको सुदूर देशसे पकड़ा जा सकता है। वक्ताके तालु आदिके संयोगसे उत्पन्न हुआ एक शब्द मुखसे बाहर निकलते ही चारों तरफके वातावरणको उसी शब्दरूप कर देता है। वह स्वयं भी नियत दिशामें जाता है और जाते-जाते, शब्दसे शब्द पैदा करता जाता है। शब्दके जानेका अर्थ पर्यायवाले स्कन्धका जाना है और शब्दकी उत्पत्तिका भी अर्थ है आसपासके स्कन्धोंमें शब्दपर्यायका उत्पन्न होना। तात्पर्य यह कि शब्द स्वयं द्रव्यकी पर्याय है, और इस पर्यायके आधार हैं पुद्गल स्कन्ध। अमूर्तिक आकाशके गुणमें ये सब नाटक नहीं हो सकते। अमूर्त द्रव्यका गुण तो अमूर्त ही होगा, वह मूर्तके द्वारा गृहीत नहीं हो सकता।

विश्वका समस्त वातावरण गतिशील पुद्गलपरमाणु और स्कन्धोंसे निर्मित है। उसीमें परस्पर संयोग आदि निमित्तोंसे गर्मी, सर्दी, प्रकाश, अन्धकार, छाया आदि पर्यायें उत्पन्न होतीं और नष्ट होती रहती हैं। गर्मी, प्रकाश और शब्द ये केवल शक्तियाँ नहीं हैं, क्योंकि शक्तियाँ निराश्रय नहीं रह सकतीं। वे तो किसी-न-किसी आधारमें रहेंगी और उनका आधार है—यह पुद्गल द्रव्य। परमाणुकी गति एक समयमें लोकान्त तक ( चौदह राजु ) हो सकती है, और वह गतिकालमें आसपासके वातावरणको प्रभावित करता है। प्रकाश और शब्दकी गतिका जो लेखा-जोखा आजके विज्ञानने लगाया है, वह परमाणुकी इस स्वाभाविक गतिका एक अल्प अंश है। प्रकाश और गर्मीके स्कन्ध एकदेशसे सुदूर देश तक जाते हुए अपने वेग ( force )

---

१. "शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।"

—तत्त्वार्थसूत्र ५।२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अनुसार वातावरणको प्रकाशमय और गर्मी पर्यायसे युक्त बनाते हुए जाते हैं। यह भी संभव है कि जो प्रकाश आदि स्कन्ध बिजलीके टार्च आदिसे निकलते हैं, वे बहुत दूर तक स्वयं चले जाते हैं और अन्य गतिशील पुद्गल स्कन्धोंको प्रकाश, गर्मी या शब्दरूप पर्याय धारण कराके उन्हें आगे चला देते हैं। आजके वैज्ञानिकोंने बेतारका तार और बिना तारके टेलीफोनका भी आविष्कार कर लिया है। जिस तरह हम अमेरिकामें बोले गये शब्दोंको यहाँ सुन लेते हैं, उसी तरह अब बोलनेवालेके फोटोको भी सुनते समय देख सकेंगे।

## पुद्गलके खेल

यह सब शब्द, आकृति, प्रकाश, गर्मी, छाया, अन्धकार आदिका परिवहन तीव्र गतिशील पुद्गल-स्कन्धोंके द्वारा ही हो रहा है। परमाणु-बमकी विनाशक शक्ति और हाइड्रोजन बमकी महाप्रलय शक्तिसे हम पुद्गलपरमाणुकी अनन्त शक्तियोंका कुछ अन्दाज लगा सकते हैं।

एक दूसरेके साथ बँधना, सूक्ष्मता, स्थूलता, चौकोण, षट्कोण आदि विविध आकृतियाँ, सुहावनी चाँदनी, मंगलमय उषाकी लाली आदि सभी कुछ पुद्गल स्कन्धोंकी पर्यायें हैं। निरन्तर गतिशील और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमनवाले अनन्तानन्त परमाणुओंके परस्पर संयोग और विभागसे कुछ नैसर्गिक और कुछ प्रायोगिक परिणमन इस विश्वके रंगमञ्चपर प्रतिक्षण हो रहे हैं। ये सब माया या अविद्या नहीं हैं, ठोस सत्य हैं। स्वप्नकी तरह काल्पनिक नहीं हैं, किन्तु अपनेमें वास्तविक अस्तित्व रखनेवाले पदार्थ हैं। विज्ञानने एटममें जिन इलेक्ट्रोन और प्रोटोनको अविराम गतिसे चक्कर लगाते हुए देखा है, वह सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म पुद्गल स्कन्धमें बँधे हुए परमाणुओंका ही गतिचक्र है। सब अपने-अपने क्रमसे जब जैसी कारण-सामग्री पा लेते हैं, वैसा परिणमन करते हुए अपनी अनन्त यात्रा कर रहे हैं। पुरुषकी कितनी-सी शक्ति! वह कहाँ तक इन द्रव्योंके परिणमनोंको प्रभावित कर सकता है? हाँ, जहाँ तक अपनी सूझ-बूझ और शक्तिके अनुसार वह यन्त्रोंके द्वारा इन्हें प्रभावित और नियन्त्रित कर सकता था, वहाँ तक उसने किया भी है। पुद्गलका नियन्त्रण पौद्गलिक साधनोंसे ही हो सकता है और वे साधन भी परिणमनशील हैं। अतः हमें द्रव्यकी मूल स्थितिके आधारसे ही तत्त्वविचार करना चाहिये और विश्वव्यवस्थाका आधार ढूँढना चाहिए।

## छाया पुद्गलकी ही पर्याय है

सूर्य आदि प्रकाशयुक्त द्रव्यके निमित्तसे आस-पास पुद्गलस्कन्ध भास्वररूपको धारणकर प्रकाशस्कन्ध बन जाते हैं। इसी प्रकाशको जितनी जगह कोई स्थूल स्कन्ध यदि रोक लेता है तो उतनी जगहके स्कन्ध काले रूपको धारण कर लेते हैं, यही छाया या अन्धकार है। ये सभी पुद्गल द्रव्यके खेल हैं। केवल मायाकी आँखमिचौनी नहीं है और न 'एकोऽहं बहु स्याम्' की लीला। ये तो ठोस वजनदार परमार्थसत् पुद्गल परमाणुओंकी अविराम गति और परिणतिके वास्तविक दृश्य हैं। यह आँख मूँदकर की जानेवाली भावना नहीं है, किन्तु प्रयोगशालामें रासायनिक प्रक्रियासे किये जानेवाले प्रयोगसिद्ध पदार्थ हैं। यद्यपि पुद्गलाणुओंमें समान अनन्त शक्ति है, फिर भी विभिन्न स्कन्धोंमें जाकर उनकी शक्तियोंके भी जुदे-जुदे अनन्त भेद हो जाते हैं। जैसे प्रत्येक परमाणुमें सामान्यतः मादकशक्ति होनेपर भी उसकी प्रकटताकी योग्यता महुवा, दाख और कोदों आदिके स्कन्धोंमें ही साक्षात् है, सो भी अमुक जलादिके रासायनिक मिश्रणसे। ये पर्याययोग्यताएँ कहलाती हैं, जो उन-उन स्थूल पर्यायोंमें प्रकट होती हैं। और इन स्थूल पर्यायोंके घटक सूक्ष्म स्कन्ध भी अपनी उस अवस्थामें विशिष्ट शक्तिको धारण करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## एक ही पुद्गल मौलिक है

आधुनिक विज्ञानने पहले ९२ मौलिक तत्त्व ( Elements ) खोजे थे। उन्होंने इनके वजन और शक्तिके अंश निश्चित किये थे। मौलिक तत्त्वका अर्थ होता है—'एक तत्त्वका दूसरे रूप न होना।' परन्तु अब एक एटम ( Atom ) ही मूल तत्त्व बच गया है। यही एटम अपनेमें चारों ओर गतिशील इलेक्ट्रोन और प्रोटोनकी संख्याके भेदसे ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, चाँदी, सोना, लोहा, ताँबा, यूरेनियम, रेडियम आदि अवस्थाओंको धारण कर लेता है। ऑक्सीजनके अमुक इलेक्ट्रोन या प्रोटोनको तोड़ने या मिलानेपर वही हाइड्रोजन बन जाता है। इस तरह ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दो मौलिक न होकर एक तत्त्वकी अवस्था-विशेष ही सिद्ध होते हैं। मूलतत्त्व केवल अणु ( Atom ) है।

## पृथिवी आदि स्वतन्त्र द्रव्य नहीं

नैयायिक-वैशेषिक पृथ्वीके परमाणुओंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि चारों गुण, जलके परमाणुओंमें रूप, रस और स्पर्श ये तीन गुण; अग्निके परमाणुओंमें रूप और स्पर्श ये दो गुण और वायुमें केवल स्पर्श, इस तरह गुणभेद मानकर चारोंको स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। किन्तु जब प्रत्यक्षसे सीपमें पड़ा हुआ जल, पार्थिव मोती बन जाता है, पार्थिव लकड़ी अग्नि बन जाती है, अग्नि भस्म बन जाती है, पार्थिव हिम पिघलकर जल हो जाता है और ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दोनों वायु मिलकर जल बन जाती हैं, तब इनमें परस्पर गुणभेदकृत जातिभेद मानकर पृथक् द्रव्यत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? जैनदर्शनने पहलेसे ही समस्त पुद्गलपरमाणुओंका परस्पर परिणमन देखकर एक ही पुद्गल द्रव्य स्वीकार किया है। यह तो हो सकता है कि अवस्थाविशेषमें कोई गुण प्रकट हों और कोई अप्रकट। अग्निमें रस अप्रकट रह सकता है, वायुमें रूप और जलमें गन्ध, किन्तु उक्त द्रव्योंमें उन गुणोंका अभाव नहीं माना जा सकता। यह एक सामान्य नियम है कि 'जहाँ स्पर्श होगा वहाँ रूप, रस और गन्ध अवश्य ही होंगे।' इसी तरह जिन दो पदार्थोंका एक-दूसरेके रूपसे परिणमन हो जाता है वे दोनों पृथक्-जातीय द्रव्य नहीं हो सकते। इसीलिए आजके विज्ञानको अपने प्रयोगोंसे उसी एकजातिक अणुवादपर आना पड़ा है।

## प्रकाश और गर्मी भी शक्तियाँ नहीं

यद्यपि विज्ञान प्रकाश, गर्मी और शब्दको अभी केवल ( Energy ) शक्ति मानता है। पर, वह शक्ति निराधार न होकर किसी-न-किसी ठोस आधारमें रहनेवाली ही सिद्ध होगी; क्योंकि शक्ति या गुण निराश्रय नहीं रह सकते। उन्हें किसी-न-किसी मौलिक द्रव्यके आश्रयमें रहना ही होगा। ये शक्तियाँ जिन माध्यमोंसे गति करती हैं, उन माध्यमोंको स्वयं उस रूपसे परिणत कराती हुई ही जाती हैं। अतः यह प्रश्न मनमें उठता है कि जिसे हम शक्तिकी गति कहते हैं वह आकाशमें निरन्तर प्रचित परमाणुओंमें अविराम गतिसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिपरंपरा ही तो नहीं है ? हम पहले बता आये हैं कि शब्द, गर्मी और प्रकाश किसी निश्चित दिशाको गति भी कर सकते हैं और समीपके वातावरणको शब्दायमान, प्रकाशमान और गरम भी कर देते हैं। यों तो जब प्रत्येक परमाणु गतिशील है और उत्पाद-व्ययस्वभावके कारण प्रतिक्षण नूतन पर्यायोंको धारण कर रहा है, तब शब्द, प्रकाश और गर्मीको इन्हीं परमाणुओंकी पर्याय माननेमें ही वस्तुस्वरूपका संरक्षण रह पाता है।

जैन ग्रन्थोंमें पुद्गल द्रव्योंकी जिन—कर्मवर्गणा, नोकर्मवर्गणा, आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, आदि रूपसे—२३ प्रकारकी वर्गणाओंका वर्णन मिलता है,[1] वे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं। एक ही पुद्गलजातीय

१. देखो, गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५९३–९४।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्कन्धोंमें ये विभिन्न प्रकारके परिणमन, विभिन्न सामग्रीके अनुसार विभिन्न परिस्थितियोंमें बन जाते हैं। यह नहीं है कि जो परमाणु एक बार कर्मवर्गणारूप हुए हैं; वे सदा कर्मवर्गणारूप ही रहेंगे, अन्यरूप नहीं होंगे, या अन्य-परमाणु कर्मवर्गणारूप न हो सकेंगे। ये भेद तो विभिन्न स्कन्ध-अवस्थामें विकसित शक्तिभेदके कारण हैं। प्रत्येक द्रव्यमें अपनी-अपनी द्रव्यगत मूल योग्यताओंके अनुसार, जैसी-जैसी सामग्रीका जुटाव हो जाता है, वैसा-वैसा प्रत्येक परिणमन सम्भव है। जो परमाणु शरीर-अवस्थाके नोकर्मवर्गणा बनकर शामिल हुए थे, वही परमाणु मृत्युके बाद शरीरके खाक हो जानेपर अन्य विभिन्न अवस्थाओंको प्राप्त हो जाते हैं। एकजातीय द्रव्योंमें किसी भी द्रव्यशक्तिके परिणमनोंका बन्धन नहीं लगाया जा सकता।

यह ठीक है कि कुछ परिणमन किसी स्थूलपर्यायको प्राप्त पुद्गलोंसे साक्षात् हो सकते हैं, किसीसे नहीं। जैसे मिट्टी-अवस्थाको प्राप्त पुद्गल परमाणु ही घट-अवस्थाको धारण कर सकते हैं, अग्नि-अवस्थाको प्राप्त पुद्गल परमाणु नहीं, यद्यपि अग्नि और घट दोनों ही पुद्गलकी ही पर्यायें हैं। यह तो सम्भव है कि अग्निके परमाणु कालान्तरमें मिट्टी बन जायँ और फिर घड़ा बनें; पर सीधे अग्निसे घड़ा नहीं बनाया जा सकता। मूलतः पुद्गलपरमाणुओंमें न तो किसी प्रकारका जातिभेद है, न शक्तिभेद है और न आकार-भेद ही। ये सब भेद तो बीचकी स्कन्ध पर्यायोंमें होते हैं।

## गतिशीलता

पुद्गल परमाणु स्वभावतः क्रियाशील है। उसकी गति तीव्र, मन्द और मध्यम अनेक प्रकारकी होती है। उसमें वजन भी होता है, किन्तु उसकी प्रकटता स्कन्ध अवस्थामें होती है। इन स्कन्धोंमें अनेक प्रकारके स्थूल, सूक्ष्म, प्रतिघाती और अप्रतिघाती परिणमन अवस्थाभेदके कारण सम्भव होते हैं। इस तरह यह अणु-जगत् अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार दृश्य और अदृश्य अनेक प्रकारकी अवस्थाओंको स्वयमेव धारण करता रहता है। उसमें जो कुछ भी नियतता या अनियतता, व्यवस्था या अव्यवस्था है, वह स्वयमेव है। बीचके पड़ावमें पुरुषका प्रयत्न इनके परिणमनोंको कुछ कालतक किसी विशेष रूपमें प्रभावित और नियन्त्रित भी करता है। बीचमें होनेवाली अनेक अवस्थाओंका अध्ययन और दर्शन करके जो स्थूल कार्यकारणभाव नियत किये जाते हैं, वे भी इन द्रव्योंकी मूल-योग्यताओंके ही आधारसे किये जाते हैं।

## धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य

अनन्त आकाशमें लोकके अमुक आकारको निश्चित करनेके लिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसी विभाजक रेखा किसी वास्तविक आधारपर निश्चित हो, जिसके कारण जीव और पुद्गलोंका गमन वहीं तक हो सके; बाहर नहीं। आकाश एक अमूर्त, अखण्ड और अनन्तप्रदेशी द्रव्य है। उसकी अपनी सब जगह एक सामान्य सत्ता है। अतः उसके अमुक प्रदेशों तक पुद्गल और जीवोंका गमन हो और आगे नहीं, यह नियन्त्रण स्वयं अखण्ड आकाशद्रव्य नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें प्रदेशभेद होकर भी स्वभावभेद नहीं है। जीव और पुद्गल स्वयं गतिस्वभाववाले हैं, अतः यदि वे गति करते हैं तो स्वयं रुकनेका प्रश्न ही नहीं है; इसलिए जैन आचार्योंने लोक और अलोकके विभागके लिए लोकवर्ती आकाशके बराबर एक अमूर्तिक, निष्क्रिय और अखण्ड धर्मद्रव्य माना है, जो गतिशील जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें साधारण कारण होता है। यह किसी भी द्रव्यको प्रेरणा करके नहीं चलाता; किन्तु जो स्वयं गति करते हैं, उनको माध्यम बनकर सहारा देता है। इसका अस्तित्व लोकके भीतर तो साधारण है पर लोककी सीमाओंपर नियन्त्रणके रूपमें है। सीमाओंपर पता चलता है कि धर्मद्रव्य भी कोई अस्तित्वशाली द्रव्य है; जिसके कारण समस्त जीव और पुद्गल अपनी यात्रा उसी सीमा तक समाप्त करनेको विवश हैं, उसके आगे नहीं जा सकते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार गतिके लिए एक साधारण कारण धर्मद्रव्य अपेक्षित है; उसी तरह जीव और पुद्गलोंकी स्थितिके लिए भी एक साधारण कारण होना चाहिए और वह है—अधर्म द्रव्य। यह भी लोकाकाशके बराबर है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दसे रहित—अमूर्तिक है; निष्क्रिय है और उत्पाद-व्ययरूपसे परिणमन करते हुए भी नित्य है। अपने स्वाभाविक सन्तुलन रखनेवाले अनन्त अगुरुलघुगुणोंसे उत्पाद-व्यय करता हुआ ठहरनेवाले जीव-पुद्गलोंको स्थितिमें साधारण कारण होता है। इसके अस्तित्वका पता भी लोककी सीमाओंपर ही चलता है। जब आगे धर्मद्रव्य न होनेके कारण जीव और पुद्गल द्रव्य गति नहीं कर सकते तब स्थितिके लिए इसकी सहकारिता अपेक्षित होती है। ये दोनों द्रव्य स्वयं गति नहीं करते; किन्तु गमन करनेवाले और ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें साधारण निमित्त होते हैं। लोक और अलोकका विभाग ही इनके सद्भावका अचूक प्रमाण है।

यदि आकाशको ही स्थितिका कारण मानते हैं, तो आकाश तो अलोकमें भी मौजूद है। वह चूंकि अखण्ड द्रव्य है, अतः यदि वह लोकके बाहरके पदार्थोंकी स्थितिमें कारण नहीं हो सकता; तो लोकके भीतर भी उसकी कारणता नहीं बन सकती। इसलिए स्थितिके साधारण कारणके रूपमें अधर्मद्रव्यका पृथक अस्तित्व है।

ये धर्म और अधर्म द्रव्य, पुण्य और पापके पर्यायवाची नहीं हैं—स्वतंत्र द्रव्य हैं। इनके असंख्यात प्रदेश हैं, अतः बहुप्रदेशी होनेके कारण इन्हें 'अस्तिकाय' कहते हैं और इसलिए इनका 'धर्मास्तिकाय' और 'अधर्मास्तिकाय' के रूपमें भी निर्देश होता है। इनका सदा शुद्ध परिणमन होता है। द्रव्यके मूल परिणामी-स्वभावके अनुसार पूर्व पर्यायको छोड़ने और उत्तर पर्यायको धारण करनेका क्रम अपने प्रवाही अस्तित्वको बनाये रखते हुए अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्त काल तक चालू रहेगा।

## आकाश द्रव्य

समस्त जीव-अजीवादि द्रव्योंको जो जगह देता है अर्थात् जिसमें ये समस्त जीव-पुद्गलादि द्रव्य युगपत् अवकाश पाये हुए हैं, वह आकाश द्रव्य है। यद्यपि पुद्गलादि द्रव्योंमें भी परस्पर हीनाधिक रूपमें एक दूसरेको अवकाश देना देखा जाता है, जैसे कि टेबिल पर किताब या बर्तनमें पानी आदिका, फिर भी समस्त द्रव्योंको एक साथ अवकाश देनेवाला आकाश ही हो सकता है। इसके अनन्त प्रदेश हैं। इसके मध्य भागमें चौदह राजू ऊँचा पुरुषाकार लोक है, जिसके कारण आकाश लोकाकाश और अलोकाकाशके रूपमें विभाजित हो जाता है। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशोंमें है, शेष अनन्त अलोक है, जहाँ केवल आकाश ही आकाश है। यह निष्क्रिय है और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक है। 'अवकाश दान' ही इसका एक असाधारण गुण है, जिस प्रकार कि धर्मद्रव्यका गमनकारणत्व और अधर्मद्रव्यका स्थितिकारणत्व। यह सर्वव्यापक है और अखण्ड है।

## दिशा स्वतन्त्र द्रव्य नहीं

इसी आकाशके प्रदेशोंमें सूर्योदयकी अपेक्षा पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओंकी कल्पना की जाती है। दिशा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तियाँ सब तरफ कपड़ेमें तन्तुकी तरह श्रेणीबद्ध हैं। एक परमाणु जितने आकाशको रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस नापसे आकाशके अनन्त प्रदेश हैं। यदि पूर्व, पश्चिम आदि व्यवहार होनेके कारण दिशाको एक स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है, तो पूर्वदेश, पश्चिमदेश आदि व्यवहारोंसे 'देश द्रव्य' भी स्वतन्त्र मानना पड़ेगा। फिर प्रान्त, जिला, तहसील आदि बहुतसे स्वतन्त्र द्रव्योंकी कल्पना करनी पड़ेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## शब्द आकाशका गुण नहीं

आकाशमें शब्द गुणकी कल्पना भी आजके वैज्ञानिक प्रयोगोंने असत्य सिद्ध कर दी है। हम पुद्गल द्रव्यके वर्णनमें उसे पौद्गलिक सिद्ध कर आये हैं। यह तो मोटी-सी बात है कि जो शब्द पौद्गलिक इन्द्रियोंसे गृहीत होता है पुद्गलोंसे टकराता है, पुद्गलोंसे रोका जाता है, पुद्गलोंको रोकता है, पुद्गलोंमें भरा जाता है, वह पौद्गलिक ही हो सकता है। अतः शब्द गुणके आधारके रूपमें आकाशका अस्तित्व नहीं माना जा सकता। न 'पुद्गल द्रव्य' का ही परिणमन आकाश हो सकता है; क्योंकि एक ही द्रव्यके मूर्त्त और अमूर्त्त, व्यापक और अव्यापक आदि दो विरुद्ध परिणमन नहीं हो सकते।

## आकाश प्रकृतिका विकार नहीं

सांख्य एक प्रकृति तत्त्व मानकर उसीके पृथिवी आदि भूत तथा आकाश ये दोनों परिणमन मानते हैं। परन्तु विचारणीय बात यह है कि—एक प्रकृतिका घट, पट, पृथिवी, जल, अग्नि और वायु आदि अनेक रूपी भौतिक कार्योंके आकारमें ही परिणमन करना युक्ति और अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है, क्योंकि संसारके अनन्त रूपी भौतिक कार्योंकी अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता देखी जाती है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंका सादृश्य देखकर इन सबको एकजातीय या समानजातीय तो कहा जा सकता है, पर एक नहीं। किञ्चित् समानता होनेके कारण कार्योंका एक कारणसे उत्पन्न होना भी आवश्यक नहीं है। भिन्न-भिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले सैकड़ों घट-पटादि कार्य कुछ-न-कुछ जडत्व आदिके रूपसे समानता रखते ही हैं। फिर मूर्तिक और अमूर्तिक, रूपी और अरूपी, व्यापक और अव्यापक, सक्रिय और निष्क्रिय आदि रूपसे विरुद्ध धर्मवाले पृथिवी आदि और आकाशको एक प्रकृतिका परिणमन मानना ब्रह्मवादकी मायामें ही एक अंशसे समा जाना है। ब्रह्मवाद कुछ आगे बढ़कर चेतन और अचेतन सभी पदार्थोंको एक ब्रह्मका विवर्त मानता है, और ये सांख्य समस्त जड़ोंको एक जड़ प्रकृतिकी पर्याय।

यदि त्रिगुणात्मकत्वका अन्वय होनेसे सब एक त्रिगुणात्मक कारणसे समुत्पन्न हैं, तो आत्मत्वका अन्वय सभी आत्माओंमें पाया जाता है, और सत्ताका अन्वय सभी चेतन और अचेतन पदार्थोंमें पाया जाता है; तो इन सबको भी एक 'अद्वैतसत्' कारणसे उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा, जो कि प्रतीति और वैज्ञानिक प्रयोग दोनोंसे विरुद्ध है। अपने-अपने विभिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले स्वतन्त्र जड़चेतन और मूर्त्त-अमूर्त्त आदि विविध पदार्थोंमें अनेक प्रकारके पर-अपर सामान्योंका सादृश्य देखा जाता है, पर इतनेमात्रसे सब एक नहीं हो सकते। अतः आकाश प्रकृतिकी पर्याय न होकर एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो अमूर्त्त, निष्क्रिय, सर्वव्यापक और अनन्त है।

जल आदि पुद्गल द्रव्य अपनेमें जो अन्य पुद्गलादि द्रव्योंको अवकाश या स्थान देते हैं, वह उनके तरल परिणमन और शिथिल बन्धके कारण बनता है। अन्ततः जलादिके भीतर रहनेवाला आकाश ही अवकाश देनेवाला सिद्ध होता है।

इस आकाशसे ही धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका गति और स्थितिरूप काम नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि यदि आकाश ही पुद्गलादि द्रव्योंकी गति और स्थितिमें निमित्त हो जाय तो लोक और अलोकका विभाग ही नहीं बन सकेगा, और मुक्त जीव, जो लोकान्तमें ठहरते हैं, वे सदा अनन्त आकाशमें ऊपरकी ओर उड़ते रहेंगे। अतः आकाशको गमन और स्थितिमें साधारण कारण नहीं माना जा सकता।

यह आकाश भी अन्य द्रव्योंकी भाँति 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस सामान्य द्रव्यलक्षणसे युक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, और इसमें प्रतिक्षण अपने अगुरु-लघु गुणके कारण पूर्व पर्यायका विनाश और उत्तर पर्यायका उत्पाद होते हुए भी सतत अविच्छिन्नता बनी रहती है। अतः यह भी परिणामीनित्य है।

आजका विज्ञान प्रकाश और शब्दकी गतिके लिए जिस ईथररूप माध्यमकी कल्पना करता है, वह आकाश नहीं है। वह तो एक सूक्ष्म परिणमन करनेवाला लोकव्यापी पुद्गल-स्कन्ध ही है; क्योंकि मूर्त्त-द्रव्योंकी गतिका अन्तरंग आधार अमूर्त्त पदार्थ नहीं हो सकता। आकाशके अनन्त प्रदेश इसलिए माने जाते हैं कि जो आकाशका भाग काशीमें है, वही पटना आदिमें नहीं है, अन्यथा काशी और पटना एक ही क्षेत्रमें आ जायेंगे।

## बौद्ध-परम्परामें आकाशका स्वरूप

बौद्ध-परम्परामें आकाशको असंस्कृत धर्मोंमें गिनाया है और उसका 'वर्णन'[1] 'अनावृति' ( आवरणाभाव ) रूपसे किया है। यह किसीको आवरण नहीं करता और न किसीसे आवृत होता है। संस्कृतका अर्थ है, जिसमें उत्पादादि धर्म पाये जायँ। किन्तु सर्वक्षणिकवादी बौद्धका, आकाशको असंस्कृत अर्थात् उत्पादादि धर्मसे रहित मानना कुछ समझमें नहीं आता। इसका वर्णन भले ही अनावृति रूपसे किया जाय, पर वह भावात्मक पदार्थ है, यह वैभाषिकोंके[2] विवेचनसे सिद्ध होता है। कोई भी भावात्मक पदार्थ बौद्धके मतसे उत्पादादिशून्य कैसे हो सकता है? यह तो हो सकता है कि उसमें होनेवाले उत्पादादिका हम वर्णन न कर सकें, पर स्वरूपभूत उत्पादादिसे इनकार नहीं किया जा सकता और न केवल वह आवरणाभावरूप ही माना जा सकता है। 'अभिधम्मत्थसंगह' में आकाशधातुको परिच्छेदरूप माना है। वह चार महाभूतोंकी तरह निष्पन्न नहीं होता, किन्तु अन्य पृथ्वी आदि धातुओंके परिच्छेद-दर्शनमात्रसे इसका ज्ञान होता है, इसलिए इसे परिच्छेदरूप कहते हैं; पर आकाश केवल परिच्छेदरूप नहीं हो सकता; क्योंकि वह अर्थक्रियाकारी है। अतः वह उत्पादादि लक्षणोंसे युक्त एक संस्कृत पदार्थ है।

## कालद्रव्य

समस्त द्रव्योंके उत्पादादिरूप परिणमनमें सहकारी 'कालद्रव्य' होता है। इसका लक्षण है वर्तना। यह स्वयं परिवर्तन करते हुए अन्य द्रव्योंके परिवर्तनमें सहकारी होता है और समस्त लोकाकाशमें घड़ी, घंटा, पल, दिन, रात आदि व्यवहारोंमें निमित्त होता है। यह भी अन्य द्रव्योंकी तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षणवाला है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक है। प्रत्येक लोकाकाशके प्रदेश-पर एक-एक काल-द्रव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। धर्म और अधर्म द्रव्यकी तरह वह लोकाकाशव्यापी एकद्रव्य नहीं है; क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेशपर समयभेद इसे अनेकद्रव्य माने बिना नहीं बन सकता। लंका और कुरुक्षेत्रमें दिन, रात आदिका पृथक्-पृथक् व्यवहार तत्तत्स्थानोंके कालभेदके कारण ही होता है। एक अखण्ड द्रव्य माननेपर कालभेद नहीं हो सकता। द्रव्योंमें परत्व-अपरत्व ( लहुरा-जेठ ) आदि व्यवहार कालसे ही होते हैं। पुरानापन-नयापन भी कालकृत ही हैं। अतीत, वर्तमान और भविष्य ये व्यवहार भी कालकी क्रमिक पर्यायोंसे होते हैं। किसी भी पदार्थके परिणमनको अतीत, वर्तमान या भविष्य कहना कालकी अपेक्षासे ही हो सकता है।

---

१. "तत्राकाशमनावृतिः"—अभिधर्मकोश १। ५।

२. "छिद्रमाकाशधात्वाख्यम् आलोकतमसी किल।" —अभिधर्मकोश १। २८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### वैशेषिककी मान्यता

वैशेषिक कालको एक और व्यापक द्रव्य मानते हैं, परन्तु नित्य और एक द्रव्यमें जब स्वयं अतीतादि भेद नहीं हैं, तब उसके निमित्तसे अन्य पदार्थोंमें अतीतादि भेद कैसे नापे जा सकते हैं ? किसी भी द्रव्यका परिणमन किसी समयमें हो तो होता है। बिना समयके उस परिणमनको अतीत, अनागत या वर्तमान कैसे कहा जा सकता है ? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आकाश-प्रदेशपर विभिन्न द्रव्योंके जो विलक्षण परिणमन हो रहे हैं, उनमें एक साधारण निमित्त काल है, जो अणुरूप है और जिसकी समयपर्यायोंके समुदायमें हम घड़ी, घंटा आदि स्थूल कालका नाप बनाते हैं। अलोकाकाशमें जो अतीतादि व्यवहार होता है, वह लोकाकाशवर्ती कालके कारण ही। चूँकि लोक और अलोकवर्ती आकाश, एक अखण्ड द्रव्य है, अतः लोकाकाशमें होनेवाला कोई भी परिणमन समूचे आकाशमें ही होता है। काल एकप्रदेशी होनेके कारण द्रव्य होकर भी 'अस्तिकाय' नहीं कहा जाता; क्योंकि बहुप्रदेशी द्रव्योंकी ही 'अस्तिकाय' संज्ञा है।

श्वेताम्बर जैन परम्परामें कुछ आचार्य कालको स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते।

### बौद्ध-परम्परामें काल

बौद्ध-परम्परामें काल केवल व्यवहारके लिए कल्पित होता है। यह कोई स्वभावसिद्ध पदार्थ नहीं है, प्रज्ञप्तिमात्र है। ( अट्ठशालिनी १।३।१६ )। किन्तु अतीत, अनागत और वर्तमान आदि व्यवहार मुख्य कालके बिना नहीं हो सकते। जैसे कि बालकमें शेरका उपचार मुख्य शेरके सद्भावमें ही होता है, उसी तरह समस्त कालिक व्यवहार मुख्य कालद्रव्यके बिना नहीं बन सकते।

इस तरह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छःद्रव्य अनादि-सिद्ध मौलिक हैं। सबका एक ही सामान्य लक्षण है—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तता। इस लक्षणका अपवाद कोई भी द्रव्य कभी भी नहीं हो सकता। द्रव्य चाहे शुद्ध हों या अशुद्ध, वे इस सामान्य लक्षणसे हर समय संयुक्त रहते हैं।

### वैशेषिककी द्रव्यमान्यताका विचार

वैशेषिक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्य मानते हैं। इनमें पृथ्वी आदिक चार द्रव्य तो 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-वत्त्व' इस सामान्य लक्षणसे युक्त होनेके कारण पुद्गल द्रव्यमें अन्तर्भूत हैं। दिशाका आकाशमें अन्तर्भाव होता है। मन स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, वह यथासम्भव जीव और पुद्गलकी ही पर्याय है। मन दो प्रकारका होता है—एक द्रव्यमन और दूसरा भावमन। द्रव्यमन आत्माको विचार करनेमें सहायता देनेवाले पुद्गल-परमाणुओंका स्कन्ध है।[1] शरीरके जिस-जिस भागमें आत्माका उपयोग जाता है; वहाँ-वहाँके शरीरके परमाणु भी तत्काल मनरूपसे परिणत हो जाते हैं। अथवा, हृदय-प्रदेशमें अष्टदल कमलके आकारका द्रव्यमन होता है, जो हिताहितके विचारमें आत्माका उपकरण बनता है। विचार-शक्ति आत्माकी है। अतः भावमन आत्मरूप ही होता है। जिस प्रकार भावेन्द्रियाँ आत्माकी ही विशेष शक्तियाँ हैं, उसी तरह भावमन भी नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे प्रकट होनेवाली आत्माकी एक विशेष शक्ति है; अतिरिक्त द्रव्य नहीं।

---

१. "द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमलाभप्रत्ययाः गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गलाः वीर्यविशेषावर्जनसमर्थाः मनस्त्वेन परिणता इति कृत्वा पौद्गलिकम्"'मनस्त्वेन हि परिणताः पुद्गलाः गुणदोषविचारस्मरणादिकार्यं कृत्वा तदनन्तरसमय एव मनस्त्वात् प्रच्यवन्ते।"
—तत्त्वार्थवा० ५। १९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध-परंपरामें हृदय-वस्तुको एक पृथक् धातु माना है[1], जो कि द्रव्यमनका स्थानीय हो सकता है। 'अभिधर्मकोश' में[2] छह ज्ञानोंके समानान्तर कारणभूत पूर्वज्ञानको मन कहा है। यह भावमनका स्थान ग्रहण कर सकता है, क्योंकि चेतनात्मक है। इन्द्रियाँ मनकी सहायताके बिना अपने विषयोंका ज्ञान नहीं कर सकतीं, परन्तु मन अकेला ही गुणदोषविचार आदि व्यापार कर सकता है। मनका कोई निश्चित विषय नहीं है, अतः वह सर्वविषयक होता है।

## गुण आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं

वैशेषिकने द्रव्यके सिवाय गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये छह पदार्थ और माने हैं। वैशेषिककी मान्यता प्रत्ययके आधारसे चलती है। चूँकि 'गुणः गुणः' इस प्रकारका प्रत्यय होता है, अतः गुण एक पदार्थ होना चाहिए। 'कर्म कर्म' इस प्रत्ययके कारण कर्म एक स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है। 'अनुगताकार, प्रत्ययसे पर और अपर रूपसे अनेक प्रकारके सामान्य माने गये हैं। 'अपृथक्सिद्ध' पदार्थोंके सम्बन्ध स्थापनके लिए 'समवाय' की आवश्यकता हुई। नित्य परमाणुओंमें, शुद्ध आत्माओंमें, तथा मुक्त आत्माओंके मनोंमें परस्पर विलक्षणताका बोध करानेके लिए प्रत्येक नित्य द्रव्यपर एक विशेष पदार्थ माना गया है। कार्योत्पत्तिके पहले वस्तुके अभावका नाम प्रागभाव है। उत्पत्तिके बाद होनेवाला विनाश प्रध्वंसाभाव है। परस्पर पदार्थोंके स्वरूपका अभाव अन्योन्याभाव और त्रैकालिक संसर्गका निषेध करनेवाला अत्यन्ताभाव होता है। इस तरह जितने प्रकारके प्रत्यय पदार्थोंमें होते हैं, उतने प्रकारके पदार्थ वैशेषिकने माने हैं। वैशेषिकको 'सम्प्रत्ययोपाध्याय' कहा गया है। उसका यही अर्थ है कि वैशेषिक प्रत्ययके आधारसे पदार्थकी कल्पना करनेवाला उपाध्याय है।

परन्तु विचारकर देखा जाय तो गुण, क्रिया, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सब द्रव्यकी पर्यायें ही हैं। द्रव्यके स्वरूपसे बाहर गुणादिकी कोई सत्ता नहीं है। द्रव्यका लक्षण है[3] गुणपर्यायवाला होना। ज्ञानादिगुणोंका आत्मासे तथा रूपादि गुणोंका पुद्गलसे पृथक् अस्तित्व न तो देखा ही जाता है, और न युक्तिसिद्ध ही है। गुण और गुणीको, क्रिया और क्रियावान्को, सामान्य और सामान्यवान्को, विशेष और नित्य द्रव्योंको स्वयं वैशेषिक अयुतसिद्ध मानते हैं, अर्थात् उक्त पदार्थ परस्पर पृथक् नहीं किये जा सकते। गुण आदिको छोड़कर द्रव्यकी अपनी पृथक् सत्ता क्या है? इसी तरह द्रव्यके बिना गुणादि निराधार कहाँ रहेंगे? इनका द्रव्यके साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। इसीलिए कहीं "गुणसद्भावो द्रव्यम्" यह भी द्रव्यका लक्षण मिलता है[4]।

एक ही द्रव्य जिस प्रकार अनेक गुणोंका अखण्ड पिण्ड है, उसी तरह जो द्रव्य सक्रिय हैं उनमें होनेवाली क्रिया भी उसी द्रव्यकी पर्याय है, स्वतंत्र नहीं है। क्रिया या कर्म क्रियावान्से भिन्न अपना अस्तित्व नहीं रखते।

इसी तरह पृथ्वीत्वादि भिन्न द्रव्यवर्ती सामान्य सदृशपरिणामरूप ही हैं। कोई एक, नित्य और

---

१. "ताम्रपर्णीया अपि हृदयवस्तु मनोविज्ञानधातोराश्रयं कल्पयन्ति।"
—स्फुटार्थ अभि०, पृ० ४९।

२. "षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः।"—अभिधर्मकोश १। १७।

३. "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।"—तत्त्वार्थसूत्र ५। ३८।

४. "अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसद्भावो द्रव्यमिति।"—पात० महाभाष्य ५। १। ११९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यापक सामान्य अनेक द्रव्योंमें मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया हुआ नहीं है। जिन द्रव्योंमें जिस रूपसे सादृश्य प्रतीत होता है, उन द्रव्योंका वह सामान्य मान लिया जाता है। वह केवल बुद्धिकल्पित भी नहीं है, किन्तु सादृश्य रूपसे वस्तुनिष्ठ है; और वस्तुकी तरह ही उत्पादविनाशध्रौव्यशाली है।

समवाय सम्बन्ध है। यह जिनमें होता है उन दोनों पदार्थोंकी ही पर्याय है। ज्ञानका सम्बन्ध आत्मामें माननेका यही अर्थ है कि ज्ञान और उसका सम्बन्ध आत्माकी ही सम्पत्ति है, आत्मासे भिन्न उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोंकी अवस्थारूप ही हो सकता है। दो स्वतन्त्र पदार्थोंमें होनेवाला संयोग भी दोमें न रहकर प्रत्येकमें रहता है, इसका संयोग उसमें और उसका संयोग इसमें। याने संयोग प्रत्येकनिष्ठ होकर भी दोके द्वारा अभिव्यक्त होता है।

विशेष पदार्थको स्वतन्त्र माननेकी आवश्यकता इसलिए नहीं है कि जब सभी द्रव्योंका अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, तब उनमें विलक्षणप्रत्यय भी अपने निजी व्यक्तित्वके कारण ही हो सकता है। जिस प्रकार विशेष पदार्थोंमें विलक्षण प्रत्यय उत्पन्न करनेके लिए अन्य विशेष पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं उनके स्वरूपसे ही हो जाता है, उसी तरह द्रव्योंके निजरूपसे ही विलक्षणप्रत्यय माननेमें कोई बाधा नहीं है।

इसी तरह प्रत्येक द्रव्यकी पूर्वपर्याय उसका प्रागभाव है, उत्तरपर्याय प्रध्वंसाभाव है, प्रतिनियत निज-स्वरूप अन्योन्याभाव है और असंसर्गीयरूप अत्यन्ताभाव है। अभाव भावान्तररूप होता है, वह अपनेमें कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। एक द्रव्यका अपने स्वरूपमें स्थिर होना ही उसमें पररूपका अभाव है। एक ही द्रव्यकी दो भिन्न पर्यायोंमें परस्पर अभाव-व्यवहार कराना इतरेतराभावका कार्य है और दो द्रव्योंमें परस्पर अभाव अत्यन्ताभावसे होता है। अतः गुणादि पृथक् सत्ता रखनेवाले स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, किन्तु द्रव्यकी ही पर्यायें हैं। भिन्न प्रत्ययके आधारसे ही यदि पदार्थोंकी व्यवस्था की जाय; तो पदार्थोंकी गिनती करना ही कठिन है।

इसी तरह अवयवी द्रव्यको अवयवोंसे जुदा मानना भी प्रतीतिविरुद्ध है। तन्तु आदि अवयव ही अमुक आकारमें परिणत होकर पटसंज्ञा पा लेते हैं। कोई अलग पट नामका अवयवी तन्तु नामक अवयवोंमें समवाय-सम्बन्धसे रहता हो, यह अनुभवगम्य नहीं है; क्योंकि पट नामके अवयवीकी सत्ता तन्तुरूप अवयवोंसे भिन्न कहीं भी और कभी भी नहीं मालूम होती। स्कन्ध अवस्था पर्याय है, द्रव्य नहीं। जिन मिट्टीके परमाणुओंसे घड़ा बनता है, वे परमाणु स्वयं घड़ेके आकारको ग्रहण कर लेते हैं। घड़ा उन परमाणुओंकी सामुदायिक अभिव्यक्ति है। ऐसा नहीं है कि घड़ा पृथक् अवयवी बनकर कहींसे आ जाता हो, किन्तु मिट्टी के परमाणुओंका अमुक आकार, अमुक पर्याय और अमुक प्रकारमें क्रमबद्ध परिणमनोंकी औसतसे ही घटके रूपमें हो जाता है और घटव्यवहारकी संगति बैठ जाती है। घट-अवस्थाको प्राप्त परमाणुद्रव्योंका अपना निजी स्वतन्त्र परिणमन भी उस अवस्थामें बराबर चालू रहता है। यही कारण है कि घटके अमुक-अमुक हिस्सोंमें रूप, स्पर्श और टिकाऊपन आदिका अन्तर देखा जाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक परमाणु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वतन्त्र परिणमन रखनेपर भी सामुदायिक समान परिणमनकी धारामें अपने व्यक्तिगत परिणमनको विलीन-सा कर देता है और जब तक यह समान परिणमनकी धारा अवयवभूत परमाणुओंमें चालू रहती है, तब तक उस पदार्थकी एक-जैसी स्थिति बनी रहती है। जैसे-जैसे उन परमाणुओंमें सामुदायिक धारासे असहयोग प्रारम्भ होता है, वैसे-वैसे उस सामुदायिक अभिव्यक्तिमें न्यूनता, शिथिलता और जीर्णता आदि रूपसे विविधता आ चलती है। तात्पर्य यह कि मूलतः गुण और पर्यायोंका आधार जो होता है वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य कहलाता और उसीकी सत्ता द्रव्यरूपमें गिनी जाती है। अनेक द्रव्योंके समान या असमान परिणमनोंकी औसतसे जो विभिन्न व्यवहार होते हैं, वे स्वतन्त्र द्रव्यकी संज्ञा नहीं पा सकते।

जिन परमाणुओंसे घट बनता है उन परमाणुओंमें घट नामके निरंश अवयवीको स्वीकार करनेमें अनेकों दूषण आते हैं। यथा—निरंश अवयवी अपने अवयवोंमें एकदेशसे रहता है, या सर्वात्मना ? यदि एकदेशसे रहता है; तो जितने अवयव हैं, उतने ही देश अवयवीके मानना होंगे। यदि सर्वात्मना प्रत्येक अवयवमें रहता है; तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी हो जायँगे। यदि अवयवी निरंश है; तो वस्त्रादिके एक हिस्सेको ढँकनेपर सम्पूर्ण वस्त्र ढँका जाना चाहिये और एक अवयवमें क्रिया होनेपर पूरे अवयवोंमें क्रिया होनी चाहिए, क्योंकि अवयवी निरंश है। यदि अवयवी अतिरिक्त है; तो चार छटाँक सूतसे तैयार हुए वस्त्रका वजन बढ़ जाना चाहिये, पर ऐसा देखा नहीं जाता। वस्त्रके एक अंशके फट जानेपर फिर उतने परमाणुओंसे नये अवयवीकी उत्पत्ति माननेमें कल्पनागौरव और प्रतीतिबाधा है, क्योंकि जब प्रतिसमय कपड़ेका उपचय और अपचय होता है तब प्रतिक्षण नये अवयवीकी उत्पत्ति मानना पड़ेगी।

वैशेषिकका आठ, नव, दस आदि क्षणोंमें परमाणुकी क्रिया, संयोग आदि क्रमसे अवयवीकी उत्पत्ति और विनाशका वर्णन एक प्रक्रियामात्र है। वस्तुतः जैसे-जैसे कारणकलाप मिलते जाते हैं, वैसे-वैसे उन परमाणुओंके संयोग और वियोगसे उस-उस प्रकारके आकार और प्रकार बनते और बिगड़ते रहते हैं। परमाणुओंसे लेकर घट तक अनेक स्वतंत्र अवयवियोंकी उत्पत्ति और विनाशकी प्रक्रियासे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि जो द्रव्य पहले नहीं हैं, वे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, जबकि किसी नये द्रव्यका उत्पाद और उसका सदाके लिए विनाश वस्तुसिद्धान्तके प्रतिकूल है। यह तो संभव है और प्रतीतिसिद्ध है कि उन-उन परमाणुओंकी विभिन्न अवस्थाओंमें पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि व्यवहार होते हुए पूर्ण कलश-अवस्थामें घटव्यवहार हो। इसमें किसी नये द्रव्यके उत्पाद बात नहीं है, और न वजन बढ़नेकी बात है।

यह ठीक है कि प्रत्येक परमाणु जलधारण नहीं कर सकता और घटमें जल भरा जा सकता है, पर इतने मात्रासे उसे पृथक द्रव्य नहीं माना जा सकता। ये तो परमाणुओंके विशिष्ट संगठनके कार्य हैं; जो उस प्रकारके संगठन होनेपर स्वतः होते हैं। एक परमाणु आँखसे नहीं दिखाई देता, पर अमुक परमाणुका समुदाय जब विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, तो वह दिखाई देने लगता है। स्निग्धता और रूक्षताके कारण परमाणुओंके अनेक प्रकारके सम्बन्ध होते रहते हैं, जो अपनी दृढ़ता और शिथिलताके अनुसार अधिक टिकाऊ या कम टिकाऊ होते हैं। स्कन्ध-अवस्थामें चूँकि परमाणुओंका स्वतन्त्र द्रव्यत्व नष्ट नहीं होता, अतः उन-उन हिस्सोंके परमाणुओंमें पृथक् रूप और रसादिका परिणमन भी होता जाता है। यही कारण है कि एक कपड़ा किसी हिस्सेमें अधिक मैला, किसीमें कम मैला और किसीमें उजला बना रहता है।

यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि जो परमाणु किसी स्थूल घट आदि कार्य रूपसे परिणत हुए हैं, वे अपनी परमाणु-अवस्थाको छोड़कर स्कन्ध-अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। यह स्कन्ध-अवस्था किसी नये द्रव्यकी नहीं, किन्तु उन सभी परमाणुओंकी अवस्थाओंका योग है। यदि परमाणुओंको सर्वथा पृथक् और सदा परमाणुरूप ही स्वीकार किया जाता है, तो जिस प्रकार एक परमाणु आँखोंसे नहीं दिखाई देता उसी तरह सैकड़ों परमाणुओंके अति-समीप रहे रहनेपर भी, वे इन्द्रियोंके गोचर नहीं हो सकेंगे। अमुक स्कन्ध-अवस्थामें आनेपर उन्हें अपनी अदृश्यताको त्यागकर दृश्यता स्वीकार करनी ही चाहिए। किसी भी वस्तुकी मजबूती या कमजोरी उसके घटक अवयवोंके दृढ़ और शिथिल बंधके ऊपर निर्भर करती है। वे ही परमाणु लोहेके स्कन्धकी अवस्थाको प्राप्तकर कठोर और चिरस्थायी बनते हैं, जबकि रूई अवस्थामें मृदु और अचिर-



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थायी रहते हैं। यह सब तो उनके बन्धके प्रकारोंसे होता रहता है। यह तो समझमें आता है कि प्रत्येक पुद्गल परमाणु-द्रव्यमें पुद्गलकी सभी शक्तियाँ हों, और विभिन्न स्कन्धोंमें उनका न्यूनाधिकरूपमें अनेक तरहका विकास हो। घटमें ही जल भरा जाता है कपड़ेमें नहीं, यद्यपि परमाणु दोनोंमें ही हैं और परमाणुओं-से दोनों ही बने हैं। वही परमाणु चन्दन-अवस्थामें शीतल होते हैं और वे ही जब अग्निका निमित्त पाकर आग बन जाते हैं, तब अन्य लकड़ियोंकी आगकी तरह दाहक होते हैं। पुद्गलद्रव्योंके परस्पर न्यूनाधिक सम्बन्धसे होनेवाले परिणमनोंकी न कोई गिनती निर्धारित है और न आकार और प्रकार ही। किसी भी पर्यायकी एकरूपता और चिरस्थायिता उसके प्रतिसमयभावी समानपरिणमनोंपर निर्भर करती है। जब तक उसके घटक परमाणुओंमें समानपर्याय होती रहेगी, तब तक वह वस्तु एक-सी रहेगी और ज्यों ही कुछ पर-माणुओंमें परिस्थितिके अनुसार असमान परिणमन शुरू होगा; तैसे ही वस्तुके आकार-प्रकारमें विलक्षणता आती जायगी। आजके विज्ञानसे जल्दी सड़नेवाले आलूको बरफमें या बद्धवायु ( Airtite ) में रखकर जल्दी सड़नेसे बचा लिया है।

तात्पर्य यह कि सतत गतिशील पुद्गल-परमाणुओंके आकार और प्रकारकी स्थिरता या अस्थिरताकी कोई निश्चित जवाबदारी नहीं ली जा सकती। यह तो परिस्थिति और वातावरणपर निर्भर है कि वे कब, कहाँ और कैसे रहें। किसी लम्बे-चौड़े स्कन्धके अमुक भागके कुछ परमाणु यदि विद्रोह करके स्कन्धत्वको कायम रखनेवाली परिणतिको स्वीकार नहीं करते हैं तो उस भागमें तुरन्त विलक्षणता आ जाती है। इसीलिए स्थायी स्कन्ध तैयार करनेके समय इस बातका विशेष ध्यान रखा जाता है कि उन परमाणुओंका परस्पर एक-रस मिलाव हुआ है या नहीं। जैसा मावा तैयार होगा वैसा ही तो कागज बनेगा। अतः न तो परमाणुओंको सर्वथा नित्य यानी अपरिवर्तनशील माना जा सकता है और न इतना स्वतन्त्र परिणमन करनेवाले कि जिससे एक समान पर्यायका विकास ही न हो सके।

## अवयवीका स्वरूप

यदि बौद्धोंकी तरह अत्यन्त समीप रखे हुए किन्तु परस्पर असम्बद्ध परमाणुओंका पुञ्ज ही स्थूल घटादि रूपसे प्रतिभासित होता है, यह माना जाय; तो बिना सम्बन्धके तथा स्थूल आकारकी प्राप्तिके बिना ही वह अणुपुञ्ज स्कन्ध रूपसे कैसे प्रतिभासित हो सकता है? यह केवल भ्रम नहीं है, किन्तु प्रकृतिकी प्रयोग-शालामें होनेवाला वास्तविक रासायनिक मिश्रण है, जिसमें सभी परमाणु बदलकर एक नई ही अवस्थाको धारण कर रहे हैं। यद्यपि 'तत्त्वसंग्रह' ( पृ० १९५ ) में यह स्वीकार किया है कि परमाणुओंमें विशिष्ट अवस्थाकी प्राप्ति हो जानेसे वे स्थूलरूपमें इन्द्रियग्राह्य होते हैं, तो भी जब सम्बन्धका निषेध किया जाता है, तब इस 'विशिष्ट अवस्थाप्राप्ति' का क्या अर्थ हो सकता है? अन्ततः उसका यही अर्थ सम्भव है कि जो परमाणु परस्पर विलग और अतीन्द्रिय थे वे ही परस्परबद्ध और इन्द्रियग्राह्य बन जाते हैं। इस प्रकारकी परिणतिके माने बिना बालूके पुञ्जने घटके परमाणुओंके सम्बन्धमें कोई विशेषता नहीं बताई जा सकती। परमाणुओंमें जब स्निग्धता और रूक्षताके कारण अमुक प्रकारके रासायनिक बन्धके रूपमें सम्बन्ध होता है, तभी वे परमाणु स्कन्ध-अवस्थाको धारण कर सकते हैं; केवल परस्पर निरन्तर अवस्थित होनेके कारण ही नहीं। यह ठीक है कि उस प्रकारका बन्ध होनेपर भी कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, पर नई अवस्था तो उत्पन्न होती ही है, और वह ऐसी अवस्था है, जो केवल साधारण संयोगसे जन्य नहीं है, किन्तु विशेष प्रकारके उभयपारिणामिक रासायनिक बन्धसे उत्पन्न होती है। परमाणुओंके संयोग-सम्बन्ध अनेक प्रकारके होते हैं—कहीं मात्र प्रदेशसंयोग होता है, कहीं निविड, कहीं शिथिल और कहीं रासायनिक बन्धरूप।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध-अवस्थामें ही स्कन्धकी उत्पत्ति होती है और अचाक्षुष स्कन्धको चाक्षुष बननेके लिए दूसरे स्कन्धके विशिष्ट संयोगकी उस रूपमें आवश्यकता है, जिस रूपसे वह उसकी सूक्ष्मताका विनाशकर स्थूलता ला सके; यानी जो स्कन्ध या परमाणु अपनी सूक्ष्म अवस्थाका त्यागकर स्थूल अवस्थाको धारण करता है, वह इन्द्रियगम्य हो सकता है। प्रत्येक परमाणुमें अखण्डता और अविभागिता होनेपर भी यह खुशी तो अवश्य है कि अपनी स्वाभाविक लचकके कारण वे एक दूसरेको स्थान दे देते हैं, और असंख्य परमाणु मिलाकर अपने सूक्ष्म परिणमनरूप स्वभावके कारण थोड़ी-सी जगहमें समा जाते हैं। परमाणुओंकी संख्याका अधिक होना ही स्थूलताका कारण नहीं। बहुतसे कमसंख्यावाले परमाणु भी अपने स्थूल परिणमनके द्वारा स्थूल स्कन्ध बन जाते हैं, जब कि उनसे कई गुने परमाणु कार्मण शरीर आदिमें सूक्ष्म परिणमनके द्वारा इन्द्रिय-अग्राह्य स्कन्धके रूपमें ही रह जाते हैं। तात्पर्य यह कि इन्द्रियग्राह्यताके लिए परमाणुओंकी संख्या अपेक्षित नहीं है, किन्तु उनका अमुक रूपमें स्थूल परिणमन ही विशेषरूपसे अपेक्षणीय होता है। ये अनेक प्रकारके बन्ध परमाणुओंके अपने स्निग्ध और रूक्ष स्वभावके कारण प्रतिक्षण होते रहते हैं, और परमाणुओंके अपने निजी परिणमनोंके योगसे उस स्कन्धसे रूपादिका तारतम्य घटित हो जाता है।

एक स्थूल स्कन्धमें सैकड़ों प्रकारके बन्धवाले छोटे-छोटे अवयव-स्कन्ध शामिल रहते हैं; और उनमें प्रतिसमय किसी अवयवका टूटना, नयेका जुड़ना तथा अनेक प्रकारके उपचय-अपचयरूप परिवर्तन होते हैं। यह निश्चित है कि स्कन्ध-अवस्था बिना रासायनिक बन्धके नहीं होती। यों साधारण संयोगके आधारसे भी एक स्थूल प्रतीति होती है और उसमें व्यवहारके लिए नई संज्ञा भी कर ली जाती है, पर इतनेमात्रसे स्कन्ध अवस्था नहीं बनती। इस रासायनिक बन्धके लिए पुरुषका प्रयत्न भी क्वचित् काम करता है और बिना प्रयत्नके भी अनेकों बन्ध प्राप्त सामग्रीके अनुसार होते हैं। पुरुषका प्रयत्न उनमें स्थायिता और सुन्दरता तथा विशेष आकार उत्पन्न करता है। सैकड़ों प्रकारके भौतिक आविष्कार इसी प्रकारकी प्रक्रियाके फल हैं।

असंख्यात प्रदेशी लोकमें अनन्त पुद्गल परमाणुओंका समा जाना आकाशकी अवगाहशक्ति और पुद्गलाणुओंके सूक्ष्मपरिणमनके कारण सम्भव हो जाता है। कितनी भी सुसम्बद्ध लकड़ीमें कील ठोकी जा सकती है। पानीमें हाथीका डूब जाना हमारी प्रतीतिका विषय होता ही है। परमाणुओंकी अनन्त शक्तियाँ अचिन्त्य हैं। आजके एटम बमने उसकी भीषण संहारक शक्तिका कुछ अनुभव तो हम लोगोंको करा ही दिया है।

## गुण आदि द्रव्यरूप ही हैं

प्रत्येक द्रव्य सामान्यतया यद्यपि अखण्ड है, परन्तु वह अनेक सहभावी गुणोंका अभिन्न आधार होता है। अतः उसमें गुणकृत विभाग किया जा सकता है। एक पुद्गलपरमाणु युगपत् रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि अनेक गुणोंका आधार होता है। प्रत्येक गुणका भी प्रतिसमय परिणमन होता है। गुण और द्रव्यका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्यसे गुण पृथक् नहीं किया जा सकता, इसलिए वह अभिन्न है; और संज्ञा, संख्या, प्रयोजन आदिके भेदसे उसका विभिन्नरूपसे निरूपण किया जाता है; अतः वह भिन्न है। इस दृष्टिसे द्रव्यमें जितने गुण हैं, उतने उत्पाद और व्यय प्रतिसमय होते हैं। हर गुण अपनी पूर्व पर्यायको छोड़कर उत्तर पर्यायको धारण करता है, पर वे सब हैं अपृथक्सत्ताक ही, उनकी द्रव्यसत्ता एक है। बारीकी-से देखा जाय तो पर्याय और गुणको छोड़कर द्रव्यका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, यानी गुण और पर्याय ही द्रव्य है और पर्यायोंमें परिवर्तन होनेपर भी जो एक अविच्छिन्नताका नियामक अंश है, वही तो गुण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। हाँ, गुण अपनी पर्यायोंमें सामान्य एकरूपताके प्रयोजक होते हैं। जिस समय पुद्गलाणुमें रूप अपनी किसी नई पर्यायको लेता है, उसी समय रस, गन्ध और स्पर्श आदि भी बदलते हैं। इस तरह प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिसमय गुणकृत अनेक उत्पाद और व्यय होते हैं। ये सब उस गुणकी सम्पत्ति ( Property ) या स्वरूप हैं।

## रूपादि गुण प्रातिभासिक नहीं हैं

एक पक्ष यह भी है कि परमाणुमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणोंकी सत्ता नहीं है। वह तो एक ऐसा अविभागी पदार्थ है, जो आँखोंसे रूप, जीभसे रस, नाकसे गन्ध और हाथ आदिसे स्पर्शके रूपमें जाना जाता है, यानी विभिन्न इन्द्रियोंके द्वारा उसमें रूपादि गुणोंकी प्रतीति होती है, वस्तुतः उसमें इन गुणोंकी सत्ता नहीं है। किन्तु यह एक मोटा सिद्धान्त है कि इन्द्रियाँ जाननेवाली हैं, गुणोंकी उत्पादक नहीं। जिस समय हम किसी आमको देख रहे हैं, उस समय उसमें रस, गन्ध या स्पर्श है ही नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। हमारे न सूँघनेपर भी उसमें गन्ध है और न चखने और न छूनेपर भी उसमें रस और स्पर्श है, यह बात प्रतिदिनके अनुभव की है, इसे समझानेकी आवश्यकता नहीं है। इस तरह चेतन आत्मामें एक साथ ज्ञान, सुख, शक्ति, विश्वास, धैर्य और साहस आदि अनेकों गुणोंका युगपत् सद्भाव पाया जाता है, और इनका प्रतिक्षण परिवर्तन होते हुए भी उसमें एक अविच्छिन्नता बनी रहती है। चैतन्य इन्हीं अनेक रूपोंमें विकसित होता है। इसीलिये गुणोंको सहभावी और अन्वयी बताया है, पर्यायें व्यतिरेकी और क्रमभावी होती हैं। वे इन्हीं गुणोंके विकार या परिणाम होती हैं। एक चेतन द्रव्यमें जिस क्षण ज्ञानकी अमुक पर्याय हो रही है, उसी क्षण दर्शन, सुख और शक्ति आदि अनेक गुण अपनी-अपनी पर्यायोंके रूपसे बराबर परिणत हो रहे हैं। यद्यपि इन समस्त गुणोंमें एक चैतन्य अनुस्यूत है; फिर भी यह नहीं है कि एक ही चैतन्य स्वयं निर्गुण होकर विविध गुणोंके रूपमें केवल प्रतिभासित हो जाता हो। गुणोंकी अपनी स्थिति स्वयं है और यही एकसत्ताक गुण और पर्याय द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्य इनसे जुदा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, किन्तु इन्हीं सबका तादात्म्य है।

गुण केवल दृष्टि-सृष्टि नहीं हैं कि अपनी-अपनी भावनाके अनुसार उस द्रव्यमें कभी प्रतिभासित हो जाते हों और प्रतिभासके बाद या पहले अस्तित्व-विहीन हों। इस तरह प्रत्येक चेतन-अचेतन द्रव्यमें अपने सहभावी गुणोंके परिणमनके रूपमें अनेकों उत्पाद और व्यय स्वभावसे होते हैं और द्रव्य उन्हींमें अपनी अखण्ड अनुस्यूत सत्ता रखता है, यानी अखण्ड-सत्तावाले गुण-पर्याय ही द्रव्य हैं। गुण प्रतिसमय किसी-न-किसी पर्याय रूपसे परिणत होगा ही और ऐसे अनेक गुण अनन्तकाल तक जिस एक अखण्ड सत्तासे अनुस्यूत रहते हैं, वह द्रव्य है। द्रव्यका अर्थ है, उन-उन क्रमभावी पर्यायोंको प्राप्त होना। और इस तरह प्रत्येक गुण भी द्रव्य कहा जा सकता है, क्योंकि वह अपनी क्रमभावी पर्यायोंमें अनुस्यूत रहता ही है, किन्तु इस प्रकार गुणमें औपचारिक द्रव्यता ही बनती है, मुख्य नहीं। एक द्रव्यसे तादात्म्य रखनेके कारण सभी गुण एक तरहसे द्रव्य ही हैं, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक गुण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप सत् होनेके कारण स्वयं एक परिपूर्ण द्रव्य होता है। अर्थात् गुण वस्तुतः द्रव्यांश कहे जा सकते हैं, द्रव्य नहीं। यह अंशकल्पना भी वस्तुस्थितिपर प्रतिष्ठित है, केवल समझानेके लिए ही नहीं है। इस तरह द्रव्य गुण-पर्यायोंका एक अखण्ड, तादात्म्य रखनेवाला और अपने हरएक प्रदेशमें सम्पूर्ण गुणोंकी सत्ताका आधार होता है।

इस विवेचनका यह फलितार्थ है कि एक द्रव्य अनेक उत्पाद और व्ययोंका और गुणरूपसे ध्रौव्यका युगपत् आधार होता है। यह अपने विभिन्न गुण और पर्यायोंमें जिस प्रकारका वास्तविक तादात्म्य रखता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस प्रकारका तादात्म्य दो द्रव्योंमें नहीं हो सकता। अतः अनेक विभिन्न सत्ताके परमाणुओंके बन्ध-कालमें जो स्कन्ध-अवस्था होती है, वह उन्हीं परमाणुओंके सदृश परिणमनका योग है, उनमें कोई एक नया द्रव्य नहीं आता, अपितु विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त वे परमाणु ही विभिन्न स्कन्धोंके रूपमें व्यवहृत होते हैं। यह विशिष्ट अवस्था उनकी कथञ्चित् एकत्व-परिणतिरूप है।

## कार्योत्पत्ति विचार

### सांख्यका सत्कार्यवाद

कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमें मुख्यतया तीन वाद हैं। पहला सत्कार्यवाद, दूसरा असत्कार्यवाद और तीसरा सत्-असत्कार्यवाद। सांख्य सत्कार्यवादी हैं। उनका यह आशय है[1] कि प्रत्येक कारणमें उससे उत्पन्न होनेवाले कार्योंकी सत्ता है क्योंकि सर्वथा असत् कार्यकी खरविषाणकी तरह उत्पत्ति नहीं हो सकती। गेहूँके अंकुरके लिए गेहूँके बीजको ही ग्रहण किया जाता है, यवादिके बीजको नहीं। अतः ज्ञात होता है कि उपादानमें कार्यका सद्भाव है। जगत्में सब कारणोंसे सब कार्य पैदा नहीं होते, किन्तु प्रतिनियत कारणोंसे प्रतिनियत कार्य होते हैं। इसका सीधा अर्थ है कि जिन कारणोंमें जिन कार्योंका सद्भाव है, वे ही उनसे पैदा होते हैं, अन्य नहीं। इसी तरह समर्थ भी कारण शक्य ही कार्यको पैदा करता है, अशक्यको नहीं। यह शक्यता कारणमें कार्यके सद्भावके सिवाय और क्या हो सकती है? और यदि कारणमें कार्यका तादात्म्य स्वीकार न किया जाय तो संसारमें कोई किसीका कारण नहीं हो सकता। कार्यकारणभाव स्वयं ही कारणमें किसी रूपसे कार्यका सद्भाव सिद्ध कर देता है। सभी कार्य प्रलयकालमें किसी एक कारणमें लीन हो जाते हैं। वे जिसमें लीन होते हैं, उसमें उनका सद्भाव किसी रूपसे रहा आता है। ये कारणोंमें कार्यकी सत्ता शक्तिरूपसे मानते हैं, अभिव्यक्तिरूपसे नहीं। इनका कारणतत्त्व एक प्रधान—प्रकृति है, उसीसे संसारके समस्त कार्यभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

### नैयायिकका असत्कार्यवाद

नैयायिकादि असत्कार्यवादी हैं। इनका यह मतलब है कि जो स्कन्ध परमाणुओंके संयोगसे उत्पन्न होता है वह एक नया ही अवयवी द्रव्य है। उन परमाणुओंके संयोगके बिखर जानेपर वह नष्ट हो जाता है। उत्पत्तिके पहले उस अवयवी द्रव्यकी कोई सत्ता नहीं थी। यदि कार्यकी सत्ता कारणमें स्वीकृत हो तो कार्यको अपने आकार-प्रकारमें उसी समय मिलना चाहिए था, पर ऐसा देखा नहीं जाता। अवयव द्रव्य और अवयवी द्रव्य यद्यपि भिन्न द्रव्य हैं, किन्तु उनका क्षेत्र पृथक् नहीं है, वे अयुतसिद्ध हैं। कहीं भी अवयवीकी उपलब्धि यदि होती है, तो वह केवल अवयवोंमें ही। अवयवोंसे भिन्न अर्थात् अवयवोंसे पृथक् अवयवीको जुदा निकालकर नहीं दिखाया जा सकता।

### बौद्धोंका असत्कार्यवाद

बौद्ध प्रतिक्षण नया उत्पाद मानते हैं। उनकी दृष्टिमें पूर्व और उत्तरके साथ वर्तमानका कोई सम्बन्ध नहीं। जिस कालमें जहाँ जो है, वह वहीं और उसी कालमें नष्ट हो जाता है। सदृशता ही कार्य-कारण भाव आदि व्यवहारोंकी नियामिका है। वस्तुतः दो क्षणोंका परस्पर कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।

---

१. "असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
कारणकार्यविभागादविभागात् वैश्वरूप्यस्य।"
—सांख्यका० ९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## जैनदर्शनका सदसत्कार्यवाद

जैनदर्शन 'सदसत्कार्यवादी' है। उसका सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थमें मूलभूत द्रव्ययोग्यताएँ होनेपर भी कुछ तत्पर्याययोग्यताएँ भी होती हैं। ये पर्याययोग्यताएँ मूल द्रव्ययोग्यताओंसे बाहरकी नहीं हैं, किन्तु उन्हींमेंसे विशेष अवस्थाओंमें साक्षात् विकासको प्राप्त होनेवाली हैं। जैसे मिट्टीरूप पुद्गलके परमाणुओंमें पुद्गलको घट-पट आदिरूपसे परिणमन करनेकी सभी द्रव्ययोग्यताएँ हैं, पर मिट्टीकी तत्पर्याययोग्यता घटको ही साक्षात् उत्पन्न कर सकती है, पट आदिको नहीं। तात्पर्य यह है कि कार्य अपने कारणद्रव्यमें द्रव्ययोग्यताके साथ ही तत्पर्याययोग्यता या शक्तिके रूपमें रहता है। यानी उसका अस्तित्व योग्यता अर्थात् द्रव्यरूपसे ही है, पर्यायरूपसे नहीं है।

सांख्यके यहाँ कारणद्रव्य तो केवल एक 'प्रधान' ही है, जिसमें जगत्के समस्त कार्योंके उत्पादनकी शक्ति है। ऐसी दशामें जबकि उसमें शक्तिरूपसे सब कार्य मौजूद हैं, तब अमुक समयमें अमुक ही कार्य उत्पन्न हो यह व्यवस्था नहीं बन सकती। कारणके एक होनेपर परस्परविरोधी अनेक कार्योंकी युगपत् उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। अतः सांख्यके यह कहनेका कोई विशेष अर्थ नहीं रहता कि 'कारणमें कार्य शक्तिरूपसे है, व्यक्तिरूपसे नहीं', क्योंकि शक्तिरूपसे तो सब सब जगह मौजूद है। 'प्रधान' चूँकि व्यापक और निरंश है, अतः उससे एक साथ विभिन्न देशोंमें परस्पर विरोधी अनेक कार्योंका आविर्भाव होना प्रतीतिविरुद्ध है। सीधा प्रश्न तो यह है कि जब सर्वशक्तिमान् 'प्रधान' नामका कारण सर्वत्र मौजूद है, तो मिट्टीके पिण्डसे घटकी तरह कपड़ा और पुस्तक क्यों नहीं उत्पन्न होते ?

जैनदर्शनका उत्तर तो स्पष्ट है कि मिट्टीके परमाणुओंमें यद्यपि पुस्तक और पटरूपसे परिणमन करनेकी मूल द्रव्ययोग्यता है, किन्तु मिट्टीकी पिण्डरूप पर्यायमें साक्षात् कपड़ा और पुस्तक बनानेकी तत्पर्याययोग्यता नहीं है, इसलिए मिट्टीका पिण्ड पुस्तक या कपड़ा नहीं बन पाता। फिर कारण द्रव्य भी एक नहीं, अनेक हैं; अतः सामग्रीके अनुसार परस्पर विरुद्ध अनेक कार्योंका युगपत् उत्पाद बन जाता है। महत्ता तत्पर्याययोग्यता की है। जिस क्षणमें कारणद्रव्योंमें जितनी तत्पर्याययोग्यताएँ होंगी उनमेंसे किसी एकका विकास प्राप्त कारणसामग्रीके अनुसार हो जाता है। पुरुषका प्रयत्न उसे इष्ट आकार और प्रकारमें परिणत करानेके लिए विशेष साधक होता है। उपादानव्यवस्था इसी तत्पर्याययोग्यताके आधारपर होती है, मात्र द्रव्ययोग्यताके आधारसे नहीं; क्योंकि द्रव्ययोग्यता तो गेहूँ और कोदों दोनों बीजोंके परमाणुओंमें सभी अंकुरोंको पैदा करनेकी समानरूपसे है परन्तु तत्पर्याययोग्यता कोदोंके बीजमें कोदोंके अंकुरको ही उत्पन्न करने की है। तथा गेहूँके बीजमें गेहूँके अंकुरको ही उत्पन्न करने की है। इसीलिए भिन्न-भिन्न कार्योंकी उत्पत्तिके लिए भिन्न-भिन्न उपादानोंका ग्रहण होता है।

## धर्मकीर्तिके आक्षेपका समाधान

अतः बौद्धका[1] यह दूषण कि "दहीको खाओ, यह कहनेपर व्यक्ति ऊँटको क्यों नहीं खाने दौड़ता ? जबकि दही और ऊँटके पुद्गलोंमें पुद्गलद्रव्यरूपसे कोई भेद नहीं है।" उचित मालूम नहीं होता; क्योंकि जगत्का व्यवहारमात्र द्रव्य-योग्यतासे नहीं चलता, किन्तु तत्पर्याययोग्यतासे चलता है। ऊँटके शरीरके पुद्गल और

---

१. सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥"
—प्रमाणवा० ३।१८१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दहीके पुद्गल, द्रव्यरूपसे समान होनेपर भी 'एक' नहीं हैं और चूँकि वे स्थूल पर्यायरूपसे भी अपना परस्पर भेद रखते हैं तथा उनकी तत्पर्याययोग्यताएँ भी जुदी-जुदी हैं, अतः दही ही खाया जाता है, ऊँटका शरीर नहीं। सांख्यके मतसे यह समाधान नहीं हो सकता; क्योंकि जब एक ही प्रधान दही और ऊँट दोनों रूपसे विकसित हुआ है, तब उनमें भेदका नियामक क्या है ? एक तत्त्वमें एक ही समय विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारके परिणमन नहीं हो सकते। इसी तरह यदि घट अवयवी और उसके उत्पादक मिट्टीके परमाणु परस्पर सर्वथा विभिन्न हैं; तो क्या नियामक है जो घड़ा वहीं उत्पन्न हो अन्यत्र नहीं ? प्रतिनियत कार्य-कारण की व्यवस्थाके लिए कारणमें योग्यता या शक्तिरूपसे कार्यका सद्भाव मानना आवश्यक है। यानी कारणमें कार्योत्पादानकी योग्यता या शक्ति रहनी ही चाहिए। योग्यता, शक्ति और सामर्थ्य आदि एकजातीय मूल-द्रव्योंमें समान होनेपर भी विभिन्न अवस्थाओंमें उनकी सीमा नियत हो जाती है और इसी नियतताके कारण जगत्में अनेक प्रकारके कार्यकारणभाव बनते हैं। यह तो हुई अनेक पुद्गलद्रव्योंके संयुक्त स्कन्ध की बात।

एक द्रव्यकी अपनी क्रमिक अवस्थाओंमें अमुक उत्तर पर्यायका उत्पन्न होना केवल द्रव्ययोग्यतापर ही निर्भर नहीं करता, किन्तु कारणभूत पर्यायकी तत्पर्याय-योग्यतापर भी। प्रत्येक द्रव्यके प्रतिसमय स्वभावतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूपसे परिणामी होनेके कारण सारी व्यवस्थाएँ सदसत्कार्यवादके आधारसे जम जाती हैं। विवक्षित कार्य अपने कारणमें कार्याकारसे असत् होकर भी योग्यता या शक्तिके रूपमें सत् है। यदि कारण-द्रव्यमें वह शक्ति न होती तो उससे वह कार्य उत्पन्न हो नहीं हो सकता था। एक अविच्छिन्न प्रवाहमें चलने-वाली धाराबद्ध पर्यायोंका परस्पर ऐसा कोई विशिष्ट सम्बन्ध तो होना ही चाहिए, जिसके कारण अपनी पूर्व पर्याय ही अपनी उत्तर पर्यायमें उपादान कारण हो सके, दूसरेकी उत्तर पर्यायमें नहीं। यह अनुभवसिद्ध व्यवस्था न तो सांख्यके सत्कार्यवादमें सम्भव है, और न बौद्ध तथा नैयायिक आदिके असत्कार्यवादमें ही। सांख्यके पक्षमें कारणके एक होनेसे इतनी अभिन्नता है कि कार्यभेदको सिद्ध करना असम्भव है, और बौद्धोंके यहाँ इतनी भिन्नता है कि अमुक क्षणके साथ अमुक क्षणका उपादान-उपादेयभाव बनना कठिन है।

इसी तरह नैयायिकोंके अवयवी द्रव्यका अमुक अवयवोंके ही साथ समवायसम्बन्ध सिद्ध करना इसलिए कठिन है कि उनमें परस्पर अत्यन्त भेद माना गया है।

इस तरह जैनदर्शनमें ये जीवादि छह द्रव्य प्रमाणके प्रमेय माने गये हैं। ये सामान्य-विशेषात्मक और गुणपर्यायात्मक हैं। गुण और पर्याय द्रव्यसे कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध रखनेके कारण सत् तो हैं, पर वे द्रव्य की तरह मौलिक नहीं हैं, किन्तु द्रव्यांश हैं। ये ही अनेकान्तात्मक पदार्थ प्रमेय हैं और इन्हींके एक-एक धर्मों-में नयोंकी प्रवृत्ति होती है। जैनदर्शनकी दृष्टिमें द्रव्य ही एकमात्र मौलिक पदार्थ है, शेष गुण, कर्म, सामान्य, समवाय आदि उसी द्रव्यकी पर्यायें हैं, स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# नय-विचार

## नयका लक्षण

अधिगमके उपायोंमें प्रमाणके साथ नयका भी निर्देश किया गया है। प्रमाण वस्तुके पूर्णरूपको ग्रहण करता है और नय प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके एक अंशको जानता है। ज्ञाताका वह अभिप्रायविशेष नय[1] है जो प्रमाणके द्वारा जानी गयी वस्तुके एकदेशको स्पर्श करता है। वस्तु अनन्तधर्मवाली है। प्रमाणज्ञान उसे समग्रभावसे ग्रहण करता है, उसमें अंशविभाजन करनेकी ओर उसका लक्ष्य नहीं होता। जैसे 'यह घड़ा है' इस ज्ञानमें प्रमाण घड़ेको अखंड भावसे उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनन्त गुणधर्मोंका विभाग न करके पूर्णरूपमें जानता है, जब कि कोई भी नय उसका विभाजन करके 'रूपवान् घटः', 'रसवान् घटः' आदि रूपमें उसे अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार जानता है। एक बात ध्यानमें रखने की है कि प्रमाण और नय ज्ञानकी ही वृत्तियाँ हैं, दोनों ज्ञानात्मक पर्यायें हैं। जब ज्ञाताकी सकलके ग्रहणकी दृष्टि होती है तब उसका ज्ञान प्रमाण होता है और जब उसी प्रमाणसे गृहीत वस्तुको खंडशः ग्रहण करनेका अभिप्राय होता है तब वह अंशग्राही अभिप्राय नय कहलाता है। प्रमाणज्ञान नयकी उत्पत्तिके लिये भूमि तैयार करता है।

यद्यपि छद्मस्थोंके सभी ज्ञान वस्तुके पूर्णरूपको नहीं जान पाते, फिर भी जितनेको वह जानते हैं उनमें भी उनकी यदि समग्रके ग्रहणकी दृष्टि है तो वे सकलग्राही ज्ञान प्रमाण हैं और अंशग्राही विकल्पज्ञान नय। 'रूपवान् घटः' यह ज्ञान भी यदि रूपमुखेन समस्त घटका ज्ञान अखंडभावसे करता है तो प्रमाणकी ही सीमामें पहुँचता है और घटके रूप, रस आदिका विभाजन कर यदि घड़ेके रूपको मुख्यतया जानता है तो वह नय कहलाता है। प्रमाणके जाननेका क्रम एकदेशके द्वारा भी समग्रकी तरफ ही है, जब कि नय समग्र-वस्तुको विभाजित कर उसके अंशविशेषकी ओर ही झुकता है। प्रमाण चक्षुके द्वारा रूपको देखकर भी उस द्वारसे पूरे घड़ेको आत्मसात् करता है और नय उस घड़ेका विश्लेषणकर उसके रूप आदि अंशोंके जाननेकी ओर प्रवृत्त होता है? इसीलिये प्रमाणको सकलादेशी और नयको विकलादेशी कहा है। प्रमाणके द्वारा जानी गई वस्तुको शब्दकी तरंगोंसे अभिव्यक्त करनेके लिये जो ज्ञानकी रुझान होती है वह नय है।

## नय प्रमाणका एकदेश है

'नय प्रमाण है या अप्रमाण?' इस प्रश्नका समाधान 'हाँ' और 'नहीं' में नहीं किया जा सकता है? जैसे कि घड़ेमें भरे हुए समुद्रके जलको न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र ही[2]। नय प्रमाणसे उत्पन्न होता है, अतः प्रमाणात्मक होकर भी अंशग्राही होनेके कारण पूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता, और अप्रमाण तो वह हो ही नहीं सकता। अतः जैसे घड़ेका जल समुद्रैकदेश है असमुद्र नहीं, उसी तरह नय भी प्रमाणैकदेश है, अप्रमाण नहीं। नयके द्वारा ग्रहण की जानेवाली वस्तु भी न तो पूर्ण वस्तु कही जा सकती है और न अवस्तु; किन्तु वह 'वस्त्वेकदेश' ही हो सकती है। तात्पर्य यह कि प्रमाणसागरका वह अंश नय है जिसे

---

१. 'नयो ज्ञातुरभिप्रायः।'—लघी० श्लो० ५५।
'ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयाः।'—सिद्धिवि०, टी०, पृ० ५१७।

२. 'नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते॥'—त० श्लो० १।६। नयविवरण श्लो० ६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञाताने अपने अभिप्रायके पात्रमें भर लिया है। उसका उत्पत्तिस्थान समुद्र ही है पर उसमें वह विशालता और समग्रता नहीं है जिससे उसमें सब समा सकें। छोटे-बड़े पात्र अपनी मर्यादाके अनुसार ही तो जल ग्रहण करते हैं। प्रमाणकी रंगशालामें नय अनेक रूपों और वेशोंमें अपना नाटक रचता है।

## सुनय, दुर्नय

यद्यपि अनेकान्तात्मक वस्तुके एक-एक अन्त अर्थात् धर्मोंको विषय करनेवाले अभिप्रायविशेष प्रमाणकी ही सन्तान हैं, पर इनमें यदि सुमेल, परस्पर प्रीति और अपेक्षा है तो ही वे सुनय हैं, अन्यथा दुर्नय। सुनय अनेकान्तात्मक वस्तुके अमुक अंशको मुख्यभावसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंका निराकरण नहीं करता; उनकी ओर तटस्थभाव रखता है। जैसे बापकी जायदादमें सभी सन्तानोंका समान हक होता है और सपूत वही कहा जाता है जो अपने अन्य भाइयोंके हकको ईमानदारीसे स्वीकार करता है, उनके हड़पनेकी चेष्टा कभी भी नहीं करता, किन्तु सद्भाव ही उत्पन्न करता है, उसी तरह अनन्तधर्मा वस्तुमें सभी नयोंका समान अधिकार है और सुनय वही कहा जायगा जो अपने अंशको मुख्य रूपसे ग्रहण करके भी अन्यके अंशोंको गौण तो करे पर उनका निराकरण न करे, उनकी अपेक्षा करे अर्थात् उनके अस्तित्वको स्वीकार करे। जो दूसरेका निराकरण करता है और अपना ही अधिकार जमाता है वह कलहकारी कपूतकी तरह दुर्नय कहलाता है।

प्रमाणमें पूर्ण वस्तु समाती है। नय एक अंशको मुख्य रूपसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंकी गौण करता है, पर उनकी अपेक्षा रखता है, तिरस्कार तो कभी भी नहीं करता। किन्तु दुर्नय अन्यनिरपेक्ष होकर अन्यका निराकरण करता है। प्रमाण[1] 'तत् और अतत्' सभीको जानता है, नयमें 'अतत्' या 'तत्' गौण रहता है और केवल 'तत्' या 'अतत्' की प्रतिपत्ति होती है, पर दुर्नय अन्यका निराकरण करता है। [2]प्रमाण 'सत्' को ग्रहण करता है, और नय 'स्यात् सत्' इस तरह सापेक्ष रूपसे जानता है जब कि दुर्नय 'सदेव' ऐसा अवधारणकर अन्यका तिरस्कार करता है। निष्कर्ष यह कि सापेक्षता ही नयका[3] प्राण है।

आचार्य सिद्धसेनने अपने सन्मतिसूत्र ( १।२१-२५ ) में कहा है कि—

"तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा॥"

—सन्मति० १।२२

वे सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं जो अपने ही पक्षका आग्रह करते हैं—परका निषेध करते हैं, किन्तु जब वे ही परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं तब सम्यक्त्वके सद्भाववाले होते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं। जैसे अनेक प्रकारके गुणवाली वैडूर्य आदि मणियाँ महामूल्यवाली होकर भी यदि एक सूत्रमें पिरोई हुई न हों, परस्पर घटक न हों, तो 'रत्नावली' संज्ञा नहीं पा सकतीं, उसी तरह अपने नियत वादोंका आग्रह रखनेवाले परस्पर-निरपेक्ष नय सम्यक्त्वपनेको नहीं पा सकते, भले ही वे अपने-अपने पक्षके लिये कितने ही महत्त्वके क्यों न हों। जिस प्रकार वे ही मणियाँ एक सूतमें पिरोई जाकर 'रत्नावली या रत्नाहार'

---

१. 'धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनय-दुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च। प्रमाणात्तदतत्स्वभाव-प्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च।'—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०।

२. 'सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।'—अन्ययोगव्य० श्लो० २८।

३. 'निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।'—आप्तमी० श्लो० १०८।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन जाती हैं उसी तरह सभी नय परस्परसापेक्ष होकर सम्यक्पनेको प्राप्त हो जाते हैं, वे सुनय बन जाते हैं। अन्तमें वे कहते हैं—

"जे वयणिज्जवियप्पा संजुज्जंतेसु होंति एएसु।
सा ससमयपण्णवणा तित्थयरासायणा अण्णा॥" —सन्मति० १।५३

जो वचनविकल्परूपी नय परस्पर सम्बद्ध होकर स्वविषयका प्रतिपादन करते हैं, वह उनकी स्वसमय-प्रज्ञापना है तथा अन्य—निरपेक्षवृत्ति तीर्थङ्करकी आसादना है।

आचार्य कुन्दकुन्द इसी तत्त्वको बड़ी मार्मिक रीतिसे समझाते हैं—

"दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किञ्चिवि णयपक्खपरिहीणो॥"

—समयसार गाथा १४३

स्वसमयी व्यक्ति दोनों नयोंके वक्तव्यको जानता तो है, पर किसी एक नयका तिरस्कार करके दूसरे नयके पक्षको ग्रहण नहीं करता। वह एक नयको द्वितीयसापेक्षरूपसे ही ग्रहण करता है।

वस्तु जब अनन्तधर्मात्मक है तब स्वभावतः एक-एक धर्मको ग्रहण करनेवाले अभिप्राय भी अनन्त ही होंगे; भले ही उनके वाचक पृथक्-पृथक् शब्द न मिलें, पर जितने शब्द हैं उनके वाच्य धर्मोंको जाननेवाले उतने अभिप्राय तो अवश्य ही होते हैं। यानी अभिप्रायोंकी संख्याकी अपेक्षा हम नयोंकी सीमा न बाँध सकें, पर यह तो सुनिश्चितरूपसे कह ही सकते हैं कि जितने शब्द हैं उतने तो नय अवश्य हो सकते हैं; क्योंकि कोई भी वचनमार्ग अभिप्रायके बिना हो ही नहीं सकता। ऐसे अनेक अभिप्राय तो संभव हैं जिनके वाचक शब्द न मिलें, पर ऐसा एक भी सार्थक शब्द नहीं हो सकता, जो बिना अभिप्रायके प्रयुक्त होता हो। अतः सामान्यतया जितने शब्द हैं उतने[1] नय हैं।

यह विधान यह मानकर किया जाता है कि प्रत्येक शब्द वस्तुके किसी-न-किसी धर्मका वाचक होता है। इसीलिए तत्त्वार्थभाष्य (१।३४) में 'ये नय क्या एक वस्तुके विषयमें परस्पर विरोधी तन्त्रोंके मतवाद हैं या जैनाचार्योंके ही परस्पर मतभेद हैं?' इस प्रश्नका समाधान करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'न तो ये तन्त्रान्तरीय मतवाद हैं और न आचार्योंके ही पारस्परिक मतभेद हैं?' किन्तु ज्ञेय अर्थको जाननेवाले नाना अध्यवसाय हैं।' एक ही वस्तुको अपेक्षाभेदसे या अनेक दृष्टिकोणोंसे ग्रहण करनेवाले विकल्प हैं। वे हवाई कल्पनाएँ नहीं हैं। और न शेखचिल्लीके विचार ही हैं, किन्तु अर्थको नाना प्रकारसे जाननेवाले अभिप्राय-विशेष हैं।

ये निर्विषय न होकर ज्ञान, शब्द या अर्थ किसी-न-किसीको विषय अवश्य करते हैं। इसका विवेक करना ज्ञाताका कार्य है। जैसे एक ही लोक सत्की अपेक्षा एक है, जीव और अजीवके भेदसे दो, ऊर्ध्व, मध्य और अधः के भेदसे तीन, चार प्रकारके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप होनेसे चार; पाँच अस्तिकायों-की अपेक्षा पाँच और छह द्रव्योंकी अपेक्षा छह प्रकारका कहा जा सकता है। ये अपेक्षाभेदसे होनेवाले विकल्प हैं, मात्र मतभेद या विवाद नहीं हैं। उसी तरह नयवाद भी अपेक्षाभेदसे होनेवाले वस्तुके विभिन्न अध्यवसाय हैं।

---

१ "जावइया वयणपहा तावइया होंति णयवाया।" —सन्मति० ३।४७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## दो नय–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक

इस तरह सामान्यतया अभिप्रायोंकी अनन्तता होनेपर भी उन्हें दो विभागोंमें बाँटा जा सकता है—एक अभेदको ग्रहण करनेवाले और दूसरे भेदको ग्रहण करनेवाले। वस्तुमें स्वरूपतः अभेद है, वह अखंड है और अपनेमें एक मौलिक है। उसे अनेक गुण, पर्याय और धर्मोंके द्वारा अनेकरूपमें ग्रहण किया जाता है। अभेदग्राहिणी दृष्टि द्रव्यदृष्टि कही जाती है और भेदग्राहिणी दृष्टि पर्यायदृष्टि। द्रव्यको मुख्यरूपसे ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यास्तिक या अव्युच्छित्ति नय कहलाता है और पर्यायको ग्रहण करनेवाला नय पर्यायास्तिक या व्युच्छित्ति नय। अभेद अर्थात् सामान्य और भेद यानी विशेष। वस्तुओंमें अभेद और भेदकी कल्पनाके दो-दो प्रकार हैं। अभेदकी एक कल्पना तो एक अखण्ड मौलिक द्रव्यमें अपनी द्रव्यशक्तिके कारण विवक्षित अभेद है, जो द्रव्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहा जाता है। यह अपनी कालक्रमसे होनेवाली क्रमिक पर्यायोंमें ऊपरसे नीचे तक व्याप्त रहनेके कारण ऊर्ध्वतासामान्य कहलाता है। यह जिस प्रकार अपनी क्रमिक पर्यायोंको व्याप्त करता है उसी तरह अपने सहभावी गुण और धर्मोंको भी व्याप्त करता है। दूसरी अभेद-कल्पना विभिन्नसत्ताक अनेक द्रव्योंमें संग्रहकी दृष्टिसे की जाती है। यह कल्पना शब्दव्यवहारके निर्वाहके लिए सादृश्यकी अपेक्षासे की जाती है। अनेक स्वतन्त्रसत्ताक मनुष्योंमें सादृश्यमूलक मनुष्यत्व जातिकी अपेक्षा मनुष्यत्व सामान्यकी कल्पना तिर्यक्सामान्य कहलाती है। यह अनेक द्रव्योंमें तिरछी चलती है। एक द्रव्यकी पर्यायोंमें होनेवाली एक भेदकल्पना पर्यायविशेष कहलाती है तथा विभिन्न द्रव्योंमें प्रतीत होनेवाली दूसरी भेद कल्पना व्यतिरेकविशेष कही जाती है। इस प्रकार दोनों प्रकारके अभेदोंको विषय करनेवाली दृष्टि द्रव्यदृष्टि है और दोनों भेदोंको विषय करनेवाली दृष्टि पर्यायदृष्टि है।

## परमार्थ और व्यवहार

परमार्थतः प्रत्येक द्रव्यगत अभेदको ग्रहण करनेवाली दृष्टि ही द्रव्यार्थिक और प्रत्येक द्रव्यगत पर्याय-भेदको जाननेवाली दृष्टि ही पर्यायार्थिक होती है। अनेक द्रव्यगत अभेद औपचारिक और व्यावहारिक है, अतः उनमें सादृश्यमूलक अभेद भी व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं। अनेक द्रव्योंका भेद पारमार्थिक ही है। 'मनुष्यत्व' मात्र सादृश्यमूलक कल्पना है। कोई एक ऐसा मनुष्यत्व नामका पदार्थ नहीं है, जो अनेक मनुष्यद्रव्योंमें मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया गया हो। सादृश्य भी अनेकनिष्ठ धर्म नहीं हैं, किन्तु प्रत्येक व्यक्तिमें रहता है। उसका व्यवहार अवश्य परसापेक्ष है, पर स्वरूप तो प्रत्येकनिष्ठ ही है। अतः किन्हीं भी सजातीय या विजातीय अनेक द्रव्योंका सादृश्यमूलक अभेदसे संग्रह केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। अनन्त पुद्गलपरमाणुद्रव्योंको पुद्गलत्वेन एक कहना व्यवहारके लिए है। दो पृथक् परमाणुओंकी सत्ता कभी भी एक नहीं हो सकती। एक द्रव्यगत ऊर्ध्वतासामान्यको छोड़कर जितनी भी अभेद-कल्पनाएँ अवान्तरसामान्य या महासामान्यके नामसे की जाती हैं, वे सब व्यावहारिक हैं। उनका वस्तुस्थितिसे इतना ही सम्बन्ध है कि वे शब्दोंके द्वारा उन पृथक् वस्तुओंका संग्रह कर रही हैं। जिस प्रकार अनेकद्रव्यगत अभेद व्यावहारिक है उसी तरह एक द्रव्यमें कालिक पर्यायभेद वास्तविक होकर भी उनमें गुणभेद और धर्मभेद उस अखंड अनिर्वचनीय वस्तुको समझने-समझाने और कहनेके लिए किया जाता है। जिस प्रकार पृथक् सिद्ध द्रव्योंको हम विश्लेषणकर अलग स्वतन्त्रभावसे गिना सकते हैं उस तरह किसी एक द्रव्यके गुण और धर्मोंको नहीं बता सकते। अतः परमार्थद्रव्यार्थिकनय एकद्रव्यगत अभेदको विषय करता है, और व्यवहार पर्यायार्थिक एकद्रव्यकी क्रमिक पर्यायोंके कल्पित भेदको। व्यवहारद्रव्यार्थिक अनेकद्रव्यगत कल्पित अभेदको जानता है और पर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्थ पर्यायार्थिक दो द्रव्योंके वास्तविक परस्पर भेदको जानता है। वस्तुतः व्यवहारपर्यायार्थिककी सीमा एक द्रव्यगत गुणभेद और धर्मभेद तक ही है।

## द्रव्यास्तिक और द्रव्यार्थिक

तत्त्वार्थवार्तिक ( १।३३ ) में द्रव्यार्थिकके स्थानमें आनेवाला द्रव्यास्तिक और पर्यायार्थिकके स्थानमें आनेवाला पर्यायास्तिक शब्द इसी सूक्ष्मभेदको सूचित करता है। द्रव्यास्तिकका तात्पर्य है कि जो एकद्रव्यके परमार्थ अस्तित्वको विषय करे और तन्मूलक ही अभेदका प्रख्यापन करे। पर्यायास्तिक एकद्रव्यकी वास्तविक क्रमिक पर्यायोंके अस्तित्वको मानकर उन्हींके आधारसे भेदव्यवहार करता है। इस दृष्टिसे अनेकद्रव्यगत परमार्थ भेदको पर्यायार्थिक विषय करके भी उनके भेदको किसी द्रव्यको पर्याय नहीं मानता। यहाँ पर्यायशब्दका प्रयोग व्यवहारार्थ है। तात्पर्य यह है कि एकद्रव्यगत अभेदको द्रव्यास्तिक और परमार्थ द्रव्यार्थिक, एकद्रव्यगत पर्यायभेदको पर्यायास्तिक और व्यवहार पर्यायार्थिक, अनेक-द्रव्योंके सादृश्यमूलक अभेदको व्यवहार द्रव्यार्थिक तथा अनेकद्रव्यगत भेदको परमार्थ पर्यायार्थिक जानता है। अनेकद्रव्यगत भेदको हम 'पर्याय' शब्दसे व्यवहारके लिए ही कहते हैं। इस तरह भेदाभेदात्मक या अनन्तधर्मात्मक ज्ञेयमें ज्ञाताके अभिप्रायानुसार भेद या अभेदको मुख्य और इतरको गौण करके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंकी प्रवृत्ति होती है। कहाँ, कौन-सा भेद या अभेद विवक्षित है, यह समझना वक्ता और श्रोताकी कुशलतापर निर्भर करता है।

यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि परमार्थ अभेद एकद्रव्यमें ही होता है और परमार्थ भेद दो स्वतंत्र द्रव्योंमें। इसी तरह व्यावहारिक अभेद दो पृथक् द्रव्योंमें सादृश्यमूलक होता है और व्यावहारिक भेद एकद्रव्यके दो गुणों, धर्मों या पर्यायोंमें परस्पर होता है। द्रव्यका अपने गुण, धर्म और पर्यायोंसे व्यावहारिक भेद ही होता है, परमार्थतः तो उनकी सत्ता अभिन्न ही है।

## तीन प्रकारके पदार्थ और निक्षेप

तीर्थंकरोंके द्वारा उपदिष्ट समस्त अर्थका संग्रह इन्हीं दो नयोंमें हो जाता है। उनका कथन या तो अभेदप्रधान होता है या भेदप्रधान। जगत्में ठोस और मौलिक अस्तित्व यद्यपि द्रव्यका है और परमार्थ अर्थसंज्ञा भी इसी गुण-पर्यायवाले द्रव्यको दी जाती है। परन्तु व्यवहार केवल परमार्थ अर्थसे ही नहीं चलता। अतः व्यवहारके लिए पदार्थोंका निक्षेप शब्द, ज्ञान और अर्थ तीन प्रकारसे किया जाता है। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षा किये बिना ही इच्छानुसार संज्ञा रखना 'नाम' कहलाता है। जैसे—किसी लड़केका 'गजराज' यह नाम शब्दात्मक अर्थका आधार होता है। जिसका नामकरण हो चुका है उस पदार्थका उसीके आकारवाली वस्तुमें या अतदाकार वस्तुमें स्थापना करना 'स्थापना' निक्षेप है। जैसे—हाथीकी मूर्तिमें हाथीकी स्थापना या शतरंजके मुहरेको हाथी कहना। यह ज्ञानात्मक अर्थका आश्रय होता है। अतीत और अनागत पर्यायकी योग्यताकी दृष्टिसे पदार्थमें वह व्यवहार करना 'द्रव्य' निक्षेप है। जैसे—युवराजको राजा कहना या जिसने राजपद छोड़ दिया है उसे भी वर्तमानमें राजा कहना। वर्तमान पर्यायकी दृष्टिसे होनेवाला व्यवहार 'भाव' निक्षेप है जैसे—राज्य करनेवालेको राजा कहना।

इसमें परमार्थ अर्थ—द्रव्य और भाव हैं। ज्ञानात्मक अर्थ स्थापना निक्षेप और शब्दात्मक अर्थ नामनिक्षेपमें गर्भित है। यदि बच्चा शेरके लिये रोता है तो उसे शेरका तदाकार खिलौना देकर ही व्यवहार निभाया जा सकता है। जगत्के समस्त शाब्दिक व्यवहार शब्दसे ही चल रहे हैं। द्रव्य और भाव पदार्थको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रैकालिक पर्यायोंमें होनेवाले व्यवहारके आधार बनते हैं। 'गजराजको बुला लाओ' यह कहनेपर इस नामक व्यक्ति ही बुलाया जाता है, न कि गजराज-हाथी। राज्याभिषेकके समय युवराज ही 'राजा साहिब' कहे जाते हैं और राज-सभामें वर्तमान राजा ही 'राजा' कहा जाता है। इत्यादि समस्त व्यवहार कहीं शब्द, कहीं अर्थ और कहीं स्थापना अर्थात् ज्ञानसे चलते हुए देखे जाते हैं।

अप्रस्तुतका निराकरण करके प्रस्तुतका बोध कराना, संशयको दूर करना और तत्त्वार्थका अवधारण करना निक्षेप-प्रक्रियाका प्रयोजन है[1]। प्राचीन शैलीमें प्रत्येक शब्दके प्रयोगके समय निक्षेप करके समझानेकी प्रक्रिया देखी जाती है। जैसे—'घड़ा लाओ' इस वाक्यमें समझायेंगे कि 'घड़ा' शब्दसे नामघट, स्थापनाघट और द्रव्यघट विवक्षित नहीं, किन्तु 'भावघट' विवक्षित है। शेरके लिये रोनेवाले बालकको चुप करनेके लिये नामशेर, द्रव्यशेर और भावशेर नहीं चाहिये; किन्तु स्थापनाशेर चाहिये। 'गजराजको बुलाओ' यहाँ स्थापनागजराज, द्रव्यगजराज या भावगजराज नहीं बुलाया जाता किन्तु 'नाम गजराज' ही बुलाया जाता है। अतः अप्रस्तुतका निराकरण करके प्रस्तुतका ज्ञान करना निक्षेपका मुख्य प्रयोजन है।

## तीन और सात नय

इस तरह जब हम प्रत्येक पदार्थको अर्थ, शब्द और ज्ञानके आकारोंमें बाँटते हैं तो इनके ग्राहक ज्ञान भी स्वभावतः तीन श्रेणियोंमें बँट जाते हैं—ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय। कुछ व्यवहार केवल ज्ञानाश्रयी होते हैं, उनमें अर्थके तथाभूत होनेकी चिन्ता नहीं होती, वे केवल संकल्पसे चलते हैं। जैसे—आज 'महावीर जयन्ती' है। अर्थके आधारसे चलनेवाले व्यवहारमें एक ओर नित्य, एक ओर व्यापी रूपमें चरम अभेदकी कल्पना की जा सकती है, जो दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेदकी कल्पना। तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियोंके मध्य की है। पहली कोटिमें सर्वथा अभेद—एकत्व स्वीकार करनेवाले औपनिषद अद्वैतवादी हैं तो दूसरी ओर वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं। तीसरी कोटिमें पदार्थको नानारूपसे व्यवहारमें लानेवाले नैयायिक, वैशेषिक आदि हैं। चौथे प्रकारके व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री। ये एक ही अर्थमें विभिन्न शब्दोंके प्रयोगको मानते हैं; परन्तु शब्दनय शब्दभेदसे अर्थभेदको अनिवार्य समझता है। इन सभी प्रकारके व्यवहारोंके समन्वयके लिये जैन परम्पराने 'नय-पद्धति' स्वीकार की है। नयका अर्थ है—अभिप्राय, दृष्टि, विवक्षा या अपेक्षा।

## ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय

इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहारका संकल्पमात्रग्राही नैगमनयमें समावेश होता है। अर्थाश्रित अभेद व्यवहारका, जो "आत्मैवेदं सर्वम्" "एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्" आदि उपनिषद्-वाक्योंसे प्रकट होता है, संग्रहनयमें अन्तर्भाव किया गया है। इससे नीचे तथा एक परमाणुकी वर्तमानकालीन एक अर्थपर्यायसे पहले होनेवाले यावत् मध्यवर्ती भेदोंको, जिनमें नैयायिक, वैशेषिकादि दर्शन हैं, व्यवहारनयमें शामिल किया गया है। अर्थकी आखिरी देश-कोटि परमाणुरूपता तथा अन्तिम काल-कोटिमें क्षणिकताको ग्रहण करनेवाली बौद्ध-दृष्टि ऋजुसूत्रनयमें स्थान पाती है। यहाँ तक अर्थको सामने रखकर भेद और अभेद कल्पित हुए हैं। अब शब्दशास्त्रियोंका नम्बर आता है। काल, कारक, संख्या तथा धातुके साथ लगनेवाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदिसे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। इस काल-कारकादिवाचक शब्दभेदसे अर्थभेद

---

१. "उक्तं हि—अवगयणिवारणट्टं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्टं च॥" —धवला टी० सत्प्र०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहण करनेवाली दृष्टिका शब्दनयमें समावेश होता है। एक ही साधनसे निष्पन्न तथा एककालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। अतः इन पर्यायवाची शब्दोंसे भी अर्थभेद माननेवाली दृष्टि समभिरूढमें स्थान पाती है। एवम्भूत नय कहता है कि जिस समय, जो अर्थ, जिस क्रियामें परिणत हो, उसी समय, उसमें तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिये। इसकी दृष्टिसे सभी शब्द क्रियासे निष्पन्न हैं। गुणवाचक 'शुक्ल' शब्द शुचिभवनरूप क्रियासे, जातिवाचक 'अश्व' शब्द आशुगमनरूप क्रियासे, क्रियावाचक 'चलति' शब्द चलनेरूप क्रियासे और नामवाचक यदृच्छाशब्द 'देवदत्त' आदि भी 'देवने इसको दिया' आदि क्रियाओंसे निष्पन्न होते हैं। इस तरह ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी समस्त व्यवहारोंका समन्वय इन नयोंमें किया गया है।

मूल नय सात

नयोंके मूल भेद सात हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। आचार्य सिद्धसेन ( सन्मति० १।४–५ ) अभेदग्राही नैगमका संग्रहमें तथा भेदग्राही नैगमका व्यवहारनयमें अन्तर्भाव करके नयोंके छह भेद ही मानते हैं। तत्त्वार्थभाष्यमें नयोंके मूल भेद पाँच मानकर फिर शब्दनयके तीन भेद करके नयोंके सात भेद गिनाये हैं। नैगमनयके देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी भेद भी तत्त्वार्थभाष्य (१।३४-३५ ) में पाये जाते हैं। षट्खंडागममें नयोंके नैगमादि शब्दान्त पाँच भेद गिनाये हैं, पर कसायपाहुडमें मूल पाँच भेद गिनाकर शब्दनयके तीन भेद कर दिये हैं और नैगमनयके संग्रहिक और असंग्रहिक दो भेद भी किये हैं। इस तरह सात नय मानना प्रायः सर्वसम्मत है।

नैगमनय[1]

संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नैगमनय होता है। जैसे कोई पुरुष दरवाजा बनानेके लिये लकड़ी काटने जंगल जा रहा है। पूछनेपर वह कहता है कि 'दरवाजा लेने जा रहा हूँ।' यहाँ दरवाजा बनानेके संकल्पमें ही 'दरवाजा' व्यवहार किया गया है। संकल्प सत्में भी होता है और असत्में भी। इसी नैगमनयकी मर्यादामें अनेकों औपचारिक व्यवहार भी आते हैं। 'आज महावीर जयन्ती है' इत्यादि व्यवहार इसी नयकी दृष्टिसे किये जाते हैं। निगम गाँवोंको कहते हैं, अतः गाँवमें जिस प्रकारके ग्रामीण व्यवहार चलते हैं वे सब इसी नयकी दृष्टिसे होते हैं।

[2]अकलंकदेवने धर्म और धर्मी दोनोंको गौण-मुख्यभावसे ग्रहण करना नैगमनयका कार्य बताया है। जैसे—'जीवः' कहनेसे ज्ञानादि गुण गौण होकर 'जीव द्रव्य' ही मुख्यरूपसे विवक्षित होता है और 'ज्ञानवान् जीवः' कहनेमें ज्ञान-गुण मुख्य हो जाता है और जीव-द्रव्य गौण। यह न केवल धर्मको ही ग्रहण करता है और न केवल धर्मीको ही। विवक्षानुसार दोनों ही इसके विषय होते हैं। भेद और अभेद दोनों ही इसके कार्यक्षेत्रमें आते हैं। दो [3]धर्मोंमें, दो धर्मियोंमें तथा धर्म और धर्मीमें एकको प्रधान तथा अन्यको गौण करके ग्रहण करना नैगमनयका ही कार्य है, जबकि संग्रहनय केवल अभेदको ही विषय करता है और व्यवहारनय मात्र भेदको ही। यह किसी एकपर नियत नहीं रहता। अतः इसे ( [4]नैकं गमः ) नैगम कहते हैं। कार्यकारण और आधार-आधेय आदिकी दृष्टिसे होनेवाले सभी प्रकारके उपचारोंको भी यही विषय करता है।

१. "अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः।" —सर्वार्थसि० १।३३।

२. लघी० स्ववृ० श्लोक ३९।

३. त० श्लोकवा० श्लो० २६९।

४. धवलाटी० सत्प्ररू०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## नैगमाभास

अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, सामान्य और सामान्यवान् आदिमें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि गुण गुणीसे पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखता और न गुणोंकी उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इनमें कथंचित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही उचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा सामान्य-विशेषमें भी कथंचित्तादात्म्य सम्बन्धको छोड़कर दूसरा सम्बन्ध नहीं है। यदि गुण आदि गुणी आदिसे सर्वथा भिन्न, स्वतन्त्र पदार्थ हों; तो उनमें नियत सम्बन्ध न होनेके कारण गुण-गुणीभाव आदि नहीं बन सकेंगे। कथंचित्तादात्म्यका अर्थ है कि गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं—उनसे भिन्न नहीं हैं। जो स्वयं ज्ञानरूप नहीं है वह ज्ञानके समवायसे भी 'ज्ञ' कैसे बन सकता है? अतः वैशेषिकका गुण आदिका गुणी आदिसे सर्वथा निरपेक्ष भेद मानना नैगमाभास है।[1]

सांख्यका ज्ञान और सुख आदिको आत्मासे भिन्न मानना नैगमाभास है। सांख्यका कहना है कि त्रिगुणात्मक प्रकृतिके सुख-ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसीमें आविर्भूत और तिरोहित होते रहते हैं। इसी प्रकृतिके संसर्गसे पुरुषमें ज्ञानादिकी प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञानसुखादिरूप 'व्यक्तकार्यकी' दृष्टिसे दृश्य है तथा अपने कारणरूप 'अव्यक्त' स्वरूपसे अदृश्य है। चेतन पुरुष कूटस्थ—अपरिणामी नित्य है। चैतन्य बुद्धिसे भिन्न है। अतः चेतन पुरुषका धर्म बुद्धि नहीं है। इस तरह सांख्यका ज्ञान और आत्मामें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि चैतन्य और ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। बुद्धि उपलब्धि चैतन्य और ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची हैं। सुख और ज्ञानादिको सर्वथा अनित्य और पुरुषको सर्वथा नित्य मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि कूटस्थ नित्य पुरुषमें प्रकृतिके संसर्गसे भी बन्ध, मोक्ष और भोग आदि नहीं बन सकते। अतः पुरुषको परिणामी-नित्य ही मानना चाहिये, तभी उसमें बन्ध-मोक्षादि व्यवहार घट सकते हैं। तात्पर्य यह कि अभेद-निरपेक्ष सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

## संग्रह और संग्रहाभास

अनेक पर्यायोंको एकद्रव्यरूपसे या अनेक द्रव्योंको सादृश्य-मूलक एकत्वरूपसे अभेदग्राही संग्रह[2]नय होता है। इसकी दृष्टिमें विधि ही मुख्य हैं। द्रव्यको छोड़कर पर्यायें हैं ही नहीं। यह दो प्रकारका होता है—एक परसंग्रह और दूसरा अपरसंग्रह। परसंग्रहमें सत्‌रूपसे समस्त पदार्थोंका संग्रह किया जाता है तथा अपरसंग्रहमें एक द्रव्यरूपसे समस्त पर्यायोंका तथा द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्योंका, गुणरूपसे समस्त गुणोंका, गोत्वरूपसे समस्त गौओंका, मनुष्यत्वरूपसे समस्त मनुष्योंका इत्यादि संग्रह किया जाता है।

यह अपरसंग्रह तब तक चलता है जब तक भेदमूलक व्यवहार अपनी चरमकोटि तक नहीं पहुँच जाता। अर्थात् जब व्यवहारनय भेद करते-करते ऋजुसूत्रनयकी विषयभूत एक वर्तमानकालीन क्षणवर्ती अर्थपर्याय तक पहुँचता है यानी संग्रह करनेके लिये दो रह ही नहीं जाते, तब अपरसंग्रहकी मर्यादा समाप्त हो जाती है। परसंग्रहके बाद और ऋजुसूत्रनयसे पहले अपरसंग्रह और व्यवहारनयका समान क्षेत्र है, पर दृष्टिमें भेद है। जब अपरसंग्रहमें सादृश्यमूलक या द्रव्यमूलक अभेददृष्टि मुख्य है और इसीलिये वह एकत्व लाकर संग्रह करता है तब व्यवहारनयमें भेदकी ही प्रधानता है, वह पर्याय-पर्यायमें भी भेद डालता है। परसंग्रहनयकी दृष्टिमें सद्‌रूपसे सभी पदार्थ एक हैं, उनमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जीव, अजीव आदि सभी सद्‌रूपसे अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने अनेक नीलादि आकारोंमें व्याप्त है उसी तरह सन्मात्र

१. लघी० स्व० श्लो० ३९।

२. 'शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः।'—लघी० श्लो० ३२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्व सभी पदार्थोंमें व्याप्त है। जीव, अजीव आदि सभी उसीके भेद हैं। कोई भी ज्ञान सन्मात्रतत्त्वको जाने बिना भेदोंको नहीं जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्रसे बाहर अर्थात् असत् नहीं है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन सुखादिमें प्रवृत्ति करे, या बाह्य अचेतन नीलादि पदार्थोंको जाने, वह सद्रूपसे अभेदांशको विषय करता ही है। इतना ध्यान रखनेकी बात है कि एक-द्रव्यमूलक पर्यायोंके संग्रहके सिवाय अन्य सभी प्रकारके संग्रह सादृश्यमूलक एकत्वका आरोप करके ही होते हैं और वे केवल संक्षिप्त शब्दव्यवहारको सुविधाके लिये हैं। दो स्वतन्त्र द्रव्योंमें चाहे वे सजातीय हों या विजातीय, वास्तविक एकत्व आ ही नहीं सकता।

संग्रहनयकी इस अभेददृष्टिसे सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्धकी भेददृष्टि है, जिसमें अभेदको कल्पनात्मक कहकर उसका वस्तुमें कोई स्थान ही नहीं रहने दिया है। इस आत्यन्तिक भेदके कारण ही बौद्ध अवयवी, स्थूल, नित्य आदि अभेददृष्टिके विषयभूत पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं मानते। नित्यांश कालिक अभेदके आधारपर स्थिर है; क्योंकि जब वही एक द्रव्य त्रिकालानुयायी होता है तभी वह नित्य कहा जा सकता है। अवयवी और स्थूलता दैशिक अभेदके आधारसे माने जाते हैं। जब एक वस्तु अनेक अवयवोंमें कथंचित्तादात्म्यरूपसे व्याप्ति रखे, तभी वह अवयवीव्यपदेश पा सकती है। स्थूलतामें भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

इस नयकी दृष्टिसे कह सकते हैं विश्व सन्मात्ररूप[1] है, एक है, अद्वैत है; क्योंकि सद्रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है।

अद्वयब्रह्मवाद संग्रहाभास है, क्योंकि इसमें भेदका "नेह नानास्ति किञ्चन" (कठोप० ४।११) कहकर सर्वथा निराकरण कर दिया है। संग्रहनयमें अभेद मुख्य होनेपर भी भेदका निराकरण नहीं किया जाता, वह गौण अवश्य हो जाता है, पर उसके अस्तित्वसे इनकार नहीं किया जा सकता। अद्वयब्रह्मवादमें कारक और क्रियाओंके प्रत्यक्षसिद्ध भेदका निराकरण हो जाता है। कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत, विद्या-अविद्याद्वैत आदि सभीका लोप इस मतमें प्राप्त होता है। अतः सांग्रहिक व्यवहारके लिये भले ही परसंग्रहनय जगत्के समस्त पदार्थोंको 'सत्' कह ले, पर इससे प्रत्येक द्रव्यके मौलिक अस्तित्वका लोप नहीं हो सकता। विज्ञानकी प्रयोगशाला प्रत्येक अणुका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करती है। अतः संग्रहनयकी उपयोगिता अभेदव्यवहारके लिये ही है, वस्तुस्थितिका लोप करनेके लिये नहीं।

इसी तरह शब्दाद्वैत भी संग्रहाभास है। यह इसलिये कि इसमें भेदका और द्रव्योंके उस मौलिक अस्तित्वका निराकरण कर दिया जाता है, जो, प्रमाणसे प्रसिद्ध तो है ही, विज्ञानने भी जिसे प्रत्यक्ष कर दिखाया है।

## व्यवहार और अव्यवहाराभास

संग्रहनयके द्वारा संगृहीत अर्थमें विधिपूर्वक, अविसंवादी और वस्तुस्थितिमूलक भेद करनेवाला व्यवहारनय[2] है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहारका अविरोधी होता है। लोकव्यवहारविरुद्ध, विसंवादी और वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेवाली भेदकल्पना [3]व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द और ज्ञान

---

१. 'सर्वमेकं सदविशेषात्'—तत्त्वार्थभा० १।३५।

२. संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः।' —सर्वार्थसि० १।३३।

३. 'कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्।
प्रमाणबाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम्॥'—त० श्लो० पृ० २७१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीनोंसे चलता है। जीवव्यवहार जीव-अर्थ जीव-विषयक ज्ञान और जीव-शब्द तीनोंसे सधता है। 'वस्तु उत्पादव्यय-ध्रौव्यवाली है, द्रव्य गुण-पर्यायवाला है, जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि भेदक-वाक्य प्रमाणाविरोधी हैं तथा लोकव्यवहारमें अविसंवादी होनेसे प्रमाण हैं। ये वस्तुगत अभेदका निराकरण न करनेके कारण तथा पूर्वापराविरोधी होनेसे सत्व्यवहारके विषय हैं। सौत्रान्तिकका जड़ या चेतन सभी पदार्थोंको सर्वथा क्षणिक निरंश और परमाणुरूप मानना, योगाचारका क्षणिक अविभागी विज्ञानाद्वैत मानना, माध्यमिकका निरावलम्बन ज्ञान या सर्वशून्यता स्वीकार करना प्रमाणविरोधी और लोकव्यवहारमें विसंवादक होनेसे व्यवहाराभास हैं।

जो भेद वस्तुके अपने निजी मौलिक एकत्वकी अपेक्षा रखता है, वह व्यवहार है और अभेदका सर्वथा निराकरण करनेवाला व्यवहाराभास है। दो स्वतंत्र द्रव्योंमें वास्तविक भेद है, उनमें सादृश्यके कारण अभेद आरोपित होता है, जब कि एकद्रव्यके गुण और पर्यायोंमें वास्तविक अभेद है, उनमें भेद उस अखण्ड वस्तुका विश्लेषणकर समझनेके लिए कल्पित होता है। इस मूल वस्तुस्थितिको लाँघकर भेदकल्पना या अभेदकल्पना तदाभास होती है, पारमार्थिक नहीं। विश्वके अनन्त द्रव्योंका अपना व्यक्तित्व मौलिक भेदपर ही टिका हुआ है। एक द्रव्यके गुणादिका भेद वस्तुतः मिथ्या कहा जा सकता है और उसे अविद्याकल्पित कहकर प्रत्येक द्रव्यके अद्वैत तक पहुँच सकते हैं, पर अनन्त अद्वैतोंमें तो क्या, दो अद्वैतोंमें भी अभेदकी कल्पना उसी तरह औपचारिक है, जैसे सेना, वन, प्रान्त और देश आदि की कल्पना। वैशेषिककी प्रतीतिविरुद्ध द्रव्यादिभेदकल्पना भी व्यवहाराभासमें आती है।

## ऋजुसूत्र और तदाभास

व्यवहारनय तक भेद और अभेदकी कल्पना मुख्यतया अनेक द्रव्योंको सामने रखकर चलती है। 'एक द्रव्यमें भी कालक्रमसे पर्यायभेद होता है और वर्तमान क्षणका अतीत और अनागतसे कोई सम्बन्ध नहीं है' यह विचार ऋजुसूत्रनय प्रस्तुत करता है। यह नय[1] वर्तमानक्षणवर्ती शुद्ध अर्थपर्यायको ही विषय करता है। अतीत चूँकि विनष्ट है और अनागत अनुत्पन्न है, अतः उसमें पर्याय व्यवहार ही नहीं हो सकता। इसकी दृष्टिसे नित्य कोई वस्तु नहीं है और स्थूल भी कोई चीज नहीं है। सरल सूतकी तरह यह[2] केवल वर्तमान पर्यायको स्पर्श करता है।

यह नय पच्यमान वस्तुको भी अंशतः पक्व कहता है। क्रियमाणको भी अंशतः कृत, भुज्यमानको भी भुक्त और बद्ध्यमानको भी बद्ध कहना इसकी सूक्ष्मदृष्टिमें शामिल है।

इस नयकी दृष्टिसे 'कुम्भकार' व्यवहार नहीं हो सकता; क्योंकि जब तक कुम्हार शिविक, छत्रक आदि पर्यायोंको कर रहा है, तब तक तो कुम्भकार कहा नहीं जा सकता, और जब कुम्भ पर्यायका समय आता है, तब वह स्वयं अपने उपादानसे निष्पन्न हो जाती है। अब किसे करनेके कारण वह 'कुम्भकार' कहा जाय?

जिस समय जो आकरके बैठा है, वह यह नहीं कह सकता कि 'अभी ही आ रहा हूँ' इस नयकी दृष्टिमें 'ग्रामनिवास', 'गृहनिवास' आदि व्यवहार नहीं हो सकते, क्योंकि हर व्यक्ति स्वात्मस्थित होता है, वह न तो ग्राममें रहता है और न घरमें ही।

---

१. 'पंचुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो।'—अनुयोग० द्वा० ४।
अकलंकग्रन्थत्रय टि० पृ० १४६।

२. 'सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः।'—तत्त्वार्थवा० १।३३



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'कौआ काला है' यह नहीं हो सकता; क्योंकि कौआ कौआ है और काला काला। यदि काला कौआ हो; तो समस्त भौंरा आदि काले पदार्थ कौआ हो जाएँगे। यदि कौआ काला हो; तो सफेद कौआ नहीं हो सकेगा। फिर कौआके रक्त, मांस, पित्त, हड्डी, चमड़ी आदि मिलकर पंचरंगी वस्तु होते हैं, अतः उसे केवल काला ही कैसे कह सकते हैं ?

इस नयकी दृष्टिमें पलालका दाह नहीं हो सकता; क्योंकि आगीका सुलगाना, धौंकना और जलाना आदि असंख्य समयकी क्रियाएँ वर्तमान क्षणमें नहीं हो सकतीं। जिस समय दाह है उस समय पलाल नहीं और जिस समय पलाल है उस समय दाह नहीं, तब पलालदाह कैसा ? 'जो पलाल है वह जलता है' यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि बहुत-सा पलाल बिना जला हुआ पड़ा है।

इस नयकी सूक्ष्म विश्लेषक दृष्टिमें पान, भोजन आदि अनेक-समय-साध्य कोई भी क्रियाएँ नहीं बन सकतीं; क्योंकि एक क्षणमें तो क्रिया होती नहीं और वर्तमानका अतीत और अनागतसे कोई सम्बन्ध इसे स्वीकार नहीं है। जिस द्रव्यरूपी माध्यमसे पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें सम्बन्ध जुटता है उस माध्यमका अस्तित्व ही इसे स्वीकार्य नहीं है।

इस नयको लोकव्यवहारके विरोधकी कोई चिन्ता नहीं है।[1] लोक व्यवहार तो यथायोग्य व्यवहार, नैगम आदि अन्य नयोंसे चलेगा ही। इतना सब क्षणपर्यायकी दृष्टिसे विश्लेषण करनेपर भी यह नय द्रव्यका लोप नहीं करता। वह पर्यायकी मुख्यता भले ही कर ले, पर द्रव्यकी परमार्थसत्ता उसे क्षणकी तरह ही स्वीकृत है। उसकी दृष्टिमें द्रव्यका अस्तित्व गौणरूपमें विद्यमान रहता ही है।

बौद्धका सर्वथा क्षणिकवाद ऋजुसूत्रनयाभास है, क्योंकि उसमें द्रव्यका विलोप हो जाता है और जब निर्वाण अवस्थामें चित्तसन्तति दीपककी तरह बुझ जाती है, यानी अस्तित्वशून्य हो जाती है, तब उनके मतमें द्रव्यका सर्वथा लोप स्पष्ट हो जाता है।

क्षणिक पक्षका समन्वय ऋजुसूत्रनय तभी कर सकता है, जब उसमें द्रव्यका पारमार्थिक अस्तित्व विद्यमान रहे, भले ही वह गौण हो। परन्तु व्यवहार और स्वरूपभूत अर्थक्रियाके लिये उसकी नितान्त आवश्यकता है।

## शब्दनय और तदाभास

काल, कारक, लिंग तथा संख्याके भेदसे शब्दभेद होनेपर उनके भिन्न-भिन्न अर्थोंको ग्रहण करनेवाला शब्दनय[2] है। शब्दनयके अभिप्रायमें अतीत, अनागत और वर्तमानकालीन क्रियाओंके साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि भिन्न साधनोंके साथ प्रयुक्त देवदत्त भी भिन्न है। 'देवदत्तः देवदत्ता' इस लिंगभेदमें प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी एक नहीं है। एकवचन, द्विवचन और बहुवचनमें प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी भिन्न-भिन्न है। इसकी दृष्टिमें भिन्नकालीन, भिन्नकारक-निष्पन्न, भिन्नलिंगक और भिन्नसंख्याक शब्द एक अर्थके वाचक नहीं हो सकते। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिये। शब्दनय उन वैयाकरणोंके तरीकेको अन्याय्य समझता है जो शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना चाहते, अर्थात् जो एकान्तनित्य आदि रूप पदार्थ मानते हैं, उसमें पर्यायभेद स्वीकार नहीं करते।

---

१. "ननु संव्यवहारलोपप्रसङ्ग इति चेत्; न; अस्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं क्रियते। सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसंव्यवहारः।" —सर्वार्थसि० १।३३।

२. "कालकारकलिङ्गादिभेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्।"—लघी० श्लो० ४४। अकलङ्कग्रन्थत्रयटि० पृ० १४६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके मतमें कालकारकादिभेद होनेपर भी अर्थ एकरूप बना रहता है। तब यह नय कहता है कि तुम्हारी मान्यता उचित नहीं है। एक ही देवदत्त कैसे विभिन्न लिंगक, भिन्नसंख्याक और भिन्नकालीन शब्दोंका वाच्य हो सकेगा? उसमें भिन्न शब्दोंकी वाच्यभूत पर्यायें भिन्न-भिन्न स्वीकार करनी ही चाहिये, अन्यथा लिंगव्यभिचार, साधनव्यभिचार और कालव्यभिचार आदि बने रहेंगे। व्यभिचारका यहाँ अर्थ है शब्दभेद होनेपर अर्थभेद नहीं मानना, यानी एक ही अर्थका विभिन्न शब्दोंसे अनुचित सम्बन्ध। अनुचित इसलिये कि हर शब्दकी वाचकशक्ति जुदा-जुदा होती है; यदि पदार्थमें तदनुकूल वाक्यशक्ति नहीं मानी जाती है तो अनौचित्य तो स्पष्ट ही है, उनका मेल कैसे बैठ सकता है?

काल स्वयं परिणमन करनेवाले वर्तनाशील पदार्थोंके परिणमनमें साधारण निमित्त होता है। इसके भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीन भेद हैं। केवल शक्ति तथा अनपेक्ष द्रव्य और शक्तिको कारक नहीं कहते; किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्यको कारक कहते हैं। लिंग चिह्नको कहते हैं। जो गर्भधारण करे वह स्त्री, जो पुत्रादिकी उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष और जिसमें दोनों ही सामर्थ्य न हों वह नपुंसक कहलाता है। कालादिके ये लक्षण अनेकान्त अर्थमें ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्रीके मिलनेपर षट्कारकी रूपसे परिणति कर सकती है। कालादिके भेदसे एक ही द्रव्यकी नाना पर्यायें हो सकती हैं। सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य वस्तुमें ऐसे परिणमनकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि सर्वथा नित्यमें उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिकमें स्थैर्य—ध्रौव्य नहीं है। इस तरह कारकव्यवस्था न होनेसे विभिन्न कारकोंमें निष्पन्न षट्कारकी, स्त्रीलिंगादि लिंग और वचनभेद आदिकी व्यवस्था एकान्तपक्षमें सम्भव नहीं है।

यह शब्दनय वैयाकरणोंको शब्दशास्त्रकी सिद्धिका दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है, और बताता है कि सिद्धि अनेकान्तसे ही हो सकती है। जब तक वस्तुको अनेकान्तात्मक नहीं मानोगे, तब तक एक ही वर्तमान पर्यायमें विभिन्नलिंगक, विभिन्नसंख्याक शब्दोंका प्रयोग नहीं कर सकोगे, अन्यथा व्यभिचार दोष होगा। अतः उस एक पर्यायमें भी शब्दभेदसे अर्थभेद मानना ही होगा। जो वैयाकरण ऐसा नहीं मानते उनका शब्दभेद होनेपर भी अर्थभेद न मानना शब्दनयाभास है। उनके मतमें उपसर्गभेद, अन्यपुरुषकी जगह मध्यमपुरुष आदि पुरुषभेद, भावि और वर्तमानक्रियाका एक कारकसे सम्बन्ध आदि समस्त व्याकरणकी प्रक्रियाएँ निराधार एवं निर्विषयक हो जायँगी। इसीलिये जैनेन्द्रव्याकरणके रचयिता आचार्यवर्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्रव्याकरणका प्रारम्भ "सिद्धिरनेकान्तात्" सूत्रसे और आचार्य हेमचन्द्रने हेमशब्दानुशासनका प्रारम्भ "सिद्धि स्याद्वादात्" सूत्रसे किया है। अतः अन्य वैयाकरणोंका प्रचलित क्रम शब्दनयाभास है।

## समभिरूढ और तदाभास

एककालवाचक, एकलिंगक तथा एकसंख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढनय[1] उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दोंका भी अर्थभेद मानता है। इस नयके अभिप्रायसे एकलिंगवाले इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन तीन शब्दोंमें प्रवृत्तिनिमित्तकी भिन्नता होनेसे भिन्नार्थवाचकता है। शक्र शब्द शासनक्रियाकी अपेक्षासे, इन्द्र शब्द इन्दन—ऐश्वर्यक्रियाकी अपेक्षासे और पुरन्दर शब्द पूर्दारण क्रियाकी अपेक्षासे, प्रवृत्त हुआ है। अतः तीनों शब्द विभिन्न अवस्थाओंके वाचक हैं। शब्दनयमें एकलिंगवाले पर्यायवाची शब्दोंमें अर्थ-नहीं था, पर समभिरूढनय प्रवृत्तिनिमित्तोंकी विभिन्नता होनेसे पर्यायवाची शब्दोंमें भी अर्थभेद मानता है। यह नय उन कोशकारोंको दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है, जिनने एक ही राजा या पृथ्वीके अनेक नाम—

---

१. 'अभिरूढस्तु पर्यायैः'—लघी० श्लो० ४४। अकलङ्कग्रन्थत्रयटि पृ० १४७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यायवाची शब्द तो प्रस्तुत कर दिये हैं, पर उस पदार्थमें उन पर्यायशब्दोंकी वाच्यशक्ति जुदा-जुदा स्वीकार नहीं की। जिस प्रकार एक अर्थ अनेक शब्दोंका वाच्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार एक शब्द अनेक अर्थोंका वाचक भी नहीं हो सकता। एक गोशब्दके ग्यारह अर्थ नहीं हो सकते; उस शब्दमें ग्यारह प्रकारकी वाचक-शक्ति मानना ही होगी। अन्यथा यदि वह जिस शक्तिसे पृथिवीका वाचक है उसी शक्तिसे गायका भी वाचक हो; तो एकशक्तिक शब्दसे वाच्य होनेके कारण पृथिवी और गाय दोनों एक हो जायँगे। अतः शब्दमें वाच्यभेदके हिसाबसे अनेक वाचकशक्तियोंकी तरह पदार्थमें भी वाचकभेदकी अपेक्षा अनेक वाचकशक्तियाँ माननी ही चाहिए। प्रत्येक शब्दके व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त जुदे-जुदे होते हैं, उनके अनुसार वाच्य-भूत अर्थमें पर्यायभेद या शक्तिभेद मानना ही चाहिये। यदि एकरूप ही पदार्थ हो; तो उसमें विभिन्न क्रियाओंसे निष्पन्न अनेक शब्दोंका प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। इस तरह समभिरूढनय पर्यायवाची शब्दोंकी अपेक्षा भी अर्थभेद स्वीकार करता है।

पर्यायवाची शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना समभिरूढनयाभास है। जो मत पदार्थको एकान्तरूप मानकर भी अनेक शब्दोंका प्रयोग करते हैं उनकी यह मान्यता तदाभास है।

## एवम्भूत और तदाभास

एवम्भूतनय[1], पदार्थ जिस समय जिस क्रियामें परिणत हो उस समय उसी क्रियासे निष्पन्न शब्दको प्रवृत्ति स्वीकार करता है। जिस समय शासन कर रहा हो उसी समय उसे शक्र कहेंगे, इन्दन-क्रियाके समय नहीं। जिस समय घटन-क्रिया हो रही हो, उसी समय उसे घट कहना चाहिये, अन्य समयमें नहीं। समभि-रूढनय उस समय क्रिया हो या न हो, पर शक्तिकी अपेक्षा अन्य शब्दोंका प्रयोग भी स्वीकार कर लेता है, परन्तु एवम्भूतनय ऐसा नहीं करता। क्रियाक्षणमें ही कारक कहा जाय, अन्य क्षणमें नहीं। पूजा करते समय ही पुजारी कहा जाय, अन्य समयमें नहीं; और पूजा करते समय उसे अन्य शब्दसे भी नहीं कहा जाय। इस तरह समभिरूढनयके द्वारा वर्तमान पर्यायमें शक्तिभेद मानकर जो अनेक पर्यायशब्दोंके प्रयोगकी स्वीकृति थी, वह इसकी दृष्टिमें नहीं है। यह तो क्रियाका धनी है। वर्तमानमें शक्तिकी अभिव्यक्ति देखता है। तत्क्रियाकालमें अन्य शब्दका प्रयोग करना या उस शब्दका प्रयोग नहीं करना एवम्भूताभास है। इस नयको व्यवहारकी कोई चिन्ता नहीं है। हाँ, कभी-कभी इससे भी व्यवहारकी अनेक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। न्यायाधीश जब न्यायकी कुरसीपर बैठता है तभी न्यायाधीश है। अन्य कालमें भी यदि उसके सिरपर न्यायाधीशत्व सवार हो, तो गृहस्थी चलना कठिन हो जाय। अतः व्यवहारको जो सर्वनयसाध्य कहा है, वह ठीक ही कहा है।

## नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्पविषयक हैं

इन नयोंमें[2] उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और अल्पविषयता है। नैगमनय संकल्पग्राही होनेसे सत् और असत् दोनोंको विषय करता है, जबकि संग्रहनय 'सत्' तक ही सीमित है। नैगमनय भेद और अभेद दोनोंको गौण-मुख्यभावसे विषय करता है, जबकि संग्रहनयकी दृष्टि केवल अभेदपर है, अतः नैगमनय महाविषयक और स्थूल है, परन्तु संग्रहनय अल्पविषयक और सूक्ष्म है। सन्मात्रग्राही संग्रहनयसे सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्प-विषयक है। संग्रहके द्वारा संगृहीत अर्थमें व्यवहार भेद करता है, अतः वह अल्पविषयक ही हो जाता है।

---

१. 'येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूतः।'

—सर्वार्थसिद्धि १।३३। अकलंकग्रन्थत्रयटि० पृ० १४७।

२. 'एवमेते नयाः पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषयाः।'

—तत्त्वार्थवा० १।३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहारनय द्रव्यग्राही और त्रिकालवर्ती सद्विशेषको विषय करता है, अतः वर्तमानकालीन पर्यायको ग्रहण करनेवाला ऋजुसूत्र उससे सूक्ष्म हो ही जाता है। शब्दभेदकी चिन्ता नहीं करनेवाले ऋजुसूत्रनयसे वर्तमानकालीन एक पर्यायमें भी शब्दभेदसे अर्थभेदकी चिन्ता करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायवाची शब्दोंमें भेद होनेपर भी अर्थभेद न माननेवाले शब्दनयसे पर्यायवाची शब्दों द्वारा पदार्थमें शक्तिभेद कल्पना करनेवाला समभिरूढनय सूक्ष्म है। शब्दप्रयोगमें क्रियाकी चिन्ता नहीं करनेवाले समभिरूढसे क्रियाकालमें ही उन शब्दका प्रयोग माननेवाला एवम्भूत सूक्ष्मतम और अल्पविषयक है।

## अर्थनय, शब्दनय

इन सात नयोंमें ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नय अर्थग्राही होनेसे अर्थनय[1] है। यद्यपि नैगमनय, संकल्पग्राही होनेसे अर्थकी सीमासे बाहिर हो जाता था, पर नैगमका विषय भेद और अभेद दोनोंको ही मानकर उसे अर्थग्राही कहा गया है। शब्द आदि तीन नय पदविद्या अर्थात् व्याकरणशास्त्र—शब्दशास्त्रकी सीमा और भूमिका वर्णन करते हैं, अतः ये शब्दनय हैं।

## द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक विभाग

नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिक नय हैं और ऋजुसूत्रादि चार नय पर्यायार्थिक हैं। प्रथमके तीन नयोंकी द्रव्यपर दृष्टि रहती है, जबकि शेष चार नयोंका वर्तमानकालीन पर्यायपर ही विचार चालू होता है। यद्यपि व्यवहारनयमें भेद प्रधान है और भेदको भी कहीं-कहीं पर्याय कहा है, परन्तु व्यवहारनय एकद्रव्यगत ऊर्ध्वतासामान्यमें कालिक पर्यायोंका अन्तिम भेद नहीं करता, उसका क्षेत्र अनेकद्रव्यमें भेद करनेका मुख्यरूपसे है। वह एकद्रव्यकी पर्यायोंमें भेद करके भी अन्तिम एकक्षणवर्ती पर्याय तक नहीं पहुँच पाता, अतः इसे शुद्ध पर्यायार्थिकमें शामिल नहीं किया है। जैसे कि नैगमनय कभी पर्यायको और कभी द्रव्य को विषय करनेके कारण उभयावलम्बी होनेमें द्रव्यार्थिकमें ही अन्तर्भूत है उसी तरह व्यवहारनय भी भेदप्रधान होकर भी द्रव्यको विषय करता है, अतः वह भी द्रव्यार्थिककी ही सीमामें है। ऋजुसूत्रादि चार नय तो स्पष्ट ही एकसमयवर्ती पर्यायको सामने रखकर विचार चलाते हैं, अतः पर्यायार्थिक हैं। आ० जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ऋजुसूत्रको भी द्रव्यार्थिक मानते हैं[2]।

## निश्चय और व्यवहार

अध्यात्मशास्त्रमें नयोंके निश्चय और व्यवहार ये दो भेद प्रसिद्ध हैं। निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ भी कहीं[3] बताया है। जिस प्रकार अद्वैतवादमें पारमार्थिक और व्यावहारिक दो रूपमें और शून्यवाद या विज्ञानवादमें परमार्थ और सांवृत दो रूपमें या उपनिषदोंमें सूक्ष्म और स्थूल दो रूपोंमें तत्त्वके वर्णनकी पद्धति देखी जाती है उसी तरह जैन अध्यात्ममें भी निश्चय और व्यवहार इन दो प्रकारोंको अपनाया है। अन्तर इतना है कि जैन अध्यात्मका निश्चयनय वास्तविक स्थितिको उपादानके आधारसे पकड़ता है; वह अन्य पदार्थोंके अस्तित्वका निषेध नहीं करता; जब कि वेदान्त या विज्ञानाद्वैतका परमार्थ अन्य

---

१. 'चत्वारोऽर्थाश्रयाः शेषास्त्रयं शब्दतः। —सिद्धिवि० । लघी० श्लो० ७२।

२. विशेषा० गा० ७५,७७,२२६२।

३. समयसार गा० ११।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थोंके अस्तित्वको ही समाप्त कर देता है। बुद्धकी धर्मदेशनाको परमार्थसत्य और लोकसंवृतिसत्य इन दो रूपसे[1] घटानेका भी प्रयत्न हुआ है।

निश्चयनय परनिरपेक्ष स्वभावका वर्णन करता है। जिन पर्यायोंमें 'पर' निमित्त पड़ जाता है उन्हें वह शुद्ध स्वकीय नहीं कहता। परजन्य पर्यायोंको 'पर' मानता है। जैसे—जीवके रागादि भावोंमें यद्यपि आत्मा स्वयं उपादान होता है, वही रागरूपसे परिणति करता है, परन्तु चूंकि ये भाव कर्मनिमित्तक हैं, अतः इन्हें वह अपने आत्माके निजरूप नहीं मानता। अन्य आत्माओं और जगत्के समस्त अजीवोंको तो वह अपना मान ही नहीं सकता, किन्तु जिन आत्मविकासके स्थानोंमें परका थोड़ा भी निमित्तत्व होता है उन्हें वह 'पर' के खातेमें ही खतया देता है। इसीलिये समयसारमें जब आत्माके वर्ण, रस, स्पर्श आदि प्रसिद्ध पररूपोंका निषेध किया है तो उसी श्लोकमें गुणस्थान आदि परनिमित्तक स्वधर्मोंका भी निषेध कर दिया गया है।[2] दूसरे शब्दोंमें निश्चयनय अपने मूल लक्ष्य या आदर्शका खालिस वर्णन करना चाहता है, जिससे साधकको भ्रम न हो और वह भटक न जाय। इसलिये आत्माका नैश्चयिक वर्णन करते समय शुद्ध ज्ञायक रूप ही आत्माका स्वरूप प्रकाशित किया गया है। बन्ध और रागादिको भी उसी एक 'पर' कोटिमें डाल दिया है जिसमें पुद्गल आदि प्रकट परपदार्थ पड़े हुए हैं। व्यवहारनय परसापेक्ष पर्यायोंको ग्रहण करनेवाला होता है। परद्रव्य तो स्वतन्त्र हैं, अतः उन्हें तो अपना कहनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

अध्यात्मशास्त्रका उद्देश्य है कि वह साधकको यह स्पष्ट बता दे कि तुम्हारा गन्तव्य स्थान क्या है? तुम्हारा परम ध्येय और चरम लक्ष्य क्या हो सकता है? बीचके पड़ाव तुम्हारे साध्य नहीं हैं। तुम्हें तो उनसे बहुत ऊँचे उठकर परम स्वावलम्बी बनना है। लक्ष्यका दो टूक वर्णन किये बिना मोही जीव भटक ही जाता है। साधकको उन स्वोपादानक, किन्तु परनिमित्तक विभूति या विकारोंसे उसी तरह अलिप्त रहना है, उनसे ऊपर उठना है, जिस तरह कि वह स्त्री, पुत्रादि परचेतन तथा धन-धान्यादि पर अचेतन पदार्थोंसे नाता तोड़कर स्वावलम्बी मार्ग पकड़ता है। यद्यपि यह साधककी भावना मात्र है, पर इसे आ० कुन्दकुन्दने दार्शनिक आधार पकड़ाया है। वे उस लोकव्यवहारको हेय मानते हैं, जिसमें अंशतः भी परावलम्बन हो। किन्तु यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि ये सत्यस्थितिका अपलाप नहीं करना चाहते। वे लिखते हैं[3] कि 'जीवके परिणामोंको निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मपर्यायको प्राप्त होते हैं और उन कर्मोंके निमित्तसे जीवमें रागादि परिणाम होते हैं, यद्यपि दोनों अपने-अपने परिणामोंमें उपादान होते हैं, पर वे परिणमन परस्पर-हेतुक—अन्योन्यनिमित्तक हैं।' उन्होंने "अण्णोण्णणिमित्तेण" पदसे इसी भावका समर्थन किया है। यानी कार्य उपादान और निमित्त दोनों सामग्रीसे होता है।

इस तथ्यका वे अपलाप नहीं करके उसका विवेचन करते हैं और जगत्के उस अहंकारमूलक नैमित्तिक

---

१. 'द्वे समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥' —माध्यमिककारिका, आर्यसत्यपरीक्षा, श्लो०।

२. 'णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥ ५५॥ —समयसार।

३. 'जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमइ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि॥८१॥' —समयसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्तृत्वका खरा विश्लेषण करके कहते हैं[1] कि बताओ 'कुम्हारने घड़ा बनाया' इसमें कुम्हारने आखिर क्या किया ? यह सही है कि कुम्हारको घड़ा बनानेकी इच्छा हुई, उसने उपयोग लगाया और योग—अर्थात् हाथ-पैर हिलाये, किन्तु 'घट' पर्याय तो आखिर मिट्टीमें ही उत्पन्न हुई। यदि कुम्हारकी इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न ही घटके अन्तिम उत्पादक होते तो उनसे रेत या पत्थरमें भी घड़ा उत्पन्न हो जाना चाहिये था। आखिर वह मिट्टीकी उपादानयोग्यतापर ही निर्भर करता है, वही योग्यता घटाकार बन जाती है। यह ठीक है कि कुम्हारके ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नके निमित्त बने बिना मिट्टीकी योग्यता विकसित नहीं हो सकती थी, पर इतने निमित्तमात्रसे हम उपादानकी निजयोग्यताकी विभूतिकी उपेक्षा नहीं कर सकते। इस निमित्तका अहंकार तो देखिए कि जिसमें रंचमात्र भी इसका अंश नहीं जाता, अर्थात् न तो कुम्हारका ज्ञान मिट्टीमें घँसता है, न इच्छा और न प्रयत्न, फिर भी वह 'कुम्भकार' कहलाता है ! कुम्भके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि मिट्टीसे ही उत्पन्न होते हैं, उसका एक भी गुण कुम्हारने उपजाया नहीं है। कुम्हारका एक भी गुण मिट्टीमें पहुँचा नहीं है, फिर भी वह सर्वाधिकारी बनकर 'कुम्भकार' होनेका दुरभिमान करता है !

राग, द्वेष आदिकी स्थिति यद्यपि विभिन्न प्रकारकी है; क्योंकि इसमें आत्मा स्वयं राग और द्वेष आदि पर्यायों रूपसे परिणत होता है; फिर भी यहाँ वे विश्लेषण करते हैं कि बताओ तो सही—क्या शुद्ध आत्मा इनमें उपादान बनता है ? यदि सिद्ध और शुद्ध आत्मा रागादिमें उपादान बनने लगे; तो मुक्तिका क्या स्वरूप रह जाता है ? अतः इनमें उपादान रागादिपर्यायसे विशिष्ट आत्मा ही बनता है, दूसरे शब्दोंमें रागादिसे ही रागादि होते हैं। निश्चयनय जीव और कर्मके अनादि बन्धनसे इनकार नहीं करता। पर उस बंधनका विश्लेषण करता है कि जब दो स्वतंत्र द्रव्य हैं तो इनका संयोग ही तो हो सकता है, तादात्म्य नहीं। केवल संयोग तो अनेक द्रव्योंसे इस आत्माका सदा ही रहनेवाला है, केवल वह हानिकारक नहीं होता। धर्म, अधर्म, आकाश और काल तथा अन्य अनेक आत्माओंसे इसका सम्बन्ध बराबर मौजूद है, पर उससे इसके स्वरूपमें कोई विकार नहीं होता। सिद्धिशिलापर विद्यमान सिद्धात्माओंके साथ वहाँके पुद्गल परमाणुओंका संयोग है ही, पर इतने मात्रसे उनमें बन्धन नहीं कहा जा सकता और न उस संयोगसे सिद्धोंमें रागादि ही उत्पन्न होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मा परसंयोगरूप निमित्तके रहनेपर भी रागादिमें उपादान नहीं होता और न पर निमित्त उसमें बलात् रागादि उत्पन्न ही कर सकते हैं। हमें सोचना ऊपरकी तरफसे है कि जो हमारा वास्तविक स्वरूप बन सकता है, जो हम हो सकते हैं, वह स्वरूप क्या रागादिमें उपादान होता है ? नीचेकी ओरसे नहीं सोचना है; क्योंकि अनादिकालसे तो अशुद्ध आत्मा रागादिमें उपादान बन ही रहा है और उसमें रागादिकी परम्परा बराबर चालू है।

अतः निश्चयनयको यह कहनेके स्थानमें कि 'मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, अस्पृष्ट हूँ; यह कहना चाहिये कि 'मैं शुद्ध, अबद्ध और अस्पृष्ट हो सकता हूँ।' क्योंकि आज तक तो उसने आत्माकी इस शुद्ध आदर्श दशाका अनुभव किया ही नहीं है। बल्कि अनादिकालसे रागादिपंकमें ही वह लिप्त रहा है ! यह निश्चित तो इस आधारपर किया जा रहा है कि जब दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, तब उनका संयोग भले ही अनादि हो, पर वह टूट सकता है, और वह टूटेगा तो अपने परमार्थ स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर लक्ष्य करनेसे। इस शक्तिका निश्चय भी द्रव्यका स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर ही तो किया जा सकता है। अनादि अशुद्ध आत्मामें शुद्ध होनेकी शक्ति है, वह शुद्ध हो सकता है। यह शक्यता—भविष्यत्का ही तो विचार है। हमारा भूत और वर्तमान अशुद्ध

१. जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥' —समयसार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, फिर भी निश्चयनय हमारे उज्ज्वल भविष्यकी ओर, कल्पनासे नहीं, वस्तुके आधारसे ध्यान दिलाता है। उसी तत्त्वको आचार्य कुन्द-कुन्द[1] बड़ी सुन्दरतासे कहते हैं कि 'काम, भोग और बन्धकी कथा सभीको श्रुत, परिचित और अनुभूत है, पर विभक्त—शुद्ध आत्माके एकत्वकी उपलब्धि सुलभ नहीं है।' कारण यह है कि शुद्ध आत्माका स्वरूप संसारी जीवोंको केवल श्रुतपूर्व है अर्थात् उसके सुननेमें ही कदाचित् आया हो, पर न तो उसने कभी इसका परिचय पाया है और न कभी इसने उसका अनुभव ही किया है। आ० कुन्द-कुन्द ( समयसार गा० ५ ) अपने आत्मविश्वाससे भरोसा दिलाते हैं कि 'मैं अपनी समस्त सामर्थ्य और बुद्धिका विभव लगाकर उसे दिखाता हूँ।' फिर भी वे थोड़ी कचाईका अनुभव करके यह भी कह देते हैं कि 'यदि चूक जाऊँ, तो छल नहीं मानना।'

### द्रव्य का शुद्ध लक्षण

उनका एक ही दृष्टिकोण है कि द्रव्यका स्वरूप वही हो सकता है जो द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायमें व्याप्त होता है। यद्यपि द्रव्य किसी-न-किसी पर्यायको प्राप्त होता है और होगा, पर एक पर्याय दूसरी पर्यायमें तो नहीं पाई जा सकती और इसलिये द्रव्यकी कोई भी पर्याय द्रव्यसे अभिन्न होकर भी द्रव्यका शुद्धरूप नहीं कही जा सकती। अब आप आत्माके स्वरूपपर क्रमशः विचार कीजिए। वर्ण, रस आदि तो स्पष्ट पुद्गलके गुण हैं वे पुद्गलकी ही पर्यायें हैं और उनमें पुद्गल ही उपादान होता है, अतः वे आत्माके स्वरूप नहीं हो सकते, यह बात निर्विवाद है। रागादि समस्त विकारोंमें यद्यपि अपने परिणामीस्वभावके कारण आत्मा ही उपादान होता है, उसकी विरागता ही बिगड़कर राग बनती है, उसीका सम्यक्त्व बिगड़कर मिथ्यात्वरूप हो जाता है, पर वे विरागता और सम्यक्त्व भी आत्माके त्रिकालानुयायी शुद्ध रूप नहीं हो सकते; क्योंकि वे निगोद आदि अवस्थामें तथा सिद्ध अवस्था में नहीं पाये जाते। सम्यग्दर्शन आदि गुणस्थान भी उन-उन पर्यायों के नाम हैं जो कि त्रिकालानुयायी नहीं हैं, उनकी सत्ता मिथ्यात्व आदि अवस्थाओंमें तथा सिद्ध अवस्था में नहीं रहती। इनमें परपदार्थ निमित्त पड़ता है। किसी-न-किसी पर कर्मका उपशम, क्षय या क्षयोपशम उसमें निमित्त होता ही है। केवली अवस्थामें जो अनन्तज्ञानादि गुण प्रकट हुए हैं वे घातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुए हैं और अघातिया कर्मोंका उदय उनके जीवनपर्यन्त बना ही रहता है। योगजन्य चंचलता उनके आत्मप्रदेशोंमें है ही। अतः परनिमित्तक होनेसे ये भी शुद्ध द्रव्यका स्वरूप नहीं कहे जा सकते। चौदहवें गुणस्थानको पार करके जो सिद्ध अवस्था है वह शुद्ध द्रव्यका ऐसा स्वरूप तो है जो प्रथम-क्षणभावी सिद्ध अवस्थासे लेकर आगेके अनन्तकाल तकके समस्त भविष्यमें अनुयायी है, उसमें कोई भी पर-निमित्तक विकार नहीं आ सकता, किन्तु वह संसारी दशामें नहीं पाया जाता। एक त्रिकालानुयायी स्वरूप ही लक्षण हो सकता है, और वह है—शुद्ध ज्ञायक रूप, चैतन्य रूप। इनमें ज्ञायक रूप भी परपदार्थके जानने-रूप उपाधिकी अपेक्षा रखता है।

### त्रिकालव्यापी 'चित्' ही लक्षण हो सकती है

अतः केवल 'चित्' रूप ही ऐसा बचता है जो भविष्यत्में तो प्रकटरूपसे व्याप्त होता ही है, साथ ही अतीतकी प्रत्येक पर्यायमें, चाहे वह निगोद जैसी अत्यल्पज्ञानवाली अवस्था हो और केवलज्ञान जैसी समग्र विकसित अवस्था हो, सबमें निर्विवादरूपसे पाया जाता है। 'चित्' रूपका अभाव कभी भी आत्मद्रव्यमें न रहा है, न है और न होगा। वही अंश द्रवणशील होनेसे द्रव्य कहा जा सकता है और अलक्ष्यसे व्यावर्तक

---

१. सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विभत्तस्स॥ —समयसार गा० ४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होनेके कारण लक्षव्यापी लक्षण हो सकता है। यह शंका नहीं की जा सकती कि 'सिद्ध अवस्था भी अपनी पूर्वकी संसारी निगोद आदि अवस्थाओंमें नहीं पाई जाती, अतः वह शुद्धद्रव्यका लक्षण नहीं हो सकती', क्योंकि यहाँ सिद्धपर्यायको लक्षण नहीं बनाया जा रहा है, लक्षण तो वह द्रव्य है जो सिद्धपर्यायमें पहली बार विकसित हुआ है और चूँकि उस अवस्थासे लेकर आगेकी अनन्तकालभावी समस्त अवस्थाओंमें कभी भी परनिमित्तक किसी भी अन्य परिणमनकी संभावना नहीं है, अतः वह 'चित्' अंश ही द्रव्यका यथार्थ परिचायक होता है। शुद्ध और अशुद्ध विशेषण भी उसमें नहीं लगते, क्योंकि वे उस अखण्ड चित्का विभाग कर देते हैं। इसलिये कहा[1] है कि मैं अर्थात् 'चित्' न तो प्रमत्त हूँ और न अप्रमत्त, न तो अशुद्ध हूँ और न शुद्ध, वह तो केवल 'ज्ञायक' है। हाँ, उस शुद्ध और व्यापक 'चित्' का प्रथम विकास मुक्त अवस्थामें ही होता है। इसीलिये आत्माके विकारी रागादिभावोंकी तरह कर्मके उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षयसे होनेवाले भावोंको भी अनादि-अनन्त सम्पूर्ण द्रव्यव्यापी न होनेसे आत्माका स्वरूप या लक्षण नहीं माना गया और उन्हें भी वर्णादिकी तरह परभाव कह दिया गया है। न केवल उन अव्यापक परनिमित्तक रागादि विकारी भावोंको 'पर भाव' ही कहा गया है, किन्तु पुद्गलनिमित्तक होनेसे 'पुद्गलकी पर्याय' तक कह दिया गया है।

तात्पर्य इतना ही है कि—ये सब बीचकी मंजिलें हैं। आत्मा अपने अज्ञानके कारण उन-उन पर्यायोंको धारण अवश्य करता है, पर ये सब शुद्ध और मूलभूत द्रव्य नहीं हैं। आत्माके इस त्रिकालव्यापी स्वरूपको आचार्यने इसीलिये अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त विशेषणोंसे व्यक्त किया है[2]। यानी एक ऐसी 'चित्' है जो अनादिकालसे अनन्तकाल तक अपनी प्रवहमान मौलिक सत्ता रखती है। उस अखंड 'चित्' को हम न निगोदरूपमें, न नारकादि पर्यायोंमें, न प्रमत्त, अप्रमत्त आदि गुणस्थानोंमें, न केवलज्ञानादि क्षायिक भावोंमें और न अयोगकेवली अवस्थामें ही सीमित कर सकते हैं। उसका यदि दर्शन कर सकते हैं तो निरुपाधि, शुद्ध, सिद्ध अवस्थामें। वह मूलभूत 'चित्' अनादिकालसे अपने परिणामी स्वभावके कारण विकारी परिणमनमें पड़ी हुई है। यदि विकारका कारण परभावसंसर्ग हट जाय, तो वही निखरकर निर्मल, निर्लेप और खालिस शुद्ध बन सकती है।

तात्पर्य यह कि हम शुद्धनिश्चयनयसे उस 'चित्' का यदि रागादि अशुद्ध अवस्थामें या गुणस्थानोंकी शुद्धाशुद्ध अवस्थाओंमें दर्शन करना चाहते हैं तो इन सबसे दृष्टि हटाकर हमें उस महाव्यापक मूलद्रव्यपर दृष्टि ले जानी होगी और उस समय कहना ही होगा कि 'ये रागादि भाव आत्माके यानी शुद्ध आत्माके नहीं हैं, ये तो विनाशी हैं, वह अविनाशी अनाद्यनन्त तत्त्व तो जुदा ही है।

समयसारका शुद्धनय इसी मूलतत्त्वपर दृष्टि रखता है। वह वस्तुके परिणमनका निषेध नहीं करता और न उस चित्के रागादि पर्यायोंमें ढलनेका प्रतिषेधक ही है। किन्तु वह कहना चाहता है कि 'अनादिकालीन अशुद्ध किट्ट-कालिमा आदिसे विकृत बने हुए इस सोनेमें भी उस १०० टंचके सोनेकी शक्तिरूपसे विद्यमान आभापर एकबार दृष्टि तो दो, तुम्हें इस किट्ट-कालिमा आदिमें जो पूर्ण सुवर्णत्वकी बुद्धि हो रही है, वह अपने-आप हट जायगी। इस शुद्ध स्वरूपपर लक्ष्य दिये बिना कभी उसकी प्राप्तिकी दिशामें प्रयत्न

---

१. "ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥" —समयसार।

२. "जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥" —समयसार।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं किया जा सकता। वे अबद्ध और अस्पृष्ट या असंयुक्त विशेषणसे यही दिखाना चाहते हैं कि आत्माकी बद्ध, स्पष्ट और संयुक्त अवस्थाएँ बीच की हैं, ये उनका त्रिकालव्यापी मूल स्वरूप नहीं है।

उस एक 'चित्' का ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपसे विभाजन या उसका विशेषरूपसे कथन करना भी एक प्रकारका व्यवहार है, वह केवल समझने-समझानेके लिये है[1]। आप ज्ञानको या दर्शनको या चारित्रको भी शुद्ध आत्माका असाधारण लक्षण नहीं कह सकते; क्योंकि ये सब उस 'चित्' के अंश हैं और उस अखंड तत्त्वको खंड-खंड करनेवाले विशेष हैं। वह 'चित्' तो इन विशेषोंसे परे 'अविशेष' है, 'अनन्य' है और 'नियत' है। आचार्य आत्मविश्वाससे कहते हैं कि 'जिसने इसको जान लिया उसने समस्त जिनशासनको जान लिया।'

## निश्चयका वर्णन असाधारण लक्षणका कथन है

दर्शनशास्त्रमें आत्मभूत लक्षण उस असाधारण धर्मको कहते हैं जो समस्त लक्ष्योंमें व्याप्त हो तथा अलक्ष्यमें बिलकुल न पाया जाय। जो लक्षण लक्ष्यमें नहीं पाया जाता वह असम्भवि लक्षणाभास कहलाता है, जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें पाया जाता है वह अतिव्याप्त लक्षणाभास है और जो लक्ष्यके एक देशमें रहता है वह अव्याप्त लक्षणाभास कहा जाता है। आत्मद्रव्यका आत्मभूत लक्षण करते समय हम इन तीनों दोषों का परिहार करके जब निर्दोष लक्षण खोजते हैं तो केवल 'चित्' के सिवाय दूसरा कोई पकड़में नहीं आता। वर्णादि तो स्पष्टतया पुद्गलके धर्म हैं, अतः वर्णादि तो जीवमें असंभव हैं। रागादि विभावपर्यायें तथा केवलज्ञानादि स्वभावपर्यायें, जिनमें आत्मा स्वयं उपादान होता है, समस्त आत्माओंमें व्यापक नहीं होनेसे अव्याप्त है। अतः केवल 'चित्' ही ऐसा स्वरूप है, जो पुद्गलादि अलक्ष्योंमें नहीं पाया जाता और लक्ष्यभूत सभी आत्माओंमें अनाद्यनन्त व्याप्त रहता है। इसलिये 'चित्' ही आत्म द्रव्यका स्वरूपभूत लक्षण हो सकती है।

यद्यपि यही 'चित्' प्रमत्त, अप्रमत्त, नर, नारकादि सभी अवस्थाओंको प्राप्त होती है, पर निश्चयसे वे पर्यायें आत्माका व्यापक लक्षण नहीं बन सकतीं। इसी व्याप्यव्यापकभावको लक्ष्यमें रखकर अनेक अशुद्ध अवस्थाओंमें भी शुद्ध आत्मद्रव्यकी पहिचान करानेके लिये आचार्यने शुद्ध नयका अवलम्बन किया है। इसीलिये 'शुद्ध चित्' का सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि रूपसे विभाग भी उन्हें इष्ट नहीं है। वे एक अनिर्वचनीय अखण्ड चित्को ही आत्मद्रव्यके स्थानमें रखते हैं। आचार्यने इस लक्षणभूत 'चित्' के सिवाय जितने भी वर्णादि और रागादि लक्षणाभास हैं, उनका परभाव कहकर निषेध कर दिया है। इसी दृष्टिसे निश्चयनयको परमार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ भी कहा है। अभूतार्थका यह अर्थ नहीं है कि आत्मामें रागादि हैं ही नहीं, किन्तु जिस त्रिकालव्यापी द्रव्यरूप चित्को हम लक्षण बना रहे हैं उसमें इन्हें शामिल नहीं किया जा सकता।

वर्णादि और रागादिको व्यवहारनयका विषय कहकर एक ही झोकमें निषेध कर देनेसे यह भ्रम सहजमें ही हो सकता है कि 'जिस प्रकार रूप, रस, गन्ध आदि पुद्गलके धर्म हैं उसी तरह रागादि भी पुद्गलके ही धर्म होंगे, और पुद्गलनिमित्तक होनेसे इन्हें पुद्गलकी पर्याय कहा भी है।' इस भ्रमके निवारण-

---

१. 'ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं च चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥'—समयसार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिये निश्चयनयके दो भेद भी शास्त्रोंमें देखे जाते हैं[1]—एक शुद्धनिश्चयनय और दूसरा अशुद्धनिश्चयनय। शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें 'शुद्ध चित्' ही जीवका स्वरूप है। अशुद्ध निश्चयनय आत्माके अशुद्ध रागादि-भावोंको भी जीवके ही कहता है, पुद्गलके नहीं। व्यवहारनय सद्भूत और असद्भूत दोनोंमें उपचरित और अनुपचरित अनेक प्रकारसे प्रवृत्ति करता है। समयसारके टीकाकारोंने अपनी टीकाओंमें वर्णादि और रागादिको व्यवहार और अशुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिसे ही विचारनेका संकेत किया है[2]।

## पंचाध्यायीका नय-विभाग

पंचाध्यायीकार अभेदग्राहीको द्रव्यार्थिक और निश्चयनय कहते हैं तथा किसी भी प्रकारके भेदको ग्रहण करनेवाले नयको पर्यायार्थिक और व्यवहारनय कहते हैं। इनके मतसे [3]निश्चयनयके शुद्ध और अशुद्ध भेद करना ही गलत है। ये वस्तुके सद्भूत भेदको व्यवहारनयका ही विषय मानते हैं। अखण्ड वस्तुमें किसी भी प्रकारका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदिकी दृष्टिसे होनेवाला भेद पर्यायार्थिक या व्यवहारनयका विषय होता है। इनकी दृष्टिमें समयसारगत परनिमित्तक—व्यवहार ही नहीं; किन्तु स्वगत भेद भी व्यवहार-नयकी सीमामें ही होता है। [4]व्यवहारनयके दो भेद हैं—एक सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय। वस्तुमें अपने गुणोंकी दृष्टिसे भेद करना सद्भूत व्यवहार है। अन्य द्रव्यके गुणोंकी बलपूर्वक अन्यत्र योजना करना असद्भूत व्यवहार है। जैसे वर्णादिवाले मूर्त पुद्गलकर्मद्रव्यके संयोगसे होनेवाले क्रोधादि मूर्तभावोंको जीवके कहना। यहाँ क्रोधादिमें जो पुद्गलद्रव्यके मूर्तत्वका आरोप किया गया है—यह असद्भूत है और गुण-गुणीका जो भेद विवक्षित है वह व्यवहार है। सद्भूत और असद्भूत व्यवहार दोनों ही उपचरित और अनुपचरितके भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं। 'ज्ञान जीवका है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है तथा 'अर्थविकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है और वही जीवका गुण है' यह उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। इसमें ज्ञानमें अर्थविकल्पात्मकता उपचरित है और गुण-गुणीका भेद व्यवहार है।

अनगारधर्मामृत ( अध्याय १ श्लो० १०४'''' ) आदिमें जो 'केवलज्ञान जीवका है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार तथा 'मतिज्ञान जीवका है' यह उपचरित सद्भूत व्यवहारका उदाहरण दिया है; उसमें यह दृष्टि है कि शुद्ध गुणका कथन अनुपचरित तथा अशुद्ध गुणका कथन उपचरित है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय 'अबुद्धिपूर्वक' होनेवाले क्रोधादि भावोंको जीवका कहता है और उपचरित सद्भूत व्यवहारनय उदयमें आये हुए अर्थात् प्रकट अनुभवमें आनेवाले क्रोधादिभावोंको जीवके कहता है। पहलेमें वैभाविकी शक्तिका आत्मासे अभेद माना है। अनगारधर्मामृतमें 'शरीर मेरा है' यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारका तथा 'देश मेरा है' यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण माना गया है।

पंचाध्यायीकार किसी दूसरे द्रव्यके गुणका दूसरे द्रव्यमें आरोप करना नयाभास मानते हैं। जैसे—वर्णादिको जीवके कहना, शरीरको जीवका कहना, मूर्तकर्म द्रव्योंका कर्त्ता और भोक्ता जीवको मानना, धन-

---

१. देखो,—द्रव्यसंग्रह गा० ४।

२. 'अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षया आभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहार एव इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम्।'—समयसार तात्पर्यवृत्ति गा० ७३।

३. पंचाध्यायी १।६५९–६१। ४. पंचाध्यायी १।५२५ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धान्य, स्त्री आदिका भोक्ता और कर्त्ता जीवको मानना, ज्ञान और ज्ञेयमें बोध्यबोधक सम्बन्ध होनेसे ज्ञानको ज्ञेयगत मानना आदि ये सब नयाभास हैं।

समयसारमें तो एक शुद्धद्रव्यको निश्चयनयका विषय मानकर बाकी परनिमित्तक स्वभाव या परभाव सभीको व्यवहारके गड्ढेमें डालकर उन्हें हेय और अभूतार्थ कहा है। एक बात ध्यानमें रखने की है कि नैगमादिनयोंका विवेचन वस्तुस्वरूपकी मीमांसा करनेकी दृष्टिसे है जब कि समयसारगत नयोंका वर्णन अध्यात्मभावनाको परिपुष्टकर हेय और उपादेयके विचारसे मोक्षमार्गमें लगानेके लक्ष्यसे है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकान्त दर्शन की पृष्ठभूमि

ज्ञान सदाचारको जन्म दे सकता है यदि उसका उचित दिशामें उपयोग हो, अतः ज्ञान मात्र ज्ञान होनेसे ही सदाचार और शान्तिवाहकके पदपर नहीं पहुँच सकता। हाँ, जो ज्ञान-जीवन साधनासे फलित होता है उस स्वानुभवका तत्त्वज्ञानत्व और जीवनोन्नायक सर्वोदयी स्वरूप निर्विवाद रूपसे स्वतःसिद्ध है। पर प्रश्न यह है कि—तत्त्वज्ञानके बिना क्या केवल आचरणमात्रसे जीवनशुद्धि हो सकती है? क्या कोई भी धर्म या पन्थ समाज या संघमें बिना तत्त्वज्ञानके सदाचारमात्रसे, जो कि प्रायः सामान्य रूपसे सभी धर्मोंमें स्वीकृत है, अपनी उपयोगिता और विशेषता बता सकता है और अपने अनुयायियोंकी श्रद्धाको जीवित रख सकता है?

## बुद्धका अव्याकृतवाद

बुद्ध और महावीर समकालीन समदेश और सम संस्कृतिके प्रतिनिधि थे। दार्शनिक प्रश्नोंके सम्बन्धमें बुद्धका दृष्टिकोण था कि आत्मा लोक-परलोक आदिके शाश्वत-अशाश्वत आदि विवाद निरर्थक हैं। वे न तो ब्रह्मचर्यके लिए उपयोगी हैं और न निर्वेद उपशम अभिज्ञा सम्बोध या निर्वाणके लिए ही।

मज्झिमनिकाय ( २।२।३ ) के चूलमालुंक्य सूत्रका संवाद इस प्रकार है—

"एक बार मालुंक्यपुत्तके चित्तमें यह वितर्क उत्पन्न हुआ कि भगवान्‌ने इन दृष्टियोंको अव्याकृत ( अकथनीय ) स्थापित ( जिनका उत्तर रोक दिया जाय ) प्रतिक्षिप्त ( जिनका उत्तर देना अस्वीकृत हो गया ) कर दिया है—१–लोक शाश्वत है? २–लोक अशाश्वत है? ३–लोक अन्तवान् है? ४–लोक अनन्त है? ५–जीव और शरीर एक है? ६–जीव दूसरा और शरीर दूसरा है? ७–मरनेके बाद तथागत होते हैं? ८–मरनेके बाद तथागत नहीं होते? ९–मरनेके बाद तथागत होते भी हैं नहीं भी होते हैं? १०–मरनेके बाद तथागत न होते हैं और न नहीं होते? इन दृष्टियोंको भगवान् मुझे नहीं बतलाते, यह मुझे नहीं रुचता–मुझे नहीं खभता। सो मैं भगवान्‌के पास जाकर इस बातको पूछूँ। यदि मुझे भगवान् कहेंगे तो मैं भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्यवास करूँगा। यदि मुझे भगवान् न बतलाएँगे तो मैं भिक्षुशिक्षाका प्रत्याख्यान कर हीन ( गृहस्थाश्रम ) में लौट जाऊँगा।

मालुंक्यपुत्तने बुद्धसे कहा कि यदि भगवान् उक्त दृष्टियोंको जानते हैं तो मुझे बताएँ। यदि नहीं जानते तो न जानने समझनेके लिए यही सीधी ( बात ) है कि वह ( साफ कह दें ) मैं नहीं जानता। मुझे नहीं मालूम।

बुद्धने कहा—

"क्या मालुंक्यपुत्त, मैंने तुझसे यह कहा था कि—आ मालुंक्यपुत्त, मेरे पास ब्रह्मचर्यवास कर, मैं तुझे बतलाऊँगा लोक शाश्वत है आदि।"

"नहीं भन्ते" मालुंक्यपुत्तने कहा।

"क्या तूने मुझसे यह कहा था—मैं भन्ते, भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्यवास करूँगा, भगवान् मुझे बतलायें लोक शाश्वत है आदि" "नहीं भन्ते"।

"इस प्रकार मालुंक्यपुत्त, न मैंने तुझसे कहा था कि आ·····न तूने मुझसे कहा था कि भंते····। फिर मोघ पुरुष ( फजूलके आदमी ) तू क्या होकर किसका प्रत्याख्यान करेगा?

मालुंक्यपुत्त, जो ऐसा कहे—मैं तब तक भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्यवास न करूँगा जबतक भगवान्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे यह न बतलावें—लोक शाश्वत है आदि, फिर तथागतने तो उन्हें अव्याकृत किया है, और वह ( बीचमें ही ) मर जायगा। जैसा मालुंक्यपुत्त कोई पुरुष गाढ़े लेपवाले विषसे युक्त बाणसे बिंधा हो उसके हित-मित्र भाई-बन्द चिकित्सकको ले आवें और वह ( घायल ) यह कहे कि मैं तबतक इस शल्यको नहीं निकालने दूँगा जबतक अपने बेधनेवाले उस पुरुषको न जान लूँ कि वह ब्राह्मण है ? क्षत्रिय है ? वैश्य है ? शूद्र है ? अमुक नामका, अमुक गोत्रका है ? लम्बा है, नाटा है, मँझोला है ? आदि। जबतक कि उस बेधनेवाले धनुषको न जान लूँ कि चाप है या कोदण्ड। ज्याको न जान लूँ कि वह अर्कको है या सनकी ?''''तो मालुंक्यपुत्त, वह तो अज्ञात ही रह जायँगे और यह पुरुष मर जायगा। ऐसे ही मालुंक्यपुत्त, जो ऐसा कहे मैं तब तक '''और वह मर जायगा। मालुंक्यपुत्त, लोक शाश्वत है। इस दृष्टिके होनेपर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा ? ऐसा नहीं। लोक अशाश्वत है, इस दृष्टिके होनेपर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा ? ऐसा भी नहीं। मालुंक्यपुत्त, चाहे लोक शाश्वत है यह दृष्टि रहे, चाहे लोक अशाश्वत है यह दृष्टि रहे, जन्म है ही, जरा है ही, मरण है ही, शोक रोना कांदना दुःख दौर्मनस्य परेशानी हैं ही, जिनके इसी जन्ममें विघातको मैं बतलाता हूँ।''''''

इसलिये मालुंक्यपुत्त, मेरे अव्याकृतको अव्याकृतके तौरपर धारणकर और मेरे व्याकृतको व्याकृतके तौरपर धारण करें।'[1]

इस संवादसे निम्नलिखित बातें फलित होती हैं—

१—बुद्धने आत्मा लोक परलोक आदि तत्त्वोंकी चर्चामें न अपनेको उलझाया और न शिष्यों को।

२—लोकको चाहे शाश्वत माना जाय या अशाश्वत; उससे ब्रह्मचर्य धारण करनेमें कोई बाधा नहीं है।

३—बुद्धके उपदेशको धारण करनेकी यह शर्त भी नहीं है कि शिष्यको उक्त तत्त्वोंका ज्ञान कराया ही जाय।

४—बुद्धने जिन्हें व्याकृत कहा उन्हें व्याकृत रूपसे और जिन्हें अव्याकृत कहा उन्हें अव्याकृत रूपसे ही धारण करना चाहिए।

## उस समयका वातावरण

आजसे २५००-२६०० वर्ष पहिलेके धार्मिक वातावरणपर निगाह फेंकें तो मालूम होगा कि उस समय लोक परलोक आत्मा आदिके विषयमें मनुष्यकी जिज्ञासा जग चुकी थी। वह अपनी जिज्ञासाको अनुपयोगिताके आवरणमें भीतर ही भीतर मानसिक हीनताका रूप नहीं लेने देना चाहता था। जिन दस प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत रखा, उनका बताना अनुपयोगी कहा, सच पूछा जाय तो धर्म धारण करनेकी आधारभूत बातें वे ही हैं। यदि आत्माके स्वतन्त्र द्रव्य और परलोकगामित्वका विश्वास न हो तो धर्मका आधार ही बदल जाता है। प्रज्ञा पारमिताओंकी परिपूर्णताका क्या अर्थ रह जाता है। 'विश्वके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है ? वह कैसा है ? यह बोध हुए बिना हमारी चर्य्याका संयत रूप ही क्या हो सकता है। यह ठीक है कि इनके वाद-विवादमें मनुष्य न पड़े पर यदि जरा, मरण, वेदना, रोग आदिके आधारभूत आत्माकी ही प्रतीति न हो तो दुष्कर ब्रह्मचर्यवास कौन धारण करे ? बुद्धके समयमें ६ परिव्राजक थे जिनके संघ थे और जिनकी तीर्थंकरके रूपमें प्रसिद्धि थी। सबका अपना तत्त्वज्ञान था। पूर्णकश्यप अक्रियावादी, मक्खलि

१. मज्झिमनिकाय हिन्दी अनुवाद।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोसाल दैववादी, अजितकेश कम्बल जड़वादी, प्रक्रुध कात्यायन अकृततावादी और संजयवेलट्ठिपुत्त अनिश्चयवादी थे।

वेद और उपनिषद्के भी आत्मा परलोक आदिके सम्बन्धमें अपने विविध मतभेद थे। फिर श्रमण-संघमें दीक्षित होनेवाले अनेक भिक्षु उसी औपनिषद् तत्त्वज्ञानके प्रतिनिधि वैदिक वर्गसे भी आए थे। अतः जबतक उनकी जिज्ञासा तृप्त नहीं होगी तबतक वे कैसे अपने पुराने साथियोंके सम्मुख उन्नतशिर होकर अपने नये धर्म धारणकी उपयोगिता सिद्ध कर सकेंगे? अतः व्यावहारिक दृष्टिसे भी इनके स्वरूपका निरूपण करना उचित ही था। तीरसे घायल व्यक्तिका तत्काल तीर निकालना इसलिये प्रथम कर्तव्य है कि उसका असर सीधा शरीर और मनपर हो रहा था। यदि वह विषैला तीर तत्काल नहीं निकाला जाता तो उसकी मृत्यु हो सकती है। पर दीक्षा लेनेके समय तो प्राणोंका अटकाव नहीं है। जब एक तरफ यह घोषणा की है—"परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न त्वादरात्" अर्थात् भिक्षुओ, मेरे वचनोंको अच्छी तरह परीक्षा करके ही ग्रहण करना, मात्र मुझमें आदर होनेके कारण नहीं" तो दूसरी ओर मुद्दोंके प्रश्नोंको अव्याकृत रखकर और उन्हें मात्र श्रद्धासे अव्याकृत रूपमें ही ग्रहण करनेकी बात कहना सुसंगत तो नहीं मालूम होता।

## भगवान् महावीरकी मानस अहिंसा

भगवान् महावीरने यह अच्छी तरह समझा कि जब तक बुनियादी तत्त्वोंका वस्तु स्थितिके आधारसे यथार्थ निरूपण नहीं होगा तब तक संघके पंचमेल व्यक्तियोंका मानस रागद्वेष आदि पक्ष भूमिकासे उठकर तटस्थ अहिंसाकी भूमिपर आ ही नहीं सकता और मानस संतुलनके बिना वचनोंमें तटस्थता और निर्दोषता आना सम्भव ही नहीं। कायिक आचार भले ही हमारा संयत और अहिंसक बन जाय पर इससे आत्मशुद्धि तो हो नहीं सकती, उसके लिए तो मनके विचारोंको और वाणीकी वितण्डा प्रवृत्तिको रास्तेपर लाना ही होगा। इसी विचारसे अनेकान्तदर्शन तथा स्याद्वादका आविर्भाव हुआ। महावीर पूर्ण अहिंसक योगी थे। उनको परिपूर्ण तत्त्वज्ञान था। वे इस बातकी गंभीर आवश्यकता समझते थे कि तत्त्वज्ञानके पायेपर ही अहिंसक आचारका भव्य प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। दृष्टान्तके लिये हम यज्ञहिंसा सम्बन्धी विचारको ही लें। याज्ञिकोंका यह दर्शन था कि—पशुओंकी सृष्टि स्वयम्भूने यज्ञके लिये ही की है, अतः यज्ञमें किया जानेवाल वध वध नहीं है, अवध है। इसमें दो बातें हैं—१—ईश्वरने सृष्टि बनाई है और २—पशु सृष्टियज्ञके लिये ही है। अतः यज्ञमें किया जानेवाला पशुवध विहित है।

इस विचारके सामने जबतक यह सिद्ध नहीं किया जायगा कि सृष्टिकी रचना ईश्वरने नहीं की है किन्तु यह अनादि है। जैसा हमारी आत्मा स्वयंसिद्ध है वैसी ही पशुकी आत्मा भी। जैसे हम जीना चाहते हैं, हमें अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही पशुको भी। इस लोकमें किये गये हिंसा कर्मसे परलोकमें आत्माको नरकादि गतियोंमें दुःख भोगने पड़ते हैं। हिंसासे आत्मा मलिन होती है। यह विश्व अनन्त जीवोंका आवास है। प्रत्येकका अपना स्वतःसिद्ध स्वातन्त्र्य है अतः मन, वचन, कायगत अहिंसक आचार ही विश्वमें शान्ति ला सकता है' तब तक किसी समझदारको यज्ञवधकी निस्सारता, अस्वाभाविकता और पापरूपता कैसे समझमें आ सकती है।

जब शाश्वत-आत्मवादी अपनी सभामें यह उपदेश देता हो कि आत्मा कूटस्थ नित्य है, निर्लेप है, अवध्य है, कोई हिंसक नहीं, हिंसा नहीं। और उच्छेदवादी यह कहता हो कि मरनेपर यह जीव पृथिवी आदि भूतोंसे मिल जाता है, उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता। न परलोक है, न मुक्ति ही। तब आत्मा और परलोकके सम्बन्धमें मौन रखना तथा अहिंसा और दुःख निवृत्तिका उपदेश देना सचमुच बिना नींवके मकान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनानेके समान ही है। जिज्ञासु पहिले यह जानना चाहेगा कि वह आत्मा क्या है जिसे जन्म, जरा, मरण आदि दुःख हैं और जिसे ब्रह्मचर्यवासके द्वारा दुःखोंका नाश करना है? यदि आत्माकी जन्मसे मरण तक ही सत्ता है तो इस जन्मकी चिन्ता ही मुख्य करनी है और यदि आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है तो उसे निर्लिप्त माननेपर ये अज्ञात दुःख आदि कैसे आए?

यही वह पृष्ठभूमि है जिसने भ० महावीरको सर्वाङ्गीण अहिंसाकी साधनाके लिए मानस अहिंसाके जीवन्तरूप अनेकान्त दर्शन और वाचनिक अहिंसाके निर्दुष्ट रूप स्याद्वादकी विवेचनाके लिए प्रेरित किया।

## अनेकान्त दर्शन

अनन्त स्वतन्त्र आत्माएँ, अनन्त पुद्गल परमाणु एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्य कालाणु द्रव्यके समूहको ही लोक या विश्व कहते हैं। इसमें धर्म-अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंका विभाव परिणमन नहीं होता। वे अपने स्वाभाविक परिणमनमें लीन रहते हैं। आत्मा और पुद्गल द्रव्योंके परस्पर संयोग विभागसे ये पर्वत, नदी, पृथिवी आदि उत्पन्न होते रहते हैं। इनका नियन्ता कोई ईश्वर नहीं है। सब अपने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य परिणमनमें अपने-अपने संयोग-वियोगोंके आधारसे नाना आकारोंको धारण करते रहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अनन्त धर्मोंका अविरोधी अखण्ड आधार है। उसके विराट रूपको शब्दोंसे कहना असम्भव है। उस अनन्तधर्मा या अनेकान्त वस्तुके एक-एक धर्मको जानकर और उस अंशग्रहमें पूर्णताका भान करनेवाले ये मतग्रह हैं जो पक्षभेदकी सृष्टि करके राग-द्वेष, संघर्ष, हिंसाको बढ़ा रहे हैं। अतः मानस अहिंसाके लिये वस्तुके 'अनेकान्त' स्वरूप दर्शनकी आवश्यकता है। जब मनुष्य वस्तुके विराट्रूप तथा अपने ज्ञानकी आंशिक गतिको निष्पक्ष भावसे देखेगा तो उसे सहज ही यह भान हुए बगैर नहीं रह सकता कि दूसरोंके ज्ञान भी वस्तुके किसी एक अंशको देख रहे हैं अतः उनकी सहानुभूतिपूर्वक समीक्षा होनी चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र काल, भावकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुके विचार करनेकी पद्धति अनेकान्त दर्शनका ही फल है।

तात्पर्य यह कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने गुण और पर्याय रूपसे परिणमन करता हुआ अनन्त धर्मोंका युगपत् आधार है। हमारा ज्ञान स्वल्प है। हम उसके एक-एक अंशको छूकर उसमें पूर्णताका अहंकार—'ऐसा ही है' न करें, उसमें दूसरे धर्मोंके 'भी' अस्तित्वको स्वीकार करें। यह है वह मानस उच्च भूमिका जिसपर आनेसे मानस राग-द्वेष, अहंकार, पक्षाभिनिवेश, साम्प्रदायिक मताग्रह, हठवाद वितण्डा, संघर्ष, हिंसा, युद्ध आदि नष्ट होकर परसमादर तटस्थता, सहानुभूति, मध्यस्थ भाव, मैत्री-भावना, सहिष्णुता, वीतरागकथा, अन्ततः विनय कृतज्ञता, दया आदि सात्त्विक मानस अहिंसाका उदय होता है। यही अहिंसक तत्त्वज्ञानका फल है। आचार्योंने ज्ञानका उत्कृष्ट फल उपेक्षा-रागद्वेष न होकर मध्यस्थ अनासक्त भावका उदय ही बताया है।

## स्याद्वाद-अमृत भाषा

इस तरह जब मानस अहिंसाकी सात्त्विक भूमिकापर यह मानव आ जाता है तब पशुताका नाश हो जाता है, दानव मानवमें बदल जाता है। तब इसकी वाणीमें तरलता, स्नेह, समादर, नम्रता और निरहंकारता आदि आ जाते हैं। स्पष्ट होकर भी विनम्र और हृदयग्राही होता है। इसी निर्दोष भाषाको स्याद्वाद कहते हैं। स्यात् वाद अर्थात् यह बात स्यात् अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे वाद—कही जा रही है। यह 'स्यात्' शब्द ढुलमुलयकीनी शायद संभवतः कदाचित् जैसे संशयके परिवारसे अत्यन्त दूर है। यह अंश निश्चयका प्रतीक है और भाषाके उस डंकको नष्ट करता है जिसके द्वारा अंशमें पूर्णताका दुराग्रह,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कदाग्रह और हठाग्रह किया जाता है। यह उस सर्वहारा प्रवृत्तिको समाप्त करता है जो अपने हकके सिवाय दूसरोंके श्रम और अस्तित्वको समाप्त करके संघर्ष और हिंसाको जन्म देती है। यह स्याद्वाद अमृत उस महान् अहंकार विषय ज्वरकी परमौषधि है जिसके आवेशमें मानव तनधारी तूफानके बबूलेकी तरह जमीनपर पैर ही नहीं टिकाता और जगत्में शास्त्रार्थवाद विवाद धर्मदिग्विजय मतविस्तार जैसे आवरण लेता है। दूसरोंको बिना समझे ही नास्तिक पशु मिथ्यात्वी अपसद प्राकृत ग्राम्य धृष्ट आदि सभ्य गालियोंसे सन्मानित (?) करता है। 'स्याद्वाद' का 'स्यात्' अपनेमें सुनिश्चित है और महावीरने अपने संघके प्रत्येक सदस्यकी भाषाशुद्धि इसीके द्वारा की। इस तरह अनेकान्त दर्शनके द्वारा मानस शुद्धि और स्याद्वादके द्वारा वचन शुद्धि होनेपर ही अहिंसाके बाह्याचार, ब्रह्मचर्य आदि सजीव हुए, इनमें प्राण आए और मन, वचन और कायके यत्नाचारसे इनकी अप्रमाद परिणतिसे अहिंसा-मन्दिरकी प्राणप्रतिष्ठा हुई। महावीरने बार-बार चेतावनी दी कि—'समयं गोयम मा पमायए'—गौतम, इस आत्ममन्दिरकी प्राणप्रतिष्ठामें क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

## आचारकी परम्पराका मूल्य पाया तत्त्वज्ञान

इस तरह जब तक बुनियादी बातोंका तत्त्वज्ञान न हो तबतक तो केवल सदाचार और नैतिकताका उपदेश सुननेमें सुन्दर लगता है पर वह बुद्धि तर्क जिज्ञासा, मीमांसा समीक्षा और समालोचनाकी तृप्ति नहीं कर सकता। जब तक संघके मानस विकल्प नहीं हटेंगे तब तक वे बौद्धिकहीनता, मानसदीनताके तामस भावोंसे त्राण नहीं पा सकते और चित्तमें यथार्थ निर्वैर वृत्तिका उदय नहीं कर सकते। जिस आत्माके यह सब होता है यदि उसके ही स्वरूपका भान न हो तो मात्र अनुपयोगिताका सामयिक समाधान शिष्योंके मुँहको बन्द नहीं रख सकता। आखिर मालुंक्यपुत्तने बुद्धको साफ-साफ कह दिया कि आप यदि नहीं जानते तो साफ-साफ क्यों नहीं कहते कि मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम।

जिन प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत रखा उनका महावीरने अनेकान्तदृष्टिसे स्याद्वाद भाषामें निरूपण किया[1]। उनने आत्माको द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत, पर्यायदृष्टिसे अशाश्वत बताया। यदि आत्मा कूटस्थ नित्य सदा अपरिवर्तनशील माना जाता तो पुण्य-पाप सब व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि उनका असर आत्मापर तो पड़ेगा नहीं। यदि आत्मा क्षण विनश्वर और धाराविहीन निःसन्तान सर्वथा नवोत्पादवाला है तो भी कृत कर्मकी निष्फलता होती है, परलोक नहीं बनता। अतः द्रव्य-दृष्टिसे धारा-प्रवाही प्रतिक्षण परिवर्तित संस्कारग्राही आत्मामें ही पुण्य-पाप कर्तृत्व सदाचार ब्रह्मचर्यवास आदि सार्थक होते हैं। इसमें न औपनिषदोंकी तरह शाश्वतवादका प्रसंग है और न जड़वादियोंकी तरह उच्छेदवादका डर है और न उसे उभयनिषेधक 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' जैसे विधि-विहीन शब्दसे निर्देश करनेकी ही आवश्यकता है।

यही सब विचारकर भगवान् महावीरने लोक-परलोक, आत्मा आदि सभी पदार्थोंका अनेकान्तदृष्टिसे पूर्ण विचार किया और स्याद्वादवाणीसे उसके निरूपणका निर्दोष प्रकार बताया। यह जैनदर्शनकी पृष्ठभूमि है जिसपर उत्तरकालीन आचार्योंने शतावधि ग्रन्थोंकी रचना करके भारतीय साहित्यागारको आलोकित किया। अकेले 'स्याद्वाद' पर ही बीसों छोटे-मोटे ग्रन्थ लिखे गये हैं। इस अनेकान्तके विशाल सागर में सब एकान्त समा जाते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकरके शब्दोंमें ये स्याद्वादमय जिन वचन मिथ्यादर्शनके समूह रूप हैं। इसमें समस्त मिथ्यादृष्टियाँ अपनी-अपनी अपेक्षासे विराजमान हैं। और अमृतसार या अमृतस्वादु हैं। वे तटस्थ वृत्तिवाले संविग्न जीवोंको अतिशय सुखदायक हैं। वे जगत् का कल्याण करें—

"भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स॥"

१. देखो, प्रो० दलसुख मालवणिया लिखित जैन तर्कवार्तिक की प्रस्तावना।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकान्तदर्शन का सांस्कृतिक आधार

भारतीय विचार परम्परामें स्पष्टतः दो धाराएँ हैं। एक धारा वेदको प्रमाण माननेवाले वैदिक दर्शनोंकी है और दूसरी वेदको प्रमाण न मानकर पुरुषानुभव या पुरुषसाक्षात्कारको प्रमाण माननेवाले श्रमण सन्तों की। यद्यपि चार्वाकदर्शन भी वेदको प्रमाण नहीं मानता किन्तु उसने आत्माका अस्तित्व जन्मसे मरण पर्यन्त ही स्वीकार किया है। उसने परलोक, पुण्य-पाप-मोक्ष जैसे आत्मप्रतिष्ठित तत्त्वोंकी तथा आत्मसंशोधक चारित्र आदिकी उपयोगिता स्वीकृत नहीं की है अतः अवैदिक होकर भी वह श्रमणधारामें सम्मिलित नहीं किया जा सकता। श्रमणधारा वैदिक परम्पराको न मानकर भी आत्मा, जड़भिन्न ज्ञानसन्तान, पुण्य-पाप, परलोक, निर्वाण आदिमें विश्वास रखती है अतः पाणिनिकी परिभाषाके अनुसार आस्तिक है। वेदको या ईश्वरको जगत्कर्त्ता न माननेके कारण श्रमणधाराको नास्तिक कहना उचित नहीं है, क्योंकि किसी एक परम्पराको न माननेके कारण यदि श्रमण नास्तिक कहे जाते हैं तो श्रमणपरम्पराको न माननेके कारण वैदिक भी मिथ्यादृष्टि आदि विशेषणोंसे पुकारे जा सकते हैं।

श्रमणधाराका सारा तत्त्वज्ञान या दर्शन विस्तार जीवनशोधन या चारित्रवृद्धिके लिए हुआ था। वैदिक परम्परामें तत्त्वज्ञानको ही मुक्तिका साधन माना है जबकि श्रमणधारामें चारित्रको। वैदिक परम्परा वैराग्य आदिसे ज्ञानको पुष्ट करती है और विचारशुद्धि करके मोक्ष मान लेती है जबकि श्रमणपरम्परा कहती है कि उस ज्ञान या विचारका कोई मूल्य नहीं जो जीवनमें न उतरे। जिसकी सुवाससे जीवन सुवासित न हो। वह ज्ञान या विचार मस्तिष्कके व्यायामसे अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं रखते। जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका आद्य सूत्र है—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" (तत्त्वार्थसूत्र १।१) अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी आत्मपरिणति मोक्षका मार्ग है। यहाँ मोक्षका साक्षात् कारण चारित्र है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो उस चारित्रके परिपोषक हैं। बौद्ध परम्पराका अष्टाङ्ग मार्ग भी चारित्रका ही विस्तार है। तात्पर्य यह कि श्रमणधारामें ज्ञानकी अपेक्षा चारित्रका ही अन्तिम महत्त्व रहा है और प्रत्येक विचार और ज्ञानका उपयोग चारित्र अर्थात् आत्मशोधन या जीवनमें सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिए किया गया है। श्रमणसन्तोंने तप और साधनाके द्वारा वीतरागता प्राप्त की और उसी परमवीतरागता समता या अहिंसाकी उत्कृष्ट ज्योतिको विश्वमें प्रचारित करनेके लिए विश्वतत्त्वोंका साक्षात्कार किया। इनका साध्य विचार नहीं, आचार था, ज्ञान नहीं, चारित्र था, वाग्विलास या शास्त्रार्थ नहीं, जीवन शुद्धि और संवाद था। अहिंसाका अन्तिम अर्थ है जीवमात्रमें—चाहे वह स्थावर हो या जंगम, पशु हो या मनुष्य, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय या शूद्र, गोरा हो या काला, एतद्देशीय हो या विदेशी—देश काल शरीराकारके आवरणोंसे परे होकर समत्वदर्शन। प्रत्येक जीव स्वरूपसे चैतन्यशक्तिका अखण्ड शाश्वत आधार है। कर्म या वासनाओंके कारण वृक्ष, कीड़ा-मकोड़ा, पशु और मनुष्य आदि शरीरोंको धारण करता है पर अखण्ड चैतन्यका एक भी अंश उसका नष्ट नहीं होता वह वासना या राग द्वेषादिके द्वारा विकृत अवश्य हो जाता है। मनुष्य अपने देश-काल आदि निमित्तोंसे गोरे या काले किसी भी शरीरको धारण किए हो, अपनी वृत्ति या कर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किसी भी श्रेणीमें उसकी गणना व्यवहारमें की जाती हो, किसी भी देशमें उत्पन्न हुआ हो, किसी भी सन्तका उपासक हो, वह इन व्यावहारिक निमित्तोंसे ऊँच या नीच नहीं हो सकता। किसी वर्ण विशेषमें उत्पन्न होनेके कारण ही वह धर्मका ठेकेदार नहीं बन सकता। मानवमात्रके मूलतः समान अधिकार हैं। न केवल मानवके किन्तु पशु, कीड़े-मकोड़े, वृक्ष आदि प्राणियोंके भी। अमुक-प्रकारकी आजीविका या व्यापारके कारण वह किसी मानवाधिकारसे वंचित नहीं हो सकता। यह मानवसमत्वभावना या प्राणिमात्र-समताकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्कृष्ट सत्त्वमैत्री अहिंसाके विकसित रूप हैं। श्रमणसन्तोंने यही कहा कि एक मनुष्य किसी भूखण्डपर या अन्य भौतिक साधनोंपर अधिकार कर लेनेके कारण जगत्में महान् एतावता दूसरोंके निर्दलनका जन्मसिद्ध अधिकारी नहीं हो सकता। किसी वर्णविशेषमें उत्पन्न होनेके कारण दूसरोंका शासक या धर्मका ठेकेदार नहीं हो सकता। भौतिक साधनोंकी प्रतिष्ठा बाह्यमें कदाचित् हो भी पर धर्मक्षेत्रमें प्राणिमात्रको एक ही भूमिपर बैठना होगा, हरएक प्राणीको धर्मकी शीतल छायामें समान भावसे सन्तोषकी साँस लेनेका सुअवसर है। व्यक्ति आत्मसमत्व, वीतरागत्व या अहिंसाके विकाससे महान् हो सकता है न कि जगत्में विषमता फैलानेवाले हिंसक परिग्रहके संग्रहसे। आदर्श त्याग है न कि संग्रह। इस तरह जाति, वर्ण, रंग, देश, आकार, परिग्रहसंग्रह आदि विषमतम और संघर्षके कारणोंसे परे होकर प्राणिमात्रको समत्व, अहिंसा और वीतरागताका पावन सन्देश इन श्रमणसन्तोंने उस समय दिया जब यज्ञ आदि क्रियाकाण्ड एक वर्गविशेषकी जीविकाके साधन बने हुए थे। स्वर्गके टिकिट कुछ गाय, सोना और स्त्रियोंकी दक्षिणासे प्राप्त हो जाते थे, धर्मके नामपर गोमेध, अजामेध क्वचित् नरमेध तकका खुला बाजार था, जातिगत उच्चत्व, नीचत्वका विष समाजशरीरको दग्ध कर रहा था, अनेक प्रकारसे सत्ताको हथियानेके षड्यन्त्र चालू थे। उस दबैर युगमें मानवसमत्व या प्राणिमैत्रीका उदारतम सन्देश इन युगधर्मी सन्तोंने नास्तिकताका मिथ्या लांछन सहते हुए भी दिया और भ्रान्त जनताको सच्ची समाज-रचनाका मूलमन्त्र बताया।

पर, यह अनुभवसिद्ध बात है कि अहिंसाकी स्थायी प्रतिष्ठा मनःशुद्धि और वचनशुद्धिके बिना नहीं हो सकती। हम भले ही शरीरसे दूसरे प्राणियोंकी हिंसा न करें पर यदि वचनव्यवहार और चित्तगत विचार विषम या विसंवादी हैं तो कायिक अहिंसा पल ही नहीं सकती। अपने विचार अर्थात् मतको पुष्ट करनेके लिए ऊँच-नीच शब्द बोले जायँगे और फलतः हाथापाईका अवसर आए बिना न रहेगा। भारतीय शास्त्रार्थोंका इतिहास अनेक हिंसाकाण्डोंके खूनी पन्नोंसे रँगा हुआ है। अतः यह आवश्यक था कि अहिंसाकी सर्वाङ्गीण प्रतिष्ठाके लिए विश्वका यथार्थ तत्त्वज्ञान हो और विचारशुद्धिमूलक वचनशुद्धिकी जीवनव्यवहारमें प्रतिष्ठा हो। यह संभव ही नहीं है कि एक वस्तुके सम्बन्धमें परस्पर विरोधी मतवाद चलते रहें, अपने पक्षके समर्थनके लिए उचित, अनुचित शास्त्रार्थ होते रहें, पक्षप्रतिपक्षोंका संगठन हो, शास्त्रार्थमें हारनेवालेको तेलकी जलती कड़ाहीमें जीवित तल देने जैसी हिंसक होड़ें भी लगें, फिर भी परस्पर अहिंसा कायम रहे!

भगवान् महावीर एक परम अहिंसक सन्त थे। उनने देखा कि आजका सारा राजकारण धर्म और मतवादियोंके हाथमें है। जबतक इन मतवादोंका वस्तुस्थितिके आधारसे समन्वय न होगा तबतक हिंसाकी जड़ नहीं कट सकती। उनने विश्वके तत्त्वोंका साक्षात्कार किया और बताया कि विश्वका प्रत्येक चेतन और जड़ तत्त्व अनन्तधर्मोंका भण्डार है। उसके विराट् स्वरूपको साधारण मानव परिपूर्णरूपमें नहीं जान सकता। उसका क्षुद्रज्ञान वस्तुके एक-एक अंशको जानकर अपनेमें पूर्णताका दुरभिमान कर बैठा है। विवाद वस्तुमें नहीं है, विवाद तो देखनेवालोंकी दृष्टिमें है। काश, ये वस्तुके विराट् अनन्तधर्मात्मक या अनेकान्तात्मक स्वरूप की झाँकी पा सकते। उनने इस अनेकान्तात्मक तत्त्वज्ञानकी ओर मतवादियोंका ध्यान खींचा और बताया कि देखो, प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण पर्याय और धर्मोंका अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनाद्यनन्त सन्तानस्थितिकी दृष्टिसे नित्य है, कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जब विश्वके रङ्गमञ्चसे एक कणका भी समूल विनाश हो जाय। साथ ही प्रतिक्षण उसकी पर्यायें बदल रही हैं, उसके गुण-धर्मोंमें सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है। अतः वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्त गुण, शक्ति, पर्याय और धर्म प्रत्येक वस्तुकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निजी सम्पत्ति हैं। इनमेंसे हमारा स्वल्प ज्ञानबल एक-एक अंशको विषय करके क्षुद्र मतवादोंकी सृष्टि कर रहा है। आत्माको नित्य सिद्ध करनेवालोंका पक्ष अपनी सारी शक्ति आत्माको अनित्य सिद्ध करनेवालोंकी उखाड़पछाड़में लगा रहा है तो अनित्यवादियोंका गुट नित्यवादियोंको भला-बुरा कह रहा है। महावीरको इन मतवादियोंकी बुद्धि और वृत्तिपर तरस आता था। वे बुद्धकी तरह आत्मनित्यत्व और अनित्यत्व, परलोक और निर्वाण आदिको अव्याकृत कहकर बौद्धिक तमकी सृष्टि नहीं करना चाहते थे। उनने इन सभी तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप बताकर शिष्योंको प्रकाशमें लाकर उन्हें मानससमताकी समभूमिपर ला दिया। उनने बताया कि वस्तुको तुम जिस दृष्टिकोणसे देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है उसमें ऐसे अनन्त दृष्टिकोणोंसे देखे जानेकी क्षमता है, उसका विराट् स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है उसका ईमानदारीसे विचार करो वह भी वस्तुमें विद्यमान है। चित्तसे पक्षपातकी दुरभिसन्धि निकालो और दूसरेके दृष्टिकोणको भी उतनी ही प्रामाणिकतासे वस्तुमें खोजो वह वहीं लहरा रहा है। हाँ, वस्तुकी सीमा और मर्यादाका उल्लंघन नहीं होना चाहिए। तुम चाहो कि जड़में चेतनत्व खोजा जाय या चेतनमें जड़त्व, तो नहीं मिल सकता। क्योंकि प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने निजी धर्म निश्चित हैं। मैं प्रत्येक वस्तुको अनन्तधर्मात्मक कह रहा हूँ, सर्वधर्मात्मक नहीं। अनन्त धर्मोंमें चेतनके संभव अनन्त धर्म चेतनमें मिलेंगे तथा अचेतनगत संभव धर्म अचेतनमें। चेतनके गुणधर्म अचेतनमें नहीं पाए जा सकते और न अचेतनके चेतनमें। हाँ, कुछ ऐसे सामान्य धर्म भी हैं जो चेतन और अचेतन दोनोंमें साधारण रूपसे पाए जाते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तुमें बहुत गुंजाइश है। वह इतनी विराट् है जो हमारे, तुम्हारे अनन्त दृष्टिकोणोंसे देखी और जानी जा सकती है। एक क्षुद्र-दृष्टिके आग्रहपूर्वक दूसरेकी दृष्टिका तिरस्कार करना या अपनी दृष्टिका अहंकार करना वस्तुके स्वरूपकी नासमझीका परिणाम है। हरिभद्रसूरिने लिखा है कि—

"आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्रयत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥"

अर्थात् आग्रही व्यक्ति अपने मतपोषणके लिए युक्तियाँ ढूँढ़ता है, युक्तियोंको अपने मतकी ओर ले जाता है पर पक्षरहित मध्यस्थ व्यक्ति युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूप को स्वीकार करनेमें अपनी मतिकी सफलता मानता है। अनेकान्त दर्शन भी यही सिखाता है कि युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूपकी ओर अपने मतको लगाओ न कि अपने निश्चित मतकी ओर वस्तु और युक्तिकी खींचातानी करके उन्हें बिगाड़नेका दुष्प्रयास करो, और न कल्पनाकी उड़ान इतनी लम्बी लो जो वस्तुकी सीमाको ही लाँघ जाय। तात्पर्य यह कि मानस समताके लिए यह वस्तुस्थितिमूलक अनेकान्त तत्त्वज्ञान अत्यावश्यक है। इसके द्वारा इस नरतनधारीको ज्ञात हो सकेगा कि वह कितने पानीमें है, उसका ज्ञान कितना स्वल्प है, और वह किस दुरभिमानसे हिंसक मतवादका सर्जन करके मानवसमाजका अहित कर रहा है। इस मानस अहिंसात्मक अनेकान्त दर्शनसे विचारोंमें या दृष्टिकोणोंमें कामचलाऊ समन्वय या ढीला-ढीला समझौता नहीं होता किन्तु वस्तुस्वरूपके आधारसे यथार्थ तत्त्वज्ञानमूलक समन्वयदृष्टि प्राप्त होती है।

डॉ० सर राधाकृष्णन् इंडियन फिलासफी (जिल्द १, पृ० ३०५–६) में स्याद्वादके ऊपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि—"इससे हमें केवल आपेक्षिक अथवा अर्धसत्यका ही ज्ञान हो सकता है, स्याद्वादसे हम पूर्ण सत्यको नहीं जान सकते। दूसरे शब्दोंमें—स्याद्वाद हमें अर्धसत्योंके पास लाकर पटक देता है और इन्हीं अर्धसत्योंको पूर्णसत्य मान लेनेको प्रेरणा करता है, परन्तु केवल निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्योंको मिलाकर एकसाथ रख देनेसे वह पूर्णसत्य नहीं कहा जा सकता। आदि।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या सर राधाकृष्णन् यह बतानेकी कृपा करेंगे कि स्याद्वादने निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्योंको पूर्ण-सत्य माननेकी प्रेरणा कैसे की है ? हाँ, वह वेदान्तकी तरह चेतन और अचेतनके काल्पनिक अभेदकी दिमागी दौड़में अवश्य शामिल नहीं हुआ, और न वह किसी ऐसे सिद्धान्तका समन्वय करनेकी सलाह देता है जिसमें वस्तुस्थितिकी उपेक्षा की गई हो। सर राधाकृष्णन्को पूर्णसत्य वह काल्पनिक अभेद या ब्रह्म इष्ट है जिसमें चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त सभी काल्पनिक रीतिसे समा जाते हैं। वे स्याद्वादको समन्वयदृष्टिको अर्धसत्योंके पास लाकर पटकना समझते हैं। पर जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः अनन्तधर्मात्मक है तब उस वास्तविक नतीजे-पर पहुँचने को अर्धसत्य कैसे कह सकते हैं। हाँ, वह उस प्रमाण-विरुद्ध काल्पनिक अभेदकी ओर वस्तुस्थिति-मूलक दृष्टिसे नहीं ले जा सकता। वैसे संग्रहनयकी एक चरम अभेदकी कल्पना जैनदर्शनकारोंने भी की है और उस परमसंग्रहनयकी अभेददृष्टिसे बताया है कि 'सर्वमेकं सदविशेषात्' अर्थात् जगत् एक है, सद्रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है। पर यह एक कल्पना है क्योंकि ऐसा एक सत् नहीं है जो प्रत्येक मौलिक द्रव्यमें अनुगत रहता हो। अतः यदि सर राधाकृष्णन्को चरम अभेदकी कल्पना ही देखनी हो तो वे परमसंग्रहनयके दृष्टिकोणमें देख सकते हैं, पर वह केवल कल्पना होगी, वस्तुस्थिति नहीं। पूर्णसत्य तो वस्तुका अनेकान्तात्मक रूपसे दर्शन ही है न कि काल्पनिक अभेदका दर्शन।

इसी तरह प्रो० बलदेव उपाध्याय इस स्याद्वादसे प्रभावित होकर भी सर राधाकृष्णन्का अनुसरण-कर स्याद्वादको मूलभूततत्त्व ( एक ब्रह्म ? ) के स्वरूपकके समझनेमें नितान्त असमर्थ बतानेका साहस करते हैं। इतने तो यहाँ तक लिख दिया है ( भारतीय दर्शन, पृ० १७३ ) कि "इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थके बीचोंबीच तत्त्वविचारको कतिपय क्षणके लिए विलम्ब तथा विराम देनेवाले विश्रामगृहसे बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।" आप चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शनको उस काल्पनिक अभेद तक पहुँचना चाहिए। पर स्याद्वाद जब वस्तु विचार कर रहा है तब वह परमार्थ सत् वस्तुकी सीमाको कैसे लाँघ सकता है ? ब्रह्माद्वैतवाद न केवल युक्तिविरुद्ध ही है पर आजके विज्ञानसे उसके एकीकरणका कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नहीं होता। विज्ञानने एटमतक विश्लेषण किया है और प्रत्येककी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। अतः वस्तुकी अनेकान्तात्मक सीमापर पहुँचाकर यदि स्याद्वाद बुद्धिको विराम देता है तो यह उसका भूषण ही है। दिमागी अभेदसे वास्तविक स्थितिकी उपेक्षा करना मनोरञ्जनसे अधिक महत्त्वकी बात नहीं हो सकती।

इसी तरह श्रीयुत हनुमन्तराव एम० ए० ने अपने एक लेखमें लिखा है कि स्याद्वाद सरल समझौतेका मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्णसत्यतक नहीं ले जाता आदि। ये सब एकही प्रकारके विचार हैं, जो स्याद्वादके स्वरूपको न समझनेके या वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेके परिणाम हैं। मैं पहिले लिख चुका हूँ कि महावीरने देखा कि—वस्तु तो अपने स्थानपर अपने विराट् रूपमें प्रतिष्ठित है उसमें अनन्तधर्म जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते हैं, अविरुद्ध भावसे विद्यमान हैं, पर हमलोगों की दृष्टिमें विरोध होनेसे उसकी यथार्थ स्थितिको नहीं समझ पा रहे हैं। जैनदर्शन वास्तवमें बहुत्ववादी है। वह दो पृथक् सत्ता वस्तुओंको व्यव-हारके लिए कल्पनासे अभिन्न कह भी दे पर वस्तुकी निजी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहता। जैन-दर्शन एक व्यक्तिका अपने गुण-पर्यायोंसे वास्तविक अभेद मानता है पर दो व्यक्तियोंमें अवास्तविक अभेद-को नहीं मानता। इस दर्शनकी यही विशेषता है जो यह परमार्थसत् वस्तुको परिधिको नहीं लाँघकर उसकी सीमामें ही विचार करता है। और मनुष्योंको कल्पनाको उड़ानसे विरतकर वस्तुकी ओर देखनेको बाध्य करता है। जिस चरम अभेदतक न पहुँचनेके कारण अनेकान्तदर्शनको सर राधाकृष्णन् जैसे विचारक अर्धसत्यों का समुदाय कहते हैं उस चरम अभेदको भी अनेकान्तदर्शन एक-व्यक्तिका एक धर्म मानता है वह उन अभेद कल्पकोंको कहता है कि वस्तु इससे भी बड़ी है अभेद तो उसका एक धर्म है। दृष्टिको और उदार तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशाल करके वस्तुके पूर्णरूपको देखो उसमें अभेद एक कोनेमें पड़ा होगा और अभेदके अनन्तों भाई-बन्धु उसमें तादात्म्य हो रहे होंगे। अतः इन ज्ञानलवधारियोंको उदारदृष्टि देनेवाले तथा वस्तुकी झाँकी दिखानेवाले अनेकान्त दर्शनने वास्तविक विचारकी अन्तिम रेखा खींची है। और यह सब हुआ है मानस समतामूलक तत्त्वज्ञानकी खोजमें। जब इस प्रकार वस्तुस्थिति ही अनेकान्तमयी या अनन्तधर्मात्मिका है तब सहज ही मनुष्य यह सोचने लगता है कि दूसरा वादी जो कह रहा है उसकी सहानुभूतिसे समीक्षा होनी चाहिए और वस्तुस्थितिमूलक समीकरण होना चाहिए। इस स्वीयस्वल्पता और वस्तु-अनन्तधर्मताके वातावरणसे निरर्थक कल्पनाओंका जाल टूटेगा और अहंकारका विनाश होकर मानससमताकी सृष्टि होगी, जो अहिंसाका संजीवन-बीज होगा।

इस तरह मानससमताके लिए अनेकान्तदर्शन ही एकमात्र स्थिर आधार हो सकता है। जब अनेकान्त-दर्शनसे विचारशुद्धि हो जाती है तब स्वभावतः वाणीमें नम्रता और परसमन्वयकी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। वह वस्तुस्थितिको उल्लंघन करनेवाले शब्दका प्रयोग ही नहीं कर सकता। इसीलिए जैनाचार्योंने वस्तुकी अनेकधर्मात्मकताका द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता बताई है। शब्दोंमें यह सामर्थ्य नहीं है जो वस्तुके पूर्णरूपको युगपत् कह सके। वह एक समयमें एक ही धर्मको कह सकता है। अतः उसी समय वस्तुमें विद्यमान शेष धर्मोंकी सत्ताका सूचन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' के 'सुनिश्चित दृष्टिकोण', 'निर्णीत अपेक्षा' ये ही अर्थ हैं 'शायद, संभव, कदाचित्' आदि नहीं। 'स्यादस्ति' का वाच्यार्थ है 'स्वरूपादिकी अपेक्षासे वस्तु है ही' न कि 'शायद है' 'संभव है' या 'कदाचित् है' आदि। संक्षेपतः अनेकान्तदर्शन जहाँ चित्तमें समता, मध्यस्थभाव, वीतरागता, निष्पक्षपातताका उदय करता है वहाँ स्याद्वाद वाणीमें निर्दोषता लानेका पूरा अवसर देता है। इस तरह अहिंसाकी परिपूर्णता और स्थायिताकी प्रेरणाने मानसशुद्धिके लिए अनेकान्तदर्शन और वचनशुद्धिके लिए स्याद्वाद जैसी निधियोंको भारतीय संस्कृतिके कोषागारमें दिया। बोलते समय वक्ताको सदा यह ध्यान रहना चाहिए कि जो वह बोल रहा है वस्तु उतनी ही नहीं है वस्तु बहुत बड़ी है उसके पूर्णरूपतक शब्द नहीं पहुँच सकते। इसी भावको जतानेके लिए वक्ता 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करता है। 'स्यात्' यह शब्द विधिलिङ्में निष्पन्न होता है जो अपने वक्तव्यको निश्चित रूपमें उपस्थित करता है न कि संशय रूपमें। जैन तीर्थंकरोंने इस तरह सर्वाङ्गीण अहिंसाकी साधनाका वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकारका प्रत्यक्षानुभूत मार्ग बताया। उनने पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही साथ पदार्थोंके देखनेका, उनके ज्ञान करनेका, उनके स्वरूपको वचन से कहनेका नया वस्तुस्पर्शी तरीका बताया। इस अहिंसक दृष्टिसे यदि भारतीय दर्शनकारोंने वस्तुका निरीक्षण किया होता तो भारतीय जल्पकथाका इतिहास रक्तरंजित न हुआ होता, और धर्म तथा दर्शनके नाम पर मानवताका निर्दलन नहीं होता। पर अहंकार और शासनभावना मानवको दानव बना देती है। फिर धर्म और सतका 'अहम्' अतिदुर्निवार होता है। परन्तु युगयुगमें ऐसे ही दानवोंको मानव बनानेके ही लिए अहिंसक सन्त इसी समन्वयदृष्टि, इसी समताभाव और इसी सर्वाङ्गीण अहिंसाका सन्देश देते आए हैं। यह जैनदर्शनकी विशेषता है। जो वह अहिंसाकी तह पहुँचनेके लिए केवल धार्मिक उपदेश तक ही सीमित नहीं रहा अपितु वास्तविक स्थितिके आधारसे दार्शनिक गुत्थियोंको सुलझाने की मौलिकदृष्टि भी खोज सका। न केवल दृष्टि ही किन्तु मन, वचन और काय तीनों द्वारोंसे होनेवाली हिंसाको रोकनेका प्रशस्ततम मार्ग भी उपस्थित कर सका।

आज डॉ० भगवानदासजी जैसे मनीषी समन्वय और सब धर्मोंकी मौलिक एकताकी आवाज बुलन्द कर रहे हैं। वे वर्षोंसे कह रहे हैं कि समन्वयदृष्टि प्राप्त हुए बिना स्वराज्य स्थायी नहीं हो सकता, मानव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानव नहीं रह सकता। उन्होंने अपने 'समन्वय' और 'दर्शनका प्रयोजन' आदि ग्रन्थोंमें इसी समन्वयतत्त्वका भूरि-भूरि प्रतिपादन किया है। जैन ऋषियोंने इस समन्वय ( स्याद्वाद ) सिद्धान्त पर ही संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। इनका विश्वास है कि जबतक दृष्टिमें समीचीनता नहीं आयगी तबतक झगड़े और संघर्ष बने रहेंगे। नये दृष्टिकोणसे वस्तुस्थितितक पहुँचना ही जीवको विसंवादसे हटाकर उसे संवादी बना सकता है। यही जैनदर्शनकी भारतीय संस्कृतिको देन है। आज हमें जो स्वातन्त्र्यके दर्शन हुए वह इसी अहिंसाका पुण्य फल है, और विश्वमें भारतका मस्तक यदि कोई ऊँचा रख सकता है तो यह निरुपाधि अहिंसा भावना ही।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# क्या स्याद्वाद अनिश्चयवाद है ?

[ महापंडित राहुल सांकृत्यायन लिखित 'दर्शन-दिग्दर्शन' की एक समीक्षा ]

जैनदर्शनने सामान्यरूपसे यावत् सत्को परिणामीनित्य माना है। प्रत्येक सत् अनन्तधर्मात्मक है। उसका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है। अनेकान्तात्मक अर्थका निर्दोष रूपसे कथन करनेवाली भाषा स्याद्वाद रूप होती है। उसमें जिस धर्मका निरूपण होता है उसके साथ 'स्यात्' शब्द इसलिए लगा दिया जाता है जिससे पूरी वस्तु धर्मरूप न समझ ली जाय। अविवक्षित शेष धर्मोंका अस्तित्व भी उसमें है यह प्रतिपादन 'स्यात्' शब्दसे होता है।

स्याद्वादका अर्थ है—स्यात्–अमुक निश्चित अपेक्षासे। अमुक निश्चित अपेक्षासे घट अस्ति ही है और अमुक निश्चित अपेक्षासे घट नास्ति ही है। स्यात्का अर्थ न शायद है, न सम्भवतः और न कदाचित् ही। 'स्यात्' शब्द सुनिश्चित दृष्टिकोणका प्रतीक है। इस शब्दके अर्थको पुराने मतवादी दार्शनिकोंने ईमानदारीसे समझनेका प्रयास तो नहीं ही किया था, किन्तु आज भी वैज्ञानिक दृष्टिकी दुहाई देनेवाले दर्शन-लेखक उसी भ्रान्त परम्पराका पोषण करते आते हैं।

स्याद्वाद—सुनयका निरूपण करनेवाली भाषापद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चितरूपसे बताता है कि वस्तु केवल धर्मवाली ही नहीं है उसमें इसके अतिरिक्त भी धर्म विद्यमान हैं। तात्पर्य यह कि—अविवक्षित शेष धर्मोंका प्रतिनिधित्व 'स्यात्' शब्द करता है। 'रूपवान् घटः' यह वाक्य भी अपने भीतर 'स्यात्' शब्दको छिपाए हुए है। इसका अर्थ है कि 'स्यात् रूपवान् घटः' अर्थात् चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य होनेसे या रूप गुणकी सत्ता होनेसे घड़ा रूपवान् है, पर रूपवान् ही नहीं है उसमें रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनेक गुण, छोटा, बड़ा आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं। इन अविवक्षित गुणधर्मोंके अस्तित्वकी रक्षा करनेवाला 'स्यात्' शब्द है। 'स्यात्' का अर्थ शायद या सम्भावना नहीं है किन्तु निश्चय है। अर्थात् घड़ेमें रूपके अस्तित्वकी सूचना तो रूपवान् शब्द दे ही रहा है। पर उन उपेक्षित शेष धर्मोंके अस्तित्वकी सूचना 'स्यात्' शब्दसे होती है। सारांश यह कि 'स्यात्' शब्द 'रूपवान् के साथ नहीं जुटता है, किन्तु अविवक्षित धर्मोंके साथ। वह 'रूपवान्' को पूरी वस्तु पर अधिकार जमानेसे रोकता है और कह देता है कि वस्तु बहुत बड़ी है उसमें रूप भी एक है। ऐसे अनन्त गुणधर्म वस्तुमें लहरा रहे हैं। अभी रूपकी विवक्षा या उसपर दृष्टि होनेसे वह सामने है या शब्दसे उच्चरित हो रहा है सो वह मुख्य हो सकता है पर वही सबकुछ नहीं है। दूसरे क्षणमें रसकी मुख्यता होनेपर रूप गौण हो जायगा और वह अविवक्षित शेष धर्मोंकी राशिमें शामिल हो जायगा।

'स्यात्' शब्द एक प्रहरी है, जो उच्चरित धर्मको इधर-उधर नहीं जाने देता। वह उन अविवक्षित धर्मोंका संरक्षक है। इसलिए 'रूपवान्' के साथ 'स्यात्' शब्दका अन्वय करके जो लोग घड़ेमें रूपकी भी स्थितिको स्यात्का शायद या सम्भावना अर्थ करके सन्दिग्ध बनाना चाहते हैं वे भ्रममें हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घटः' वाक्यमें 'घटः अस्ति' यह अस्तित्व अंश घटमें सुनिश्चितरूपसे विद्यमान है। स्यात् शब्द उस अस्तित्वकी स्थिति कमजोर नहीं बनाता किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थितिकी सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मोंके सद्भावको सूचित करता है। सारांश यह कि 'स्यात्' पद एक स्वतन्त्र पद है जो वस्तुके शेषांश-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं अस्ति नामका धर्म, जिसे शब्दसे उच्चारित होनेके कारण प्रमुखता मिली है, पूरी वस्तुको न हड़प जाय, अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियोंके स्थानको समाप्त न कर दे। इसलिए वह प्रतिवाक्यमें चेतावनी देता रहता है कि—हे भाई अस्ति, तुम वस्तुके एक अंश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयोंके हकको हड़पनेकी चेष्टा नहीं करना। इस भयका कारण है—'नित्य ही है, अनित्य ही है' आदि अंशवाक्योंने अपना पूर्ण अधिकार वस्तुपर जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत्में अनेक तरहसे वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं। इनके फलस्वरूप पदार्थके साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद-प्रतिवादने अनेक मतवादोंकी सृष्टि करके अहंकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, परमतासहिष्णुता आदिसे विश्वको अशान्त और आकुलतामय बना दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्यके उस जहरको निकाल देता है जिससे अहंकारका सर्जन होता है और वस्तुके अन्य धर्मोंके सद्भावसे इनकार करके पदार्थके साथ अन्याय होता है।

'स्यात्' शब्द एक निश्चित अपेक्षाको द्योतन करके जहाँ 'अस्तित्व' धर्मकी स्थिति सुदृढ़ और सहेतुक बनाता है वहाँ उसकी उस सर्वंहारा प्रवृत्तिको भी नष्ट करता है जिससे वह पूरी वस्तुका मालिक बनना चाहता है। वह न्यायाधीशकी तरह तुरन्त कह देता है कि—हे अस्ति, तुम अपने अधिकारकी सीमाको समझो। स्वद्रव्य-क्षेत्रकाल-भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार तुम घटमें रहते हो उसी तरह परद्रव्यादिकी अपेक्षा 'नास्ति' नामका तुम्हारा भाई भी उसी घटमें है। इसी प्रकार घटका परिवार बहुत बड़ा है। अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है, इसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुमसे काम है, तुम्हारा प्रयोजन है, तुम्हारी विवक्षा है। अतः इस समय तुम मुख्य हो। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि—तुम अपने समानाधिकारी भाइयोंके सद्भावको भी नष्ट करनेका दुष्प्रयास करो। वास्तविक बात तो यह है कि यदि 'पर' की अपेक्षा 'नास्ति' धर्म न हो तो जिस घड़ेमें तुम रहते हो वह घड़ा घड़ा ही न रहेगा, कपड़ा आदि पररूप हो जायगा। अतः जैसी तुम्हारी स्थिति है वैसी ही पररूपकी अपेक्षा 'नास्ति' धर्मकी भी स्थिति है। तुम उनको हिंसा न कर सको इसके लिए अहिंसाका प्रतीक 'स्यात्' शब्द तुमसे पहिले ही वाक्यमें लगा दिया जाता है। भाई अस्ति, यह तुम्हारा दोष नहीं है। तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि अनन्त भाइयोंको वस्तुमें रहने देते हो और बड़े प्रेमसे सबके सब अनन्त धर्मभाई हिलमिलकर रहते हो पर इन वस्तुदर्शियोंकी दृष्टिको क्या कहा जाय! इनकी दृष्टि ही एकांगी है। ये शब्दके द्वारा तुममेंसे किसी एक 'अस्ति' आदिको मुख्य करके उसकी स्थिति इतनी अहंकारपूर्ण कर देना चाहते हैं जिससे वह 'नास्ति' अन्यका निराकरण करने लग जाता है। बस, 'स्यात्' शब्द एक अञ्जन है जो उनकी दृष्टिको विकृत नहीं होने देता और उसे निर्मल तथा पूर्णदर्शी बनाता है। इस अविवक्षित-संरक्षक, दृष्टिविषहारी, शब्दको सुधारूप बनानेवाले, सचेतक प्रहरी, अहिंसक भावनाके प्रतीक, जीवन्त न्यायरूप, सुनिश्चित अपेक्षाद्योतक 'स्यात्' शब्दके स्वरूपके साथ हमारे दार्शनिकोंने न्याय तो किया ही नहीं किन्तु उसके स्वरूपका 'शायद, संभव है, कदाचित्' जैसे भ्रष्ट पर्यायोंसे विकृत करनेका दुष्ट प्रयत्न अवश्य किया है तथा अभी भी किया जा रहा है।

सबसे थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि—'घड़ा जब अस्ति है तो नास्ति कैसे हो सकता है, घड़ा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है, यह तो प्रत्यक्ष विरोध है' पर विचार तो करो घड़ाघड़ा ही है, कपड़ा नहीं, कुरसी नहीं, टेबिल नहीं, गाय नहीं, घोड़ा नहीं, तात्पर्य यह है कि वह घटभिन्न अनन्त पदार्थरूप नहीं है। तो यह कहनेमें आपको क्यों संकोच होता है कि 'घड़ा अपने स्वरूपसे अस्ति है, घटभिन्न पररूपोंसे नास्ति है'। इस घड़ेमें अनन्त पररूपोंकी अपेक्षा 'नास्तित्व' धर्म है। नहीं तो दुनिया में कोई शक्ति घड़ेको



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कपड़ा आदि बननेसे रोक नहीं सकती थी। यह 'नास्ति' धर्म ही घड़ेको घड़े रूपमें कायम रखनेका हेतु है। इसी नास्ति धर्मकी सूचना 'अस्ति' के प्रयोगके समय 'स्यात्' शब्द दे देता है। इसी तरह घड़ा एक है। पर वही घड़ा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, छोटा-बड़ा हलका-भारी आदि अनन्त शक्तियोंकी दृष्टिसे अनेक रूपमें दिखाई देता है या नहीं ? यह आप स्वयं बतावें। यह अनेक रूपमें दिखाई देता है तो आपको यह कहनेमें क्यों कष्ट होता है कि—'घड़ा द्रव्यरूपसे एक है, पर अपने गुण, धर्म और शक्ति आदिकी दृष्टिसे अनेक है।' कृपाकर सोचिए कि वस्तुमें जब अनेक विरोधी धर्मोंका प्रत्यक्ष हो ही रहा है और स्वयं वस्तु अनन्त विरोधी धर्मोंका अविरोधी क्रीड़ास्थल है तब हमें उसके स्वरूपको विकृत रूपमें देखनेकी दुर्दृष्टि तो नहीं करनी चाहिए। जो 'स्यात्' शब्द वस्तुके इस पूर्णरूप दर्शनकी याद दिलाता है उसे ही हम 'विरोध संशय' जैसी गालियोंसे दुरदुराते हैं। किमाश्चर्यमतः परम्। यहाँ धर्मकीर्तिका यह श्लोकांश ध्यानमें आ जाता है कि—

"यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।"

अर्थात्—यदि यह अनेकधर्मरूपता वस्तुको स्वयं पसन्द है, उसमें है, वस्तु स्वयं राजी है तो हम बीचमें काजी बननेवाले कौन ? जगत्का एक-एक कण इस अनन्तधर्मताका आकर है। हमें अपनी दृष्टि निर्मल और विशाल बनानेकी आवश्यकता है। वस्तुमें कोई विरोध नहीं है। विरोध हमारी दृष्टिमें है। और इस दृष्टिविरोधकी अमृता ( गुरवेल ) 'स्यात्' शब्द है, जो रोगीको कटु तो जरूर मालूम होती है पर इसके बिना यह दृष्टिविषम ज्वर उतर भी नहीं सकता।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने तथा इतः पूर्व प्रो० जैकोबी आदिने स्याद्वादकी उत्पत्तिको संजयवेलट्ठिपुत्तके मतसे बतानेका प्रयत्न किया है। राहुलजीने दर्शनदिग्दर्शन ( पृ० ४९६ ) में लिखा है कि—"आधुनिक जैनदर्शनका आधार स्याद्वाद है। जो मालूम होता है संजयवेलट्ठिपुत्तके चार अंग वाले अनेकान्तवादको लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है।" संजयने तत्त्वों ( परलोक देवता ) के बारेमें कुछ भी निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इनकार करते हुए उस इनकारको चार प्रकारका कहा है—

१—है ? नहीं कह सकता।
२—नहीं है ? नहीं कह सकता।
३—है भी और नहीं भी ? नहीं कह सकता।
४—न है और न नहीं है ? नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिये जैनोंके सात प्रकारके स्याद्वादसे—

१—है ? हो सकता है ( स्यादस्ति )
२—नहीं है ? नहीं भी हो सकता है ( स्यान्नास्ति )
३—है भी और नहीं भी ? है भी और नहीं भी हो सकता।
( स्यादस्ति च नास्ति च )

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते हैं ( —वक्तव्य है ) ? इसका उत्तर जैन नहींमें देते हैं।

४—स्याद् ( हो सकता है ) क्या यह कहा जा सकता है ( —वक्तव्य है ) ?
नहीं, स्याद् अ-वक्तव्य है।
५—'स्यादस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।
६—'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७–'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ?

नहीं, 'स्यादस्ति च नास्ति च' अ-वक्तव्य है।

दोनोंको मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोंने संजयके पहिलेवाले तीन वाक्यों ( प्रश्न और उत्तर दोनों ) को अलग करके अपने स्याद्वादकी छह भंगियाँ बनाई हैं और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नहीं है' को जोड़कर 'सद्' भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भंग तैयारकर अपनी सप्तभंगी पूरी की।.....इस प्रकार एक भी सिद्धान्त ( –स्याद् ) की स्थापना न करना जो कि संजयका वाद था, उसीको संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर जैनोंने अपना लिया और उसके चतुर्भंगी न्यायको सप्तभंगीमें परिणत कर दिया।"

राहुलजीने उक्त सन्दर्भमें सप्तभंगी और स्याद्वादको न समझकर केवल शब्दसाम्यसे एक नये मतकी सृष्टि की है। यह तो ऐसा ही है जैसे कि चोरसे 'क्या तुम अमुक जगह गये थे ?' यह पूछने पर वह कहे कि "मैं नहीं कह सकता कि गया था" और जज अन्य प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दे कि चोर अमुक जगह गया था। तब शब्दसाम्य देखकर यह कहना कि जजका फैसला चोरके बयानसे निकला है।

संजयवेलट्ठिपुत्तके दर्शनका विवेचन स्वयं राहुलजीने ( पृ० ४९१ ) इन शब्दोंमें किया है—"यदि आप पूछें—'क्या परलोक है ?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बताऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरहसे भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है परलोक नहीं नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है।"

संजयके परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्तिके सम्बन्धके ये विचार शतप्रतिशत अनिश्चयवादके हैं। वह स्पष्ट कहता है कि—"यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ।" संजयको परलोक-मुक्ति आदिके स्वरूपका कुछ भी निश्चय नहीं था। इसलिए उसका दर्शन वकील राहुलजीके मानवकी सहजबुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहता और न कुछ निश्चयकर भ्रान्त धारणाओंकी पुष्टि ही करना चाहता है। तात्पर्य यह कि संजय घोर अनिश्चयवादी था।

बुद्ध और संजय—बुद्धने "लोक नित्य है, अनित्य है, नित्य-अनित्य है, न नित्य न अनित्य है, लोक अन्तवान् है, नहीं है, है–नहीं है, न है न नहीं है, निर्वाणके बाद तथागत होते हैं, नहीं होते, होते–नहीं होते, न होते न नहीं होते, जीव शरीरसे भिन्न है, जीव शरीरसे भिन्न नहीं है।" ( माध्यमिक वृत्ति, पृ० ४४६। ) इन चौदह वस्तुओंको अव्याकृत कहा है। मज्झिमनिकायमें ( २।३३ ) इनकी संख्या दश है। इसमें आदिके दो प्रश्नोंमें तीसरा और चौथा विकल्प नहीं गिनाया गया है। इनके अव्याकृत होनेका कारण बुद्धने बताया है कि इनके बारेमें कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्याके लिए उपयोगी नहीं, न यह निर्वेद निरोध शांति परमज्ञान या निर्वाणके लिए आवश्यक है। तात्पर्य यह कि बुद्धकी दृष्टिमें इनका जानना मुमुक्षुके लिए आवश्यक नहीं था। दूसरे शब्दोंमें बुद्ध भी संजयकी तरह इनके बारेमें कुछ कहकर मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहते थे और न भ्रान्त धारणाओंको पुष्ट ही करना चाहते थे। हाँ, संजय जब अपनी अज्ञानता या अनिश्चयको साफ-साफ शब्दोंमें कह देता है कि यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ, तब बुद्ध अपने जानने, न जाननेका उल्लेख न करके उस रहस्यको शिष्योंके लिए अनुपयोगी बताकर अपना पीछा छुड़ा लेते हैं। किसी भी तार्किकका यह प्रश्न अभीतक असमाहित ही रह जाता है कि इस अव्याकृतता और संजयके अनिश्चयवादमें क्या अन्तर है ? सिवाय इसके कि संजय फक्कड़की तरह खरी-खरी बात कह देता है और बुद्ध बड़े आदमियोंकी शालीनताका निर्वाह करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्ध और संजय ही क्या, उस समयके वातावरणमें आत्मा, लोक-परलोक और मुक्तिके स्वरूपके संबंध में–है ( सत् ), नहीं ( असत् ), है–नहीं ( सत्असत् उभय ), न है, न नहीं है ( अव्यक्त या अनुभय ) ये चार कोटियाँ गूंज रही थीं। कोई भी प्राश्निक किसी भी तीर्थंकर या आचार्यसे बिना किसी संकोचके अपने प्रश्नको एक साँसमें ही उक्त चार कोटियोंमें विभाजित करके ही पूछता था। जिस प्रकार आज कोई भी प्रश्न मजदूर और पूँजीपति, शोषक और शोष्यके द्वन्द्वकी छायामें ही सामने आता है, उसी प्रकार उस समय आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंके प्रश्न सत्, असत्, उभय और अनुभय-अनिर्वचनीय इस चतुष्कोटिमें आवेष्टित रहते थे। उपनिषद् और ऋग्वेदमें इस चतुष्कोटिके दर्शन होते हैं। विश्वके स्वरूपके सम्बन्धमें सत्से असत् हुआ ? या सत्से सत् हुआ ? विश्व सत् रूप है ? या असत् रूप है, या सदसत् उभयरूप है या सदसत् दोनों रूपसे अनिर्वचनीय है ? इत्यादि प्रश्न उपनिषद् और वेदमें बराबर उपलब्ध होते हैं ? ऐसी दशामें राहुलजीका स्याद्वादके विषयमें यह फतवा दे देना कि संजयके प्रश्नोंके शब्दोंसे या उसकी चतुर्भंगीको तोड़-मरोड़कर सप्तभंगी बनी–कहाँतक उचित है, यह वे स्वयं विचारें।

बुद्धके समकालीन जो छह तीर्थिक थे उनमें निग्गण्ठनाथपुत्त महावीरकी अपने क्षेत्रमें सर्वज्ञ और सर्वदर्शीके रूपमें प्रसिद्धि थी। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे या नहीं, यह इस समयकी चरचाका विषय नहीं है, पर वे विशिष्ट तत्त्वविचारक थे और किसी भी प्रश्नको संजयकी तरह अनिश्चयकोटि या विक्षेपकोटिमें और बुद्धकी तरह अव्याकृत कोटिमें डालनेवाले नहीं थे और न शिष्योंकी सहज जिज्ञासाको अनुपयोगिताके भयप्रद चक्करमें डुबा देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि संघके पँचमेल व्यक्ति जबतक वस्तुतत्त्वका ठीक निर्णय नहीं कर लेते तबतक उनमें बौद्धिक दृढ़ता और मानसबल नहीं आ सकता। वे सदा अपने समानशील अन्य संघके भिक्षुओंके सामने अपनी बौद्धिक दीनताके कारण हतप्रभ रहेंगे और इसका असर उनके जीवन और आचारपर आये बिना नहीं रहेगा। वे अपने शिष्योंको पर्देबन्द पद्मिनियोंकी तरह जगत्के स्वरूपविचारकी बाह्य हवासे अपरिचित नहीं रखना चाहते थे, किन्तु चाहते थे कि प्रत्येक मानव अपनी सहज जिज्ञासा और मननशक्तिको वस्तुके यथार्थ स्वरूपके विचारकी ओर लगावे। न उन्हें बुद्धकी तरह यह भय व्याप्त था कि यदि आत्माके सम्बन्धमें 'है' कहते हैं तो शाश्वतवाद अर्थात् उपनिषद्वादियोंकी तरह लोग नित्यत्वकी ओर झुक जायेंगे और 'नहीं है' कहनेसे उच्छेदवाद अर्थात् चार्वाककी तरह नास्तिकत्वका प्रसंग प्राप्त होगा, अतः इस प्रश्नको अव्याकृत रखना ही श्रेष्ठ है। वे चाहते थे कि मौजूद तर्कोंका और संशयोंका समाधान वस्तुस्थितिके आधारसे होना ही चाहिये। अतः उन्होंने वस्तुस्वरूपका अनुभवकर यह बताया कि जगत्का प्रत्येक सत्, चाहे वह चेतनजातीय हो या अचेतनजातीय, परिवर्तनशील है। वह निसर्गतः प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। उसकी पर्याय बदलती रहती है। उसका परिणमन कभी सदृश भी होता है, कभी विसदृश भी। पर परिणमनसामान्यके प्रभावसे कोई भी अछूता नहीं रहता। यह एक मौलिक नियम है कि किसी भी सत्का सर्वथा उच्छेद नहीं हो सकता, वह परिवर्तित होकर भी अपनी मौलिकता या सत्ताको नहीं खो सकता। एक परमाणु है वह हाइड्रोजन बन जाय, जल बन जाय, भाप बन जाय, फिर पानी हो जाय, पृथिवी बन जाय और अनन्त आकृतियों या पर्यायोंको धारण कर ले, पर अपने द्रव्यत्व और मौलिकत्वको नहीं खो सकता। किसीकी ताकत नहीं जो उस परमाणुकी हस्तीको मिटा सके। तात्पर्य यह कि जगत्में जितने 'सत्' हैं उतने बने रहेंगे, उनमेंसे एक भी कम नहीं हो सकता, एक दूसरेमें विलीन नहीं हो सकता। इसी तरह न कोई नया 'सत्' उत्पन्न हो सकता है। जितने हैं उनका ही आपसी संयोगोंके आधारसे यह विश्व जगत् ( गच्छतीति जगत् अर्थात् नाना रूपोंको प्राप्त होनेवाला ) बनता रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तात्पर्य यह कि—विश्व में जितने सत् हैं उनमें से न तो एक कम हो सकता है और न एक बढ़ सकता है। अनन्त जड़ परमाणु, अनन्त आत्माएँ, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश और असंख्य कालाणु इतने सत् हैं। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल अपने स्वाभाविक रूपमें सदा विद्यमान रहते हैं उनका विलक्षण परिणमन नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि ये कूटस्थ नित्य हैं किन्तु इनका प्रतिक्षण जो परिणमन होता है, वह सदृश स्वाभाविक परिणमन ही होता है। आत्मा और पुद्गल ये दो द्रव्य एक दूसरेको प्रभावित करते हैं। जिस समय आत्मा शुद्ध हो जाता है उस समय वह भी अपने प्रतिक्षणभावी स्वाभाविक परिणमनका ही स्वामी रहता है, उसमें विलक्षण परिणति नहीं होती। जबतक आत्मा अशुद्ध है तबतक ही इसके परिणमनपर सजातीय जीवान्तरका और विजातीय पुद्गलका प्रभाव आनेसे विलक्षणता आती है। इसकी नानारूपता प्रत्येकको स्वानुभवसिद्ध है। जड़ पुद्गल ही एक ऐसा विलक्षण द्रव्य है जो सदा सजातीयसे भी प्रभावित होता है और विजातीय चेतनसे भी। इसी पुद्गल द्रव्यके चमत्कार आज विज्ञानके द्वारा हम सबके सामने प्रस्तुत हैं। इसीके हीनाधिक संयोग-वियोगोंके फलस्वरूप असंख्य आविष्कार हो रहे हैं। विद्युत् शब्द आदि इसीके रूपान्तर हैं, इसीकी शक्तियाँ हैं। जीवकी अशुद्ध दशा इसीके संपर्कसे होती है। अनादिसे जीव और पुद्गलका ऐसा संयोग है जो पर्यायान्तर लेनेपर भी जीव इसके संयोगसे मुक्त नहीं हो पाता और उसमें विभावपरिणमन—राग, द्वेष, मोह अज्ञानरूप दशाएँ होती रहती हैं। जब यह जीव अपनी चारित्रसाधना द्वारा इतना समर्थ और स्वरूपप्रतिष्ठ हो जाता है कि उसपर बाह्य जगत्का कोई भी प्रभाव न पड़ सके तो वह मुक्त हो जाता है और अपने अनन्त चैतन्यमें स्थिर हो जाता है। मुक्त जीव अपने प्रतिक्षण परिवर्तित स्वाभाविक चैतन्यमें लीन रहता है। फिर उसमें अशुद्ध दशा नहीं होती। अन्ततः पुद्गल परमाणु ही ऐसे हैं जिनमें शुद्ध या अशुद्ध किसी भी दशामें दूसरे संयोगके आधारसे नाना आकृतियाँ और अनेक परिणमन संभव हैं तथा होते रहते हैं। इस जगत् व्यवस्थामें किसी एक ईश्वर जैसे नियन्ताका कोई स्थान नहीं है। यह तो अपने-अपने संयोग-वियोगोंसे परिणमनशील है। प्रत्येक पदार्थका अपना सहज स्वभावजन्य प्रतिक्षणभावी परिणमनचक्र चालू है। यदि कोई दूसरा संयोग आ पड़ा और उस द्रव्यने इसके प्रभावको आत्मसात् किया तो परिणमन तत्प्रभावित हो जायगा, अन्यथा वह अपनी गतिसे बदलता चला जायगा। हाइड्रोजनका एक अणु अपनी गतिसे प्रतिक्षण हाइड्रोजन रूपमें बदल रहा है। यदि ऑक्सीजनका अणु उसमें आ जुटा तो दोनोंका जलरूप परिणमन हो जायगा। वे दोनों एक जलबिन्दु रूपसे सदृश संयुक्त परिणमन कर लेंगे। यदि किसी वैज्ञानिकके विश्लेषणप्रयोगका निमित्त मिला तो वे दोनों फिर जुदा-जुदा भी हो सकते हैं। यदि अग्निका संयोग मिल गया तो भाप बन जायँगे। यदि साँपके मुखका संयोग मिला तो विषबिन्दु हो जायँगे। तात्पर्य यह कि यह विश्व साधारणतया पुद्गल और अशुद्ध जीवके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका वास्तविक उद्यान है। परिणमन चक्रपर प्रत्येक द्रव्य चढ़ा हुआ है। वह अपनी अनन्त योग्यताओंके अनुसार अनन्त परिणमनोंको क्रमशः धारण करता है। समस्त 'सत्' के समुदायका नाम लोक या विश्व है। इस दृष्टिसे अब आप लोकके शाश्वत और अशाश्वत वाले प्रश्नको विचारिए—

१—क्या लोक शाश्वत है? हाँ, लोक शाश्वत है। द्रव्योंकी संख्याकी दृष्टिसे, अर्थात् जितने सत् इसमें हैं उनमेंका एक भी सत् कम नहीं हो सकता और न उसमें किसी नये सत्की वृद्धि ही हो सकती है। न एक सत् दूसरेमें विलीन ही हो सकता है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जो इसके अंगभूत द्रव्योंका लोप हो या वे समाप्त हो जायँ।

२—क्या लोक अशाश्वत है? हाँ, लोक अशाश्वत है, अंगभूत द्रव्योंके प्रतिक्षण भावी परिणमनोंकी दृष्टिसे? अर्थात् जितने सत् हैं वे प्रतिक्षण सदृश या विसदृश परिणमन करते रहते हैं। इसमें दो क्षणतक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठहरनेवाला कोई परिणमन नहीं है। जो हमें अनेक क्षण ठहरनेवाला परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षण-भावी सदृश परिणमनका स्थूल दृष्टिसे अवलोकनमात्र है। इस तरह सतत परिवर्तनशील संयोग-वियोगोंकी दृष्टिसे विचार कीजिये तो लोक अशाश्वत है, अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तित है।

३-क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप है? हाँ, क्रमशः उपर्युक्त दोनों दृष्टियोंसे विचार कीजिए तो लोक शाश्वत भी है ( द्रव्यदृष्टिसे ), अशाश्वत भी है (पर्यायदृष्टिसे)। दोनों दृष्टिकोणोंको क्रमशः प्रयुक्त करनेपर और उन दोनोंपर स्थूलदृष्टिसे विचार करनेपर जगत् उभयरूप ही प्रतिभासित होता है।

४-क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप नहीं है? आखिर उसका पूर्णरूप क्या है? हाँ, लोकका पूर्णरूप अवक्तव्य है, नहीं कहा जा सकता। कोई शब्द ऐसा नहीं जो एक साथ शाश्वत और अशाश्वत इन दोनों स्वरूपोंको तथा उसमें विद्यमान अन्य अनन्त धर्मोंको युगपत् कह सके। अतः शब्दकी असामर्थ्यके कारण जगत्का पूर्णरूप अवक्तव्य है, अनुभव है, वचनातीत है।

इस निरूपणमें आप देखेंगे कि वस्तुका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है, अनिर्वचनीय या अवक्तव्य है। यह चौथा उत्तर वस्तुके पूर्णरूपको युगपत् कहनेकी दृष्टिसे है। पर वही जगत् शाश्वत कहा जाता है द्रव्य-दृष्टिसे, अशाश्वत कहा जाता है पर्यायदृष्टिसे। इस तरह मूलरूपसे चौथा, पहिला और दूसरा ये तीन प्रश्न मौलिक हैं। तीसरा उभयरूपताका प्रश्न तो प्रथम और द्वितीयके संयोगरूप है। अब आप विचारें कि संजयने जब लोकके शाश्वत और अशाश्वत आदिके बारेमें स्पष्ट कह दिया कि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ और बुद्धने कह दिया कि इनके चक्करमें न पड़ो, इसका जानना उपयोगी नहीं है, तब महावीरने उन प्रश्नोंका वस्तुस्थितिके अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्योंकी जिज्ञासाका समाधानकर उनको बौद्धिक दीनतासे त्राण दिया। इन प्रश्नोंका स्वरूप इस प्रकार है—

| प्रश्न | संजय | बुद्ध | महावीर |
|---|---|---|---|
| १—क्या लोक शाश्वत है? | मैं जानता होऊँ तो बताऊँ ( अनिश्चय, विक्षेप ) | इसका जानना अनुपयोगी है ( अव्याकृत अकथनीय ) | हाँ, लोक द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत है, इसके किसी भी सत्का सर्वथा नाश नहीं हो सकता। |
| २—क्या लोक अशाश्वत है? | ,, | ,, | हाँ, लोक अपने प्रतिक्षण भावी परिवर्तनोंकी दृष्टिसे अशाश्वत है, कोई भी परिवर्तन दो क्षणस्थायी नहीं है। |
| ३—क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है? | ,, | ,, | हाँ, दोनों दृष्टिकोणोंसे क्रमशः विचार करनेपर लोकको शाश्वत भी कहते हैं और अशाश्वत भी। |
| ४—क्या लोक दोनों रूप नहीं है अनुभय है? | ,, | ,, | हाँ, ऐसा कोई शब्द नहीं जो लोकके परिपूर्ण स्वरूपको एक साथ समग्र भावसे कह सके। अतः पूर्णरूपसे वस्तु अनुभय है, अवक्तव्य है, अनिर्वचनीय है। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संजय और बुद्ध जिन प्रश्नोंका समाधान नहीं करते उन्हें अनिश्चय या अव्याकृत कहकर अपना पिंड छुड़ा लेते हैं, महावीर उन्हींका वास्तविक युक्तिसंगत समाधान करते हैं। इसपर भी राहुलजी और स्व० धर्मानन्द कोसम्बी आदि यह कहनेका साहस करते हैं कि 'संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर संजयवाद-को ही जैनियोंने अपना लिया।' यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि 'भारतमें रहो परतन्त्रताको ही पर-तन्त्रता विधायक अंग्रेजोंके चले जानेपर भारतीयोंने इसे अपरतन्त्रता ( स्वतन्त्रता ) रूपसे अपना लिया है, क्योंकि अपरतन्त्रतामें भी 'प र त न्त्र ता' ये पाँच अक्षर तो मौजूद हैं ही। या हिंसाको ही बुद्ध और महावीरने उनके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर अहिंसा रूपसे अपना लिया है क्योंकि अहिंसामें भी 'हिं सा' ये दो अक्षर हैं ही।" यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि आप ( पृ० ४८४ ) अनिश्चिततावादियों-की सूचीमें संजयके साथ निग्गंठनाथपुत्त ( महावीर ) का नाम लिख जाते हैं, तथा ( पृ० ४९१ ) संजयको अनेकान्तवादी भी। क्या इसे धर्मकीर्तिके शब्दोंमें 'धिग् व्यापकं तमः' नहीं कहा जा सकता ?

'स्यात्' शब्दके प्रयोगसे साधारणतया लोगोंको संशय, अनिश्चय या संभावनाका भ्रम होता है। पर यह तो भाषाकी पुरानी शैली है उस प्रसंगकी, जहाँ एक वादका स्थापन नहीं होता। एकाधिक भेद या विकल्पकी सूचना जहाँ करनी होती है वहाँ 'स्यात्' पदका प्रयोग भाषाकी शैलीका एक रूप रहा है जैसा कि मज्झिमनिकायके महाराहुलोवादसुत्तके निम्नलिखित अवतरणसे ज्ञात होता है–'कतमा राहुल च तेजोधातु ? तेजोधातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा।' अर्थात् तेजोधातु स्यात् आध्यात्मिक है स्यात् बाह्य है। यहाँ सिया ( स्यात् ) शब्दका प्रयोग तेजोधातुके निश्चित भेदोंकी सूचना देता है न कि उन भेदोंका संशय, अनि-श्चय या संभावना बताता है। आध्यात्मिक भेदके साथ प्रयुक्त होनेवाला स्यात् शब्द इस बातका द्योतन करता है कि तेजोधातु-मात्र आध्यात्मिक ही नहीं है किन्तु उससे व्यतिरिक्त बाह्य भी है। इसी तरह 'स्यादस्ति' में अस्तिके साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द सूचित करता है कि अस्तिसे भिन्न धर्म भी वस्तुमें हैं केवल अस्तिधर्मरूप ही वस्तु नहीं है। इस तरह 'स्यात्' शब्द न शायदका, न अनिश्चयका और न सम्भावनाका सूचक है किन्तु निर्दिष्ट धर्मके सिवाय अन्य अशेष धर्मोंकी सूचना देता है जिससे श्रोता वस्तुको निर्दिष्ट धर्ममात्र रूप ही न समझ बैठे।

सप्तभंगी—वस्तु मूलतः अनन्तधर्मात्मक है। उसमें विभिन्न दृष्टियोंसे विभिन्न विवक्षाओंसे अनन्त धर्म हैं। प्रत्येक धर्मका विरोधी धर्म भी दृष्टिभेदसे वस्तुमें सम्भव है। जैसे 'घटः स्यादस्ति' में घट है अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादासे। जिस प्रकार घटमें स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तित्व धर्म है उसी तरह घट-व्यतिरिक्त अन्य पदार्थोंका नास्तित्व भी घटमें है। यदि घटभिन्न पदार्थोंका नास्तित्व घटमें न पाया जाय तो घट और अन्य पदार्थ मिलकर एक हो जायँगे। अतः घट स्यादस्ति और स्यान्नास्ति रूप है। इसी तरह वस्तुमें द्रव्यदृष्टिसे नित्यत्व और पर्यायदृष्टिसे अनित्यत्व आदि अनेकों विरोधी युगल धर्म रहते हैं। एक वस्तुमें अनन्त सप्तभंग बनते हैं। जब हम घटके अस्तित्वका विचार करते हैं तो अस्तित्वविषयक सात भंग हो सकते हैं। जैसे संजयके प्रश्नोत्तर या बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोत्तरमें हम चार कोटि तो निश्चित रूपसे देखते हैं—सत्, असत्, उभय और अनुभय। उसी तरह गणितके हिसाबसे तीन मूल भंगोंको मिलानेपर अधिकसे अधिक सात अपुनरुक्त भंग हो सकते हैं। जैसे घड़ेके अस्तित्वका विचार प्रस्तुत है तो पहिला अस्तित्व धर्म, दूसरा तद्विरोधी नास्तित्व धर्म और तीसरा धर्म होगा अवक्तव्य जो वस्तुके पूर्ण रूपकी सूचना देता है कि वस्तु पूर्णरूपसे वचनके अगोचर है, उसके विराट् रूपको शब्द नहीं छू सकते। अवक्तव्य धर्म इस अपेक्षासे है कि दोनों धर्मोंको युगपत् कहनेवाला शब्द संसारमें नहीं है। अतः वस्तु यथार्थतः वचनातीत है, अवक्तव्य है। इस तरह मूलमें तीन भंग हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१–स्यादस्ति घटः २–स्यान्नास्ति घटः ३–स्यादवक्तव्यो घटः

अवक्तव्यके साथ स्यात् पद लगानेका भी अर्थ है कि वस्तु युगपत् पूर्ण रूपमें यदि अवक्तव्य है तो क्रमशः अपने अपूर्ण रूपमें वक्तव्य भी है और वह अस्ति, नास्ति आदि रूप वचनोंका विषय भी होती है। अतः वस्तु स्याद् अवक्तव्य है। जब मूल भंग तीन हैं तब उनके द्विसंयोगी भंग भी तीन होंगे तथा त्रिसंयोगी भंग एक होगा। जिस तरह चतुष्कोटिमें सत् और असत्को मिलाकर प्रश्न होता है कि 'क्या सत् होकर भी वस्तु असत् है ?" उसी तरह ये भी प्रश्न हो सकते हैं कि–१–क्या सत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? २–क्या असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? ३–क्या सत्असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? इन तीनों प्रश्नोंका समाधान संयोगज चार भागोंमें है। अर्थात्—

४–अस्ति नास्ति उभय रूप वस्तु है स्वचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-कालभाव और परचतुष्टयपर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

५–अस्ति अवक्तव्य वस्तु है–प्रथम समयमें स्वचतुष्टय और द्वितीय समयमें युगपत् स्वपरचतुष्टय पर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

६–नास्ति अवक्तव्य वस्तु है–प्रथम समयमें परचतुष्टय और द्वितीय समयमें युगपत् स्वपर चतुष्टयकी क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

७–अस्ति नास्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमें स्वचतुष्टय, द्वितीय समय में परचतुष्टय तथा तृतीय समयमें युगपत् स्व-परचतुष्टयपर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और तीनोंकी सामूहिक विवक्षा रहनेपर।

जब अस्ति और नास्तिकी तरह अवक्तव्य भी वस्तुका धर्म है तब जैसे अस्ति और नास्तिको मिलाकर चौथा भंग बन जाता है वैसे ही अवक्तव्यके साथ भी अस्ति, नास्ति और अस्तिनास्तिको मिलाकर पाँचवें, छठवें और सातवें भंगकी सृष्टि हो जाती है।

इस तरह गणितके सिद्धान्तके अनुसार तीन मूल वस्तुओंके अधिकसे अधिक अपुनरुक्त सात ही भंग हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तुके प्रत्येक धर्मको लेकर सात प्रकारकी जिज्ञासा हो सकती है, सात प्रकारके प्रश्न हो सकते हैं अतः उनके उत्तर भी सात प्रकारके ही होते हैं।

दर्शनदिग्दर्शनमें श्री राहुलजी ने पाँचवें, छठवें और सातवें भंगको जिस भ्रष्ट तरीकेसे तोड़ा-मरोड़ा है वह उनकी अपनी निरी कल्पना और अतिसाहस है। जब वे दर्शनोंको व्यापक नई और वैज्ञानिक दृष्टिसे देखना चाहते हैं तो उन्हें किसी भी दर्शन को समीक्षा उसके स्वरूपको ठीक समझकर ही करनी चाहिए। वे अवक्तव्य नामक धर्मको, जो कि सत्के साथ स्वतन्त्रभावसे द्विसंयोगी हुआ है, तोड़कर अ-वक्तव्य करके संजयके 'नहीं' के साथ मेल बैठा देते हैं और 'संजय'[1] के घोर अनिश्चयवादको ही अनेकान्तवाद कह देते हैं। किमाश्चर्यमतः परम्।

---

१. जैन कथाग्रन्थोंमें महावीरके बालजीवनकी एक घटनाका वर्णन आता है कि–'संजय और विजय नामक दो साधुओंका संशय महावीरको देखते ही नष्ट हो गया था, इसलिए इनका नाम सन्मति रखा गया था। सम्भव है यह संजय-विजय संजयवेलट्ठिपुत्त ही हों और इसीके संशय या अनिश्चयका नाश महावीरके सप्तभंगी न्यायसे हुआ हो। यहाँ वेलट्ठिपुत्त विशेषण भ्रष्ट होकर विजय नामका दूसरा साधु बन गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# जैन अध्यात्म

## पदार्थस्थिति

'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः' जगत्में जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नहीं हो सकता और सर्वथा नए किसी असत्का सद्रूपमें उत्पाद नहीं हो सकता। जितने मौलिक द्रव्य इस जगत्में अनादिसे विद्यमान हैं वे अपनी अवस्थाओंमें परिवर्तित होते रहते हैं। अनन्तजीव, अनन्तानन्त पुद्गलअणु, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश और असंख्य कालाणु, इनसे यह लोक व्याप्त है। ये छह जातिके द्रव्य मौलिक हैं, इनमेंसे न तो एक भी द्रव्य कम हो सकता और न कोई नया उत्पन्न होकर इनकी संख्यामें वृद्धि कर सकता है। कोई भी द्रव्य अन्यद्रव्यरूपमें परिणमन नहीं कर सकता, जीव जीव ही रहेगा, पुद्गल नहीं हो सकता। जिस तरह विजातीय द्रव्यरूपमें किसी भी द्रव्यका परिणमन नहीं होता उसी तरह एक जीव दूसरे सजातीय जीव-द्रव्यरूप या एक पुद्गल दूसरे सजातीय पुद्गलद्रव्यरूपमें सजातीय परिणमन भी नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों-अवस्थाओंकी धारामें प्रवाहित है किसी भी विजातीय या सजातीय द्रव्यान्तरकी धारामें उसका परिणमन नहीं हो सकता। यह सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तरमें असंक्रान्ति ही प्रत्येक द्रव्यकी मौलिकता है। इन द्रव्योंमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्योंका परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है, इनमें विकार नहीं होता, एक जैसा परिणमन प्रतिसमय होता रहता है। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें शुद्धपरिणमन भी होता है तथा अशुद्ध परिणमन भी। इन दो द्रव्योंमें क्रियाशक्ति भी है जिससे इनमें हलन-चलन, आना-जाना आदि क्रियाएँ होती हैं। शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं वे जहाँ हैं वहीं रहते हैं। आकाश सर्वव्यापी है। धर्म और अधर्म लोकाकाशके बराबर हैं। पुद्गल और काल अणुरूप हैं। जीव असंख्यातप्रदेशी हैं और अपने शरीरप्रमाण विविध आकारोंमें मिलता है। एक पुद्गलद्रव्य ही ऐसा है जो सजातीय अन्य पुद्गलद्रव्योंसे मिलकर स्कन्ध बन जाता है और कभी-कभी इतना रासायनिक मिश्रण हो जाता है कि उसके अणुओंको पृथक् सत्ताका भान करना भी कठिन होता है। तात्पर्य यह कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्यमें अशुद्ध परिणमन होता है और वह एक दूसरेके निमित्तसे। पुद्गलमें इतनी विशेषता है कि उसकी अन्य सजातीयपुद्गलोंसे मिलकर स्कन्ध-पर्याय भी होती है पर जीवकी दूसरे जीवसे मिलकर स्कन्ध पर्याय नहीं होती। दो विजातीय द्रव्य बँधकर एक पर्याय नहीं प्राप्त कर सकते। इन दो द्रव्योंके विविध परिणमनोंका स्थूलरूप यह दृश्यजगत् है।

## द्रव्य-परिणमन

प्रत्येक द्रव्य परिणामीनित्य है। पूर्वपर्याय नष्ट होती है उत्तर उत्पन्न होती है पर मूलद्रव्यकी धारा अविच्छिन्न चलती है। यही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता प्रत्येक द्रव्यका निजी स्वरूप है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्योंका सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। जीवद्रव्यमें जो मुक्त जीव हैं उनका परिणमन शुद्ध ही होता है कभी भी अशुद्ध नहीं होता। संसारी जीव और अनन्त पुद्गलद्रव्यका शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही प्रकारका परिणमन होता है। इतनी विशेषता है कि जो संसारी जीव एक बार मुक्त होकर शुद्ध परिणमनका अधिकारी हुआ वह फिर कभी भी अशुद्ध नहीं होगा, पर पुद्गलद्रव्यका कोई नियम नहीं है। वे कभी स्कन्ध बनकर अशुद्ध परिणमन करते हैं तो परमाणुरूप होकर अपनी शुद्ध अवस्थामें आ जाते हैं फिर स्कन्ध बन जाते हैं इस तरह उनका विविध परिणमन होता रहता है। जीव और पुद्गलमें वैभाविकी शक्ति है जिसके कारण वे विभाव परिणमनको भी प्राप्त होते हैं।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### द्रव्यगतशक्ति

धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं। कालाणु असंख्यात हैं। प्रत्येक कालाणुमें एक-जैसी शक्तियाँ हैं। वर्तना करनेकी जितने अविभागप्रतिच्छेदवाली शक्ति एक कालाणुमें है वैसी ही दूसरे कालाणुमें। इस तरह कालाणुओंमें परस्पर शक्ति-विभिन्नता या परिणमन-विभिन्नता नहीं है।

पुद्गलद्रव्यके एक अणुमें जितनी शक्तियाँ हैं उतनी ही और वैसी ही शक्तियाँ परिणमन-योग्यता अन्य पुद्गलाणुओंमें हैं। मूलतः पुद्गल-अणुद्रव्योंमें शक्तिभेद, योग्यताभेद या स्वभावभेद नहीं है। यह तो सम्भव है कि कुछ पुद्गलाणु मूलतः स्निग्ध स्पर्शवाले हों और दूसरे मूलतः रूक्ष, कुछ शीत और कुछ उष्ण पर उनके ये गुण नियत नहीं, रूक्षगुणवाला भी स्निग्धगुणवाला बन सकता है तथा स्निग्धगुणवाला भी रूक्ष। शीत भी उष्ण बन सकता है उष्ण भी शीत। तात्पर्य यह कि पुद्गलाणुओंमें ऐसा कोई जातिभेद नहीं है जिससे किसी भी पुद्गलाणुका पुद्गलसम्बन्धी कोई परिणमन न हो सकता हो। पुद्गलद्रव्यके जितने भी परिणमन हो सकते हैं उन सबकी योग्यता और शक्ति प्रत्येक पुद्गलाणुमें स्वभावतः है, यही द्रव्यशक्ति कहलाती है। स्कन्ध-अवस्थामें पर्यायशक्तियाँ विभिन्न हो सकती हैं। जैसे किसी अग्निस्कन्धमें सम्मिलित परमाणुका उष्णस्पर्श और तेजोरूप था, पर यदि वह अग्निस्कन्धसे जुदा हो जाय तो उसका शीतस्पर्श तथा कृष्णरूप हो सकता है। और यदि वह स्कन्ध ही भस्म बन जाय तो सभी परमाणुओंका रूप और स्पर्श आदि बदल सकते हैं।

सभी जीवद्रव्योंकी मूल स्वभावशक्तियाँ एक जैसी हैं, ज्ञानादि अनन्तगुण और अनन्त चैतन्य-परिणमनकी प्रत्येक शक्ति मूलतः प्रत्येक जीवद्रव्यमें है। हाँ, अनादिकालीन अशुद्धताके कारण उनका विकास विभिन्न प्रकारसे होता है। चाहे हो भव्य या अभव्य, दोनों ही प्रकारके प्रत्येक जीव एक-जैसी शक्तियोंके आधार हैं, शुद्ध दशामें सभी मुक्त एक-जैसी शक्तियोंके स्वामी बन जाते हैं और प्रतिसमय अखण्ड शुद्ध परिणमनमें लीन रहते हैं। संसारी जीवोंमें भी मूलतः सभी शक्तियाँ हैं। इतना विशेष है कि अभव्य-जीवोंमें केवलज्ञानादिशक्तियोंके आविर्भावकी शक्ति नहीं मानी जाती। उपर्युक्त विवेचनसे एक बात निर्विवादरूपसे स्पष्ट हो जाती है कि चाहे द्रव्य चेतन हो या अचेतन, प्रत्येक मूलतः अपनी-अपनी चेतन-अचेतन शक्तियोंका धनी है उनमें कहीं कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं है। अशुद्धदशामें अन्य पर्यायशक्तियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं और विलीन होती रहती हैं।

### परिणमनके नियतत्वकी सीमा

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि द्रव्योंमें परिणमन होनेपर भी कोई भी द्रव्य सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपमें परिणमन नहीं कर सकता। अपनी धारामें सदा उसका परिणमन होता रहता है। द्रव्यगत मूल स्वभावकी अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यके अपने परिणमन नियत हैं। किसी भी पुद्गलाणुके वे सभी पुद्गलसम्बन्धी परिणमन प्रतिसमय हो सकते हैं और किसी भी जीवके जीवसम्बन्धी अनन्त परिणमन। यह तो संभव है कि कुछ पर्यायशक्तियोंसे सीधा सम्बन्ध रखनेवाले परिणमन कारणभूत पर्यायशक्तिके न होनेपर न हों। जैसे प्रत्येक पुद्गलपरमाणु यद्यपि घट बन सकता है फिर भी जबतक अमुक परमाणुस्कन्ध मिट्टीरूप पर्यायको प्राप्त न होंगे तबतक उनमें मिट्टीरूप पर्यायशक्तिके विकाससे होनेवाली घटपर्याय नहीं हो सकती। परन्तु मिट्टी-पर्यायसे होनेवाली घट, सकोरा आदि जितनी पर्यायें सम्भावित हैं वे निमित्तके अनुसार कोई भी हो सकती हैं। जैसे जीवमें मनुष्यपर्यायमें आँखसे देखनेकी योग्यता विकसित है तो वह अमुक समयमें जो भी सामने आयेगा उसे देखेगा। यह कदापि नियत नहीं है कि अमुक समयमें अमुक पदार्थको ही देखनेकी उसमें योग्यता है शेषकी नहीं या अमुक पदार्थमें उस समय उसके द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही देखे जानेकी योग्यता है, अन्यके द्वारा नहीं। मतलब यह कि परिस्थितिवश जिस पर्यायशक्तिका द्रव्यमें विकास हुआ है उस शक्तिसे होनेवाले यावत्कार्योंमेंसे जिस कार्यकी सामग्री या बलवान् निमित्त मिल जायेंगे उसके अनुसार उसका वैसा परिणमन होता जायगा। एक मनुष्य गद्दीपर बैठा है उस समय उसमें हँसना-रोना, आश्चर्य करना, गम्भीरतासे सोचना आदि अनेक कार्योंकी योग्यता है। यदि बहुरूपिया सामने आ जाय और उसकी उसमें दिलचस्पी हो तो हँसनेरूप पर्याय हो जायगी। कोई शोकका निमित्त मिल जाय तो रो भी सकता है। अकस्मात् बात सुनकर आश्चर्यमें डूब सकता है और तत्त्वचर्चा सुनकर गम्भीरतापूर्वक सोच भी सकता है। इसलिए यह समझना कि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिसमयका परिणमन नियत है, उसमें कुछ हेर-फेर नहीं हो सकता और न कोई हेर-फेर कर सकता है, द्रव्यके परिणमनस्वभावको गम्भीरतासे न सोचनेके कारण भ्रमात्मक है। द्रव्यगत परिणमन नियत हैं अमुक स्थूलपर्यायगत शक्तियोंके परिणमन भी नियत हो सकते हैं जो उस पर्यायशक्तिके अवश्यंभावी परिणमनोंमेंसे किसी एकरूपमें निमित्तानुसार सामने आते हैं। जैसे एक अँगुली अगले समय टेढ़ी हो सकती है, सीधी रह सकती है, टूट सकती है, घूम सकती है, जैसी सामग्री और कारण-कलाप मिलेंगे उसमें विद्यमान इन सभी योग्यताओंमेंसे अनुकूल योग्यताका विकास हो जायगा। उस कारणशक्तिसे वह अमुक परिणमन भी नियत कराया जा सकता है जिसकी पूरी सामग्री अविकल हो प्रतिबन्धक कारणकी सम्भावना न हो ऐसी अन्तिमक्षणप्राप्त शक्तिसे वह कार्य नियत ही होगा पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिक्षणका परिणमन सुनिश्चित है उसमें जिसे जो निमित्त होना है नियतिचक्रके पेटमें पड़कर ही वह उसका निमित्त बना रहेगा। वह अतिसुनिश्चित है कि हरएक द्रव्यका प्रतिसमय कोई न कोई परिणमन होना ही चाहिए। पुराने संस्कारोंके परिणामस्वरूप कुछ ऐसे निश्चित कार्यकारणभाव बनाए जा सकते हैं जिनसे यह नियत किया जा सकता है कि अमुक समयमें इस द्रव्यका ऐसा परिणमन होगा ही, पर इस कारणताकी अवश्यंभाविता सामग्रीकी अविकलता तथा प्रतिबन्धककारणकी शून्यतापर ही निर्भर है। जैसे हल्दी और चूना दोनों एक जलपात्रमें डाले गये तो यह अवश्यंभावी है कि उनका लालरंगका परिणमन हो। एक बात यहाँ यह खासतौरसे ध्यानमें रखने की है कि अचेतन परमाणुओंमें बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं हो सकती। उनमें अपने संयोगके आधारसे क्रिया तो होती रहती है। जैसे पृथिवीमें कोई बीज पड़ा हो तो सरदी, गरमीका निमित्त पाकर उसमें अंकुर आ जायगा और वह पल्लवित, पुष्पित होकर पुनः बीजको उत्पन्न कर देगा। गरमीका निमित्त पाकर जल भाप बन जायगा। पुनः भाप सरदीका निमित्त पाकर जलके रूपमें बरसकर पृथिवीको शस्यश्यामल बना देगा। कुछ ऐसे भी अचेतन द्रव्योंके परिणमन हैं जो चेतन निमित्तसे होते हैं जैसे मिट्टीका घड़ा बनना या रुईका कपड़ा बनना। तात्पर्य यह कि अतीतके संस्कारवश वर्तमान क्षणमें जितनी और जैसी योग्यताएँ विकसित होंगी और जिनके विकासके अनुकूल निमित्त मिलेंगे, द्रव्योंका वैसा-वैसा परिणमन होता जायगा। भविष्यका कोई निश्चित कार्यक्रम द्रव्योंका बना हुआ हो और उसी सुनिश्चित अनन्त क्रमपर यह जगत् चल रहा हो, यह धारणा ही भ्रमपूर्ण है।

## नियताऽनियतत्ववाद

जैन दृष्टिसे द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं पर उनके प्रतिक्षणके परिणमन अनिवार्य हैं। एक द्रव्यकी उस समयकी योग्यतासे जितने प्रकारके परिणमन हो सकते हैं उनमेंसे कोई भी परिणमन जिसके कि निमित्त और अनुकूल सामग्री मिल जायगी, हो जायगा। तात्पर्य यह कि प्रत्येक द्रव्यकी शक्तियाँ तथा उनसे होनेवाले परिणमनोंकी जाति सुनिश्चित है। कभी भी पुद्गलके परिणमन जीवमें तथा जीवके परिणमन पुद्गल में नहीं हो सकते। पर प्रतिसमय कैसा परिणमन होगा, यह अनियत है। जिस समय जो शक्ति विकसित होगी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा अनुकूल निमित्त मिल जायगा उसके बाद वैसा परिणमन हो जायगा। अतः नियतत्व और अनियतत्व दोनों धर्म सापेक्ष हैं। अपेक्षाभेदसे सम्भव हैं।

### नियतिवाद नहीं

जो होना होगा वह होगा ही, हमारा कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है, इस तरहके निष्क्रिय नियतिवादके विचार जैनतत्त्वस्थितिके प्रतिकूल हैं। जो द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं उनमें हमारा कोई पुरुषार्थ नहीं, हमारा पुरुषार्थ तो कोयलेकी हीरापर्यायके विकास करानेमें है। यदि कोयलेके लिए उसकी हीरापर्यायके विकासके लिए आवश्यक सामग्री न मिले तो या तो वह जलकर भस्म बनेगा या फिर खानिमें ही पड़े-पड़े समाप्त हो जायगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि जिसमें उपादान शक्ति नहीं है उसका परिणमन भी निमित्तसे हो सकता है या निमित्तमें यह शक्ति है जो निरुपादानको परिणमन करा सके।

### उभय कारणोंसे कार्य

कार्योत्पत्तिके लिए दोनों ही कारण चाहिए उपादान और निमित्त; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रने कहा है कि "यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः" अर्थात् कार्य बाह्य-आभ्यन्तर दोनों कारणोंसे होता है। यही अनाद्यनन्त वैज्ञानिक कारण-कार्यधारा ही द्रव्य है जिसमें पूर्वपर्याय अपनी सामग्रीके अनुसार सदृश, विसदृश, अर्धसदृश, अल्पसदृश आदिरूपसे अनेक पर्यायोंकी उत्पादक होती है। मान लीजिए एक जलबिन्दु है उसकी पर्याय बदल रही है, वह प्रतिक्षण जलबिन्दु रूपसे परिणमन कर रही है पर यदि गरमीका निमित्त मिलता है तो तुरन्त भाप बन जाती है। किसी मिट्टीमें यदि पड़ गई तो सम्भव है पृथिवी बन जाय। यदि साँपके मुँहमें चली गई जहर बन जायगी। तात्पर्य यह कि एकधारा पूर्व-उत्तर पर्यायोंकी बहती है उसमें जैसे-जैसे संयोग होते जायेंगे उसका उस जातिमें परिणमन हो जायगा। गङ्गाकी धारा हरिद्वारमें जो है वह कानपुरमें नहीं और कानपुरकी गटर आदिका संयोग पाकर इलाहाबादमें बदली और इलाहाबादकी गन्दगी आदिके कारण काशीकी गङ्गा जुदी ही हो जाती है। यहाँ यह कहना कि "गङ्गाके जलके प्रत्येक परमाणुका प्रतिसमयका सुनिश्चित कार्यक्रम बना हुआ है उसका जिस समय परिणमन होना है वह होकर ही रहेगा" द्रव्यकी विज्ञान-सम्मत कार्यकारणपरम्पराके प्रतिकूल है।

### 'जं जस्स जम्मि' आदि भावनाएँ हैं

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें सम्यग्दृष्टिके चिन्तनमें ये दो गाथाएँ लिखी हैं—

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं व अहव मरणं वा॥ ३२१॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को चालेदुं सक्को इंदो वा अह जिणिं वा॥ ३२२॥

अर्थात् जिसका जिस समय जहाँ जैसे जन्म या मरण होना है उसे इन्द्र या जिनेन्द्र कोई भी नहीं टाल सकता, वह होगा ही।

इन गाथाओंका भावनीयार्थ यही है कि जो जब होना है, होगा, उसमें कोई किसीका शरण नहीं है आत्मनिर्भर रहकर जो आवे वह सहना चाहिए। इस तरह चित्तसमाधानके लिए भाई जानेवाली भावनाओंसे वस्तुव्यवस्था नहीं हो सकती। अनित्यभावनामें हो कहते हैं कि जगत् स्वप्नवत् है इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि शून्यवादियोंकी तरह जगत् पदार्थोंकी सत्तासे शून्य है बल्कि यही उसका तात्पर्य है कि स्वप्नकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह वह आत्महितके लिए वास्तविक कार्यकारी नहीं है। यहाँ सम्यग्दृष्टिके चिन्तन-भावनामें स्वावलम्बनका उपदेश है। उससे पदार्थव्यवस्था नहीं की जा सकती।

## सबसे बड़ा अस्त्र सर्वज्ञत्व

नियतिवादी या तथोक्त अध्यात्मवादियोंका सबसे बड़ा तर्क है कि सर्वज्ञ है या नहीं? यदि सर्वज्ञ है तो वह त्रिकालज्ञ होगा अर्थात् भविष्यज्ञ भी होगा। फलतः वह प्रत्येक पदार्थका अनन्तकाल तक प्रतिक्षण जो होना है उसे ठीकरूपमें जानता है। इस तरह प्रत्येक परमाणुकी प्रतिसमयकी पर्याय सुनिश्चित है उनका परस्पर जो निमित्तनैमित्तिकजाल है वह भी उसके ज्ञानके बाहिर नहीं है। सर्वज्ञ माननेका दूसरा अर्थ है नियतिवादी होना। पर, आज जो सर्वज्ञ नहीं मानते उनके सामने हम नियतिचक्रको कैसे सिद्ध कर सकते हैं? जिस अध्यात्मवादके मूलमें हम नियतिवादको पनपाते हैं उस अध्यात्मदृष्टिसे सर्वज्ञता व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। निश्चयनयसे तो आत्मज्ञतामें ही उसका पर्यवसान होता है जैसा कि स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसार ( गा. १५८ ) में लिखा है—

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥"

अर्थात् केवली भगवान् व्यवहारनयसे सब पदार्थोंको जानते, देखते हैं। निश्चयसे केवलज्ञानी अपनी आत्माको जानता, देखता है।

अध्यात्मशास्त्रमें निश्चयनयकी भूतार्थता और परमार्थता व्यवहारनयकी अभूतार्थतापर विचार करनेसे तो अध्यात्मशास्त्रमें पूर्णज्ञानका पर्यवसान अन्ततः आत्मज्ञानमें ही होता है। अतः सर्वज्ञत्वकी दलीलका अध्यात्मचिन्तनमूलक पदार्थव्यवस्थामें उपयोग करना उचित नहीं है।

## नियतिवादमें एक ही प्रश्न एक ही उत्तर

नियतिवादमें एक ही उत्तर है 'ऐसा ही होना था, जो होना होगा सो होगा ही' इसमें न कोई तर्क है, न कोई पुरुषार्थ और न कोई बुद्धि। वस्तुव्यवस्थामें इस प्रकारके मृत विचारोंका क्या उपयोग? जगत्में विज्ञानसम्मत कार्यकारणभाव है। जैसी उपादानयोग्यता और जो निमित्त होंगे तदनुसार चेतन-अचेतनका परिणमन होता है। पुरुषार्थ निमित्त और अनुकूल सामग्रीके जुटानेमें है। एक अग्नि है पुरुषार्थी यदि उसमें चन्दनका चूरा डाल देता है तो सुगन्धित धुआँ निकलेगा, यदि बाल आदि डालता है तो दुर्गन्धित धुआँ उत्पन्न होगा। यह कहना कि चूराको उसमें पड़ना था, पुरुषको उसमें डालना था, अग्निको उसे ग्रहण करना ही था। इसमें यदि कोई हेर-फेर करता है तो नियतिवादीका वही उत्तर कि 'ऐसा ही होना था'। मानो जगत्के परिणमनोंको 'ऐसा ही होना था' इस नियति भगवतीने अपनी गोदमें ले रखा हो।

## अध्यात्मकी अकर्तृत्व भावनाका उपयोग

तब अध्यात्मशास्त्रकी अकर्तृत्वभावनाका क्या अर्थ है? अध्यात्ममें समस्त वर्णन उपादानयोग्यताके आधारसे किया गया है। निमित्त मिलानेपर यदि उपादानयोग्यता विकसित नहीं होती, कार्य नहीं हो सकेगा। एक ही निमित्त-अध्यापकसे एक छात्र प्रथम श्रेणीका विकास करता है जबकि दूसरा द्वितीय श्रेणीका और तीसरा अज्ञानीका अज्ञानी बना रहता है। अतः अन्ततः कार्य अन्तिमक्षणवर्ती उपादानयोग्यतासे ही होता है। हाँ, निमित्त उस योग्यताको विकासोन्मुख बनाते हैं, तब अध्यात्मशास्त्रका कहना है कि निमित्तको यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहङ्कार नहीं होना चाहिए कि हमने उसे ऐसा बना दिया, निमित्तकारणको सोचना चाहिए कि इसकी उपादानयोग्यता न होती तो मैं क्या कर सकता था अतः अपनेमें कर्तृत्वजन्य अहङ्कारके निवृत्तिके लिए उपादानमें कर्तृत्वकी भावनाको दृढमूल करना चाहिए ताकि परपदार्थकर्तृत्वका अहङ्कार हमारे चित्तमें आकर रागद्वेषकी सृष्टि न करे। बड़ेसे बड़ा कार्य करके भी मनुष्यको यही सोचना चाहिए कि मैंने क्या किया? यह तो उसकी उपादानयोग्यताका ही विकास है मैं तो एक साधारण निमित्त हूँ। 'क्रिया ही द्रव्यं विनयति नाद्रव्यं' अर्थात् क्रिया योग्यमें परिणमन कराती है, अयोग्यमें नहीं। इस तरह अध्यात्मकी अकर्तृत्वभावना हमें वीतरागताकी ओर ले जानेके लिए है। न कि उसका उपयोग नियतिवादके पुरुषार्थ विहीन कुमार्गपर ले-जानेको किया जाय।

## समयसारमें निमित्ताधीन उपादान परिणमन

समयसार ( गा० ८६-८८ ) में जीव और कर्मका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बताते हुए लिखा है कि—

"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु कत्ता आदा सएण भावेण॥
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥"

अर्थात् जीवके भावोंके निमित्तसे पुद्गलोंकी कर्मरूप पर्याय होती है और पुद्गलकर्मोंके निमित्तसे जीव रागादिरूपसे परिणमन करता है। इतना समझ लेना चाहिए कि जीव उपादान बनकर पुद्गलके गुणरूपसे परिणमन नहीं कर सकता और न पुद्गल उपादान बनकर जीवके गुणरूपसे परिणति कर सकता है। हाँ, परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके अनुसार दोनोंका परिणमन होता है। इस कारण उपादानदृष्टिसे आत्मा अपने भावोंका कर्त्ता है पुद्गलके ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्मात्मक परिणमनका कर्त्ता नहीं है।

इस स्पष्ट कथनसे कुन्दकुन्दाचार्यकी कर्तृत्व-अकर्तृत्वकी दृष्टि समझमें आ जाती है। इसका विशद अर्थ यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनमें उपादान है। दूसरा उसका निमित्त हो सकता है, उपादान नहीं। परस्पर निमित्तसे दोनों उपादानोंका अपने-अपने भावरूपसे परिणमन होता है। इसमें निमित्तनैमित्तिक-भावका निषेध कहाँ है? निश्चयदृष्टिसे परनिरपेक्ष आत्मस्वरूपका विचार है उसमें कर्तृत्व अपने उपयोगरूपमें ही पर्यवसित होता है। अतः कुन्दकुन्दके मतसे द्रव्यस्वरूपका अध्यात्ममें वही निरूपण है जो आगे समन्तभद्रादि आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें बताया है।

## मूलमें भूल कहाँ?

इसमें कहाँ मूलमें भूल है? जो उपादान है वह उपादान है, जो निमित्त है वह निमित्त ही है। कुम्हार घटका कर्त्ता है, यह कथन व्यवहार हो सकता है। कारण, कुम्हार वस्तुतः अपनी हलन-चलनक्रिया तथा अपने घट बनानेके उपयोगका ही कर्त्ता है, उसके निमित्तसे मिट्टीके परमाणुमें वह आकार उत्पन्न हो जाता है। मिट्टीको घड़ा बनना ही था और कुम्हारके हाथ वैसा होना ही था और हमें उसकी व्याख्या ऐसी करनी ही थी, आपको ऐसा प्रश्न करना ही था और हमें यह उत्तर देना ही था। ये सब बातें न अनुभव सिद्ध कार्य-कारणभावके अनुकूल ही हैं और न तर्कसिद्ध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## निश्चय और व्यवहार

निश्चयनय वस्तुकी परनिरपेक्ष स्वभूत दशाका वर्णन करता है। वह यह बतायगा कि प्रत्येक जीव स्वभावसे अनन्तज्ञान-दर्शन या अखण्ड चैतन्यका पिण्ड है। आज यद्यपि वह कर्मनिमित्तसे विभाव परिणमन कर रहा है पर उसमें स्वभावभूत शक्ति अपने अखण्ड निर्विकार चैतन्य होनेकी है। व्यवहारनय परसापेक्ष अवस्थाओंका वर्णन करता है। वह जहाँ आत्माको पर-घटपटादि पदार्थोंके कर्तृत्वके वर्णनसम्बन्धी लम्बी उड़ान लेता है वहाँ निश्चयनय रागादि भावोंके कर्तृत्वको भी आत्मकोटिसे बाहर निकाल लेता है और आत्माको अपने शुद्ध भावोंका ही कर्त्ता बनाता है, अशुद्ध भावोंका नहीं। निश्चयनयकी भूतार्थताका तात्पर्य यह है कि वही दशा आत्माके लिए वास्तविक उपादेय है, परमार्थ है, यह जो रागादिरूप विभावपरिणति है यह अभूतार्थ है अर्थात् आत्माके लिए उपादेय नहीं है इसके लिए वह अपरमार्थ है, अग्राह्य है।

## निश्चयनयका वर्णन हमारा लक्ष्य है

निश्चयनय जो वर्णन करता है कि मैं सिद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निर्विकार हूँ, निष्कषाय हूँ, यह सब हमारा लक्ष्य है। इसमें 'हूँ' के स्थानमें 'हो सकता हूँ', यह प्रयोग भ्रम उत्पन्न नहीं करेगा। वह एक भाषाका प्रकार है। जब साधक अपनी अन्तर्जल्प अवस्थामें अपने ही आत्माको सम्बोधन करता है कि हे आत्मन्! तू तो स्वभावसे सिद्ध है, बुद्ध है, वीतराग है, आज फिर यह तेरी क्या दशा हो रही है तू कषायी और अज्ञानी बना है। यह पहला 'सिद्ध है बुद्ध है' वाला अंश दूसरे 'आज फिर तेरी क्या दशा हो रही है तू कषायी अज्ञानी बना है' इस अंशसे ही परिपूर्ण होता है।

इसलिए निश्चयनय हमारे लिए अपने द्रव्यगतमूलस्वभावकी ओर संकेत कराता है जिसके बिना हम कषायपङ्कसे नहीं निकल सकते। अतः निश्चयनयका सम्पूर्ण वर्णन हमारे सामने कागजपर मोटे-मोटे अक्षरोंमें लिखा हुआ टँगा रहे ताकि हम अपनी उस परमदशाको प्राप्त करनेकी दिशामें प्रयत्नशील रहें। न कि हम तो सिद्ध हैं कर्मोंसे अस्पृष्ट हैं यह मानकर मिथ्या अहङ्कारका पोषण करें और जीवनचारित्र्यसे विमुख हो निश्चयैकान्तरूपी मिथ्यात्वको बढ़ावें।

## ये कुन्दकुन्दके अवतार

सोनगढ़में यह प्रवाद है कि श्रीकानजीस्वामी कुन्दकुन्दके जीव हैं और वे कुन्दकुन्दके समान ही सद्गुरुरूपसे पुजते हैं। उन्हें सद्गुरुभक्ति ही विशिष्ट आकर्षणका कार्यक्रम है। यहाँसे नियतिवादकी आवाज अब फिरसे उठी है और वह भी कुन्दकुन्दके नामपर। भावनीय पदार्थ जुदा हैं उनसे तत्त्वव्यवस्था नहीं होती यह मैं पहले लिख चुका हूँ। यों ही भारतवर्षने नियतिवाद और ईश्वरवादके कारण तथा कर्मवादके स्वरूपको ठीक नहीं समझनेके कारण अपनी यह नितान्त परतन्त्र स्थिति उत्पन्न कर ली थी। किसी तरह अब नव-स्वातन्त्र्योदय हुआ है। इस युगमें वस्तुतत्त्वका वह निरूपण हो जिससे सुन्दर समाजव्यवस्था-घटक व्यक्तिका निर्माण हो। धर्म और अध्यात्मके नामपर और कुन्दकुन्दाचार्यके सुनामपर आलस्य-पोषक नियतिवादका प्रचार न हो। हम सम्यक् तत्त्वव्यवस्थाको समझें और समन्तभद्रादि आचार्योंके द्वारा परिशीलित उभयमुखी तत्त्व-व्यवस्थाका मनन करें।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# निश्चयनय सर्वज्ञता और अध्यात्म भावना

निश्चयनयकी दृष्टिसे सर्वज्ञताका पर्यवसान आत्मज्ञतामें होता है, वह प्रतिपादन आ० कुन्दकुन्दने नियमसार ( गा० १५८ ) में किया है। उसका विवेचन मैंने अपने 'जैन-दर्शन' ग्रन्थमें किया है। उस सम्बन्धमें कुछ विचारणीय मुद्दे इस प्रकार हैं—

निश्चयनयकी दृष्टिसे जो पर्यवसानका आत्मज्ञतामें किया गया है उस सम्बन्धमें यह विचार भी आवश्यक है कि निश्चयनयका वर्णन स्वाश्रित होता है।[1] निराकार यानी मात्र चैतन्य जब तक स्वीकार रहता है तब तक वह दर्शन है और जब वह साकार ज्ञान अर्थात् ज्ञेयाकार बनता है तब वह ज्ञान कहलाता है। अब प्रश्न यह है कि निश्चयनयकी दृष्टिमें ज्ञान स्वसे भिन्न किसी पर पदार्थको जानता है क्या ? और यदि जानता है तो उसका यह परका जानना क्या पराश्रित कहा जाकर व्यवहारकी सीमामें नहीं आयगा ? इस प्रश्नके उत्तरमें अपनी दार्शनिक प्रक्रियासे ऊपर उठकर आ० कुन्दकुन्दकी दृष्टिसे ही विचार करना होगा। जहाँ कहीं थोड़ा भी पर पदार्थका आश्रय आया कि वह स्थिति निश्चनययकी सीमासे बाहर हो जाती है। समय प्राभृत[2] में ही ज्ञान, दर्शन और चारित्रके गुणभेदको भी व्यवहारनयमें ही डाल दिया है—

"ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥"

अर्थात् चारित्र, दर्शन और ज्ञानका उपदेश व्यवहारनयसे है। निश्चयनयसे न ज्ञान है, न चारित्र। और न दर्शन ही है, यह तो शुद्ध ज्ञायक है।

जहाँ तक द्रव्यके परिणमनकी बात है, वह एक द्रव्यमें एक समयमें एक ही होता है। वह भी उसके अपने निज उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक मूल स्वभावके कारण। द्रव्य चाहे शुद्ध या अशुद्ध इस परिणामी स्वभावके कारण वह प्रतिक्षण पूर्वपर्यायको छोड़कर नई पर्यायको धारण करता हुआ अतीतसे वर्तमान होता हुआ आगे बढ़ता चला जा रहा है। आत्मद्रव्य एक अखण्ड द्रव्य है। वह भी इसी ध्रुव नियमके अनुसार प्रतिक्षण परिणामी है। उसके इस एक वर्तमानकालीन परिणमनको ज्ञान, दर्शन, सुख और चारित्र आदि अनेक गुणमुखोंसे देखा जाता है। समस्त गुणोंमें एक चैतन्य जाग्रत् रहता है। वही एक चैतन्यज्योति सभी गुणोंमें प्रकाशमान है - कुन्दकुन्द उसी ज्योतिको 'शुद्ध ज्ञायक' शब्द से कहते हैं। ज्ञान और दर्शनमें भी यही ज्ञायकज्योति प्रवहमान है। जब यह ज्योति स्व से भिन्न किसी ज्ञेयको प्रकाशित करती है तब ज्ञान कही जाती है और जब मात्र स्वको प्रकाशित करती है तब दर्शन कहलाती है। यानी इस ज्योतिमें 'ज्ञान' संज्ञा परके प्रकाशकत्वसे आती है। अब विचार कीजिये कि जो निश्चयनय अपने गुण-गुणीभेदको भी सहन नहीं करता वह परप्रकाशकत्वसे आनेवाली 'ज्ञान' इस संज्ञाको 'चैतन्य' में कैसे स्वीकार कर सकता है ? दूसरे शब्दोंमें वह 'ज्ञायक' को 'शुद्ध ज्ञायक' मानना चाहता है। आत्मा जब तक विभावपरिणति करता है तब तक उसके अनेक योग, उपयोग और विकल्प होते रहते हैं। किन्तु जब वह विभावदशा से स्वभाव में पहुँचता है तब उसकी परिणति एक ही होती है और वह होती है शुद्ध ज्ञायक परिणति। सिद्ध होनेके प्रथम क्षणसे अनन्तकाल तक एक जैसी शुद्ध परिणति उसकी होती है। तब यह प्रश्न उठता है कि यदि सिद्धकी अनन्तकाल तक एक जैसी शुद्ध पर्याय

१. 'स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः।' —नियमसार टीका
२. गाथा ७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनी रहती है तो उत्पाद व्यय मानने से क्या लाभ ? इसका सहज समाधान यही है कि यह तो द्रव्यका मूलभूत निज स्वभाव है कि वह प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हो। बिना इसके वह 'सत्' नहीं हो सकता। उसमें जो अगुरुलघुगुण है उसके कारण यह न गुरु होता है और न लघु, अपने निजद्रव्यत्वको बनाये रखता है। उत्पाद व्यय का यह अर्थ कभी नहीं है कि जो प्रथम समयमें है वह द्वितीय समयमें न हो या उससे विलक्षण ही हो, किंतु उसका अर्थ केवल इतना ही है कि पूर्वपर्याय विनष्ट हो और उत्तर पर्याय उत्पन्न हो। वह उत्तर पर्याय सदृश, विसदृश, अर्धसदृश और अल्पसदृश कैसी भी हो सकती है। 'हो' इतना ही विचारणीय है, 'कैसी हो' यह सामग्रीपर निर्भर करता है। अनन्तकाल तक एक जैसी शुद्ध अवस्था यदि रहती है तो रहो इसमें उनके सिद्धत्वकी कोई क्षति नहीं है।

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार विभाव अवस्थामें उसके विचित्र अशुद्ध परिणमन होते थे उस प्रकार स्वभाव अवस्थामें नहीं होते। स्वभाव एक ही होता है और शुद्धता भी एक ही होती है।

तो क्या शुद्ध अवस्थामें आत्मा ज्ञानशून्य हो जाता है ? इस प्रश्नका शुद्ध निश्चयनयसे यही उत्तर हो सकता है कि चैतन्यके परिणामी होते हुए भी वह अवस्था नहीं होनी चाहिए जिसमें पर की अपेक्षा हो। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि भेद भी शुद्ध निश्चयनय की दृष्टिमें नहीं हैं। वह तो एक अखण्ड चिर्त्पिण्डको देखता है। 'आत्माके ज्ञानदर्शन आदि गुण हैं' इसे वह भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक मानता है[1]। तथा 'केवलज्ञानादिरूप जीव है' इसे वह निरुपाधि गुणगुण्यभेद विषयक अशुद्ध निश्चयनय समझता है[2]।

सारांश यह है कि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टिमें किसी भी प्रकार का भेद या अशुद्धता नहीं रहती। इस दृष्टिसे जब सोचते हैं तो जिस प्रकार वर्णादि आत्माके नहीं हैं उसी प्रकार रागादि भी आत्माके नहीं हैं और गुणस्थान पर्यन्त समस्त ज्ञानादि भाव भी आत्माके नहीं हैं। इसी दृष्टिसे यदि 'जाणदि पस्सदि' का व्याख्यान करना हो तो प्रथम तो 'ज्ञान और दर्शन' ये भेद ही नहीं होंगे। कदाचित् स्वीकार करके चलें भी, तो इनका क्षेत्र 'स्वस्वरूप' हो हो सकता है 'स्व' के बाहर नहीं। पर का स्पर्श करते ही वह पराश्रित व्यवहार की मर्यादामें जा पहुँचेगा। ज्ञानका पर पदार्थको जानना यह नय व्यवहार समझता है, वह स्वरूपज्योति है, स्वनिमग्न है, उसका पराश्रितत्व व्यवहार है।

जैनदर्शनकी नय प्रक्रिया अत्यन्त दुरूह और जटिल है। इसका अन्यथा प्रयोग वस्तुतत्त्वका विपर्यास करा सकता है। अतः जिस प्रकरणमें विवक्षासे जिस नयका प्रयोग किया गया है उस प्रकरणमें उसी विवक्षा से समस्त परिभाषाओं को देखना और लगाना चाहिए। किसी एक परिभाषा को शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे लगाकर अन्य व्यवहारकी परिभाषाओंको पकड़कर घोलघाल करनेमें जैनशासन का यथार्थ निरूपण नहीं हो सकता, किन्तु विपर्यास ही हाथ लगता है।

### व्यवहारकी दृष्टि

समयसारमें तो एक अशुद्ध द्रव्य निश्चयनयका विषय मानकर बाकी प्रवर्तक स्वभाव या परभाव सभी व्यवहारके गड्ढेमें डालकर उन्हें हेय अतएव अभूतार्थ कह दिया है। यहाँ एक बात ध्यान में रखने की

---

१. "भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको, यथा आत्मनो दर्शनज्ञानादयो गुणाः।" (आलाप प०, पृ० १६८)

२. "तत्र निरुपाधिगुणगुण्यभेदविषयकोऽशुद्धनिश्चयः, यथा केवलज्ञानादयो जीव इति।" (आलाप प०, पृ० १७७)



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। नैगमादि नयों का विवेचन वस्तु तत्त्वकी मीमांसा करनेकी दृष्टिसे है जब कि समयसारगत नयों का वर्णन अध्यात्म भावना को परिपुष्ट कर हेय और उपादेय के विचार से सन्मार्गमें लगानेके लक्ष्यसे है।

निश्चय और व्यवहारके विचारमें सबसे बड़ा खतरा है—निश्चयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ रहनेकी दृष्टिको न समझकर निश्चयकी तरफ झुक जाने और व्यवहार की उपेक्षा करने का। दूसरा खतरा है किसी परिभाषा को निश्चयसे और किसीको व्यवहारसे लगाकर घोल-घाल करने का। आ० अमृतचन्द्रने इन्हीं खतरोंसे सावधान करने के लिये एक प्राचीन गाथा उद्धृत[1] की है—

जदि जिणमयं पवज्जह तो–मा ववहारणिच्छए मुयह।
जेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण ण तच्चं॥

अर्थात् यदि जिनमत को प्राप्त होवे तो व्यवहार और निश्चयमें भेदको प्राप्त नहीं होना, किसी एक को छोड़ मत बैठना। व्यवहारके बिना तीर्थ का उच्छेद हो जायगा और निश्चयके बिना तत्त्वका उच्छेद होगा।

कुछ विशेष अध्यात्म प्रेमी जैनदर्शनकी सर्वनय संतुलन पद्धतिको मनमें न रखकर कुछ इसी प्रकार का घोलघाल कर रहे हैं। वे एक परिभाषा एक नयकी तथा दूसरी परिभाषा दूसरे नयकी लेकर ऐसा मार्ग बना रहे हैं जो न तो तत्त्वके निश्चय में सहायक होता है और न तीर्थकी रक्षाका साधन ही सिद्ध हो रहा है। उदाहरणार्थ—निमित्त और उपादानकी व्याख्याको ही ले लें।

निश्चयनयकी दृष्टिसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं करता। जो जिस रूपसे परिणत होता है वह उसका कर्ता होता है। इसकी दृष्टिसे कुम्हार घड़ेका कर्ता नहीं होता किंतु मृत्पिण्ड ही वस्तुतः घटका कर्ता है, क्योंकि वही घटरूपसे परिणत होता है। इसकी दृष्टिमें निमित्तका कोई महत्त्वका स्थान नहीं है क्योंकि यह नय पराश्रित व्यवहारको स्वीकार ही नहीं करता। व्यवहारनय परसापेक्षता पर भी ध्यान रखता है। वह कुम्हारको घटका कर्ता इसलिये कहता है कि उसके व्यापारसे मृत्पिण्डमेंसे वह आकार निकला है। घटमें मिट्टी ही उपादान है इसको व्यवहारनय मानता है। किन्तु कुम्भकार व्यवहार वह 'मृत्पिण्ड' में नहीं करके कुम्हारमें करता है। 'घट' नामक कार्यकी उत्पत्ति मृत्पिंड और कुम्भकार दोनोंके सन्निधानसे हुई प्रत्यक्ष सिद्ध घटना है। किन्तु दोनों नयोंके देखनेके दृष्टिकोण जुदे-जुदे हैं। अब अध्यात्मी व्यवित कर्तृत्वकी परिभाषा तो निश्चयनय पकड़ते हैं और कहते हैं कि हरएक कार्य अपने उपादानसे उत्पन्न होता है, अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यमें कुछ नहीं कर सकता। जिस समय जो योग्यता होगी उस समय वह कार्य अपनी योग्यतासे हो जायगा। और इस प्रति समयकी योग्यताको सिद्धिके लिये सर्वज्ञताकी व्यावहारिक परिभाषाकी शरण लेते हैं। यह सही है कि समन्तभद्र आदि आचार्यों ने और इसके पहिले भी भूतबलि आचार्य ने इसी व्यावहारिक सर्वज्ञताका प्रतिपादन किया है और स्वयं कुन्दकुन्दने भी प्रवचनसारमें व्यावहारिक सर्वज्ञताका वर्णन किया है किन्तु यदि हम समन्तभद्र आदिकी व्यावहारिक सर्वज्ञताकी परिभाषा लेते हैं तो कार्योत्पत्तिकी क्रिया भी उन्हींके द्वारा प्रतिपादित बाह्य और अन्तरंग उभय विध कारणोंसे जाननी चाहिए। और यदि हम कार्योत्पत्तिकी प्रक्रिया कुन्दकुन्दकी नैश्चयिक दृष्टिसे लेते हैं तो सर्वज्ञताकी परिभाषाकी नैश्चयिक ही माननी चाहिए। एक परिभाषा व्यवहारकी लेना और एक परिभाषा निश्चयकी पकड़कर घोलघाल करनेसे वस्तुका विपर्यास ही होता है।

इसी तरह व्यावहारिक सर्वज्ञतासे नियतिवादको फलित करके उसे निश्चयनयका विषय बनाकर

---

१. समयप्रा० आत्म० गा० १४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषार्थको रेड़ मारना तीर्थोच्छेदकी ही कक्षामें आता है। तीर्थ प्रवर्तनका फल यह है कि—व्यक्ति उसका आश्रय लेकर असत् से सत्, अशुभ से शुभ, अशुद्ध से शुद्ध और तम से प्रकाश की ओर जावें। परन्तु इस नियतिवादमें जब अपने अगले क्षणमें परिवर्तन करनेकी शक्यता ही नहीं है तब किसलिये तीर्थ-धर्मका आश्रय लिया जाय? दीक्षा, शिक्षा और संस्कारका आखिर प्रयोजन ही क्या रह जाता है? इस तरह जिनवरके दुरासद नयचक्रको नहीं समझकर और समग्र जैनशासनकी सर्वनयमयताके परिपूर्ण स्वरूपका ध्यान नहीं करके कहींकी ईंट और कहीं का रोड़ा लेनेमें न वस्तु तत्त्वकी रक्षा है और न तीर्थ की प्रभावना ही।

### आ० कुन्दकुन्दकी अध्यात्मभावना

आ० कुन्दकुन्दने अपने समय-प्राभृतमें अध्यात्म-भावनाका वर्णन किया है। उनका कहना है कि आत्म-संशोधन और शुद्धात्मकी प्राप्तिके लिये हमें इस प्रकारकी भावना करनी चाहिए—कि निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। जिस गाथा[1] में उन्होंने व्यवहारको अभूतार्थ और निश्चयनयको भूतार्थ की बात कही है। उसके पहिलेकी दो गाथाओंमें वे आत्मभावना करनेकी बात कहते हैं[2]। इतना ही नहीं, वे निश्चयनय से व्यवहारका निषेध करके निर्वाणकी प्राप्तिके लिये निश्चयनयमें लीन होनेका उपदेश करते हैं—

"एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयसल्लीणा पुन मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं॥"

—समयप्रा० गा० २९६।

अर्थात्-इस तरह निश्चयनयकी दृष्टिसे व्यवहारनय का प्रतिषेध समझना चाहिये। निश्चयनयमें लीन मुनिजन निर्वाण पाते हैं।

इसी तरह उन्होंने और भी मोक्षमार्गी साधकको जीवन-दर्शनकी तथा आत्म-संशोधनकी प्रक्रिया और भावनाएँ बताई हैं जिनसे चित्तको भावितकर साधक शान्तिलाभ कर सकता है। परन्तु भावनासे वस्तु-स्वरूपका निरूपण नहीं होता। वही कुन्दकुन्द जब वस्तु स्वरूपका निरूपण करने बैठते हैं तो प्रवचनसार व पंचास्तिकाय का समस्त तत्त्व वर्णन उभयनय समन्वित अनेकान्तदृष्टिसे होता है।

भावनाको तत्त्वज्ञानका रूप देनेसे जो विपर्यास और खतरा होता है तथा उसके जो कुपरिणाम होते हैं वे किसी भी दर्शनके इतिहासके विद्यार्थीसे छिपे नहीं हैं। बुद्ध ने स्त्री आदिसे विरक्तिके लिये उसमें क्षणिक परमाणुपुंज स्वप्नोपम मायोपम शून्य आदि की भावना करनेका उपदेश दिया। पीछे उन एक-एक भावनाओंको तत्त्वज्ञानका रूप देनेसे क्षणिकवाद, परमाणुपुञ्जवाद, शून्यवाद आदि वादों की सृष्टि हो गई और पीछे तो उन्हें दर्शनका रूप ही मिल गया। जैन परम्परामें भी मुमुक्षुओंको अनित्य, अशरण, अशुचि आदि

---

१. "ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो हु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥" —समयप्रा० गा० १३.

२. "णाणम्हि भावना खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णिदि आदा तम्हा कुण भायणं आदे॥
जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि-अचिरेण कालेण॥" —समयप्रा० गा० ११।१२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावनासे चित्तको भावित करनेका उपदेश दिया गया है। इन्हें अनुप्रेक्षा संज्ञा भी इसीलिये दी गई है कि इनका बार-बार चिन्तन किया जाय। अनित्य भावनामें वही विचार तो है जो बुद्धने कहे थे कि—जगत् क्षणभंगुर है, अशुचि है, स्वप्नवत् है, माया है, मिथ्या है आदि। इसी तरह स्त्रीसे विरक्तिके लिये उसमें 'नागिन, सर्पिणी, नरककी खान, विषबेल' आदि की भावना करते हैं, पर इससे वह नागिन या सर्पिणी तो नहीं बन जाती या नागिन और सर्पिणी तो नहीं है। जैसे इस भावनाको तत्त्वज्ञानका रूप देकर वस्तुविपर्यास नहीं किया जाता, उसी कुन्दकुन्दकी अध्यात्म भावनाको हमें भावनाके रूपमें ही देखना चाहिये, तत्त्वज्ञानके रूपमें नहीं। उनके तत्त्वज्ञानका ठोस निरूपण यदि प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदिमें देखनेको मिलता है तो आत्मशोधनकी प्रक्रिया समयसारमें।

निश्चय और व्यवहारनयोंका वर्णन वस्तु तत्त्वके स्वरूपके निरूपणसे उतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना हेयोपादेय विवेचनसे। 'स्त्री किन-किन निमित्त और उपादानोंसे उत्पन्न हुई हैं' यह वर्णन अध्यात्म भावनाओं में नहीं मिलता, किन्तु 'स्त्रीको हम किस रूपमें देखें' जिससे विषय विरक्ति हो, यह प्रक्रिया उसमें बताई जाती है। अतः यह विवेक करने की पूरी-पूरी आवश्यकता है कि कहाँ वस्तु तत्त्वका निरूपण है और कहाँ भावनात्मक वर्णन है। मुझे यह स्पष्ट करनेमें कोई संकोच नहीं है कि कभी-कभी असत्य भावनाओंसे भी सत्यकी प्राप्तिका मार्ग अपनाया जाता है। जैसे कि स्त्रीको नागिन और सर्पिणी समझकर उससे विरक्ति करानेका। अन्ततः भावना, भावना है, उसका लक्ष्य वैज्ञानिक वस्तु तत्त्वके निरूपणका नहीं है, किन्तु है अपने लक्ष्यकी प्राप्तिका जबकि तत्त्वज्ञानके निरूपण की दिशा वस्तुतत्त्वके विश्लेषण पूर्वक वर्णन की होती है। उसे अमुक लक्ष्य बने या बिगड़े यह चिन्ता नहीं होती। अतः हमें आचार्योंकी विभिन्न नयदृष्टियोंका यथावत परिज्ञान करके तथा एक आचार्यको भी विभिन्न प्रकरणोंमें क्या विवक्षा है यह सम्यक् प्रतीति करके ही सर्वनयसमूह साध्य अनेकान्त तीर्थकी व्याख्यामें प्रवृत्त होना चाहिए। एक नय यदि नयान्तरके अभिप्रायका तिरस्कार या निराकरण है तो वह सुनय नहीं रहता दुर्नय बनकर अनेकान्तका विघातक हो जाता है। भूतबलि, पुष्पदन्त, उमास्वामी, समन्तभद्र और अकलङ्कदेव आदि आचार्योंने जो जैन-दर्शनका मुनिवादी पायेदार निर्बाध तथा सुदृढ़ भूमिका निरूपण किया है वह यों ही 'व्यवहार' कहकर नहीं उड़ाया जा सकता। कोई भी धर्म अपने 'तत्त्वज्ञान' और 'दर्शन' के बिना केवल नैतिक नियमोंके सिवाय और क्या रह जाता है। ईसाईधर्म और इस्लामधर्म अपने 'दर्शन' के बिना आज परीक्षा प्रधानी मानवको अपनी ओर नहीं खींच पाते। जैन-दर्शनने प्रमेयको अनेकान्त रूपता, उसके दर्शनको 'अनेकान्त-दर्शन' और उसके कथनकी पद्धति का 'स्याद्वाद भाषा' का जो रूप देकर आज तक भी 'जीवितदर्शन' का नाम पाया है उसे 'व्यवहार' के गड्ढे में फेंकनेसे तीर्थ और शासन की सेवा नहीं होगी। जैन-दर्शन तो वस्तु व्यवस्थाके मूल रूपमें ही लिखता है कि—

"स्वपरात्मोपादानापोहनापाद्यत्वं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।"

अर्थात् स्वोपादान यानी स्वास्तित्वके साथ ही साथ पर की अपेक्षा नास्तित्व भी वस्तुके लिये आवश्यक है। यह अस्ति और नास्ति अनेकान्त दर्शनका क ख है, जिसकी उपेक्षा वस्तु स्वरूपकी विघातक होगी।

सम्यक् नियतिवादके समर्थनमें उपयोग करना जैनीनयदृष्टिको गहराईसे न समझनेका ही परिणाम है। आचार्य अमृतचन्द्रने ठीक ही कहा कि—जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित नयचक्रका समझना अत्यन्त कठिन है। यह दुधारी तलवार है। इसे बिना समझे चलानेवाला विनाशकी ओर ही जाता है। आचार्य कुन्दकुन्दने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकों स्थलोंमें यह स्पष्ट किया है कि परिणामी आत्मा और परिणामी पुद्गल एक-दूसरेके निमित्तसे परिणमन करते हैं। यदि आत्मद्रव्यमें अपनेको बुद्धिपूर्वक अचारित्रसे चारित्रकी ओर ले जानेकी शक्यता या अवसरके उपयोग करनेकी प्रवृत्तियोग्यता हो तो क्यों ये सब चरित्रनिर्माण और जीवोद्धारके प्रयत्न आज तक असंख्य तीर्थंकरों व आचार्योंने किये ? ये तो इसीलिये हुए कि न मालूम किस निमित्तसे कौन सुलट जाय। किसकी उपादानयोग्यता किस निमित्तसे विकसित हो जाय। 'सब कार्य उपादान योग्यतासे होते हैं' इसमें किसीको विवाद नहीं है परन्तु उपादानयोग्यतायें सबमें मूलतः समान होनेपर भी उनके विकासकी सामग्री अनेक होती हैं। जिसकी योग्यताके विकासके लिए जो सामग्री फिट (अनुकूल) बैठ जाती है उससे उस योग्यताका विकास हो जाता है। इसीलिए स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द[1] ने अनेक नयदृष्टियोंसे आत्माका वर्णन करके स्वकर्तृत्वकी शक्यता और अवसरका विचार करके कषायत्याग और सत्प्रवृत्तिमें प्रयत्न करनेका उपदेश दिया है। 'पुरुषार्थसे अनादिकालीन मलिन आत्मा भी धीरे-धीरे शुद्ध हो सकती है' यह शक्यता उनने स्वयं स्वीकार की है।

## आत्मस्वरूप

तीर्थंकर महावीरने उपर्युक्त सभी कुदृष्टियोंसे ऊपर उठकर केवलज्ञानसे आत्माका यथार्थ साक्षात्कार किया और बताया कि जगत्का प्रत्येक द्रव्य अपने मूलस्वरूपको अनादिसे रखता आया है और अनन्तकाल तक रखेगा, उसके मूलस्वरूपका कभी समूल विनाश नहीं हो सकता। इस तरह अपनी अनादि-अनन्त परम्परासे वह नित्य या ध्रुव होकर भी प्रतिक्षण अपनी पूर्व पर्यायको छोड़ता है और नवीन उत्तर पर्यायको ग्रहण करता हुआ पर्यायोंकी धारामें प्रवहमान है। कोई भी द्रव्य इसका अपवाद नहीं है। आत्मा जड़ पदार्थोंसे भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य है। वह चैतन्यमय है और असंख्य परिवर्तन करनेपर भी वह अपने चैतन्यस्वरूपको नहीं छोड़ता। उसके जितने भी परिणमन हुए हैं या होंगे वे सभी चैतन्यमय होंगे। वही अनादिकालसे अशुद्ध हुआ चला आ रहा है और वही शुद्ध होगा। उसकी चैतन्यधारामें सामग्रीके अनुसार असंख्य प्रकारके परिणमन होते रहते हैं।

## नियत-अनियत तत्त्ववाद

इसमें इतना नियत है कि—

१—संसारमें जितने द्रव्य हैं—यानी अनन्त आत्मद्रव्य, अनन्त पुद्गल परमाणु द्रव्य, असंख्यकालाणु द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य और एक आकाश द्रव्य, इनकी संख्यामें न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। न किसी नये द्रव्यकी उत्पत्ति होगी और न किसी मौजूदा द्रव्यका समूल विनाश ही, अनादिकालसे इतने ही द्रव्य थे, हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे।

२—प्रत्येक द्रव्य अपने निज स्वभावके कारण पुरानी पर्यायको छोड़ता है, नई पर्यायका ग्रहण करता है और अपने प्रवाही सत्त्वकी अनुवृत्ति रखता है। द्रव्य चाहे शुद्ध या अशुद्ध इस परिवर्तनचक्रसे अछूता नहीं रह सकता। कोई भी किसी भी पदार्थके उत्पाद और व्यय रूप इस परिवर्तनको रोक नहीं सकता और न इतना विलक्षण परिणमन ही करा सकता है कि वह अपने मौलिक सत्त्वको ही समाप्त कर दे और सर्वथा उच्छिन्न हो जाय।

---

१. आचार्य कुन्दकुन्दके निश्चय-व्यवहारके स्वरूपके लिये देखिये लेखकका 'जैन-दर्शन' नामक मौलिक ग्रन्थ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३–कोई भी द्रव्य किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपसे परिणमन नहीं कर सकता। एक चेतन न तो अचेतन हो सकता है और न चेतनान्तर ही बन सकता है। वह चेतन वही चेतन रहेगा।

४–जिस प्रकार दो या अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर एक संयुक्त समान स्कन्ध रूप पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं, उस तरह दो चेतन या अन्य धर्मादिद्रव्य मिलकर संयुक्तपर्याय उत्पन्न नहीं कर सकते।

५–प्रत्येक द्रव्यकी अपनी मूल द्रव्य शक्तियाँ और योग्यतायें समान रूपसे निश्चित हैं। उनमें हेर-फेर नहीं हो सकता। कोई नई शक्ति कारणांतर से ऐसी नहीं आ सकती जिसका अस्तित्व उस द्रव्यमें न हो। इसी तरह कोई द्रव्यशक्ति सर्वथा विनष्ट नहीं हो सकती।

६–द्रव्यशक्तियों के समान होनेपर भी अमुक चेतन या अचेतनमें स्थूल पर्याय सम्बन्धी अमुक योग्यतायें भी नियत हैं। उनमें जिसकी सामग्री मिल जाती है उसका विकास हो जाता है। जैसे प्रत्येक पुद्गलाणुमें पुद्गलकी सभी द्रव्य योग्यतायें रहनेपर भी मिट्टीके पुद्गल ही साक्षात् घड़ा बन सकते हैं, कङ्कड़ोंके पुद्गल नहीं। तंतुके पुद्गल ही साक्षात् कपड़ा बन सकते हैं मिट्टीके पुद्गल नहीं, यद्यपि घड़ा और कपड़ा दोनों ही पुद्गलकी पर्यायें हैं। हाँ, कालान्तरमें बदलते हुए मिट्टीके पुद्गल भी कपड़ा बन सकते हैं और तन्तुके पुद्गल भी घड़ा। तात्पर्य यह कि संसारी जीव और पुद्गलोंकी अपनी-अपनी द्रव्य शक्तियाँ समान होनेपर भी अमुक स्थूल पर्यायमें अमुक शक्तियाँ ही साक्षात् विकसित हो सकती हैं, शेष शक्तियाँ बाह्य सामग्री मिलनेपर भी तत्काल विकसित नहीं हो सकतीं।

७–यह नियत है कि उस द्रव्यकी उस स्थूल पर्यायमें जितनी पर्याय योग्यतायें हैं उनमेंसे ही जिसकी अनुकूल सामग्री मिलती है उसका ही विकास होता है शेष तत्पर्याययोग्यतायें द्रव्यकी मूल योग्यताओंकी तरह सद्भावमें ही बनी रहती हैं।

८–यह भी नियत है कि अगले क्षणमें जिस प्रकार सामग्री उपस्थित होगी, द्रव्यका परिणमन उससे प्रभावित होगा। इसी तरह सामग्रीके अन्तर्गत जो भी द्रव्य हैं उनके परिणमन भी इस द्रव्यसे प्रभावित होंगे। जैसे कि ऑक्सीजनके परमाणुको यदि हाइड्रोजनका निमित्त मिल जाता है तो दोनोंका जल रूपसे परिणमन हो जायगा अन्यथा जैसी सामग्री मिलेगी उस रूपसे वे परिणमन हो जायेंगे।

जैन-दर्शनने 'वस्तु क्या है, यह जो पर्यायोंका उत्पाद और व्यय है उसमें निमित्त उपादानकी क्या स्थिति है' इत्यादि समस्त कार्यकारणभाव, उनके जाननेकी क्या पद्धति हो सकती है? इस समस्त ज्ञापक-तत्त्वका पूरा-पूरा निरूपण किया है। इस कारण तत्त्व और ज्ञापक तत्त्वमें भावनाका स्थान नहीं है। इसमें तो कठोर परीक्षा और वस्तु स्थितिके विश्लेषणकी पद्धतिका प्रामुख्य है। अतः जहाँ वस्तु तत्त्वका निरूपण हो वहाँ दर्शनकी प्रक्रियासे उसका विवेचन कीजिये और उत्पन्न तथा ज्ञापित वस्तुमें किस प्रकारकी भावना या चिंतनसे हम रागद्वेषसे वीतरागताकी ओर जा सकते, इस अध्यात्म भावनाको समयसारसे परखिए। भावना और दर्शनका अपना-अपना निश्चित क्षेत्र है उसे एक दूसरेसे न मिलाइए।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# महावीर वाणी

तीर्थंकर महावीरने बिहारकी पुण्यभूमि वैशालीमें आजसे २५५७ वर्ष पूर्व जन्म लिया था। तीस वर्षकी भरी जवानी में राजवैभवको लात मार वे आत्मसाधनामें लीन हुए थे, व्यक्तिकी मुक्ति और समाजमें शान्तिका मार्ग खोजनेके लिए। बारह वर्षकी सुदीर्घ ( लम्बी ) तपस्याके बाद उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने धर्मका साक्षात्कार किया। उसके बाद लगातार ३० वर्ष तक वे बिहार, उड़ीसा, बंगाल और उत्तर-प्रदेश आदिमें सतत पाद विहारकर धर्मोपदेश देकर सर्वोदयतीर्थका प्रवर्तन करते रहे। वीरभूमि और वर्धमान जिले तीर्थंकर महावीरकी यशोगाथाका गान अपने नामों द्वारा आज भी कर रहे हैं।

वे तीर्थंकर थे। तीर्थंकर जन्म-जन्मान्तरसे यह संकल्प और भावना रखता है कि—मुझे जो शक्ति, सामर्थ्य और विभूति प्राप्त हो उसका एक-एक कण जगत्के कल्याण व उद्धारके लिए अर्पित है। अज्ञानके अन्धकार और तृष्णाके जालमें पड़े हुए प्राणी कैसे प्रकाश पाएँ और कैसे तृष्णाके जालको भेदकर सन्मार्गमें लगें, यह उनके जीवनका प्रमुख लक्ष्य होता है। वह उस अनुभूत धर्म या तीर्थका उपदेश देता है जिसपर चल-कर उसने स्वयं जीवनका चरम लक्ष्य पाया होता है और वह खपा देता है अपनेको प्राणिमात्रके उद्धार और विश्वके कल्याण में।

उन्होंने अपने सर्वोदय तीर्थका उपदेश उस समयकी जनताकी बोली अर्धमागधीमें दिया था। अर्ध-मागधी वह भाषा थी जिसमें आधे शब्द मगध देशकी भाषाके थे जो महावीरकी मातृभाषा थी और आधे शब्द विदेह अंग, वंग, कलिंग आदि अठारह महाजनपदोंकी महाभाषाओं और ७०० लघु भाषाओंके थे। यानी उनकी भाषामें सभी बोलियोंके शब्द थे। इसका कारण था कि उन्हें उन पतित, शोषित, दलित और अभि-द्रावित शूद्रों तकको सद्धर्मके अमृतका पान कराना था जिनने सदियोंसे धर्मका शब्द नहीं सुना था। जो धर्म तो क्या मनुष्यतासे वंचित थे। जिनकी दशा पशुओंसे भी बदतर थी। जो धर्म वर्गविशेषमें कैद था और वर्गविशेषकी प्रभुताका मात्र साधन बना हुआ था उस धर्मका द्वार जन-जनके कल्याणके लिए उन्हींकी भाषामें उपदेश देकर इन तीर्थंकरने खोला। आज प्रान्तीय भाषाओंके नामपर झगड़नेवाले हमलोगोंको महावीर और बुद्धकी उस लोकभाषाकी दृष्टिकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता है कि भाषा एक वाहन है विचारोंको ढोनेका। वह उतना समृद्ध होना चाहिए जिसका उपयोग बहुजन कर सकें। हिन्दी और हिन्दुस्तानी तथा प्रान्तीय भाषाओंके विवादको हमें इसी संग्राहक दृष्टिसे हल कर लेना चाहिए।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं णमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप अर्थात् अपनी इच्छाओंको निरोध करना धर्मका मूल रूप है। जिसके जीवन और मनमें धर्म आ गया उसे देव-श्रेष्ठजन भी नमस्कार करते हैं।

अहिंसाकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि—

'जे य अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे यह आयमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइ-क्खंति एवं भासंत्ति एवं पन्नवेन्ति एवं परूवेन्ति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जायेतव्वा न परिधेतव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे निति‌ए सासए।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जितने अरिहंत या तीर्थंकर हो चुके हैं, तथा होंगे वे सब एक ही बात कहते हैं, एक ही बात बताते हैं, एक ही धर्मका प्रतिपादन करते हैं, एक ही सद्धर्मकी घोषणा करते हैं कि किसी प्राणी, किसी भूत, किसी जीव या किसी सत्व यानी छोटे-मोटे स्थावर या जंगम किसी भी जीवको न मारना चाहिए, न पकड़ना चाहिए, न कष्ट पहुँचाना चाहिए। यह धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है। और उन्होंने इस अहिंसाकी कसौटी कितने प्यारे शब्दोंमें बताई है—

'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला' अर्थात् सभी प्राणियोंको अपना जीवन प्यारा है, सभी सुख-शान्ति चाहते हैं और सभीको दुःख बुरा लगता है। और—

'जह मम ण पियं दुक्खं जाणिहि एमेव सव्वजीवाणं'।

जैसे हमें दुःख अच्छा नहीं लगता ऐसे ही सभी जीवोंको जानो।

अतः

'सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं णिग्गंथा वज्जियंति णं॥'

सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। अतः सभी प्रकारके प्राणीवध अर्थात् हिंसासे निर्ग्रन्थ परहेज करते हैं उसका त्याग करते हैं।

उन्होंने सभी प्राणियोंमें आत्मोपम्यकी भावनाको जगाते हुए कहा—'लुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मनसि, तुमं सि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि'—

भद्र पुरुषों, जिसे तुम कष्ट देना चाहते हो वह तुम्हीं हो, वह तुम जैसा ही है। जिसे तुम मारना चाहते हो वह तुम्हीं हो। जिसे तुम सताना चाहते हो वह तुम्हीं हो। जिसे तुम तंग करना चाहते हो वह तुम्हीं हो। यानी जब तुम किसीको मारने या हिंसा करनेको तैयार होते हो तो तुम स्वयं अपनी हिंसा करते हो।

जिस क्रोध, अहंकार, माया और लोभके वशीभूत होकर तुम हिंसा और अन्य पापकार्योंमें प्रवृत्त होते हो वे सर्वनाशके द्वार हैं—

'कोहो पीइं विणासेइ माणो विणयणासणो।
माया मित्ताणि णासेइ लोभो सव्वविणासणो॥'

क्रोध मित्रता या प्रीतिका नाश कर देता है। मान विनयको छिन्न-भिन्न कर देता है। माया मित्र-भावको नष्ट कर देती है और लोभ तो सर्वविनाशकारी होता है।

अतः इन चार अन्तरंग शत्रुओं को—

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण लोहं संतोसओ जिणे॥

उपशमभाव अर्थात् क्षमा या शान्तिसे क्रोधका नाश करे, उसे जीते। विनय या कोमल भावनाओंसे मानका मद चूर करे। सरलता या ऋजु भावोंसे मायाको जीते और सन्तोषसे लोभको जीते।

उनकी धर्मोपदेशकी सभाको समवसरण कहते हैं। समवसरण-सम अवसरण अर्थात् जिसमें सबको समान अवसर हो। इसीलिए उनकी सभामें शूद्र, माली, कोरी, चमार, नाई, चांडाल सभी जाते थे। उनकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभामें स्त्रियोंको भी समान स्थान था और शूद्रोंको भी। इतना ही नहीं, पशु-पक्षी भी अपना जातिविरोध भूलकर इस अहिंसामूर्तिके दर्शनकर एक जगह बैठते थे। उन्होंने सबको धर्मका उपदेश देते हुए बताया था कि—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रूपसे यह वर्णव्यवस्था समाजरचना और व्यवस्थाके लिए अपने गुण और कर्मके अनुसार है। वह जन्मना नहीं है, अपने आचरण से है। कोई भी शूद्र सदाचार धारणकर ब्राह्मणसे भी ऊँचा हो सकता है और कोई ब्राह्मण भी दुराचारके कारण शूद्र से भी नीचा। वे कहते हैं—

"कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"

अपने कर्म-आचरणसे ही ब्राह्मण होता है, कर्मसे ही क्षत्रिय होता है, वैश्य भी कर्मसे होता है तथा शूद्र भी कर्मसे ही बनता है।

उन्होंने बाह्यक्रियाकांडियों को झकझोरते हुए कहा—

न वि मुंडिएण समणो न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण ण तावसो॥

कोई मूड़ मुड़ा लेने मात्रसे श्रमण नहीं हो सकता और न ओंकारके रटने से ब्राह्मण ही। न जंगलमें बस जानेसे मुनि बन सकता है और न मूंजकी रस्सी बाँध लेनेसे तपस्वी ही। तब—

"समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण मुणी होई तवेण होइ तावसो॥"

समता से श्रमण होता है। जिसके जीवन में शम-शान्ति सम-समत्वकी भावना और श्रम-स्वावलम्बन की प्रतिष्ठा हो वही सच्चा श्रमण है। ब्रह्मचर्य से अर्थात् आत्मधर्ममें विचरण करने से ब्राह्मण होता है न कि बाह्य क्रियाकांड से। ज्ञान से मुनी होता है और इच्छाओंका निरोध करनेसे तपस्वी होता है। उन्होंने सच्चे ब्राह्मणकी परिभाषा करते हुए कहा—

"जहा पोम्मं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहि तं वयं बूम माहणं॥"

जिस प्रकार कमल जलमें उत्पन्न होकर भी उससे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार संसारमें रहकर जो कामभोगोंमें लिप्त नहीं होता वह सच्चा ब्राह्मण है।

और इसीलिए महावीरके धर्मसे अर्जुनमाली और हरिकेशी चांडाल जैसे पतितोंका भी उद्धार हुआ था और उन्हें धर्मक्षेत्र में वही दरजा प्राप्त था जो गौतम जैसे सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण को।

जब उनके परम प्रिय शिष्य गौतमने तीर्थंकर महावीरसे गिड़गिड़ाकर कहा—प्रभु, मेरा उद्धार करो, तुम ही मुझे तार सकते हो तो उन्होंने कहा था—गौतम, तुम स्वयं ही अपना उद्धार कर सकते हो, कोई किसीका उद्धार करनेवाला नहीं है। जब तक तुम्हारे जीवनमें थोड़ा भी परावलम्बन होगा तब तक तुम पराधीन रहोगे और बन्धनमें पड़े रहोगे। वे बोले—

"पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं किं बाहिरा मित्तमिच्छसि।" भव्य पुरुषो, तुम स्वयं अपने मित्र हो, बाहिर मित्र कहाँ ढूँढते हो?



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्पा नई वैयरणी अप्पा मे कूड सामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नंदणं वणं॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण दुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥

आत्मा ही नरक की वैतरणी या कूट शाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही स्वर्ग की कामधेनु और नंदन वन है। यह आत्मा ही अपने सुख और दुःख का कर्ता और भोक्ता है। कोई अन्य ईश्वर इसके पुण्य-पाप का लेखाजोखा नहीं रखता और न पुण्य-पापके फल भोगके लिए स्वर्ग या नरक भेजनेवाला है। बुरे मार्गपर चलनेवाला आत्मा ही शत्रु है और सुमार्ग पर चलनेवाला आत्मा ही मित्र है।

'सच्चं लोगम्मि सारभूयं।'

सत्य ही संसारमें सारभूत है। यह था उनका जीवन सूत्र। समाज रचनाका आधारभूत सूत्र बताते हुए उन्होंने अपरिग्रहका उपदेश दिया और बताया कि—

"धणधन्नपेस्सवग्गेसु परिग्गह विवज्जणं।"

धन-धान्य और नौकर-चाकर आदिके परिग्रहका त्याग करना ही सर्वोत्तम है। पूर्ण त्याग संभव न हो तो कम से कम परिग्रह रखकर जीवनको स्वावलम्बी बनाना चाहिए। अचौर्यव्रतको भी समाज रचनाका आधार बताते हुए कहा कि—

"तं अप्पणा न गिण्हंति नो वि गिण्हावए परं।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि नानुजाणंति संजया॥"

संयमी पुरुष स्वयं दूसरेकी वस्तुको ग्रहण नहीं करते, न दूसरों से चुरवाते हैं और न चोरी करनेवाले की अनुमोदना ही करते हैं।

उन्होंने दूसरोंके विचारोंके प्रति उदारता और सहिष्णुता वर्त्तनेके लिए अनेकान्तदृष्टिकी साधनाका मार्ग सुझाया कहा। यथा—

"जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वयई।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमोऽणेगंतवायस्स॥"

जिस विचारसहिष्णुता के प्रतीक अनेकान्तदर्शनके बिना लोकव्यवहार भी नहीं चलता उस संसारके एकमात्र गुरु अनेकान्त वादको नमस्कार हो।

इस तरह विचारमें अनेकान्त, आचार में अहिंसा, समाज रचनाके लिए अचौर्य, सत्य और अपरिग्रह तथा इन सबकी साधनाके लिए ब्रह्मचर्यका उपदेश देकर अन्तिम समयमें उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य गौतमको लक्ष्यकर जिस अप्रमादका उपदेश दिया था वह है—

दुमपत्तए पंडुयए जहा णिवडइ राइगणाण अच्चाए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए॥

जैसे पतझड़के समय पीला पत्ता झड़ जाता है ऐसे ही यह मनुष्य-जीवन क्षणभंगुर है। गौतम, एक क्षण भी प्रसाद न कर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए॥

जैसे घासकी नोकपर पड़ी हुई ओसकी बूंद थोड़े ही समय ठहरती है ऐसे ही मनुष्योंका जीवन है न जाने कब ढुलक जाय। गौतम, क्षणभर भी प्रमाद न कर।

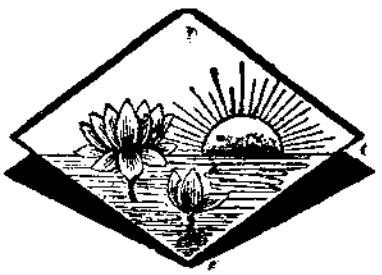
परिजूरइ ते सरीरयं केसा पंडुरमा हवंति ते।
से सव्वबले य हायइ समयं गोयम मा पमायए॥

तेरा शरीर जीर्ण होता जाता है। बाल पक गये हैं। सारी शक्ति धीरे-धीरे विलीन होती जा रही है। गौतम, क्षण भर भी प्रमाद न कर।

"तिण्णोसि अण्णवं महं किह पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए समयं गोयम मा पमायए॥"

गौतम, तू सारा भव समुद तैर चुका। अब किनारेपर आकर क्यों हिम्मत हारता है—एक आखिरी छलांग लगाओ। गौतम, क्षण भर भी प्रमाद नहीं करो। यही भगवान् की पुण्य देशना है—

"णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स"।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# प्राचीन नवीन या समीचीन ?

मनुष्यमें प्राचीनताका मोह इतना दृढ़ है कि अच्छीसे अच्छी बातको वह प्राचीनताके अस्त्रसे उड़ा देता है और बुद्धि तथा विवेकको ताकमें रख उसे 'आधुनिक' कहकर अग्राह्य बनानेका दुष्ट प्रयत्न करता है। इस मूढ़ मानवको यह पता ही नहीं है कि प्राचीन होनेसे ही कोई विचार अच्छा और नवीन होनेसे ही कोई बुरा नहीं कहा जा सकता। मिथ्यात्व हमेशा प्राचीन होता है, अनादिसे आता है और सम्यग्दर्शन नवीन होता है पर इससे मिथ्यात्व अच्छा और सम्यक्त्व बुरा नहीं हो सकता। आचार्य समन्तभद्रने धर्मदेशनाकी प्रतिज्ञा करते हुए लिखा है "देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्" इसमें उनने प्राचीन या नवीन धर्मके उपदेश देनेकी बात नहीं कही है, किन्तु वे 'समीचीन' धर्मका उपदेश देना चाहते हैं। जो समीचीन अर्थात् सच्चा हो, बुद्धि और विवेकके द्वारा सम्यक् सिद्ध हुआ हो, वही ग्राह्य है न कि प्राचीन या नवीन। प्राचीन में भी कोई बात समीचीन हो सकती है और नवीनमें भी कोई बात समीचीन। दोनोंमें असमीचीन बातें भी हो सकती हैं। अतः परीक्षा कसौटीपर जो खरा समीचीन उतरे वही हमें ग्राह्य है। प्राचीनताके नामपर पीतल ग्राह्य नहीं हो सकता और नवीनताके कारण सोना त्याज्य नहीं। कसौटी रखी हुई है, जो कसनेपर समीचीन निकले वही ग्राह्य है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकरने बहुत खिन्न होकर इन प्राचीनता-मोहियोंको सम्बोधित करते हुए छठवीं द्वात्रिंशतिकामें बहुत मार्मिक चेतावनी दी है, जो प्रत्येक संशोधकको सदा स्मरण रखने योग्य है—

"यदशिक्षितपण्डितो जनो विदुषामिच्छति वक्तुमग्रतः।
न च तत्क्षणमेव शीर्यते जगतः किं प्रभवन्ति देवताः॥"

समीक्षक विद्वानोंके सामने प्राचीन रूढ़िवादी बिना पढ़ा पण्डितम्मन्य जब अंट-संट बोलनेका साहस करता है, वह तभी क्यों नहीं भस्म हो जाता ? क्या दुनियामें कोई न्याय-अन्यायको देखनेवाला देवता नहीं है ?

"पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवादहं न जातः प्रथयन्तु विद्विषः॥"

पुराने पुरुषोंने जो व्यवस्था निश्चित की है वह विचारनेपर क्या वैसी ही सिद्ध हो सकती है ? यदि समीचीन सिद्ध हो तो हम उसे समीचीनताके नामपर तो मान सकते हैं, प्राचीनता के नामपर नहीं। यदि वह समीचीन सिद्ध नहीं होती तो मरे हुए पुरुषोंके झूठे गौरवके कारण 'तथा' हाँ में हाँ मिलानेके लिए मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ। मेरी इस समीचीनप्रियताके कारण यदि विरोधी बढ़ते हों तो बढ़ें। श्रद्धावश कबरपर फूल तो चढ़ाये जा सकते हैं। पर उनकी हर एक बातका अन्धानुसरण नहीं किया जा सकता।

"बहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं विरोधयुक्ताः कथमाशु निश्चयः।
विशेषसिद्धाविय्मेव नेति वा पुरातनप्रेमजडस्य युज्यते॥"

पुरानी परम्परायें बहुत प्रकार की हैं, उनमें परस्पर पूर्व-पश्चिम जैसा विरोध भी है। अतः बिना विचारे प्राचीनताके नामपर चटसे निर्णय नहीं दिया जा सकता। किसी कार्य विशेषकी सिद्धिके लिए 'यही व्यवस्था है, अन्य नहीं, यही पुरानी आम्नाय है' आदि जड़ताकी बातें पुरातनप्रेमी जड़ ही कह सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥"

आज जिसे हम नवीन कहकर उड़ा देना चाहते हैं वही व्यक्ति मरनेके बाद नई पीढ़ीके लिए पुराना हो जायगा और पुरातनोंकी गिनतीमें शामिल हो जायगा। प्राचीनता अस्थिर है। जिन्हें आज हम पुराना कहते हैं वे भी अपने जमानेमें नये रहे होंगे और उस समय जो नवीन कहकर दुरदुराये जाते होंगे वे ही आज प्राचीन बने हुए हैं। इस तरह प्राचीनता और पुरातनता जब कालकृत है और कालचक्रके परिवर्तनके अनुसार प्रत्येक नवीन पुरातनोंकी राशिमें सम्मिलित होता जाता है तब कोई भी विचार बिना परीक्षा किये इस गड़बड़ पुरातनताके नामपर कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

"विनिश्चयं नैति यथा यथालसस्तथा तथा निश्चितवत्प्रसीदति।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्ययस्यन् स्ववधाय धावति ॥"

प्राचीनतामूढ़ आलसी जड़ निर्णयकी अशक्ति होनेके कारण अपने अनिर्णयमें ही निर्णयका भान करके प्रसन्न होता है। उसके तो यही अस्त्र हैं कि अवश्य ही इसमें कुछ तत्त्व होगा ? हमारे पुराने गुरु अमोघवचन थे, उनके वाक्य मिथ्या नहीं हो सकते, हमारी ही बुद्धि अल्प है जो उनके वचनों तक नहीं पहुँचती आदि। इन मिद्धावृत आलसी पुराणप्रेमियोंकी ये सब बुद्धिहत्याके सीधे प्रयत्न हैं और इनके द्वारा वे आत्मविनाशकी ओर ही तेजीसे बढ़ रहे हैं।

"मनुष्यवृत्तानि मनुष्यलक्षणैर्मनुष्यहेतोर्नियतानि तैः स्वयम्।
अलब्धपाराण्यलसेषु कर्णवानगाधपाराणि कथं ग्रहीष्यति ? ॥"

जिन्हें हम पुरातन कहते हैं वे भी मनुष्य ही थे और उन्होंने मनुष्योंके लिए ही मनुष्यचरित्रोंका वर्णन किया है। उनमें कोई दैवी चमत्कार नहीं था। अतः जो आलसी या बुद्धि जड़ हैं उन्हें ही वे अगाध गहन या रहस्यमय मालूम हो सकते हैं पर जो समीक्षक चेता मनस्वी हैं वह उन्हें आँख मूँदकर 'गहन रहस्य' के नामपर कैसे स्वीकार कर सकता है ?

"यदेव किंचित् विषमप्रकल्पितं पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते।
विनिश्चताप्यद्य मनुष्यवाक्कृतिर्न पठ्यते यत्स्मृतिमोह एव सः ॥"

कितनी भी असम्बद्ध और असंगत बातें प्राचीनताके नामपर प्रशंसित हो रही हैं और चल रही हैं। उनकी असम्बद्धता 'पुरातनोक्त और हमारी अशक्ति' के नामपर भूषण बन रही है तथा मनुष्यकी प्रत्यक्ष-सिद्ध बोधगम्य और युक्तिप्रवण भी रचना आज नवीनताके नामपर दुरदुराई जा रही है। यह तो प्रत्यक्षके ऊपर स्मृति की विजय है। यह मात्र स्मृतिमूढ़ता है। इसका विवेक या समीक्षणसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

"न गौरवाक्रान्तमतिर्विगाहते किमत्र युक्तं किमयुक्तमर्थतः।
गुणावबोधप्रभवं हि गौरवं कुलाङ्गनावृत्त मतोऽन्यथा भवेत् ॥"

पुरातनके मिथ्यागौरवका अभिमानी व्यक्ति युक्त और अयुक्तका विचार ही नहीं कर सकता। उसकी बुद्धि उस थोथे बड़प्पनसे इतनी दब जाती है कि उसकी विचारशक्ति सर्वथा रुद्ध हो जाती है। अन्तमें आचार्य लिखते हैं कि गौरव गुणकृत है। जिसमें गुण है वह चाहे प्राचीन हो या नवीन या मध्ययुगीन, गौरवके योग्य है। इसके सिवाय अन्य गौरवके नामका ढोल पीटना किसी कुशीला कुलकामिनीका अपने कुलके नामसे सतीत्वको सिद्ध करनेके समान ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कवि कालिदासने भी इन प्राचीनतावद्ध-बुद्धियोंको परप्रत्ययननेयबुद्धि कहा है। वे परीक्षकमतिकी सराहना करते हुए लिखते हैं—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥"

अर्थात् सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नहीं हो सकता। समझदार परीक्षा करके उनमेंसे समीचीनको ग्रहण करते हैं। मूढ़ ही दूसरेके बहकावेमें आता है।

अतः इस प्राचीनताके मोह और नवीनताके अनादरको छोड़कर समीचीनताकी ओर दृष्टि रखनी चाहिए, तभी हम नूतन पीढ़ीकी मतिको समीचीन बना सकेंगे। इस प्राचीनताके मोहने असंख्य अन्धविश्वासों, कुरूढ़ियों, निरर्थक परम्पराओं और अनर्थक कुलाम्नायोंको जन्म देकर मानवकी सहज बुद्धिको अनन्तभ्रमोंमें उलझा दिया है। अतः इसका सम्यग्दर्शनकर जीवनको समीक्षापूर्ण बनाना चाहिये।

●

# जैन अनुसंधानका दृष्टिकोण

यह एक सिद्ध बात है कि साहित्य अपने युगका प्रतिबिम्ब होता है। उसके निर्माताओंका एक अपना दृष्टिकोण रहनेपर भी साहित्यको तत्कालीन सामयिक समानतन्त्रीय या प्रतितन्त्रीय साहित्यके प्रभावसे अछूता नहीं रखा जा सकता। युद्ध क्षेत्रकी तरह दार्शनिक साहित्यका क्षेत्र तात्कालिक सन्धियोंके अनुसार मित्रपक्ष और शत्रुपक्षमें विभाजित होता रहता है। जैसे ईश्वरवादके खण्डनमें जैन, बौद्ध और मीमांसक मिलकर काम करते हैं यद्यपि उन सबके अपने दृष्टिकोण जुदा-जुदा हैं पर वेदके अपौरुषेयत्वके विचारमें मीमांसक विरोध पक्षमें खड़ा हो जाता है और जैन, बौद्ध साथ चलते हैं। क्षणिकत्वके खण्डनके प्रसंगमें जैन और बौद्ध दोनों परस्पर विरोधी बनते हैं और मीमांसक जैनका साथ देता है। तात्पर्य यह कि किसी भी सम्प्रदायके साहित्यमें विभिन्न तत्कालीन साहित्योंका विरोध या अविरोध रूपमें प्रतिबिम्ब अवश्यंभावी है। अतः किसी भी साहित्यका संशोधन करते समय तत्कालीन सभी साहित्यका अध्ययन नितान्त अपेक्षणीय है। बिना इसके वह संशोधन एकदेशीय होगा।

अनेक आचार्योंने तत्कालीन परिस्थितियोंके कारण, जैन संस्कृतिके पीछे जो मूल विचारधारा है उसे भी गौण कर दिया है और वे प्रवाह पतित हो गये हैं। ऐसे तथ्योंका पता लगानेके लिए प्रत्येक विचार विकासका परीक्षण हमें ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टिकोणोंसे करना होगा। जैन विचारधाराका मूल रूप क्या था और किन-किन परिस्थितियोंसे उसमें क्या-क्या परिवर्तन आये इसके लिए बौद्ध पिटक और वैदिक ग्रन्थोंका गम्भीर आलोड़न किए बिना हम सत्य स्थितिके पास नहीं पहुँच सकते।

अवान्तर सम्प्रदायोंके अभेद मुद्दोंकी विकास परम्परा और उनके उद्भवके कारणोंपर प्रकाश भी इसी प्रकारके बहुमुखी अध्ययनसे संभव हो सकता है। यद्यपि इस प्रकारके अध्ययनके आलोकमें अनेक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकारके पूर्वग्रहरूपी अन्धकार स्थलोंका भेदन होनेसे कुछ ऐसा लगेगा कि हमारा सब कुछ गया, पर उससे चित्त हल्का ही होगा और संशोधनका क्षेत्र मात्र विद्या और विचारकी पुनीत ज्योतिसे मानवताके विकासमें सहायक होगा।

संशोधनके क्षेत्रमें हमें पूर्वग्रहोंसे मुक्त होकर जो भी विरोध या अविरोध दृष्टिगोचर हों उन्हें प्रामाणिकताके साथ विचारक जगत्के सामने रखना चाहिए। किसी संदिग्ध स्थलका खींचकर किसी पक्ष विशेष के साथ मेल बैठानेकी वृत्ति संशोधनके दायरेको संकुचित कर देती है। संशोधनके पवित्र विचारपूत स्थानपर बैठकर हमें उन सभी साधनोंकी प्रामाणिकताकी जाँच कठोरतासे करनी होगी जिनके आधारसे हम किसी सत्य तक पहुँचना चाहते हैं। पट्टावली, शिलालेख, दानपत्र, ताम्रपत्र, ग्रन्थोंके उल्लेख आदि सभी साधनोंपर संशोधक पहिले विचार करेगा। कपड़ा नापनेके पहिले गजको नाप लेना बुद्धिमानोंकी बात है।

जैन संस्कृतिका पर्यवसान चारित्रमें है। विचार तो वहीं तक उपयोगी है जहाँ तक वे चारित्रका पोषण और उसे भाव प्रधान रखनेमें सहायक होते हैं। चारित्र अर्थात् ऐसी आचार परम्परा जो प्राणिमात्रमें समता और वीतरागताका वातावरण बनाकर अहिंसाकी मौलिक प्रतिष्ठा कर सके। व्यक्तिको निराकुलता और अहिंसक समाज रचनाके द्वारा विश्व शान्तिकी ओर बढ़ावे। इस सांस्कृतिक दृष्टिकोणसे हमें अपने अवान्तर सम्प्रदायोंकी अब तककी धाराओंको जाँचना-परखना होगा और आदर्शकी जगह उन मूल विचारों को देनी होगी जो निर्ग्रन्थ परम्परा की रीढ हैं। भले ही उनका व्यवहार मनुष्यके जीवनमें अंशतः ही हो, पर आदर्श तो अपनी ऊँचाईके कारण आदर्श ही होगा। व्यवहार उसकी दिशामें होकर अपनेमें सफल है। इस मूल सांस्कृतिक दृष्टिकोणकी रक्षा किस समय कहाँ तक हुई, इस छानबीनका कार्य बड़ी जवाबदारी का है। जैन संशोधन तभी सार्थक सिद्ध हो सकता है जब वह अपनी सांस्कृतिक भूमिपर बैठकर विचार ज्योति को जलाये। हमें अपने साहित्यमेंसे उन शिथिल अंशोंको सामने लाना ही होगा जिनने इस पवित्र दृष्टिकोण को धुँधला किया है और उनके कारणोंपर सयुक्ति प्रकाश भी डालना ही होगा। जैन संशोधन संस्थाएँ तभी अपनी सांस्कृतिक चेतनाको जगानेकी दिशामें अग्रसर बन सकती हैं।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# 'सर्वोदय' की साधना

"विजय, मैं क्या करूँ, आहारके समय मर्यादाको लाँघकर भोजन कर लेता हूँ, पर पेटकी ज्वाला शान्त नहीं होती। ऐसा लगता है कि खाए ही जाऊँ। कभी घी, दूध आदि पदार्थ अधिक मात्रा में मिल जाते हैं तो क्षणभर शान्ति रहती है। फिर यह ज्वालामुखी भड़क उठता है। यह भस्मक मुझे भस्म ही करना चाहता है। अतः अब मेरा विचार शरीररक्षाका नहीं, आत्मरक्षाका ही होता जा रहा है। मैंने तुम्हारी सलाह मानकर आहारमें किंचित् ढिलाई भी की पर उसका कुछ असर नहीं हुआ। अब मैं शान्तिसे आत्माराधना करके इस शरीरको छोड़ देना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि गुरुजीसे आज्ञा दिलानेमें तुम हमारी सहायता करो।" ये शब्द अपने लघु सधर्मा विजयसे बड़ी व्यग्रतासे समन्तभद्रने कहे।

विजय—भन्ते, आपको मैं क्या समझाऊँ? मैं तो इतनी बात सदा कहता आया हूँ कि शरीरके सुखानेको तप नहीं कहते। आपने मेरी बात न मानकर सदा रूक्ष भोजन लिया और लगातार ग्रन्थ-निर्माणमें कठोर परिश्रम किया। मैं आपका बनाया गया 'देवागम स्तोत्र' पढ़ता हूँ तो जी में ऐसा लगता है मानों मैं भगवान्के समवसरणमें बैठा हुआ उनका स्तवन कर रहा हूँ। आपकी आत्मा उसमें घुल गई है। अपने जीवन का यह सत्य [1]'आभ्यन्तर तपकी वृद्धिके लिए बाह्यतप तपना चाहिए' आप सदा कहते हैं। पर सोचिए तो सही, शीघ्रतासे आभ्यन्तर प्राप्तिकी तृष्णा भी अन्ततः तृष्णा ही है और [2]'तृष्णाज्वालाएँ जलाती हैं वे शान्त नहीं होतीं' के अनुसार वस्तुतः वह तृष्णा भी मनुष्यको उतना ही आकुल करती है जितनी कि धनार्थी को धनतृष्णा। आपसे मानवजातिका समुत्थान होनेवाला है। युगोंमें आप जैसे विरले ही पुरुष होते हैं जिनसे मानवजातिके विकासको एक गति मिलती है। उसे आगे बढ़नेके लिए एक धक्का लगता है।

समन्तभद्र—विजय, मैं बड़ी दुविधामें पड़ा हूँ। एक ओर तो मुझे अपने मुनिव्रतको अखंडित रखना है दूसरी ओर यह भी भावना है कि जब हमने सब कुछ छोड़ा और सांसारिक सभी बन्धनोंसे मुक्त होकर सर्वभूतमैत्रीकी महाभावनाको जीवनमें उतारनेके लिए निकले तब इस मनुष्य जनमका पूरा उपयोग उस मैत्रीभावके विकासमें किया जाय। यह भी विचार मनमें आता ही है कि अब यह रोग निष्प्रतीकार—असाध्य मालूम होता है। अतः समपरिणामोंसे समाधिमरण करके वर्तमान जीवनका अन्त किया जाय। इस मनोमंथनमें मुझे यदि भीतरसे पूछो तो 'सर्वभूतमैत्री' की उपासना ही सर्वाधिक प्रिय है। जब मैं धर्मके नामपर अहंकारका पोषण देखता हूँ। आत्मधर्मके क्षेत्रमें भी व्यावहारिक बाह्य जाति-पाँति, कुल, बल, शरीर आदि जड़धर्मोंकी उपासना देखता हूँ और देखता हूँ कि इस आत्मशोधक जैनधर्मके धारण करनेवाले श्रमण भी ज्ञान, पूजा, ऋद्धि और तपका भी अहंकार करके मदकी ही पूजा कर रहे हैं तब जो ऐसा विचलित होता है कि इस तरह ये इसको कैसे टिका सकेंगे। ये इन अहंकारोंसे मदमत्त होकर अनेक प्रकारकी कल्पित रेखाएँ मानव-मानवमें खींचकर अन्ततः भौतिकताकी ही पूजा कर रहे हैं। इन्हें "न धर्मो धार्मिकैर्विना—धर्मात्माओंके बिना धर्म नहीं होता" इस साधारण सत्यका ही पता नहीं है। विजय, उस दिनकी घटनासे तो मेरा जी सिहर उठता है जब अपने ही सामने उस आत्मदर्शी मातंगका तिरस्कार इन धर्माभिमानियोंने किया था। मालूम हुआ कि पीछेसे उसे पीटा भी गया था। यदि वह विचारा मेरे उपदेशको सुन रहा था तो उससे इनका क्या बिगाड़ होता था?

---

१. 'बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्वमाभ्यन्तरस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।'

२. 'तृष्णाचिषः परिदहन्ति न शान्तिरासाम्।' —बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"भन्ते, उसकी बात न छेड़ो। यह सब खुरापात चण्डशर्मा की थी। उसने ही आनन्द आदिको उकसाया था। आनन्द पछता रहा था कि "हम लोगोंने बड़ी भूल की जो उस समभावी धर्मात्माका अपमान किया। हमें तो पीछे मालूम हुआ कि मद्य, मांसादिका त्यागकर व्रतोंको धारण किया था। महाराज, उस दिन उसने एक ही वाक्य कहा था 'क्या श्रमणोंमें भी अहिंसा, वीतरागता और समता केवल उपदेशकी ही वस्तु है ?' पर हमें तो जातिका मद चढ़ा था। उसकी इस बातने हमारी क्रोधाग्निमें घीका काम किया। हम अपना विवेक खो बैठे। और थोड़े ही दिन पहिले पढ़ा हुआ यह पाठ[1] भी भूल गए जिसमें सम्यग्दृष्टि चांडाल आया, आँखें डबडबा आईं। रुँधे हुए कंठसे फिर बोला, "महाराज, उस विचारेने और कुछ भी नहीं कहा ? वह हमलोगों की ओर मैत्रीभावसे ही देखता रहा। उसकी समतासे हमारा पशु शान्त हुआ और हम पराजित होकर ही लौटे थे। उसी दिन हमलोगोंने समझा कि चण्डकी संस्कृतिसे हमारी श्रमण संस्कृति जुदी है। एकका रास्ता विषमता, परतन्त्रता, वर्गप्रभुत्व, अहंकार और घृणाका है तो दूसरेका समता, स्वतन्त्रता-व्यक्तिस्वातन्त्र्य, शान्ति और सर्वमैत्रीका है। एक वर्गोदय चाहती है तो दूसरी सर्वोदय। इसीलिए दो-तीन दिन तक हमलोग आपको अपना मुँह दिखाने नहीं आए थे।"

समन्तभद्र—विजय, सचमुच, वे पछता रहे थे ? अच्छा हुआ जो उन्हें सद्बुद्धि आई। तुम उन्हें 'रत्नकरण्डक' तो पढ़ा ही रहे हो ?

विजय—भन्ते, यह उसी का संस्कार है जो उन्हें सुमति आई। उनके भीतर का मानव जागा। अस्तु।

समन्तभद्र—विजय, मेरा मन इस समय दोलित है। वह पीपलके पत्तेकी तरह चंचल है। चिरसाधित व्रत और तपोंको जिनकी साधनामें जीवनका सारभाग बीता अब इस ढलती उमरमें यों ही शिथिल करूँ ? विजय, मुझसे यह नहीं होगा। अपने हो हाथों अपना आत्मघात ! "आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं—आत्महित हो कर्तव्य है और जितना हो सके परहित करना चाहिए" यही हमारा सम्बल है। अतः मैं अब समाधिमरणकी आज्ञा लेने गुरुदेवके पास जाता हूँ। विजय, मुझे सम्भालना, मैं शान्तिसे निराकुल हो मृत्युमहोत्सव मना सकूँ।

समन्तभद्र और विजय तुरंत गुरुदेवके समीप पहुँचे। विषण्णवदन समन्तभद्र को असमयमें आया देखकर गुरुदेव बोले :—

भद्र, तुम इतने आकुल-व्याकुल क्यों हो ? मैं तुम्हारे मनोमन्थनको जानता हूँ और जानता हूँ तुम्हारी आत्मव्यथा को। कहो, तुम क्यों विचलित हो ? तुम जगत्में शासन-प्रभावक महापुरुष होओगे। दिव्य, तुम 'सर्वोदय तीर्थ' पर आए हुए आवरणको इस तमस्तोमको चीरकर उसके समन्ततः भद्र स्वरूपको प्रकट करने वाले होओगे।

समन्तभद्र—गुरुवर, मेरा शरीर भस्मक रोगसे भस्मसात् हो रहा है। रक्त सूख गया है, मांस और चर्बी जल चुके हैं। अब हड्डियाँ तड़तड़ा रही हैं। इस समय मुझे आप अन्तिम समाधि देकर मेरी इस भव की साधनाकी अन्तिम आहुति दीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि जिस प्रामाणिकता और निष्ठासे मैंने आपके द्वारा दिए गए व्रतोंको आज तक निरतिचार पाला है उसका अन्त महोत्सव भी उसी निष्ठासे कर सकूँ। गुरुदेव, आपका अनन्त स्नेह ही हमारा आधार है। हम तो अकिंचन हैं।

गुरुदेव—भद्र, इतने आतुर न होओ। अभी तुम्हारा समाधिका समय नहीं आया। मानव जातिके

१. "सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्। देवा देवं विदुर्भस्म गूढांगारान्तरौजसम्।"—सम्यग्दर्शनसे युक्त चाण्डालको भी गणधर आदिने देव कहा है। वह तो उस अग्निके समान है जिसका तेज भस्मसे दबा हुआ है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वोदयके लिए तुम्हें अभी बहुत बड़ा त्याग करना है। तुम्हें अभी जगत्कल्याणकी अभय भावना भाना है। तुम्हारे जीवनमें जो परहितकातरताके अंकुर हैं उन्हें पल्लवित और पुष्पित करना है। अतः भद्र, इस 'जिनवेष' को छोड़कर तुम दूसरा वेष लेकर यथेष्ट स्निग्ध आहारसे इस भस्मक रोगको शान्त करो। जीवन को असमयमें समाप्त करना समाधिमरणका लक्ष्य नहीं है। किन्तु उसका परम उद्देश्य तो यह है कि जब रोग निष्प्रतीकार हो जाय और मरण अनिवार्य ही हो तब मरणका स्वागत करना। जिस तरह समाधि से जिए उसी तरह समाधिसे ही मरना। भद्र, तुम्हारा रोग असाध्य नहीं है।

समन्तभद्र—गुरुदेव, यह आप क्या कह रहे हैं! क्या मैं इस दीक्षाको छोड़ दूँ! क्या आप यह कह रहे हैं कि मैं अपनी जीवनभरकी साधनापर पानी फेर दूँ? जिन व्रतों और शीलोंको दरिद्रकी पूंजीकी तरह मैंने सँजोया है, जिस दीपसे मेरा मन आलोकित है उसे अपने ही हाथों बुझा दूँ? नहीं, मुझसे यह नहीं होगा। मरण यदि कल होना है वह आज ही हो जाय, पर मैं इस पुनीत निर्ग्रन्थताको नहीं छोड़ सकता। आखिर मात्र जीनेके लिए यह छोड़ दूँ? नहीं, यह कभी नहीं होगा। गुरुदेव, मुझे क्षमा करें। मेरी हत्या मेरे ही हाथों न कराएँ। मैं अव्रती होकर नहीं जी सकता?

गुरुदेव—भद्र, रोओ नहीं। मैं तुम्हें जो कह रहा हूँ वह एक महान् उद्देश्यके लिए। उस महा-साधनाके लिए अपने मानसकी तैयारी करो। आ० विष्णुकुमारने भी अकम्पन आदि मुनियोंकी रक्षाके लिए अपना मुनिव्रत छोड़कर दूसरा वेष धारण किया था। तुम तो सदा उन्हींका आदर्श सामने रखते रहे हो। यदि आज मानव कल्याणके लिए कुछ समयको तुम्हें व्रतोंको स्थगित करना पड़ रहा है तो यह लाभ की ही बात है। तुम्हारी व्रतोंकी आत्माके प्रति असीम निष्ठा ही फिर तुम्हें इससे भी उच्चतर पदपर ले जायगी। अतः वत्स, मेरी बातको स्वीकारकर तुम इस मुनिव्रतको छोड़कर शरीर स्वस्थ करो।

समन्तभद्र यह सुनते ही मूच्छित हो जाते हैं। और मूर्च्छामें ही बड़बड़ाते हैं—नहीं···नहीं···नहीं होगा···मैं···व्रत···व्रत···नहीं···नहीं छोड़ूंगा···प्राण···चले··जायँ।

उपचारसे मूर्च्छा दूर होते ही वे फिर बोले—गुरुदेव, मेरी रक्षा करो, तुम्हारी शरण हूँ। मुझे बचाओ। व्रतोंके छोड़ते ही कहीं मैं स्वयं नष्ट न हो जाऊँ। आज तो व्रतोंको देखकर ही मैं इस महा भस्मक ज्वालामुखीमें भी शान्त हूँ, और इसे चुनौती देता हूँ कि जला ले, मेरी हड्डियोंको भी तड़-तड़ा ले, पर मैं पराजित नहीं होऊँगा। यह कहते कहते फिर उनकी आँखोंके आगे अन्धेरा छा गया·····।

गुरुदेवने उस समय बादको बढ़ाना उचित नहीं समझ आदेशक स्वरमें कहा—अच्छा भद्र, अब व्यर्थ तर्क न करो। मेरी आज्ञा है कि 'सर्वोदय' और अन्ततः 'स्वोदय'के लिए तुम मेरे दिए हुए व्रतोंको कुछ काल के लिए मुझे सौंप दो। यह मेरी थाती है। उठो, शीघ्रता करो। यह मेरी अन्तिम आज्ञा है।

समन्तभद्र—'आज्ञा' 'आप मुझे यह आज्ञा दे रहे हैं गुरुदेव! 'तथास्तु' मैं आपके दिए हुए व्रतोंके प्रतीक रूप इन संयम-साधनों को आपकी ही आज्ञासे चरणोंमें रखता हूँ। गुरुदेव, मुझे न भूलें, इन चिह्नों को पुनः मुझे दें। मैं आपके चरणरज की छायामें आपकी आज्ञा पाल रहा हूँ।

सारा वायुमण्डल निःस्तब्ध था। समन्तभद्रकी आँखोंसे अश्रुधारा बह रही थी। वे फूट-फूटकर रो पड़े और गुरुदेवको अन्तिम वन्दनाकर चल पड़े।

विजय कुछ दूर तक उनके साथ गए। विजयने देखा कि महामुनि समन्तभद्र वृक्षकी छाल लपेटकर तापसका वेष धारण किए चले जा रहे हैं·····वे देखते ही रहे·····अनायास उनके मुँहसे निकल पड़ा—'मणि कीचड़में पड़ गया, अग्नि राखसे ढँक गई' पर 'सर्वोदय' के लिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहानी

# नियतिवादी सद्दालपुत्त

"बाबा कुछ खानेको दो" भिखारीने दीन स्वरमें कहा।

"चलो आगे, मैं क्या कर सकता हूँ। इस समय तेरी यही दशा होनी थी। बिना पूछे भीतर तक चला आया, भाग यहाँसे" झिटकारते हुए सद्दालपुत्त कुम्हारने कहा।

बेचारा भिखारी हड़बड़ाकर पास ही रखे कच्चे घड़ोंके ढेरपर भरहराकर गिर पड़ा। कुम्हारके बहुतसे घड़े फूट गए। सद्दालपुत्त क्रोधसे आगबबूला हो गया और बोला—मूर्ख, यह सब क्या किया? अन्धा कहीं का, सब घड़े चौपट कर दिये। मेरी दो दिन की मेहनतपर इस अनाड़ीने पानी फेर दिया।

भिखारीके होश गायब थे, वह पड़नेवाली मारके बचावका उपाय सोचने लगा।

इतनेमें चर्याके लिए श्रमणनायक निग्गंथनाथपुत्त उधरसे निकले और सद्दालपुत्तके द्वारपर पहुँचे। सद्दालपुत्त तो क्रोधसे पागलसा हो रहा था। वह श्रमणनायककी प्रतिपत्ति करना तो भूल गया और बोला—देखिए, इस अन्धेको, इसने मेरा सारा श्रम मिट्टीमें मिला दिया, सारे घड़े चौपट कर दिये।

सामने एक सन्तको देखकर भिखारी को ढाढससा बँधा और उसकी सहज प्रज्ञा जागी। व्यंग्यसे बोला—मैंने क्या किया? इन घड़ोंकी इस समय यही दशा होनी थी। भिखारीने सद्दालपुत्तसे हुई सारी बातें सुनाते हुए कहा—'क्या नियति एकके ही लिए है?'

"सद्दालपुत्त, यह ठीक तो कहता है" श्रमणनायकने कहा। यदि इसका भिखारी होना और उस समय भीख माँगना नियत था और उसी नियतिके बलपर तुमने इसे भगाया भी, तो घड़ोंका फूटना भी तुम्हारे हिसाबसे नियत ही था। घड़ोंको इसने कहाँ फोड़ा है?

"यदि यह सावधानीसे जाता तो मेरे घड़े न फूटते"—सद्दालपुत्त क्रोधको शान्त करते हुए बोला।

"सद्दाल, क्या तुम यह समझते हो कि तुमने इन घड़ोंको बनाया है? क्या इनके बनानेमें तुम्हारा कर्तृत्व है? यदि तुम्हारा कर्तृत्व है तो क्या तुम रेतको भी घड़ा बना सकते हो?" मृदु स्वरमें श्रमणनायक ने पूछा।

"हाँ, भन्ते, यदि इनका बनानेमें कुछ भी कर्तृत्व है तो मैं असावधानीके दोषका अपराधी हूँ, वैसे इनकी फटकारके निमित्तसे ही मुझसे यह गलती हुई है।" भिखारी आश्वस्त वाणीमें बोला।

सद्दालने कहा—हमारे गुरु गोशालकने तो यही कहा था कि—"सत्त्वोंके क्लेशका कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं। बिना हेतुके और बिना प्रत्ययके सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वोंकी शुद्धिका कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं, बिना हेतुके और बिना प्रत्ययके सत्त्व शुद्ध होते हैं। अपने कुछ नहीं कर सकते, पराए कुछ नहीं कर सकते। कोई पुरुष भी कुछ नहीं कर सकता। बल नहीं, वीर्य नहीं, पुरुषका कुछ पराक्रम नहीं। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव वशमें नहीं हैं। निर्बल और निर्वीर्य, भाग्य और संयोगके फेरसे छह जातियोंमें उत्पन्न हो सुख और दुःख भोगते हैं। यह नहीं है—इस शील या व्रत या तप या ब्रह्मचर्यसे मैं अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूँगा। परिपक्व कर्मका भोगकर अन्त करूँगा।"

सद्दाल कहता ही गया—सभी द्रव्योंकी सब पर्यायें नियत हैं, वे होंगी ही; उनमें हमारा कोई पुरुषार्थ नहीं, कोई यत्न नहीं, बल नहीं, पराक्रम नहीं, जो जिस समय होना है होगा ही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणनायक बोले—भद्र सद्दाल, यदि यही है तो घड़ोंका फूटना भी इस समय नियत था, इस विचारेका क्या दोष ?

सद्दाल अपनी ही कुयुक्तिके जालमें फँस चुका था। वह दबी जबानसे बोला—

"भन्ते, यदि यह थोड़ी भी सावधानीसे यहाँसे बचकर चला जाता तो घड़े न फूटते।" इसने तो मेरा सर्वनाश ही कर दिया।

श्रमणनायकने आदेशक स्वरसे कहा—सोचो, अच्छी तरह सोचो, क्या नियतिमें किसीका भी कुछ कर्तृत्व हो सकता है ? तुम्हीं बताओ, तुम इन घड़ोंको और सुन्दर और कलापूर्ण बना सकते थे ?

"क्यों नहीं ? यदि श्रम और समय लगाता तो और भी सुन्दर बना सकता था।" सद्दालने कलाके अभिमानसे कहा।

"तो क्या पुरुषार्थ और यत्नसे कुछ भी हेर फेर संभव है ?" श्रमणनायकने पूछा।

यही तो मुझे संशय है कि "यदि पुरुषार्थसे कुछ हो सकता है तो मैं रेतका घड़ा क्यों नहीं बना पाता ? भगवन्, आप तत्त्वज्ञ और तत्त्वदर्शी हैं, मुझे इसका रहस्य समझाइये। मेरी बुद्धि इस समय उद्भ्रान्त हो रही है।

श्रमणनायकने सान्त्वना देते हुए गम्भीर वाणीमें कहा—भद्र, संसारके पदार्थोंके कुछ परिणमन नियत हैं और कुछ अनियत। प्रत्येक पदार्थको अपनी-अपनी द्रव्य शक्तियाँ नियत हैं, इनमें न एक कम हो सकती है और न एक अधिक। कुछ स्थूल पर्यायशक्तिसे साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाले परिणमन भी नियत हो सकते हैं ? देखो, घट, कपड़ा, पानी, आग सभी पुद्गलके परिणमन हैं पर हर एक पुद्गल स्कन्ध हर समय कपड़ा या घड़ा नहीं बन सकता। मिट्टीसे ही घड़ा बनेगी और सूतसे ही कपड़ा। यह दूसरी बात है कि मिट्टीके परमाणु कपासके पेड़के द्वारा रुई बनकर परम्परासे कपड़ा भी बन जायें और सूत भी सड़कर मिट्टीके आकारमें घड़ा बन जाय, पर साक्षात् उन पदार्थोंसे घड़ा और कपड़े पर्यायका विकास नहीं हो सकता। रेतमें घट बननेकी उस समय योग्यता नहीं है। अतः वह मिट्टीकी तरह घड़ा नहीं बन सकती। जब तुम मिट्टीका पिंड बनाते हो तो क्या यह समझते हो कि इतने मिट्टीपरमाणुओंका घड़ा बनना या सकोरा बनना नियत है ? सीधी बात तो यह है कि—मिट्टीके पिंडमें उस समय सकोरा, घड़ा, प्याला आदि अनेक पर्यायोंके विकासकी योग्यताएँ हैं। यह तुम्हारे पुरुषार्थका प्रबल निमित्त है जो उस समय पिंडसे सुन्दर या असुन्दर घड़ेकी ही पर्यायका विकास हो जाता है, सकोरा, प्याला आदि पर्याय योग्यताएँ अविकसित रह जाती हैं। संक्षेपमें जगत्के नियतानियतत्व की व्याख्या इस प्रकार है—

१—प्रत्येक द्रव्यकी मूल द्रव्य-शक्तियाँ नियत हैं। उनकी संख्यामें न्यूनाधिकता कोई नहीं कर सकता। वर्तमान स्थूल पर्यायके अनुसार इन्हींमेंकी कुछ शक्तियाँ प्रकट होती हैं और कुछ अप्रकट। इन्हें पर्याय-योग्यता कहते हैं।

२—यह नियत है कि चेतनका अचेतन या अचेतनका चेतन रूपसे परिणमन नहीं हो सकता।

३—यह भी नियत है कि एक चेतन या अचेतन द्रव्यका दूसरे सजातीय चेतन या अचेतन द्रव्य रूपसे परिणमन नहीं हो सकता।

४—यह भी नियत है कि दो चेतन मिलकर एक संयुक्त सदृश पर्याय उत्पन्न नहीं कर सकते जैसे कि अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर अपनी संयुक्त सदृश घट पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५–यह नियत है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल और शुद्ध जीवका सदा शुद्ध परिणमन होता है अशुद्ध नहीं।

६–यह भी नियत है कि जीवका अशुद्ध परिणमन अनादिकालीन पुद्गल कर्म सम्बन्ध से हो रहा है और इसके सम्बन्ध तक ही रहेगा।

७–यह नियत है कि द्रव्यमें उस समय जितनी पर्याय योग्यताएँ हैं उनमें जिसके अनुकूल निमित्त मिलेंगे वही परिणमन होगा, शेष योग्यताएँ केवल सद्भावमें रहेंगी।

८–यह अतिनियत है कि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिक्षण कोई न कोई परिणमन अवश्य होगा। यह परिणमन द्रव्यगत मूल योग्यता और पर्यायगत विकासोन्मुख योग्यताओंकी सीमाके भीतर ही होगा, बाहर कदापि नहीं।

९–यह भी नियत है कि निमित्त उपादान द्रव्यकी योग्यताका ही विकास करता है, उसमें असद्भूत किसी सर्वथा नूतन परिणमनको उत्पन्न नहीं कर सकता।

१०–यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनका उपादान होता है। उस समयकी पर्याय-योग्यता रूप उपादानशक्तिके बाहरके किसी परिणमनको निमित्त कदापि नहीं उत्पन्न कर सकता। परन्तु—

यही एक बात अनियत है कि "अमुक समयमें अमुक परिणमन ही होगा" जिस परिणमनका अनुकूल निमित्त मिलेगा वही परिणमन आगे होगा। यह कहना कि 'मिट्टीकी उस समय यही पर्याय होनी थी, अतः निमित्त उपस्थित हो गया' द्रव्य-पर्यायगत योग्यताओंके अज्ञानका फल है।

इतना ही तो पुरुषार्थ है कि उन सम्भाव्य परिणमनोंमें से अपने अनुकूल परिणमनके निमित्त जुटाकर उसे सामने ला देना।

देखो, तुम्हारा आत्मा अगले क्षण अतिक्रोधरूप भी परिणमन कर सकता था और क्षमारूप भी परिणमन कर सकता था। यह तो संयोगकी बात है जो मैं इस ओर निकल पड़ा और तुम्हारी आत्मा क्षमा-रूपसे परिणति कर रहा है। मुझे या किसी निमित्तको यह अहङ्कार नहीं करना चाहिए कि मैंने यह किया; क्योंकि यदि तुम्हारे आत्मामें क्षमारूपसे परिणमनकी विकासोन्मुख योग्यता न होती तो मैं क्या कर सकता था? अतः उपादान योग्यताकी मुख्यतापर दृष्टिपात करके निमित्तको निरहङ्कारी बनना चाहिए और उपादानको भी अपने अनुकूल योग्यता प्रकटानेके लिए अनुकूल निमित्त जुटानेमें पुरुषार्थ करना चाहिए। यह समझना कि 'जिस समय जो होना होगा उसका निमित्त भी अपने आप जुटेगा' महान् भ्रम है। भद्र, यदि तुम योग्य निमित्तोंके सुमेलका प्रयत्न न करोगे तो जो समर्थ निमित्त सामने होगा उसके अनुसार परिणमन हो जायगा। और यदि कोई प्रभावक निमित्त न रहा तो केवल अपनी भीतरी योग्यताके अनुसार द्रव्य परि-णत होता रहेगा। उसके प्रतिक्षणभावी परिणमनको कोई नहीं रोक सकता। एक जलकी धारा अपनी गतिसे बह रही है। यदि उसमें लाल रंग पड़ जाय तो लाल हो जायगी और नीला पड़ जाय तो नीली। यदि कुछ न पड़ा तो अपनी भीतरी योग्यताके अनुसार जिस रूपमें है उस रूपसे बहती चली जायगी।

श्रमणनायकके इन युक्तिपूर्ण वचनोंको सुनकर सद्दालपुत्तका मन भींज गया। वह बोला–भन्ते, आपने तो जैसे औंधेको सीधा कर दिया हो, अन्धेको आँखें दी हों। मेरा तो जनम-जनम का मिथ्यात्व नष्ट हो गया। मुझे शरणागत उपासक मानें।

भिखारी भी भगवान्की शरणमें प्राप्त हुआ। उसने कर्मोंकी शक्तिको पुरुषार्थ द्वारा परिवर्तित करने की दृष्टि पाई और जीवनमें श्रमके महत्त्वको समझा। उसने कर्मोदय की भ्रान्त धारणावश स्वीकार किए गए भिखारीपनेको तुरंत छोड़ दिया और उसी कुम्हारके यहाँ परिश्रम करके आजीविका करने लगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्दालपुत्त फिर बोला—भन्ते, सचमुच यह नियतिवाद महान् दृष्टिविष है। इसमें न हिंसा है, न दुराचार और न कोई पाप; क्योंकि हिंसा या दुराचाररूपी घटनाओंसे सम्बद्ध पदार्थोंके परिणमन जब नियत हैं उनमें हेरफेरकी कोई सम्भावना नहीं तब क्यों कोई हिंसक हो और क्यों कोई दुराचारी? यज्ञमें की जानेवाली पशु हिंसा क्यों पाप हो? उस समय बकरेको कटना ही था, बधकको काटना ही था, छुरेको बकरेकी गर्दनमें घुसना ही था आदि सभी पदार्थोंके परिणमन निश्चित ही थे तो क्यों उस काण्डको हिंसाकाण्ड कहा जाय? इसी तरह जब हमारी प्रतिक्षणकी दशाएँ अनन्तकाल तककी निश्चित हैं तब क्या पुण्य और क्या पाप? क्यों हम अहिंसादि चारित्रोंको धारण करें? क्यों दीक्षा लें? क्योंकि हमारा स्वयं अपने अगले परिणमनपर अधिकार ही नहीं है स्वकर्तृत्व ही नहीं है, वह तो नियत है। मानो दुनियाके पदार्थोंका अनन्तकालका टाइम-टेबुल बना हुआ हो और उसीके अनुसार यह जगत् चक्र चल रहा हो। भन्ते, आप महाश्रमण हैं, जो मेरे इस दृष्टिविषको उतारकर मुझे सम्यक् नियतानियतत्ववादकी अमृत संजीवनी दी। मुझे अपने पुरुषार्थ और कर्तृत्वका भान कराया।

श्रमणनायकने सद्दालपुत्त और भिखारीको आशीर्वाद दिया।

इसके बाद सद्दालपुत्तने भक्ति-भावसे श्रमणनायकको आहार दिया। भिखारी और सद्दालपुत्तके जीवनकी दिशा ही बदल गई। वे श्रमण संस्कृतिके सम और शमसे जीवन संशोधनकर अपने व्यवहारमें श्रमका महत्त्व समझे और परावलम्बनसे हटकर सच्चे स्वावलम्बी बने।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहानी

# श्रमण प्रभाचन्द्र

राजपुरोहितने जब यह सुना कि श्रमण प्रभाचन्द्रने आज शूद्रोंको जैन दीक्षा दी है, और उन शूद्रोंने सहस्रकूट चैत्यालयमें जिनपूजा भी की है तो उसके बदनमें आग लग गई, आँखोंमें खून उतर आया। भृकुटी चढ़ गई। ओंठ चाबकर बोला—इस नंगेका इतना साहस, नास्तिक कहींका। वह तुरन्त राजा भोजके अध्ययन-कक्षमें पहुँचा और बोला—राजन्, सुना है ? उस श्रमण प्रभाचन्द्रने आज शूद्रोंको जैन दीक्षा दी है। मैंने तुम्हें पहिले ही चेताया था कि ये निर्ग्रन्थ तुम्हारे राज्यकी जड़ ही उखाड़ देंगे। जानते हो, प्राणिमात्र के समानाधिकार का क्या अर्थ है ? ये निरन्तर व्यक्तिस्वातन्त्र्य, समता और अहिंसाके प्रचार से तुम्हारी शासन-सत्ताकी नींव ही हिला रहे हैं। तुम इनकी वाक्सुधापर मुग्ध होकर सिर हिला देते हो। वेद और स्मृतियों-में प्रतिपादित जन्मसिद्ध वर्णव्यवस्था और वर्णधर्म ही तुम्हारी सत्ताका एकमात्र आधार है। 'राजा ईश्वर का अंश है' यह तत्त्व स्मृतियोंमें ही मिल सकता है। आज, शूद्र तक व्यक्तिस्वातन्त्र्य, समता और समाना-धिकारके नारे लगा रहे हैं।

भोज—परन्तु, ये तो धर्मक्षेत्रमें ही समानताकी बात कहते हैं। इन निर्ग्रन्थों को राजकाजसे क्या मतलब ? ये तो प्राणिमात्रको समता, अहिंसा, अपरिग्रह, और कषायजयका उपदेश देते हैं। आचार्य, मैं सच कहता हूँ, उस दिन इनकी अमृतवाणी सुनकर मेरा तो हृदय गद्गद हो गया था।

पुरोहित—राजन्, तुम भूलते हो। कोई भी विचार-धारा किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहती। उसका असर जीवनके प्रत्येक क्षेत्रपर पड़ता है। क्या तुमने इनके उपदेशों से शूद्रोंका सिर उठाकर चलना नहीं देखा ? कल ही शिवमन्दिरके पुजारी से भग्गू मुँह लगकर बात कर रहा था। सोचो, तुम्हारी सत्ता ईश्वरोक्त वर्णभेदको कायम रखने में है या इनके व्यक्तिस्वातन्त्र्यमें। हमारे ऋषियोंने ही राजा में ईश्वरांशकी घोषणा की है और यही कारण है कि अब तक राजन्यवर्गके अभिजात कुलका शासन बना है। हमारा काम है कि तुम्हें समय रहते चेतावनी दें और तुम्हें कुलधर्ममें स्थिर करें।

भोज—पर आचार्य, श्रमण प्रभाचन्द्र का तर्कजाल दुर्भेद्य है। उनने अपने ग्रन्थोंमें इस जन्मजात वर्ण-व्यवस्थाकी धज्जियाँ उड़ा दी हैं।

पुरोहित—राजन्, तुम बहुत भावुक हो, तुम्हें अपनी परम्परा और स्थिति का कुछ भी भान नहीं है। क्या तुम्हें अपने पुरोहितके पांडित्यपर विश्वास नहीं है ? मैं स्वयं वाद करके उस श्रमण का गर्व खर्व करूँगा। उस नास्तिकका अभिमान चूर कर दूँगा। वादका प्रबन्ध किया जाय।

भोज—पर वे तो राजसभामें आते नहीं हैं। हम सब ही उद्यानमें चलें। और वहीं इसकी चर्चा हो। सचमुच, इनका उपदेश प्रजामें व्यापक असन्तोष की सृष्टि करके एक दिन सत्ताका विनाशक हो सकता है।

[ उद्यान में आ० चतुर्मुखदेव और लघु सधर्मा गोपनन्दि के साथ प्रभाचन्द्रकी चरचा हो रही है। सपरिकर राजा भोज आकर वहीं बैठ जाते हैं ]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोपनन्दि—आपने जो शूद्रोंको जैन दीक्षा दी है, इससे श्रमणसंघके भी कुछ लोग असन्तुष्ट हैं। उनका कहना है कि श्रमण प्रभाचन्द्र यह नई प्रथा चला रहे हैं। भन्ते, क्या पुराने आचार्य भी इससे सहमत हैं ?

प्रभाचन्द्र—अवश्य, मैंने यह कार्य श्रमणपरम्पराकी मूलधाराके आधारसे ही किया है। सुनो, मैं तुम्हें पूर्वाचार्यों के प्रमाण सुनाता हूँ। वरांगचरित में आ० जटासिंहनन्दि स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि—

"क्रियाविशेषात् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥"

—वरांगचरित २५।११

अर्थात्—शिष्टजन इस वर्णव्यवस्था को अहिंसा आदि व्रतोंका पालन, रक्षा करना, खेती आदि करना तथा शिल्पवृत्ति इन चार प्रकार की क्रियाओं से ही मानते हैं। यह वर्णव्यवस्था केवल व्यवहार के लिए है। क्रिया के सिवाय अन्य कोई वर्णव्यवस्था का हेतु नहीं है। रविषेण पद्मचरित में लिखते हैं—

"तस्माद् गुणैर्वर्णव्यवस्थिति।

ऋषिश्रृंगादिकानां मानवानां प्रकीर्त्यते।
ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनिसंभवात्॥
चातुर्वर्ण्यं तथाऽन्यच्च चाण्डालादिविशेषणम्।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम्॥"

—पद्मचरित ११।१९८-२०५

अर्थात्—वर्णव्यवस्था गुण कर्मके अनुसार है, योनिनिमित्तक नहीं। ऋषिश्रृंग आदिमें ब्राह्मण व्यवहार गुणनिमित्तक ही हुआ है। चातुर्वर्ण्य या चाण्डाल आदि व्यवहार सब क्रियानिमित्तक हैं।

"व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।" —पद्मचरित ११-२०

अर्थात्—व्रतधारी चाण्डाल ब्राह्मण कहा जाता है।

जिनसेन आदिपुराण में लिखते हैं—

"मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदात् चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्।
वणिजोऽर्थार्जनात् न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात्॥"

—आदि पु० ३८।४५-४६।

अर्थात्—जाति नामकर्म से तो सबकी एक ही मनुष्य जाति है। ब्राह्मण आदि चार भेद वृत्ति अर्थात् आचार-व्यवहार से हैं। व्रत संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्रधारण से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और सेववृत्ति से शूद्र होते हैं।

गोपनन्दि—तो क्या शूद्र इसी पर्याय में शुद्ध हो सकते हैं ? क्या मुनिदीक्षा के भी अधिकारी हैं ?

प्रभाचन्द्र—हाँ आयुष्मन् ! सोमदेव आचार्य ने अपने नीतिवाक्यामृतमें अत्यन्त स्पष्टता से लिखा है कि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातितपस्विपरिकर्मसु योग्यान् ।"

अर्थात्—निर्दोष आचरण, गृहपात्र आदि की पवित्रता और नित्य स्नान आदि के द्वारा शरीर शुद्धि ये तीनों बातें शूद्रों को भी देव द्विजाति और तपस्वियों के परिकर्म के योग्य बना देती हैं ।

अब तो पुरोहित का पारा और भी गरम हो गया । वह क्रोध से बोला—राजन्, इन नास्तिकों के पास बैठने से भी प्रायश्चित्तका भागी होना पड़ेगा ।

"पुरोहित जी, नास्तिक किसे कहते हैं ?" हँसते हुए प्रभाचन्द्र ने पूछा ।

"जो वेदकी निन्दा करे वह नास्तिक" रोष भरे स्वरमें तपाक से पुरोहित ने उत्तर दिया ।

"नहीं, पाणिनि ने तो उसे नास्तिक बताया है जो आत्मा और परलोक आदि की सत्ता नहीं मानता । यदि वेदको नहीं माननेके कारण हम लोग नास्तिक हैं तो यह नास्तिकता हमारा भूषण ही है ।" तर्कपूर्ण वाणीमें प्रभाचन्द्रने कहा ।

भोज—महाराज, इस झगड़ेको समाप्त कीजिए । यदि आपकी अपनी परिभाषा के अनुसार ये नास्तिक हैं तो इनकी परिभाषा के अनुसार आप मिथ्यादृष्टि भी हैं । ये तो अपनी-अपनी परिभाषाएँ हैं । आप प्रकृत वर्णव्यवस्थापर ही चरचा चलाइए ।

पुरोहित—आपने शूद्रको दीक्षा देकर बड़ा अनर्थ किया है । ब्रह्माके शरीर से चारों वर्ण पृथक्-पृथक उत्पन्न हुए हैं । जन्मसे ही उनकी स्थिति हो सकती है, गुणकर्म से नहीं ।

प्रभाचन्द्र—ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व है या नहीं ? यदि नहीं, तो उससे ब्राह्मण कैसे उत्पन्न हुआ ? यदि है; तो उससे उत्पन्न होनेवाले शूद्र आदि भी ब्राह्मण ही कहे जाने चाहिए । ब्रह्माके मुखमें ब्राह्मणत्व, बाहु में क्षत्रियत्व, पेटमें वैश्यत्व और पैरोंमें शूद्रत्व मानना तो अनुभवविरुद्ध है । इस मान्यतामें आपका ब्रह्मा भी अंशतः शूद्र हो जायगा । फिर आपको ब्रह्माजी के पैर नहीं पूजना चाहिए क्योंकि वहाँ तो शूद्रत्व है ।

पुरोहित—समस्त ब्राह्मणोंमें नित्य एक ब्राह्मणत्व है । यह ब्राह्मण माता-पितासे उत्पन्न हुए शरीर में व्यक्त होता है । अध्यापन, दानग्रहण, यज्ञोपवीतग्रहण आदि उसके बाह्य आचार हैं । प्रत्यक्ष से ही 'यह ब्राह्मण है' इस प्रकार का बोध होता है ।

प्रभाचन्द्र—जैसे हमें प्रत्यक्ष से 'यह मनुष्य है, यह घोड़ा है' इस प्रकार मनुष्य आदि जातियों का ज्ञान हो जाता है उस प्रकार 'यह ब्राह्मण है' यह बोध प्रत्यक्ष से नहीं होता अन्यथा 'आप किस जाति के हैं ?' यह प्रश्न ही क्यों किया जाता ? यदि ब्राह्मण पिता और शूद्रा माता तथा शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता से उत्पन्न हुए बच्चोंमें घोड़ी और गधे से उत्पन्न खच्चर की तरह आकृति भेद दिखाई देता तो योनिनिबन्धन ब्राह्मणत्व माना जाता । फिर जब स्त्रियों का इस जन्ममें ही भ्रष्ट होना सुना जाता है तो अनादिकाल से आज तक कुलपरम्परा शुद्ध रही होगी यह निश्चय करना ही कठिन है । यदि ब्राह्मणत्व जाति गोत्वजाति की तरह नित्य है और वह यावज्जीवन बराबर बनी रहती है तो जिस प्रकार चाण्डाल के घर में रहनेवाली गायको आप दक्षिणामें ले लेते हो और उसका दूध भी पीते हो उसी तरह चाण्डाल के घरमें रही हुई ब्राह्मणी को भी ग्रहण कर लेना चाहिए क्योंकि नित्य ब्राह्मणत्व जाति तो उसमें विद्यमान है । यदि आचार भ्रष्टता से ब्राह्मणो की जाति नष्ट हो गई है तो आचारशुद्धि से वह उत्पन्न क्यों नहीं हो सकती ? आप जो शूद्रके अन्नसे, शूद्रसे बोलनेपर, शूद्रके सम्पर्क से जातिलोप मानते हो वह भी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि आपके मतसे जाति नित्य है उसका लोप हो ही नहीं सकता ।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अच्छा, यह बताइए कि आप ब्राह्मणत्व जीवमें मानते हो या शरीरमें या दोनोंमें या संस्कारमें या वेदाध्ययनमें ? जीव तो शूद्र आदि सभीमें विद्यमान है अतः उनमें भी ब्राह्मणत्व होना चाहिए। शरीर भी पञ्चभूतात्मक सबके समान है। यदि संस्कारमें ब्राह्मणत्व माना जाता है; तो संस्कार शूद्र बालकमें भी किया जा सकता है। यदि संस्कारके पहिले ब्राह्मण बालकमें ब्राह्मणत्व मानते हो तो संस्कार करना व्यर्थ ही है। यदि नहीं मानते तो जैसे ब्राह्मणत्वशून्य ब्राह्मण बालकमें संस्कारसे ब्राह्मणत्व आ जाता है उसी तरह शूद्र-बालकमें भी संस्कारसे ब्राह्मणत्व आ जाना चाहिए। रही वेदाध्ययनकी बात, सो शूद्र भी देशान्तरमें जाकर वेदाध्ययन कर सकता है और करा सकता है। किन्तु इतने मात्रसे आप उसमें ब्राह्मणत्व नहीं मानते। अतः यह समस्त ब्राह्मणादि वर्णव्यवस्था सदृश क्रिया और सदृश गुणोंके आधारसे है। यदि जन्मना वर्णव्यवस्था हो तो ब्रह्मा, व्यास, विश्वामित्र आदिमें गुणकृत ब्राह्मणत्व आप स्वयं क्यों मानते हो ?

पुरोहित—तो क्या जैन ग्रन्थोंमें बताई गई वर्णाश्रम व्यवस्था झूठी है ?

प्रभाचन्द्र—नहीं, झूठी क्यों होगी। प्रश्न तो यह है कि वर्णव्यवस्था जन्मसे है या गुणकर्मसे ? अतः जिन-जिन व्यक्तियोंमें जो-जो गुण-गुण-कर्म पाए जायेंगे उसीके अनुसार उसमें ब्राह्मण आदि व्यवहार होगा और तदनुकूल ही वर्णाश्रम व्यवस्था चलेगी। जैनदर्शन तो व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादी है। उसमें पुरुषार्थको बड़ी गुञ्जाइश है। जैसे-जैसे गुण-धर्मोंका विकास व्यक्ति करेगा उसीके अनुसार उसमें ब्राह्मणत्व आदि व्यवहार होंगे। शूद्र इसी जन्ममें अपने पुरुषार्थके द्वारा सर्वोच्च मुनिदीक्षा ले सकता है। मैंने न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ ( पृ० ७७८ ) में स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि—

"क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायाः तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः। तन्न भवत्कल्पितं नित्यादिस्वभावं ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिध्यतीति क्रिया-विशेषनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारो युक्तः।"

अर्थात्—यह समस्त ब्राह्मणादि व्यवहार क्रियामूलक है, नित्य और जन्ममूलक ब्राह्मणत्व आदि जातिसे नहीं।

भोज प्रभाचन्द्रके अकाट्य तर्कोंसे अत्यन्त प्रभावित हुआ और पुरोहितराजसे बोला कि—देखो, मैंने पहिले ही कहा था कि ये श्रमण अपनी आध्यात्मिक भूमिकापर समता और व्यक्तिस्वातन्त्र्यके सन्देशवाहक हैं। ये तो अत्यन्त अपरिग्रहवादी हैं। उनके जीवनमें राजकारणका कोई महत्त्व नहीं है। इनका नग्नत्व स्वयं परम व्यक्तिस्वातन्त्र्य का साक्षी है। ये प्राणिमात्रके प्रति मैत्री भावना रखनेवाले हैं। अतः यदि इनने शूद्रों-को दीक्षा दी है तो हमें चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं है। इन्हें अपनी आध्यात्मिक समताका प्रचार करने देना चाहिए। इससे मानवजातिका समुत्थान ही होगा।

भोज सपरिकर श्रमणोंको वन्दनाकर विदा हुए।

राजपुरोहितके वादकी चरचा बात ही बातमें धारानगरीमें फैल गई। आ० चतुर्मुख और समस्त श्रमणसंघ हर्षविभोर हो गए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहानी

# अमृत दर्शन

"चक्रवर्ती होकर भी विरक्त। असंभव बात है। अनेक नवयौवना महारानियों और विपुल सुखसामग्रीका भोक्ता उदासीन, कल्पना की बात है। वैभव और आत्मदर्शन तीन और छहकी तरह विरोधी हैं।"

"नहीं, बन्धु, असंभव कुछ नहीं है और न कल्पना ही है। वैराग्य और उदासीनता अन्तरकी परिणति है, विभूति और वैभव बाह्य पदार्थ हैं। मात्र दृष्टि फेरनेसे नकशा ही बदल जाता है।"

सोमदत्त और यज्ञदत्त दो द्विजकुमार आपसमें बतया रहे थे। दोनोंने निश्चय किया कि यदि सच-मुच भरतको आत्मदृष्टि प्राप्त है तो यह विद्या उनसे सीखनी चाहिये। पुराने जमानेमें अध्यात्मविद्या क्षत्रियों के पास ही रही है, यह सुना जाता है।

दोनों महाराज भरतके दरबारमें पहुँचे।

सोमदत्त—महाराज, सुना है कि आपको आत्मदर्शन हो गया है। छहखंडके अखण्ड साम्राज्यको सम्हालते हुए भी आत्मदर्शन ? कुछ समझमें नहीं आता।

यों भाटों और चारणोंके द्वारा अन्य विभूतियोंकी तरह एक यह भी शोभावर्णन हो तो हमें कुछ कहना नहीं है। हम अपना चौबीसों घंटा अग्निहोत्र आदि क्रियाओंमें लगाते हैं और सतत धर्मकी आराधना करते हैं पर हमें अभी तक आत्माके दर्शन नहीं हो सके। आप हमें वह उपाय बतावें जिससे आपको आत्मदृष्टि प्राप्त हुई है।

महाराज भरत मुस्कुराये। उनने कहा—विप्रकुमार, मुझे इस समय कुछ आवश्यक राजकाज है। आप लोग तबतक हमारे राजकोश और वैभवका निरीक्षण करके वापिस आइए फिर शान्तिसे आत्मचर्चा करेंगे। हम आपको एक-एक अमृतपात्र देते हैं इसे हथेलीपर रखकर ही आप कटक-निरीक्षणके लिए जायँगे। ध्यान रहे, इसकी एक बूँद भी न छलक पावे, अन्यथा राजदंड भोगना होगा।

दोनों विप्रकुमार दरवानके साथ हथेलीपर अमृतपात्र रखे हुए कटकमें गये।

दरवानने एक-एक करके राजकोश, अश्वशाला, गजशाला, सेनानिवास, रानियोंके अन्तःपुर आदि दिखाये।

दो घंटेमें समस्त कटक घूमकर विप्रकुमार वापिस आये।

महाराज भरत विचारमग्न थे। आते ही विप्रकुमारोंसे पूछा—क्यों भाई, कटक देख आये ? अन्तःपुर गए थे ? कैसा लगा ?

द्विजकुमार सिटपिटाये और बोले—महाराज, शरीरसे घूमनेकी क्रिया तो अवश्य हुई पर सिवाय इस अमृतपात्रके हमने कुछ नहीं देखा। हमें इसके छलकनेकी चिन्ता प्रतिक्षण लगी थी। दरवानके शब्द कानों तक जाते थे, पाकशालामें पकवानोंकी सुगन्धित नाक तक आई थी, प्यास लगनेपर सुन्दर पानक भी पिया था, अन्तःपुरकी सुकोमल शय्याओंपर भी बैठे थे और इन आँखोंने सब कुछ देखा पर इन्द्रियाँ तो सुनने, सूँघने, चखने और छूनेवाली नहीं हैं, हमारा मन और आत्मा तो इस अमृतकी ओर था। यह चिन्ता थी कि कहीं इसकी एक भी बूंद न छलक जाय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सो महाराज, हमने सिर्फ इस अमृतपात्रको ही देखा है, कटक आदिको देखते हुए भी नहीं देखा।

"हैं, 'देखते हुए भी नहीं देखा' झूठ। यह कैसे हो सकता है ?" भरतने विनोदमें कहा।

"महाराज, हमारी दृष्टि इस अमृतपर थी। इस अमृतकी एक बूँद हमारी आत्माके बराबर थी। इसकी एक बूँदसे हमारी आत्मा तुल रही थी।" द्विजकुमारने कहा।

भरतने फिर पूछा—

"यह अमृत कैसा लगा ?"

द्विजकुमार बोला—

"महाराज, यह अमृत नहीं था, यह तो हमारी आत्मा थी। इसके द्वारा हमें अपनी आत्माका दर्शन हो रहा था। उसका मोल मालूम हो रहा था और उसकी तौल भी। कानोंमें सुनाई देता था कि बूँद न छलके, सावधान बूँद न छलके। बूँद-बूँद-बूँद। एक ही शब्द, एक ही अर्थ और एक ही भाव चारों ओर व्याप्त था। दो घंटेका प्रत्येक क्षण बूँद दर्शन, बूँद चिन्तन, बूँद मनन और अन्ततः बूँदमय हो रहा था। और सामने दूसरा दृश्य था—फाँसीका—कदाचित् बूँद छलक गई तो रेशमकी डोरी गलेमें पड़ेगी। बस, इसी भयसे अपनी सारी शक्तिसे अमृतपात्रको थामे रहे और आपको इस अमृत-निधिको आप तक ले आये हैं ?

भरतने गम्भीरतापूर्वक कहा—द्विजकुमार, जिस प्रकार तुम्हें प्राणदण्डके भयसे इस अमृतपात्रका ही एकमात्र ध्यान रहा और तुम कटकको देखकर भी नहीं देख सके उसी तरह हमें स्वभावतः अपने रुचिसे ही अपनी आत्मारूपी अमृतकुम्भसे गुणरूपी रसके बूँदोंके छलकनेका सदा ध्यान रहता है। मेरा एकमात्र प्रयत्न आत्म-गुणोंके संरक्षणका है। मुझे यह पता रहता है कि आत्माने इस समय पाप या अन्याय किया। मुझसे अनेक प्रकारके हिंसा, परिग्रह, अनाचार सम्बन्धी भी कार्य परवश हो जाते हैं पर वे मेरे अनजानमें नहीं। उन्हें मैं हेय जानता हूँ और उनपर परदा डालकर या प्रवृत्तिका आवरण देकर आत्माको धोखेमें नहीं डालता। परको पर और स्वको स्व मानता हूँ। जितना और जबतक कर्त्तव्यका भार है तबतक उसको निभाता हूँ। मैं सदा जागरूक हूँ। मुझे अपने अच्छे-बुरेका सम्यक्-दर्शन है।

द्विजकुमार—महाराज, आपको आत्मदर्शन कैसे हुआ ?

भरत—कुमार, तुमने सुना होगा और देख भी रहे हो कि मेरा रूप कामके समान अप्रतिम है। मुझे भी अपनी देहके बनाव-शृंगारमें रस था। मेरी आभूषण और वस्त्रोंकी नवनवप्रियता रूपको चकाचौंधया देती थी। एक दिन मैं वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर अपने रूपके अहंकारमें मदमाता हो दर्पणमें अपना सौन्दर्य देखकर फूला नहीं समा रहा था कि अचानक मेरे दाहिने हाथकी अँगुलीसे मणिमय अँगूठी गिर पड़ी। उसके निकलते ही वह अँगुली श्रीहीन हो गई। मैंने क्रमशः शेष नौ अँगूठियोंको भी निकाल डाला और देखा तो वे सब शोभाहीन मालूम होने लगीं। मैंने सोचा—इस उधार ली हुई शोभासे क्या लाभ ? जिस दिन ये अँगूठियाँ न रहीं उस दिन मेरी सारी शोभा समाप्त ? इसका क्या अहंकार ? हमें अपनी आत्माकी शोभा बढ़ानेका प्रयत्न करना चाहिये, उसीका शृंगार करना चाहिये जिसे न चोर चुरा सकता है और न जिसके गिरनेका ही डर है। उसी क्षणमें मेरा मन अन्तर्मुख हो गया। सच पूछा जाय तो यह जगत् दृष्टि-सृष्टि है। जिसकी जैसी दृष्टि है उसे वह वैसा ही मालूम होता है और यह शेखचिल्ली अपनी उधेड़ बुनमें ही इस दुर्लभ मनुष्यजन्मको निकाल देता है। सीधा सा मार्ग है स्व को स्व और पर को पर समझो। और इस स्वतत्त्वके प्रति निष्ठा ही अनन्त मुक्तिमें परिणत हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्विजकुमार—राजर्षि, हमारा भ्रम दूर हुआ। आपने तो जैसे आँखेंको सीधा कर दिया हो। आज हमें मालूम हुआ कि यज्ञ, यागादि क्रियाकांडोंका लक्ष्य भोग है, मुक्ति नहीं। ये भौतिक उद्देश्यसे किये जानेवाले हैं आत्म-दर्शनके लिए नहीं। 'प्लवा ह्येतेऽदृढाः' ये यज्ञादि संसारसमुद्रसे तारनेके लिए समर्थ नहीं हैं। एकमात्र सद्-दृष्टि और आत्म-दर्शन ही तारक है, साधन है और धर्म है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहानी

# जटिल मुनि

"मुनिवर, आज बड़ा अनर्थ हो गया। पुरोहित चण्डशर्माने चौलुक्याधिपति को शाप दिया है कि—दस मुहूर्तमें वह सिंहासनके साथ पाताल हमें धँस जायँगे। दुर्वासाकी तरह वक्र भ्रकुटि, लालनेत्र और सर्पकी तरह फुंफकारते हुए जब चण्डने शाप दिया तो एक बार तो चौलुक्याधिपति हतप्रभ हो गये। मैं उन्हें सान्त्वना तो दे आया हूँ। पर जी आन्दोलित है। मुनिवर, चौलुक्याधिपतिकी रक्षा कीजिए!" राजमन्त्रीने घबड़ाहटसे कहा।

जटिलमुनि—मन्त्रिवर, घबड़ानेकी बात नहीं है। क्या चौलुक्याधिपतिने पुरोहितकी सम्पत्ति छीन ली या उसका अपमान किया? बात क्या हुई?

मन्त्री—कुछ नहीं मुनिवर, राजसभामें चर्चा चल रही थी कि यह वर्णभेद क्यों हुआ। इसी प्रसंग में चौलुक्याधिपतिने कहा था कि—"जब प्रजाओंका बनानेवाला एक ही ब्रह्मा है तब यह जातिभेद कैसा? एक ही पिता की चार सन्तानोंमें जातिभेदकी कल्पना बुद्धिगम्य तो नहीं है। जैसे कि एक वृक्षकी विभिन्न शाखाओंमें उत्पन्न होनेवाले फलोंमें जातिभेद नहीं है उसी तरह एक ब्रह्मकी सन्ततिमें यह जन्मना जातिभेद कहाँसे आ गया? ब्राह्मण ही चन्द्रमाके समान गौर वर्ण, क्षत्रिय ही छेवलेके फूलके समान आरक्त वर्ण, वैश्य ही पीतवर्ण तथा शुद्र ही कृष्णवर्ण नहीं देखे जाते, सभी वर्णोंमें सभी प्रकारके मनुष्य हैं। हमारे पुरोहित-जी ही का रंग कृष्ण है। सभी वर्णवालोंका चलना-फिरना, शरीर, केश, खून, चमड़ा, हड्डी आदि एक जैसे हैं उनमें कोई तात्त्विक वर्णभेद नहीं है फिर यह मानव-मानवमें विषमता कैसी?" इतना सुनते ही पुरोहित चण्डशर्माका पारा तेज हो गया। वे राजसभाकी मर्यादाको भूल गये और बोले—चौलुक्याधिपति, सावधान, तुम ब्रह्मतेजको नहीं जानते। क्या वेद प्रतिपादित सत्युगसे प्रचलित वर्ण व्यवस्था झूठी है? उस समय भी चौलुक्याधिपतिने पुरोहितको शान्त करते हुए नम्र भावसे कहा कि पुरोहितजी, आपने ही पहिले यह बताया था कि कृतयुगमें वर्णभेद नहीं था, त्रेतामें भी प्रजाएँ वर्णविहीन थीं। द्वापर युगमें ही यह वर्ण-व्यवस्था प्रचलित की गई तथा कलियुगमें लोभ, मोह, द्वेष, विश्वासघात आदिसे वर्णव्यवस्था चौपट हो गई है। आप ही बताइए कि श्रेष्ठ काल तो वही है जिसमें सभी मानव समानतासे रहते थे, यह जातिगत उच्चनीच भाव नहीं था। इस व्यवस्थाके मूलमें ब्राह्मणप्रभुत्वकी भावना ही कार्य कर रही है। मानव जातिका एक बड़ा भाग अछूत और अस्पृश्य बना हुआ है, उनकी दशा पशुओंसे भी बदतर है। चौलुक्याधिपतिके इन सयुक्तिक वाक्योंने भी चण्डशर्माकी क्रोधाग्निमें घी का काम किया। वह आपेसे बाहर होकर चौलुक्याधिपति से बोला—मूर्ख, तू इन श्रमणोंके चक्करमें है। अब तेरा विनाश काल निश्चित है। शास्त्रपातकिन्, तू दस मुहूर्तमें ही ससिंहासन पातालमें धँस जायगा, मैं अनुष्ठान करता हूँ। इतना कहकर पुरोहित राजसभासे जाने लगा। मैंने अधिपतिकी रक्षाके लिए पुरोहितको जेलमें डाल दिया है। वह वहीं मन्त्र-पाठ कर रहा है। मुनिवर, समय थोड़ा है। मेरा चित्त भी कुछ चंचल हो रहा है।

जटिलमुनि—मन्त्रिवर, चिन्ताकी विशेष बात नहीं है। मन्त्र अपनेमें कोई सामर्थ्य नहीं रखता। वे शब्द जिनका मुखसे उच्चारण किया जाता है, पौद्गलिक हैं। असली शक्ति तो उच्चारणकर्त्ताकी आत्म-शक्ति है। आत्मबल ही शब्दोंके द्वारा सामने वालेके ऊपर अपना प्रभाव डालता है। फिर जब अमुक शब्दों के द्वारा दस-बीस प्रभावशाली व्यक्ति आत्मप्रभाव व्यक्त कर चुकते हैं तो वही मन्त्र बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिन शब्दोंके पीछे जितने अधिक समर्थ पुरुषोंका साधनाबल रहता है वे दूसरे साधकोंको उतने ही शीघ्र मनकी एकाग्रता करके अपना प्रभाव दिखाने लगते हैं। यही मन्त्रसामर्थ्यका रहस्य है। आप शीघ्र जाकर चौलुक्याधिपतिको यहाँ लिवा लाइए।

इतनेमें ही सपरिकर चौलुक्याधिपति स्वयं आकर नमस्कार करके मुनिराजसे बोले—

मुनिवर—चण्डशर्माको शाप दिए हुए आठ मुहूर्त व्यतीत हो गए, पर अभी तक तो पातालमें जाने जैसी बात नहीं दीखती। फिर भी मेरा मन भावी अनिष्टकी आशंकासे विचलित सा हो रहा है।

जटिलमुनि—राजन्, आप चिन्ता न करें। आप क्षत्रिय परम्पराको स्वीकार करनेवाले दृढ़परिकर्मा वीर पुरुष इन अन्धविश्वासोंको छोड़ें और अपने क्षात्रवीर्यको स्मरण करें तथा मनसे हिंसा और द्वेष-बुद्धि निकालकर जगत्कल्याणकी सर्वभूतमैत्रीकी भावना भावें। उस अनुपम आत्मरसमें विभोर होकर अब आप मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावमें लीन होंगे तब इन कषायाविष्ट पामर-जनोंकी शक्ति अनायास ही कुण्ठित हो जायगी। आप समस्त विकल्पोंको त्यागकर निराकुल होइए और परम अहिंसक भावोंकी आराधना कीजिए। सब अच्छा ही होगा। मैं आपकी रक्षाका प्रबन्ध भी कर देता हूँ।

मुनिराजने राजाके आश्वासनके लिए कुछ क्रिया कर दी। राजा, मन्त्री आदि सभी शान्त वातावरण में अहिंसा और अद्वेषका विचार करने लगे। इस अहिंसक चरचामें पता नहीं चला कि दस मुहूर्त कब बीत गए। जब चरचा टूटी तो चौलुक्याधिपतिका ध्यान घटिका यन्त्रपर गया वह हर्षातिरेकसे बोला, ग्यारह मुहूर्त हो गए। बुलाओ उस मिथ्याचारीको। ये झूठे ही शापका भय दिखाते हैं। इन लोगोंने न जाने कितने अज्ञानी लोगोंको शापके भयसे त्रस्त कर रखा है। एक मामूली द्वारपालके आदेश से ये हतप्रभ होते हैं और हमारी अनुवृत्तिके लिए ही शास्त्र, मन्त्र और शाप आदिके हथियारोंका प्रयोग करते हैं। चौलुक्याधिपतिको इस तरह क्रोधाविष्ट देखकर मुनिराज जटिलने कहा—राजन्, क्षमा वीरोंका भूषण है। आप चण्डशर्माके हृदयके चण्डत्वको जीतिए जिससे वे स्वयं मानव-समत्वके पुण्यदर्शन कर सकें और अपने प्रभावका उपयोग व्यक्ति और जातिगत स्वार्थसे हटाकर मानवमात्रके उद्धारमें लगावें।

इतनेमें द्वारपाल चण्डशर्माको लेकर आ गया। देखते ही चौलुक्याधिपतिका क्रोध फिर भभका। पर मुनिराज जटिलने उन्हें शान्त कर दिया। उनने चण्डशर्मासे आश्वस्त वाणीमें कहा—

पुरोहितजी, शक्ति और प्रभावका उपयोग मानवमात्र ही नहीं प्राणिमात्रके कल्याणमें करना चाहिए। इस जीवनको जगदुपकारमें लगाइए। जाति, कुल, रूप आदि देहाश्रित हैं। वर्ण आजीविका और क्रियाके आधीन हैं ये तो व्यवहार हैं। यह तो आपको विदित है कि—व्यास, वसिष्ठ, कमठ, कठ, द्रोण, पराशर आदि जन्मसे ब्राह्मण नहीं थे पर तपस्या और सदाचार आदिसे उनने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था। यह संसार एक रंगशाला है। इसमें अपनी वृत्तिके अनुसार यह जीव नाना वेशोंको धारण करता है। कम से कम धर्मका क्षेत्र तो ऐसा उन्मुक्त रहना चाहिए जिसमें मानवमात्र क्या प्राणिमात्र शान्तिलाभ कर सके। आप ही बताइए, शूद्र यदि व्रत धारण कर ले और सफाई से रहने लगे, विद्या और शीलकी उपासना करने लगे, मद्य, मांसादि को छोड़ दे तो उसमें और हममें क्या अन्तर रह जाता है? शरीरका रक्त, मांस, हड्डी आदि में क्या जातिभेद है? शरीरमें तो ब्राह्मणत्व रहता नहीं है। आत्माके उत्कर्ष का कोई बन्धन नहीं है। आज ही राज्यमें अनेक तथोक्त नीचकुलोत्पन्न भी ऊँचे पदोंपर प्रतिष्ठित हैं। हमारा तो यह निश्चित सिद्धान्त है कि—

क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥"

—वरांगचरित २५।११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्--दया आदि व्रतोंके धारण करनेसे, रक्षा-कार्य करने से, कृषि करने से और शिल्प आदि से ही ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंकी व्यवस्था है। यह क्रियाश्रित है और व्यवहारमात्र है। दूसरे प्रकार से वर्ण व्यवस्था नहीं है।

जटिलमुनिके इन शम और समपूर्ण वचनोंको सुनकर चण्डशर्मा पानी-पानी हो गया। वह गद्‌गद हो चरणोंमें पड़कर बोला--श्रमणवर, आज आपने मुझे सच्चे ब्राह्मणत्वका मार्ग बताया। मेरी तो जैसे आँखें-ही खोल दीं हों। आज तो मुझे दुनिया कुछ दूसरी ही दिख रही है। मेरा तो नकशा ही बदल गया है। मुनिवर, मुझे उपासक मानें। आपने चालुक्येश्वर की कोपाग्निसे मेरी रक्षा की, मुझे अभय दिया। धन्य।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तीर्थंकर महावीर

## जन्म और विहार क्षेत्र

तीर्थंकर महावीरने बिहार की पुण्यभूमि वैशालीमें आजसे २५५६ वर्ष पूर्व जन्म लिया था। तीस वर्ष की भरी जवानीमें राज्य वैभव त्याग कर वे आत्मसाधनामें लीन हुए थे, व्यक्ति की मुक्ति और समाजमें शान्ति का मार्ग खोजनेके लिए। १२ वर्ष की दीर्घ तपस्याके बाद उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ और वे उसके बाद ३० वर्ष तक बिहार, उड़ीसा, बंगाल और उत्तरप्रदेशमें सतत पाद बिहार कर उपदेश देते रहे। उनके तथा शास्ता बुद्धके बिहारके कारण ही प्रान्त का नाम बिहार पड़ा। वीर भूमि (बीर भूम) और वर्धमान (बर्दवान) जिले तीर्थंकर महावीरके विहार (विचरण) की साक्षी दे रहे हैं।

## वे तीर्थंकर थे

तीर्थंकर वह व्यक्ति बन पाता है, जो जन्म-जन्मान्तरसे यह उत्कट भावना रखता है कि—मुझे जो शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त हो वह जगत्के कल्याण व उद्धारके लिए अर्पित है। संसारके प्राणी अज्ञान-अन्धकार और तृष्णाके जालमें पड़े हुए हैं। कैसे वे प्रकाश पाएँ और तृष्णाके जालको भेद कर सन्मार्गमें लग सकें, इसी पवित्र भावनासे व्यक्ति तीर्थंकर बनता है; मोक्षमार्ग का नेता होता है। वह अपने अनुभूत धर्म मार्ग का विश्व कल्याणके लिए उपदेश देता है और अपने को खपा देता है जगत्के उद्धारमें। तीर्थंकर स्वयं तीर्थ अर्थात् धर्म मार्ग का कर्ता होता है। वह किसी शास्त्रमें या ग्रन्थमें लिखे हुए धर्म मार्ग का प्रचारक नहीं होता, किन्तु अपने जीवनमें जिस धर्म का साक्षात्कार करता है और जिस मार्गसे अपनी आत्मा की मुक्ति का द्वार पाता है, उसी धर्म का वह उपदेश देता है। जिस मार्गसे वह तरता है, वही मार्ग दूसरों को बताता है। वह तरण-तारण होता है। उनके तीर्थके मुख्य आधार ये हैं—

## पुरुष स्वयं प्रमाण है

धर्मके स्वरूपके निश्चय करनेमें परम्परासे आए हुए वेद या शास्त्र एकमात्र प्रमाण नहीं हो सकते; किन्तु निर्मल और तत्त्वज्ञानी आत्मा स्वयं धर्म का साक्षात्कार कर सकता है। वह स्वयं अपने धर्म मार्ग का निर्णय कर सकता है। इस तरह वेद या शास्त्रके नाम पर एक वर्ग की, जो धर्म का अधिकारी बना हुआ था, वह धर्म की जो व्याख्या करता था, वही सबको मान्य करनी पड़ती थी, बुद्धि को इस गुलामी को तीर्थंकरने उतार फेंका और कहा कि—व्यक्ति अपनी साधनासे स्वयं वीतरागी बन सकता है और वह केवल-ज्ञान—पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जिसके बल पर वह धर्म का साक्षात्कार कर सकता है और धर्म मार्ग का निर्णय भी कर सकता है। कोई भी वाक्य या शब्द, चाहे वे वेदमें लिखे हों या अन्य किसी शास्त्र-में, स्वतः (अपने आपमें) प्रमाण नहीं हो सकते। शब्द या वाक्य की प्रमाणता वक्ता (बोलने वाले) के प्रामाण्य (प्रामाणिकता) पर निर्भर होती है। जिन शब्दों का कहने वाला वक्ता वीतरागी और तत्त्वज्ञ है, वे ही शब्द प्रमाण होते हैं; अर्थात् शब्दोंमें प्रमाणता स्वयं की नहीं है, किन्तु बोलने वाले व्यक्ति की है।

एक बात विशेष रूपसे ध्यान देने की है कि श्रमण संस्कृतिके महान् ज्योतिर्धर तीर्थंकर महावीर और शास्ता बुद्ध दोनों क्षत्रिय थे। उस समय धर्मके एक मात्र अधिकारी ब्राह्मण थे। किन्तु महावीर और बुद्धने स्वयं साधना करके धर्मके ऊपर वेद और ब्राह्मण वर्गके ही एक मात्र अधिकार की परम्परा को तोड़ कर स्वयं धर्म का उपदेश दिया। यह एक महान् विचारक्रान्ति थी। ये क्षत्रिय कुमार धर्ममें स्वयं प्रमाण बन कर धर्म तीर्थके कर्ता हुए। इतना ही नहीं, किन्तु इन्होंने धर्म का द्वार मानवमात्रके लिए खोल दिया था। इन्होंने रूढ़ वर्ण-व्यवस्थाके शिकंजेमें जकड़ी हुई मानवता को त्राण दिया और स्पष्ट कहा कि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## वर्ण व्यवस्था व्यवहार के लिए है

आजीविकाके उपायों का वर्गीकरण वर्णव्यवस्था का मुख्य प्रयोजन है। यह सामाजिक व्यवस्था का तत्कालीन प्रयोग है। इसके आधार पर धर्माधिकारमें भेद नहीं किया जा सकता। कोई भी मनुष्य धर्मके किसी भी पद को अपनी साधनासे पा सकता है। उसके पानेमें उसका शरीर बाधक नहीं होगा। उन्होंने जन्म-सिद्ध वर्ण व्यवस्थाके विरुद्ध अपने संघमें चांडाल, माली, कहार, नाई आदि जन्मसे कहे जाने वाले शूद्रों को भी शामिल किया। और उनके लिए धर्म का द्वार ही नहीं खोला, बल्कि अपने संघमें उन्हें वही दरजा दिया, जो किसी उच्च वर्णवाले ब्राह्मण आदि को मिल सकता था। अहिंसाके व्रतियोंमें सबसे अच्छा उदाहरण यमपाल चांडाल का लिया जा सकता है। मेतार्य मुनि और हरिकेशी साधु भी चांडाल ही थे। तात्पर्य यह कि—तीर्थंकर महावीर का अहिंसा धर्म किसी वर्ण विशेषके लिए ही नहीं था, बल्कि उसकी शीतल छायामें सभी समान रूपसे शान्ति लाभ करते थे। जिन असंख्य शूद्रों को धर्म का अक्षर सुनने तक का अधिकार नहीं था, जो मनुष्य की शकलमें पशुओंसे भी बदतर थे, उन्हें धर्ममें समान पद और समान अधिकार का मिल जाना सचमुच उस युग की सबसे बड़ी क्रान्ति थी। इसी समता तीर्थ या सर्वोदय तीर्थके प्रवर्तक होनेके कारण महावीर तीर्थंकर थे।

## जगत् स्वयं सिद्ध है

जगत्के बनाने वाले ईश्वर को मानकर और वर्णव्यवस्था को ईश्वर की देन कहकर जो एकाधिपत्य की परम्परा प्रचलित थी, उसे भी तीर्थंकरने स्वीकार नहीं किया। उनने बताया कि जगत्की रचना भौतिक परमाणुओंके संयोग-वियोगोंसे स्वयं हो रही है। उसमें किसी सर्व-नियन्ता का कोई स्थान या हाथ नहीं है। कहीं पुरुषके प्रयत्न उसे भले ही नियंत्रित कर लें, पर यह सब समय और सब स्थानोंके लिए नहीं है। विश्वके रंग-मंच पर असंख्य परिवर्तन आपसी संयोग-वियोगोंसे अपने आप होते रहते हैं। ऑक्सीजन और हॉइड्रोजन को किसी प्रयोगशालामें विज्ञान वेत्ता भी मिलाता है और आकाशमें वे अपने आप ही मिलकर जल बन जाते हैं। मनुष्य स्वयं अपने पुण्य और पाप का फल पाता है। अपने कर्म संस्कारोंके अनुसार अच्छी और बुरी अवस्था को प्राप्त होता है। इसके लिए लेखा-जोखा रखने वाले किसी महाप्रभु की न तो आवश्यकता है और न उसकी स्थिति विज्ञान-संमत कार्यकारण की शृंखलामें ही फिट—सुमिल बैठती है।

## पशुयज्ञ आदि धर्म नहीं

ईश्वरके नाम पर यह भी कहा जाता था कि स्वयंभू ईश्वरने यज्ञके लिए पशुओं की सृष्टि की है। अतः यज्ञमें पशुओं का वध करना हिंसा या अधर्म नहीं है। अहिंसाके सर्वोदयी पुरस्कर्ता तीर्थंकर महावीरने कहा कि ईश्वरने किसी को नहीं बनाया। जिस प्रकार हम स्वयं सिद्ध हैं, उसी तरह गाय आदि पशु भी। जिस प्रकार हमें प्राण प्यारे हैं, हम सुख चाहते हैं, इसी तरह वे पशु भी। कहा है—

"जह मम न पियं दुक्खं, जाणिहि एमेव सव्वजीवाणं।"

जैसे हमें दुःख प्रिय नहीं लगता, वैसे ही सब जीवों को जानो।

"सव्वे जीवा पियाउआ सुहसाया दुक्ख-पडिकूला।"

सभी को अपने प्राण प्यारे हैं, सब सुख चाहते हैं, दुःखसे सब डरते हैं। इसलिए यज्ञमें पशुओं का होमा जाना कदापि धर्म नहीं हो सकता। तीर्थंकरके द्वारा किये गए इस पशुवधके विरोध का जनताने स्वागत किया। इसी तरह नदियोंमें स्नान करना, पंचाग्नि तपना, पर्वतसे गिरना, काशी करवट लेना, अग्निपात आदि क्रियाकाण्डोंमें धर्म मानने को मूढ़ता बताकर कहा कि धर्म तो आत्मशुद्धि का मार्ग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने मनकी शुद्धि ही वास्तवमें धर्म है। इस मनःशुद्धिके साथ समस्त प्राणियोंकी आत्म-समता की बुद्धिसे रक्षा करना ही परम धर्म है। इस धर्ममें प्राणिमात्र का समान अधिकार है।

## लोकभाषा की प्रतिष्ठा

भाषा भावों का वाहन है। वह एक ऐसा माध्यम है, जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके हृदयगत भावों को समझता है। अतः किसी भी भाषा को शिष्ट और पुण्य मानकर उससे असंख्य जनता को वंचित रखना भी रूढ़ वर्णव्यवस्था का एक अभिशाप है। संस्कृत का उच्चारण ही धर्म और पुण्य है; लोकभाषा प्राकृत, अपभ्रंश आदि का उच्चारण नहीं करना चाहिए; संस्कृत विशेषतः वैदिक संस्कृतके पढ़ने का अधिकार शूद्रों और स्त्रियों को नहीं है—इत्यादि व्यवस्थाओं द्वारा जो भाषा का साम्राज्य भारत भूमि पर स्थापित था; उसके विरुद्ध तीर्थंकर महावीरने अपना उपदेश अर्धमागधी बोलीमें दिया था। अर्धमागधी वह बोली थी, जिसमें आधे शब्द मगध-जनपद की बोलीके थे और आधे शब्द अन्य विदेह अंग, वंग, काशी, कौशल आदि महाजनपदों की बोलियोंके थे। यानी उस भाषामें १८ महाभाषाके और ७०० लघु भाषाओं (छोटी बोलियों) के शब्दों का समावेश था। इतनी उदार थी वह भाषा, जिसमें तीर्थंकर का उपदेश होता था। बुद्ध की पालि भाषा मूलतः यही मागधी है। उसका पाली नाम तो 'बुद्ध वचनों की पंक्ति' के धार्मिक अर्थके कारण पड़ा है। आज हम हिन्दी और हिन्दुस्तानीके जिस विसंवादमें पड़कर भाषाके क्षेत्रमें जो चौका लगा रहे हैं और उसके नाम पर राष्ट्र की एकता को छिन्न-भिन्न करनेमें नहीं चूकते, उन्हें तीर्थंकर की लोकभाषा की इस दृष्टि को अपना कर भाषा को संकुचित रखने की मनोवृत्ति को छोड़ना चाहिए। और भाषा को साध्य नहीं, साधन मान कर उसे सब की बोली बनने देना चाहिए।

## व्यक्ति धर्म और समाज धर्म

व्यक्ति को निराकुल और शुद्ध बननेके लिए महावीरने अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर बहुत जोर दिया है और बताया कि जब तक मनुष्य प्राणिमात्रके साथ आत्म-तुल्यता की भावना नहीं बनाता; सब प्राणियों को अपने ही समान जीने का अधिकारी नहीं मानता—तब तक उसके मनमें सर्वोदयी अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। वासनाओं पर विजय पाना ही सच्ची शुद्धि है और उसकी कसौटी है ब्रह्मचर्य की पूर्णता। परिग्रह का संग्रह ही विषमता, संघर्ष और हिंसा की जड़ है। इसका संग्रह करने वाला व्यक्ति कभी सर्वोदय (सबका उदय, सबका भला) की भावना का अधिकारी नहीं हो सकता। इन सबके साथ ही जीवन की शुद्धिके लिए सत्य का भी उतना ही स्थान है, जितना अहिंसा का। सत्य का आग्रह होना और उसके निभानेके लिए प्रत्येक त्याग की तैयारी रखना परिग्रह-लिप्सु, वासनाओंके गुलाम और हिंसक अर्थात् दूसरोंके अधिकार को हड़पने वाले व्यक्तिके वश की बात नहीं है। इसी तरह अचौर्यव्रत अर्थात् दूसरों की वस्तु को नहीं चुराना यानी दूसरोंके अधिकार और श्रम को हड़पने की वृत्ति का न होना—यह जीवन शुद्धि का महान् प्रयोग है। एक तरहसे देखा जाए, तो मनमें अहिंसा की ज्योतिके जगते ही अचौर्य की प्रवृत्ति और सत्य का आग्रह अपने आप ही आ जाते हैं; और इन सबको निभानेके लिए इन्द्रियजय ही नहीं, इन्द्रिय दमन रूप संयम या ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा नितान्त आवश्यक है।

इन पाँच व्रतों का, जो वस्तुतः अहिंसाके ही विस्तार हैं; जीवन शुद्धिमें जितना उपयोग है, उससे भी अधिक इनका स्वस्थ समाजके निर्माणमें मूलभूत स्थान है। समाज रचना की मूल भूमिका है—प्रत्येक इकाई का दूसरी इकाईके प्रति आत्म-समानता का भाव यानी प्रत्येक इकाई को अपनी ही तरह समान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिकारी मानना। इस सर्वोदयी रूप की पूर्णताके लिए सबसे पहले व्यक्तिके मानसमें सर्व समता रूपी अहिंसा की ज्योति जगना ही चाहिए। उसीके निर्मल प्रकाशमें वह नव समाज निर्माणके मंगलमय रूप की रचना कर सकता है। इस आत्म-समानता की ज्योतिके जगते ही अपरिग्रह या समान-परिग्रह की प्रवृत्ति उसमें स्वतः ही आ जाएगी। वह अपनी आवश्यकताओं को इतना सीमित रखेगा, कि समाज की प्रारंभिक और अनिवार्य आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाएँ, उसकी पूर्णतामें बाधा न आए, विषमताके वातावरण की सृष्टि न हो। समान-अधिकार वाली समाज की स्वस्थताके लिए परस्पर सत्य व्यवहार और अचौर्यवृत्ति यानी दूसरों की भोग्य वस्तु या अधिकार को नहीं हड़पना—ये मूल बातें हैं। और यह सब तब हो सकता है, जब जीवनमें से विलासिता, वासनाओं की गुलामी और इन्द्रिय लोलुपता की बेरोक प्रवृत्तियाँ दूर हो जाएँ। अर्थात् सीमित ब्रह्मचर्य स्वस्थ समाज की स्थिरता का प्राणभूत आधार है।

## विचारशुद्धि यानी अनेकान्तदृष्टि

संसारके हर एक पदार्थमें अनन्त धर्म हैं। किसी एक पदार्थ की संपूर्ण विशेषताओं—खूबियों को जान लेना हम-तुम जैसे अल्पज्ञानियोंके वश की बात नहीं है। कोई पूर्ण ज्ञानी उन्हें जान भी ले, तो भी वह उनका वर्णन तो कर ही नहीं सकता। ज्ञान-विज्ञान की असंख्य शाखाएँ हमारे सामने हैं। उस ज्ञान समुद्र की एक बूँद को भी पूर्ण रूपसे न पाने वाला यह मनुष्य कितना अहंकारी बन गया है कि वह अपने एक दृष्टिकोण को ही पूर्ण सत्य मानने का ढोंग कर बैठा है। तीर्थंकर महावीरने उसके इस दंभ को झक-झोरते हुए कहा—क्षुद्र मानव! तू कहाँ है? इस अनन्त विश्वके एक कण को भी तू पूरे रूपसे नहीं समझ पाया है। प्रत्येक कण—अणु अनन्त धर्मों का आधार है। अतः वस्तुके स्वरूपके सम्बन्धमें जितने भी विचार और दृष्टिकोण सामने आएँ, उन्हें सहानुभूति और वस्तु स्थितिके आधारसे देखो। कोई विचार या दृष्टिकोण एक अपेक्षासे ही सत्य हो सकता है, सभी दृष्टिकोणों या पूर्ण रूपसे सत्य नहीं हो सकता; क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही जब अनेकान्त यानी अनन्त धर्म वाला है, तब उसके एक-एक अंश को पकड़ने वाला विचार पूर्ण सत्य कैसे हो सकता है। तात्पर्य यह कि विचारशुद्धि और सत्यताके लिए आवश्यक है कि वस्तु की अनन्त धर्मता और अपनी संकुचित शक्ति का भान हमें रहे। ऐसी स्थितिमें हम अपने ही विचार, दृष्टिकोण या अभिप्राय को पूर्णतया सत्य मानने का दावा या दंभ नहीं कर सकते। कोई भी विचार अपने रूपमें किसी एक दृष्टिसे ही सत्य हो सकता है, सर्व या संपूर्ण दृष्टियोंसे नहीं। यह अनेकान्त दर्शन ही विचार शुद्धि का वास्तविक आधार है और इसी की मंगलमय ज्योतिमें हम ज्ञानके अहंकार और उस अहंकारसे होने वाले विविध मत-मतान्तरोंके सांप्रदायिक कुचक्रसे मानव समाज की रक्षा कर सकेंगे।

## स्याद्वाद भाषा

तीर्थंकर महावीरने इस अनेकान्त दर्शनके साथ ही साथ भाषा की एक निर्दोष पद्धति भी बताई। जब छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ अनन्त धर्म वाली हैं और हमारा ज्ञान उनके एक ही अंश को एक समयमें पकड़ सकता है, तब हमारी भाषा भी सापेक्ष (किसी अपेक्षा से) होनी चाहिए। हम सिर्फ वस्तुके एक ही अंश को जानकर भी 'वस्तु ऐसी ही है' इस प्रकार जो एक दृष्टि को सर्व निश्चयात्मकता या संपूर्णरूपता देने वाले 'ही' का प्रयोग करते हैं, वह हमारे अहंकार और असत्य का ही द्योतक होता है। जब कि हमें सदा 'वस्तु ऐसी भी है' इस प्रकार सापेक्षताके द्योतक 'भी' शब्दके प्रयोग की निर्दोष पद्धति सीखनी चाहिए। जब एक ही वस्तु अनेक दृष्टिकोणोंसे देखी जा सकती है, और वे सभी दृष्टिकोण अपनेमें सत्य हैं; तब एक दृष्टिकोण पर 'ही' लगाकर भार देने का मतलब यह होता है कि दूसरे दृष्टिकोणोंसे वह देखने लायक नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। किन्तु इसके उलटा 'भी' शब्द अपने दृष्टिकोण को आंशिक सत्यता बताकर भी दूसरे आंशिक सत्यों का निषेध नहीं करता। अतः समग्र दृष्टिसे वस्तु का कथन करते समय हमें इस दुराग्रहकारी 'ही' से बचकर समन्वयकारी 'भी' शब्दके प्रयोग को अपनाना ही होगा। 'स्यात्' शब्द इसी 'भी' का प्रतिनिधि है। 'स्यात्' का अर्थ शायद, संभव या कदाचित् नहीं है। किन्तु यह 'स्यात्' सुनिश्चित दृष्टिकोणसे आंशिक सत्यता को बताता है। यह हम मानते हैं कि हर एक दृष्टिकोण भी अपनी आंशिक सत्यता का दावा 'ही' शब्दसे कर सकता है, पर संपूर्ण सत्यके लिए तो वह 'भी' ही कह सकता है। सारांश यह है कि स्याद्वाद भाषा संशय या संभावना रूप न होकर सुनिश्चित दृष्टिकोण या आंशिक सत्य को निर्णयात्मक रूपसे प्रकट करने वाली एक अहिंसक भाषा पद्धति है।

इस तरह विचारमें अनेकान्त दर्शन, आचारमें अहिंसा, समाज रचनाके लिए अचौर्य और अपरिग्रह तथा इन सबके लिए सत्य की निष्ठा और जीवन शुद्धिके लिए ब्रह्मचर्य यानी इन्द्रियविजय आदि धर्म तीर्थ का प्रवर्तन महावीरने किया।

हमने पंचशील का जो उद्घोष विश्वशान्तिके लिए किया है, वह महावीर जैसे तीर्थंकरों की अनेकान्त दृष्टि, समन्वय की प्रवृत्ति और अहिंसा की पवित्र भूमिका पर ही हुआ है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड : ५

# जैन न्यायविद्या का विकास
# जैन दार्शनिक साहित्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# जैन न्यायविद्याका विकास

• डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य
प्रधान सम्पादक

## प्रास्ताविक

हम यहाँ जैन संस्कृतिके विभिन्न अंगोंमें न्यायशास्त्रके विकास पर विमर्श करेंगे। इस संस्कृतिमें धर्म, दर्शन, न्याय, साहित्य, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्यौतिष आदिका समावेश है। और प्रत्येक पर गहराईके साथ विचार किया गया है।

जैनधर्म भारतकी आध्यात्मिक उर्वरा भूमिमें उत्पन्न हुआ, विकसित हुआ और समृद्ध हुआ है। यह भारतीय धर्म होते हुए भी वैदिक और बौद्ध दोनों भारतीय प्रधान धर्मोंसे भिन्न है। इसके प्रवर्त्तक २४ तीर्थंकर हैं; जो वैदिक धर्मके २४ अवतारों तथा बौद्धधर्मके २८ बुद्धोंसे भिन्न हैं। इन सभीका तत्त्व-निरूपण भी भिन्न-भिन्न है। हाँ, कितनी ही बातोंमें उनमें साम्य भी है, जो स्वाभाविक है, क्योंकि सदियोंसे ही नहीं; सहस्राब्दियोंसे एक साथ रहनेवालोंमें एक-दूसरेसे प्रभावित होना और आदान-प्रदान करना बहुत सम्भव है। पुरातत्त्व, इतिहास और साहित्यकी प्रचुर साक्षियोंसे भी सिद्ध है कि जैनधर्म इन दोनों धर्मोंसे पृथक् एवं स्वतन्त्र धर्म है। उसका मूलाधार उसकी विशिष्ट आध्यात्मिकता एवं तत्त्व-निरूपण है।

## तीर्थंकर ऋषभदेव

जैनधर्मके आद्यप्रवर्त्तक ऋषभदेव हैं। जैन साहित्यमें इन्हें प्रजापति, आदिब्रह्मा, आदिनाथ, बृहद्देव, पुरुदेव, नाभिसूनु और वृषभ नामोंसे भी समुल्लेखित किया गया है। इनके एक सौ एक (१०१) पुत्र थे। भरत ज्येष्ठ पुत्र थे, जो उनके राज्यके उत्तराधिकारी तो हुए ही, प्रथम सम्राट् भी थे, और जिनके नाम पर हमारे राष्ट्रका नाम "भारत" पड़ा।

वैदिक धर्ममें भी इन्हें अष्टमअवतारके रूपमें माना गया है। "भागवत" में "अर्हन्" राजाके रूपमें इनका विस्तृत वर्णन है। ऋग्वेद आदि प्राचीन वैदिक साहित्यमें भी इनका आदरके साथ संस्तवन किया गया है।

## अन्य २० तीर्थंकर

ऋषभदेवके पश्चात् अजितसे लेकर नमि पर्यन्त २० तीर्थंकर ऐसे हुए, जिन्होंने ऋषभदेवकी तरह अपने-अपने समयमें धर्म-तीर्थका प्रवर्त्तन किया। ऋषभदेवके बाद नमिके बीचमें ऐसे समय आए, जब जैन-धर्मका विच्छेद हो गया, जिसका पुनः स्थापन इन्होंने किया। और इससे वे तीर्थंकर कहे गये।

नमिके पश्चात् २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि अथवा नेमि हुए। ये श्रीकृष्णके बड़े ताऊ समुद्र विजयके तनय तथा उनके चचेरे भाई थे। ये बचपनसे सात्त्विक, प्रतिभावान् और बलशाली थे। इनके जीवनमें एक घटना ऐसी घटी, जिसने उनके जीवनको मोड़ दिया। जब इनकी बारात जूनागढ़ पहुँची, तो नगरके बाहर एक बाड़ेमें घिरे हुए पशुओंके चीत्कारको इन्होंने सुना। सुनकर रथके सारथीसे इसका कारण पूछा। सारथीने कहा—"महामान्य राजकुमार! बारातमें जो मांसभक्षी राजा आए हैं, उनके मांस-भक्षण हेतु इन्हें मारा जायेगा।" इसे सुनते ही राजकुमार अरिष्टनेमि संसारसे विरक्त हो गये। और पशुओंको घेरेसे मुक्त कराकर विवाह न कराते हुए निकटवर्ती ऊर्जयन्तगिरि पर चले गए। वहाँ पहुँचकर समस्त वस्त्राभूषण त्याग दिए और दिगम्बर साधु हो गए। घोर तपस्या और ध्यान करके वीतराग-सर्वज्ञ बन गए।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्षों तक जनसामान्यको अहिंसा तथा मोक्षमार्गका उन्होंने उपदेश दिया। अंतमें उसी ऊर्जयन्तगिरिसे निर्वाण प्राप्त किया। वैदिक साहित्यमें अनेक स्थलों पर विघ्न विनाशके लिए इनका स्मरण किया गया है।

अरिष्टनेमिके एक हजार वर्ष पश्चात् २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए, जिनका जन्म वाराणसीमें हुआ। राजा अश्वसेन और माता वामादेवीकी कूँखसे जन्म लिया। एक दिन कुमार पार्श्व वन-क्रीड़ाके लिए गंगाके किनारे गए। वहाँ उन्होंने देखा कि एक तापसी पंचाग्नि तप रहा है। वह अग्निमें गीले और पोले लक्कड़ जला रहा था। पार्श्वकी पैनी दृष्टिने देखा कि उस लक्कड़में एक नाग-नागनीका युगल है। और जो अर्धमृतक अवस्थामें है। कुमार पार्श्वने यह तापसीसे कहा। तापसी झुंझला कर बोला—"इसमें कहाँ नाग-नागनी हैं" और जब उस लक्कड़को फाड़ा गया तो उसमें मरणासन्न नाग-नागनीको देखा। पार्श्वने "णमोकारमंत्र" पढ़कर दोनोंको सम्बोधा, जिसके प्रभावसे वह युगल मरकर देव-जातिमें धरणेन्द्र-पद्मावती हुआ। जैन मंदिरोंमें पार्श्वनाथकी अधिकांश मूर्तियोंके मस्तक पर जो फणामण्डप देखा जाता है। वह धरणेन्द्र के फणामण्डपका अंकन है, जिसे उसने अपने उपकारीके प्रति कृतज्ञतावश कमठ द्वारा योगमग्न पार्श्वनाथ पर किए गये उपसर्गोंके निवारणार्थ अपनी विक्रियासे बनाया था। पार्श्वकुमार लोकमें फैली हुई इन मूढ़ताओंको देखकर कुमार अवस्थामें ही प्रवृजित हो गये, न विवाह किया और न राज्य किया। कठोर तपस्या कर 'अर्हन्तकेवली' हो गये और जगह-जगह पदयात्राएँ करके लोकमें फैली मूढ़ताओंको दूर किया तथा ज्ञानका प्रचार किया। अंतमें उन्होंने विहार प्रदेशमें स्थित सम्मेदशिखर पर्वतसे, जिसे आज "पार्श्वनाथ हिल" कहा जाता है, मुक्तिलाभ किया।

पार्श्वनाथसे अढ़ाई सौ वर्ष पश्चात् ईसापूर्व ५२६में अन्तिम एवं २४वें तीर्थंकर महावीर हुए, जिन्हें वर्धमान, वीर, अतिवीर और सन्मति इन चार नामोंसे भी उल्लिखित किया जाता है। ये वैशाली गणतंत्रके नायक चेटकके धेवता तथा सिद्धार्थ एवं त्रिशलाके पुत्र थे। कुण्डलपुर ( कुण्डपुर ) इनकी जन्मभूमि थी। त्रिशलाका दूसरा नाम प्रियकारिणी था। प्रियकारिणी बिम्बसार अपरनाम राजा श्रेणिककी रानी चेलनाकी सगी बड़ी बहिन थीं। महावीरके समयमें भी अनेक मूढ़ताएँ व्याप्त थीं। धर्मके नामपर नरमेध, गोमेध, अश्वमेध, अजमेध आदि हिंसा पूर्ण यज्ञ किए जाते थे। तथा "याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति" जैसे श्रुति वाक्योंसे उनका समर्थन किया जाता था। महावीरने देशकी यह स्थिति देखकर उसे बदलनेका निर्णय किया। और भरी जवानीमें तीस वर्षकी वयमें ही राजमहलके सुखोंका त्यागकर दिगम्बर साधु हो गये। और मौन-पूर्वक बारह वर्ष घोर तपस्या की। फलतः ४२ वर्षकी अवस्थामें उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया और पूर्ण वीतराग-सर्वज्ञ हो गए। उन्होंने तीस वर्ष तक विहार करके उक्त हिंसापूर्ण यज्ञोंका निषेध किया। तथा अहिंसापूर्ण आत्मयज्ञ करनेका उपदेश दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि नरमेध, गोमेध आदि यज्ञ बंद हो गये। और लोगोंके हृदयमें अहिंसाको ही धर्म माननेकी आस्था दृढ़ हो गई। वैदिक धर्मके महान् विद्वान् एवं वैदिक कर्मकाण्डके प्रसिद्धकर्त्ता गौतम इन्द्रभूति और उनके वैदिक विद्वान् दश भाई भी अहिंसाके प्रति आस्थावान् बन गए। इतना ही नहीं, महावीरके पादमूलमें पहुँचकर उनके शिष्य भी हो गये। इन्द्रभूति तो उनका प्रधान गणधर ( आद्यशिष्य ) बन गया ? और महावीरके उपदेशोंको उसने चहुँओर फैलाया।

ध्यातव्य है कि पार्श्वनाथकी परम्पराके एक दिगम्बर साधुसे दीक्षित एवं नग्न रहना, खड़े-खड़े आहार लेना, केशलुञ्चन करना आदि दिगम्बर चर्याको पालनेवाले, किन्तु उसे बादमें कष्टदायी ज्ञातकर त्याग देनेवाले तथा मध्यम मार्गके प्रवर्त्तक गौतम बुद्धने भी महावीरके अहिंसा-प्रचारमें प्रबल सहयोग किया। दीघनिकाय आदि बौद्ध साहित्यमें अनेक स्थलोंपर "निग्गंथनाथपुत्त"के नामसे महावीरके सिद्धान्तोंकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चर्चा की गई है। आज वे ऐतिहासिक महापुरुषके रूपमें विश्रुत एवं सर्वमान्य हैं। सन् १९७४-७५में समग्र भारत और विश्वके अनेक देशोंमें उनकी पावन २५००वीं निर्वाण जयन्ती पूरे एक वर्ष तक मनाई गयी थी, जिसके समारोह भारतके सभी राज्योंमें आयोजित हुए थे। जिनमें पूरे राष्ट्रने उन्हें श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की थीं।

अंतमें तीर्थंकर महावीरने बुद्धकी निर्वाणभूमि कुशीनगरके पास स्थित पावासे मोक्ष प्राप्त किया।

## तीर्थंकर-देशना

इन चौबीस तीर्थंकरोंने अपने-अपने समयमें धर्ममार्गसे च्युत जनसमुदायको सम्बोधित किया, और उसे धर्ममार्गमें लगाया। इसीसे इन्हें धर्ममार्ग-मोक्षमार्गका नेता तीर्थ प्रवर्त्तक, तीर्थंकर कहा गया है। जैन सिद्धान्तके अनुसार जनकल्याणकी भावना भानेसे बद्ध "तीर्थंकर" नामकी एक पुण्य ( प्रशस्त ) प्रकृति—कर्म है, उसके उदयसे तीर्थंकर होते हैं और वे तत्त्वोपदेश करते हैं। नौवीं शताब्दीके आचार्य विद्यानंदने 'आप्तपरीक्षा' कारिका सोलहमें स्पष्ट कहा है कि "विना तीर्थंकरत्वेन नाम्ना नार्थोपदेशना" अर्थात् बिना तीर्थंकर पुण्यनामकर्मके तत्त्वोपदेश सम्भव नहीं है।

इन तीर्थंकरोंका वह उपदेश जिनशासन, जिनागम, जिनश्रुत, द्वादशांग, जिनप्रवचन आदि नामोंसे व्यवहृत किया गया है। उनके इस उपदेशको उनके प्रमुख एवं प्रतिभाशाली शिष्य विषयवार भिन्न-भिन्न प्रकरणोंमें निबद्ध करते हैं। अतएव उसे प्रबन्ध एवं ग्रन्थ भी कहते हैं। उनके उपदेशको निबद्ध करने वाले इन प्रमुख शिष्योंको जैनवाङ्मयमें "गणधर" कहा गया है। ये गणधर अत्यन्त सूक्ष्मबुद्धिवाले एवं विशिष्ट क्षयोपशमके धारक होते हैं। उनकी धारणाशक्ति और स्मरणशक्ति असाधारण होती है।

उत्तरकालमें अल्पमेधाके धारक आचार्य उनके इस श्रुतका आश्रय लेकर अपने विभिन्न-विषयक ग्रन्थोंकी रचना करते हैं। और उनके इसी जिनोपदेशको जन-जन तक पहुँचानेका प्रशस्त प्रयास करते हैं। तथा क्षेत्रीय भाषाओंमें भी उसे ग्रथित करते हैं।

## उपलब्ध-श्रुत

ऋषभदेवका श्रुत अजित तक, अजितका श्रुत शम्भव तक और शम्भवका अभिनन्दन तक, इस तरह पूर्व तीर्थंकरका श्रुत उत्तरवर्ती अगले तीर्थंकर तक रहा। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वका द्वादशाङ्ग श्रुत तब तक रहा, जब तक महावीर तीर्थंकर ( धर्मोपदेष्टा ) नहीं हुए। आज जो आंशिक द्वादशाङ्गश्रुत उपलब्ध है वह अंतिम तीर्थंकर महावीरसे सम्बद्ध है। अन्य सभी तीर्थंकरोंका श्रुत लेखबद्ध न होने तथा स्मृतिधारकोंके न रहनेसे नष्ट हो चुका है। वर्धमान महावीरका द्वादशाङ्गश्रुत भी पूरा उपलब्ध नहीं है। आरम्भमें वह आचार्य-शिष्य-परम्परामें स्मृतिके आधारपर विद्यमान रहा। उत्तरकालमें स्मृतिधारकोंकी स्मृति मंद पड़ जानेपर उसे निबद्ध किया गया। दिगम्बर परम्पराके अनुसार वर्तमानमें जो श्रुत उपलब्ध है वह बारहवें अंग दृष्टिवादका कुछ अंश है, जो धरसेनाचार्यको आचार्य परम्परासे प्राप्त था और जिसे उनके शिष्य भूतबलि और पुष्पदंतने उनसे प्राप्तकर लेखबद्ध किया। शेष ग्यारह अंग और बारहवें अंगका बहुभाग नष्ट हो चुका है। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार देवर्धि गणीके नायकत्वमें हुई तीसरी वलभी वाचनामें सङ्कलित ग्यारह अंग मौजूद हैं, जिन्हें दिगम्बर परम्परामें मान्य नहीं किया गया। श्वेताम्बर परम्परा दृष्टिवादका विच्छेद स्वीकार करती है। आज आवश्यक है कि दोनों परम्पराओंके अवशेष श्रुतका अध्ययन किया जाये और महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जाएं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## धर्म, दर्शन और न्याय

उक्त श्रुतमें तीर्थंकर महावीरने धर्म, दर्शन और न्याय इन तीनोंमें भेद करते हुए बताया कि मुख्यतया आचारका नाम धर्म है। धर्मका जिनविचारों द्वारा समर्थन किया जाए वे विचार दर्शन हैं। और धर्मके सम्पोषणके लिए प्रस्तुत विचारोंको युक्ति-प्रत्युक्ति, खण्डन-मण्डन, प्रश्न-उत्तर एवं शंका-समाधान पूर्वक दृढ़ करना न्याय है। उसी को प्रमाणशास्त्र भी कहते हैं। इन्हें एक उदाहरण द्वारा यों समझें। अहिंसाका पालन करो, किसी जीवकी हिंसा न करो, सत्य बोलो, असत्य मत बोलो आदि विधि और प्रतिषेध रूप आचारका नाम धर्म है। जब इसमें "क्यों"का सवाल उठता है तो उसके उत्तरमें कहा जाता है कि अहिंसाका पालन करना जीवोंका कर्त्तव्य है और इससे सुख मिलता है। किन्तु जीवोंकी हिंसा करना अकर्त्तव्य है और उससे दुःख मिलता है। इसी तरह सत्य बोलना कर्त्तव्य है, और उससे न्यायकी प्रतिष्ठा होती है। किन्तु असत्य बोलना अकर्त्तव्य है और उससे अन्यायको बल मिलता है। इस प्रकारके विचार दर्शन कहे जाते हैं। और जब इन विचारोंको दृढ़ करनेके लिए यों कहा जाता है कि दया करना जीवका स्वभाव है, यदि उसे स्वभाव न माना जाए तो कोई भी जीव जीवित नहीं रह सकता। सब सबके भक्षक या घातक हो जायेंगे। परिवारमें, देशमें और विश्वके राष्ट्रोंमें अनवरत हिंसा रहनेपर शान्ति और सुख कभी उपलब्ध नहीं हो सकेंगे। इसी तरह सत्य बोलना मनुष्यका स्वभाव न हो तो परस्परमें अविश्वास छा जायेगा और लेन-देन आदिके सारे लोकव्यवहार लुप्त हो जायेंगे। इस तरह धर्मके समर्थनमें प्रस्तुत विचाररूप दर्शनको दृढ़ करना न्याय है। तात्पर्य यह कि धर्म जहाँ सदाचारके विधान और असदाचारके निषेधरूप है वहाँ दर्शन उनमें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य और सुखदुःखका विवेक जागृत करता है। तथा न्याय दर्शनके रूपमें प्रस्तुत विचारोंको हेतुपूर्वक मस्तिष्कमें बिठा देता है। यही कारण है कि विश्वमें इन तीनोंपर पृथक्-पृथक् शास्त्रोंकी रचना हुई है। भारतमें भी जैन, बौद्ध और वैदिक सभीने धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और न्यायशास्त्रका प्रतिपादन किया है। तथा उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

## जैनन्यायका उदय और विकास

जैनश्रुतके बारहवें अंग दृष्टिवादमें तीन सौ तिरेसठ मतोंकी विवेचना की गई है। जैनदर्शन और जैनन्यायके बीज भी इसमें प्रचुर मात्रामें मिलते हैं। आचार्य भूतबलि और पुष्पदंत द्वारा निबद्ध षट्खण्डागममें "सियापज्जत्ता", "सिया अपज्जत्ता", "मणुस अपज्जता दव्वपमाणेण केवडिया", "असंखेज्जा" जैसे "सिया" ( स्यात् ) शब्द और प्रश्नोत्तर शैलीको लिए हुए वाक्य उपलब्ध हैं। कुन्दकुन्दने पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि आर्षग्रन्थोंमें उनके कुछ और अधिक बीज दिये हैं। "सिय अत्थि णत्थि उहयं" आदि उनके वाक्य उदाहृत किये जा सकते हैं। श्वेताम्बर आगमोंमें भी जैनदर्शन और जैन न्यायके बीज बहुलतया पाये जाते हैं। उनमें अनेक जगह 'से केणट्ठेणं भंते एवमुच्चई जीवाणं, भंते, किं सासया असासया ? गोयमा ! जीवा सिय सासया सिय असासया ? गोयमा दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया।' जैसे तर्क गर्भित प्रश्नोत्तर प्राप्त होते हैं। ध्यातव्य है कि 'सिया' या 'सिय' प्राकृत शब्द हैं, जो संस्कृतके 'स्यात्' शब्दके पर्यायवाची हैं। और 'कथंचित्' अर्थके बोधक हैं। इससे प्रकट है कि स्याद्वाददर्शन और स्याद्वादन्याय आर्षग्रन्थोंमें भी प्राप्त हैं। जैन मनीषी यशोविजयने लिखा है कि 'स्याद्वादार्था दृष्टिवादार्णवोत्थः' अर्थात् स्याद्वाद ( जैनदर्शन और न्याय ) दृष्टिवाद रूप अर्णवसे उत्पन्न हुए हैं। यथार्थतः स्याद्वाद दर्शन और स्याद्वाद न्याय ही जैनदर्शन और जैन न्याय हैं। आचार्य समन्तभद्रने सभी तीर्थंकरोंको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'स्याद्वादी' कहकर उनके उपदेशको स्याद्वाद रूप कहा है। अकलंकदेव तो यों कहते हैं कि ऋषभसे लेकर महावीर पर्यन्त सभी तीर्थंकर स्याद्वादी–स्याद्वादके उपदेशक हैं।

यथा—

ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये।
धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु, स्याद्वादिभ्यो नमो नमः ॥—लघीय० १

समन्तभद्र, अकलंक, यशोविजय आदि मनीषियोंके सिवाय सिद्धसेन, विद्यानंद जैसे विश्रुत दार्शनिकों एवं तार्किकोंने भी स्याद्वाददर्शन और स्याद्वादन्यायको जैनदर्शन और जैनन्याय प्रतिपादित किया है। तथा उनकी उत्पत्ति दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगसे बतलाई है।

अब हम इनके विकासपर विचार करेंगे। कालकी दृष्टिसे उनके विकासको तीन कालखण्डोंमें विभक्त किया जा सकता है। और उन कालखण्डोंके नाम निम्न प्रकार रखे जा सकते हैं—

१–आदिकाल अथवा समन्तभद्रकाल ( ई० २०० से ई० ६५० )।
२–मध्यकाल अथवा अकलंककाल ( ई० ६५० से ई० १०५० )।
३–अंतकाल अथवा प्रभाचन्द्रकाल ( ई० १०५० से १७०० )।

## १. आदिकाल अथवा समन्तभद्रकाल

जैनदर्शन एवं जैनन्यायके विकास का आरम्भ यों तो आचार्य कुन्दकुन्दसे उपलब्ध होने लगता है। उनके पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि प्राकृत ग्रन्थोंमें दर्शन एवं न्यायकी चर्चा प्राप्त है। श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध "भगवतीसूत्र" ( ५।३।१९१-१९२ ) स्थानांगसूत्र ( २९८ ) आदिमेंभी दर्शनकी सामान्य चर्चा उपलब्ध है। आ० गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रमें, जो जैन संस्कृत-वाङ्मयका आद्य सूत्र ग्रन्थ है, सिद्धान्तके साथ दर्शन और न्यायकी भी प्ररूपणा मिलती है। किन्तु आ० समन्तभद्रस्वामीने उस आरम्भको आगे बढ़ाया और बहुत स्पष्ट किया है। उनकी उपलब्ध ५ कृतियोंमें चार ( ४ ) कृतियाँ हैं तो तीर्थंकरोंके स्तवनरूपमें, पर उनमें दर्शन और न्यायके प्रचुर उपादान मिलते हैं, जो प्रायः उनसे पूर्व अप्राप्य हैं। उन्होंने इनमें एकान्तवादों की दृढ़तासे समीक्षा करके अनेकांत और स्याद्वादकी प्रस्थापना की है। उनकी वे चार कृतियाँ ये हैं—(१) 'आप्तमीमांसा' अपर नाम 'देवागम', (२) 'युक्त्यनुशासन', (३) 'स्वयम्भू' और (४) 'जिनशतक'। इनमें उन्होंने स्याद्वाद, सप्तभंगनय और अनेकान्तका सुन्दर एवं प्रौढ़ संस्कृतमें प्रतिपादन किया है, जो उस प्राचीन जैन संस्कृतवाङ्मयमें पहली बार मिलता है। प्रतीत होता है कि समन्तभद्रने भारतीय दार्शनिक एवं तार्किक क्षेत्रमें जैनदर्शन और जैन न्यायके युग प्रवर्त्तकका कार्य किया है। उनसे पूर्व जैन संस्कृतिके प्राणभूत स्याद्वादको प्रायः आगमरूप ही प्राप्त था। और उसका आगमिक विषयोंके निरूपणमें ही उपयोग किया जाता था। जैसा कि हम पहले 'सिया', 'सिय' के सन्दर्भमें देख आए हैं। उसके समर्थनमें युक्तिवादकी आवश्यकता बहुत कम समझी जाती थी। परन्तु समन्तभद्रके कालमें उसकी विशेष आवश्यकता बढ़ गई, क्योंकि ई० २री-३री शताब्दीका समय भारत वर्षके दार्शनिक इतिहासमें अपूर्व क्रांतिका माना जाता है। इस समय विभिन्न दर्शनोंमें अनेक प्रभावशाली दार्शनिक हुए हैं। यद्यपि वैदिक परम्परा वैशेषिक, मीमांसा, न्याय, वेदान्त, सांख्य आदि अनेक शाखाओंमें विभक्त थी और उनमें भी परस्पर खण्डन-मण्डन, आलोचन-प्रत्यालोचन चलता था। किन्तु श्रमणों और श्रमण सिद्धान्तों के विरुद्ध सब एक थे। और सभी अपने सिद्धान्तोंका आधार प्रायः वेदको मानते थे। ऐसे समयमें ईश्वरकृष्ण, विन्ध्यवासी, वात्स्यायन, असंग, वसुबन्धु आदि विद्वान् दोनों परम्पराओंमें आविर्भूत हुए। और उन्होंने स्वपक्षके समर्थन एवं परपक्षके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्डनके लिए अनेक शास्त्रोंकी रचना की। इस तरह वह समय सभी दर्शनोंका अखाड़ा बन गया था। सभी दार्शनिक एक दूसरेको परास्त करनेमें लगे थे। इस सबका आभास उस कालमें रचे एवं उपलब्ध दार्शनिक साहित्य से होता है।

इसी समय जैन परम्परामें दक्षिण भारतमें महामनीषी समन्तभद्रका उदय हुआ, जो उनकी उपलब्ध कृतिओंसे प्रतिभाशाली और तेजस्वी पाण्डित्यसे युक्त प्रतीत होते हैं। उन्होंने उक्त दार्शनिकोंके संघर्षको देखा और अनुभव किया कि परस्परमें एकान्तोंके आग्रहसे वास्तविक तत्त्व लुप्त हो रहा है। सभी दार्शनिक अपने-अपने पक्षाग्रहके अनुसार तत्त्वका प्रतिपादन करते हैं। कोई तत्त्वको मात्र भाव ( अस्तित्व ) रूप, कोई अभाव ( नास्तित्व ) रूप, कोई अद्वैत ( एक ) रूप, कोई द्वैत ( अनेक ) रूप, कोई शाश्वतरूप कोई अशाश्वत-रूप, कोई पृथक् ( भेद ) रूप, कोई अपृथक् ( अभेद ) रूप मान रहा है, जो तत्त्व ( वस्तु ) का एक-एक अंश है, समग्र रूप नहीं। इस सबकी झलक उनकी 'आप्तमीमांसा' में मिलती है। उसमें उन्होंने इन सभी एकान्त मान्यताओंको प्रस्तुत कर उनका समन्वय किया है इसका विस्तृत विवेचन उनके ग्रन्थोंसे किया जा सकता है।

यद्यपि श्रमण और श्रमणेतरोंके वादोंकी चर्चा दृष्टिवादमें उपलब्ध है। किन्तु समन्तभद्रके कालमें वह उभरकर अधिक आई। समन्तभद्रने किसीके पक्षको मिथ्या बतलाकर तिरस्कृत नहीं किया, अपितु उन्हें वस्तुका अपना एक-एक अंश ( धर्म ) बतलाया। वक्ता जिस धर्मकी विवक्षा करेगा वह मुख्य हो जायेगा और शेष धर्म गौण। इस तरह समन्तभद्रने वस्तुको अनंतधर्मा सिद्ध करके स्याद्वादके द्वारा समस्त विवादोंको शमित किया। इसके सिवाय प्रचलित एकान्तवादोंका स्याद्वादन्याय द्वारा अपनी कृतियोंमें ही समन्वय नहीं किया, अपितु भारतके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरके सभी देशों व नगरोंमें पदयात्रा करके वादियोंसे शास्त्रार्थ भी किए। और उनके एकान्तोंको स्याद्वादन्यायसे समाहित किया। उदाहरणके लिए श्रवणबेल-गोला ( कर्नाटक ) का एक शिलालेख न० ५४ यहाँ दे रहे हैं :—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क विषये काँचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

इस पद्यमें समन्तभद्रने स्पष्ट कहा है कि "हे राजन् ! मैंने पहले पाटलिपुत्र ( पटना ) नगरमें वादके लिए भेरी बजाई और वहाँके वादिओंके साथ वाद किया। उसके पश्चात् मालव, सिन्धु, ठक्क ( पंजाब ), कांचीपुर और वैदिश ( विदिशा ) में वादिओंको वादके लिए आहूत किया और अब करहाटक (कोल्हापुर) में विद्याभिमानी वादिओंको सिंहकी तरह ललकारा है।"

समन्तभद्र वादार्थीके अतिरिक्त एक अन्य प्रसंगमें किसी राज सभामें अपना परिचय भी देते हैं :—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पंडितोऽहं,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तांत्रिकोऽहं ।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहं ॥

इसमें कहा है कि "हे राजन् ! मैं आचार्य हूँ, मैं कवि हूँ, मैं वादिराट् हूँ, मैं पंडित हूँ, मैं दैवज्ञ हूँ, मैं भिषग् हूँ, मैं मान्त्रिक हूँ, मैं तान्त्रिक हूँ और तो क्या मैं इस समुद्रवलया पृथ्वी पर आज्ञासिद्ध हूँ, जो आदेश दूँ वही होता है। तथा सिद्धसारस्वत हूँ—सरस्वती मुझे सिद्ध है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समन्तभद्र ने एकान्तवादोंको तोड़ा नहीं, जोड़ा है। और वस्तुको अनेकांत स्वरूप सिद्ध किया है।

साथ ही स्याद्वादन्यायके अनेक अंगोंका प्रणयन किया। जैसे प्रमाणका लक्षण, प्रमाणके भेद, प्रमाणका विषय, प्रमाणके फलकी व्यवस्था, नय लक्षण, हेतुलक्षण, सप्तभंगीका समस्त वस्तुओंमें संयोजन, अनेकांतमें भी अनेकान्त, वस्तुका स्वरूप, स्याद्वाद न्यायकी सम्यक्सिद्धि, सर्वज्ञकी सिद्धि आदि। इसीसे यह काल जैनदर्शन और जैनन्यायके विकासका आदिकाल है। और इस कालको समन्तभद्रकाल कहा जा सकता है। निस्सन्देह जैनदर्शन और जैनन्यायके लिए किया गया उनका यह महाप्रयास है।

समन्तभद्रके इस कार्यको उनके उत्तरवर्ती श्रीदत्त, पूज्यपाद-देवनंदि, सिद्धसेन, मल्लवादी, सुमति, पात्रस्वामी आदि जैन दार्शनिकों एवं तार्किकोंने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं द्वारा अग्रसारित किया। श्रीदत्तने, जो तिरेसठ वादियोंके विजेता थे, जल्पनिर्णय, पूज्यपाद-देवनंदिने सारसंग्रह एवं सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेनने सन्मतिसूत्र, मल्लवादीने द्वादशारनयचक्र, सुमतिदेवने सन्मतिटीका और पात्रस्वामीने त्रिलक्षणकदर्शन जैसी तार्किक कृतियोंको रचा है। दुर्भाग्यसे जल्पनिर्णय, सारसंग्रह, सन्मतिटीका और त्रिलक्षणकदर्शन आज उपलब्ध नहीं हैं, केवल उनके तर्कग्रन्थों तथा शिलालेखोंमें उल्लेख पाये जाते हैं। सिद्धसेनका सन्मतिसूत्र, पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि और मल्लवादीका द्वादशारनयचक्र उपलब्ध हैं; जो समन्तभद्रकी कृतियोंके आभारी हैं।

इस कालमें और भी दर्शन एवं न्यायके ग्रन्थ रचे गए होंगे, जो आज हमें उपलब्ध नहीं हैं। बौद्ध, वैदिक और जैन शास्त्रभण्डारोंका अभी पूरी तरह अन्वेषण नहीं हुआ, अन्वेषण होनेपर सम्भव है कि उनमें कोई ग्रन्थ उपलब्ध हो जाए। पहले अकलंकका 'सिद्धि-विनिश्चय' और 'प्रमाणसंग्रह' अश्रुत थे। अब वे एक श्वेताम्बर शास्त्र भण्डारमें प्राप्त हो गये और उनका भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशन भी हो चुका है। बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ( ई० ७वीं-८वीं शती ) और उनके साक्षात् शिष्य कमलशीलने तत्त्वसंग्रह एवं उसकी टीकामें जैन तार्किकोंके नामोल्लेख अथवा बिना नामोल्लेखके कई जैन तर्कग्रन्थोंके उद्धरण प्रस्तुत किये हैं और उनकी आलोचना की है। परन्तु वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि इस आदिकाल अथवा समन्तभद्रकालमें जैनदर्शन और जैनन्यायकी एक योग्य और उत्तम भूमिका बन चुकी थी।

## २. मध्यकाल अथवा अकलंककाल

यह काल ईसवी सन् ६५० से ईसवी सन् १०५० तक माना जाना चाहिए। समन्तभद्र द्वारा निर्मित जैनन्यायकी उक्त भूमिकापर इस ( जैनदर्शन और जैनन्याय ) का उत्तुङ्ग एवं सर्वाङ्गपूर्ण महान् प्रासाद जिस कुशल एवं तीक्ष्णबुद्धि तार्किक–शिल्पीने खड़ा किया वह है सूक्ष्मप्रज्ञ 'अकलंकदेव'। अकलंकदेवके कालमें भी बलिष्ठ दार्शनिक मुठभेड़ थी। एक ओर शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि, प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल, न्याय-निष्णात नैयायिक उद्योतकर आदि वैदिक विद्वान् जहाँ अपने-अपने पक्षोंपर आरूढ़ थे, वहीं दूसरी ओर धर्मकीर्ति, उनके तर्कपटु शिष्य एवं समर्थक व्याख्याकार प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि जैसे बौद्ध मनीषी भी अपनी मान्यताओंपर आग्रहबद्ध थे। शास्त्रार्थों और शास्त्रोंके निर्माणकी पराकाष्ठा थी। प्रत्येक दार्शनिकका प्रयत्न था कि जिस किसी तरह वह अपने पक्षको सिद्ध करे और परपक्षका निराकरण कर अपनी विजय प्राप्त करे। इसके अतिरिक्त परपक्ष असद् प्रकारोंसे तिरस्कृत एवं पराजित किया जाता था। विरोधीको 'पशु', 'अह्लीक', 'जड़मति' जैसे अभद्र शब्दोंका प्रयोग तो सामान्य था। यह काल जहाँ तर्कके विकासका मध्याह्न माना जाता है वहाँ इस कालमें दर्शन और न्यायका बड़ा उपहास भी हुआ है। तत्त्वके संरक्षणके लिए छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे असत् साधनोंका खुलकर प्रयोग करना और उन्हें स्वपक्ष सिद्धिका साधन एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रार्थका अंग मानना इस कालकी देन बन गई थी। क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, शब्दाद्वैत, ब्रह्माद्वैत, विज्ञानाद्वैत आदि वादोंका पुरजोर समर्थन इस कालमें धड़ल्लेसे किया गया और कट्टरतासे विपक्षका निरास किया गया।

इस दार्शनिक एवं तार्किक संघर्षके कालमें सूक्ष्मदृष्टि अकलंकका प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने इस समग्र स्थितिका अध्ययन किया तथा सभी दर्शनोंका गहरा एवं सूक्ष्म चिन्तन किया, उन्हें प्रच्छन्नवेशमें तत्कालीन शिक्षाकेन्द्रों, यथा काञ्ची, नालन्दा आदि विश्वविद्यालयोंमें अध्ययन करना पड़ा।

समन्तभद्रने जो स्याद्वाद, अनेकांतवाद और सप्तभंगीका प्रतिपादन किया था, उसे ठीक तरह से न समझनेके कारण दिग्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध विद्वानों तथा उद्योतकर, कुमारिल आदि वैदिक मनीषियोंने खण्डन करनेका प्रयत्न किया। अकलंकने उसका उत्तर देनेके लिए दो अपूर्व कार्य किए। एक तो स्याद्वाद और अनेकांतपर किये गये आक्षेपोंका सबल जवाब दिया। दूसरा कार्य जैनदर्शन और जैनन्यायके चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका प्रणयन किया, जिनमें उन्होंने न केवल अनेकांत, स्याद्वाद और सप्तभंगीपर किये गये आक्षेपोंका उत्तर दिया, अपितु उन सभी एकान्तपक्षोंमें दूषण भी प्रदर्शित किये। उनके वे दोनों कार्य हम यहाँ संक्षेपमें देनेका प्रयत्न करेंगे।

## दूषणोद्धार

आप्तमीमांसामें समन्तभद्रने अर्हन्तकी सर्वज्ञता और उनके उपदेश ( स्याद्वाद ) की सहेतुक सिद्धि की है। दोनोंमें साक्षात् ( प्रत्यक्ष ) और असाक्षात् ( परोक्ष ) का भेद बतलाते हुए दोनोंको सर्वतत्त्वप्रकाशक कहा है। उनमें इतना ही अंतर है कि अर्हन्त वक्ता हैं और स्याद्वाद उनका वचन है। यदि वक्ता प्रमाण है तो उसका वचन भी प्रमाण माना जाता है। आप्तमीमांसामें अर्हन्तको युक्तिपुरस्सर आप्त सिद्ध किया गया है और उनका उपदेश स्याद्वाद भी प्रमाण माना गया है।

मीमांसक कुमारिलको यह सह्य नहीं हुआ, क्योंकि वे किसी पुरुषको सर्वज्ञ स्वीकार नहीं करते, तथा वेदको अपौरुषेय मानते हैं। अतएव कुमारिल 'अर्हन्'की सर्वज्ञतापर आपत्ति करते हुए कहते हैं—

एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥
नर्ते तदागमात्सिद्धयेन्न च तेनागमो विना।

यहाँ कहा गया है कि जो सूक्ष्म, अतीत आदि विषयोंका अतीन्द्रिय केवलज्ञान पुरुषके माना जाता है वह आगमके बिना सिद्ध नहीं होता और आगम उसके बिना सम्भव नहीं। इस प्रकार दोनोंमें अन्योन्याश्रय दोष होनेसे न अर्हन् सर्वज्ञ हो सकता है और न उनका उपदेश ( स्याद्वाद ) ही सिद्ध हो सकता है।

यह अर्हन्की सर्वज्ञता और उनके स्याद्वाद रूप उपदेशपर कुमारिलका एक साथ आक्षेप है। अकलंकने इस आक्षेपका उत्तर सबलताके साथ इस प्रकार दिया है—

एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्।
नर्ते तदागमात् सिद्धयेन्न च तेन विनाऽऽगमः ॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥

"यह सच है कि अनुमान द्वारा सिद्ध केवलज्ञान ( सर्वज्ञता ) आगमके बिना और आगम केवलज्ञान-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के बिना सिद्ध नहीं होता तथापि उनमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं है क्योंकि पुरुषातिशय ( केवलज्ञान ) को अर्थवश ( प्रतीतिवश ) माना जाता है। दोनोंमें बीजांकुरके प्रवाहकी तरह अनादि प्रवाह माना गया है। अतएव अर्हत्की सर्वज्ञता और उनका उपदेश ( स्याद्वाद ) दोनों ही युक्तिसिद्ध हैं।"

पाठक, यहाँ देखें कि समन्तभद्रने जो अनुमानसे आप्तमीमांसा कारिका ५, ६, ७ में सर्वज्ञताकी सिद्धि की है और जिसका समालोचन कुमारिलने उक्त प्रकारसे किया है, अकलंकदेवने उसीका यहाँ विशदता-के साथ सहेतुक उत्तर दिया है। तथा सर्वज्ञता ( केवलज्ञान ) और आगम ( स्याद्वाद ) दोनोंमें बीजांकुर-संततिकी तरह अनादिप्रवाह बतलाया है।

बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिने स्याद्वादपर निम्न प्रकारसे प्रहार किया है—

एतेनैव यत्किंचिदयुक्तमश्लीलमाकुलम्।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसम्भवात्॥

"धर्मकीर्ति कहते हैं कि कपिलमतके खण्डनसे ही जैनदर्शनका, जो अयुक्त, अश्लील और आकुलरूप 'किंचित्' ( स्यात् ) का प्रलाप है वह खण्डित हो जाता है, क्योंकि उनका कथन भी एकान्तरूप सम्भव है।"

यहाँ धर्मकीर्तिने समन्तभद्रके "सर्वथा ( एकांत ) के त्यागपूर्वक किंचित्के विधानरूप स्याद्वाद ( आ० मी० १०४ )" का खण्डन किया है। इस खण्डनमें "तदप्येकान्तसम्भवात्" पदका प्रयोग करके उन्होंने समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित स्याद्वाद लक्षणकी मीमांसा की भी है।

इसका भी उत्तर अकलंकदेवने मय व्याजके निम्न प्रकार दिया है—

ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासिभावप्रवादम्,
चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे।
न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च फलमपरं ज्ञायतेनापि किंचित्,
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जड़धीराकुलः व्याकुलाप्तः॥

—न्यायविनिश्चय का० १७०

'कोई बौद्ध विज्ञप्तिमात्र तत्त्वको मानते हैं, कोई बाह्यपदार्थके सद्भावको स्वीकार करते हैं, कोई दोनोंको लोकानुसार अंगीकार करते हैं और कोई कहते हैं कि न बाह्यतत्त्व है, न आभ्यंतर तत्त्व, तथा न उनको जाननेवाला है। और न कोई उसका फल है। ऐसा परस्परविरुद्ध वे प्रलाप करते हैं। ऐसे लोगोंको अश्लील, उन्मत्त, जड़बुद्धि और आकुल कहा जाना चाहिए।'

धर्मकीर्ति केवल स्याद्वादपर आक्षेप करके ही मौन नहीं रहे, किन्तु 'स्याद्वाद'के वाच्य 'अनेकांत'के खण्डनपर भी उन्होंने कलम चलाई है। यथा—

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥

—प्र० वा० १-१८३

'यदि सब पदार्थ उभयरूप ( अनेकान्तात्मक ) हैं तो उनमें कुछ भेद न होनेके कारण किसीको 'दही खा' कहनेपर वह ऊँटको खानेके लिए क्यों नहीं दौड़ता ?

यहाँ धर्मकीर्तिने जिस उपहास एवं व्यंग्यके साथ समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित स्याद्वादके वाच्य अनेकान्त-की खिल्ली उड़ाई है, अकलंकदेवने भी उसी उपहासके साथ धर्मकीर्तिको उत्तर दिया है। यथा—



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम् ।
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोपि विदूषकः ॥
सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ॥

—न्या० वि० ३७२, ३७३, ३७४ ।

"दही और ऊँटको एक बतलाकर दोष देना धर्मकीर्तिका पूर्वपक्ष ( अनेकान्त ) को न समझना है वे दूषक ( दूषण प्रदर्शक ) होकर भी विदूषक—दूषक नहीं, उपहासके ही पात्र हैं, क्योंकि सुगत भी पूर्व पर्यायमें मृग थे और वह मृग भी सुगत हुआ, फिर भी सुगत वंदनीय एवं मृग भक्षणीय कहा गया है।'

इस तरह सुगत एवं मृगमें पर्याय भेदसे जिस कार क्रमशः वंदनीय एवं भक्षणीयका भेद तथा एक चित्तसंतानकी अपेक्षासे उनमें अभेदकी व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार वस्तु बल ( प्रतीतिवश ) से सभी पदार्थोंमें भेद और अभेद दोनोंकी व्यवस्था है। अतः किसीको 'दही खा' कहने पर वह ऊँटको खानेके लिए क्यों दौड़ेगा, क्योंकि सत्सामान्यकी अपेक्षासे उनमें अभेद होनेपर भी पर्याय ( पृथक्-पृथक् प्रत्ययके विषय की अपेक्षासे उनमें स्पष्टतया भेद है। संज्ञा भेद भी है। एकका नाम दही है और दूसरेका नाम ऊँट है, तब जिसे दही खानेको कहा वह दही ही खायेगा, ऊँटको नहीं, क्योंकि दही भक्षणीय है, ऊँट भक्षणीय नहीं। जैसे सुगत वंदनीय एवं मृग भक्षणीय हैं। यही वस्तुव्यवस्था है। भेदाभेद ( अनेकान्त ) तो वस्तुका स्वरूप है। उसका अपलाप नहीं किया जा सकता"।

यहाँ अकलंकने धर्मकीर्तिके आक्षेपका शालीन किन्तु उपहास पूर्वक, चुभने वाला करारा उत्तर दिया है। यह विदित है कि बौद्ध परम्परामें आप्तरूपसे मान्य सुगत पूर्व जन्ममें मृग थे, उस समय वे मांस भक्षियोंके भक्ष्य थे, किन्तु जब वही पूर्व पर्यायका मृग मरकर सुगत हुआ, तो वह वंदनीय हो गया। इस प्रकार एक चित्तसंतानकी अपेक्षा उनमें अभेद है। और मृग तथा सुगत इन दो पूर्वापर पर्यायोंकी अपेक्षा से उनमें भेद है।

इस प्रकार जगतकी प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्षदृष्ट भेदाभेदको लिए हुए है। और यही अनेकान्त है, कोई वस्तु इस अनेकान्तकी अवहेलना नहीं कर सकती।

इस तरह अकलंकदेवने विभिन्न वादियों द्वारा स्याद्वाद और अनेकान्तपर किये गये आक्षेपोंका सयुक्तिक परिहार किया।

## नव निर्माण

अकलंकदेवका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य नवनिर्माण है। जैनन्यायके जिन आवश्यक तत्त्वोंका विकास और प्रतिष्ठा अब तक नहीं हो पायी थी, उसकी उन्होंने प्रतिष्ठा की। इसके हेतु उन्होंने जैनन्यायके निम्न चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की—

१—न्यायविनिश्चय ( स्वोपज्ञवृत्ति सहित ),
२—सिद्धिविनिश्चय ( स्वोपज्ञवृत्ति सहित ),
३—प्रमाणसंग्रह ( स्वोपज्ञवृत्ति सहित ),
४—लघीयस्त्रय ( स्वोपज्ञवृत्ति समन्वित )।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध परम्परामें जिस प्रकार धर्मकीर्तिने बौद्धदर्शन और बौद्धन्यायको प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय जैसे कारिकात्मक ग्रन्थोंका निर्माणकर निबद्ध किया है उसी प्रकार अकलंकदेवने भी जैनदर्शन और जैन-न्यायको इन चार कारिकात्मक ग्रन्थों द्वारा निबद्ध किया है। न्यायविनिश्चय में ४३०, सिद्धि-विनिश्चयमें ३६७, प्रमाणसंग्रहमें ८७ और लघीयस्त्रयमें ७८ कारिकायें हैं। चारों ग्रन्थोंकी कुल कारिकायें ९६२ हैं। प्रत्येक कारिका सूत्रात्मक, बह्वर्थगर्भ और गम्भीर है। चारों ग्रन्थ अत्यन्त क्लिष्ट, दुरवगाह और दुरूह हैं। चारों पर उनकी स्वोपज्ञवृत्तियाँ हैं, ये वृत्तियाँ भी अत्यन्त कठिन हैं। हर्षकी बात है कि इन चारों पर वैदुष्यपूर्ण व्याख्याएँ भी लिखी गई हैं। न्यायविनिश्चय पर स्याद्वादविद्यापति वादिराज (ई० १०२५) ने न्यायविनिश्चयालंकार अपर नाम न्यायविनिश्चयविवरण, सिद्धिविनिश्चय पर तार्किक शिरोमणि बृहदनन्त-वीर्य (ई० ८५०) ने सिद्धिविनिश्चयालंकार तथा इन्होंने ही प्रमाणसंग्रह पर प्रमाणसंग्रहभाष्य और आचार्य माणिक्यनंदि (ई० १०२८) के शिष्य आचार्य प्रभाचन्द्र (१०४३) ने लघीयस्त्रय पर लघीयस्त्रया-लंकार अपर नाम न्यायकुमुदचन्द्र नामकी विस्तृत एवं प्रौढ़ टीकायें लिखी हैं। इनमें प्रमाणसंग्रहभाष्य अनुपलब्ध है। शेष तीनों टीकायें उपलब्ध हैं, और अपने मूलके साथ भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्लीसे प्रकाशित हैं। इन तीनोंका सुयोग्य सम्पादन स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्यने किया है। प्रमाणसंग्रहभाष्यका उल्लेख स्वयं अनन्तवीर्यने अपने सिद्धिविनिश्चयालंकारमें अनेक स्थलों पर विस्तृत जाननेके लिए किया है। इससे प्रतीत होता है कि प्रमाणसंग्रहभाष्य भी एक विस्तृत टीका ग्रन्थ रहा है।

अकलंकदेवने इन चारों तर्कग्रन्थोंमें अन्य तार्किकोंकी एकान्तमान्यताओंकी कड़ी तथा मर्मस्पर्शी समीक्षा की है। जैनदर्शनमें मान्य प्रमाण, नय और निक्षेपके स्वरूप, उनके भेद, विषय तथा प्रमाणफलका विवेचन विशदतया किया है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और मुख्य इन दो प्रकारोंकी प्रतिष्ठा, परोक्ष-प्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पांच भेदोंका निर्धारण, उनकी सयुक्तिक सिद्धि, उनके लक्षणोंका प्रणयन तथा इन्हीं परोक्षभेदोंमें उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव आदि अन्य तार्किकोंके स्वीकृतप्रमाणोंका अन्तर्भाव, सर्वज्ञकी विविध युक्तिओंसे विशेष सिद्धि, अनुमानके साध्य-साधन अङ्गोंके लक्षण और भेदोंका विस्तृत निरूपण, कारण हेतु, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि अनिवार्य नये हेतुओंकी प्रतिष्ठा अन्यथानुपपत्तिके अभावसे एक अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका स्वीकार और उसके भेदरूपसे असिद्धादि हेत्वाभासोंका प्रतिपादन, वादका लक्षण, जय पराजय-व्यवस्था, दृष्टांत, धर्मी, जाति और निग्रह-स्थानके स्वरूप आदिका कितना ही नया प्रतिष्ठापन करके जैन न्यायको अकलंक देने न केवल समृद्ध एवं परिपुष्ट किया, अपितु उन्हें भारतीय दर्शनों एवं न्यायोंमें प्रतिष्ठित एवं गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया, जैसा बौद्धदर्शन और बौद्धन्यायको धर्मकीर्तिने दिया। अतः अकलंकको जैनदर्शन और जैनन्यायके मध्य-कालका प्रतिष्ठापक और इस कालको अकलंककाल कहा जा सकता है।

अकलंकके इस कार्यको उत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों एवं जैन नैयायिकोंने गति प्रदान की, वीरसेन, हरिभद्र, कुमारनंदि, विद्यानंद, अनंतवीर्यप्रथम, वादीभसिंह, वादिराज, माणिक्यनंदि आदि मध्ययुगीन जैन तार्किकोंने उनके कार्यको निश्चय ही आगे बढ़ाया और उसे यशस्वी एवं प्रभावपूर्ण बनाया। अकलंकके गम्भीर और सूत्रात्मक निरूपण तथा चिन्तनको इन तार्किकोंने अपने ग्रन्थोंमें सुपुष्ट और विस्तृत किया है। वीरसेनकी सिद्धान्त एवं तर्क-बहुला धवला-जयधवला टीकाएँ, हरिभद्रकी अनेकान्तजयपताका, शास्त्रवार्ता-समुच्चय, वादन्यायविचक्षण कुमारनंदिका वादन्याय, विद्यानंदके विद्यानंदमहोदय, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और उसका भाष्य, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्य-शासन परीक्षा, युक्त्यनुशासनालंकार,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनंतवीर्य प्रथमकी सिद्धिविनिश्चय टीका व प्रमाणसंग्रहभाष्य, वादिराजके न्याय-विनिश्चयविवरण एवं प्रमाणनिर्णय, वादीभसिंहकी स्याद्वादसिद्धि और माणिक्यनंदिका परीक्षामुख अकलंकके वाङ्मयसे पूर्णतया प्रभावित एवं उसके आभारी तथा उल्लेखनीय तार्किक रचनायें हैं, जिन्हें मध्यकालकी महत्त्वपूर्ण देन कहा जा सकता है।

### ३. अन्त्यकाल अथवा प्रभाचन्द्रकाल

यह काल जैन न्यायके विकासका अंतिम काल है। इस कालमें मौलिक ग्रन्थोंके निर्माणकी क्षमता कम हो गई और व्याख्या-ग्रन्थोंका निर्माण मुख्य हो गया। यह काल तार्किक ग्रन्थोंके सफल और प्रभावशाली व्याख्याकार जैन तार्किक प्रभाचन्द्रसे आरम्भ होता है। उन्होंने इस कालमें अपने पूर्वज जैन दार्शनिकों एवं तार्किकोंका अनुगमन करते हुए जैन न्यायके दो ग्रन्थों पर जो विशालकाय व्याख्याग्रन्थ लिखे हैं, वे अतुलनीय हैं। उत्तर कालमें उन जैसे व्याख्याग्रन्थ नहीं लिखे गये। अतएव इस कालको प्रभाचन्द्र काल कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। प्रभाचन्द्रने अकलंकदेवके लघीयस्त्रय पर लघीयस्त्रयालंकार अपर नाम न्यायकुमुदचन्द्र व्याख्या ग्रन्थ लिखा है। न्यायकुमुदचन्द्र वस्तुतः न्यायरूपी कुमुदोंको विकसित करनेवाला चन्द्र है। इसमें प्रभाचन्द्रने अकलंकके लघीयस्त्रयकी कारिकाओं और उसकी स्वोपज्ञवृत्ति तथा उनके दुरूह पदवाक्यादिकोंकी विशद् एवं विस्तृत व्याख्या तो की ही है, किन्तु प्रसंगोपात्त विविध तार्किक चर्चाओं द्वारा अनेक अनुद्घाटित तथ्यों एवं विषयों पर भी नया प्रकाश डाला है। इसी तरह उन्होंने अकलंकके वाङ्मय मंथनसे प्रसूत माणिक्यनंदिके आद्य जैन न्यायसूत्र परीक्षामुख पर जिसे लघु अनंतवीर्यने 'न्यायविद्यामृत' कहा है, परीक्षामुखालंकार अपरनाम प्रमेयकमलमार्तण्ड नामकी प्रमेयबहुला एवं तर्कगर्भा व्याख्या रची है। इस व्याख्यामें भी प्रभाचन्द्रने अपनी तर्कपूर्ण प्रतिभाका पूरा उपयोग किया है। परीक्षामुखके प्रत्येक सूत्रका विस्तृत एवं विशद् व्याख्यान किया है। इसके साथ ही अनेक शंकाओंका सयुक्तिक समाधान किया है। मनीषियोंको यह व्याख्याग्रन्थ इतना प्रिय है कि वे जैनदर्शन और जैनन्याय सम्बन्धी प्रश्नोंके समाधानके लिए इसे बड़ी रुचिके साथ पढ़ते हैं और उसे प्रमाण मानते हैं।

वस्तुतः प्रभाचन्द्रके ये दोनों व्याख्याग्रन्थ मूल जैसे ही हैं, जो उनकी अमोघतर्कणा और उनके उज्ज्वल यशको प्रसूत करते हैं।

प्रभाचन्द्रके कुछ ही काल बाद अभयदेवने सिद्धसेन प्रथमके सन्मतिसूत्र पर विस्तृत सन्मतितर्कटीका लिखी है। यह टीका अनेकांत और स्याद्वाद पर विशेष प्रकाश डालती है। देवसूरिका स्याद्वादरत्नाकर अपरनाम प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार टीका भी उल्लेखनीय है। ये दोनों व्याख्याएँ प्रभाचन्द्रकी उपर्युक्त व्याख्याओंसे प्रभावित एवं उनकी आभारी हैं। प्रभाचन्द्रकी तर्क पद्धति और शैली इन दोनोंमें परिलक्षित है।

इन व्याख्याओंके सिवाय इस कालमें लघु अनंतवीर्यने परीक्षामुखपर मध्यम परिमाणकी परीक्षामुखवृत्ति अपरनाम प्रमेयरत्नमालाकी रचना की है। यह वृत्ति मूलसूत्रों के अर्थको तो व्यक्त करती ही है, सृष्टिकर्ता जैसे वादग्रस्त विषयों पर भी अच्छा एवं विशद प्रकाश डालती है। लघीयस्त्रय पर लिखी अभयचन्द्रकी तात्पर्यवृत्ति, हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा, मल्लिषेणकी स्याद्वादमंजरी, पण्डित आशाधरका प्रमेयरत्नाकर, भावसेनका विश्वतत्त्वप्रकाश, अजितसेनकी न्यायमणिदीपिका, अभिनवधर्मभूषणयतिकी न्यायदीपिका, नरेन्द्रसेनकी प्रमाणप्रमेयकलिका, विमलदासकी सप्तभङ्गीतरङ्गिणी, चारुकीर्ति भट्टारककी अर्थप्रकाशिका तथा प्रमेयरत्नालंकार, यशोविजयके अष्टसहस्रीविवरण, जैन तर्कभाषा और ज्ञान बिन्दु इसकालकी उल्लेखनीय तार्किक रचनाएँ हैं। अंतिम तीन तार्किकोंने अपनी रचनाओंमें नव्यन्यायशैलीको भी अपनाया है, जो बारहवीं

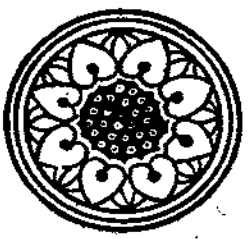
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शतीके विद्वान् गङ्गेश उपाध्यायसे उद्भूत हुआ और पिछले तीन-चार दशक तक अध्ययन, अध्यापनमें विद्यमान रहा। इसके बाद जैन न्यायका कोई मौलिक या व्याख्याग्रन्थ लिखा गया हो, यह ज्ञात नहीं। फलतः उत्तरकालमें जैनन्यायका प्रवाह अवरुद्ध हो गया।

इस बीसवीं शताब्दीमें अवश्य कतिपय जैन दार्शनिक एवं जैन नैयायिक हुए, जो उल्लेखनीय हैं। इन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा लिखित जैनदर्शन और जैन न्यायके ग्रन्थोंका न केवल अध्ययन-अध्यापन किया, अपितु उनका राष्ट्रभाषा हिन्दीमें अनुवाद एवं सम्पादन भी किया है। साथमें उनकी अनुसंधान पूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएँ भी लिखी हैं, जिनमें ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारके ऐतिहासिक परिचयके अतिरिक्त ग्रन्थगत विषयोंका भी तुलनात्मक एव समीक्षात्मक आकलन प्रस्तुत किया गया है।

उदाहरणके लिए सन्त प्रवर न्यायाचार्य श्री गणेशप्रसाद वर्णी, न्यायाचार्य पं० माणिक्यचंद कौन्देय, पं० सुखलाल संघवी, डॉ० पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पं० दलसुख मालवणिया और प्रस्तुत आलेखके लेखक ( डॉ० पं० दरबारीलाल कोठिया ) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वर्णीजीने अनेक छात्रोंको जैनदर्शन एवं न्यायमें प्रशिक्षित किया, श्री कौन्देयने आचार्य विद्यानंदके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक भाष्यका सात खण्डोंमें हिन्दी रूपान्तर किया है। श्री संघवीने प्रमाणमीमांसा, ज्ञानबिन्दु, सन्मतितर्क, जैनतर्कभाषा आदि तर्क ग्रन्थोंका वैदुष्यपूर्ण सम्पादन व उनकी प्रस्तावनायें लिखी हैं। डॉ० पं० महेन्द्रकुमारने न्यायविनिश्चय-विवरण, सिद्धिविनिश्चयटीका, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अकलंकग्रन्थत्रय, तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य, तत्त्वार्थ-वृत्ति आदिका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन एवं उनकी अनुसन्धानपूर्ण प्रस्तावनायें लिखी हैं। श्री मालवणियाने "आगमयुगका जैनदर्शन" आदिका लेखन-सम्पादन किया है। डॉ० कोठियाने न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्र परीक्षा, स्याद्वादसिद्धि, प्रमाणप्रमेयकलिका, द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थोंका सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद किया तथा उनकी शोधपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएँ उनके साथ निबद्ध की हैं। इसके अतिरिक्त "जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान विचार, जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, जैन तत्त्वज्ञानमीमांसा आदि मौलिक रचनाएँ भी हिन्दीमें प्रस्तुत की हैं।" पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीका जैनन्याय भी उल्लेखनीय है।

इस प्रकार जैन तार्किकोंने अपनी तार्किक रचनाओं द्वारा जैन वाङ्मयके भण्डारको समृद्ध किया है। और जैन न्यायका उल्लेखनीय विकास किया।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# जैनदार्शनिक साहित्य

• डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य

इस प्रकरणमें प्रमुख रूपसे उन प्राचीन जैनदार्शनिकों और मूल जैनदर्शनग्रन्थोंका नामोल्लेख किया गया, जिनके ग्रन्थ किसी भंडारमें उपलब्ध हैं तथा जिनके ग्रन्थ प्रकाशित हैं। उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों-का निर्देश भी यथासंभव करनेका प्रयत्न करेंगे, जिनके ग्रन्थ उपलब्ध तो नहीं हैं, परन्तु अन्य ग्रन्थोंमें जिनके उद्धरण पाये जाते हैं या निर्देश मिलते हैं। इसमें अनेक ग्रन्थकारोंके समयकी शताब्दी आनुमानिक हैं और उनके पौर्वापर्यमें कहीं व्यत्यय भी हो सकता है, पर यहाँ तो मात्र इस बातकी चेष्टा की गई है कि उपलब्ध और सूचित प्राचीन मूल दार्शनिक साहित्यका सामान्य निर्देश अवश्य हो जाय।

## दिगम्बर आचार्य[1]

| | | |
|---|---|---|
| उमास्वाति–( वि० १–३ री ) | तत्त्वार्थसूत्र | प्रकाशित |
| समन्तभद्र ( वि० २-३ री ) | आप्तमीमांसा | प्रकाशित |
| | युक्त्यनुशासन | ,, |
| | बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र | ,, |
| | जीवसिद्धि | 'पार्श्वनाथचरित'में वादिराजद्वारा उल्लिखित |
| सिद्धसेन ( वि० ४-५वीं ) | सन्मतितर्क | प्रकाशित |
| | ( कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ ) | ,, |
| देवनन्दि ( वि० ६वीं ) | सारसंग्रह | धवला-टीकामें उल्लिखित |
| श्रीदत्त ( वि० ६वीं ) | जल्पनिर्णय | तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें विद्यानन्द-द्वारा उल्लिखित। |
| सुमति ( वि० ६वीं ) | सन्मतितर्कटीका | पार्श्वनाथचरितमें वादिराजद्वारा उल्लिखित |
| | सुमतिसप्तक | मल्लिषेण-प्रशस्तिमें निर्दिष्ट |
| [ इन्हींका निर्देश शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहमें 'सुमतेर्दिगम्बरस्य'के रूपमें है ] | | |
| पात्रकेसरी ( वि० ६वीं ) | त्रिलक्षणकदर्शन | अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धिविनि-श्चय टीकामें उल्लिखित |
| | पात्रकेसरी-स्तोत्र | प्रकाशित |
| [ इन्हींका मत शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें 'पात्रस्वामि'के नामसे दिया है। ] | | |
| वादिसिंह ( ६-७वीं ) | | वादिराजके पार्श्वनाथचरित और जिनसेनके महापुराणमें स्मृत |
| अकलंकदेव ( वि० ७०० ) | लघीयस्त्रय | प्रकाशित |
| | ( स्ववृत्तिसहित ) | ( अकलङ्कग्रन्थत्रयमें ) |
| | न्यायविनिश्चय | प्रकाशित |

१. श्रीवर्णीग्रन्थमाला, बनारसमें संकलित ग्रन्थ-सूचीके आधारसे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | |
|---|---|---|
| अकलंकदेव ( वि० ७०० ) | ( न्यायविनिश्चय-विवरणसे उद्धृत ) | ( अकलङ्कग्रन्थत्रयमें ) प्रकाशित |
| | प्रमाणसंग्रह | ( अकलङ्कग्रन्थत्रयमें ) |
| | सिद्धिविनिश्चय ( सिद्धिविनिश्चय-टीकासे उद्धृत ), | प्रकाशित |
| | अष्टशती ( आप्तमीमांसाकी टीका ) | प्रकाशित |
| | प्रमाणलक्षण ( ? ) | मैसूरकी लाइब्रेरी तथा कोचीन-राज पुस्तकालय तिरुपुणिट्ठणमें उपलब्ध |
| | तत्त्वार्थवार्तिक ( तत्त्वार्थसूत्रकी टीका ) | प्रकाशित |

[ जिनदासने निशीथचूर्णिमें इन्हींके सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख दर्शनप्रभावक शास्त्रोंमें किया है । ]

| | | |
|---|---|---|
| कुमारसेन ( वि० ७७० ) | | जिनसेन द्वारा महापुराणमें स्मृत |
| कुमारनन्दि ( वि० ८वीं ) | वादन्याय | विद्यानन्द द्वारा प्रमाणपरीक्षामें उल्लिखित |
| वादीभसिंह ( वि० ८वीं ) | स्याद्वादसिद्धि | प्रकाशित |
| | नवपदार्थनिश्चय | मूडबिद्री भंडारमें उपलब्ध |
| अनन्तवीर्य (वृद्ध) ( वि० ८-९वीं ) | सिद्धिविनिश्चयटीका | रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्य-द्वारा सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित |
| अनन्तवीर्य रविभद्रपादोपजीवी (९वीं) | सिद्धिविनिश्चयटीका | प्रकाशित |
| विद्यानन्द ( वि० ९वीं ) | अष्टसहस्री ( आप्तमीमांसा-अष्ट-शतीकी टीका ) | प्रकाशित |
| | तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ( तत्त्वार्थसूत्रकी टीका ), | ,, |
| | युक्त्यनुशासनालङ्कार, | ,, |
| | विद्यानन्दमहोदय | तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें स्वयं निर्दिष्ट तथा वादिदेवसूरि द्वारा स्याद्वाद-रत्नाकरमें उद्धृत |
| | आप्तपरीक्षा | प्रकाशित |
| | प्रमाणपरीक्षा | प्रकाशित |
| | पात्रपरीक्षा | ,, आप्तपरीक्षाके साथ |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | |
|---|---|---|
| विद्यानन्द ( वि० ९वीं ) | सत्यशासनपरीक्षा | प्रकाशित |
| | श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र | प्रकाशित |
| | पंचमप्रकरण | अप्रकाशित<br>जैनमठ श्रवणबेलगोलामें उपलब्ध<br>( मैसूरकुर्गसूची नं २८०३ ) |
| | नयविवरण ( ? )<br>( त० श्लोकवा० का अंश ) | प्रकाशित |
| अनन्तकीर्ति ( १०वीं ) | जीवसिद्धिटीका | वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें उल्लिखित |
| | बृहत्सर्वज्ञसिद्धि | प्रकाशित |
| | लघुसर्वज्ञसिद्धि | ,, |
| देवसेन ( ९९० वि० ) | नयचक्रप्राकृत | प्रकाशित |
| | आलापपद्धति | ,, |
| वसुनन्दि ( १९वीं, ११वीं ) | आप्तमीमांसावृत्ति | ,, |
| माणिक्यनन्दि ( वि० ११वीं ) | परीक्षामुख | ,, |
| सोमदेव ( वि० ११वीं ) | स्याद्वादोपनिषत् | दानपत्रमें उल्लिखित, जैन साहित्य और इतिहास पृ० ८८ |
| वादिराज सूरि ( वि० ११वीं ) | न्यायविनिश्चयविवरण | प्रकाशित |
| | प्रमाणनिर्णय | ,, |
| माइल्ल धवल ( वि० ११वीं ) | द्रव्यस्वभावप्रकाश प्राकृत | प्रकाशित |
| प्रभाचन्द्र ( वि० ११-१२वीं ) | प्रमेयकमलमार्त्तण्ड<br>( परीक्षामुख-टीका ) | ,, |
| | न्यायकुमुदचन्द्र<br>( लघीयस्त्रय-टीका ), | ,, |
| | परमतभंज्ञानिल | जैन गुरु चित्तापुर आरकाट नार्थके पास |
| अनन्तवीर्य ( वि० १२वीं ) | प्रमेयरत्नमाला<br>( परीक्षामुख-टीका ) | प्रकाशित |
| भावसेन त्रैविद्य ( वि० १२-१३वीं ) | विश्वतत्त्वप्रकाश | स्याद्वाद विद्यालय बनारसमें उपलब्ध |
| लघुसमन्तभद्र ( १३वीं ) | अष्टसहस्री-टिप्पण | प्रकाशित |
| आशाधर ( वि० १३वीं ) | प्रमेयरत्नाकर | आशाधर-प्रशस्तिमें उल्लिखित |
| शान्तिषेण ( वि० १३वीं ) | प्रमेयरत्नाकर | जैन सिद्धान्त-भवन, आरा |
| जिनदेव धर्मभूषण ( वि० १५वीं ) | कारुण्यकलिका | न्यायदीपिकामें उल्लिखित |
| | न्यायदीपिका | प्रकाशित |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | |
|---|---|---|
| अजितसेन | न्यायमणिदीपिका ( प्रमेयरत्नमाला-टीका ) | जैन सिद्धान्त-भवन, आरामें उपलब्ध |
| विमलदास | सप्तभङ्गितरङ्गिणी | प्रकाशित |
| शुभचन्द्र | संशयवदनविदारण | ,, |
| | षड्दर्शनप्रमाणप्रमेयसंग्रह | प्रशस्तिसंग्रह, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली |
| शुभचन्द्रदेव | परीक्षामुखवृत्ति | जैनमठ, मूडबिद्रीमें उपलब्ध |
| शान्तिवर्णी | प्रमेयकण्ठिका ( परीक्षामुखवृत्ति ) | जैन सिद्धान्त-भवन, आरामें उपलब्ध |
| चारुकीर्ति पंडिताचार्य | प्रमेयरत्नालङ्कार | ,, ,, |
| नरेन्द्रसेन | प्रमाणप्रमेयकलिका | प्रकाशित |
| सुखप्रकाश मुनि | न्यायदीपावलि टीका | जैनमठ, मूडबिद्रीमें उपलब्ध |
| अमृतानन्द मुनि | न्यायदीपावलिविवेक | ,, ,, |
| खण्डनाकन्द | तत्त्वदीपिका | जैनमठ, मूडबिद्रीमें उपलब्ध |
| जगन्नाथ ( १७०३ वि० ) | केवलिभुक्तिनिराकरण | जयपुर तेरापंथी मन्दिरमें उपलब्ध |
| वज्रनन्दि | प्रमाणग्रन्थ | धवलकवि द्वारा उल्लिखित |
| प्रवरकीर्ति | तत्त्वनिश्चय | जैनमठ, मूडबिद्रीमें उपलब्ध |
| अमरकीर्ति | समयपरीक्षा | हुम्मच गाणंगणि, पुटप्पामें उपलब्ध |
| नेमिचन्द्र | प्रवचनपरीक्षा | जैन सिद्धान्त-भवन, आरा |
| मणिकण्ठ | न्यायरत्न | ,, |
| शुभप्रकाश | न्यायमकरन्दविवेचन | ,, |
| अज्ञातकर्तृक | षड्दर्शन | पद्मनाभशास्त्री, मूडबिद्रीके पास उपलब्ध |
| अज्ञातकर्तृक | श्लोकवार्तिकटिप्पणी | जैनमठ, श्रवणबेलगोलामें उपलब्ध |
| ,, | षड्दर्शनप्रपञ्च | जैन भवन, मूडबिद्रीमें उपलब्ध |
| ,, | प्रमेयरत्नमालालघुवृत्ति | मद्रास सूची नं० १५७४ |
| ,, | अर्थव्यञ्जनपर्याय-विचार | ,, ,, १५५७ |
| ,, | स्वमतस्थापन | जैनमठ, मूडबिद्री |
| ,, | सृष्टिवाद-परीक्षा | ,, ,, |
| ,, | सप्तभङ्गी | ,, ,, |
| ,, | षण्मततर्क | ,, ,, |
| ,, | शब्दखण्डव्याख्यान | ,, ,, |
| ,, | प्रमाणसिद्धि | ,, ,, |
| ,, | प्रमाणपदार्थ | ,, ,, |
| ,, | परमतखण्डन | ,, ,, |



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | |
|---|---|---|
| अज्ञातकर्तृक | न्यायामृत | जैनमठ, मूडबिद्री |
| ,, | नयसंग्रह | ,, ,, |
| ,, | नयलक्षण | ,, ,, |
| ,, | न्यायप्रमाणभेदी | जैन सिद्धान्त भवन, आरा |
| ,, | न्यायप्रदीपिका | ,, ,, |
| ,, | प्रमाणनयग्रन्थ | ,, ,, |
| ,, | प्रमाणलक्षण | ,, ,, |
| ,, | मतखंडनवाद | ,, ,, |
| ,, | विशेषवाद | बम्बई सूची नं० १६१२ |
| | **श्वेताम्बर आचार्य**[1] | |
| उमास्वाति ( वि० ३री ) | तत्त्वार्थसूत्र स्वोपज्ञ भाष्य | प्रकाशित |
| सिद्धसेन दिवाकर ( वि० ५-६वीं ) | न्यायावतार | प्रकाशित |
| | कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ | ,, |
| मल्लवादि ( वि० ६वीं ) | नयचक्र ( द्वादशार ) | प्रकाशित |
| | सन्मतितर्कटीका | अनेकान्तजयपताकामें उल्लिखित |
| हरिभद्र ( वि० ८वीं ) | अनेकान्तजयपताका सटीक | प्रकाशित |
| | अनेकान्तवाद प्रवेश | ,, |
| | षड्दर्शनसमुच्चय | ,, |
| | शास्त्रवार्तासमुच्चय सटीक, | ,, |
| | न्यायप्रवेश-टीका | ,, |
| हरिभद्र | धर्मसंग्रहणी, | प्रकाशित |
| | लोकतत्त्वनिर्णय | ,, |
| | अनेकान्त प्रघट्ट | जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूचीसे |
| | तत्त्वतरङ्गिणी, | ,, |
| | त्रिभङ्गीसार | ,, |
| | न्यायावतारवृत्ति | ,, |
| | पञ्चलिङ्गी | ,, |
| | द्विजवदनचपेटा | ,, |
| | परलोकसिद्धि | ,, |
| | वेदबाह्यतानिराकरण | ,, |
| | सर्वज्ञसिद्धि | ,, |
| | स्याद्वादकुचोद्यपरिहार | ,, |
| शाकटायन ( पाल्यकीर्ति ) ( वि० ९वीं ) ( यापनीय ) | स्त्रीमुक्तिप्रकरण | जैन साहित्य संशोधकमें |
| | केवलभुक्तिप्रकरण | प्रकाशित |

१. 'जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार' के आधारसे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | |
|---|---|---|
| सिद्धर्षि ( वि० १०वीं ) | न्यायावतार-टीका | प्रकाशित |
| अभयदेव सूरि ( वि० ११वीं ) | सन्मतिटीका ( वादमहार्णव ) | प्रकाशित |
| जिनेश्वरसूरि ( वि० ११वीं ) | प्रमालक्ष्म सटीक | प्रकाशित |
| | पञ्चलिङ्गीप्रकरण | ,, |
| शान्तिसूरि | न्यायावतारवार्तिक सवृत्ति | प्रकाशित |
| ( पूर्णतल्लगच्छीय ) ( वि० ११वीं ) | | |
| मुनिचन्द्रसूरि ( वि० २वीं ) | अनेकान्तजयपताका-वृत्तिटिप्पण | प्रकाशित |
| वादिदेवसूरि ( १२वीं सदी ) | प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार | प्रकाशित |
| | स्याद्वादरत्नाकर | ,, |
| हेमचन्द्र | प्रमाणमीमांसा | प्रकाशित |
| ( पूर्णतल्लगच्छ ) ( वि० १२वीं ) | अन्ययोगव्यवच्छेदिका | ,, |
| | वादानुशासन | ( अनुपलब्ध ) |
| | वेदांकुश | प्रकाशित |
| देवसूरि | जीवानुशासन | प्रकाशित |
| ( वीरचन्द्रशिष्य ) ( वि० ११६२ ) | | |
| श्रीचन्द्रसूरि ( वि० १२वीं ) | न्यायप्रवेशहरिभद्रवृत्तिपञ्जिका | प्रकाशित |
| देवभद्रसूरि | न्यायावतारटिप्पण | ,, |
| ( मलधारि श्रीचन्द्र शिष्य ) | | |
| ( वि० १२वीं ) | | |
| मलयगिरि ( वि० १३ ) | धर्मसंग्रहणीटीका | प्रकाशित |
| चन्द्रसेन | उत्पादादिसिद्धि सटीक | ,, |
| ( प्रद्युम्नसूरि शिष्य ) ( वि० १३वीं ) | | |
| आनन्दसूरि | सिद्धान्तार्णव | अनुपलब्ध |
| अमरसूरि ( सिंहव्याघ्रशिशुक ) | | |
| रामचन्द्रसूरि | व्यतिरेकद्वात्रिंशिका | प्रकाशित |
| ( हेमचन्द्र शिष्य ) ( १३ वीं ) | | |
| मल्लवादि ( १३ वीं ) | धर्मोत्तरटिप्पणक | पं० दलसुखभाईके पास |
| प्रद्युम्नसूरि ( १३ वीं ) | वादस्थल | जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित |
| जिनपतिसूरि ( १३ वीं ) | प्रबोधवादस्थल | ,, ,, |
| रत्नप्रभसूरि ( १३ वीं ) | स्याद्वादरत्नाकरावतारिका | प्रकाशित |
| देवभद्र ( १३ वीं ) | प्रमाणप्रकाश | जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित |
| नरचन्द्रसूरि | न्यायकन्दलीटीका | जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित |
| ( देवप्रभ शिष्य ) ( १३ वीं ) | | |
| अभयतिलक ( १४ वीं ) | पञ्चप्रस्थन्यायतर्कव्याख्या | ,, ,, |
| | तर्कन्यायसूत्रटीका | ,, ,, |
| | न्यायालंकारवृत्ति | ,, ,, |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | |
|---|---|---|
| मल्लिषेण ( १४ वीं ) | स्याद्वादमञ्जरी | प्रकाशित |
| सोमतिलक ( वि० १३९२ ) | षड्दर्शनटीका | जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित |
| राजशेखर ( १५ वीं ) | स्याद्वादकलिका | जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित |
| | रत्नाकरावतारिका | |
| | पञ्जिका | प्रकाशित |
| | षड्दर्शनसमुच्चय | जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित |
| | न्यायकन्दलीपञ्जिका | |
| ज्ञानचन्द्र ( १५ वीं ) | रत्नाकरावतारिकाटिप्पण | प्रकाशित |
| जयसिंहसूरि ( १५ वीं ) | न्यायसारदीपिका | प्रकाशित |
| मेरुतुङ्ग ( महेन्द्रसूरि शिष्य ) ( १५ वीं ) | षड्दर्शननिर्णय | जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित |
| गुणरत्न ( १५ वीं ) | षड्दर्शनसमुच्चयकी तर्करहस्यदीपिका | प्रकाशित |
| भुवनसुन्दरसूरि ( १५ वीं ) | परब्रह्मोत्थापन | जैनग्रन्थग्रन्थकारमें |
| | लघु-महाविद्याविडम्बन | ,, |
| सत्यराज | जल्पमंजरी | ,, |
| सुधानन्दगणिशिष्य ( १६ वीं ) | | |
| साधुविजय ( १६ वीं ) | वादविजयप्रकरण | ,, |
| | हेतुदर्शनप्रकरण | ,, |
| सिद्धान्तसार ( १६ वीं ) | दर्शनरत्नाकर | ,, |
| दयारत्न ( १७ वीं ) | न्यायरत्नावली | ,, |
| शुभविजय ( १७ वीं ) | तर्कभाषावार्तिक | जैनग्रन्थग्रन्थकारमें |
| | स्याद्वादमाला | प्रकाशित |
| भावविजय ( १७वीं ) | षड्त्रिंशत्जल्पविचार | जैनग्रन्थग्रन्थकारमें |
| विनयविजय ( १७ वीं ) | नयकर्णिका | प्रकाशित |
| | षट्त्रिंशत्जल्पसंक्षेप | जैनग्रन्थ ग्रन्थकारमें |
| यशोविजय ( १८वीं ) | अष्टसहस्रीविवरण | प्रकाशित |
| | अनेकान्तव्यवस्था | ,, |
| | ज्ञानबिन्दु ( नव्यशैलीमें ) | ,, |
| | जैनतर्कभाषा | ,, |
| | देवधर्मपरीक्षा | ,, |
| | द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका, | ,, |
| | धर्मपरीक्षा | ,, |
| | नयप्रदीप | ,, |
| | नयोपदेश | प्रकाशित |
| | नयरहस्य | ,, |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | |
|---|---|---|
| यशोविजय ( १८वीं ) | न्यायखण्डखाद्य ( नव्यशैली ) | प्रकाशित |
| | न्यायालोक ,, | ,, |
| | भाषारहस्य | ,, |
| | शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका | ,, |
| | उत्पादव्ययध्रौव्यसिद्धि टीका | ,, |
| | ज्ञानार्णव | ,, |
| | अनेकान्त प्रवेश | ,, |
| | गुरुतत्त्वविनिश्चय | ,, |
| | आत्मख्याति | जैनग्रन्थग्रन्थकारमें |
| | तत्त्वालोकविवरण | ,, |
| | त्रिसूत्र्यालोक | ,, |
| | द्रव्यालोकविवरण | ,, |
| | न्यायबिन्दु, प्रमाणरहस्य | ,, |
| यशोविजय | मंगलवाद, वादमाला | ,, |
| | वादमहार्णव, विधिवाद | ,, |
| | वेदान्तनिर्णय | ,, |
| | सिद्धान्ततर्क परिष्कार | ,, |
| | सिद्धान्तमञ्जरी टीका | ,, |
| | स्याद्वादमञ्जूषा | ,, |
| | ( स्याद्वादमञ्जरीकी टीका ), | ,, |
| | द्रव्यपर्याययुक्ति | ,, |
| यशस्वत् सागर ( १८वीं ) | जैनसप्तपदार्थी | प्रकाशित |
| | प्रमाणवादार्थ | जैनग्रन्थग्रन्थकारमें |
| | वादार्थनिरूपण | ,, |
| | स्याद्वादमुक्तावली | प्रकाशित |
| भावप्रभसूरि ( १८वीं ) | नयोपदेशटीका | प्रकाशित |
| मयाचन्द्र ( १९वीं ) | ज्ञानक्रियावाद | जैनग्रन्थग्रन्थकार |
| पद्मविजयगणि ( १९वीं ) | तर्कसंग्रहफक्किका | ,, |
| ऋद्धिसागर ( २०वीं ) | निर्णयप्रभाकर | ,, |

इत्यादि

इस तरह जैनदर्शन ग्रन्थोंका विशाल कोशागार है। इस सूचीमें संस्कृत ग्रन्थोंका ही प्रमुखरूपसे उल्लेख किया है। कन्नड़ भाषामें भी अनेक दर्शनग्रन्थोंकी टीकाएँ पाई जाती हैं। इन सभी ग्रन्थोंमें जैनाचार्योंने अनेकान्तदृष्टिसे वस्तुतत्त्वका निरूपण किया है, और प्रत्येक वादका खंडन करके भी उनका नयदृष्टिसे समन्वय किया है। अनेक अजैनग्रन्थोंकी टीकाएँ भी जैनाचार्योंने लिखी हैं, वे उन ग्रन्थोंके हार्दको बड़ी सूक्ष्मतासे स्पष्ट करती हैं। इति।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समितिके पदाधिकारी

## परम संरक्षक

| | |
|---|---|
| स्वस्तिश्री कर्मयोगी भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी जी | मूडबिद्री |
| स्वस्तिश्री कर्मयोगी भट्टारक चारुकीर्ति जी | श्रवणबेलगोला |
| सिद्धान्ताचार्य पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य | बीना |
| समाजरत्न साहु अशोककुमार जैन | नई दिल्ली |

## संरक्षक

| | |
|---|---|
| श्री निर्मल कुमार सेठी | लखनऊ |
| श्री देवकुमार सिंह कासलीवाल | इन्दौर |
| श्री विजयकुमार मलैया | दमोह |
| श्री रायबहादुर हरखचंद | राँची |
| श्री ज्ञानचंद खिन्दूका | जयपुर |
| श्री पद्मश्री बाबूलाल पाटौदी | इन्दौर |
| साहू रमेशचन्द्र जैन | दिल्ली |

## प्रधान सम्पादक

| | |
|---|---|
| श्री पं० डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया न्यायाचार्य | बीना |

## सम्पादक मण्डल

| | |
|---|---|
| श्री पं० हीरालाल कौशल | दिल्ली |
| श्री डॉ० कस्तूरचंद्र कासलीवाल | जयपुर |
| श्री डॉ० राजाराम जैन | आरा |
| श्री डॉ० रतन पहाड़ी | कामठी |
| श्री डॉ० भागचन्द्र जैन "भागेन्दु" | भोपाल |
| श्री डॉ० सागरमल जैन | वाराणसी |
| श्री डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी' | वाराणसी |

## प्रबन्ध सम्पादक

| | |
|---|---|
| श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल | वाराणसी |

## अध्यक्ष

| | |
|---|---|
| श्रीमंत सेठ डालचन्द जैन | सागर |

## उपाध्यक्ष

| | |
|---|---|
| श्री सिंघई जीवनकुमार | सागर |
| श्री सेठ मोतीलाल जैन | सागर |
| श्री सुरेश जैन—आय० ए० एस० | भोपाल |
| श्रीमंत सेठ राजेन्द्रकुमार जैन | विदिशा |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| श्री जयकुमार इटोरिया | दमोह |
| श्री प्रकाशचन्द सिंघई, एडवोकेट | दमोह |
| श्री सेठ लक्ष्मीचन्द जैन | दमोह |
| श्री संतोष जैन ( बैंटरीवाले ) | सागर |
| श्री धन्यकुमार रांधेलीय, एडवोकेट | कटनी |
| श्री सि० राकेश कुमार | बीना |

## कोषाध्यक्ष

| | |
|---|---|
| श्री सुरेशचन्द चौधरी | दमोह |

## मंत्री

| | |
|---|---|
| श्री डॉ० भागचन्द्र जैन, "भागेन्दु", | भोपाल |

## सहमंत्रीगण

| | |
|---|---|
| श्री वीरेन्द्र इटोरिया | दमोह |
| श्री राजेन्द्र जैन, "बच्चूजी" | बीना-इटावा |
| श्री विभवकुमार जैन-इंजीनियर | बीना |

## सदस्यगण

| | |
|---|---|
| श्री दशरथ जैन, एडवोकेट, एवं पूर्व मंत्री, म० प्र० | छतरपुर |
| श्री प्रोफे० उदयचन्द जैन | वाराणसी |
| श्री डॉ० नेमीचन्द्र जैन, प्राचार्य | खुरई |
| श्री पं० कमल कुमार जैन | छतरपुर |
| श्री पं० रविचन्द्र जैन | दमोह |
| श्री संतोष सिंघई | दमोह |
| डॉ० श्रीमती कुसुम पटोरिया | नागपुर |
| श्री गुलाबचन्द्र दर्शनाचार्य | जबलपुर |
| श्री ईश्वर भाई : प्रभुदास किशोरदास | दमोह |
| श्री अजय टण्डन | दमोह |
| श्री सुमेरचन्द्र पाटनी | लखनऊ |
| श्री सौभाग्यमल जैन | लखनऊ |
| श्री मौजीलाल जैन | नागपुर |
| श्री कैलाशचंद जैन | नागपुर |
| श्री सिंघई कोमलचंद रांधेलीय | सागर |
| श्री चन्द्रकुमार जैन सर्राफ–यूनिक् ट्रेक्टर, | दमोह |
| श्रीमती विमला जैन, न्यायाधीश | भोपाल |
| ,, राजकुमारी रांधेलिया | कटनी |
| ,, डॉ० रमोला हेनरी | दमोह |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## परामर्शदातृ मण्डल

| | |
|---|---|
| श्री संहितासूरि पं० नाथूलाल शास्त्री | इन्दौर |
| श्री साहित्याचार्य पं० डॉ० पन्नालाल जैन | जबलपुर |
| श्री प्रोफेसर खुशालचंद गोरावाला | वाराणसी |
| श्री दलसुख मालवणिया | अहमदाबाद |
| श्री डॉ० नथमल टाटिया | लाडनूं |
| श्री प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन | फिरोजाबाद |
| श्री० डॉ० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी ''वागीश'' | वाराणसी |
| श्री डॉ० गोकुलचंद जैन | वाराणसी |
| श्री पं० नीरज जैन | सतना |
| श्री डॉ० नेमीचंद जैन, सम्पादक ''तीर्थंकर'' | इन्दौर |
| श्री डा० भोलाशंकर व्यास | वाराणसी |
| श्री यशपाल जैन | दिल्ली |
| श्री डॉ० श्रेयांसकुमार जैन | बड़ौत |
| श्री पं० सत्यन्धर कुमार सेठी | उज्जैन |
| श्री डॉ० सुदर्शनलाल जैन | वाराणसी |
| श्री डॉ० कमलचन्द सोगाणी | जयपुर |
| प्रोफे० डॉ० लक्ष्मीचंद जैन | जबलपुर |
| श्री डॉ० कस्तूरचंद ''सुमन'' | श्रीमहावीरजी |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

# सम्पादक-मंडल परिचय

• प्रस्तुति–डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', दमोह

## डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

श्रद्धेय डॉ० कोठियाजी भारतीयदर्शन और जैन न्यायविद्याके प्रथम पंक्ति के अग्रगण्य मनीषी हैं। वे सहृदयवाग्मी, कुशल संयोजक, सफल संचालक एवं उदारमना विद्वान् हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके रचयिता, संपादक तथा अनुवादक डॉ० कोठियाजीका जन्म जून १९११ ई० में मध्यप्रदेशके छतरपुर मण्डलके श्री रेशिंदीगिरमें हुआ। अनेक शिक्षा-संस्थाओंमें शिक्षादान करते हुए डॉ० कोठिया काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें १४ वर्षों तक प्राध्यापक और उसके बाद रीडरके पद पर कार्यरत रहे। अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष, श्रीगणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला तथा वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्टके अध्यक्ष एवं देशकी अनेक संस्थाओंके संचालक डॉ० कोठियाका अनेक बार सम्मान हुआ है। सन् १९८२ ई० में उन्हें एक भव्य 'अभिनन्दन-ग्रंथ' समर्पित करके अखिल भारतीय सम्मानसे अलंकृत किया गया है।

डॉ० कोठियाके संपादकत्वमें डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य अभिनन्दन-ग्रन्थ तथा अन्य अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। आपकी कृतियाँ—(१) संपादित ग्रन्थ—न्यायदीपिका, आप्त-परीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, पत्र-परीक्षा, स्याद्वाद-सिद्धि, प्रमाण-प्रमेय-कलिका, अध्यात्म-कमलमार्तण्ड आदि तथा (२) मौलिक-कृतियाँ—जैन-दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, जैन-तर्कशास्त्रमें अनुमान विचार, जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसा आदि हैं।

प्रस्तुत 'स्मृति-ग्रन्थ'के अथसे इति तक यशस्वी सूत्रधार और 'प्रधानसंपादक' आप ही हैं।

## पण्डित हीरालाल जैन 'कौशल'

आपका जन्म ११ मई सन् १९१४ को ललितपुर, उत्तर प्रदेशमें एक प्रतिष्ठित जैन कुलमें हुआ। आपने स्कूलकी शिक्षाके पश्चात् सर हुकुमचन्द जैन महाविद्यालय, इन्दौरमें सिद्धान्त, दर्शनशास्त्र, व्याकरण व साहित्यका अध्ययन कर शास्त्री और न्यायतीर्थकी परीक्षाएँ सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण कीं।

१९३४ में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीके आदेशसे गुजरातमें हिन्दीका प्रचार कार्य किया।

३६ वर्ष तक हीरालाल जैन उ० मा० विद्यालय, सदर बाजार, दिल्लीमें उच्च कक्षाओंको हिन्दी व धार्मिक शिक्षा देते हैं।

'जैन प्रचारक' दिल्लीका १० वर्ष तक सम्पादन तथा अन्य ग्रन्थोंमें—पूजा-पाठ प्रदीप, भक्तामर-स्तोत्र, मन्त्र-तन्त्र विधि, छहढाला आदि पुस्तकोंका सम्पादन किया।

आप अनेक संस्थाओंके संरक्षक, अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, पदाधिकारी तथा कार्यकारिणीके सम्मानित सदस्य हैं। आपको समाजकी ओरसे सन् '४० में 'विद्याभूषण', २५ सौ निर्वाण महोत्सव पर तत्कालीन उपराष्ट्रपति द्वारा 'विद्वत्रत्न' तथा आचार्य संघ द्वारा 'वाणीभूषण' की उपाधिसे सम्मानित किया गया।

आप जैन सिद्धांत तथा अन्य धर्मोंके अच्छे ज्ञाता, सुलेखक, विचारक, कर्मठ समाजसेवी तथा शिक्षा-क्षेत्रमें विशिष्ट सेवाओंके लिये सरकारी सम्मान प्राप्त करने शास्त्री विद्वान् हैं।

## डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'

• अनिलकुमार जैन अनुसन्धित्सु

जबलपुर जिलेके रीठी नगरमें जन्मे डॉ० भागचन्द्रजी 'भागेन्दु' जैन समाजके उन मनीषियोंमेंसे हैं जिन्होंने अपने जीवनको सेवामय बना रखा है। प्राचीन वाङ्मय, भाषाशास्त्र, जैन-दर्शन-संस्कृति और कला-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के क्षेत्रमें उनकी विशिष्ट सेवाएँ हैं। डॉ० भागेन्दुजीका अध्ययन सागर (म० प्र०) के श्रीगणेश जैन महाविद्यालय तथा सागर विश्वविद्यालयमें हुआ।

जैन विद्याओं पर अनुसन्धान-निर्देशन हेतु विख्यात डॉ० 'भागेन्दु' जी सम्प्रति आप मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमीके सचिव हैं। आपके निर्देशनमें कई शोधार्थियोंको जैन विषयों पर पी-एच० डी० की उपाधि हो चुकी है। डॉ० भागेन्दुजी अखिल भारतीय स्तरकी अनेक संस्थाओं, शोध-संस्थानों और महाविद्यालयोंसे निकटतः सम्बद्ध हैं। आप कुशल लेखक, यशस्वी संपादक, सफल प्राध्यापक और अच्छे वक्ता हैं। आपकी प्रसिद्ध कृतियाँ—देवगढ़की जैन कलाका सांस्कृतिक अध्ययन, भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान, जैनधर्मका व्यावहारिक पक्ष : अनेकान्तवाद, अतीतके वातायनसे आदि हैं। आपने अनेक कृतियोंका सम्पादन भी किया है। साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन अभिनन्दन-ग्रन्थके प्रधान-सम्पादक और संयोजक डॉ० भागेन्दुजी रहे हैं।

प्रस्तुत स्मृति-ग्रन्थके सम्पादनमें आपकी भूमिका नितरां प्रशंसनीय है।

## डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

राजस्थानके जैन ग्रन्थ भण्डारोंमें सुरक्षित महनीय साहित्यको उजागर करके प्राचीन वाङ्मय विशेषतः जैन अनुसन्धानके अनेक संभावित पक्षोंका उद्घाटन करनेवाले डॉ० कासलीवालका जन्म ८ अगस्त १९२० ई० को जयपुरके निकट हुआ। संस्कृत, प्राकृत और हिन्दीके ५०० से अधिक ग्रंथोंका परिचय तथा प्रशस्ति प्रकाशित करके उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आप इतिहासरत्न, विद्यावारिधि आदि उपाधियोंसे सम्मानित किये गये हैं। अनेक ग्रन्थोंके प्रणेता महावीर ग्रंथ अकादमीके माध्यमसे अलभ्य-अप्रकाशित साहित्यको प्रकाशित करनेवाले डॉ० कासलीवालजी अनेक अभिनन्दन-ग्रन्थोंका कुशलतापूर्वक संपादन कर चुके हैं।

विवेच्य 'स्मृति-ग्रन्थ' के सम्पादन कार्यमें आपके सुदीर्घ अनुभव तथा सहज प्रकृतिका लाभ निरन्तर प्राप्त हुआ है।

## डॉ० सागरमल जैन

डॉ० सागरमल जैनका जन्म सन् १९३२ में शाजापुरमें हुआ। १८ वर्षकी अवस्थामें ही आप व्यावसायिक कार्यमें संलग्न हो गये। व्यवसायके साथ-साथ आपका अध्ययन भी कुछ व्यवधानोंके साथ चलता रहा। आपने व्यापार विशारद, जैन सिद्धान्त विशारद, साहित्यरत्न और एम० ए० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। एम० ए० ( दर्शन ) में आपने वरीयता सूचीमें प्रथम स्थान प्राप्त किया और कला संकायमें द्वितीय स्थान प्राप्त कर रजत पदक प्राप्त किया। उसके पश्चात् अध्ययनकी रुचिको निरन्तर जागृत बनाये रखने हेतु व्यवसायसे पूर्ण निवृत्ति लेकर शासकीय सेवामें प्रवेश किया और रीवाँ, ग्वालियर और इन्दौरके महाविद्यालयोंमें दर्शनशास्त्रके अध्यापक तथा हमीदिया महाविद्यालय, भोपालमें दर्शन विभागके अध्यक्ष रहे। सम्प्रति आप पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसीके निदेशक एवं 'आगम अहिंसा एवं प्राकृत संस्थान', उदयपुरके मानद निदेशक हैं। 'श्रमण' त्रैमासिकके प्रधान सम्पादक हैं। जैन विद्याके क्षेत्रमें आपको प्रतिभाको सदैव सम्मान मिला है। आप अनेक विश्वविद्यालयोंमें अध्ययन-परिषद्, कलासंकाय एवं विद्यापरिषद्के सदस्य रहे हैं।

आपने जैन, बौद्ध और गीताके आचार दर्शन पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है। आपके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२० ग्रन्थ एवं १५० उच्चस्तरीय लेख प्रकाशित हो चुके हैं। साथ ही आपने अनेक ग्रन्थोंका कुशल सम्पादन भी किया है।

आप अनेक बार विदेश यात्रा कर चुके हैं। सन् १९९३ की विश्वधर्म संसद, शिकागोमें आप प्रमुख वक्ताके रूपमें आमंत्रित थे। अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि अनेक देशोंमें आपने अपने व्याख्यान दिये हैं।

## डॉ० राजाराम जैन

सम्प्रति प्राकृत भाषाओंके अध्ययन-अनुशीलनके क्षेत्रमें (स्व०) डॉ० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यकी प्रवृत्तियोंको गति-प्रदाता डॉ० राजारामजीका जन्म सागर जिलेके मालथौन ग्राममें फरवरी १९२९ ई० को हुआ था। उनका शिक्षण पपौराजी तथा वाराणसीके जैन विद्यालयोंके अतिरिक्त बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें भी हुआ।

डॉ० जैनने (स्व०) डॉ० हीरालालजी जैनके निर्देशनमें शोधकार्य किया। अपभ्रंश साहित्यके प्रसिद्ध कवि 'रइधू'के साहित्यका आपने विशेष अध्ययन किया है। वड्ढमानचरिउ, महावीरचरिउ आदि आपकी प्रसिद्ध संपादित-साहित्यिक कृतियाँ हैं। सामाजिक और साहित्यिक जीवनमें आप निरन्तर सक्रिय हैं। गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, वाराणसीके आप अध्यक्ष हैं।

डॉ० राजारामजी इस स्मृति-ग्रन्थके सम्पादक-मण्डलके वरिष्ठ सदस्य हैं।

## डॉ० फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी'

सागर (म० प्र०) जिलेके दलपतपुर ग्राममें जन्में डॉ० 'प्रेमी' जी कुशल-वक्ता, यशस्वी-लेखक, सामाजिक चेतनाके धनी युवा विद्वान् हैं। इन्होंने कटनी एवं बनारसके जैन विद्यालयोंमें शिक्षा प्राप्त की। जैन-दर्शनाचार्य, प्राकृताचार्य एवं पी-एच० डी० उपाधिधारी डॉ० प्रेमी, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान) में चार वर्ष प्राध्यापक रह चुके हैं। वे संस्कृत-प्राकृत भाषाओं तथा जैन-दर्शनके गंभीर अध्येता मनीषी हैं। इनका शोध विषय मूलाचारका समीक्षात्मक अध्ययन है। वह प्रकाशित है तथा इस पर इन्हें प्रशस्ति-पत्र एवं पाँच हजार रुपयेके साथ १९८८ का महावीर पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

वे सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसीमें जैन-दर्शन-विभागाध्यक्ष हैं।

सामाजिक, साहित्यिक और शैक्षणिक प्रवृत्तियोंमें सोत्साह निरत डॉ० प्रेमीजी इस स्मृति-ग्रन्थके सम्पादक-मण्डलके मान्य सदस्य हैं।

## डॉ० रतन पहाड़ो

सन् १९४२ में केवल १३ वर्षकी उम्रमें सारनाथ और वाराणसीमें 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में भाग लेने तथा अंग्रेजी सरकार द्वारा जब्त पत्रिका 'रणभेरी' के चोरी छिपे छापने तथा प्रचार करनेके कारण छह माहकी सजा हुई। सन् १९५१ में वर्धा आ गये। आजकल आप कामठी (नागपुर) में रहते हैं। सन् १९५५ में कुछ समयके लिये 'जैन जगत' के सम्पादक भी रहे। अनेकान्त स्वाध्यायमंदिरमें और प्राकृतिक चिकित्साकी प्रवृत्तियोंमें दिलचस्पी लेते हैं। लगभग १० वर्षों तक दि० जैन बोर्डिंग हाउसके मंत्री रहे। आचार्य विद्यासागरजीके संघस्थ मुनियों, आर्यिकाओंकी प्राकृतिक चिकित्सामें समर्पित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल

संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थोंके अधुनातन कलापूर्ण मुद्रण और प्रथम पंक्तिके जैन मनीषियोंके अभिनन्दन-ग्रन्थोंके लब्धप्रतिष्ठ मुद्रक श्री बाबूलालजी जैन फागुल्लका जन्म सन् १९२६ ई० में बुन्देलखण्डके ललितपुर जिलेके मड़ावरा ग्राममें हुआ। श्रीवीर विद्यालय, पपौरा और श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी आपके प्रशिक्षण केन्द्र थे। मुद्रणके क्षेत्रमें श्री फागुल्लजीका प्रवेश भारतीय ज्ञानपीठके व्यवस्थापकके रूपमें हुआ, जहाँसे उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये। सम्प्रति महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसीके स्वत्वाधिकारी हैं। अपने मिलनसार व्यक्तित्व और कार्यक्षमताके आधार पर श्री फागुल्लजी सर्वत्र यशः अर्जित कर सके हैं। श्रेष्ठ ग्रन्थोंके मुद्रण-कार्यमें आप अनेक बार पुरस्कृत हो चुके हैं।

सरस्वती-वरदपुत्र पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यके अभिनन्दन-ग्रन्थके प्रबन्धनमें श्री फागुल्लजीकी भूमिका, क्षमता और दायित्वबोध नितरां प्रशस्य रहा है।

प्रस्तुत स्मृति-ग्रन्थके सृजनमें प्रशस्य योगदान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org